

धर्म

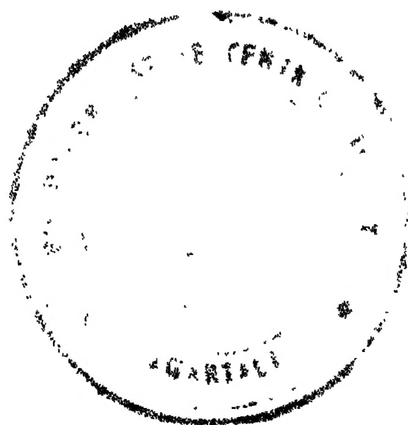


जापान के महास्थविर निचिदात्सु फुजीई
गुरुजी के साथ

काका कालेलकर ग्रंथावली

आठवाँ खण्ड

धर्म



प्रकाशक

गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा

नई दिल्ली-११०००२

संपादक मण्डल

१. भारत सरकार के मानव संसाधन एवं विकास मंत्रालय के आर्थिक प्रोत्साहन से प्रकाशित

प्रकाशक

कु. कुसुम शाह
मंत्री, गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा
१, जवाहरलाल नेहरू मार्ग
राजघाट, नई दिल्ली-११०००२

आवरण चित्रांकन : श्री तुलकी जी

मुद्रक

श्री राजवीर शर्मा
प्रतिभा प्रिंटर्स द्वारा तरुण प्रिंटर्स
शाहदरा, दिल्ली-११००३२

अनुक्रमणिका

जीवन-व्यवस्था

दूसरा खण्ड : विविध धर्म

तीसरा खण्ड : आस्तिक्य

चौथा खण्ड : मंदिर-भावना

पाँचवाँ खण्ड : हृदय-धर्म

ईशोपनिषद

उपनिषदों का बोध

भजनांजलि

समन्वय-संस्कृति की ओर

परिशिष्ट

जीवन-व्यवस्था

अनुवादक

सोमेश्वर पुरोहित

जीवन-व्यवस्था में विश्व-समन्वय

मेरी गुजराती पुस्तक 'जीवन-व्यवस्था' का अखिल भारतीय साहित्य अकादमी ने सन् १९६६ का प्रथम पुरस्कार न दिया होता, तो उसकी ओर हिन्दी के प्रकाशकों का ध्यान शायद ही जाता; हालांकि मुझे यह कबूल करना चाहिए कि हिन्दी प्रकाशकों की दृष्टि दिन-ब-दिन काफी अखिल भारतीय होती जा रही है। अनेकों ने 'जीवन-व्यवस्था' का हिन्दी अनुवाद करवा कर प्रकाशित करना चाहा, किन्तु मैं हमारे नवजीवन प्रकाशन मन्दिर के साथ आत्मीयता से बँधा हूँ। उसी ने यह हिन्दी संस्करण प्रकाशित करने की तत्परता बताई।

भारतीय संस्कृति आज तक प्रधानतया धर्म-प्रधान ही रही है और भारत भाग्य-विधाता ने भी भारत को दुनिया के प्रधान धर्मों का धाम बना रखा है। चीन के कॉनफ्युशियस और लाओत्से की धार्मिक परम्पराओं को यदि हम बाजू पर रख दें, तो हम कह सकते हैं कि दुनिया के सबके सब धर्म भारतीय जनता को प्रेरित कर रहे हैं और भारतीय चिन्तन से पोषण भी प्राप्त कर रहे हैं।

आज हम वैज्ञानिक दृष्टि से समाज-व्यवस्था का और मानवीय संस्कृतियों का स्वतन्त्र चिन्तन भले ही करें, मनुष्य-जाति ने आज तक धार्मिक प्रेरणा से ही सामाजिक जीवन का विकास किया है। और मनुष्य-जाति की सब संस्कृतियाँ अभी तक धर्म-प्रधान ही रही हैं। अथवा हम ऐसा भी कह सकते हैं कि मानवी संस्कृति को जिन-जिन सार्वभौम विचारों ने और जीवन-दृष्टि ने प्रेरणा दी है, उन विचारों और दृष्टियों को धर्म के नाम से ही पहचानना चाहिए। हमारे पश्चिम के विज्ञान के उपासकों ने जो जीवन-दृष्टि समस्त जगत को दी है, वह एक नया धर्म ही है; और अर्थ-व्यवस्था को तथा राजनीतिक सत्ता को प्रधानता देकर दुनिया में जो साम्यवाद प्रचलित हुआ है, उसे भी एक आधुनिक अथवा अद्यतन जड़वादी धर्म ही कहना चाहिए। भारत की गांधी-प्रणीत सर्वोदय-दृष्टि भी दुनिया का एक सन्तोषप्रद नया धर्म बन जाय, तो तनिक भी आश्चर्य नहीं। भले ही धर्मों ने आज तक आत्मा, परमात्मा, इहलोक और परलोक एवं पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म और मोक्ष का ही प्रधानतया चिन्तन किया हो और ईश्वर के अवतारों को धर्म-संस्थापक माना हो, सब धर्मों का मूल उद्देश्य

मानवी जीवन को सुव्यवस्थित, उन्नत और कृतार्थ करना ही है। इसीलिए हम आस्तिक, नास्तिक, वैज्ञानिक तथा गूढ़वादी सब धर्मों को जीवन-व्यवस्था के रूप में ही पहचानते हैं, फिर वह जीवन व्यक्तिगत हो, पारिवारिक हो या विशाल रूप में सामाजिक हो। और यदि हम गहराई से सोचें, तो परलोक और मोक्ष भी जीवन के विकास का ही काल्पनिक अथवा सच्चा गूढ़ विस्तार है।

मनुष्य के लिए चिन्तन का और पुरुषार्थ की साधना का एकमात्र विषय अथवा क्षेत्र जीवन ही है। केवल मनुष्यगत जीवन नहीं, जीवमात्र के जीवन का चिन्तन करके ही हम अपनी सारी प्रवृत्ति, निवृत्ति और उसकी साधना चलाते आये हैं।

संकुचित दृष्टि के कारण जिसे हम जड़ सृष्टि कहते हैं, उसकी उत्पत्ति, स्थिति, लय और पुनरुत्पत्ति का विचार किये बिना हमारा जीवन-चिन्तन पूर्ण और सन्तोषप्रद हो ही नहीं सकता। इसीलिए जीवन को उद्दीप्त करने वाले और जीवन के किसी भी अंग की उपेक्षा न करने वाले हमारे पुराण-साहित्य ने 'सर्ग और प्रतिसर्ग' के इतिहास से ही प्रारम्भ किया है। इसलिए प्राचीन, मध्यकालीन और अद्यतन सब धर्मों को जीवन-व्यवस्था के नाम से ही पहचानना हमने उचित माना है।

इस व्यापक व्याख्या और दृष्टि से अगर हम कोई ग्रंथ लिखने की हिम्मत करते, तो वह हमारी हिमाकत ही हो जाती। हमने भारतीय जीवन के विकास का अध्ययन और चिन्तन करते हुए समय-समय पर जो जीवन-व्यवस्था-मूलक कुछ निबंध लिखे, उन्हीं का यह एक छोटा-सा संग्रह है। यहाँ किया हुआ चिन्तन और प्रस्तुत की हुई जीवन-दृष्टि है तो पारमार्थिक, किन्तु हमारा यह दावा नहीं हो सकता कि हमने जीवन के सब पहलुओं पर प्रकाश डाला है। ये सारे निबंध किसी एक योजना को लेकर भी लिखे हुए नहीं हैं। शिक्षण-क्षेत्र में और सामाजिक सुधार तथा विकास में, यथाशक्ति सेवा करते हुए प्रसंगवश जो कुछ हमने लिखा था उसी का संग्रह यहाँ किया गया है। इन निबंधों के वर्गीकरण की तरफ पाठक ध्यान न दें। एक-एक निबंध को वे एक स्वतन्त्र विचार के विवरण के रूप में ही मान लें और सारे संग्रह को देश के मनीषियों का एक नम्र अनुनय ही समझ लें।

हमारे यहाँ धर्म का नाम लेकर बहुत झगड़े हुए हैं। यहाँ तक कि आज के बहुत से लोग अब धर्म का नाम सुनते ही नाराज हो जाते हैं और सारी चर्चा को दकियानूसी कहकर बाजू पर रखना चाहते हैं।

लेकिन कोई ऐसा न माने कि धर्म के झगड़े केवल भारत में ही हुए हैं। दुनिया में एक भी देश ऐसा नहीं है, जिसने धर्म के नाम पर मनुष्य का रक्त न बहाया हो। शायद अधिक-से-अधिक धर्म-चर्चा करने वाले भारत ने ही मनुष्य का रक्त धर्म के कारण कम-से-कम बहाया होगा। भारत में झगड़ा टालने की वृत्ति है ही। यदि झगड़े खड़े हों तो मार-काट चलाकर हिंसा के द्वारा झगड़ा मिटाने का प्रयत्न

भारत में कम-से-कम होता है। झगड़े न तो मिटेंगे, न मारामारी तक पहुँचेंगे। 'जैसा भी चले वैसा चलाने को' भारतीय मानस तैयार रहता है। शक्तिशाली के सामने झुक जाना किन्तु उसकी भी पूरी चलने नहीं देना और जो भी नतीजे आएँ उनको मंजूर करना— यह है भारतीय स्वभाव की नीति।

हिन्दू शब्द की निरुक्ति भी इसी मनोवृत्ति को स्पष्ट करती है।

हिन्दू शब्द इन्दू पर से आया होगा, अथवा सिन्धु नदी पर से आया होगा, अथवा किसी ईरानी शब्द के रूपान्तर से बना होगा। निरुक्ति कभी भी व्युत्पत्ति के बारे में सोचने के लिए बँधी हुई नहीं है। निरुक्ति कहती है : हिन्दू शब्द में दो अक्षर हैं— 'हिं' और 'दू'। इन अक्षरों में से हम कोई ऐसा अर्थ निकालेंगे, जिससे हिन्दू शब्द का सांस्कृतिक भाव सिद्ध हो सके। निरुक्ति ने तय किया : 'हिं' माने हिंसा, 'दू' माने दुःख; और हिन्दू शब्द का अर्थ किया : हिंसा से, हिंसा को देखकर जिसके चित्त को दुःख होता है। वह है हिन्दू (हिंसया दूयते चित्तं यस्याऽसौ हिन्दुरीरितः) हम लोग जहाँ तक हो सकेगा हिंसा को टालेंगे। शक्तिशाली की बात कुछ हद तक मान जायेंगे और जैसा भी हो सकेगा निभायेंगे।

इस मनोवृत्ति से भारत का पुरुषार्थ क्षीण हुआ ही है। किसी भी बात में उत्तम स्थिति तक हम कभी पहुँचेंगे ही नहीं। जैसा चलता है उसी से सन्तोष मानेंगे। फलतः न तो हमारे जीवन में प्रसन्नता रहती है; न दूसरे लोगों के प्रति पूरी-पूरी आत्मीयता। और दुःख की बात तो यह है कि ऐसी निष्प्राण शान्ति को ही हम चलाते हैं और उसी हालत को निरोग स्थिति मानते हैं। जब रोग को रोग के तौर पर आदमी पहचाने तब उसका इलाज करने का उसे सूझेगा। रुग्ण हालत को ही मनुष्य जब स्वाभाविक स्थिति मान लेता है तब तो सुधार की कोई आशा ही नहीं रहती।

भारत में अनेक-धर्मी लोग एकसाथ रहते हैं। इसी देश के चन्द लोगों ने बाहर के धर्मों को स्वीकार किया। क्यों किया, कैसे किया, इसके इतिहास में जाना व्यर्थ है। आज उन लोगों को अपने-अपने धर्म में सन्तोष है अथवा कहिए कि उन-उन धर्मों का उन्हें अभिमान है। ऐसी हालत में उन लोगों को हम विदेशी नहीं कह सकते। बुद्धिमानी इसमें है कि अपने ही स्वदेशी लोगों ने जब बाहर के धर्मों को स्वीकार किया तब वे धर्म हमारे लिए विदेशी धर्म नहीं रहे। जिस तरह हम वैष्णव, शैव, शाक्त, लिंगायत आदि लोगों को अपने ही देश के और अपनी ही संस्कृति के स्वजन कहते हैं, उसी तरह हमें ईसाइयों को, यहूदियों को, पारसियों को और मुसलमानों को भी अपने ही देश के और अपनी ही संस्कृति के स्वजन मानना चाहिए।

और हिन्दू धर्म का तो यह सिद्धान्त ही है। (और स्वभाव भी है) कि किसी भी धर्म के प्रति अनादर और अनास्था नहीं रखनी चहिए। चंद लोग अपने को आग्रह-

पूर्वक अलग मानते हैं इसलिए हम भी उन्हें पराए मानें, यह स्वाभाविक होते हुए भी इष्ट नहीं है, हितकर नहीं है।

जब भारत में विदेशी लोगों का राज्य था तब उनके धर्म को स्वीकार करने वाले हमारे लोग अपने को श्रेष्ठ मानने लगे। सरकारी दरबार में उनकी प्रतिष्ठा विशेष थी। लेकिन अब तो स्वराज्य और प्रजाराज्य हो चुका है। ऐसी हालत में किसी भी वर्ग के अलग रहने से किसी को कोई खास लाभ नहीं रहा। खास अधिकार तो सहानुभूति के कारण पिछड़े लोगों को ही दिये जाते हैं; और वे भी थोड़े ही समय के लिए हैं।

अब तो हमें भेदभाव को न बढ़ाते हुए, उसे मजबूत न करते हुए राष्ट्रीय एकता को ही मजबूत करना चाहिए। यह काम राजनीतिक ढंग से नहीं हो सकेगा। राजनीति किसी को धमकाएगी, दबाएगी अथवा घूस देकर खुशामद करेगी। इससे राष्ट्रीय एकता मजबूत नहीं होती। हमें तो वंशभेद, भाषाभेद, धर्मभेद आदि समस्त भेदों को गौण बनाकर सब भेदों को हजम करने वाली और सबसे ऊँची उठने वाली भारतीय संस्कृति ही राष्ट्रीय एकता को मजबूत करेगी ऐसा मानना है और हमारी संस्कृति की सर्वव्यापी सर्वोदयी मानवता को परिपुष्ट करना है।

कहते हैं कि जब कोई संकट आता है तब उसका इलाज न ढूँढकर शुतुरमुर्ग पक्षी अपनी आँखें मूँद लेता है और मानता है कि संकट या कठिनाई कहीं है ही नहीं। हम भी ऐसा कहने लगे हैं: धर्मभेद को ही भूल जाओ, फिर धर्म का इलाज करना रहता ही नहीं। असल बात यह है कि धर्म के अच्छे-अच्छे तत्त्व आज के जमाने में गौण या गायब हो गये हैं, किन्तु धर्मों की बुराइयाँ कहीं भी गायब नहीं हुई हैं। मनुष्य अपने-अपने धर्म का अभिमान और दूसरों के धर्म के प्रति अनादर, अविश्वास और परायापन छोड़ता ही नहीं। धर्मनिष्ठा के कारण अखिल भारतीय राष्ट्रनिष्ठा, भारत-निष्ठा (सब भारतीयों के प्रति एक-सी आत्मीयता) खतरे में आ जाती है।

ये सब दोष और यह कमजोरी दूर करनी हो तो रशिया के ढंग से सब धर्मों के प्रति एक-सा तिरस्कार रखकर हमें इसमें सफलता नहीं मिलेगी। केवल संख्या का बल आजमा कर अथवा परदेशी सहायता के आधार पर घर के लोगों को दबाकर हम भारत को मजबूत नहीं बना सकेंगे।

इसका एक ही इलाज है। भारत में जो भी धर्म आज प्रचलित हैं उनका सहानुभूति और आदर के साथ हम अध्ययन करें। हर एक धर्म में जो अच्छाइयाँ हैं उनको हम बढ़ावा दें। सब धर्मों के लोगों के प्रति हम अपनी आत्मीयता बढ़ायें।

ऐसे सारे शुभ प्रयत्न प्रारम्भ में इकतरफा ही हो सकते हैं। 'अगर तुम प्रेम करोगे तो मैं भी करूँगा' ऐसे बाजारू प्रतियोगी सहकार से इसका प्रारम्भ भी नहीं

हो सकेगा। जिस किसी के हृदय में प्रेमधर्म की आवश्यकता और महत्ता उगे, वह स्वयं इकतरफा प्रयत्न करेगा ही। इसका जवाब न मिला तो भी मायूस या निराश न होते हुए वह अपने प्रेम का प्रवाह बहता ही रखेगा। प्रेम का सामर्थ्य, आत्मीयता का सामर्थ्य अवश्य जीतेगा। वह अमोघ होता है, इतना विश्वास जो रखेगा वही आस्तिक है।

केवल भारत के लिए ही नहीं, परन्तु सारी दुनिया लिए आज का युगधर्म यही कहता है।

धर्म, समाज-रचना, संस्कृति और अध्यात्म के क्षेत्र में भारत की जीवन-व्यवस्था का इतिहास कैसा है, आज की हालत क्या है और भविष्य का स्थान किस दिशा में होना चाहिए-- यह एक विराट और गम्भीर विषय है। इसका व्यापक विवेचन तो यहाँ है नहीं, लेकिन इस गम्भीर विषय का चिन्तन करने में कुछ-न-कुछ सहायक हो सके ऐसा थोड़ा चिन्तन यहाँ प्रस्तुत किया गया है। आध्यात्मिक साधना, समाज-सेवा और विश्वहित-चिन्तन के परिपाक-रूप मेरी यह विचार-प्रणाली बनी हुई है। भारत के हित के लिए मुझे जो आवश्यक और हितकर लगा वही यहाँ देने का मेरा प्रयास है। इसलिए पूर्ण भक्तिभाव से और नम्रता से देशवासियों के कर-कमलों में यह अर्पण करता हूँ। और आशा रखता हूँ कि पाठक इसी पारमार्थिकता से इसका स्वीकार करेंगे।

—काका कालेलकर

जीवन-निष्ठ व्यवस्था का स्वरूप

(मूल गुजराती पुस्तक की प्रस्तावना से)

जिस मनुष्य को सच्चे अर्थ में जीवन जीना है, उसे अपने और अपने आस-पास के लोगों के जीवन का तथा उन्नति का विचार करना ही चाहिए। हमारी भक्ति का मुख्य विषय ही जीवन है। पुरुषार्थ के लिए हमारी पूँजी भी हमारा अपना जीवन ही है। जिसे हम सेवा कहते हैं वह भी अपने जीवन द्वारा स्वजनों के जीवन को सुखी और समृद्ध बनाने का प्रयत्न ही होता है। जीवन-शुद्धि, जीवन-वृद्धि, जीवन-समृद्धि, जीवन-विकास तथा जीवन की कृतार्थता ही हमारे चिन्तन और पुरुषार्थ का विषय होता है। हमारे युग के महान कवि ने जो-जो गाया है। वह सब उनके द्वारा की गई जीवन-देवता की उपासना ही है, ऐसा उन्होंने स्वयं अनेक बार कहा है।

प्राचीन संस्कृति की भक्ति करने वाले भारत के जीवन पर लगे हुए जंग को दूर करके उसमें फिर से जीवन का संचार करने के लिए गांधीजी ने जो कुछ लिखा, उसके लिए भी उन्होंने नवजीवन जैसा व्यापक नाम ही अपनाया था। वे भी उन्नत जीवन के ही उपासक थे। धर्म, राजनीति, समाज-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था, स्वास्थ्य, साहित्य, संगीत, कला--- ये सब जीवन के संस्कार के लिए हैं। जब हम जीवन पूरा करके भगवान के सामने खड़े रहेंगे उस समय भी हमें इसी प्रश्न का उत्तर देना पड़ेगा: ''अपने जीवन का हमने क्या उपयोग किया ?''

इस प्रकार के जीवन-परायण वातावरण में रहकर समय-समय पर लिखे गए मेरे लेखों को प्रकाशित करने का निर्णय जब नवजीवन ट्रस्ट ने किया तब मुझे यह बात सुझाई गई कि यह एक जीवन-माला है, इसलिए लेखों के प्रत्येक संग्रह के नाम का जीवन के साथ कोई सम्बन्ध होना चाहिए। यह बात मुझे पसन्द आई इसीलिए मैंने 'जीवन-व्यवस्था', 'जीवन-भारती', 'जीवन का आनन्द', 'जीवन-चिन्तन', 'जीवन-प्रदीप' आदि नाम इन संग्रहों के स्वीकार किये। ऐसे नामों में समरूपता का दोष होता है, यह जानते हुए भी मैं मूल संकल्प पर दृढ़ रहा हूँ और धर्म-चिन्तन, धर्म-रहस्य, विविध धर्मों और उनके लिए स्थापित मन्दिरों तथा हमारे धर्मग्रन्थों के बारे में लिखे गए इन लेखों को 'जीवन-व्यवस्था' का व्यापक नाम

देकर इस संग्रह को जनता के समक्ष रखता हूँ।

इस लेख-संग्रह में मैंने जो धर्म-चिन्तन किया है वह हमारे ऋषि-मुनियों तथा सन्त-महात्माओं के साहित्य के भक्तिनम्र किन्तु स्वतन्त्र अध्ययन से ही उत्पन्न हुआ है। वह प्राचीन साहित्य पढ़ते-पढ़ते और उसमें एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संस्कृति का जो परम्परागत विकास होता गया उसका चिन्तन करते-करते मुझे वर्तमान काल के हमारे पुरुषार्थ की दिशा प्राप्त हुई और भविष्य की भी थोड़ी-बहुत झाँकी मिली।

परम्परा का अर्थ यह नहीं है कि केवल पुराने की ही रक्षा की जाए, उसी से चिपट कर रहा जाए और उसी को बार-बार दोहराया जाए; परम्परा का अर्थ है पुरानी इमारत पर नई-नई मंजिलें खड़ी करना और उन नई ऊंचाइयों से दूर-दूर तक देखने की सुविधा प्राप्त करना। परम्परा का अर्थ है संशोधन और परिवर्धन को स्वीकार करने वाला अखंड प्रवाह। मुझे जो शरीर मिला है और जो संस्कार मैंने विरासत में प्राप्त किये हैं, उनके लिए मैं अपनी कुल-परम्परा का आभारी हूँ। यह कुल-परम्परा क्या है ? मेरे कुल के जितने पूर्वजों ने विवाह किया वे सब अलग-अलग कुलों की लड़कियाँ उनके संस्कारों के साथ अपने घर में लाये। इस प्रकार उन्होंने भिन्न-भिन्न कुलों के संस्कारों का समन्वय सिद्ध किया। इस समन्वय में नवीनता की मात्रा काफी होती थी, इसलिए पूर्वजों ने यह नियम बना लिया था कि विवाह करना हो तो अपने कुल में न किया जाए, अपने गोत्र में भी न किया जाए; अमुक अत्यन्त निकट के सम्बन्धों से बचकर ही विवाह किया जाये। इसमें इतना ही ध्यान रखा जाए कि (१) अपना रहन-सहन अर्थात अपने संस्कार, (२) अपना आचरण अर्थात अपने धन्धे से सम्बन्धित समस्त पुरुषार्थ, और (३) अपनी विचारसरणी अर्थात अपनी संस्कृति की जीवन-दृष्टि— इन सबके अनुकूल किसी ढंग से भी पुरुष को स्त्री का और स्त्री को पुरुष का चुनाव करना चाहिए। (भोजन में हम तरह-तरह के अनाजों, दालों, साग-भाजियों, मसालों तथा अनेक अचार-मुरब्बों को एक साथ खाते हैं। परन्तु आयुर्वेद कहता है कि इस मिश्रण में 'विरुद्ध अशन' न होने का खास ध्यान रखना चाहिए, अन्यथा हिचकियाँ आती हैं, पेट में वायु पैदा होती है और स्वास्थ्य बिगड़ता है।)

कुल-परम्परा में जिस प्रकार हम प्रत्यक्ष विवाह के साथ दूसरे कुल के संस्कार आग्रहपूर्वक दाखिल करते हैं, उसी प्रकार तीर्थयात्रा द्वारा हम विशाल सामाजिक जीवन की विविधता को देखते हैं और उसमें जो कुछ भी अच्छा मिलता है उसे ग्रहण करते हैं तथा आत्मसात कर लेते हैं। इसके सिवा पीढ़ी दर पीढ़ी इन संस्कारों में संशोधन और परिवर्धन तो होते ही रहते हैं।

हमारे पूर्वजों ने मानव-स्वभाव की विशेषताओं को देखा और रुचियों की विचित्रता को स्वीकार करके अनेक प्रकार की उपासनाएँ बताईं। इस प्रकार शैव, वैष्णव

और शाक्त उपासना के तीन प्रकार जीवन-संस्कृति के ही तीन प्रकार हैं। ज्ञान, कर्म और भक्ति ये जीवन-साधना के अलग-अलग प्रस्थान हैं। चार वर्ण जीवन-सिद्धि तथा समाज-सेवा के चार अंग हैं। चार आश्रम जीवन-विकास की चार मंजिलें हैं। इन सबको मिलाकर विराट जीवन का विकास होता है।

ऐसी विविध व्यवस्था के कारण जब जीवन में एकांगिता आने लगी तब हमारे संस्कृति-धुरीणों ने हमें इन सबका समन्वय करना सिखाया। पंचायतन पूजा में सभी देवों की पूजा एक साथ करनी होती है। इसी परम्परा को यदि आगे बढ़ाना हो तो हम कहेंगे कि हमारी प्रार्थना तभी पूरी होगी जब उसमें हिन्दू संस्कृति के सब अंगों का समावेश तो हो ही, परन्तु उनके साथ पारसी, यहूदी, ईसाई और इस्लामी उपासना को भी स्थान दिया जाए। परम्परा में पुराना जो कुछ टिकने योग्य हो उसकी रक्षा करना और उसे नया रूप देना होता है तथा उसमें जो कुछ नया-नया मिलाया जा सके उसे जोड़ना और एकरूप बनाना होता है। जिस प्रकार पौधा उगकर वृक्ष बनता है, छोटे बालक का पुरुषार्थी योद्धा के रूप में विकास होता है, उसी प्रकार प्रत्येक समाज और प्रत्येक देश की संस्कृति पुराने में परिवर्तन करके तथा नये को आत्मसात करके नवजीवन सिद्ध करती है।

साँप जब अपनी केंचुली उतारता है तब वह अपने शरीर के प्रति बेवफा नहीं होता। परन्तु जो कुछ जीर्ण हो गया है, जो कुछ प्रगति में बाधक सिद्ध हुआ है, उतने को ही पीछे छोड़कर वह तेजी से आगे बढ़ जाता है। अभी-अभी केंचुली उतार कर जवान बने हुए साँप को आपने कभी देखा है ? कैसी उसकी कान्ति ! कैसी उसकी दीप्ति ! और कैसी उसकी स्फूर्ति होती है ! कुछ देर पहले जिसकी आँखें निस्तेज दिखाई देती थीं और बुढ़ापे के कारण जो जैसे-तैसे शरीर को घसीटता चलता था, वही साँप इतने वेग से दौड़ने लगता है मानो हवा का स्पर्श भी उसे असह्य मालूम होता हो ! ऐसा दृश्य जब मैंने अपनी आँखों से देखा तब मैंने यह समझ लिया कि संस्कृति-निष्ठा का अर्थ केंचुली-निष्ठा नहीं है।

शैव, वैष्णव, शाक्त आदि उपासनाओं की विविधता का विकास होने के बाद हमारे देश में बौद्ध और जैन जीवन-दृष्टियों का विकास हुआ। इस पुरुषार्थ ने कुछ सदियों तक मानो सारे राष्ट्र को व्याप्त कर लिया। इसमें भी बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय ने शाक्त और बौद्ध दृष्टियों को मिलाकर तरह-तरह की मिश्रित उपासनाओं को जन्म दिया। इससे जैनों को भी शक्ति-उपासना के साथ समझौता करने की जरूरत मालूम हुई। हिन्दू समाज ने निगम, आगम और तन्त्रों का मिश्रित कर दिया। लोकरुचि को सन्तुष्ट करने के लिए पागल बनकर हमने तरह-तरह के न जाने कितने व्रतों, उत्सवों और त्योहारों को जन्म दे डाला। हमारे देव-देवियों की संख्या भारत की लोकसंख्या से कम तो नहीं ही होगी !

विविधता हमें इतनी प्रिय है कि हम नया-नया तो जोड़ते ही जाते हैं और पुराना कुछ छोड़ते नहीं। साँप की केंचुली तो क्या, मरा हुआ साँप भी काम का है, ऐसा मानकर उसका संग्रह करने में हम विश्वास रखते हैं !

उपासना का यह सारा विस्तार आखिर में सहन तो करना पड़ता था बेचारे भगवान को ही। इसलिए भगवान ने घबराकर हमारे यहाँ इस्लाम को भेजा— यह इस्लाम जिसकी स्थापना ही तीन सौ साठ ताकों में से तीन सौ साठ देवी-देवताओं को नीचे गिराकर हुई थी। इस्लाम की मूर्ति-भंजक एकेश्वरी पूजा से प्रभावित होकर हमने सिक्ख पंथ, ब्राह्म-समाज, प्रार्थना-समाज, और आर्य-समाज जैसे समाजों की स्थापना की और अपने घर की एकेश्वरी पूजा को आगे बढ़ाया। परन्तु भारतीय मानस ऐसा है कि सुधारक हो या उद्धारक— जो भी आये उसे वह नमस्कार करता है और उसके लिए एक नया ताक तैयार कर देता है। वह कहता है: "आपके लिए भी हमारे यहाँ आदर का स्थान होगा। लेकिन आपको 'सबमें से एक' बनकर रहना होगा।" 'सबके स्थान पर एक' यह सूत्र हमारे यहाँ कभी चला ही नहीं और आगे भी कभी चलेगा ऐसा नहीं लगता। हमारी संस्कृति वृक्षरूपी संस्कृति है। उसमें शाखाओं, प्रशाखाओं, डालियों और पत्तों का विस्तार बढ़ता ही रहेगा। इसलिए यदि हम समझदार हैं तो सबको पोषण देने वाले वृक्ष के तने का भी समय-समय पर विचार करेंगे और यह तना बड़ा और विशाल बने इसके लिए हर बार कुदरती तौर पर फट जाने वाली उसकी छाल का भी विचार करेंगे; और जितनी शाखाएँ नई फूटें और बढ़ें उन सबका हम स्वागत भी करेंगे।

हमारे मन्दिरों का अर्थ है हमारे धार्मिक जीवन के विकास के लिए तथा उससे आनन्द प्राप्त करने के लिए खड़ी की गई एक समय की जीवंत संस्थाएँ। उत्साह और उत्सव बढाने के लिए स्थापित किये गये इन मन्दिरों में भी दम घोंटनेवाली रूढ़िनिष्ठा के कारण हमारा उत्साह समा न सका। वह मन्दिरों की चारदीवारी से बाहर निकल गया और उसने नये-नये रूप खोज निकाले। हमारे मन्दिरों से प्राप्त होने वाला मुख्य बोध यही है कि धर्म, धर्म-विकास और धर्मानन्द मन्दिरों की चारदीवारी के भीतर समा नहीं सकता, कैद नहीं रह सकता। जीवन की व्यवस्था के साथ हमें अपने मंदिरों की व्यवस्था भी बदलनी चाहिए। एक ही मंदिर में अथवा उसके प्रांगण में अनेक देवी-देवताओं को बैठाने की हद तक तो हम गये ही हैं।

अभी-अभी हमने अपनी प्रार्थना में सब धर्मों की उपासना को स्थान दिया है। उसके बाद का कदम तो यही हो सकता है कि अपने उत्सवों में हम सब धर्म के लोगों को बुलायें और उनके उत्सवों में हम परायों की तरह नहीं परन्तु उनके स्वजन बनकर सम्मिलित हों। हम ऐसा कर सकेंगे, और भारत में यह चीज़ खूब जमेगी।

जैसे-जैसे जीवन का विकास होता जाए वैसे-वैसे उसकी व्यवस्था भी बदलनी

चाहिए, विशाल और उदार बननी चाहिए। इस आदर्श को मन में रखकर ही मैं आरम्भ से आज तक धर्मों का चिन्तन करता आया हूँ। गांधीजी की प्रवृत्ति मेरी इस वृत्ति के अनुकूल थी, इसीलिए मैंने उनका आमन्त्रण स्वीकार कर लिया। आश्रम-जीवन में मुझे अपने विकास के लिए पूरा-पूरा मौका मिला। वहाँ रहते हुए मैंने देखा कि गांधीजी एक ऐसे पुरुष हैं, जो जरूरत पड़ने पर आश्रम को व्यापक बनाने के लिए उसकी दीवारें भी तोड़ सकते हैं। गांधीजी की जीवन-निष्ठा ने किसी भी समय व्यक्ति के या समाज के विकास को रोका नहीं। वे सदा भविष्य के उपासक रहे। उनकी अभिलाषा यह थी : 'भूतकाल की विरासत को वर्तमान काल के पुरुषार्थ में इस प्रकार बोया जाए कि भविष्य काल को समृद्ध से समृद्ध फसल मिले।' गांधीजी का धर्म भारत का भविष्य निर्माण करने वाला धर्म है। वह धर्म नित्य वर्धमान धर्म है। उसे प्रसंग के अनुसार नई-नई व्यवस्था सूझती है। वह जानता है कि व्यवस्था को यदि समय-समय पर बदला न जाए, तो जीवन में अव्यवस्था ही बढ़ेगी; और फिर तो सारा जीवन-विकास रुक जाएगा। यह सच है कि व्यवस्था के बिना जीवन टिक नहीं सकता, उसका विकास नहीं हो सकता। किन्तु व्यवस्था को सदा जीवन के प्रति वफादार रहकर समयोचित परिवर्तन स्वीकार करने चाहिएँ।

धर्म स्वभावत: आदरणीय वस्तु है, इसलिए उसके चिन्तन के प्रति भी लेखक के मन में आदर का भाव होना चाहिए। अत: आदर और नम्रता दोनों के मिश्रण के साथ इस अवसर पर मैं 'जीवन-व्यवस्था' को पाठकों के हाथ में रखना चाहता हूँ।

आज के नये लोगों में कभी-कभी धर्म के प्रति अनास्था दिखाई पड़ती है। परन्तु मैंने देखा है कि उनकी जीवन-निष्ठा इस अनास्था को टिकने नहीं देती। इसीलिए मेरा यह विश्वास है कि नया जमाना भी इस चिन्तन में हाथ बँटाने को तैयार होगा।

काका कालेलकर

पहला खण्ड

धर्म और संस्कृति

१. भारतवर्ष के धर्म*

कौन जाने किस तरह, किन्तु दुनिया के सभी धर्म हमारे देश में आ पहुँचे हैं और वे किसी को सुख से रहने नहीं देते। अब इन धर्मों का हम करेंगं क्या ?— यह प्रश्न अनेक लोगों के मन में समय-समय पर उठता रहता है। कुछ लोग कहते हैं कि जिस प्रकार अरबस्तान में सिर्फ इस्लाम के अनुयायी ही रह सकते हैं, अमेरिका में अंग्रेजी भाषा ही चल सकती है, उसी प्रकार यदि भारत में धर्म के बारे में हो सका होता तो कितना अच्छा होता ? भारत में एकमात्र हिन्दू धर्म ही होता और दूसरे सब धर्मों को यहाँ रहने की मनाही कर दी गई होती, तो कितना अच्छा होता ? दूसरे कुछ लोग पूछते हैं कि धर्म की बला ही क्यों रहनी चाहिए ? सभी धर्म समान रूप से फेंक देने जैसे हैं। इनमें से एक को रखने और बाकी सबको निकाल देने का क्या अर्थ है ?

यह भी पूछा जा सकता है कि भिन्नधर्मी लोगों के बाहर से आने पर आप शायद रोक लगा सकें; किन्तु सनातन काल से इसी देश में रहने वाले लोगों में से कुछ यदि अपनी धार्मिक मान्यता को बदल डालें या बाहर के किसी धर्म को स्वीकार करें, तो आप उन्हें कैसे रोक सकेंगे ? मनुष्य पर जबरन सत्ता भोगने का अधिकार किसी धर्म को हो ही कैसे सकता है ? इस प्रकार हमारे देश में धर्म विषयक चर्चा चलती रहती है। कुछ ऊँघते रहने वाले धर्मों के कान तक अभी यह चर्चा पहुँची ही नहीं है। कुछ भाग्यवादी धर्म 'जो होना होगा वह होगा, हमारे हाथ में क्या है ? हम तो पड़े रहेंगे और जो होगा उसे सहन करेंगे। ऐसा कहकर जमाही लेते रहते हैं। कुछ धर्म हक्के-बक्के होकर अपनी योग्यता और अपना अधिकार सिद्ध करने के लिए प्रमाण और दलीलें एकत्र करते हैं; और कुछ धर्मों को लगता है कि 'राज्यसत्ता के बिना धर्म टिक ही नहीं सकता, इसलिए राज्यसत्ता की शरण

* संवत १९९३ के पर्युषण-पर्व पर बम्बई में दिया हुआ भाषण।

हमें लेनी ही पड़ेगी।'

एक ज़माना ऐसा था जब धर्म सर्वोच्च सत्ता भोगता था। राजा को गद्दी से उतार देने की सत्ता भी धर्माचार्यों के हाथ में रहती थी। राज्याभिषेक के समय धर्मगुरु ही राजा को राजत्व प्रदान करता था। इंग्लैण्ड के एक राजा को अपना मुकुट पोप के चरणों में रखकर उसे साष्टांग प्रणाम करना पड़ा था। और रोम का पोप अपने शिष्य-राजाओं के बीच सारी दुनिया का बँटवारा कर सकता था।

परन्तु आगे चलकर धर्मसंस्था की यह प्रतिष्ठा नहीं रही। राजा सर्वोपरि बन गया और धर्म अंत में राजा का आश्रित हो गया। व्यक्तियों के जीवन में भी धर्म की सर्वोपरिता घट गई और सत्ता तथा संपत्ति की प्रतिष्ठा बढ़ी।

धर्म का यह अध:पतन किसलिए हुआ ? कारण स्पष्ट है। धर्मों ने राज्यव्यवस्था का अनुसरण और अनुकरण किया, राज्यसंस्था को आदर्श मानकर धर्मसंस्था का तंत्र रचा और सत्ता तथा अधिकार की परम्परा खड़ी की। यूरोप में पोप की जो सत्ता थी, इस्लामी दुनिया में खलीफा की जो सत्ता थी, वैसी सत्ता हमारे देश में धर्माचार्यों, शंकराचार्यों तथा राज-पुरोहितों की कभी नहीं रही। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि हमारे यहाँ धर्मसंस्था ने राज्यसंस्था का अनुसरण नहीं किया। जातियों का संगठन, गुरु-शिष्य-सम्बन्ध विषयक नियम, मन्दिरों की व्यवस्था— इन सबके पीछे राज्यतंत्र जैसी ही योजना है। नतीजा यह हुआ कि धर्म की जड़ में ही सड़न पैठ गई। लेकिन जिस समय राज्यसत्ता का अनुकरण शुरू हुआ उस समय तो लोगों को यही लगता था कि अब धर्म की विजय हुई है; अब धर्म की सच्ची स्थापना हुई है।

परन्तु धर्माचार्यों की सत्ता बढ़ी उसी समय से सच्चा धर्म क्षीण होने लगा और सच्ची धार्मिक प्रेरणा आचार्यों के हाथ से निकल कर संतों के हाथ में चली गई भारत के संत अधिकतर तंत्र-विमुख ही रहे; और जहाँ उन्होंने तंत्र खड़ा किया वहाँ राजतंत्र के नमूने पर नहीं परन्तु लोक जीवन के अनुकूल ही तंत्र रचा। यूरोप में क्या और हमारे देश में क्या, तंत्र-विमुख संतों की वजह से जितना धर्म टिक सका उतना ही टिका है।

एक पुरानी कहावत है : 'एक कम्बल पर बारह फकीर सो सकते हैं, लेकिन एक बड़े साम्राज्य में दो बादशाहों का निर्वाह नहीं हो सकता।' जहाँ राज्यतंत्र का अनुकरण किया जाएगा वहाँ एक स्थान पर एक ही धर्म निभ सकता है। भारत में सारी दुनिया के धर्म इकट्ठे हो गये हैं, क्योंकि भारत वास्तव में बारह फकीरों का कम्बल है— आज ऐसा न हो तो भी वह फकीरों का कम्बल बनने के लिए ही पैदा किया गया है।

जो मनुष्य बाहर से भारत को देखने आता है, उसका पहला ही उद्‌गार यह होता है:'भारत एक विशाल धर्म-परिवार है।' यह बात सच है, (परन्तु यह परिवार

मिल-जुलकर रहनेवाला नहीं है। अधिकतर हिन्दू परिवारों में जिस प्रकार भाई-भाई एक-दूसरे से अलग भी नहीं रहते और मिल-जुलकर भी नहीं रह पाते, हमेशा परस्पर झगड़ते रहते हैं; उसी प्रकार भारत के धर्मों का है। शायद ऐसा हो कि हिन्दू परिवार को जब हम सुधार सकेंगे और आपस में प्रेम तथा आदर की भावना रखकर मेल-जोल से रहना सीखेंगे तभी धर्मों का प्रश्न भी हल होगा; और आज जहाँ धर्म के क्षेत्र में केवल कोलाहल ही सुनाई पड़ता है वहाँ समन्वय का विश्व-समृद्ध संगीत गगन-मण्डल को भर देगा।

बात यह है कि राजा और उनकी सरकारें मनुष्य के बाहरी जीवन पर ही अधिकार भोग सकते हैं, और इसीलिए वे दुनियावी तंत्र खड़ा करके उसके द्वारा अपना ध्येय सिद्ध कर सकते हैं, जब कि धर्म का प्रभाव मूलतः आंतरिक होता है। धर्म जानता है कि भीतर का प्रभाव अपने आप बाहर आये यही शुभ और वांछनीय है। राज्यसत्ता के वातावरण में धर्मों ने जीवन की अपेक्षा मान्यता पर अधिक भार दिया। मनुष्य का धार्मिक जीवन कैसा भी हो, यदि वह धार्मिक मान्यता से सहमत हो तो इतना काफी है— ऐसा वातावरण खड़ा करके हमने धार्मिकता का गला घोंट दिया है। धर्म का रहस्य उसके पालन में, उसके आचार में और धर्म-परायण चित्तवृत्ति में है। इसके विपरीत, धार्मिक मान्यता धर्माभिमान और परमत-असहिष्णुता को जन्म देती है। धार्मिक जीवन से धर्म परायणता उत्पन्न होती है और धर्म-परायणता से ही सर्व-धर्म समभाव का विकास होता है।

धार्मिक मान्यताओं में सर्व-समानता बनाये रखने के लिए यूरोप में जी-तोड़ प्रयत्न किये गये और भारी झगड़े खड़े किये गये। हमारे देश में मान्यताओं के विषय में तो छूट थी, परन्तु आचार-धर्म के विषय में सारे समाज को यांत्रिक शिकंजे में पकड़ कर रखा जाता था। इसके फलस्वरूप यहाँ बौद्धिक स्वतन्त्रता का तो विकास हुआ, किन्तु बुद्धि के अनुसार कर्म करने की छूट न होने से— विचारों के अनुसार आचरण का विकास न होने से— बुद्धि का तेज क्षीण हो गया और धर्माधर्म तथा द्वैताद्वैत की चर्चा केवल 'डिबेटिंग क्लब' जैसी हो गई। धर्म हमेशा पारमार्थिक (Serious) वस्तु होना चाहिए। जैसी मान्यता हो वैसा जीवन बन जाए। तभी मनुष्य की बुद्धि शुद्ध और शुभ रहती है और उसका आचार मानवतापूर्ण, अविकृत और संस्कार-संपन्न बनता है।

'Live what you believe'— यही बड़े से बड़ा धर्मसूत्र और जीवन-सूत्र है। जैसा विश्वास हो वैसा ही आचरण रखो।

परन्तु धार्मिक आदर्श सर्वोच्च कोटि तक पहुँचा हुआ होने के कारण उसके आचरण में ढीले और दृढ़ लोगों के वर्ग तो पड़ेंगे ही— श्रावक और साधु, संन्यासी और गृहस्थ, श्रमण और श्रमणेतर के भेद उत्पन्न होने के बाद 'मान्यताओं से पूरी

तरह चिपटे रहो और आचरण की शिथिलता की उपेक्षा करो' का वातावरण पैदा हुए बिना रह ही नहीं सकता। और इसमें— इतने में— दोष नहीं पैदा होते। परन्तु इंग्लैंड प्रोटेस्टेन्ट व्यापारियों ने एक दूसरा सूत्र खोज निकाला। धर्म जीवन का केवल एक अंग है। धर्म के स्थान पर ही धर्म शोभा देता है। व्यवहार में हर जगह हम धर्म को ले आयेंगे, तो व्यापार भी बिगड़ेगा और धर्म भी बिगड़ेगा, ऐसा कहकर इन लोगों ने धर्म को जीवन की सामान्य चीज बना डाला है।

अब लोग इतने गंभीर भी नहीं रह गये हैं और धर्म की कल्पना भी इतनी छिछली नहीं रही है। 'धर्म का अर्थ है जीवन का परिष्करण, जीवन का परिवर्तन'— इतनी बात लोगों ने समझ ली है। अब यदि धार्मिकता की रक्षा करनी हो तो धर्मों के बीच के झगड़ों को भूल जाना चाहिए और सारे धर्मों में जो लोग सच्चे धर्मनिष्ठ हैं उन्हें निरे सैद्धान्तिक भेदों को भूल कर तथा धर्मों में रही हार्दिक एकता को पहचान कर आपस में संगठित होना चाहिए। हर धर्म में धर्मपरायण लोग भी होते हैं। और धर्माभिमानी लोग भी होते हैं। धर्मपरायण लोग धार्मिक जीवन में गहरे उतरते हैं, अपने आपको सुधारने का सतत प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार अपनी धार्मिकता की सुगन्ध चारों तरफ फैलाते हैं। लेकिन आज के जमाने में समाज का नेतृत्व करते हैं धर्माभिमानी लोग ही। उन्हें धार्मिक आचरण की बिल्कुल परवाह नहीं होती। उन्हें तो धर्म के नाम पर एक दुनियावी संगठन ही खड़ा करना होता है। ऐसे लोग ही अपने धर्म के अनुयायियों को उत्तेजित करके धार्मिक झगड़े शुरू करते हैं अथवा उन्हें चलाते हैं।

और जब धर्म-धर्म के बीच ऐसे झगड़े चलते हैं, उस समय धर्म शुद्धि का काम शिथिल पड़ ही जाता है। धर्म-सुधारक यदि आत्मशुद्धि के लिए अपने समाज के दोषों को प्रकट करते हैं, तो 'शत्रुओं के सामने हमारी पोल खुल जाएगी' इस भय से ऐसे सुधारकों की आवाज को दबा दिया जाता है। जनता को यह बात समझानी चाहिए कि भिन्न-भिन्न धर्मों के लोग एक-दूसरे के शत्रु नहीं हैं; सच्चे शत्रु तो अधर्मी अर्थात धर्म विरोधी लोग ही हैं।

एक बात हमें स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि आज के सामाजिक जीवन के लिए प्रत्येक मनुष्य को सब धर्मों का ज्ञान— समभाव पूर्वक प्राप्त किया हुआ थोड़ा-बहुत ज्ञान— अवश्य होना चाहिए। प्रत्येक मानव को इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि हर एक धर्म की मान्यताएँ क्या हैं, उसका समाजशास्त्र क्या है तथा उसे कितनी जीवन-सिद्धि मिली है और किस ढंग से मिली है।

मैं अपना सब कुछ संभाल कर बैठा रहूँगा, दूसरों से मेरा क्या सम्बन्ध ? ऐसा कहने से अब काम नहीं चलेगा। मैं सबकी बात को समझूँगा, सबको अपनी बात समझाऊँगा, सबकी बात सहन करूँगा, सबको सहन करूँगा और सबके साथ ओत-

प्रोत हो जाऊँगा— यही अब धर्म का युगधर्म है। अब आगे सब मनुष्यों को एक-दूसरे का रंग लगेगा, फिर भी प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करेगा।

अब हमें एक अत्यन्त महत्त्व की बात प्रचलित करनी होगी। आज तक हम यह मानते और कहते आये हैं कि 'प्रत्येक मनुष्य के लिए उसका अपना धर्म अच्छा है। सभी धर्म अच्छे हैं, इसलिए न तो कोई अपने धर्म का त्याग करे और न दूसरों के धर्म की निन्दा करे।' यहाँ तक तो सब ठीक ही है, लेकिन इतने से ही अब हमारा काम नहीं चलेगा। स्वधर्म का सूत्र अब एकांगी लगता है। 'सब धर्मों के साथ परिचय बढ़ाकर, उन्हें पहचान कर, उस व्यवस्था में दिखाई पड़ने वाले अपने स्वधर्म का मैं पालन करूँगा'— यही आज का पूर्ण धर्म है। सब धर्मों का अध्ययन करने के बाद ही स्वधर्म का रहस्य पूर्णतया हमारी समझ में आयेगा और ऐसा करके ही हम सब के साथ शान्ति और मेलजोल से रह सकेंगे।

श्री शंकराचार्य ने इस तत्त्व को समझ लिया था। उन्होंने देखा कि भारत में असंख्य देवी-देवताओं की पूजा होती है। भारत के लोगों की शायद गिनती हो सकती है, लेकिन भारत के देवी-देवताओं की नहीं हो सकती । इसलिए उन्होंने पाँच देवों को मुख्य मानकर बाकी सबको इन पाँच देवों के ही अवतार बना दिया। महादेव, विष्णु, गणपति, देवी और सूर्य इन पाँच देवों को उन्होंने हिन्दू धर्म के मुख्य देवों के रूप में प्रस्तुत किया और कहा कि इनमें से जो देव तुम्हारा इष्ट हो उसी की पूजा करो; परन्तु उसके आस-पास बाकी चार देवों को अनिवार्य रूप से रखना चाहिए, क्योंकि इनके साथ ही इष्ट देव की पूजा हो सकती है। पूजा जब भी की जाए तब पंचायतन की ही करनी चाहिए। ऐसा करके श्री शंकराचार्य ने सब देवी-देवताओं के सम्बन्ध में भक्तों के बीच चलने वाले झगड़ों को खत्म कर दिया। सभी धर्म अच्छे हैं, सब धर्मों के प्रति हमारा सद्भाव होना चाहिए, सब धर्मों की उपासना हमें समझ लेनी चाहिए— उसमें किसी हद तक हम भाग भी ले सकते हैं, परन्तु दृढ़ तो हमें अपने धर्म पर ही रहना चाहिए। जब सभी धर्म सच्चे हैं तो धर्म-परिवर्तन के लिए गुंजाइश ही नहीं रह जाती। सभी धर्म सच्चे हैं और सभी धर्म किसी हद तक एकांगी और अपूर्ण हैं, यह बात स्याद्वाद और सप्तभंगी न्याय को समझाने वाले जैनों की समझ में तुरन्त आ जानी चाहिए। सब धर्मों का ज्ञान होने पर ही स्वधर्म का रहस्य समझ में आता है। वास्तव में जितने धर्म हैं उतनी ही जीवन-पद्धतियाँ हैं। इन सब पद्धतियों द्वारा मनुष्य को जीवन का दर्शन होना चाहिए। इसीलिए इन सब धर्मों की आवश्यकता है। कहा जाता है कि रामकृष्ण परमहंस ने अलग-अलग समय पर इन सब धर्मों की साधना करके देख लिया और उसके बाद वे इसी निर्णय पर पहुँचे कि ये सब मार्ग एक ही प्राप्तव्य— लक्ष्य— की ओर ले जाते हैं।

ऐसे साक्षात्कार, प्रत्यक्ष अनुभव, के लिए बौद्धिक अहिंसा यानी स्याद्वाद और तप की आवश्यकता है।

प्रत्येक धर्म का आधार है आत्मा पर विश्वास। जिन लोगों का आत्मा में विश्वास नहीं है, उन्हें गीता ने आसुरी सम्पत्ति वाले कहा है। इसलिए सच पूछा जाए तो मनुष्य-जाति के दो ही विभाग किये जा सकते हैं : (१) दैवी सम्पत्ति वाले; और (२)आसुरी सम्पत्ति वाले। और इन दोनों के बीच कोई समझौता हो ही नहीं सकता। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में कम या अधिक मात्रा में दैवी और आसुरी वृत्तियाँ होती हैं, इसलिए इन दोनों के बीच सनातन संघर्ष चलता ही रहता है। इस युद्ध में यदि हमारी जीत हुई, तो समाज में धर्मों के बीच चलने वाला झगड़ा अपने आप शान्त हो जाएगा।

प्रत्येक हृदय में जब दैवी और आसुरी सम्पति के बीच झगड़ा चलता है तब अनेक बार परवश बनी हुई दैवी वृति बाहर से मदद की आशा रखती है। इसी में से ईश्वर-शरण की वृत्ति उत्पन्न हुई है। 'सर्वधर्मान्, परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' ऐसा जब भगवान श्री कृष्ण ने कहा तब उनकी नजर के सामने आर्यधर्म, इस्लाम, बौद्ध अथवा जैन धर्म, सिक्ख या ईसाई धर्म जैसे धर्म नहीं थे; ज्ञान, भक्ति, कर्म और उपासना जैसे मार्ग भेदों का भी उन्होंने कोई संकेत नहीं किया था; किन्तु देशधर्म और कुलधर्म, जातिधर्म और वयोधर्म, गुणधर्म और शरीर-धर्म, कलाधर्म और आपद्-धर्म— ऐसे-ऐसे उस समय के चर्चित संकुचित और एकांगी धर्मों का विचार करके ही भगवान ने अर्जुन से कहा था कि इन सब धर्मों को तू छोड़ दे, पूरी तरह छोड दे और एक मात्र आत्मतत्त्व की ही शरण में जा ! उसके बाद ही स्वधर्म का रहस्य खुलेगा और उसका मार्ग मिलेगा।

२. भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति केवल आर्य संस्कृति या केवल हिन्दू संस्कृति ही नहीं है। भारतीय संस्कृति केवल प्राचीन काल का ही ख्याल नहीं करती। भारतीय संस्कृति का केन्द्र है हिन्दुस्तान, किन्तु उसका वर्तुल अथवा परिधि हिन्दुस्तान तक सीमित नहीं है।

भारतीय संस्कृति हिन्दुस्तान के इतिहास से भी बड़ी है, क्योंकि इतिहास केवल भूतकाल का ही ख्याल रखता है। संस्कृति का संबंध भूत, वर्तमान और भविष्य से है। इतिहास अपना भविष्य नहीं जानता। संस्कृति अपने भविष्य के ध्रुवतारे पर निगाह

रखकर चलती है।

हिन्दुस्तान में अनेक धर्म हैं, अनेक भाषाएँ हैं, अनेक देशों से आकर बसे हुए लोग हैं। सम्पत्ति, बुद्धिशक्ति, कौशल, उदारता और शालीनता, हर एक दृष्टि से भिन्न भिन्न कोटि के लोग यहाँ पर बसते हैं तो भी हम कहते हैं कि हिन्दुस्तान की संस्कृति एक है, अखण्ड है और अविभाज्य है। बहुत से लोग इस चीज को नहीं समझ सकते कि भिन्न धर्मावलम्बी लोग भी एक संस्कृति में कैसे आ सकते हैं।

एक उदाहरण लेकर हम इस बात को स्पष्ट करेंगे। ईसा मसीह यहूदी थे। उन्होंने यहूदी मत में कुछ दोष और अपूर्णता देखी। उसे दूर करने के लिए उन्होंने अपना उपदेश अपने शिष्यों को दिया। ईसा के शिष्य ईसाई हो गये पर उनका यहूदीपन मिट नहीं पाया। उसके बाद संट पॉल ईसाई बन गये। वे यहूदी न थे वे ग्रीक यवन थे। उन्होंने ईसा के उपदेश को तो ग्रहण किया, किन्तु उनकी संस्कृति ग्रीक थी। उसमें ईसा का उपदेश मिलाकर उन्होंने अपनी ग्रीक संस्कृति परिपुष्ट की। बाद में जो रोमन लोग ईसाई हुए वे धर्म से तो ईसाई हो गये, रोमन धर्म उन्होंने छोड दिया, किन्तु रोमन संस्कृति से वे परे न हो सके।

हिन्दुस्तान में शक, हूण आदि बाहर के कितने ही लोग आ गये। उन्होंने न केवल यहाँ धर्म ही अपनाया बल्कि वे संस्कृति से भी इसी देश के हो गये। हिन्दुस्तान के बाहर उनके लिए कोई स्वदेश नहीं रहा। अगर वे वहाँ से कुछ संस्कृति लेकर आये तो उसे पूरा तरह यहाँ के लोगो ने अपनाया और यहाँ की भली-बुरी सब बाते उन लोगों ने अपनायीं और वे पूरे पूरे यहाँ के हो गये।

जब मुसलमान इस देश में आये तो यहाँ के लोगो से वे तुरन्त घुलमिल नहीं पाये। उनके गोमांसाहार को यहाँ के लोग सहन न कर सके और यहाँ की मूर्ति पूजा को वे भी सहन न कर सके। जब और प्राणियों का मांस खाया जाता है तब गाय का मांस खाने में क्या हर्ज हो सकता है, यह उनके ध्यान में नहीं आ सका। भारत की कृषि-प्रधान संस्कृति में गाय का क्या महत्त्व है यह किसी ने भी उन्हें नहीं बताया; और न कला प्रिय भारतवासी मुसलमानो के मूर्ति-विरोध को समझ सके। अन्य देशों के जड बुद्धि लोगों ने मूर्ति के नाम पर क्या-क्या अनाचार चलाये थे, इसका ख्याल तक हमारे लोगों को न था।

किन्तु भारतीय संस्कृति में एक बहुत बडी चीज थी, जो अन्य देशो में बहुत कम पाई जाती है। भारत के लोग पहले से यह मानते आये हैं कि ईश्वर के पास पहुँचने के मार्ग अनेक हैं। मनुष्य अज्ञानी है, यह कोई उसका गुनाह नहीं है। ईश्वर सर्वज्ञ है। वह हर मनुष्य के हृदय की बात जानता है। अगर मनुष्य में दुष्टता न हो तो उसके अज्ञान को क्षमा तो ईश्वर पहले से ही कर देता है। ईश्वर के सामने छोटे और बड़े, पंडित और मुल्ला, विद्वान् और जंगली— सबके सब अज्ञानी ही

हैं। एक का अज्ञान काजल के जैसा होगा, तो दूसरे का अज्ञान कोयले के समान होगा। उनमें से किसे सजा दें और किसे माफी दें ?

जो मुसलमान बाहर से हिन्दुस्तान में आये उन्होंने इसी देश को स्वदेश बनाया, स्वभाषा छोड़कर यहाँ की भाषा को ही स्वभाषा बनाया। बुलबुलों के साथ कोयल का गाना सुनकर उनका हृदय उछलने लगा। तरबूज के प्रति जो भक्ति थी वह उन्होंने यहाँ के आम को अर्पण की और वे हिन्दुस्तानी बन गये। यह बात हुई बाहर से आये हुए मुसलमानों की। किन्तु आज हिन्दुस्तान में जो मुसलमान हैं, उनमें बाहर से आये हुए कितने हैं ? बीस फीसदी भी नहीं होंगे। बाकी के सब अनादि काल से इसी देश के रहने वाले हैं। उनके लिए हिन्दुस्तानी बनने का सवाल ही नहीं था। वे कभी गैर-हिन्दुस्तानी थे ही नहीं। वे तो व्यास, वाल्मीकि, बुद्ध और शंकराचार्य के ही वंशज हैं। जिन भारतवासियों ने किसी भी कारण से इस्लाम को स्वीकार किया उन्होंने कालिदास और भवभूति, आर्यभट्ट और भास्कराचार्य, वाग्भट्ट और तानसेन की अपनी विरासत छोड़ी नहीं है। मुसलमान होने से उन्होंने फारसी और अरबी को अपनाया जरूर, किन्तु बंगाली और मराठी, तमिल और तेलगू आदि अपनी मातृभाषाओं को उन्होंने छोड़ नहीं दिया। मातृभाषा का द्रोह करके किसी ने अपना सामर्थ्य बढ़ाया नहीं है, अपना उद्धार नहीं किया है। संस्कृत भाषा जितनी ब्राह्मणों की है उतनी ही दूसरे सब वर्णों की है। इतना ही नहीं, संस्कृत भाषा जितनी हिन्दुओं की है उतनी ही हिन्दुस्तान के मुसलमानों और ईसाइयों की है। संस्कृत में लिखे हुए भव्य साहित्य का सत्कार हिन्दू, मुसलमान और ईसाई तीनों समान भाव से कर सकते हैं। अगर कोई इस विरासत से मुँह मोड़ेगा तो वह अपने को संस्कार की दृष्टि से दरिद्र ही बनाएगा।

जिन लोगों ने इस्लाम या ईसाई धर्म को स्वीकार किया है वे हिन्दू धर्मग्रंथों को हिन्दुओं की तरह प्रमाण नहीं मान सकते, तो भी उनके प्रति उनके मन में आदर-भाव अवश्य रहेगा। नया धर्म ग्रहण करने से वे अपनी विरासत को छोड़ नहीं देंगे। किन्तु उसे अपनी नई दृष्टि से शुद्ध करके अपने नए धर्म के द्वारा समृद्ध ही करेंगे। भारतीय संस्कृति की चमक मिलने से उनका धर्म अधिक तेजस्वी बन जाएगा।

और जो लोग हिन्दू हैं वे भी ईसाई और इस्लामी धर्मग्रन्थों का प्रामाण्य न स्वीकार करते हुए भी उनकी इज्जत तो अवश्य करेंगे और उनसे उतना ही लाभ उठायेंगे जितना वे अपने धर्मग्रन्थों से उठाते हैं।

संसार में इतने सारे धर्म हैं, किन्तु उन सब धर्मों का एक विशाल धर्म-कुटुम्ब बनाने की शक्ति भारतीय संस्कृति में ही है। भारतीय संस्कृति ने कब का कह दिया है कि मानव-कुल में प्रचलित सब प्रधान धर्म सच्चे हैं। सभी की प्रेरणा

ईश्वर से मिली है। और सबके सब मनुष्यों के बीच प्रचलित होने के कारण मनुष्यों की अपूर्णता भी उनमें आ गई है। गंगा गंगोत्री से निकली है, लेकिन वहीं ठहरी नहीं है। जब तक वह विशाल सागर में विलीन न हो जाए तब तक उसे आगे बढ़ना ही है। उसमें यमुना आकर मिलेगी, चर्मण्वती और शोण आकर मिलेंगी, सरयू और गंडकी भी आकर मिलेंगी, और सागर में पहुँचते-पहुँचते हिमालय के उस पार से आने वाली ब्रह्मपुत्र के साथ भी उसका संगम हो जायेगा। भारतीय संस्कृति की भी ऐसी ही बात है। वैदिक संस्कृति से उसका उद्‌गम हुआ होगा। उसके पहले की बात हम नहीं जानते, किन्तु उसमें दुनिया भर की संस्कृतियों ने अपना-अपना कर-भार डाल दिया है। भारतीय संस्कृति में इस्लामी और ईसाई संस्कृति मिल गई। इसलिए हिन्दुस्तान के इस्लाम की खूबी अरबस्तान, ईरान या मिस्र के इस्लाम से कुछ अलग होगी, कुछ अधिक होगी। भारत का ईसाई धर्म इटली, फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैण्ड और रूस के ईसाई धर्म से कुछ अलग सुगन्ध फैलाएगा। ईसाई धर्म की खूबी जब हिन्दुस्तान के ईसाई लोग बताने लगेंगे, तो ईसाई धर्म में एक नई ही समृद्धि आ जायेगी।

और, इस्लाम तथा ईसाई धर्म के हिन्दुस्तान में आने से हिन्दू धर्म की खूबी भी अधिक अच्छी तरह से स्पष्ट होने लगी है। सूफी मत और कबीर मत, ब्राह्म-समाज और आगाखानी सम्प्रदाय, सबमें हम भारतीय संस्कृति की समन्वयकारी शक्ति देख सकते हैं।

और जो लोग ईश्वर को नहीं मानते, किसी भी धर्म के प्रति आदर रखना पसन्द नहीं करते, किसी शास्त्र को नहीं मानते, बुद्धि से श्रेष्ठ किसी भी चीज को स्वीकार नहीं करते, वे भी भारतीय संस्कृति से बहिष्कृत नहीं हैं। उनकी भी परम्परा इस देश में प्राचीन काल से चली आई है।

नदी में रोज नया पानी आता रहता है। एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में वह बहती है, तो भी उसका रंग, रूप, व्यक्तित्व और सौंदर्य अक्षुण्ण रहता है। संस्कृति की भी यही बात है। भारतीय संस्कृति में दुनिया भर की सब संस्कृतियों का असर दीख पड़ता है, लेकिन वह भारतीय ही रही है। भारतीय शब्द में आर्य प्रारम्भ का सूचन अवश्य है, किन्तु वैदिक या महाभारत काल से वह सीमित नहीं हो सकती। कई लोग भारतीय शब्द पर आपत्ति उठाते हैं। वे भारतीय संस्कृति का स्वभाव ही नहीं जानते। भारतीय संस्कृति एक जीवित चैतन्यमय और वर्द्धमान संस्कृति है। मानवता का अन्तिम कल्याण ही उसका आदर्श है। भारत वर्ष उसका केन्द्र है, मध्यबिन्दु है; और उसका कार्यक्षेत्र अखिल विश्व है।

मई १९३९

३. धर्मों का धर्म*

[सर्व-धर्म-परिषद]

सर्व-धर्म-परिषद के विचार को भारत में प्रस्तुत करने का श्रेय स्वामी विवेकानन्द को मिलना चाहिए। उन्हीं ने जगत को यह समझाया कि जिस सर्व-धर्म-परिषद में हिन्दू धर्म का समान साझेदार के रूप में प्रतिनिधित्व न हो, वह परिषद अधूरी ही मानी जाएगी। सन् १८९३ में भारत के शिक्षित वर्ग को यह लगा कि जगत में हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध हुई है। और उस दिन से स्वामी विवेकानन्द का नाम हमारे लिए एक घरेलू शब्द बन गया। मैं उस समय छोटा था, परन्तु इस समाचार की चर्चा करने वाले अपने बड़े भाइयों के ज्वलन्त उत्साह और हिन्दू धर्म के भविष्य के विषय में उनकी असंख्य आशाओं का आज भी मुझे पूरा स्मरण है। कुछ ही समय में स्वामी विवेकानन्द के भाषणों का अनुवाद मेरी मातृभाषा मराठी में हो गया और लोग उन भाषणों को बड़ी उत्सुकता से पढ़ने लगे। केवल विषय की दृष्टि से तो वेदांत का ज्ञान रखने वाले वर्ग के लिए उन भाषणों में नया कुछ नहीं था; परन्तु उनका एक-एक शब्द प्राण से परिपूर्ण और आशा तथा आत्म-विश्वास से भरा हुआ था। उन भाषणों में स्वामी जी ने हिन्दू धर्म को जिस तरह प्रस्तुत किया था, उसकी अपूर्वता उनके अर्वाचीन दृष्टिकोण में तथा आधुनिक युग के सामाजिक और शैक्षणिक प्रश्न हल करने के लिए उन के द्वारा किये गये वेदान्त के सिद्धान्तों के उपयोग में निहित थी। जैसे-जैसे मैं उमर में बढ़ता गया वैसे-वैसे मेरी दृष्टि में उनके उपदेशों का महत्त्व बढ़ता गया और मैं स्वामी जी को भारतीय संस्कृति के चरमोत्कर्ष के रूप में मानने लगा।

कुछ वर्ष बाद स्वामी जी द्वारा 'मेरे गुरु' के नाम से गुरु महाराज रामकृष्ण परमहंस को अर्पित श्रद्धांजलि मेरे हाथ में अचानक आई। उसका मुझ पर अद्‌भुत प्रभाव पड़ा। उस छोटे से जीवन-चरित्र के द्वारा स्वामी जी ने मुझे आध्यात्मिक जीवन की वास्तविकता और महत्ता में श्रद्धा रखने वाला बना दिया । मैं समझ ही नहीं पाया कि अंग्रेजी और संस्कृत भाषा के ज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ एक निरक्षर व्यक्ति स्वामी विवेकानन्द जैसे दार्शनिक और तेजस्वी प्रज्ञावाले मनुष्य में शिष्य भाव कैसे प्रेरित कर सका होगा। लेकिन मुझे तो पहले से ही स्वामी जी ने मंत्र-मुग्ध कर लिया था; वे जो कुछ लिखते उस पर मैं आंतरिक श्रद्धा रखता था। उस संक्षिप्त जीवन चरित्र ने मेरे मानसिक दृष्टिकोण में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। कॉलेज-

---

*ता. ३-३-'३७ को कलकत्ते में हुई सर्व-धर्म-परिषद् (पार्लमेण्ट ऑफ रिलीजन्स) के अवसर पर दिये गये अंग्रेजी भाषण 'The task before religion' का अनुवाद।

जीवन के आरंभ के फलस्वरूप मुझे जो संशय-वृत्ति और तर्कवृत्ति प्राप्त हुई थी, उसमें भारी खलबली मच गई; और आध्यात्मिक जीवन के जिस दर्शन को मैं बहुत दिनों से खो बैठा था वह मुझे फिर से प्राप्त हो गया। मैं यह कहूँ तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि इस जीवन-चरित्र का पठन मेरे लिए नया जन्म सिद्ध हुआ।

मैंने यह समझा कि भारत की सच्ची आवश्यकता तो एक ऐसे शिक्षा-शास्त्री और समाजशास्त्री की थी, जो वेदांत के मूर्तिमन्त प्राचीन ध्येय के समान एक सच्चे धार्मिक पुरुष के जीवन्त अनुभवों का लोगों को नये सिरे से अर्थ कर दिखायें। विवेकानन्द को लगा कि यदि मुझे भारत के लोगों को अपनी बात सुनानी हो, तो पहले सुदूर अमेरिका की उच्च भूमि पर पहुँचना चाहिए। इसलिए जगत के धर्मों की परिषद में हिंदू धर्म का स्वयं-नियुक्त प्रतिनिधि बनकर उन्होंने अपना यह अधिकार प्राप्त किया।

आज मैं इस सर्व-धर्म-परिषद में रामकृष्ण और विवेकानंद की अभिन्न मूर्ति को अपनी भक्ति अर्पण करने आया हूँ; और यह लिखते-लिखते ही त्रिमूर्ति के एक तीसरे अंग के रूप में मुझे भगिनी निवेदिता का स्मरण होता है। उनकी 'Web of Indian Life' नामक पुस्तक ने, 'The Master as I saw him' नामक काव्यचित्र में उनके द्वारा चित्रित अद्भुत जीवन-रेखा ने, 'The Footfalls of Indian History' नामक निबंध ने तथा अन्य विविध निबन्धों ने मेरे लिए यूनिवर्सिटी शिक्षण का काम किया है; नहीं, मुझे कहना चाहिए कि भगिनी निवेदिता की पुस्तकें और निबन्ध मेरे यूनिवर्सिटी शिक्षण के दोषों को सुधारने वाले सिद्ध हुए हैं। रामकृष्ण, विवेकानन्द और निवेदिता को मिलाकर एक अखंड प्रवाह बनता है। वे पृथ्वी पर आध्यात्मिकता के अवतार जैसे हैं; विशाल वटवृक्ष के रूप में एक ही बीज के उद्भव और विस्तार हैं।

यहाँ मेरी स्मृति रामकृष्ण-परिवार के दूसरे सदस्यों की ओर पीछे लौटती है। सन् १९११ में जब मैं इस परिवार की यात्रा के लिए कलकत्ता आया था तब मैं श्री माँ, मास्टर महाशय, स्वामी ब्रह्मानन्द तथा रामकृष्ण-मिशन का संचालन करनेवाले स्वामी जी महाराज के अन्य गुरु बन्धुओं के भाग्यशाली मण्डल से मिला था। वहाँ सबसे पहले जिन संन्यासी से भेंट हुई वे थे स्वामी प्रेमानन्द। उस समय वे बेलूर मठ के अध्यक्ष थे। वे सच्चे भक्त और मूक सेवक थे। वे अंग्रेजी बहुत कम जानते थे; हिन्दी शायद बिल्कुल नहीं जानते थे। उनसे किसी प्रश्न का उत्तर पाना बहुत कठिन था। जब मैंने गुरु महाराज के बारे में उनसे पूछा तो वे केवल ध्यान की दशा में पहुँच गये और मूक बन गये किन्तु उनकी सजल आँखों ने ही वाणी से कहीं अधिक असरकारक उत्तर मुझे अपने प्रश्न का दे दिया। एक दूसरे मौके पर मैंने बनारस में उन्हें बँगला में भाषण करते हुए सुना था। निष्ठा और भक्ति पर यह

उनका एक तेजस्वी, प्राणवान भाषण था।

उस समय और उसके बाद मैंने ब्रह्मानन्द, तुरीयानन्द, शिवानन्द, कल्याणानन्द और निश्चयानन्द स्वामियों से जो ज्ञान प्राप्त किया, उसका विस्तृत वर्णन करने का यह स्थान नहीं है। स्वामी शारदानन्द के तो मैंने केवल दर्शन ही किये थे। रामकृष्ण-मिशन अपनी उपयोगिता और सेवा में प्रगति करे, इसके लिए ये सब लगन और निष्ठावाले संन्यासी प्राणपण से प्रयत्न करते रहते थे। परन्तु मेरा सबसे अधिक परिचय तो मास्टर महाशय के साथ था। उन्होंने मुझ पर गुरु की विवेक-दृष्टि से युक्त पिता का वात्सल्य खूब बरसाया था।

बाद की जवान पीढ़ी में से स्वामी पूर्णानन्द और माधवानन्द तो हिमालय की तलहटी के निवास-काल में मेरे पड़ोसी ही थे। इसलिए आज मैं इस संस्था में एक बाहरी व्यक्ति की तरह नहीं आया हूँ। गृहस्थ दशा में रहे हुए आपके एक बन्धु के नाते मुझमें अधूरापन जरूर है, फिर भी आप मुझे यह कहने की इजाजत दीजिए कि मैं आपके अपने ही आदमी के रूप में यहाँ आया हूँ।

आज किस चीज ने यहाँ एक स्थान पर हमें एकत्र किया है ? मुझे लगता है कि वह चीज है विश्व के पीछे रही हुई सब कुछ सहन करनेवाली प्रेम शक्ति की वास्तविकता का अनुभव करने के लिए यथासम्भव सब प्रकार की साधनाओं में निर्भयता से विचरनेवाले एक आध्यात्मिक कोलम्बस के अनुभव की सत्यता, तीव्रता और सर्व-संग्राहिता। आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रयोग करनेवाले रामकृष्ण जैसे महान प्रयोग-वीर के सामने न्यूटन, फेराडे, एडिंग्टन, जीन्स और रमण इत्यादि तो केवल बालकों की तरह हैं। आध्यात्मिक प्रयोग-वीरों को स्वयं अपने पर प्रयोग करने पड़ते हैं; संशय और निराशा का समय बिताना पड़ता है; और अपने लक्ष्य पर पहुँचने के बाद भी उन्हें अपने प्राप्त परिणामों की यथार्थता का बार-बार निश्चय करते रहना पड़ता है। रामकृष्ण उन ब्रह्मज्ञानियों की अखंड पंक्ति में प्रथम कोटि के तारे थे, जिन्होंने भारत को उसकी आज की प्रतिष्ठा के उच्च स्थान पर स्थापित किया है। रामकृष्ण परमहंस की साधना की विशेषता इस बात में थी कि उन्होंने विभिन्न धर्मों द्वारा बताई हुई साधनाएँ अपने जीवन में की थीं, जिससे प्रत्येक मार्ग के अन्तिम रहस्य को स्वयं अनुभव से पा सकें। इसी कारण से वे दृढ़ विश्वास के साथ कह सकते थे कि सब धर्म हमें एक ही स्थान पर पहुँचाते हैं। यह वस्तु उनके लिए तर्क का विषय नहीं थी; उन्होंने इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया था। इसलिए रामकृष्ण इस युग के मार्गदर्शक बन गये हैं। उनके उस अनुभव को बौद्धिक भूमिका पर यत्किंचित् अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न आज हम यहाँ कर रहे हैं।

रामकृष्ण परमहंस ने भारत के सब मुख्य धर्मों का सच्चा अध्ययन करने की

आवश्यकता को प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिखाया है। संसार की विविध प्रजाएँ यदि आपस की गलतफहमियों को दूर करने का सुमेल साधकर जीने का कोई मार्ग नहीं निकालेंगी, तो उनके बीच का झगड़ा लगभग अनिवार्य बनता जाएगा। इस तरह की परिषदें केवल बौद्धिक क्षेत्र में ही कार्य करना छोड़ दें, तो वे यह काम पूरा कर सकती हैं। धर्म अनुभव की चीज है। उसे प्रेम और श्रद्धा से ही प्राप्त किया जा सकता है। व्यावहारिक आदर्शवाद ही सारी प्रजाओं के बीच तथा उनके द्वारा विकसित किये हुए जीवन-मार्गों के बीच मेल साधने का मार्ग दिखा सकता है।

सब धर्मों का तथा उनके बताये हुए जागतिक प्रश्नों का अध्ययन अब केवल संस्कृति के विद्वान अभ्यासियों का विलास ही नहीं रहा है। वह अब अधिकाधिक सुसंगठित सामाजिक जीवन की प्राथमिक आवश्यकता का रूप लेता जा रहा है। इतनी सावधानी अवश्य रखी जानी चाहिए कि यह अध्ययन मानसिक गगनविहार न बन जाय। उसे जीवन-स्पर्शी बनना चाहिए और प्रश्नों के उचित हल प्राप्त करने के लिए प्रयोग भी करने चाहिए। लोग सेवा की ही भावना से एक स्थान पर एकत्र हो सकते हैं और हृदय का मेल साध सकते हैं। बुद्धि अधिक-से-अधिक आपस में उनकी समझ को बढ़ा सकती है अथवा पहले से ही उनके बीच यदि सद्भाव हो तो किसी हद तक उसे सहारा दे सकती है। परन्तु हृदयों को एक साथ बाँधने वाली और हम सबको एक मानव-जाति में एकत्र करनेवाली शक्ति तो सेवा ही हो सकती है। स्वार्थत्याग तथा स्वार्पण की सीमा तक जा सकनेवाली सेवा ही वह शक्ति है, जो सर्वत्र सुमेल स्थापित कर सकती है और हम सबका एक परिवार बना सकती है। अलग-अलग संगठन इस क्रिया में किसी हद तक सहायक तो हो सकते हैं, परन्तु संगठन आत्मा का साधन नहीं है। पृथ्वी के सभी संगठन पार्थिव हैं; और इस तरह वे आध्यात्मिक विकास में अनेक बार विघ्नकारक सिद्ध होते हैं। बहुत बार तो जो परिणाम सिद्ध करना उन संगठनों के स्वभाव में ही नहीं होता उन परिणामों की आशा उनसे रखकर हम उनकी उपयोगिता को नष्ट कर देते हैं। सच्चे सेवक एक-दूसरे को स्वभावतः ही पहचान सकते हैं और स्वयं स्वतंत्र रहकर ही एक-दूसरे की मदद करते हैं। हमें सब धर्मों का एक व्यवस्थित फेडरेशन (संघ) नहीं बनाना है, परन्तु एक ही क्षेत्र में काम करती आत्माओं का सहज और स्वतन्त्र सहयोग प्राप्त करना है। जगत के महान धर्म आज जो एक-दूसरे के प्रतिस्पर्धी बन गये हैं उसका कारण उनके सिद्धांतों में रहनेवाले भेद नहीं हैं, परन्तु वह बड़ा संगठन है जो प्रत्येक धर्म के पीछे रहकर उसका नियंत्रण करता है। इस दुःखद स्थिति से हम सब भली-भांति परिचित हैं।

आज संगठन और स्वोत्कर्ष का सिद्धान्त कानून और जबरदस्ती के सिद्धान्त का वफादार मित्र बन गया है। उससे केवल अन्धी और दुःखपूर्ण मानव-प्रवृत्ति का

क्षेत्र बढ़ाने में ही मदद मिलती है। संख्याबल, संगठन की विशालता और सत्ता के केन्द्रीकरण ने न्याय और भलाई के स्वाभाविक सामर्थ्य में रही मनुष्यों की श्रद्धा को नष्ट कर दिया है। आज मानव-जाति संख्या, संगठन और केन्द्रित सत्ता के तीन जीवन्त देवताओं को ही अपनी भक्ति अर्पण कर रही है। एक ओर प्रचलित धर्म आपस में लड़ते रहते हैं, जब कि दूसरी ओर वे लज्जाजनक ढंग से इस युग की उपरोक्त त्रिमूर्ति के ही वश होते जा रहे हैं।

हमारे जीवन में देखी जानेवाली एक छोटी-सी घटना मैं आपके सामने रखूँ तो आप मुझे क्षमा करेंगे। लंका में केन्डीना विहार के एक बौद्ध साधु के साथ मैं बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों की चर्चा कर रहा था। वह साधु अपनी विद्वत्ता और धर्मनिष्ठा के लिए प्रसिद्ध था। बौद्ध धर्म के प्रति मेरा पक्षपात उसे बहुत अच्छा लगा। उसने मुझसे सीधा प्रश्न किया : "तो फिर तुम बौद्ध क्यों नहीं बने ?" उसकी सरलता को देखकर मुझे खुशी हुई। इसलिए मैंने विनोद में उससे पूछा, "मैं यदि 'बुद्ध' और 'धर्म' को स्वीकार करूँ और 'संघ' को स्वीकार करने से इनकार कर दूँ, तो आप मुझे बौद्ध दीक्षा देंगे ?"

साधु ने कहा : "यह असम्भव है।" मेरे प्रस्ताव को मान ले ऐसा शास्त्र विमुख, लोभी और नास्तिक वह नहीं था। उसने तुरन्त अनेक शास्त्र-वचन उद्धृत करके कहा कि यदि तीनों रत्नों को एकसाथ स्वीकार न किया जाय, तो निर्वाण सम्भव नहीं हो सकता।

मैं सम्प्रदाय जैसे संगठन की उपयोगिता की उपेक्षा नहीं करता। सम्प्रदाय लोगों में ऐसा अनुशासन स्थापित कर सकता है, जिसके द्वारा कोई भी सिद्धान्त जीवन्त धर्म का रूप ले लेता है। परन्तु सम्प्रदाय को वृक्ष की छाल की तरह रहना चाहिए, जो वृक्ष के भीतर के गर्भ की रक्षा करती है। इतना ही नहीं, वृक्ष का पूरा विकास हो इसके लिए छाल प्रत्येक शीत ऋतु में स्वयं फट जाती है, लेकिन वृक्ष के विकास को नहीं रोकती। परन्तु दुर्भाग्य से मनुष्य के संगठन कुछ समय बाद उसी की आत्मा को रौंदनेवाले बन जाते हैं, जीवन-रस के स्वतन्त्र उन्मुक्त प्रवाह को रोकनेवाले बन जाते हैं।

मुझे हमेशा यह लगा है कि सत् का विरोधी असत् नहीं, किन्तु सत्ता है। असत् को हमेशा सत् के सामने झुकते रहना पड़ता है, क्योंकि उसका सारा बल सत् के ही दम्भ से प्राप्त होता है। सत् का सच्चा विरोधी तत्त्व सत्ता है, जो सत् की रक्षा करने अथवा उसका आचरण करने में प्रवृत्त होते समय भी सत् का गला घोंटने, उसे लज्जित करने या निर्बल बनाने का ही काम करती है। संसार के धर्मों ने मध्ययुग की राज्यसत्ताओं के नमूने पर अपना संगठन जमाने का प्रयत्न किया और ऐसा मान

लिया कि सत्य के पीछे यदि सत्ता का बल हो तो उसका जल्दी प्रचार हो सकता है। मैं नहीं मानता कि नास्तिकता भी इससे अधिक बुराई अथवा अधिक हानि कर सकती है। जिस प्रकार ईश्वर की और धन-दौलत की एकसाथ पूजा नहीं की जा सकती, उसी प्रकार सत्य और सत्ता की भी एकसाथ पूजा नहीं की जा सकती। हाँ, सत्ता का बल सत्य का ही आन्तरिक बल हो तो बात अलग है। इसलिए धर्मों ने अपने आस-पास सत्ता की जो दृष्टि और विचारसारणी खड़ी कर दी है, उससे बाहर निकलने का प्रत्यन उन्हें करना ही चाहिए। अहिंसा सत्य का ही एक विशिष्ट पहलू है। खूब गहराई में उतर कर हम जाँच करें तो पता चलेगा कि सब धर्मों का रहस्य सत्य तथा अहिंसा के प्रति अनन्य भक्ति में ही निहित है। जैसा कि आयरिश कवि 'ए. ई.' ने उपयुक्त शब्दों में कहा है, सत्य स्वयं ही अपना उचित बल है।

सब धर्मों के बीच चलनेवाले तमाम झगड़ों की जड़ में इस महान सत्य का अस्वीकार ही है। सारे धर्म अपने सत्य से विमुख होकर ऐसा मानने लगे हैं कि उनका संगठन, उनका संख्याबल, थोड़े में कहा जाय तो उनकी सत्ता ही वास्तव में उनका सत्य है। वर्ना अपने सम्प्रदाय के लोगों की संख्या बढ़ाने के लिए इतनी उत्सुकता कैसे हो सकती है ? अथवा बड़े-बड़े समुदायों में लोगों का धर्म-परिवर्तन करने का अहंकारपूर्ण दावा कैसे सम्भव हो सकता है ? सच्चे से सच्चा एक मात्र धर्म-परिवर्तन तो असत्य से सत्य में, अन्धकार से प्रकाश में, बुराई से भलाई में और अन्याय से न्याय में ही हो सकता है। और ऐसा धर्म-परिवर्तन जगत के सभी धर्मों के अनुयायियों में होना अभी बाकी है।

प्रत्येक धर्म के दो अंग होते हैं : एक, उसके सिद्धान्त अर्थात सत्य; दूसरा, उसकी आचार-विधि अर्थात साधना। और हिंदू धर्म की यह बलिहारी है कि उसने इस बात को पहले से ही समझ लिया था। उसने यह भी समझ लिया था कि इन दो अंगों में से केवल आचार-विधि को ही तन्त्रबद्ध किया जा सकता है, सिद्धान्तों से सम्बन्धित भाग को नहीं। इसलिए हिन्दू धर्म ने मनुष्य के विचारों, कल्पनाओं और ध्येयों को पूर्णतया मुक्त रहने दिया। इसी कारण से हमें हिन्दू धर्म में ऊँचे-से-ऊँचा वेदान्त-दर्शन तथा विविध दर्शनों की समृद्धि देखने को मिलती है। किन्तु केवल बौद्धिक शोध हमें कभी सन्तुष्ट नहीं कर सकता। इसलिए हमने जीवन के प्रयोग किये और इसके फलस्वरूप अपने-अपने निश्चित जीवन-मार्ग तथा अचल आचार-विधियों वाले असंख्य सम्प्रदाय खड़े हुए। ये आचार-विधियाँ ही मनुष्य की साम्प्रदायिक मान्यताओं को वास्तविक रूप प्रदान करती हैं। परन्तु बाद में हमारे लोगों की बुद्धिशकित और प्राणशकित पर कोई विचित्र निष्क्रियता छा गई और उन्होंने धर्म के सिद्धान्तों में परिवर्तन हो जाने पर भी अपनी आचार-विधियों में परिवर्तन करना छोड़ दिया। कदाचित सत्ता ने सत्य को पद-भ्रष्ट कर दिया और साथ ही

धर्म को भी सत्त्वभ्रष्ट कर दिया।

परम तत्त्व की कल्पना के विषय में अद्वैती और द्वैती में उत्तर और दक्षिण ध्रुवों के जितना अन्तर है। परन्तु आप यदि उनके जीवन की जाँच करें, तो उनके आचार में आपको कोई अंतर नहीं मालूम होगा। द्वैती कदाचित अद्वैती बन जाए तो भी उसके अनुसार जीवन के प्रति उसके दृष्टिबिन्दु में अथवा उसकी आचार-विचार की विधियों में कोई परिवर्तन नहीं होगा। हमारे तत्त्वज्ञानियों ने जीवन में व्यावहारिक और पारमार्थिक पक्ष का सुविधापूर्ण भेद खोज निकाला है। इसलिए जब स्वामी विवेकानन्द के समक्ष पंडित लोग अपनी अकर्तव्यशीलता के बचाव में यह भेद रखते, तो स्वामी जी अपना धीरज खो बैठते थे और खूब चिढ़ जाते थे।

प्रत्येक दर्शन की अपने अनुरूप एक स्मृति होनी चाहिए। परन्तु जैनों के पास उनकी अहिंसा और अनेकान्त-वाद के अनुरूप कोई स्मृति नहीं मिलती। उनकी 'अर्हन्नीति' एक साधारण कोटि की पुस्तक है। वेदान्तियों ने निष्ठुरता से एक तर्क-शुद्ध स्मृति की रचना कर डाली; किन्तु उसके अनुसार जीवन जीने की जिम्मेदारी यतियों अथवा सन्यासियों के लिए सुरक्षित कर दी। अद्वैतवाद को स्वीकार करने-वाले गृहस्थी वेदान्ती ने अपनी जीवन-पद्धति में जरा भी परिवर्तन नहीं किया। इस कारण से दर्शनों की सम्पूर्ण चर्चा चर्चा-परिषद के निरे वाद-विवाद का रूप ले लेती है।

प्राचीन काल के भाष्यकारों ने विभिन्न दर्शनों की तर्कशुद्धता तथा उनमें निहित सैद्धान्तिक मान्यताओं की एकवाक्यता प्रकट कर दिखाई है। परन्तु अब विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों तथा विविध साम्प्रदायिक मान्यताओं से फलित होने वाले सामाजिक आचार बताने का समय अर्वाचीन विचारकों के लिए कभी का पक चुका है। इस नूतन दृष्टि से यदि हमारे आस्तिक और नास्तिक दर्शनों का अभ्यास किया जाए, तो उनमें से एक नया और उपयोगी अर्थ प्रकट होगा और हमारा समाज पुनर्जीवन प्राप्त करेगा।

जैन और सिक्ख धर्म के साथ हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, जरतुश्ती धर्म, यहूदी धर्म, ईसाई धर्म तथा इस्लाम का और दूसरे सब धर्मों का यदि सामाजिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाए, तो आज जो प्रश्न मानव-समाज को परेशान कर रहे हैं उनका हल जरूर मिल सकता है।

ये प्रश्न कौन से हैं ?

मैं धर्म-परिवर्तन के प्रश्न का इससे पहले उल्लेख कर ही चुका हूँ; परन्तु वह धर्म-परिवर्तन एक धर्म से दूसरे धर्म का नहीं बल्कि असत् से सत्, अन्याय से न्याय का है। ऐसा धर्म-परिवर्तन क्या हमने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में किया है ? इन सब क्षेत्रों में आज बखेड़ा मचा हुआ है, उसका कारण इन

क्षेत्रों में न्यायवृत्ति का सर्वथा अभाव है। यह वचन ईसामसीह का कहा माना जाता है कि: 'राजा का जो है वह राजा को दो; और ईश्वर का जो है वह ईश्वर को दो।' एक हिन्दू शास्त्र-वचन तो सीधा ही कह देता है कि राज्य चलाने के बाद राजा को नरक में ही जाना पड़ता है। जो मनुष्य राजा बनकर दूसरों के जीवन को नियंत्रित करने का प्रयत्न करता है, वह नरक में जाता है; सत्ता के बल पर भरी गई राजा की तिजोरी में से दान के रूप में प्राप्त किया हुआ सारा धन अपवित्र है। कोई भी धर्मात्मा पुरुष उसे स्वीकार करने पर भ्रष्ट हुए बिना नहीं रहता।

तो फिर जगत की आर्थिक परिस्थिति के विषय में इस सर्व-धर्म-परिषद का क्या निर्णय है ?

जगत के महान शांतिस्थापक आन्दोलन सब प्रकार के युद्धों का आज भी विरोध कर रहे हैं, लेकिन उसका कोई असर नहीं होता। दूसरी ओर सब देशों में विनाशक शस्त्रास्त्र और साधन-सामग्री तेजी से बढ़ाई जा रही है। यह सर्व-धर्म-परिषद अपनी आवाज को असरकारक भले ही न बना सके, परन्तु इसे इतना तो घोषित करना ही चाहिए कि युद्ध आज की शोषण-पद्धति के रूप में सारे संसार में फैले हुए रोग का ही समय-समय पर होने वाला आक्रमण है; और यह रोग स्वयं नैतिक जीवन-स्तर को हानि पहुँचा कर सिद्ध किये जाने वाले महँगे भौतिक जीवन का परिणाम है। हमें यह घोषणा करनी चाहिए कि ईश्वर और मनुष्य में श्रद्धा रखने वाले लोग इन दोनों जीवन-स्तरों की नए सिरे से जाँच करें । आज समाज में सर्वत्र रूढ़ बने हुए शील-सदाचार, अव्यभिचार तथा समाज-हित के आदर्शों को चुनौती दी जाती है। प्राचीन व्यवस्था का बचाव यदि हम आप्त-वचनों से या शस्त्रों के तदनुकूल अर्थ निकाल कर करने जाएँगे, तो आज इससे हमारा काम नहीं चल सकेगा। आज हमें सामाजिक आदर्शों की नई व्याख्या करके धार्मिक आदर्शों को लोगों के मन में सजीव करना होगा। इस कार्य में भी संगठित विचार और संगठित संकल्प अवश्य हमारी सहायता कर सकते हैं। काम-वासना, जो विवाह का और सामाजिक जीवन का मुख्य आधार है, भावनाओं के चक्र का एक बलवान अंग है; साथ ही वह आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न करने का विशेष साधन भी बन सकती है। इसका आज की तरह भौतिक दृष्टिबिन्दु से नहीं किन्तु आध्यात्मिक दृष्टिबिन्दु से अध्ययन करना चाहिए और उसके विषय में जिम्मेदारी से प्रयोग किये जाने चाहियें। आज के भौतिक और गैर-जिम्मेदार रवैये के प्रति हम उदासीन नहीं रह सकते।

जगत के विविध धर्मों के इस प्रकार एक स्थान मर एकत्र होने का दूसरा परिणाम यह आना चाहिए कि लगभग सभी धर्मों में— यहाँ तक कि गूढ़तारहित होने का दावा करने वाले विज्ञान के धर्म में भी— अंतिमता तथा सत्य के ठेकेदार होने की जो भावना बनी हुई है उसमें परिवर्तन हो। इस परिषद के प्रयत्नों के फलस्वरूप

सभी धर्मों में उदारता की भावना व्याप्त होनी चाहिए— जिस प्रकार धर्मशास्त्र के कारण कानून की पद्धतियाँ उदार बनी हैं। यह कार्य ईसाई पादरियों पर अथवा बुद्धिवादी मंडलों पर ही न छोड़ दिया जाए।

धार्मिक जीवन की कल्पना के विषय में भी हमारी परिषद यदि एक कदम आगे बढ़ा सके, तो कितना अच्छा हो ? धीरज से मनुष्य-जाति की सेवा करने वाले लाखों पालित पशु भी इस महान परिषद के निर्णयों की ओर आशा से कान लगाये बैठे हैं, ऐसी मैं कल्पना कर सकता हूँ। यदि धर्म का अर्थ प्रेम, दयालुता और कृतज्ञता, बन्धुभाव तथा सब प्राणियों के प्रति— जिनके अन्योन्याश्रय से समग्र जीवन बनता है— कुटुम्ब-भाव होता हो, तो जिन पालित पशुओं ने हमारे जीवन को इतना सुरक्षित और सरल बनाया है उनके प्रति हमारा व्यवहार कैसा होना चाहिए, यह घोषित करने का समय भी क्या आ नहीं गया है ? गाय का, जिसे महात्मा गांधी ने करुणा का काव्य कहा है सब देशों के धार्मिक मनुष्यों से सहानुभूति माँगने का विशेष अधिकार है। वह मानव-जाति की दूसरी माता है। उसे संरक्षण देना और उमर पूरी हो जाने पर उसे शान्ति से मरने देना— यह मनुष्य के लिए क्या बहुत कठिन है ? यह निर्विवाद है कि अन्न का प्रश्न सबसे महत्त्वपूर्ण है। जमीन तथा पानी की उपज का उपयोग प्रतिदिन बढ़ने वाली मानव की भूख को शान्त करने में किया जाता है। रासायनिक खाद्य-पदार्थों की खोज भी की जा रही है। धरती की सतह पर से भुखमरी को दूर करने में मानवजाति लगभग सफल हो गई है। ऐसी स्थिति में क्या अब हमें मानव-परिवार का एक अंग बने हुए प्राणी को— गाय को— सुरक्षित बनाने का काम हाथ में नहीं लेना चाहिए ? गाय माता न्याय और दया की अपनी अरजी यदि सब देशों के धार्मिक पुरुषों की इस परिषद के सामने पेश न करे तो और कहाँ करे ?

लेकिन केवल बेचारी गाय की ही बात क्यों की जाए ? हम गुलामों की मुक्ति की बातें करते हैं, किन्तु क्या गुलामों को सचमुच मुक्त किया गया है ? गुलामी की प्रथा के रूप में शायद गुलामी का अन्त हुआ होगा, लेकिन सामाजिक और आर्थिक शोषण तो सर्वत्र चल ही रहा है। और शोषित मनुष्य यदि गुलाम नहीं है तो और क्या है ? एक तथाकथित ईसाई राष्ट्र ने दूसरे ईसाई राष्ट्र पर स्वार्थ शोषण और साम्राज्य के लिए सीधा आक्रमण किया, लेकिन राष्ट्र संघ उसे रोक नहीं सका। क्या धर्म का संघ ऐसे युद्धों को रोग सकेगा ?

धर्मवीरों के लिए, जो स्वार्थत्याग और स्वार्पण में ही आनन्द मानते हैं, तो उनका अन्तर्नाद ही मार्गदर्शक होता है।

इन सब प्रश्नों का एकमात्र हल समाजवाद है। आज समाजवाद भविष्य का धर्म बन जाने की तैयारी कर रहा है। जगत के प्रचलित धर्मों का रुख इस नई

शक्ति और नये आदर्श के प्रति कैसा होगा ? मुझे तो लगता है कि हम अवश्य ही समाजवाद को अपना सकते हैं और समाजवाद को धार्मिक पद्धति से प्रस्थापित करने का अपना स्वतंत्र मार्ग विकसित कर सकते हैं। जिसे वैज्ञानिक समाजवाद कहा जाता है उसने ऐसी अपरिपक्व विचार-पद्धति और वर्ग-विग्रह की ऐसी निष्ठुर कार्य-पद्धति खड़ी कर ली है, जो अन्त में भयंकर सिद्ध हो सकती है। वह सब धर्मों के लिए एक बड़ी चुनौती है। यदि सभी धर्म समाजवाद को साहस के साथ स्वीकार करके जीवन को नया मार्ग नहीं दिखाएँगे, तो उन सबको संग्रह-स्थान के सामाजिक विभाग में प्राचीन अवशेषों की दशा से ही सन्तोष मानना पड़ेगा। प्राचीन आदर्श तो विद्यमान है; इतना ही नहीं, आज की आवश्यकताओं के लिए जितना आवश्यक है उससे अधिक वह पर्याप्त है। परन्तु उसके पीछे का प्राचीन उत्साह- अगर वह कभी था— अब नहीं रह गया है; और धार्मिक पुरुषों ने गरीबों की असहाय और निराशापूर्ण स्थिति की परवाह करना भी छोड़ दिया है। सद्‌भावना की निरी बातें, अन्योन्य प्रशंसा तथा धर्म-विषयक सैद्धान्तिक या दार्शनिक चर्चाएँ अपने आप में चाहे जितनी अच्छी हों, परन्तु धर्मों की परिषद के लिए इतना कार्यक्रम कभी पर्याप्त नहीं कहा जा सकता।

प्रत्येक धर्म में प्राचीन शास्त्रों का नये ढंग से अर्थ करने का प्रयत्न किया जाता है। इस कारण प्रत्येक धर्म धीरे-धीरे अर्थ और व्याख्या की अपनी नई पद्धतियाँ विकसित करता जाता है। परन्तु शास्त्रवाक्यों की व्याख्या पर तथा शास्त्रवाक्यों के अर्थ पर ही आधार रखने के बदले हमें मानवशास्त्र, समाजविद्या, कला तथा विकासवाद की और इन सबसे अधिक आध्यात्मिक अनुभव की सहायता स्वीकार करनी चाहिए और आज के धर्मों के सिद्धान्तों तथा आचार-विधियों पर प्रकाश डालना चाहिए।

जब हम 'धर्मों' जैसे बहुवचन का प्रयोग करते हैं तब हिन्दू धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म आदि प्रचलित धर्मों का ही विचार करते हैं। परन्तु इन प्रचलित धर्मों के आवरण के नीचे बिल्कुल अलग बुनियादों पर सर्वथा नये धर्मों का विकास होता जा रहा है। मानवता का धर्म जीवन के सभी प्रश्नों का सन्तोषकारक हल प्रस्तुत करने का दावा करने वाली एक सम्पूर्ण योजना है। कला एक दूसरा धर्म है, जो जीवन में संगीत— सुमेल स्थापित करने तथा मानव-विकास के प्रश्नों का निराकरण प्रस्तुत करने का दावा करती है। कानून शायद आधुनिक युग का सबसे अधिक लोकप्रिय और शक्तिशाली धर्म है। मनुष्य को विरासत में जो दुःख मिले हैं और जो दुःख उसने स्वयं अपने लिए उत्पन्न किये हैं, उन सबका इलाज उचित कानूनों द्वारा करने की बात सोची जाती है। रोज नयें बनने वाले कानूनों द्वारा मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को नियंत्रित करने की इच्छा रखी जाती है। मनुष्य से सम्बन्धित किसी

भी बात या हर एक बात के लिए धारासभा ही प्रत्येक देश में एक बड़ी सत्ता बन बैठी है। हम प्रतिदिन कानूनों की निष्फलता का अनुभव करते हैं, फिर भी अपनी सर्वोत्तम शक्ति हम कानून की पद्धति का विकास करने और उसे नियंत्रण में लाने में खर्च करते हैं।

हममें यह मान्यता दृढ़ होती जा रही है कि अन्धविश्वास अब शीघ्रता से नष्ट होते जा रहे हैं। परन्तु हम नए अन्धविश्वासों को स्थान देने के लिए ही पुराने अन्धविश्वासों को दूर करने में सफल होते हैं और अन्धविश्वासों का साम्राज्य हमेशा की तरह विजई ही सिद्ध होता है।

मेरी अपनी एकमात्र आशा तो शिक्षा-धर्म के क्रमिक प्रचार और प्रसार में निहित है। परन्तु यह शिक्षा कोई शिक्षा-विभाग के मंत्रियों के हाथ में रहने वाली शिक्षा नहीं है; मेरा आशय उस शिक्षा से है जिसे अधिक अच्छे जीवन का— आध्यात्मिक जीवन का— सन्देश देने वाले थोड़े से पैगम्बरों ने फैलाया है। यह शिक्षा वैयक्तिक और सामाजिक तथा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय— इस प्रकार समग्र मनुष्य को शिक्षित करने का इरादा रखती है।

इस दृष्टिकोण से यदि देखें तो ज्ञान, भक्ति और कर्म ये आत्मोन्नति के वैकल्पिक मार्ग नहीं हैं, परन्तु आत्म-विकास के हमारे साधनारूपी रत्न के अलग-अलग पहल ही हैं।

'सत्य और अहिंसा में निष्ठा' ये कोई बौद्धिक सिद्धान्त नहीं हैं। ये तो मनुष्य-जाति के जाने हुए अमोघ आचार हैं। ये सब प्रकार के धार्मिक जीवन और आचारों की कसौटी करने वाले हैं और व्यक्ति तथा समुदाय के जीवन में इन आचारों को उतारने का एकमात्र साधन शिक्षा ही है।

ऐसा लगता है कि मनुष्य-जाति धर्म-भावना को पुनरुज्जीवित करने के लिए नई शिक्षा और नई इन्द्रिय की प्रतीक्षा कर रही है। प्राचीन लोग बलशाली साहसिक वृत्तियों तथा बिजली की तरह चमक उठने वाले स्फुरणों के युग की छाया में रहते थे। वे तीव्र ध्यान के द्वारा अनन्त के रहस्य में गोते लगाने का प्रयत्न करते थे। ऐसी ध्यानशक्ति उत्साहपूर्ण प्रारम्भिक काल का लक्षण होती है। उन लोगों ने किसी गूढ़ रीति से अन्तःस्फुरण की इन्द्रिय प्राप्त कर ली थी, जिसे हम लोग खो बैठे हैं। सॉक्रेटीस, जरतुश्त, बुद्ध और उपनिषद्-काल के बाद के ऋषियों के समय से मनुष्य-जाति ने तर्क-प्रधान युग में प्रवेश किया है। ऐसा कहा जा सकता है कि इस युग के पीछे-पीछे एक ओर संगठन का जमाना आया और दूसरी ओर कलात्मक आविष्कार का जमाना आया। उसके बाद विकासवाद के सिद्धान्त का प्रचार हुआ और उसने हमें ऐतिहासिक दृष्टिकोण प्रदान किया, जिससे प्राचीन लोग बहुत परिचित नहीं थे। कलात्मक दृष्टि और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण— ये आज की मानव-जाति के मुख्य

लक्षण हैं। धर्मों को यदि फलना-फूलना हो और मानव-जाति को नया जीवन प्रदान करना हो, तो उन्हें इस जमाने के रुझान और प्रवाह को समझकर जीवन का नया मार्ग दिखाना चाहिए। इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि आज के अधिकांश मानव-समुदाय में, और मुख्यतः उसका मार्गदर्शन करने की इच्छा रखनेवाले शिक्षितों में, धर्म का महत्त्व बहुत घट गया है। संसार के धर्म बहुत लम्बे समय तक अपनी नाव चलाना बन्द करके निष्क्रिय बैठे रहे हैं; इसीलिए आज उन्हें मालूम होता जा रहा है कि उनके पास कीमती माल होने पर भी प्रवाह में आगे बढ़ने के बजाय वे पीछे हटते जा रहे हैं। इस बीच मनुष्य-जाति ने विज्ञान, राजनीति और प्रचुर धन-दौलत को ही अपनी प्रवृत्ति का मुख्य क्षेत्र बना लिया है। इसलिए अब तो धर्म मनुष्य-जाति की इन मुख्य प्रवृत्तियों को अर्थ प्रदान करें, इनके बीच सुमेल स्थापित करें और इन्हें अपने नियंत्रण में ला सकें, तो ही उन्हें अपना मुख्य स्थान फिर से प्राप्त हो सकता है।

४. सार्वभौम जीवन-दर्शन*

१

दर्शन-परिषद के अध्यक्ष-पद पर अपने आपको देखकर मुझे जितना आश्चर्य होता है उतना आप लोगों को भी शायद नहीं होता होगा। कॉलेज छोड़ने के बाद न तो मैंने इस विषय का अधिक अभ्यास किया है, न मैंने इस विषय में कोई साहित्य लिखा है। जो मनुष्य जीवन के अलग-अलग अंगों का महत्त्व समझता है, उसके अभ्यास और चिंतन में दर्शनशास्त्र भी आ ही जाता है। इस तरह मेरा भी दर्शनशास्त्र से सम्बन्ध रहा है। परन्तु यहाँ मैं अपनी योग्यता या अयोग्यता की चर्चा करना जरूरी नहीं मानता। अध्यक्ष दो प्रकार के होते हैं: कुछ अग्रमान्य होते हैं, तो कुछ भीड़-भंजक होते हैं। मैं मानता हूँ कि यहाँ मैं दूसरे प्रकार का अध्यक्ष हूँ। और इसलिए मैं अपना कर्तव्य इतना ही मानता हूँ कि परिस्थिति-प्राप्त कर्तव्य को अपना धर्म समझ कर उसके सामने सिर झुकाऊँ और यथाशक्ति उसे पूरा करूँ।

अभी-अभी मेरा सम्बन्ध तीन साहित्य-परिषदों से जुड़ा है : हिन्दी, मराठी और गुजराती साहित्य-परिषद। प्रत्येक मुख्य परिषद के साथ ऐसी विभागीय परिषद का

*सितम्बर १९३८ में शिमला में हुए हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दर्शन-विभाग के अध्यक्ष-पद से दिया गया भाषण।

भी आयोजन किया जाता है। इन परिषदों के लिए सामान्य लोगों में जितना उत्साह होता है उसे देखकर मैंने इन परिषदों का नाम अभागी परिषद रख दिया है। कुछ स्थानों से तो ऐसी परिषदें बन्द कर देने का सुझाव भी आया है। परन्तु मैं इस सुझाव को पसन्द नहीं करता।

इस सम्बन्ध में मेरा आदर्श यह है कि प्रत्येक विभाग की परिषद हो जाने के बाद उसका एक अलग मंत्री नियुक्त किया जाय। वह मंत्री हिन्दी भाषा मे उस विषय के साहित्य की पूरे वर्ष में कैसी और कितनी प्रगति हुई है, उस विषय मे क्या-क्या लिखा गया है तथा उस विषय पर अन्य प्रान्तों में और विदेशों में कैसी मौलिक कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं। इसकी एक ब्यौरेवार सूची तैयार करे और उसे दूसरे वर्ष की परिषद के समक्ष रखे।

विज्ञान, दर्शन इतिहास, साहित्य, समाजशास्त्र नृवंशशास्त्र (Anthropology), राजनीति आदि विषयों में जिन लोगों की दिलचस्पी है उन पुराने और नये साहित्यसेवको का अलग-अलग संगठन करने के लिए विभिन्न परिषदों के ऐसे कुछ विशेष सदस्य बनाये जाएँ, जिनसे कोई फीस न ली जाए— उन्हें सदस्य बनाने के लिए किसी गणमान्य व्यक्ति की सिफारिश ही पर्याप्त मानी जाए। मंत्री ऐसे सदस्यो के साथ सम्बन्ध स्थापित करे और यदि उन सदस्यों से वह कुछ लिखवा सके तो लिखवा कर सम्मेलन-पत्रिका में प्रकाशित करे।

इन सब विभागों के मंत्रियों का मण्डल सम्मेलन-पत्रिका का सम्पादक-मंडल बने।

इस प्रकार यदि कार्य किया जाए तो राष्ट्रभाषा हिन्दी के सभी अंगों की उन्नति होगी, परीक्षा-विभाग का काम भी परिपुष्ट होगा और 'प्रचार को अधिक महत्त्व दिया जाए या साहित्य को ?' जैसे आत्मघाती प्रश्न भी अपने आप शान्त हो जाएँगे। जो विभाग मन्द गति से चलता हो उसे विशेष प्रोत्साहन देकर आगे बढाया जाए।

जब हिन्दी साहित्य सम्मेलन इस प्रकार हिन्दी साहित्य अंग-प्रत्यंग की रक्षा करेगा, तब वह 'लिटररी ऑर्गेनाइज़र' अथवा इंजीनियर बन जाएगा। (ऑर्गेनाइज़र' को हम हिन्दी या गुजराती में क्या कहेंगे— व्यास या पूषा ?)

२

मेरे आदर्श के अनुसार यदि इस परिषद का आयोजन किया गया होता, तो भांड से बचने की दृष्टि से भी मैं इस स्थान को कभी स्वीकार न करता। परन्तु हमारे सम्मेलन की अभी आरम्भिक दशा है, इसलिए मेरे कुछ विचार और सुझाव हिन्दी-भाषी जनता के समक्ष रखने का मुझे जो अवसर मिला है, उसका लाभ उठाने की दृष्टि से ही मैं इस स्थान पर खड़ा रहने की धृष्टता करता हूँ।

दर्शनशास्त्र का गहरा अभ्यास न करने के कारण ही शायद दर्शन-सम्बन्धी मेरी

कल्पना कुछ अलग हो गई है। मैं नहीं जानता कि विद्वान दार्शनिक उसे कहाँ तक स्वीकार करेंगे। परन्तु इस विषय में यदि थोड़ी चर्चा होगी, तो उससे मुझे सन्तोष होगा; यह भी सम्भव है कि उससे मेरे दर्शन-सम्बन्धी ज्ञान में थोड़ा सुधार अथवा वृद्धि हो।

दर्शन शब्द आया कहाँ से ? इसके स्थान पर तत्त्वज्ञान-शास्त्र अथवा तत्त्व विज्ञान क्यों नहीं कहा गया ? आर्ष वचन है कि: 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्य: मन्तव्य: निदिध्यासितव्य:।'

उपनिषद् के इस वचन में आत्मज्ञान की जो साधना बताई गई है, उसके आरम्भिक विभाग को (द्रष्टव्य विभाग को) ही दर्शन कहा जाता है।

आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए जो तत्त्व-चिन्तन किया जाता है, उसी को दर्शन कहा जाता है। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए जो शास्त्र-विचार होता है वही दर्शन है। नैयायिकों के मतानुसार बारह तत्त्व अथवा प्रमेय हैं, जिनका तात्त्विक ज्ञान होना आवश्यक माना जाता है। वह ज्ञान उन्नतिकारक और समस्त ग्रन्थियों का छेदन करने वाला है। हम इन बारह तत्त्वों को ही दर्शनशास्त्र के मुख्य विषय मानें— आत्मा, शरीर इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग। इनमें से द्रव्य-गुण-कर्मरूपी 'अर्थ' बाह्य सृष्टि में सम्बन्ध रखता है। बाकी शरीर से आत्मा तथा अपवर्ग तक के सभी तत्त्व मनुष्य-जीवन से सम्बन्ध रखते हैं।

प्राचीन काल में दर्शन के दो मुख्य भाग किये गये थे: आस्तिक और नास्तिक। इस भेद को समझ लेना ठीक होगा। आज तो जो लोग ईश्वर और धर्म पर(और शायद रूढि पर) श्रद्धा रखते हैं अथवा श्रद्धा होने की बात कहते हैं, वे आस्तिक कहे जाते हैं। और जो लोग ईश्वर तथा धर्म के प्रति अविश्वास प्रकट करते हैं, वे नास्तिक कहे जाते हैं। लेकिन इन शब्दों का मूल अर्थ ऐसा नहीं था। वेदों तथा वैदिक शास्त्रों पर विश्वास न होना ही नास्तिकता का लक्षण माना जाता था। जो मनुष्य ईश्वर में तो विश्वास रखता था, परन्तु वेदों में विश्वास नहीं रखता था, उसे भी नास्तिक ही कहा जाता था। इसके विपरीत, जिस मनुष्य का वेदों में विश्वास होता वह यदि ईश्वर के अस्तित्व को इन्कार करता, तो भी उसे शुद्ध आस्तिक माना जाता था। 'नास्तिको वेदनिन्दक:।' जो मनुष्य वेदों की समस्त आज्ञाओं के उत्तम और ग्राह्य होने की बात स्वीकार करता, परन्तु वेदों के अपौरुषेयत्व को स्वीकार नहीं करता था, उसे भी नास्तिक की ही उपाधि मिलती थी।

आस्तिक और नास्तिक की व्याख्याएँ सदा एक-सी नहीं थीं, नहीं हो सकतीं। एक ऐसी व्याख्या भी प्राचीन काल से चली आई है कि परलोक में जिस मनुष्य का विश्वास हो वह आस्तिक है और परलोक में जिसका विश्वास न हो वह नास्तिक है। मेरे विचार से इस व्याख्या में बहुत तथ्य है। परलोक की रूढ़ कल्पना का त्याग करके यदि हम उसकी तर्कशुद्ध और युक्तिमान्य व्याख्या करें, तो जो मनुष्य आत्मा

के अमरत्व को स्वीकार करता है उसे मरणोत्तर जीवन, साम्पराय अथवा परलोक को भी स्वीकार करना पड़ता है। परन्तु इस सम्बन्ध में हम आगे विचार करेंगे।

मेरी दृष्टि से तो जिसका आत्मा में विश्वास है वह आस्तिक ही है और जो जड़वादी होने के कारण आत्मा में विश्वास नहीं करता वही नास्तिक है।

पहले हम शास्त्र-प्रामाण्य से सम्बन्ध रखने वाली व्याख्या की चर्चा करेंगे। मैं शास्त्र-प्रामाण्य और ग्रन्थ-प्रामाण्य में भेद करता हूँ। आज रूढ़ अर्थ में जिसे ग्रन्थ-प्रामाण्य कहा जाता है, उसे तो सच्चे दार्शनिकों में से विरले ही स्वीकार करेंगे। जितने भी ग्रन्थ हैं वे सब मनुष्य के बनाए हुए हैं। जिस ग्रंथ के कर्ता को हम नहीं जानते उसे हम 'एनॉनिमस' अथवा अपौरुषेय कह सकते हैं, परन्तु इसमें कोई शंका नहीं कि प्रत्येक ग्रन्थ मनुष्य-कृत है। ऐसे ग्रंथों में जो उच्च कोटि के पुरुषों द्वारा रचे गये ग्रंथ हैं, उनमें ईश्वर-प्रणीत तत्त्वज्ञान अवश्य भरा हो सकता है। परन्तु ईश्वर का दिया हुआ ज्ञान मनुष्य ने ग्रहण किया तभी से उसमें दोष, अज्ञान और अपूर्णता मिल गये हैं। वर्षा के शुद्ध जलकणों के हवा में आते ही उनमें हवा के रजकण मिल जाते हैं और जब वे जलकण ज़मीन पर गिरते हैं। तब तो ज़मीन के गुण-धर्म भी उनमें प्रवेश करते हैं। फिर उस पानी को हम पूर्णतया शुद्ध नहीं कह सकते। इसी प्रकार ईश्वर-दत्त ज्ञान भी जब मनुष्य की वाणी में व्यक्त हुआ तब मनुष्य की बुद्धि और श्रद्धा के साथ उसका सम्बन्ध बँधा। तब उसमें अपूर्णता आ ही गई समझिए। ईश्वर-प्रणीत वेदों को और शास्त्रों को भी मनुष्य धीरे-धीरे विकसित होने वाली अपनी श्रद्धा और बुद्धि के द्वारा ही तो ग्रहण कर सकता है न ? इसलिए दर्शनशास्त्र के अध्ययन में ग्रन्थ का प्रामाण्य हमारी कोई सहायता नहीं कर सकता।

प्रस्थानत्रयी के आदर्श में तो उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों और गीता को ही वेदान्त-दर्शन के लिए प्रमाण माना गया है। मैं इसका यह अर्थ करता हूँ कि उपनिषदों के ऋषियों के धर्मानुभव को ही हम प्रमाण मानते हैं। वे सीधी-सादी आर्ष भाषा में अपना अनुभव कह देते हैं। और कभी-कभी तो वे यह भी कहते हैं कि हमने अनुभव से जो कुछ कहा है वही अमुक वैदिक ऋचा में भी कहा गया है—'तच्च अेतत् ऋचा अभ्युक्तम्।'

उपनिषदों में जो कुछ कहा गया है वह अनुभव-सिद्ध है, और इसीलिए वह प्रमाण है। भगवान बादरायण ने उपनिषदों के अर्थ को अच्छी तरह समझ लिया था। उपनिषदों के तत्त्वज्ञान को उन्होंने ब्रह्मसूत्रों में शास्त्रीय पद्धति से संकलित किया है; इसलिए उन्हें भी हम प्रमाण मानते हैं और इन्हीं उपनिषदों के दोहन के रूप में तथा ब्रह्मसूत्रों द्वारा निश्चित किये हुए निर्णय के आधार पर श्रीकृष्ण के समान जगद्-गुरु ने गीता द्वारा जिस जीवन-कला अथवा योगशास्त्र की रचना की, उसे भी प्रमाण माना जाता है। इन तीनों के अनुकूल जो ज्ञान दिया जाएगा वह अनुभव-मूलक ज्ञान

होगा; इसलिए यह मर्यादा बाँध दी गई कि जो पुरुष प्रस्थानत्रयी का समन्वय करेगा वही आचार्य हो सकेगा। आचार्य का केवल बुद्धिशाली होना ही पर्याप्त नहीं माना जाता था।

आचिनोति हि शास्त्रार्थं आचारे स्थापयत्युत।
स्वयमाचरते यस्तु स आचार्यः प्रचक्षते।।

इसका अर्थ यह हुआ कि जो पुरुष धर्मानुभवी लोगों के वचनों को बादरायण तथा श्रीकृष्ण जैसे सर्वमान्य आचार्यों के कथनानुसार समझता है, उन सिद्धान्तों के अनुसार जन-समाज का जीवन-क्रम बना देता है और स्वयं भी उसका अनुसरण करता है, वह तत्त्वज्ञ, धर्मकार, समाजशास्त्री लोकगुरु आचार्य-पद प्राप्त कर सकता है।

ग्रन्थ कभी आगे नहीं बढ़ सकता। शास्त्र सदा ही प्रगतिशील होता है। मनुष्य की बुद्धि, अनुभव, कल्पना, तुलना तथा श्रद्धा के विकास के साथ शास्त्र का भी दिन-प्रतिदिन विकास होता जाता है। मनुष्य की ये सब शक्तियाँ ईश्वरदत्त होती हैं। इस कारण प्रत्येक शास्त्र मनुष्य-कृत होते हुए भी ईश्वर-प्रणीत कहा जा सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि देखा जाए तो जो साहित्य अथवा धर्मग्रन्थ विभूतिमत्, श्रीमत, और भव्य दिखाई दे, उसे ईश्वर-सम्भूत ही समझना चाहिए। परन्तु कोई ग्रन्थ-विशेष ईश्वर का निःश्वासरूप है इसलिए वह भ्रान्तिरहित ही होना चाहिए, इस भूमिका को सनातनी होते हुए भी मैं स्वीकार नहीं कर सकता। जितने भी धर्मग्रन्थ और शास्त्रग्रन्थ हैं, उनके प्रति मेरे मन में बड़ा सम्मान है। मैं शिष्यभाव से ही उन्हें देखता हूँ। उनसे मैं जो कुछ ग्रहण कर सकता हूँ, सीख सकता हूँ, उसे कृतज्ञतापूर्वक ले लेता हूँ। और जो कुछ मेरी समझ में नहीं आता उसके बारे में मैं अपना निर्णय स्थगित रखता हूँ— अर्थात्, न तो मै उसे स्वीकार करता हूँ, न उसका विरोध करता हूँ। मैं तो यह मानता हूँ कि प्रत्येक दार्शनिक की यही दृष्टि और यही भूमिका होनी चाहिए।

परमात्मा पर विश्वास रखना या न रखना यह प्रत्येक मनुष्य की अपनी निष्ठा, वृत्ति अभिरुचि पर आधार रखता है। परमात्मा को केवल 'मानने से' न तो विशेष सात्त्विकता प्रकट होती है और न उसे मानने से कोई खास बहादुरी प्रकट होती है। जो जिज्ञासु 'हृदि संस्फुरद् आत्मतत्त्व' को मानता है और पूर्ण प्रयत्न करने पर भी 'परमात्म-तत्त्व' पर विश्वास नहीं कर सकता, उसे मैं नास्तिक नहीं कहूँगा। जिस आत्मतत्त्व का कम या अधिक, स्पष्ट या अस्पष्ट अनुभव प्रत्येक मनुष्य को होता है, उससे जो इन्कार करता है उसे मैं अवश्य नास्तिक कहूँगा। ऐसे मनुष्य की प्रतिष्ठा, उसकी श्रद्धा और जीवन के प्रति उसकी दृष्टि ही अलग होती है। मेरी व्याख्या के अनुसार जैनों को नास्तिक नहीं कहा जा सकता। स्वयं को अनात्मवादी कहने वाले

बौद्धों को भी मैं नास्तिक नहीं मानता। मैं तो यह मानता हूँ कि जब वे आत्मा से इन्कार करते हैं तब वे केवल अहं-प्रत्यय से ही इन्कार करते हैं। उनकी शून्य की उपासना वस्तुतः अचिन्तय, अतर्क्य और अव्याख्येय आत्मतत्त्व की उपासना है। मेरी यह भूमिका भदन्त आनन्द कौशल्यायन को मान्य नहीं है, परन्तु मैं अभी तक उसे छोड़ नहीं सका हूँ।

आत्मा और परलोक का मैं जैसा सम्बन्ध मानता हूँ। उसकी दृष्टि से , जो मनुष्य परलोक में विश्वास नहीं करता वह नास्तिक ही है। 'अयं लोकः नास्ति परः' ऐसा जिसका विश्वास है और साम्पराय के बारे में, 'लाइफ आफ्टर डेथ' के बारे में, मृत्यु के बाद के अस्तित्व में जिसकी श्रद्धा नहीं है, वह मनुष्य नास्तिक है। जिस मनुष्य का इस बात में विश्वास नहीं कि मृत्यु का अन्तराल होते हुए भी एक प्रकार का अखण्ड, अनुस्यूत, धारावाहिक जीवन चलता है, वह धर्म और अधर्म का विवेक नहीं कर सकता। उसके आचरण में और जीवन में दुराचार आसानी से प्रवेश कर सकता है, क्योंकि उसकी नास्तिकता उसे हर प्रकार के मोह से घेर लेती है, और उसकी बुद्धि क्षीण हो सकती है।

प्रज्ञा और आस्तिकता का अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

प्रज्ञानाशात्मको मोहः तथा धर्मार्थनाशकः।
तस्मान्नस्तिकता चैव दुराचारश्च जायते।।

हमारी सर्वमान्य और रूढ़ कल्पना यह है कि मनुष्य की मृत्यु के पश्चात जो भी अवशेष रहता है— फिर वह जीव हो, संस्कार-पुंज हो, वासना-ग्रंथि हो या कर्म-समुच्चय हो— वह नया शरीर धारण करके अपना कर्तृत्व, ज्ञातृत्व तथा भोक्तृत्व बढ़ाने के लिए इस दुनिया में फिर से आता है। इसी को हम पुनर्जन्म कहते हैं और हमारा यह विश्वास है कि पुनर्जन्म की यह परम्परा अपवर्ग अथवा मोक्ष तक वैसी ही चला करती है। यह कल्पना अशास्त्रीय अथवा अवैज्ञानिक नहीं है। बुद्धि से भी इसे समझा जा सकता है। लेकिन कोई मनुष्य इसका अनुभव नहीं करा सकता। अतः इसे एक 'हाइमोथेसिस'— वाद अथवा अभ्युपगम ही कहना चाहिए।

मनुष्य अपनी मृत्यु के पश्चात अपनी सन्तति में जीता है और अपने कार्य का विस्तार करता है— इसे भी उसका एक प्रकार का साम्पराय कहा जा सकता है। वृक्ष जिस प्रकार अपने बीज द्वारा अपनी सन्तति-परम्परा को बनाये रखता है और अपनी जाति को नित्यजीवी बनाता है, उसी प्रकार मनुष्य भी अपनी सन्तति के द्वारा अजर-अमर होकर अपने साम्पराय को सिद्ध करता है।

हमारी जिज्ञासा का विषय यह नहीं है कि शरीर के छूटने के बाद उसके श्वासोच्छ्वास का क्या होता है। "शरीर के निश्चेष्ट हो जाने के बाद उसके भीतर की प्राणशक्ति कहाँ जाती है ?" यह विज्ञान का विषय माना जा सकता है। दर्शन

को इस विषय में शोध नहीं करनी है। मृत्यु के बाद मनुष्य के शरीर का क्या होता है अथवा उसका क्या करते हैं, यह हम सब जानते है। "वायुः अनिलम्, भस्मान्तम् शरीरम्"— इतना तो स्पष्ट ही है। इसके सिवा जो भी स्वभाव, अध्यात्म अथवा 'पर्सनैलिटी' बाकी रहती है उसका क्या होता है, यही मुख्य प्रश्न है। मुख्य विषय यही है कि मनुष्य ने अपने समस्त जीवन में जो-जो संस्कार प्राप्त किये हों, जिन-जिन धर्मों का अनुशीलन किया हो, उन सबके समूह अथवा ग्रन्थि का क्या होता है। आत्मा विभु है। उसके आने-जाने का, होने अथवा न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। परमात्मा भी— यदि वह हो तो— विभु है। उसके विषय में प्रश्न ही क्या हो सकता है ? परन्तु मनुष्य-जाति के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यही है कि मृत्यु के बाद जो व्यक्तित्व (पर्सनैलिटी) रहता है और जो सारे संस्कार-समूह का आधार है, उसका मनुष्य के मरने के बाद क्या होता है।

मनुष्य यदि यह समझ ले कि उसके व्यक्तित्व का केन्द्र भले ही उसका शरीर हो, परन्तु वह शरीर से मर्यादित नहीं है, उसके व्यक्तित्व का बड़ा भाग उसके साथियों में, उसके समाज और उसकी परिस्थितियों में तथा जिन-जिन तत्त्वों के साथ उसका सम्बन्ध रहता है उन तत्त्वों में होता है, तो वह इस बात को भी समझने लगेगा कि मृत्यु से उसका बहुत ही थोड़ा अंश नष्ट होता है। शरीर के छूटने पर उसका कर्म-स्वातंत्र्य शायद नष्ट होता होगा— कदाचित् उसके सूक्ष्म बन जाने के कारण यह स्वातंत्र्य बढ़ भी जाता हो— परन्तु मृत्यु से उसके व्यक्तित्व का नाश तो नहीं ही होता।

राजा का राजत्व उसके राज्य, उसके प्रजाजनों और राज्य के कानून-कायदों तथा उनके तन्त्र तक विस्तृत होता है। इतना ही नहीं, सन्धि-विग्रह के द्वारा राजा जिन पड़ोसी राज्यों के सम्पर्क में आता है उनमें भी उसका राजत्व अवश्य व्यक्त होता है। इस राजत्व को एक प्रकार का प्रवाह ही मानना चाहिए। इसका उद्‌गम अनादि इतिहास से हुआ होगा और न जाने कौन से शक्ति-सागर में— पुरुषार्थ सागर में— वह विलीन होने वाला है ! राजा की मृत्यु से राजत्व का नाश नहीं होता। उसे केवल अपना केन्द्र बदलना पड़ता है। इसीलिए इग्लैण्ड में लोग राजा की मृत्यु के अवसर पर कहते हैं : "The king is dead, long live the king !"

प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व की सच्ची स्थिति ऐसी ही है। हम जितने अपने शरीर में रहते हैं उससे कहीं अधिक अपनी परिस्थितियों में, समाज में, कार्यों में, सहयोगों में, वासनाओं में, साथियों में, विरोधियों में अपनी सन्तति में तथा धारावाही सनातन और अनन्त काल में रहते हैं। अन्त में जब हम कृतार्थ होकर अनन्त में विलीन हो जाते हैं, स्मृतिशेष बन जाते हैं तभी हम निर्वाण अथवा मोक्ष प्राप्त करते हैं। हर एक मनुष्य के जीवन की समृद्धि या विस्तार एक-सा नहीं होता। कितने ही

लोग अपने अदम्य संकल्प के कारण अपने जीवन का कल्पनातीत विस्तार कर लेते हैं। यदि एक कल्पना एक कल्प तक विकसित होती रहे, तो कोई आश्चर्य नहीं। परन्तु उसके कृतार्थ हो जाने पर, ज्ञान में उसकी परिसमाप्ति हो जाने पर, मनुष्य को मोक्ष मिलना ही चाहिए।

मेरी दृष्टि से साम्पराय का यही सच्चा अर्थ है। मनुष्य का शारीरिक, मानसिक तथा संकल्पात्मक कार्य ही उसके व्यक्तित्व का सच्चा रहस्य है। 'यथाकर्म यथाश्रुतम्,' इस व्यक्तित्व का प्रवाह चलता रहता है। जरत्कारव आर्तभाग ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि शरीर, आत्मा आदि समस्त तत्त्व जब विलीन हो जाते हैं तब पुरुष का क्या होता है ? तब याज्ञवल्क्य ने उसे एक ओर ले जाकर जो गूढ़ रहस्य बताया उसमें भी इसी कर्मतत्त्व का उल्लेख था, ऐसा उपनिषद्काल के ऋषि ने कहा है।

जिस मनुष्य का इस साम्पराय के बारे में विश्वास है, वही मेरी राय में ज्ञानपूर्वक त्रिकालबाधित रह सकता है। उसकी दृष्टि भी व्यापक और दीर्घ बनती है। उसकी सत्ता सार्वभौम होती है। वही अजर-अमर होता है। इस सृष्टि में जो विराट् तत्त्व सर्वत्र व्याप्त (अनुस्यूत) है वही आत्मा है। उससे भिन्न कोई पदार्थ आत्मा नहीं है। जिस प्रकार एक का गुणक सब संख्याओं में सदैव रहता है, उसी प्रकार आत्मा का भी सर्वत्र और सबमें अस्तित्व है। उसके अभाव की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उसके आस-पास ही हमारा व्यक्तित्व और हमारा जगत प्रकट होता है और हम अपने व्यक्तित्व का अनुभव कर सकते हैं।

जो लोग आत्मा में विश्वास नहीं करते, उन्हें भी आत्मा छोड़ तो नहीं ही देती। इसलिए उनका भी अश्रेय, अकल्याण नहीं होगा। जिनका आत्मा में विश्वास नहीं है, वे आत्मा की एक विशिष्ट व्याख्या करके ही उससे इन्कार करते हैं। उन्हें शायद इसकी कल्पना नहीं होगी कि अपने इस इन्कार से ही वे आत्मा को स्वीकार करते हैं, भले ही वे इसे समझ न पायें।

और, हम किसी से आत्मा में विश्वास करवाने का प्रयत्न भी किसलिए करें ? ईश्वर और आत्मा के 'चैम्पियन'— त्राता— बनने का व्यर्थ प्रयत्न हम क्यों करें ? क्या यौवन का ज्ञान और भान समय आने पर भीतर से ही मनुष्य में अपने आप उत्पन्न नहीं होता ? यह आत्मा सब कुछ ग्रहण करती है, प्राप्त करती है, सबका उपभोग करती है तथा अखंड और अनन्त रूप में निरन्तर रहती है। इसीलिए वह आत्मा है। श्री शंकराचार्य ने आत्मा की व्युत्पत्ति आप्, आ+दा, आ+अद् और आ+अत् धातुओं से की है। आप् का अर्थ है, प्राप्त करना, और आ+दा का अर्थ है ग्रहण करना, आ+अद् का अर्थ है उपभोग करना और आ+अत् का अर्थ है निरन्तर चलते रहना।

यह कहना कठिन है कि आत्मा के साक्षात्कार में सुख है या नहीं। परन्तु आत्मा की प्राप्ति में हमें अपना केन्द्र मिल जाता है। उसके बाद ही सारा विश्व

हमें यथास्थित प्रतीत होने लगता है। हमारे जीवन के समस्त मूल्य (Values) यथार्थ बन जाते हैं। ऐसे मूल्य-परिवर्तन में ही जीवन का परिवर्तन— जीवन की सिद्धि निहित है। इसके बाद कोई ग्रन्थि नहीं रहती, किसी तरह की शंका नहीं रह जाती। आत्म-साक्षात्कार ही एक अद्भुत सामर्थ्य है, परम शान्ति है। एक बार प्राप्त हो जाने पर इसका कभी ह्रास नहीं होता। इसीलिए हमें अन्य सारी बातों का त्याग करके आत्मप्राप्ति के लिए अखण्ड और अथक प्रयत्न करना चाहिए। 'तमेवैकम्, जानीथ आत्मानम् अन्या वाचो विमुञ्चथ; अमृतस्यैष सेतुः।'

इस आत्मा को ही अन्तरात्मा कहते हैं, परमात्मा कहते हैं, परब्रह्म कहते हैं, आत्माराम कहते हैं और पुरुषोत्तम भी कहते हैं; मनुष्य-मात्र के हृदय में उसका निवास होने से उसे नारायण भी कहते हैं। वर्तमान, भूत और भविष्य के नर-नारी समूह को नार या 'Humanity' कहा जाता है। यह नार ही जिसका अयन है, प्रतिष्ठा का स्थान है, वही नारायण है— 'God of Humanity' है। मनुष्य-जीवन के सर्वोत्कृष्ट सामाजिक आदर्श के विचार से उसे पुरुषोत्तम कहा जाता है और उसकी व्यापकता के कारण उसे नारायण कहा जाता है। सम्पूर्ण समाज के साथ, समष्टि के साथ, अपने 'नार' के साथ एकरूप हो जाने पर हमारा मर्यादित व्यक्तितत्व नष्ट हो जाता है, हमारी 'पर्सनैलिटी' विलीन हो जाती है और नारायण के साथ हमारा सायुज्य— तादात्म्य— हो जाता है। यही सब व्यक्तियों का चिर साम्पराय है। जो लोग इसमें विश्वास नहीं करते, उनके जीवन में भव्यता, दृढ़ता और पूर्णता नहीं आ सकती। वे सर्वव्यापी वैष्णवी शक्ति से वंचित रहते हैं। मेरे आगे के विवेचन की दृष्टि से आस्तिक-नास्तिक का यह भेद स्पष्ट करना आवश्यक था, क्योंकि आगे चलकर मुझे यह सिद्ध करना है कि 'जैसा हमारा दर्शन होगा वैसे ही हमारा धर्म होगा, और हमारा समाजशास्त्र भी उसके अनुकूल ही रहेगा।'

मैं तो यह मानता हूँ कि हमने अभी तक अपने दर्शनों का पूरा लाभ नहीं उठाया है। प्रत्येक दर्शन जीवन की एक पृथक् दृष्टि (View of life) है। और जैसी दृष्टि हो वैसा ही जीवन-क्रम (Scheme of life) भी होना चाहिए। अपनी सामाजिक रचना (Social structure) भी हमें उसके अनुकूल ही खड़ी करनी होगी।

जैसा कि मैं उपर कह चुका हूँ, हमारे उपनिषदों में आत्मवीर ऋषियों के तात्त्विक शोध और धर्मानुभव दिये गये हैं। मनुष्य ने सोचा कि सारे अनुभव एकरूप ही होने चाहिए— फिर वे चाहे जैसे शब्दों में व्यक्त किये गये हों, उनकी अभिव्यक्ति चाहे जितनी भिन्न हो। इस एक ही विचार से भगवान बादरायण ने ब्रह्मसूत्रों में उपनिषदों के आधार पर एक अखण्ड तत्त्वविद्या को ग्रंथित किया है।

अब प्रत्येक अनुभव का विज्ञान अथवा शास्त्र— Science— बनना चाहिए और प्रत्येक विज्ञान या शास्त्र के साथ उसकी जीवन-प्रेरक और जीवन-व्यापक

कला, 'Art of life' भी होनी चाहिए। उपनिषदों में जो अनुभव और विचार पाये जाते हैं, उन्हीं का ब्रह्मसूत्रों ने विज्ञान या शास्त्र बनाया और इन दोनों के आधार पर भगवान श्री कृष्ण ने एक सर्वांग-परिपूर्ण जीवन-कला अर्थात योगशास्त्र अद्‌भुत रूप में रचकर हमें दिया। उसे हम भगवद्‌गीता कहते हैं।

परन्तु यदि हमारे समाज-व्यवस्थापकों ने अपने-अपने दर्शन के साथ उसके अनुकूल स्मृति भी दी होती, तो हमारा व्यक्तिगत जीवन तथा सामाजिक जीवन कृतार्थ हो जाता।

हमारे प्रत्येक दर्शन के साथ उसकी अपनी कोई-न-कोई साधना भी होती ही है। परन्तु प्रत्येक दर्शन के साथ उसके आधार पर विकसित तर्कशुद्ध तथा ध्येयसिद्धि के लिए शक्तिशाली समाज-व्यवस्था अथवा स्मृति हमारे पास नहीं है।

जैनों की 'अर्हन्नीति' मैंने देखी है। उसमें मुझे जैन-दर्शन का तर्कशुद्ध विनियोग कहीं भी दिखाई नहीं दिया। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि भिन्न-भिन्न दृष्टिवाले वेदान्तियों ने अपनी-अपनी स्वतंत्र स्मृतियाँ निर्माण करने का कहीं भी प्रयत्न किया हो ऐसा दिखाई नहीं देता। जो अद्वैतवादी है वह समाज में प्रचलित ऊँच-नीच-भाव को कैसे बरदाश्त कर सकता है ? जो अद्वैतवादी है वह वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार कर सकता है या नहीं ? ऐसे प्रश्न न तो किसी ने किये और न किसी ने इन प्रश्नों के उत्तर दिये। अद्वैत के साथ अधिकार-भेद के सिद्धान्त का मेल सधता है या नहीं, इसका भी किसी ने निर्णय नहीं किया। नतीजा यह हुआ कि हमारी स्मृतियाँ भी दर्शन-शुद्ध नहीं बनीं।

प्राचीन काल में ऐसे ही पुरुष को दर्शनाचार्य माना जाता था, जो प्रस्थानत्रयी की एकवाक्यता सिद्ध कर दिखाये। यह आदर्श अवश्य ही सच्चा था। परन्तु आज तो हम उसी को आचार्य कहेंगे जो हमारे सभी दर्शनों का महत् समन्वय करे, उन समन्वित दर्शनों का अनुसरण करके एक श्रेणीबद्ध साधना-क्रम तैयार करे और उसके साथ एक सार्वभौम स्मृति का भी सूचन करे। ऐसे व्यक्ति को हम दर्शनाचार्य न कहकर जीवनाचार्य कहेंगे।

दूसरी दृष्टि से सोचें तो जो पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की व्यवस्था बताए, इन चारों का तारतम्य और अधिकार निश्चित करके जीवन-समन्वय का मार्ग दिखाये, वही जीवनाचार्य बन सकता है। हमारी दर्शन-विद्या और जीवन-कला इसी में सार्थक होगी। आत्मविद्या का, ब्रह्मविद्या का, अनुसरण करने वाले योगशास्त्र, जीवन-साधना और सामाजिक स्मृति प्राप्त होने से व्यक्तिगत तथा सामाजिक मनुष्य-जीवन सुसंस्कारी और सशास्त्र बनेगा।

हमारे तत्त्वज्ञान ने समाज को शायद मायारूप माना होगा। परन्तु समाज और जाति तत्त्व के रूप में तो एक ही हैं। यदि जाति नित्य है, तो व्यावहारिक दृष्टि से समाज भी नित्य है। उसे भी तत्त्वज्ञान का प्रमेय बनाना होगा। उसकी उपेक्षा करना

सर्वथा आत्मघाती माना जाना चाहिए।

जब कार्ल मार्क्स ने अपना साम्यवादी समाजशास्त्र दुनिया को दिया तब उसे सम्पूर्ण बनाने के लिए उन्होंने यह भी बताया कि उसकी नींव किस दर्शन पर आधार रखती है। यदि वे आत्मा को स्वीकार कर सके होते, तो वर्ग-विग्रह पर वे इतना अधिक भार नहीं ही दे पाते। उनका दर्शन सच्चा हो या झूठा, परन्तु उन्होंने दर्शनशास्त्र को सैद्धान्तिक चर्चा की मरुभूमि से बाहर निकाल कर उसे सामाजिक जीवन का आधार बनाने का जो मार्ग दिखाया, वह उनकी बड़ी-से-बड़ी सेवा है। गांधीजी ने सत्य अथवा आत्मा को अपनी जीवन-व्यवस्था का केन्द्र मान लिया और इसी सिद्धान्त के फलस्वरूप अहिंसा को जीवन-साधना के रूप में स्वीकार किया, इसलिए उनके जीवन-दर्शन में सर्व-सद्भाव, सर्व-समन्वय और सर्वोदय की ही बात आ सकती थी। उन्हीं ने जगत को यह बताया कि सर्वत्र विविधता होते हुए भी उसमें एकता कैसे स्थापित की जा सकती है।

अब हमें अपने दर्शनशास्त्र को भी सामाजिक रूप देना पड़ेगा। ऐसी कोई भी विचार-व्यवस्था और तत्त्वज्ञान सच्चा दर्शन है, जो सार्वभौम होने के कारण व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के सब अंग-प्रत्यंगों पर और उनके प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डाल सकता है, जो सबकी सन्तोषजनक उत्पत्ति और समन्वय करता है तथा राजनीति, धर्मनीति और अर्थनीति को शास्त्रशुद्ध बनाता है।

इस दृष्टि से सोचें तो व्यक्तिवाद भी एक दर्शन ही है। इससे उलटा समाजवाद एक दूसरा दर्शन है। साम्यवाद अथवा समष्टिवाद उसी का एक बदला हुआ रूप है।

गांधीजी ने सत्य, अहिंसा, शरीर-श्रम और स्वदेशी आदि के आधार पर जो सत्याग्रही व्यवस्था दुनिया के सामने रखी है, वह भी एक सार्वभौम दर्शन ही है। उसे हम सत्याग्रह-दर्शन कह सकते हैं। सर्वोदय-दर्शन भी उसे कहा जा सकता है। साम्यवाद में और इस दर्शन में जो भी साम्य अथवा भेद पाया जाता है, उसे स्पष्ट करने के लिए हम गांधीवाद को गीता की भाषा में साम्ययोग का नाम दे सकते हैं। इस दर्शन में व्यक्तिवाद तथा समाजवाद का आन्तरिक विरोध नष्ट होकर दोनों का सुन्दर समन्वय हो जाता है।

'जीवन के सब प्रश्न केवल बल से ही हल हो सकते हैं; बल-प्रयोग और बल-संगठन ही जीवन की कुंजी है'— ऐसा मानने वाले लोग बल-दर्शन के अनुयायी हैं।

जीवन की सारी प्रवृत्तियाँ धन से ही चलती हैं, धन ही जीवन-क्रम का अंतिम निर्णायक तत्त्व है—ऐसा माननेवाले धनंजय लोगों का धन-दर्शन चार्वाक-दर्शन से कुछ कम लोकप्रिय नहीं है।

आज तो कला भी अपने को एक स्वतन्त्र जीवन-दर्शन के रूप में प्रस्तुत करती है। परन्तु यहाँ हम इसकी चर्चा नहीं करते।

अब तो शिक्षा का दर्शन भी एक सार्वभौम दर्शन होने का अनुभव करने लगा है। शिक्षा अब सामाजिक तथा आध्यात्मिक जीवन की सभी उलझनें हल करने का दावा करने लगी है। शिक्षा का शास्त्र कहता है कि बल द्वारा अथवा शासन-तन्त्र द्वारा अथवा प्राचीन गूढ़ धर्मों की उपासना द्वारा जो कार्य आज तक सिद्ध नहीं हो सके, वे शिक्षा के द्वारा सम्पूर्ण रूप में सिद्ध होंगे। शिक्षा में निरीक्षण, परीक्षण, प्रयोग, और साधना द्वारा ज्ञान, कौशल और बल प्राप्त होता है। शिक्षाशास्त्र का आधार उसकी बोधशक्ति, धैर्य, सेवा बलिदान और ईश्वर-प्रणिधान पर रहता है। शिक्षा का शास्त्र तात्त्विक दृष्टि से राज्य-शासन का विरोधी है। शिक्षा के शासन द्वारा जिस आदर्श अराजक व्यवस्था (Ideal state of Anarchy) की स्थापना होगी, वही मानव-जीवन की प्रतिष्ठा के अनुकूल और मनुष्य के योग्य समाज-व्यवस्था के लिए सम्पूर्ण होगी। जो कार्य कानून बनाने से, धर्मशास्त्रों की आज्ञा से, कला के अनुनय से या बल-प्रयोग के भय से नहीं होता, वह शिक्षा के द्वारा पूरी तरह सिद्ध होता है। दुनिया में ऐसा एक भी कार्य नहीं, जो शिक्षा के प्रयोग के लिए दु:साध्य हो। शिक्षा को हम सत्याग्रह का पूर्ण दर्शन कह सकते हैं, क्योंकि शिक्षा के द्वारा सारे समाज की सेवा करनेवाला सेवक सत्य, अहिंसा और आत्म-बलिदान से ही अपना कार्य सिद्ध करता है।

अपनी शक्ति का सम्पूर्ण भान होने पर शिक्षा (जिसे मैं विनया कहता हूँ) कहेगी: 'मैं सत्ता की दासी नहीं हूँ, कानून की किंकरी नहीं हूँ, विज्ञान की सखी नहीं हूँ, कला की प्रतिहारी नहीं हूँ, अर्थशास्त्र की गुलाम नहीं हूँ। मैं तो धर्म का पुनरागमन हूँ। मनुष्य के हृदय, बुद्धि तथा दूसरी सब इन्द्रियों की स्वामिनी हूँ। मानसशास्त्र और समाजशास्त्र मेरे दो पाँव हैं, शिल्प और कला मेरे दो हाथ हैं, विज्ञान मेरा मस्तिष्क है, निरीक्षण और तर्क मेरी आँखें हैं, इतिहास और गाथाएँ मेरे कान हैं, स्वतंत्रता मेरा श्वास है, उत्साह और उद्योग मेरे फेफड़े हैं, धीरज मेरा व्रत है, श्रद्धा मेरा चैतन्य है और सर्वोदय मेरा प्रसाद है। मैं ऐसी जगदम्बा हूँ— जगद्धात्री हूँ। मेरी उपासना करनेवाले को किसी का मुँह नहीं देखना पड़ता। उसकी सारी इच्छाएँ मेरे द्वारा ही तृप्त होंगी। मैं भविष्य की सम्राज्ञी हूँ। मेरे द्वारा ही मनुष्य परिपूर्ण और कृतार्थ बनेगा।'

दर्शनशास्त्र एक सार्वभौम विद्या है। उसे हम केवल तत्त्वचर्चा तक ही मर्यादित न बना दें। हमारे जीवन पर उसका पूरा-पूरा प्रभाव पड़ना चाहिए। और दर्शन की इस सिद्धि के लिए हमें तत्त्वज्ञानार्थ-दर्शन का रूप ही बदल डालना चाहिए। इतना ही मुझे यहाँ कहना है।

मैं अपने विचारों का जरा भी विस्तार नहीं कर सका हूँ। उनका समर्थन करने का भी मुझे मौका नहीं मिला। उस ओर केवल इशारा करके ही मुझे सन्तोष मानना पड़ा है। मैं लाचार था। सेवा के आदेश को माथे पर चढ़ाकर मैं यहाँ आया हूँ। जिन विचारों से प्रेरित होकर मैं तत्त्वज्ञान की खोज करता हूँ, उन्हें आपके समक्ष रखकर ही मैंने सन्तोष कर लिया है।

'सत्यं परं धीमहि।'

५. धर्माचार्य अथवा साहित्याचार्य*

आज का अपना विषय पसन्द करने में मुझे अपने मन के साथ थोड़ा संघर्ष करना पड़ा। पहले मेरा विचार था कि भारत की अनेक भाषाओं, बोलियों और उनके परस्पर सम्बन्ध के विषय में ही आज कुछ कहूँ। राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचारार्थ भारत के विभिन्न प्रान्तों में घूमते-घूमते भाषा के प्रश्न का मुझे जो दर्शन हुआ और उसके पीछे रहे प्रान्ताभिमान, भाषाभिमा।, लोक-शिक्षण तथा राज्य-प्रबन्ध के सम्बन्ध में उत्पन्न होनेवाले प्रश्नों के जो हल मुझे सूझे, उन्हीं का संक्षिप्त विवेचन करने का मेरा विचार था। हमारे साहित्यकारों, प्रचारकों और लोकसेवकों को इस प्रश्न का गहरा अध्ययन करके शासकों को उचित दिशा सुझानी चाहिए, क्योंकि निकट भविष्य में यह विषय सबसे अधिक महत्त्व ग्रहण करनेवाला है।

परन्तु मुझे लगा कि यह विषय जितना साहित्य का है उससे अधिक राष्ट्रनीति का और राष्ट्र-संगठन का है, इसलिए साहित्य के साथ सीधा सम्बन्ध रखनेवाला कोई दूसरा विषय मुझे लेना चाहिए। उसमें भी कुछ समय से मेरे दिमाग में जो विचार इकट्ठे हो रहे थे उन्हें एक बार सद्गति अवश्य देनी चाहिए। इस भावना से मैंने आज का यह विषय चुना है।

कैसे-कैसे वर्ग या लोग जन-समुदाय पर असर डालते हैं, प्रभुत्व भोगते हैं, इसका विचार करने पर सर्व-प्रथम मेरे ध्यान में आये धर्माचार्य; और उनके पीछे-पीछे पहले कुछ संकोच से, उसके बाद थोड़े आत्म-विश्वास से और फिर धृष्टता मे आते दिखाई पड़े साहित्याचार्य। इसलिए सामाजिक जीवन तथा राष्ट्रजीवन में इन दोनों कोटि के लोगों का क्या स्थान है, इसकी जाँच करने की इच्छा हुई। धर्म-धुरन्धर और साहित्य-धुरन्धर इन दोनों को हम आजकल आचार्य कहते हैं, परन्तु

*ता. १७-३-'३८ को बड़ौदा में दिया गया भाषण।

दोनों के साथ आचार्य शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में नहीं होता। धर्माचार्य अपने ज्ञान और प्रतिष्ठा द्वारा तथा अपने विशिष्ट जीवन द्वारा समाज पर अधिकार भोगते हैं; जबकि साहित्याचार्य अपनी विद्वता और प्रतिभा से मुख्यतः शब्दसृष्टि पर अधिकार भोगते हैं। अधिकारी तो दोनों ही हैं, परन्तु प्रत्येक का क्षेत्र अलग है। प्रत्येक धर्माचार्य यथासम्भव शास्त्र की मर्यादा की तथा प्राचीन परम्परा की रक्षा करने का आग्रही होता है, जबकि प्रत्येक साहित्याचार्य शब्दतत्त्व से परिचित होने के कारण अभिरुचि और औचित्य की सूक्ष्मता की रक्षा करने का आग्रही मालूम होता है। रससृष्टि का यह ब्रह्मा पूर्व-परम्परा को जानते हुए भी स्वातंत्र्य का ही उपासक होता है।

आचार्य शब्द की प्राचीन व्याख्या को देखने से पता चलता है कि एक समय इस शब्द का सुन्दर और व्यापक अर्थ में प्रयोग होता था।

आचिनोति हि शास्त्रार्थं आचारे स्थापयत्युत।
स्वयमाचरते यस्तु तमाचार्यं प्रचक्षते।।

समस्त शास्त्रों का अध्ययन करके, उनमें से शास्त्रकारों का हेतु समझकर, इन शास्त्रों की दृष्टि को जो लोकाचार में स्थापित कर देता है और शास्त्रदृष्टि के अनुसार चलने से शास्त्रशुद्ध जीवन कृतार्थ कैसे होता है यह दिखाने के लिए उसके अनुसार जीवन जीकर लोगों के सामने उदाहरण प्रस्तुत करता है, वह आचार्य है। कितना भव्य है यह आदर्श ! इतिहास के द्वारा देश-परदेश के भूतकाल की परम्पराओं का क्रम जो जानता है, वर्तमान काल की लोकस्थिति की विविधता से जो परिचित होता है और भविष्य काल में समाज कैसा रुख अख्तियार करेगा इसकी भी जिसे निश्चित झाँकी होती है, वह त्रिकाल-दर्शी पुरुष अवश्य ही मानव-जीवन पर अपना प्रभाव डालता है। इस प्रकार जो पुरुष राष्ट्र-जीवन पर प्रभाव डालता है, वह आचार्य कहा जाता है; अपने जीवन-चिन्तन द्वारा तथा अपने अध्ययन-विवेचन द्वारा लोक-जीवन पर जो दुगुना प्रभाव डालता है, वह आचार्य कहा जाता है।

समस्त जन-समुदाय के धारण, भरण, पोषण, रक्षण और विकास के लिए जो जिम्मेदार है उस धर्मतत्त्व की सत्ता का प्रयोग करके जो पुरुष लोक-जीवन का नियन्त्रण करता है, वह धर्माचार्य है। ऐसे धर्माचार्यों ने बड़े-बड़े सम्राटों से भी अधिक सत्ता भोगी है। इसका कारण यह है कि वे गहरे समाजशास्त्रज्ञ थे। वे लोकमानस को जानते थे और लोकहित किस बात में है यह भी जानते थे। इसके फलस्वरूप वे लोक-हृदय के स्वयं-सम्राट् बन गये थे।

प्राचीन काल में ऐसे लोगों ने मनुष्य-जाति के निर्माण में बड़े से बड़ा हाथ बँटाया था। परन्तु ऐसे स्वयंभू धर्म-पुरुषों की परम्परा और गद्दी स्थापित करने का प्रयत्न मिथ्या होता है। जैसे प्रत्येक अच्छी बात का असफल अनुकरण होता है वैसे धर्माचार्यों का भी असफल अनुकरण होने लगा। अमुक पुरुष मूल धर्माचार्य का

पुत्र है, कुटुम्बी है या शिष्य है इसीलिए यदि वह उनकी गद्दी पर बैठे, तो वह बाह्य आचार का अनुकरण कर सकता है और समाज का बाह्य नियंत्रण भी कर सकता है; परन्तु इससे जीवन का अथवा चैतन्य का विकास तो हो ही नहीं सकता। यदि बाह्य नियंत्रण से समाज का उद्धार सम्भव होता, तो राज्यसत्ता ने कभी का उसका उद्धार कर दिया होता। राज्यसत्ता अपनी मर्यादा को जानती है और एक विशेष मर्यादा तक लोकसेवा करके रुक जाती है। परम्परा के आधार पर बने हुए धर्माचार्य इससे अधिक की आशा रखकर दंभ का पोषण करते हैं और निष्फलता को निमंत्रण देते हैं।

इन धर्माचार्यो के समान ही समर्थ किन्तु उनसे अधिक दीर्घदर्शी और नम्र होते हैं सन्त। सन्तों ने समाज के नियंत्रण का आग्रह छोड़ दिया। उन्होंने स्वयं को ही नियंत्रित करने में अपनी सारी शक्ति का उपयोग किया और अपनी वाणी तथा आचरण द्वारा जितना विचार-प्रचार और धर्म-प्रचार संभव था उतना करके सन्तोष माना। धर्माचार्य स्वाभाविक रूप में कर्मकांडी होते हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध बाह्य नियंत्रण के साथ अधिक होता है। सन्त कर्मकांड को गौण स्थान देकर कर्मयोग, सदाचार और भक्ति मार्ग को ही प्रधानता देते हैं। इससे उन्हें अपने कार्य में अधिक सफलता मिलती है

धर्माचार्यो और सन्तों ने लोगों पर असर डालने के लिए अपने जीवन की सहायता में साहित्य की सेवा का उपयोग किया। धर्माचार्यो ने शास्त्र, भाष्य और टीकाएँ लिखीं और सन्तों ने स्तोत्र तथा कविताओं की रचना की। साहित्य के जीवन पर होने वाले इस प्रभाव को देखकर कुछ साहित्य-कुशल लोग सन्तों का अनुकरण करने लगे। अपनी भाषाशक्ति का उपयोग करके उन्होंने सन्तवाणी का सुन्दर अनुकरण किया। इसलिए भोलेभाले समाज ने माना कि वे लोग भी सन्त हो हैं। वाणी का अनुकरण तो हो सकता है, परन्तु रहन-सहन का, उदात्त जीवन का अनुकरण कैसे हो सकता है ? अतः ऐसे साहित्याचार्यो ने अपने संतपद को बनाये रखने के लिए दंभ शुरू किया। वे कहने लगे : "हम तो साक्षात्कारी पुरुष हैं; हम बंधनों से परे हैं। तुम हमारे उपदेश के अनुसार चलो। हमारा आचरण तुम्हारे अनुकरण के लिए नहीं है। 'न देवचरितं चरेत्।' हम चाहे जैसा आचरण करें, फिर भी हम शुद्ध हैं। हम कहें वैसे तुम चलो। हम करें वैसा तुम मत करो।" लोग भी मानने लगे कि 'मुक्तास्ते न विचारणीयचरिताः।' किन्तु ऐसा दम्भ कहाँ तक चल सकता था ?

प्रचार के दो साधन हैं: जीवन और कविता; आचार और विचार; चरित्र और साहित्य। इनमें से दूसरा साधन कम प्रभावकारी नहीं था। कविता, विचार और साहित्य की मदद से ही धर्म का व्यापक प्रचार हुआ है। प्रसिद्ध धर्माचार्यों और सन्तों में साहित्य-सर्जन की शक्ति थी। उन्होंने नहीं तो उनके शिष्यों ने तेजस्वी साहित्य का

सर्जन अवश्य किया है। अपौरुषेय माने जानेवाले कुरान शरीफ की लोकोत्तरता सिद्ध करने के लिए एक दलील यह भी दी गई है कि उसकी किसी भी आयत की बराबरी कर सके ऐसी एक काव्यकृति रचकर तो बताओ ! उपनिषद्, बाइबल, बुद्ध के धर्म-संवाद, जैन धार्मिक साहित्य के अंग, सन्तवाणी— यह सब उत्तम साहित्य ही है।

जब साहित्य की शक्ति के जोर पर किया जानेवाला सन्तों का छिछला अनुकरण बहुत बढ़ गया तब लोग उससे घबरा गये। लोग समझने लगे कि साहित्य-शक्ति और सन्तपन दो अलग चीजे हैं। फिर भी साहित्य का आकर्षण बढ़ने से सामान्य लोग भाषा के सामने जीवन को गौण मानने लगे। इसलिए कुछ साहित्याचार्य साहसपूर्वक आगे आकर कहने लगे: 'हम तो केवल साहित्य के उपासक हैं। उच्च जीवन का दावा हम करते ही नहीं। हम तो केवल विचारों और कल्पनाओं के प्रचारक हैं। इससे अधिक कुछ करने की जिम्मेदारी हमने अपने सिर पर ली ही नहीं है। हम बिल्कुल सामान्य कोटि के मनुष्य हैं। हम केवल स्वान्तः सुखाय लिखते हैं। तुम्हें इसमें आनन्द आये तो जरूर हमारे साहित्य का आनन्द लो।'

ऐसे साहित्यकारों ने जिस हद तक इस तरह का रुख अपना कर दम्भ को दूर किया और जीवन को स्वच्छ बनाया, उस हद तक उन्होंने समाज की सेवा ही की है।

परन्तु कोई निर्लज्ज और बेहया मनुष्य भी दम्भ को दूर करने का दावा कर सकता है। यथार्थवाद के नाम पर छिछले जीवन का प्रचारक बनना आसान है। इसके लिए बहुत बड़ा प्रयत्न करने की जरूरत नहीं होती। साहित्य की सजावट से भोग-प्रधान जीवन को आसानी से सुन्दर बनाया जा सकता है। इसलिए ऐसे साहित्य के लोकप्रिय होने में देर नहीं लगती।

धर्माचार्यों की संस्था धीरे-धीरे अप्रतिष्ठित हो गई। सन्तों का जीवन एकान्तिक, अभावात्मक और एकलक्षी मालूम होने लगा। इसलिए साहित्याचार्य अधिक आगे आये। साहित्य के आधार पर साहित्य-सर्जक की योग्यता मापने की वृत्ति लोगों में होती ही है, इसलिए साहित्याचार्यों की खूब बन आई।

साहित्य का प्रभाव जैसे-जैसे बढ़ता गया वैसे-वैसे कला का तत्त्व खिलता गया। और साहित्य द्वारा कैसा पौष्टिक, हितकर और रुचिकर भोजन परोसा जाता है, इसका विचार करने के बजाय इस बात पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा कि वह भोजन कितने सुन्दर बरतन में परोसा जाता है। कलाकार कहने लगे कि कला उसके 'Significant form' में है, चमत्कृति-जनक शब्द-रचना या आकार में कला है, इसी में उसकी प्रधानता है। इसके फलस्वरूप साहित्याचार्य समाज को कैसी प्रेरणा देते हैं, यह बात मानो गौण बन गई। सच पूछा जाय तो कला का मर्म

उसके चुनाव में, 'Selection' में है; सच्ची कला चमत्कारी निरीक्षण और चमत्कारी विवरण में निहित होती है। 'Power of Perception' और 'Power of expression' में ही कलातत्त्व निहित हैं दोनों में हंस के जैसी वैदग्ध्य-शक्ति ही मुख्य है।

अब यह वैदग्ध्य-शक्ति 'Seletion' की दृष्टि अथवा हंसवृत्ति केवल सुख-परायण भी हो सकती है और हित-परायण भी हो सकती है। साहित्याचार्यों को अपनी इस शक्ति का उपयोग अपने हित तथा जगत के हित के लिए करना चाहिए। परन्तु सभी साहित्याचार्य ऐसा नहीं करते। जिस प्रकार धर्माचार्यों का जीवन दुर्बल बन गया उसी प्रकार साहित्याचार्यों का जीवन भी शिथिल होने लगा। इसलिए लोक-गुरु बनने की अपनी योग्यता को खोकर वे नटों, विटों और गायकों जैसे केवल लोक-रंजक बन गये।

इस प्रकार जब धर्माचार्यों और साहित्याचार्यों ने बड़ी-बड़ी आशाएँ दिखाकर और असाधारण अधिकार भोगकर अन्त में निराशा को जन्म दिया, तब लोग फिर से इस बात की जाँच करने लगे कि धर्म क्या है और साहित्य क्या है ?

सम्पूर्ण जीवसृष्टि का— मनुष्य-जाति का तथा मनुष्येतर जगत का कल्याण कैसे हो, सबका विकास कैसे हो, इस बात का विचार करनेवाला तथा इसके अनुसार जीवन का मार्गदर्शन करनेवाला तत्त्व ही धर्म है। महाभारतकार ने कहा है : 'यत् स्यात् धारणसंयुक्तं स धर्मं इति निश्चयः।' इस विचार को संक्षिप्त करके उन्होंने दुबारा कहा : 'यत् स्यात् अहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।' यदि हम एक-दूसरे का नाश करने लगें, तो दुनिया में कुछ रहेगा ही नहीं। इससे बाह्य जगत का तो नाश होगा ही, परन्तु उसके साथ हमारे हृदय का भी नाश हो जायेगा। इसीलिए अहिंसा को धर्म का आधार माना गया है। धर्म का यह विधान जीवन के लिए है, जीवन के विकास के लिए है।

धर्म में अनेक बातें अतीन्द्रिय, अलौकिक होती हैं। इसलिए ऐसा माना जाता था कि धर्म की प्रेरणा तथागतों (ज्ञानियों) से ही, अवतारी पुरुषों से ही मिल सकती है। धर्म में कुछ-न-कुछ तो अतीन्द्रिय अलौकिक और गूढ़ रहने ही वाला है। फिर भी जैसे-जैसे जीवन का अध्ययन और प्रत्यक्ष दर्शन होता जाता है, वैसे-वैसे धर्म का स्वरूप भी बुद्धिग्राह्य और निश्चित होता जाता है।

आहारशास्त्र और विहारशास्त्र, शौचाचार का शास्त्र और लोकाचार का शास्त्र, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र, मानसशास्त्र और व्यवहारशास्त्र, राजशास्त्र और विनयशासन (शिक्षा) जीवन-साधना और कलोपासना, विज्ञान और अध्यात्म— इन सबको मिलाकर धर्म का कलेवर बनता है। यही जीवनशास्त्र है। आज हमें ऐसे जीवनशास्त्र में पारंगत जीवनाचार्यों की आवश्यकता है।

कुछ साहित्याचार्य कहते हैं : 'राजनीति से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं, हम तो

साहित्य के विरल वातावरण में विचरण करते हैं।' कुछ पामर धर्माचार्य भी इतनी ही कायर वृत्ति से कहते हैं: 'राजनीति से हमारा क्या वास्ता ? हम तो पारलौकिक कल्याण का विचार करनेवाले हैं। इस नश्वर और मायारूप जीवन से मुक्त होने का मार्ग बताना ही हमारा एकमात्र कार्य है।' ये दोनों ही खतरों से भागनवाले हैं। जो लोग खतरों से भागते हैं, उनमें कितना तेज हो सकता है ? उनकी प्रवृत्ति में कितना जीवन प्रकट हो सकता है ?

जीवनाचार्य समस्त जीवन का विचार करता है। वह जीवन-वीर होता है; और यदि उसे सच्चे धर्म की प्राप्ति हो जाय और उसमें साहित्य-शक्ति प्रकट हो, तो वह जीवन-वीर जीवन-सम्राट बन सकता है। जीवनाचार्य होने के कारण जो साहित्याचार्य बने, ऐसे एक लोकोत्तर पुरुष हमारे बीच विद्यमान हैं। वे हैं, रवीन्द्रनाथ ठाकुर। जीवनाचार्य होने से जो धर्माचार्य बन गये हैं, ऐसे भी एक अलौकिक पुरुष हमारे बीच हैं। और वे हैं महात्मा गांधी। इन दोनों की विभूतियाँ भिन्न हैं, फिर भी लोकोत्तर हैं।

जीवनशास्त्र की अभी सम्पूर्ण रूप में रचना नहीं हुई है, इस कारण आज भी नये-नये प्रयोगों के लिए अवकाश है। जीवनशास्त्र कभी भी सम्पूर्ण नहीं होगा, इसलिए उसमें प्रयोगों की वीरता के लिए अनन्त काल तक अवकाश बना रहेगा। साहित्य-परिषदों द्वारा भाषा का विकास हो सकता है, साहित्य का तन्त्र विशुद्ध किया जा सकता है, परन्तु जीवनशास्त्री कभी निर्मित नहीं किये जा सकते। धर्म-परिषदों द्वारा धर्म का संस्करण और परिष्करण हो सकता है, परन्तु जीवनाचार्य कभी उत्पन्न नहीं हो सकते। अशोक ने धर्म-परिषदों का आयोजन किया था। अकबर ने भी इस तरह का प्रयत्न किया था। आज देश-विदश की जनता भी सर्व-धर्म-परिषदो का आयोजन करती हैं। किन्तु जब जीवनाचार्य यह कार्य अपने हाथ में लेंगे उस समय ऐसी परिषदों की प्रवृत्तियों के बिना ही सर्व-धर्म-समन्वय सिद्ध होगा और लोगों में सर्व-धर्म-समभाव का विकास होगा और उसके बाद साहित्य भी स्वयं शुद्ध होकर मनुष्य-हृदय को समृद्ध बनायेगा।

६. समीक्षा

१

जिन भौतिक पदार्थों को हम अचेतन कहते हैं उनका आन्तरिक जीवन कैसा होता है, यह हम नहीं जानते। सुख या दुःख में सचेतन प्राणियों के शरीर में जो परिवर्तन अथवा विकृति होती है वैसा ही परिवर्तन अथवा विकृति जड़ माने जानेवाले

पदार्थों में भी कुछ अंश तक देखी जाती है। अब यह तो निश्चय के साथ कौन कह सकता है कि वह केवल बाहरी विकृति है या भीतर से इन पदार्थों को सुख-दुःख का और भावनाओं का अनुभव होता है ? मनुष्यों और पशु-पक्षियों में, मछलियों, जीव-जन्तुओं और कीड़े-मकोड़ों में सुख-दुःख जैसे दिखाई देते हैं वैसे वनस्पतियों में दिखाई नहीं देते। किन्तु मनु भगवान जैसे आद्य ऋषियों ने कल्पना की थी कि वृक्ष, वनस्पति आदि के भीतर ऐसी संज्ञा— चेतना होती है, जो बाहर व्यक्त नहीं होती। 'अन्तः संज्ञा भवन्त्येते।' जगदीशचन्द्र बसु के प्रयोगों के बारे में जानने के बाद हमें यह लगे बिना नहीं रहता कि मनु भगवान की कल्पना बिल्कुल सच्ची है मनुष्य में तो सुख-दुःख की भावना और इष्ट-अनिष्ट की भावना होती ही है। पशु-पक्षियों में और कीड़े-मकोड़ों में भी वह दिखाई पड़ती है। वृक्षों, वनस्पतियों तथा औषधियों में उसके अस्तित्व का अनुमान होता है। इसलिए हमारी कल्पना दौड़ती है कि जड़ माने जानेवाले पदार्थों में भी यह भावना होनी चाहिए और इस कारण से 'अचैतन्यं न विद्यते' इस वचन के अक्षरशः सत्य होने का विश्वास बैठता है।

२

विश्व के उत्पन्न किये गये पदार्थों में जितने अंश तक जड़ता है उतने अंश तक उसका स्थूल या सूक्ष्म शास्त्र बनाना सम्भव मालूम होता है। जो अंश चैतन्य-रूप माना जाता है, उसका शास्त्र बनाने में अनेक कठिनाइयों का अनुभव होता है। फिर भी चैतन्य का शास्त्र बनाने के प्रयत्न से ज्ञान की सीमा जितनी व्यापक बनी है उतनी भौतिक पक्ष के अध्ययन से नहीं बनी है। आज तक भौतिक प्रयोग निश्चयात्मक— शंकातीत— पाये गये, इससे यह माना गया कि भौतिक सत्यता ही निराबाध सत्य है, भौतिक प्रमाण ही एकमात्र तृप्तिकर प्रमाण है। और इस कारण से भौतिक जगत के सिद्धान्तों को चेतन जगत में लागू करके गणित अथवा गणितशास्त्र से यदि भौतिक घटनाएँ सिद्ध हों, पदार्थशास्त्र के सिद्धान्तों से यदि रसायनशास्त्र सिद्ध हो, रसायनशास्त्र के द्वारा यदि वनस्पतिशास्त्र का सुमेल साधा जा सके, वनस्पतिशास्त्र यदि प्राणीशास्त्र का हल खोजे और प्राणीशास्त्र से यदि मानसशास्त्र और समाजशास्त्र का निर्माण किया जा सके, तो मनुष्य को लगता है कि हमने ज्ञान को सरल बनाया है, ज्ञान के आधार को सुदृढ़ बनाया है। उसके बाद तो अध्यात्मशास्त्र को अलग और स्वतंत्र स्थान देने की भी आवश्यकता नहीं रह जाएगी। स्थूल से यदि सूक्ष्म फलित हो जाए तो कोई परेशानी नहीं रहेगी, ऐसी मान्यता सर्वत्र दिखाई देती है।

वास्तव में, इससे विरुद्ध दिशा में और इसीलिए विशुद्ध दिशा में प्रयत्न होना चाहिए। चैतन्य-तत्त्व का हमें भीतर से अनुभव है, उसका व्यापार हमारे जीवन में

प्रत्यक्ष होता है; इस चैतन्यतत्त्व का अधिक अध्ययन, इसका निरीक्षण और परीक्षण यदि उत्कटता से किया जाए, तो इसके बारे में हमें अद्‌भुत ज्ञान की प्राप्ति होनी चाहिए।

सम्भव है कि यह ज्ञान हमें प्रयोग-पद्धति से नहीं किन्तु योग-पद्धति से प्राप्त हो। विज्ञान के मार्ग की अपेक्षा ध्यानमार्ग सम्भवतः इसमें अधिक उपयोगी सिद्ध होता होगा। उसके बाद इस बात की जाँच करनी चाहिए कि मनुष्य में जो चैतन्य प्रकट रूप में है वही निचली कोटियों में भी सूक्ष्म रूप में है या नहीं। इस प्रकार निकट के स्पष्ट और अनुभूत चैतन्य के रूप, लक्षण तथा स्वभाव के सिद्धान्तों की रचना करके बाद में उन्हें यदि हम प्राणीशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, रसायनशास्त्र, पदार्थ-विज्ञान और ज्योतिष तक ले जाएँ, तो हमारे ज्ञान का विस्तार सर्वथा भिन्न पद्धति से होगा और वह अकल्पित सीमा तक पहुँचेगा। इससे ज्ञान-साधना की सारी बुनियाद ही बदल जाएगी। निरीक्षण, परीक्षण और प्रयोग के साधनों को जिस प्रकार हम सूक्ष्मातिसूक्ष्म बनाते हैं और भौतिक घटनाओं के ज्ञानक्षेत्र में नित-नई विजय और सफलता प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य के भीतर के साधनों को— मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त आदि अन्तःकरण-रूप साधनों को, यदि हम शुद्ध से शुद्ध बनाये, तो ज्ञान का एक दूसरा और समर्थ पहलू खुलेगा और विकसित होगा। प्राचीन काल में इस दिशा में कुछ निश्चित प्रयत्न हुए थे, परन्तु आज उन्हें हम भूल गये हैं। उनके विषय में आज जो बातें लिखित रूप में मिलती हैं, उनमें से कई बातें तो सम्भवतः उस तन्त्र के विस्मृत हो जाने के पश्चात् बाद के लोगों ने अनुमान और कल्पना से लिख डाली होंगी। इसलिए इन बातों पर आधार न रखकर इस क्षेत्र में हमें मूल से ही नये प्रयत्न करने होंगे।

अन्तःसाधनों की यह शुद्धि ही तप है। यह तप ज्ञानयुक्त होना चाहिए, इसे आज भुला दिया गया मालूम होता है।

३

प्राचीन काल में कवि शब्द का अर्थ अलग था, आज उसका अर्थ अलग है। आज कवि का कार्य कल्पनाएँ दौड़ाना और सूक्ष्म जटिल भावों का सच्चा-झूठा विश्लेषण करके उसे रोचक रूप में व्यक्त करना है। कवि का आज का क्षेत्र है मनुष्य के अनुभवों, उसकी शंकाओं और भयों, उसकी आशाओं और आकांक्षाओं तथा उसकी वासनाओं और इच्छाओं को शब्दबद्ध करके या अन्य प्रकार से व्यक्त करके सर्वग्राह्य बनाना। जीवन के इन सब विभागों में जितनी अव्यवस्था, अनावस्था और गैर-जिम्मेदारी होती है उतनी सब कवियों के काव्यों में दिखाई पड़ती है। कवि शास्त्रशुद्ध विचार करने के लिए वचन-बद्ध नहीं है; कवि को जिस समय जो कुछ सत्य अथवा

सत्यकल्प दिखाई देता है, उसे वह उसी रूप में व्यक्त करता है। इस दृष्टि से कवि के उद्गार तत्त्वज्ञान का कच्चा माल हैं। अज्ञात प्रदेश में खोज करने के लिए निकले हुए कोलम्बसों को इस बात का विश्वास नहीं होता कि कैसे खंडों से उनका मिलाप होगा। भारत की खोज के प्रयासों में अमेरिका उनके हाथ आयेगा और उसी को भारत-भूमि मान लेने का भ्रम खड़ा होगा। कवियों ने यह स्वीकार नहीं किया है कि दुनिया के ज्ञान, अनुभव या श्रद्धा के साथ उनके उद्गारों का मेल बैठना चाहिए। वे यह भी नहीं मानते कि उनके भिन्न-भिन्न समय के उद्गारों में और भिन्न-भिन्न वृत्ति के उद्गारों में कोई मेल होना चाहिए। कवि के कल्पना-विहार में यदि आकस्मिक संयोग से जीवन-उपासना आ जाए और उसके फलस्वरूप यदि उसके उद्गारों में एकसूत्रता का हमें दर्शन हो, तो कवि उसे अवांछनीय नहीं मानता। वह आनन्द और आश्चर्य से उसका स्वागत करता है। परन्तु यदि उसके उद्गारों में कोई मेल न हो, तो भी कवि उसे अपना दोष नहीं मानता। "Do I contradict myself ? Well, then I contradict myself. I contain multitudes."*, इस प्रकार कहकर कवि बच निकलेगा। यदि सारे समाज में विचारों और सिद्धान्तों की अराजकता चलती है, तो एक कवि के मस्तिष्क में उसके चलने से आसमान नहीं टूट पड़ेगा। जिस प्रकार राजा के अनेक सलाहकार होते हैं, राज्यतन्त्र में जिस प्रकार अनेक पार्टियाँ होती हैं, वर्ष में जिस प्रकार अनेक ऋतुएँ होती हैं, उसी प्रकार मनुष्य में उसके जीवन पर अधिकार करने वाले अनेक तत्त्व रहेंगे ही। इन्द्रियों का झुकाव तरह-तरह की वासनाएँ, कल्पनाएँ, अनुभव, अतृप्त जीवन-प्रयोग, नई-पुरानी निष्ठाएँ और अन्धविश्वास— सब मिलकर अपने चुनाव की उम्मीदवारी करने के लिए उसके सामने खड़े होंगे। इनमें मेल की अपेक्षा कैसे रखी जाए ?

कवियों के काव्य-विहार में जिम्मेदारी की अपेक्षा चाहे न रखी जाए, परन्तु पारमार्थिकता (seriousness) की अपेक्षा तो पूरी-पूरी रखी जाती है। उसमें दम्भ, कृत्रिमता, जान-बूझकर ठूँसा हुआ असत्य इत्यादि कभी नहीं आने चाहिए। उसमें 'logical consistency' भले ही न हो, किन्तु 'psychological integrity' तो होना ही चाहिए। कवि तो निरंकुश है, अर्थात बाहरी अंकुश को वह स्वीकार नहीं करता; परन्तु अपने भीतर के स्वयंभू अंकुश को वह कभी भी तोड़ नहीं सकता। यदि वह ऐसा करेगा, तो कवि नहीं रहेगा।

कवि का जीवन शास्त्रशुद्ध अथवा स्मृतिशुद्ध चाहे हो न हो, परन्तु वह गहरा, वास्तविक और अधिक वीर्यवान तो होना ही चाहिए। कवि अपने जीवन में बाहरी

*अमेरिकन कवि वॉल्ट विटमैन।

नियन्त्रण को भले न स्वीकार करे, लेकिन इसी कारण से उसका जीवन इतना आर्य, विशुद्ध और अर्थमय होना चाहिए कि उसके जीवन से अनेक लोगों को जीवन का आदर्श और आदर्श जीवन का मापदण्ड प्राप्त हो। कवि में यदि जीवन-दारिद्रय व्याप्त हो, तो उसके कल्पना-वैभव, उसकी शब्द-समृद्धि तथा उसके गगन-विहार से दुनिया को क्या लाभ ? ये सब बाहरी उपकरण ज्यों-ज्यों बढ़ते जाएँगे त्यों-त्यों उसका अपना जीवन अधिक नीरस, अधिक स्वादहीन और अधिक तिरस्करणीय होता जाएगा। कवि की अपेक्षा कवि का काव्य अधिक भव्य होने की सम्भावना तो रहती है, किन्तु उसका जीवन उसके काव्य की कुछ अंश में तो बराबरी करने वाला होना चाहिए। अपने काव्य के निकट बैठने में कवि को लज्जा नहीं आनी चाहिए अथवा निर्लज्जता का पोषण करने का मौका नहीं आना चाहिए।

४

तत्त्वज्ञानी एक प्रकार के कवि ही होते हैं। उनमें भी कल्पना की, तीक्ष्ण बुद्धि की, क्रान्तदर्शिता की और तत्त्व-दर्शन की झलक तो होनी ही चाहिए। परन्तु तत्त्वज्ञानी दूसरे, एक-दो बन्धनों को स्वीकार करता है। वह जो कहता है उसमें परस्पर मेल होना चाहिए, तर्कशुद्धि होनी चाहिए, सांगोपांग विवेचन की पूर्णता होनी चाहिए। वह जो कुछ कहे उसमें से उठनेवाले प्रश्नों का हल उसके पास होना चाहिए। उसका जीवन-दर्शन सम्पूर्ण है, सुसंगत है, यह उसे सिद्ध करना चाहिए। अपनी बातें दूसरों के गले पूरी तरह और अच्छी तरह उतारने की उसकी तैयारी होनी चाहिए। वह चाहे जिस क्षेत्र में विहार करे, तो भी अन्त में वह बुद्धि का पुजारी है, युक्ति (reasoning)का उपासक है और बुद्धि का तो यह दावा है कि उसकी बातें सदा एक-सी होती हैं, सार्वभौम होती हैं और उनकी 'अपील' विश्वजनीन होती है। तत्त्वज्ञान में शायद धर्म से भी अधिक पन्थ खड़े हुए होंगे, फिर भी बुद्धि ने अपना यह दावा छोड़ा नहीं कि मेरी बात सबके गले उतरनी ही चाहिए। लोग पूरी तरह सोचें-विचारें तो वे मेरे ही मत के बन जाएँगे— इस तरह की आशा और ऐसी प्रतिज्ञा तत्त्वज्ञान करता है। जीवन यदि केवल बुद्धि का ही बना हुआ होता, तब तो यह बात सत्य सिद्ध होती। परन्तु जीवन एक अद्भुत रसायन है। हम जीवन का चाहे जितना विश्लेषण करें , फिर भी उसमें कुछ अदृष्ट तत्त्व तो रहेंगे ही। मनुष्य-जाति वयस्क बनी तब से उसने जीवन की मीमांसा आरम्भ की है। लेकिन आज भी जीवन की गूढ़ता मिटी नहीं है। जैसे-जैसे ज्ञान और विश्लेषण का विकास होता जाता है। वैसे-वैसे जीवन की गूढ़ता क्षितिज की तरह आगे ही बढ़ती जाती है। इस कारण तत्त्वज्ञान के अधिकाधिक परिपुष्ट होने के बावजूद जीवन की शोध में, मृगया में वह थककर पीछे ही पड़ता रहा है।

इसलिए तत्त्वज्ञानी को बार-बार ठहर कर अपने साधनों को अधिक सूक्ष्म और अधिक तीक्ष्ण करना पड़ता है। और तर्क जैसे प्रामाण्यवाद में उलझ जाता है उसी प्रकार तत्त्वज्ञान सदा मनोविश्लेषण में उलझता रहा है। तत्त्वज्ञानी ने बुद्धि को तीव्र बनाने की जरूरत तो स्वीकार की, परन्तु जीवन को शुद्ध बनाने और उसके द्वारा जीवन का साक्षात्कार करने की शक्ति पाने की जरूरत को स्वीकार नहीं किया। धार्मिकता ने इस कर्तव्य को निष्ठा से स्वीकार किया है।

५

कवि और तत्त्वज्ञ दोनों का समन्वय करके धर्म ने ज्ञान-साधना के लिए जीवन-शुद्धि रूपी जीवन-साधना की आवश्यकता को स्वीकार किया। जीवन ही ज्ञान प्राप्ति-का उत्तम साधन है और ज्ञानप्राप्ति होने के बाद उसका विनियोग भी जीवन के विकास के लिए ही होना चाहिए, इतना समझ लेने के बाद धर्म ने कवि के दर्शन की झलक और तत्त्वज्ञानी के विश्लेषण की मदद से साक्षत्कार का मार्ग अपनाया।

इसमें पहले-पहले जीवन-शुद्धि की स्पष्ट कल्पना मनुष्य को नहीं आई। शुद्धि के नाम पर जीवन को शून्यरूप— तत्त्वरहित— कर डालने वाले कितने ही पन्थ खड़े हो गये। जीवन में संयम की आवश्यकता है, तप की आवश्यकता है, वीर्य की आवश्यकता है। इन्हें प्राप्त करने के बजाय कुछ लोगों ने जीवन को जीवन-विमुख बनाने का प्रयत्न किया। हमारे बैरागियों में इसके कितने ही उदाहरण मिलते हैं। जादू, कीमिया, जड़ी-बूटी, ज्योतिष और मन्त्र-साधना जैसी विचित्र प्रवृत्तियाँ बैरागियों में दिखाई देती रही हैं। किन्तु उनके शून्यता के आदर्श के साथ इन प्रवृत्तियों का मेल नहीं बैठ सकता। ईश्वर ने जिन वृक्ष-वनस्पतियों से मनुष्य को अलग किया, उन्हीं का जीवन फिर से स्वीकार करना ईश्वर को पराजित करना है। इसमें धार्मिकता नहीं है; तब फिर धर्म-विजय तो हो ही कैसे सकती है ?

धर्म की सच्ची प्रवृत्ति यह होगी कि वह मनुष्य-जीवन के छोटे-छोटे प्रवाहों को गहरा बनाये और बाद में उन्हें उचित दिशा में मोड़कर उन्हें बलवान और वेगवान प्रवाहों का रूप दे।

तत्त्वज्ञान में अनेक वाद उत्पन्न होते हैं। धर्म जीवन्त वस्तु है, इसलिए उसमें अनेक पन्थ और साधनाएँ स्थापित हो जाती हैं। लेकिन इसे हम भूल नहीं सकते कि जब तक जीते-जागते लोगों के हाथ में ये पन्थ और साधना-क्रम रहते हैं तब तक ये प्रयोग रूप में ही रहते हैं। लेकिन बाद में जड़ लोग इन प्रयोगों को सिद्ध हुए तंत्रों का रूप दे देते हैं और नये या अधिक अनुभवों का लाभ उठाने से इन्कार करते हैं। पन्थों के बढ़ने से कोई नुकसान नहीं है लेकिन न्यायबुद्धि को इन प्रयोगों के परिणाम का आदान-प्रदान करने की तैयारी रखनी चाहिए। बुद्ध भगवान ने एकान्तिक

तपस्या के मार्ग का अनुभव करके उसकी व्यर्थता की घोषणा की। उनके प्रयोगों के इस निष्कर्ष को कुछ लोगों ने अन्तिम माना और कुछ लोगों ने पहले से ही उसका विरोध किया। भौतिकशास्त्री तटस्थ रहकर अपने सिद्धान्त स्थापित करते हैं और उन्हें छोड़ते हैं, बार-बार उन्हें जाँचते हैं और सुधारते हैं और अपने अनुभव के प्रति ही वे वफादार रहते हैं। धर्ममार्ग में भी ऐसा ही होना चाहिए। किन्तु इस मार्ग में व्यक्तिनिष्ठा, ग्रन्थनिष्ठा अथवा वचन-निष्ठा, मताग्रह, दलबन्दी और पक्षाभिमान बाधक सिद्ध हुए हैं; और सत्ता का लोभ इसमें घुस जाने से ये सभी भ्रष्ट हुए हैं। धर्म यदि जीवन्त न रहें, तो वे विषैले बनकर सारे जीवन को नष्ट कर देते हैं। धर्म जैसी तीव्र प्रभावकारी वस्तु की विकृति मारक ही सिद्ध हो सकती है।

६

कवि, तत्त्वज्ञ और धर्मज्ञ तीनों ने देखा कि कुछ ऐसी अमर श्रद्धाएँ होती हैं, जो कल्पना से भिन्न, अनुभव से परे और साधना के लिए प्रेरक होती हैं। यह कहना कठिन है कि ये श्रद्धाएँ कहाँ से आती हैं, कैसे मनुष्य को पकड़ती हैं और किस बात में उनकी शक्ति समायी हुई है। ये श्रद्धाएँ सब मनुष्यों को समान रूप से नहीं पकड़तीं। प्रत्येक युग में इनका स्वरूप बदलता है, इनके नये-नये अवतार होते हैं और इसीलिए प्रत्येक युग को अपना वैशिष्ट्य प्राप्त होता है। सभी मनुष्य बुद्धि का प्रयोग करते हैं परन्तु बुद्धि में ये श्रद्धाएँ मिली रहती हैं, इसलिए दर्शनों और पन्थों की विविधता उत्पन्न होती है। अहिंसा इसी प्रकार की एक स्वयंभू श्रद्धा है। गांधीजी ने उसे सत्य से निकालने का प्रयत्न किया है। परन्तु ऐसा करने के लिए सत्य के रूप को ही गूढ़ बनाना पड़ता है। और अन्त में हम जहाँ थे वहीं के वहीं रह जाते हैं। अहिंसा एक स्वयंभू, अमर श्रद्धा है और वह जीवन के काव्य, जीवन के तत्त्वज्ञान, जीवन की साधना और जीवन के साक्षात्कार सभी में प्रवेश करती है।

आज हमारे देश में जो जीवन-चर्चा चलती है। उसके पीछे जाने-अनजाने भी अहिंसा का तत्त्व रहता है, इस बात को हम समझ लें तो ही हमारी चर्चा विशद् और फलप्रद बनेगी।

७

जीवन-चर्चा में एक बात का हमें ध्यान रखना चाहिए। तर्क की कसौटी पर जो चीज अशुद्ध और अपवित्र साबित हो, उसे हम अपनी इस चर्चा में जरा भी स्थान नहीं देंगे। परन्तु जिन प्रश्नों के सामने तर्क स्वयं ही थक कर रुक जाए, वहाँ तर्क के दोष की वजह से हम प्रश्नों को उड़ा नहीं देंगे। मनुष्य का जीवन तर्क बुद्धि के जितना सरल नहीं है। असंख्य विरोधी वस्तुओं का समन्वय करके जीवन

स्थिर और प्रवृत्त हुआ है। उसकी सरल मीमांसा करने जाएँगे, तो अन्त में वह ब्याज-सहित हमसे बदला लेगा। इसलिए तर्क का पूरा-पूरा लाभ उठाते हुए भी उसके निर्णयों को हम सावधानी के साथ ही स्वीकार करें।

ध्यान में रखने लायक दूसरी बात यह है कि जीवन की मीमांसा में अनुभव के विरुद्ध कोई बात नहीं आनी चाहिए। साथ ही, उसमें मानव-जीवन की अमर श्रद्धाओं का द्रोह भी नहीं होना चाहिए। मेरा विश्वास है कि प्राचीन विचारकों ने इस बात की सावधानी रखी थी। परन्तु उनका अनुभव अधूरा था, अनुभव पर विचारों का प्रकाश डालने की उनकी शक्ति स्थूल थी और निश्चित किये हुए निर्णयों की पुनः जाँच करने की उनकी प्रयोग-वृत्ति मन्द थी; इसीलिए प्राचीन तत्त्वज्ञान अपने समय के लिए ठोस और सच्चा होते हुए भी आज हमारा पर्याप्त दिशादर्शक नहीं बन सकता।

परन्तु आज दुनिया में जितने भी महान धर्म प्रचलित हैं, वे सब अनेक दृष्टियों से जीवन की मीमांसा ही हैं। उनके पीछे प्रयोग-वीरों का गहन अनुभव है, इसीलिए उनके सिद्धान्त सहज भाव से आदर के पात्र बनते हैं। उन पर कोई विचार किया ही नहीं जा सकता, ऐसा मानना पुरानी भूल है। तर्क के एक झटके से उन्हें उड़ा देना आज की भूल है। अनेक अधूरे सिद्धान्तों का घेरा खड़ा करने से हम गोल-गोल जरूर घूमेंगे, लेकिन प्रगति जरा भी नहीं कर सकेंगे।

अर्धसत्यों को ले उड़ना— उन्हें बिना सोचे-विचारे ही स्वीकार कर लेना आज के ज़माने की विशेषता है। अर्धसत्यों में हमेशा अधिक जोश होता है। उनमें परिणामों के बारे में गैर-जिम्मेदारी भी उतनी ही रहती है। अर्धसत्य सदा आक्रमण करने में विश्वास रखते हैं। उनका यह स्वभाव सदा दोषरूप ही होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता । जो व्यक्ति सारे पहलुओं को देख सकता है और हर पहलू की सुन्दरता की ओर बारी-बारी से झुक जाता है, उसमें कार्य करने का जोश और उत्साह कम रहता है। वह परस्पर विरोधी दलीलों का चिन्तन करने में लगा रहता है।

चौतरफा विचार करने के बाद अन्त में आचरण की एक स्पष्ट दिशा निश्चित होनी ही चाहिए और अपनी सारी शक्ति हमें उसी दिशा में प्रवाहित करते आना चाहिए। परिस्थितियों में परिवर्तन न हो तब तक उसी दिशा और उसी उपाय को दृढ़ता से पकड़े रहने की शक्ति भी हममें होनी चाहिए। यह शक्ति हममें आध्यात्मिक चरित्र के बिना नहीं आ सकती। पुराना ज़माना यदि अपरिवर्तनशील माना जाता है, तो आज का ज़माना परिणाम का विचार किये बिना, 'स्वभाव है इसीलिए' परिवर्तन करने में विश्वास रखने वाला हो गया है। 'नवं-नवं प्रीतिकरं नराणाम्' यह मानव का स्वभाव है, धर्म नहीं। परन्तु आज जनसमुदाय अपने स्वभाव के ही वश होकर आचरण करता है। जहाँ चरित्र की दृढ़ता की आवश्यकता है, जहाँ पतवार पर मजबूत

हाथ रखकर नौका को एक ही दिशा में चलाना जरूरी है, वहाँ आज निष्ठा की यह एकाग्रता बहुत मन्द पड़ी हुई दिखाई देती है। लोग प्रतिज्ञा-पालन में दुर्बल हो गये हैं और चंचल वस्तुओं में निष्ठा रखने वाले बन गये हैं। आज जीवन -मीमांसा और जीवन-चर्चा कितनी ही क्यों न चले, परन्तु विचारपूर्वक कष्ट सहकर जीवन की साधना करने वाले लोगों के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं।

८

संस्कृति किसे कहा जाए, यह अभी तक पूरी तरह स्पष्ट नहीं हुआ है। एक समय ऐसा था जब कि नैतिक जीवन, चरित्र की दृढ़ता, आर्यत्व ही संस्कृति का आधार माने जाते थे। आज परिस्थितयाँ बदल गई हैं। तरह-तरह के अनुभव करना, प्रसंगानुसार अथवा बिना कारण परिवर्तन करना, धैर्य के साथ परिणामों की जाँच न करना— यह आज का स्वभाव बन गया है। सदाचार और चरित्र के आग्रह के बिना यदि संस्कृति का निर्माण किया जा सके, तो आज जनता को यही चाहिए। कोई व्यक्ति चरित्र का सीधा विरोध नहीं करता। सदाचार के आदर्श में आवश्यक शुद्धि और परिवर्तन भी होता है। परन्तु आज अनेक जगह यह वृत्ति दिखाई देती है : 'चरित्र का विकास प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तिगत प्रश्न है; इसके आधार पर समाज का और राज्य-व्यवस्था का विचार किया ही नहीं जा सकता।'

इसलिए चरित्र के स्थान पर आज संस्कृति के लिए भौतिक साधन-शक्ति, बौद्धिक विकास की सूक्ष्मता, राज्यतन्त्र की स्थिरता, कला की विशिष्टता आदि अन्य बातों का आधार खोजा जाता है। इसके फलस्वरूप प्रत्येक सामाजिक प्रयोग की स्थिति वैसी ही हो जाती है जैसी जकात से बचने के लिए सारी रात जंगल में भटक कर सवेरे ठीक जकात-नाके के सामने ही आकर खड़ी होने वाली गाड़ी की होती है। और अन्त में हमारी गाड़ी इस अनुभव पर आकर रुक जाती है कि नैतिक प्रगति किये बिना कोई चारा नहीं है। दुनिया का आधुनिक अर्थशास्त्र सदाचार-शास्त्र से बचने का मिथ्या प्रयत्न करता है, दुनिया की व्यावहारिक राजनीति भी नीति का दम्भ करके नीतिशून्य ढंग से काम करना चाहती है तथा शिक्षा में नीति का आग्रह रखने के बारे में लोग अधिकाधिक सशंक होने लगे हैं। इस प्रकार जीवन-साधना में सदाचार का, नीति का अंश अथवा अंकुश जितना कम किया जा सके उतना कम करने की वृत्ति आज लोगों में बढ़ रही है।

९

पुराणों में एक कथा है। एक खोए हुए राजा को ढूँढने के लिए उसकी रानी त्रिखण्ड में घूमी, लेकिन अन्त में थककर रानी ने राजा की बाहरी खोज छोड़ दी।

उसने सोचा कि जो ब्रह्माण्ड में है वह पिण्ड में होना ही चाहिए। इसलिए रानी ने अपने मन को शान्त, निश्चल और निर्विकार बनाकर अपने भीतर ही राजा की खोज शुरू की। जितना ब्रह्माण्ड बाहर है उतना ही मेरे भीतर भी है, इसलिए ध्यान के द्वारा भीतर की सृष्टि में राजा का पता लगना ही चाहिए— ऐसा सोच कर रानी ने अपने भीतर राजा की खोज की और इसमें उसे सफलता मिली। पुराण तो ऐसा ही लिखेंगे। आज भी अगर हमारी कोई चीज़ खो जाए और हम सारी दुनिया में उथल-पुथल मचाने के बजाय थोड़ा रुककर सोचें कि वह चीज़ कहाँ थी, कहाँ तक हमें उसका स्मरण है, वह कहाँ रखी हुई होनी चाहिए, तो कम प्रयत्न में उसके मिलने की अधिक सम्भावना रहती है।

इसी प्रकार किसी विषय में अन्धे होकर अनेक प्रयोग करने के बजाय यदि हम पहले मन में ही सोचें और अपने जैसे विचार रखने वाले लोगों के साथ चर्चा करें, तो जीवन में समय और शक्ति का कितना ही अपव्यय करने वाले प्रयोगों की अपेक्षा मन में— विचार-क्षेत्र में— ही मनन तथा चर्चा के रूप में प्रयोग करके हम कीमती निर्णय पर पहुँच सकते हैं; ऐसा करने से हमारी शक्ति का संग्रह भी होता है। जो प्रजा फलदायी चर्चा का शास्त्र जानती है, वह अनेक गलतियों से बच जाती है। किसी भी निर्णय पर आने के पहले हम जो विचारक-समिति नियुक्त करते हैं उसका यही उद्देश्य होता है।

लोक-शिक्षण की दृष्टि से आम जनता के लिए इस समिति का निर्णय जानना जितना जरूरी है, उससे अधिक जरूरी और महत्त्वपूर्ण है निर्णय से पूर्व हुई अनेक-विध चर्चा को जानना और उसके मर्म को समझना। इस प्रकार जीवन-चर्चा सामाजिक शक्ति को बचाने व बढ़ाने का एक साधन है। ऐसी चर्चा में सर्व-सम्मत और एक लक्ष्यवाले निर्णय पर पहुँचने की आशा शायद ही रखी जाएगी। परन्तु इतना तो निश्चित है कि उससे समाज की विचार-शक्ति और आचार-दृष्टि अधिक शुद्ध होगी।

१०

प्राचीन काल में समाज-तन्त्र एक सी गति से चला करता था। उसके कुछ बाह्य नियमों में सामान्य परिवर्तन भले ही हो जाएँ, परन्तु इन प्रश्नों की गहराई में कोई नहीं उतरता था कि समाज की बुनियाद कैसी है और समाज किन तत्त्वों के आधार पर चलता है। और यदि कोई उतरता भी था तो समाज-रचना की कोई काव्यमय पौराणिक उपपत्ति देकर ही सन्तोष मान लेता था। उस समय लोगों में कुछ इस प्रकार की वृत्ति थी कि समाज कोई अगम्य गूढ़ वस्तु है, वह स्वयंगतिक है, हमें समाज का स्पर्श करने से डरना चाहिए। आज इस अगम्यता को तोड़ने के प्रयत्न चल रहे हैं। कोई वस्तु गूढ़ है— अगम्य है— इसलिए वह पवित्र है, इस

प्रकार की मनोवृत्ति को आज कोई बरदाश्त नहीं कर सकता। आज यह मनोवृत्ति दिनोंदिन बढ़ रही है कि समाज-जीवन की जड़ें हम सोचते थे, उतनी गूढ़ और दुर्बोध हैं ही नहीं। गाय का जबड़ा बड़ा होगा तो वह अधिक घास खाएगी; उसकी नाक चौड़ी होगी तो वह अधिक श्वास लेगी; उसके थन बड़े होंगे तो वह अधिक दूध देगी। बस, इतनी बातों पर से अच्छी गाय के लक्षण निश्चित कर लीजिए ; इससे अधिक इसमें कोई गूढ़ बात है ही नहीं—यह कहने की ओर आज के गोपालनशास्त्र की वृत्ति रहती है। गुणभेद का विश्लेषण करते-करते वह परिमाण-भेद पर आ पहुँचता है; इसलिए इसमें रहस्य जैसी कोई बात है ही नहीं, ऐसा सिद्ध किया जा सकता है। यह आज की मान्यता है।

गूढ़वाद आज जितना कम हो सके उतना ही अच्छा है। अज्ञान और आलस्य से गूढ़भाव को जन्म देना मनुष्य के लिए शोभा की बात नहीं है। प्रत्येक वस्तु अमीमांस्य है— ऐसा कह देने में श्रद्धा नहीं परन्तु जड़ता है, यह हमें समझना चाहिए। इसके साथ हमें यह भी जानना चाहिए कि किसी वस्तु की उतावली में की गई मीमांसा महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को भुला देती है और अन्त में 'घट्टकुटी प्रभात न्याय' से सुबेरा होने पर मूल कठिनाई का 'जकात-नाका' तो हमारे सामने खड़ा ही रहता है।

११

और, अन्त में विविध प्रकार की जीवन-चर्चा करने का फल क्या है ? हमें सारे जीवन और एक पूरी सदी तक वाग्वर्धिनी सभा नहीं चलानी है। पीढ़ी दो पीढ़ी तक भरपेट चर्चा करने के बाद मनुष्य-जीवन को एक विशिष्ट दिशा मिलनी ही चाहिए।

मेरी कल्पना के अनुसार ठेठ प्राचीन काल में लोग केवल स्फूर्ति से ही विचार करते थे। एकाध भव्य विचार मन में स्फुरित हुआ कि उससे मोहित होकर वे अपना समस्त जीवन उसी विचार को अर्पण कर देते थे। उस जमाने के लोग अलौकिक प्रयोग-वीर थे। उसके पश्चात् तर्कबुद्धि का विकास होने पर चर्चा का युग आरम्भ हुआ। मनुष्य-जाति प्रौढ़ बनी। मैं मानता हूँ कि ६०० ईस्वी पूर्व के आस-पास के १००-२०० वर्ष मनुष्य-जाति के प्रौढ़ बनने का काल बताते हैं। उस काल में संसार के सभी देशों में चर्चाएँ चलती थीं, भव्य संवादों का आयोजन किया जाता था और सिर की बाजी लगाकर वाद-विवाद होता था। जरतुश्त, सुकरात, याज्ञवल्क्य, बुद्ध भगवान, महावीर— ये सभी समकालीन थे ऐसा तो कोई नहीं कहेगा; किन्तु ये सब मानव-बुद्धि की प्रथम प्रगल्भता के प्रतिनिधि अवश्य थे।

उसके बाद जीवन ने जो नया मोड़ लिया, उसमें भक्ति-सम्प्रदाय का अधिक विकास हुआ, सामाजिक संस्थाओं की स्थाई रचना हुई, विविध कलाओं तथा विद्याओं का उदय हुआ और मध्ययुग का वैभव प्रकट हुआ।

अब मानव-जाति एक महान परिवर्तन के समीप आ पहुँची है। इस मौसम की फसल कैसी होगी, इस प्रश्न का उत्तर हमारे जीवन की उत्कटता और पारमार्थिकता पर आधार रखता है। ज़मीन में खूब अच्छा कस हो, पानी उचित मात्रा में हो और हवा-बरसात अनुकूल हो, तो खेत की फसल सुन्दर आनी ही चाहिए। परन्तु यदि कोई जमीन जोतने का पुरुषार्थ ही न करे, और जोते तो भी उसमें अच्छे बीज न बोये, तो दोष मौसम का नहीं माना जाएगा।

अब मानव-जीवन महान परिवर्तन के बिन्दु पर खड़ा है। इसमें जो संकल्प बोये जाएँगे, जो प्रयोग आजमाये जाएँगे और जिन प्रेरणाओं पर अमल किया जाएगा, वे एक भव्य, व्यापक और तेजस्वी संस्कृति का रूप ग्रहण करेंगे। परन्तु इसके लिए श्रद्धा को ही अपना धन समझने वाले प्रयोग-वीरों की आवश्कता है। यदि मनुष्य क्षुद्र वासनाओं और तुच्छ आदर्शों के वश हो जाए, यदि मनुष्य उत्तुंग महत्त्वाकांक्षाओं के लिए शास्त्रीय निष्ठा तथा फकीर की लापरवाही से अपना जीवन न्योछावर करने के लिए तैयार न हो, तो यह मौसम बेकार जाएगा। प्रतिदिन के सुख, प्रतिदिन की सुरक्षितता और पामर विलासिता में ही यदि मनुष्य सन्तोष माने, तो ज़माने की असाधारण परिस्थितियों के कारण ही उसके जीवन में विकृति आ जाती है और जीवन सड़ जाता है। परन्तु यदि मनुष्य महासागर के भयानक तूफान में भी कूद पड़ने की हिम्मत करे, यदि वह प्राणों की बाजी लगाने को तैयार हो जाए, तो निश्चित रूप से वह ऐसी महान संस्कृति तथा अलौकिक प्रगति का स्वामी बन जाएगा जिसकी आज तक कभी कल्पना नहीं की गई थी। पारमार्थिक चर्चा के अन्त में वीर्यवत्तर— अधिक शक्तिशाली— जीवन का विकास होना चाहिए। उस जीवन से जो नया मानव जन्म लेगा, वह मनुष्य-जाति को सर्वथा नई दिशा प्रदान करेगा। हम इन महान संकल्पों से परिचित हों, उनका आह्वान करें, उनकी दीक्षा ले और उनके रंग में रंग जाएँ।

१२

हमें अज्ञात किन्तु उज्ज्वल भविष्य में छलांग मारनी है।

७. महाभारत

उपनिषद्-काल के गुरु-शिष्य-संवादों तथा सरल जीवन-पद्धति के बाद हमें मध्यदेश के और इन्द्रप्रस्थ के महाराज्यों का दर्शन होता है।

हस्तिनापुर के राजा शान्तनु को बुढ़ापे में दूसरी बार विवाह करने का मोह हुआ और वह भी एक धीवर की पुत्री के साथ ! और यहीं से महाभारत की दुर्दशा का आरम्भ हुआ। पिता की इच्छा को पूरी करने के लिए भीष्म ने आजीवन ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा की और राजपद का त्याग करके यथाशक्ति राजसेवा करने का व्रत लिया। शान्तनु के बाद के राजा अच्छे नहीं निकले। विचित्रवीर्य बहुत छोटी उमर में मर गया। धृतराष्ट्र जन्म से अन्धा था और पांडु पांडुरोग से मर गया। उसके बाद राजगद्दी के लिए धृतराष्ट्र के पुत्रों और पांडु के पुत्रों में झगड़ा शुरू हुआ। दुर्योधन ने अनेक प्रकार से कपट-जाल रचा और पांडव हर बार उस जाल में फँसे। विदुर और श्रीकृष्ण पांडवों के सहायक थे, इसलिए हर बार पांडव जैसे-तैसे दुर्योधन के जाल से बाहर निकल जाते थे। अन्त में युधिष्ठिर दुर्योधन के साथ जुआ खेलने को तैयार हुआ और उसमें हारा। पाँच भाइयों की पत्नी द्रौपदी को भी युधिष्ठिर ने दाँव पर लगा कर खो दिया ! अन्त में यह शर्त तय हुई कि पांडव बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास पूरा करें, तो उनका राज्य उन्हें लौटा दिया जाए। बारह वर्ष तो आसानी से कट गये। तेरहवें वर्ष में पांडव विराट नगरी में गुप्त रूप में रहे। अज्ञातवास का वर्ष मुश्किल से पूरा हुआ होगा कि इतने में पांडवों को क्षात्रधर्म के अनुसार गायों का रक्षण करने के लिए प्रकट होना पड़ा। इससे यह विवाद उठा कि अज्ञातवास का एक वर्ष पूरा हुआ या नहीं। चन्द्र की गति के अनुसार वर्ष गिना जाए अथवा सूर्य की गति के अनुसार, इसकी चर्चा चली; और अन्त में रण की शरण लेने का निर्णय हुआ। इस भारतीय युद्ध में भारत के लगभग सभी राजा शामिल हुए थे। दोनों पक्षों की कुल अठारह अक्षौहिणी चतुरंग सेना कुरुक्षेत्र में एकत्रित हुई। अठारह दिन तक यह युद्ध चला और युद्ध के अन्त में दोनों पक्षों के कुल अठारह मनुष्य बचे। पांडवों की विजय तो हुई, परन्तु युधिष्ठिर को हाथ मसल कर कहना पड़ा कि यह जय तो पराजय से भी बुरी है। अधर्म की सड़ाँध खूब फैली हुई थी। धर्म-सम्बन्धी वाद-विवाद करने में प्रत्येक व्यक्ति प्रवीण था। महाभारत के युद्ध में बचे हुए काठियावाड़ के यादव उन्मत्त बनकर परस्पर लड़ने लगे। अन्त में वहाँ भी भयंकर गृहयुद्ध हुआ और संहार-कार्य पूरा हुआ। उसके बाद परीक्षित का राज्य आरम्भ हुआ। तक्षक नाम के नाग राजा ने आक्रमण करके उसका वध किया। अर्जुन ने खांडव वन को जलाकर नागकुल का जो नाश किया था, उसी का यह बदला था। परीक्षित के बाद जन्मेजय ने नाग लोगों से बदला लेने के लिए एक सत्र आरम्भ किया। हिंसा और प्रतिहिंसा जोरों से चली। परन्तु नागकन्या के उदर से उत्पन्न हुए आस्तिक नामक एक ब्राह्मण की मध्यस्थता से यह विग्रह शान्त हुआ और विग्रह से ऊबी हुई भारत-भूमि को अन्त में शान्ति मिली। उसके बाद क्या हुआ, इसका निश्चित इतिहास नहीं मिलता। परन्तु वैर से वैर शान्त नहीं

होता, क्षमा से ही वैर शान्त होता है— इतना पाठ भारतभूमि ने भारतीय युद्ध, यादवों के गृहयुद्ध और जन्मेजय के सर्पसत्र से सीखा, ऐसा कहें तो गलत नहीं होगा।

इस भारतीय युद्ध के समकालीन कृष्ण-द्वैपायन ने (इन्हीं को वेदव्यास कहा जाता है)उस युद्ध का तथा उस समय का सम्पूर्ण वर्णन जय अथवा महाभारत नामक एक विशाल ग्रन्थ में लिख रखा है। महाभारत संसार के बड़े से बड़े ग्रन्थों में से एक है। व्यास ने जिस रूप में यह ग्रन्थ लिखा होगा उसी रूप में तो आज वह हमारे पास नहीं है। इस महान राष्ट्रीय ग्रन्थ के अनेक बार राष्ट्रीय संस्करण हुए हैं।

रामायण में भारतवर्ष का आदर्श चित्रण किया गया है, जब कि महाभारत में अनेक अच्छी और बुरी वासनाओं से पीड़ित महान जन-समुदाय का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है। भारत के असंख्य पहाड़ों से हिमालय अपनी उत्तुंगता के कारण अलग पड़ता है; उसी प्रकार महाभारत में दो नरवीर श्रीकृष्ण और भीष्म सबसे अलग पड़ते हैं। दोनों ही घटना-जाल के सूत्रधार होते हुए भी परिणाम के बारे में कोई परवाह नहीं करते। भीष्माचार्य विरोधी पक्ष के सूत्रधार हैं, फिर भी श्रीकृष्ण के परम भक्त हैं। वे अत्यन्त स्वार्थत्यागी, प्रतिज्ञा-निष्ठ, ब्रह्मचारी और तपस्वी हैं। फिर भी निष्ठाबद्ध होने के कारण यह जानते हुए भी कि उनका पक्ष असत् का पक्ष है, वे उसे छोड़ नहीं पाते। 'अर्थस्य पुरुषो दास:' जैसा दीन वचन कहकर उन्हें अपने आचरण का समर्थन करना पड़ता है, जब कि श्री कृष्ण ऐसी कोई जिम्मेदारी स्वीकार ही नहीं करते। वे सारे परिणामों को पहले से ही जानते हैं। भीष्म यदि अर्थ के दास हैं, तो श्रीकृष्ण प्रेमभक्ति के दास हैं। भीष्म की कर्तव्य-निष्ठा अलौकिक है; श्रीकृष्ण की अनासक्ति दैवी है। भीष्माचार्य ने निष्काम कर्म किया और फल की सारी व्यवस्था ईश्वर भाव से श्रीकृष्ण ने की।

रामायण की सीता और महाभारत की द्रौपदी अपने रूप की तरह स्वभाव में भी विरोधी हैं, फिर भी दोनों अपने-अपने ढंग से आदर्श नारियाँ हैं। सीता का सर्वार्पण आदर्श है, जब कि द्रौपदी की तेजस्विता अनुकरणीय है। यही कारण है कि शास्त्रकारों ने दोनों को एक ही श्लोक में पास-पास रखकर प्रातः स्मरणीय बना दिया है।

महाभारत का समय अर्थात श्रीकृष्ण, भीष्म और युधिष्ठिर, जरासंध और भीम तथा कर्ण और अर्जुन का समय। उसी समय यवन और नाग लोग भी भारत में आये। अफगानिस्तान और तिब्बत के साथ आज की अपेक्षा उस समय भारत का अधिक सम्बन्ध था। कुन्ती और माद्री, द्रौपदी और गान्धारी, सत्यभामा और रुक्मिणी,उत्तरा और चित्रांगदा सब दूर-दूर की राजकन्याएँ कुरुकुल में ब्याही गई थीं।

विद्वानों की यह मान्यता है कि आज महाभारत जिस रूप में हमारे सामने है,

वह रूप सन् ४०० के आस-पास अर्थात आज से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पूर्व निश्चित हो चुका होगा।
१९२३

८. महाभारत का आस्वाद

महाभारत को ज्यों-ज्यों हम अधिक पढ़ते हैं त्यों-त्यों उसके प्रति हमारा आदर बढ़ता ही जाता है। 'प्रतिपर्वं रसावहम्' जैसी महाभारत की प्रशंसा तो सामान्य मालूम होने लगती है। महाभारत के लिए यदि कोई एक विशेषण शोभा देनेवाला हो, तो वह है 'आर्यभव्य'। रामायण यदि वीणा-मधुर है, तो महाभारत मेघ-गंभीर है। महाभारत ने अत्यन्त गहराई में उतर कर मनुष्य-स्वभाव की थाह ली है।

महाभारतकार ने चरित्र-चित्रण में अपने सम्पूर्ण शक्ति-वैभव का उपयोग संकल्पशिथिल धृतराष्ट्र का तादृश और सुनदर चित्र प्रस्तुत करने में किया है। वह अन्धा राजा कुछ भी नहीं करता। वह सबकी बात केवल सुनता ही रहता है, फिर भी आरम्भ से अन्त तक हम उसे नजर के सामने से दूर नहीं रख सकते । पग-पग पर दैव की महत्ता का वर्णन करने वाला यह राजा दैव की साक्षात् मूर्ति है। सब कुछ जानते-बूझते हुए भी जैसे दैव अन्धा है वैसे धृतराष्ट्र भी अन्धा है। भीष्म, विदुर और संजय के समान सलाहकार उसके आसपास रहते थे, गान्धारी जैसी पतिव्रता नारी भी उसे खूब डाँटती-फटकारती थी, वह यह बात भी जानता था कि श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष परमात्मा हैं; फिर भी उस अन्धे ने कुछ नहीं देखा, कुछ नहीं समझा।

शेक्सपीयर के हेमलेट जैसा वह क्षीण-संकल्प धृतराष्ट्र 'हमारे हाथों कुछ नहीं होगा, अपने आप जो होना हो हुआ करे' की वृत्ति रखकर जीता है। चेतनाधारी होते हुए भी 'जडवल्लोक आचरेत्' सूत्र का धृतराष्ट्र ने विकृत वृत्ति से पालन किया है। सारा दोष दुर्योधन पर थोपने के लिए तैयार रहते हुए भी धृतराष्ट्र का अधिक-से-अधिक समर्थन दुर्योधन को ही मिलता है। मौका आने पर वह विदुर को दूर हटा देता था, लेकिन दुर्योधन पर अंकुश नहीं रखता था। जैसे-जैसे शकुनि जुए में जीतता गया वैसे-वैसे इस बूढ़े के हृदय की कली खिलती गई। 'कौन जीता ? क्या जीता ? दाँव पर क्या रखा गया था ?' ऐसे प्रश्न वह बड़ी आतुरता से पूछता रहता था। इसी से उसके मूल स्वभाव की पहचान हमें हो जाती है। भारतीय युद्ध के अन्त में इस कौरव राजा ने लौह भीम को भुजाओं में दबाकर उसका जो चूरा कर डाला, उसमें भी हमें धृतराष्ट्र के इसी स्वभाव के अन्त तक बने रहने का प्रमाण मिलता

है। धृतराष्ट्र असमर्थ तथा कूट मनोवृत्ति का अत्यन्त समर्थ चित्र है।

प्रत्येक नाटक में और कथा में नायक के साथ उपनायक होते हैं। साहित्यशास्त्र न इनके स्वभाव को चित्रित करने की मर्यादायें बताई हैं। परंतु कभी-कभी कथानकों मे नायक के सिवा एक दूसरा मंगल-मूर्ति पात्र होता है। विक्टर ह्यूगो के 'ला मिजरेबल्स' का बिशप ऑफ डी एक ऐसा ही पात्र है। 'ला मिज़रेबल्स' के लम्बे विपुल कथानक में बिशप ऑफ डी का बहुत कम सम्बन्ध आता है। परन्तु उसकी मंगलमयी छाया ठेठ अन्त तक कथानक पर छाई रहती है। इस कथानक का कोई भी पात्र बिशप से ऊँचा नहीं उठ सका है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'घरे बाहिरे' का नायक निखिल और उपनायक सन्दीप है। परन्तु मंगल-मूर्ति तो निखिल का अध्यापक— 'नत नयने अनिमेषे' उसकी चिन्ता रखने वाला चन्द्रशेखर है।

महाभारत की तीन मंगल-मूर्तियाँ हैं : भीष्म, कृष्ण और व्यास। इस त्रिमूर्ति में भी प्रधान स्थान भीष्म का है। कृष्ण की विभूति अन्त मे दिव्य होने के कारण भव्य नहीं कही जा सकती। व्यास किसी वानप्रस्थ के समान दूर ही दूर रहते हैं। समस्त महाभारत पर अपनी मंगल छाया फैलाने वाले तो धर्मात्मा भीष्म ही हैं। वे सागर के समान गम्भीर, हिमालय के समान प्रचण्ड और अनन्त आकाश के समान शान्त और निर्मल हैं।

भीष्म कृष्ण के उत्तम भक्तों में से एक हैं।

प्रह्लाद-नारद-पराशर-पुण्डरीक-
व्यासाम्बरीष-शकु-शौनक-भीष्म-दाल्भ्यान्।
रुक्मांगदार्जुन-वसिष्ठ-विभीषणादीन्,
पुण्यान् इमान् परमभागवतान् स्मरामि।।

इस प्रकार प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर हम जिन परम भागवतों का स्मरण करते हैं, उनमें भी भीष्म का स्थान अनुपम है। दूसरे भागबत भगवान के अधीन रहकर उनकी प्रेरणा के अनुरूप व्यवहार करते हैं। किन्तु भीष्म के भाग्य में अपने परम प्रभु का अखंड विरोध करना ही लिखा था; और फिर भी उनकी विरोध भक्ति नहीं थी।

भीष्म और कृष्ण का राष्ट्र-पुरुषों के रूप में विचार करने पर भी दोनों के स्वभाव का बहुत बड़ा भेद हमारे समाने स्पष्ट हो जाता है । दोनों धर्मनिष्ठ, धर्म-परायण और धर्मकार हैं, परन्तु दोनों का जीवन-दर्शन सर्वथा भिन्न है। भीष्म का जीवन-तत्त्व बहुत अंश में प्रभु राम के जीवन-तत्त्व जैसा है। दोनों मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं, दोनों स्वयं को धर्म-परतन्त्र समझनेवाले हैं और दोनों धर्म-पालन के लिए कोई भी त्याग शान्त वृति से करने वाले हैं। दूसरी ओर कृष्ण जैसे प्रतिष्ठा-भंजक हैं वैसे ही मर्यादा-भंजक भी हैं। धर्ममार्ग में प्रत्येक नियम का अपवाद कैसे हो सकता

है, यह बताने के लिए ही मानो कृष्ण ने अवतार धारण किया था। बंकिमचन्द्र ने श्रीकृष्ण का एक जीवन चरित्र लिखा है। वास्तव में वह जीवन चरित्र नहीं है, परन्तु श्रीकृष्ण पर लगाये जानेवाले आक्षेपों का एक बड़ा खंडन ही है। न्याय-निपुण लोग अपनी सम्पूर्ण बुद्धि का उपयोग करके बचाव न करें, तो श्रीकृष्ण के एक भी कार्य का औचित्य हमारे ध्यान में न आये। गांधीजी ने जिस प्रकार गाय के बछड़े को मार कर अहिंसा-धर्म का पालन किया, वैसा ही कुछ करके हर समय श्रीकृष्ण ने धर्म का पालन किया होगा— इस तरह का भास हमें होता है ! श्रीकृष्ण ने इसी बात का अभ्यास किया होगा कि धर्म के सिद्धान्तों के मूल तक पहुँच कर उनके तत्त्वार्थ का पालन करने के लिए शब्दार्थ का विरोध कैसे किया जाए।

देवदत्त ने (भीष्माचार्य ने) भरी जवानी में एक भीष्म-प्रतिज्ञा करके राज्य और स्त्री का त्याग किया। इस एक प्रतिज्ञा के पालन के लिए उन्होंने चारों तरफ से अपनी हानि होने दी। प्रतिज्ञा-पालन का प्रयोजन न रह जाने पर भी उन्होंने वह प्रतिज्ञा कभी न छोड़ी । और उनका भाग्य भी कैसा विचित्र था ! उन्होंने राज्य स्वीकार नहीं किया, फिर भी राज्य का सारा भार तो उन्हें ही उठाना पड़ा। एक माता-पिता की सन्तानों के झगड़े को टालने के लिए उन्होंने विवाह नहीं किया, परन्तु उन्हें कितने ही नियोग और कितने ही विवाह कराने पड़े। अधिक क्या कहा जाय ? स्वयंवरों में भाग लेकर नौजवान कन्याओं को भी वे जीत लाये ! और भाई-भाई के जिस झगड़े को टालने को लिए उन्होंने अखंड ब्रह्मचर्य स्वीकार किया, उसी झगड़े के कारण उन्हें अपनी इच्छा के विरुद्ध असत्य पक्ष के लिए लड़कर और लाखों मनुष्यों का संहार देखकर अपने प्राण त्यागने पड़े ! भीष्म-प्रतिज्ञा संसार के लिए एक आदर्श बन गई है। भीष्म का ब्रह्मचर्य भी उतना ही अलौकिक था। इस ब्रह्मचर्य के बल से वे परम ज्ञानी, परम समर्थ और परम धर्मज्ञ ही नहीं, इच्छा-मरणी भी बन गये थे। परन्तु भीष्म की इस प्रतिज्ञा से कौरव-कुल अथवा आर्य-संस्कृति को क्या लाभ हुआ ? और कुछ नहीं तो मैं सत्य के लिए लड़ रहा हूँ। इतना सन्तोष तो भीष्म को मिलना ही चाहिए था। राज्य पर अपने अधिकार को छोड़कर वे राजा के सेवक बने। अपनी सारी वफादारी उन्होंने राजगद्दी के लिए अर्पण कर दी। जो खाता हूँ वह राजगद्दी का अन्न है, राजगद्दी की जो भी आज्ञा हो उसे शिरोधार्य मानना चाहिए, इस प्रकार की वैधानिक वृत्ति उन्होंने धारण की। भीष्म के जैसा तन्त्रवादी (constitutionalist) शायद ही दूसरा कोई हो सकता है। किन्तु तन्त्र को ही देवता मानकर आचरण करने से उन्होंने राष्ट्रहित का सर्वनाश कर दिया।

दूसरी ओर श्रीकृष्ण ने हर मौके पर विद्रोही वृत्ति ही धारण की। जिस समय उनकी सर्वज्ञता और धर्मवृत्ति जिस मार्ग या कदम को उचित ठहराती, उसी का निःशंक भाव से अनुसरण करना श्रीकृष्ण का मार्ग था। इसी मार्ग से पांडवों की

रक्षा हुई। यह सच है कि विजय पांडवों को मिली, परन्तु वह विजय इतिहास के पिर्हस की विजय जैसी थी। अन्त में धर्मराज को छलछलायी आँखों से कहना पड़ा :

जयोऽयमजयाकारो भगवन् ! प्रतिभाति मे।

राष्ट्र के क्षात्रकुल का ह्रास हुआ। अर्जुन का भय सच्चा सिद्ध हुआ। साम्ब जैसे राजपुत्र नाचने वाले छोकरों का काम करने लगे और ऋषि-मुनियों की हँसी उड़ाने लगे। कश्यप जैसे वैद्य-विशारद ब्राह्मण भी तक्षक की रिश्वत खाकर राजसेवा को छोड़ लौट गये। ऐसी अन्धाधुन्धी सर्वत्र फैल गई। स्वयं श्रीकृष्ण के घर सुरामत्त यादवों का कलह जागा और उसी के फलस्वरूप दूसरा महान कुलक्षय हुआ। इसमें कोई शंका नहीं कि श्रीकृष्ण ने धर्म की स्थापना की; क्योंकि उन्होंने अर्जुन-गीता, उद्धव-गीता और अनुगीता जैसे सर्वोच्च धर्मोपदेश जगत को दिये। परन्तु उनके अपने युग में अथवा उसके बाद के एक हजार वर्षों में कृष्ण-धर्म के प्रचार का अथवा उससे होनेवाली मानव-समाज की उन्नति और समृद्धि का नामो-निशान भी दिखाई नहीं देता। यही कहना चाहिए कि राजसूय यज्ञ करके धर्मराज ने राजकुल का सर्वनाश किया। परन्तु भीष्म या कृष्ण के मार्ग की परीक्षा तात्कालिक परिणामों की दृष्टि से करना गलत है। श्रीकृष्ण की मृत्यु के पश्चात यदि अन्धा धृतराष्ट्र जीवित होता, तो वह अवश्य कहता कि सचमुच 'काल ही बलवान है', उसकी इच्छा को अन्यथा करने के लिए कोई समर्थ नहीं।'

युधिष्ठिर गीताधर्म के अनुसार यथोचित आचरण रखकर नम्रतापूर्वक अपना कर्तव्य करने वाला और मानव के लिए जितना सन्तोष पाना सम्भव है उतना सन्तोष प्राप्त करने वाला एक सम्पूर्ण राष्ट्र-पुरुष है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चतुवर्ग का उसमें योग्य समन्वय हो गया था। ऐहिक विजय, ऐहिक सुख और ऐहिक वैभव— ये सब बाहर से आकर्षक और भीतर से निस्सार इन्द्रायन के फल जैसे हैं, यह समझ कर ही उसने व्यवहार किया था। 'धर्मो रक्षति रक्षित:' यह युधिष्ठिर का प्रतीज्ञा-वाक्य था । धर्ममार्ग पर युधिष्ठिर की जितनी श्रद्धा थी उतनी किसी दूसरे की मालूम नहीं होती। धर्ममार्ग हमें जहाँ भी ले जाए वहीं निःशंक होकर हमें जाना चाहिए और धर्म के हाथ में हम किसी भी समय सुरक्षित हैं यह श्रद्धा हमेशा रखनी चाहिए— इस वृत्ति के फलस्वरूप धर्मराज का जीवन सब दृष्टियों से सफल रहा है।

कर्ण धर्मराज का बड़ा भाई था। बेचारे को जन्म से ही आर्य और शुभ संस्कार प्राप्त नहीं हुए थे। कर्ण निष्ठा में दृढ़, हृदय का उदार, रण में शूर और आदर्श दानी था। परन्तु हीनता की ग्रन्थि (inferiority complex) उसकी रग-रग में बँध गई थी। कुछ बातें दुर्योधन की समझ में नहीं आती थीं, परन्तु कर्ण उन्हें समझता था। उन बातों को भी दुर्योधन के समक्ष कर्ण ने साफ शब्दों में नहीं रखा। मित्रनिष्ठा का अर्थ यह तो नहीं है कि मनुष्य मित्र का अनुयायी बन जाए, उसकी धुन के अनुसार चले।

कर्ण ने निष्ठा का, वफादारी का अतिरेक करके दुर्योधन की सारी हीन वृत्तियों को प्रोत्साहन ही दिया। यही कारण है कि कर्ण के समान अनन्य मित्र की निष्ठा के प्रति प्रतिनिष्ठा दिखाने के लिए दुर्योधन को अपने अधर्ममार्ग में अधिकाधिक दृढ़ होना पड़ा।

कर्ण का बडे से बड़ा दोष उसका अभिमान, उसका अहंप्रेम था। वह किसी को कुछ समझता ही नहीं था। प्रत्यक्ष भारतीय युद्ध के पहले अनेक बार पराजित होकर कर्ण और दुर्योधन को अपने पक्ष और विरोधी पक्ष के बलाबल का अनुभव हो चुका था, परन्तु इस अनुभव की सतत उपेक्षा करने में ही कर्ण ने बहादुरी मानी होगी। पाँच पांडवों ने मिलकर जो दिग्विजय की थी वैसी कर्ण ने अकेले ही करके दुर्योधन से वैष्णव याग कराया था और ऐसा करके गायों के हरण के लिए की गई घोषयात्रा से आत्म-विश्वास खो बैठने वाले दुर्योधन को जोश चढ़ाया था। परशुराम से कर्ण ने अस्त्र प्राप्त किये अथवा इन्द्र को अपने कुंडल दे दिये, यह बहुत बड़ी बात थी। किन्तु इससे भी अधिक मूल्य उसकी दिग्विजय का था। परन्तु महाभारतकार ने इस दिग्विजय को बहुत महत्त्व नहीं दिया। शायद पांडवों की दिग्विजय के बाद कर्ण गया था, इसलिए उसे यह विजय आसानी से मिल गई हो। हित की बात सुनने में धृतराष्ट्र, दुर्योधन और कर्ण तीनों के मार्ग तीन अलग प्रकार के थे। धृतराष्ट्र ने जो बात कही जाती वह तुरन्त उसके गले उतर जाती थी, परन्तु उस पर आचरण वह जरा भी नहीं कर पाता था। पांडवगीता में दुर्योधन के मुँह से जो श्लोक कहलाया गया है, वह सचमुच धृतराष्ट्र के स्वाभाव का द्योतक है :

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन।
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमी।।

धृतराष्ट्र की दृष्टि में देव और दैव में जो एक मात्रा का फर्क है वह भी नहीं रह गया था।

दुर्योधन पक्षाभिमानी, स्वार्थी और दीर्घद्वेषी था, इसलिए उसमें अन्तर्मुखता जैसा कुछ नहीं था। वह बार-बार आवेश में आ जाता था, बार-बार अपने कथन का समर्थन करता था, बोध देने वाले व्यक्ति के हेतु पर ही शंका करता था और अपने निश्चय पर दृढ़ रहकर सबको अपने साथ पकड़े रखता था। फिर भी एक बात उसमें ऐसी थी जो उसे हमारे आदर का पात्र बनाती है— वह भीतर और बाहर समान था। वह अपनी मनोवृत्ति के साथ ईमानदार रहता था। कर्ण के विषय मे ऐसा कहना कठिन है। कुछ बातें कर्ण अच्छी तरह समझ लेता था। परन्तु वफादारी से आचरण करने के आग्रह को मानकर वह दुर्योधन की बात को ही ग्रहण करता था और फिर हृदयपूर्वक उसी को धारण करके उससे चिपटा रहता था। कर्ण के

ऐसे स्वभाव के कारण उसे महापुरुषों की प्रथम पंक्ति में रखना कठिन है। भीष्म बिल्कुल नम्र बनकर अपना मत प्रकट करते थे: उनका यह मत धर्मज्ञान और परिस्थितियों के सम्पूर्ण ज्ञान के अनुरूप होता था। यह मत निःसंदेह दुर्योधन के विरुद्ध जाता था; परन्तु युद्ध के समय भीष्म सम्पूर्ण निष्ठा से लड़ते थे। भीष्म के ममान महापुरुष की भी यह कर्तव्य-निष्ठा और राजनिष्ठा कर्ण जैसे हलके दरजे के आदमी की समझ में कैसे आती ? उसे तो केवल उसी एकनिष्ठा का भान था, जिसकी धुन राजा के अनुयायियों में होती है। इस कारण से उसने भीष्माचार्य के साथ हमेशा अन्याय किया और दुर्योधन का मन उनके बारे में अत्यन्त कलुषित कर दिया। भीष्म दिल खोलकर लड़ते नहीं, उनके मन में पांडवों के प्रति पक्षपात है। इसलिए वे सम्पूर्ण शक्ति लगाकर युद्ध में जूझते नहीं— ऐसा दुर्योधन को जो लगा करता था उसका कारण कर्ण ही था। अपने दस दिन के युद्ध के अन्त में भीष्म पितामह को दुर्योधन के मुख से जो मर्मभेदी वचन सुनने और सहने पड़े तथा जिनके कारण इस वीर पुरुष की आँखों में आँसू आ गये थे, उनके मूल में भी कर्ण ही था। स्व-पर-बल का यथार्थ अनुमान न होना और गुस्से से जलकर रूठ जाना यदि युद्धकला की दृष्टि से महादोष हो तो भी भीष्माचार्य ने कर्ण को जो अर्ध-रथी कहा, वह सर्वथा उचित ही था।

किसी योद्धा का रथी होना केवल शौर्य पर आधार नहीं रखता। यह सच है कि 'युद्धे अपलायनम्' प्रत्येक क्षत्रिय का धर्म होना चाहिए, परन्तु कुशल योद्धा को अवसर के अनुसार काम करना पडता है और भविष्य की नीति को सामने रखकर युद्ध में पीठ भी दिखानी पडती है। धर्मराज ने कई बार पीठ दिखाई थी। दुर्योधन ने भी पीठ दिखाई थी। तब यदि कर्ण दिखाये तो आश्चर्य की बात नहीं। परन्तु निष्प्रभ होकर, हतबल होकर पीठ दिखाना एक बात है; और शत्रु के बल को आजमा कर इस समय हम शत्रु के सामने टिक नहीं सकेंगे ऐसा अनुमान लगाकर मौके को टाल देना दूसरी बात है। यह भेद जो नहीं समझता और आँखों पर पट्टी बाँधकर, अन्धा बनकर मृत्यु को स्वीकार करता है, उसे विरक्त कहा जा सकता है, शायद उसे मृत्यु-परायण भी माना जा सकता है; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उसने क्षात्रधर्म का परम उत्कर्ष प्रकट किया है।

भीष्म ने कर्ण को मत्सर या द्वेष से अर्ध-रथी नहीं कहा था, बल्कि यह समझ कर कहा था कि इस तरह कर्ण का पानी उतारने से ही उसके हृदय में बसा हुआ घमंड उतरेगा; इसके पीछे भीष्म का एक हेतु उस गलत अनुमान को भी सुधारना था, जो दुर्योधन ने युद्ध का निश्चय करते समय लगा लिया था। 'भीष्म जब तक जीवित हैं तब तक मैं युद्ध में भाग नहीं लूँगा। ऐसी घोषणा करके कर्ण ने क्षात्रधर्म तथा मित्रनिष्ठा दोनों को मिटा दिया और युद्ध में भीष्म विजयी न होकर मृत्यु को प्राप्त करेंगे। इस

विचार को मजबूत करके प्रारम्भ से ही अपशकुन का वातावरण उत्पन्न कर दिया था। इस अवसर पर मित्रनिष्ठ, दान-प्रतिज्ञ तथा युद्ध-दुर्दम तनुत्यागी कर्ण ने यही सिद्ध कर दिखाया कि वह सब कुछ होते हुए भी अन्त में अहंप्रेमी ही था।

कर्ण का बल, उसकी मित्रनिष्ठा, जन्म के विषय में उसके साथ हुआ अन्याय, रण में उसे प्राप्त हुआ वीरोचित मरण और उस समय भी उसके साथ हुआ अन्याय— इन सब बातों के कारण कर्ण के बारे में जनता के मन में स्वाभाविक सहानुभूति, कौतुक और पक्षपात है। इस पक्षपात के कारण कर्ण के दोषों की ओर लोगों का ध्यान नहीं जाता। कर्ण के साथ उदार न्याय करते समय कृष्ण, अर्जुन आदि पांडव-पक्षियों के साथ अन्याय न हो और भीष्माचार्य का मन कर्ण के विषय में कुछ कलुषित हो जाने का पूर्वाग्रह न बन जाए। इसी ख्याल से इतना विवेचन करना मुझे जरूरी लगा है।

एक तरह से देखा जाए तो भीष्म और कर्ण दोनों ही यह जानते थे कि उनका पक्ष असत्य का पक्ष है और बल-कौशल में भी वह पंगु है; फिर भी दोनों केवल कर्तव्य-निष्ठा से, अपनी आर्यवृत्ति के प्रति वफादार रहते हुए फल के बारे में सम्पूर्ण उदासीनता रखकर, युद्ध में लड़े थे। भारतवर्ष पर राज्य करने का अधिकार जैसे भीष्म का था वैसे ही कर्ण का भी था। भीष्म ने सौतेली माँ के वंश के लिए अथवा उसके सन्तोष के लिए और कर्ण ने अपनी माता की उपेक्षा के कारण राजगद्दी के अपने अधिकार का त्याग किया था। भीष्म की भ्रातृनिष्ठा तथा कर्ण की मित्रनिष्ठा और पक्षनिष्ठा आर्य-संस्कृति की बहुत बड़ी सम्पत्ति है।

कर्ण और भीष्म एक दूसरे से ईर्ष्या करते थे। ऐसा लगना स्वाभाविक है। फिर भी महापुरुष एक-दूसरे की महत्ता को पहचाने बिना नहीं रहते, यही बात जगत को दिखाने के लिए भीष्म के रणभूमि पर गिरने के बाद और दोनों पक्षों द्वारा शोक के कारण युद्ध स्थागित कर दिये जाने के बाद महाभारतकार दुःख से नम्र बने हुए मानस वाले कर्ण को भीष्म के पास ले गये हैं। वह प्रसंग सचमुच उदात्त और करुण है। यह बूढ़ा पक्षपाती है, यह हम सबका बुरा चाहता है— इस तरह भीष्म के खिलाफ सदा दुर्योधन के कान भरनेवाला कर्ण आँसुओं से रुँधी आवाज में जब भीष्म से प्रार्थना करता है कि 'मैं कर्ण आपका दर्शन करने आया हूँ। मेरी ओर दयादृष्टि से देखकर मुझसे दो शब्द बोलिए,' तब लगता है कि भीषण कलियुग का बीजारोपण करने वाला काल पूरा हो गया है और उसके स्थान पर्र प्रेमधर्म का सिंचन करने वाला तथा सत्ययुग का शुभ स्मरण करानेवाला काल आ गया है। राजनीतिज्ञ लोग मौका आने पर हृदय की कोमलता दिखाते हैं, अपने स्वार्थ की रक्षा करते हुए उदारता, आर्यता और अन्तर्मुखता भी दिखाते हैं; परंतु इस अवसर पर ऐसी दम्भपूर्ण संस्कारिता का हमें जरा भी भास नहीं होता। 'आदौ नम्राः पुनर्नम्राः कार्यकाले च निष्ठुराः कार्यं कृत्वा पुनर्नम्राः' ऐसा वीभत्स राजनीतिज्ञ न तो कर्ण

था और न भीष्म थे। 'कणिक नीति' में कहे अनुसार कार्य हो जाने के बाद आँखों की पलकें गीली करके दिखाने की धूर्तता भी इस मिलन में नहीं थी। यहाँ एक आर्य पुरुष दूसरे आर्योत्तम तथा अर्हत-पद को पहुँचे हुए पुरुष को प्रणामांजलि अर्पण करने आया था। भीष्म ने गद्गद अन्तःकरण से कर्ण को अपने पास बैठाकर बताया कि उसके लिए उनके मन में कितना आदर है और यह भी बताया कि हमेशा उसका (कर्ण का) तेजोवध करने में उनका क्या उद्देश्य था। भीष्म ने जन्मभर जिस शान्ति के लिए जी-तोड़ परिश्रम किया, उस शान्ति की स्थापना के लिए उन्होंने कर्ण से शुद्ध मन से याचना की। कर्ण ने भी उतने ही खुले मन से ऐसा क्यों सम्भव नहीं है इसके अपने कारण भीष्म को बताये और अपने निश्चय के लिए उनके आशीर्वाद माँगे। उदार भीष्म ने कर्ण को अपने आशीर्वाद दिये और उसे उत्साह दिलाकर अनासक्त भाव से युद्ध करने तथा कौरवों का नेतृत्व ग्रहण करने की सलाह दी। हिमालय जैसा उत्तुंग आर्यत्व तथा महासागर जैसा गम्भीर कारुण्य व्यक्त करना अन्य किस अवसर पर सम्भव होता ? युद्ध के वर्णनों की तरह इस प्रसंग के वर्णन को भी विस्तृत रूप न देकर महाभारतकार ने अवसर की पवित्रता तथा संयम का औचित्य दोनों की रक्षा की है। भारतवर्ष जैसे समृद्ध, भव्य और सौंदर्य-विपुल देश की ही उपमा जिसे शोभा दे उस महाभारत में भी इस प्रकार के देव-दुर्लभ प्रसंग कितने होंगे ?

१९३३

९. भगवद्गीता

कुरुक्षेत्र की रणभूमि पर दोनों पक्षों के सैन्य लड़ने के लिए सज्ज खड़े हैं। युधिष्ठिर ने दोनों सैन्यों के बीच खड़े रहकर स्वयं यह घोषणा की है कि किसी को अभी भी न्याय के लिए अपना पक्ष छोड़कर विरोधी पक्ष में जाना हो तो वह जा सकता है। ऐसे अवसर पर पांडव-पक्ष के वीर अर्जुन को शंका हुई कि हमारा लड़ना उचित्त है या नहीं ? लड़ने में पुण्य है या पाप ? सगे-सम्बन्धियों को मारकर राज्य करना उचित है अथवा राज्य का त्याग करके संन्यास लेना उचित है ? श्रीकृष्ण स्वयं अर्जुन के सारथि के रूप में रथ में बैठे थे। अर्जुन उनकी शरण में गया। कितना विचित्र, कितना नाजुक और फिर भी कितना स्वाभाविक प्रसंग ! जिसके ऊपर सारी लड़ाई का आधार हो वही योद्धा यदि अन्तिम क्षण में इस तरह शस्त्र फेंककर 'मैं नहीं लड़ूँगा' कहते हुए खड़ा हो जाए, तो क्या हो ? उत्साह के चार

शब्दों से अर्जुन को जोश चढ़ने वाला नहीं था। इसलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को धर्म का रहस्य समझा कर यह बताया कि उसे क्या करना चाहिए। श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच हुए इस संवाद का महाभारत में अठारह अध्यायों में वर्णन किया गया है। उनमें कुल सात सौ श्लोक हैं। उसके भीतर हिन्दू धर्म के सारे ही तत्त्वों का समावेश भलीभाँति हो जाता है। उसे पढ़कर मनुष्य को उत्तम रूप में इस बात का ज्ञान हो जाता है कि उसे इस संसार में कैसे व्यवहार करना चाहिए। भगवद्गीता सारे हिन्दुओं का महान धर्म-ग्रंथ बन गई है। सभी पन्थों के लोग भगवद्गीता के प्रति आदर रखते हैं। गीताजी का अनुवाद संसार की सभी भाषाओं में हुआ है और प्रत्येक देश के लोग गीता जी की प्रशंसा करते हैं। भारत में तो भगवद्गीता का अर्थ समझाने के लिए इतने ग्रन्थ लिखे गये हैं कि उन सबको एकत्र किया जाए तो कई अलमारियाँ भर जाएँ।

राष्ट्र के जीवन पर जिसका बड़े से बड़ा प्रभाव पड़ा हो, फिर वह कोई राष्ट्रीय पुरुष हो, राष्ट्रीय घटना हो अथवा राष्ट्रीय ग्रन्थ हो, उसका उल्लेख इतिहास को करना ही चाहिए। महाभारत-रूपी विशाल महासागर में भगवद्गीता एक ऐसा रत्न है, जिसका प्रभाव केवल हिन्दू समाज पर ही नहीं परन्तु भारत के साथ जिस-जिस प्रजा का सम्बन्ध स्थापित हुआ है, उस-उस प्रजा पर पड़ता आया है और आगे भी सदा पड़ता रहेगा। यह ग्रन्थ अभी तक भी वृद्ध नहीं हुआ है।

मनुष्य का कर्तव्य क्या है, धर्म-संकट में मनुष्य को कौन-सा मार्ग लेना चाहिए, क्या करने से मनुष्य कर्म करते हुए भी उससे अलग रह सकता है, इसकी चर्चा गीता में की गई है। इसमें व्यक्ति तथा समाज के जीवन-रहस्य की चर्चा आध्यात्मिक दृष्टि से की गई है।

भगवद्गीता को हमारे शास्त्रों में उपनिषदों का श्रीकृष्ण द्वारा दुहा हुआ दूध कहा गया है। श्री कृष्ण ने ज्ञान, कर्म, भक्ति, सांख्य, योग आदि सारे मार्गों के मूल तत्त्वों की व्यावहारिक चर्चा करके अर्जुन को यह बताया है कि उसके जैसे क्षत्रिय का कर्तव्य क्या है। अर्जुन को प्रतीति कराने के लिए श्रीकृष्ण ने अपना काल-स्वरूप अथवा विश्वरूप अर्जुन के सामने प्रकट किया। इस विश्वरूप का अर्थ है भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों की एकत्र की हुई इतिहास-मूर्ति, जिसे हम भावी या अदृष्ट कहते हैं। वह ईश्वर की दृष्टि से वर्तमान और ज्ञात है, ऐसा श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिखा दिया और फिर भी 'तेरी इच्छा हो वैसा कर' यह कहकर अर्जुन को उसके स्वातंत्र्य का भान भी उन्होंने करा दिया।

परन्तु श्रीकृष्ण अर्जुन को युद्ध के लिए प्रेरित कर सके, इसमें हमें क्या लाभ हुआ। वेदव्यास ने कृष्णार्जुन का दिव्य संवाद जगत के सामने इतिहास के रूप में नहीं रखा है; उन्होंने इस संवाद के द्वारा यह धर्म-रहस्य प्रकट किया है कि प्रत्येक

मनुष्य के हृदय में वासना-रूपी प्रबल शत्रु के विरुद्ध ('कामरूपं दुरासदम्') जो सनातन युद्ध चलता है, उसमें मनुष्य को निरहंकार बनकर कैसे लड़ना चाहिए। (युद्धस्व विगतज्वरः) । अतः हृदय में अथवा समाज में जो दुर्वृत्तियाँ हों, उनके विरुद्ध लड़ने वाले प्रत्येक योद्धा के लिए भगवद्गीता गुरु-उपदेश सिद्ध हुई है। १९२३

१०. प्रस्थानत्रयी किसलिए ?

इस दुनियावी जीवन के झंझट से बचकर जो व्यक्ति मोक्ष की तरफ प्रयाण करता है, उसकी यात्रा का पाथेय क्या है ? हमारे पूर्वजों के अनुसार (१) दस उपनिषद् (२) ब्रह्मसूत्र और (३) भगवद्गीता ये तीन ग्रन्थ मोक्षयात्रा के पर्याप्त पाथेय हैं। और इसलिए इन तीन ग्रन्थों को प्रस्थानत्रयी कहा जाता है। 'प्रस्थान' का अर्थ है घर छोड़कर मोक्ष की तरफ प्रयाण करने की क्रिया। उसके लिए यह उपयुक्त और उत्तम पाथेय है.

अब ये ही तीन ग्रन्थ क्यों चुने गये ? और इन्हीं का अधिकार किसलिए माना गया ?

भौतिक क्षेत्र तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में अनुभव अर्थात् साक्षात्कार ही अन्तिम प्रमाण हो सकता है। उसी का अधिकार माना जाता है।

वेदकाल में जिन ऋषियों ने अपना जीवन धर्म को समर्पित किया और धर्म का ही ध्यान किया, उन ऋषियों ने अपने अनुभव, विचार और कल्पनाएँ वेद के अन्त में ब्राह्मण-ग्रन्थों में और उपनिषदों में लिखकर रखी हैं। यह सारा धर्मानुभव वेद के अन्तिम भाग में लिखा गया है, इसलिए इसे वेदान्त कहते हैं।

अब हर एक प्रामाणिक और प्रयत्नशील मनुष्य को जो अनुभव होता है, वह सर्वत्र एक रूप ही होना चाहिए। कल्पना में फर्क हो सकता है। तर्क आड़े-टेढ़े रास्ते से जा सकता है; लेकिन अनुभव तो एक रूप ही हो सकता है। अनुभव अगर एकांगी हो तो भी अनुभव के दूसरे अंगों के साथ उसका मेल बैठना ही चाहिए। इसलिए दस उपनिषदों में जो अनुभव लिखे गए हैं और संगृहीत किए गए हैं, उनमें यदि एकवाक्यता न हो, तो हमें मान लेना चाहिए कि हम उन वचनों का अर्थ ठीक-ठीक समझ नहीं पाए हैं। जो कोई इन वचनों में सामंजस्य स्थापित कर सके, उसकी बात विचारने योग्य मानी जाएगी।

विभिन्न देशों में प्रचलित भिन्न-भिन्न कानूनों का अध्ययन करके उनमें पाए जाने

वाले मूलभूत तत्त्वों को चुन कर जिस प्रकार हम उनका एक धाराशास्त्र (jurisprudence) बना लेते हैं, उसी प्रकार धर्मानुभव के विश्व-वचनों पर से परब्रह्म स्वरूप और उसे प्राप्त करने की साधना निश्चित कर देने वाले ब्रह्मसूत्रों की रचना बादरायण कृष्ण-द्वैपायन ने की है। अगर हम दशोपनिषद को (raw material of Religious Experience) (धार्मिक अनुभव का कच्चा माल) कह सकें, तो ब्रह्मसूत्रों को (the organised essence of spiritual knowledge) (आध्यात्मिक ज्ञान का सुव्यवस्थित सत्त्व) कह सकते हैं। इस (science of metaphysics) (अध्यात्म-शास्त्र) की सहायता से उपनिषदों का रहस्य समझने में सुगमता होती है। (science is organised knowledge)— शास्त्र सुव्यवस्थित ज्ञान है। उपनिषदों में जो आध्यात्मिक ज्ञान बिखरा हुआ है, वह ब्रह्मसूत्रों में सुव्यवस्थित हुआ है। केवल जानने से विज्ञान के प्रयोजन की पूर्ति हो जाती है।

लेकिन मनुष्य केवल जानने से तृप्त नहीं होता। जैसा उसने जाना है वैसा जब वह जीने लगता है— या जीना जानने लगता है— तभी उसे सन्तोष होता है। इसलिए हर एक विज्ञान के साथ उसके '(application) (विनियोग) की कला का अर्थात् जीवन-कला का जब विकास होता है, तभी ज्ञान और उसका शास्त्र कृतार्थ माना जा सकता है। यह जीवन-कला भगवान श्रीकृष्ण ने एक अद्‌भुत अवसर पर योगयुक्त होकर अर्जुन के लिए प्रस्तुत कर दी। इसलिए कहा जाता है कि उपनिषद् गायें हैं और गीता उन गायों का दुग्धामृत है। गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में हम कहते हैं : उपनिषदों में जो ब्रह्मविद्या है उसके अनुसार योगशास्त्र का निर्माण करके भगवान ने जिसका गायन किया वह भगवद्‌गीता है। ' ('विद्' का अर्थ है सीखना, जिस पर से विज्ञान (science) के लिए 'विद्या' शब्द बना है। और 'शास्' का अर्थ है नियंत्रण करना, राह दिखलाना; इस पर से 'शास्त्र' अर्थात् (code of conduct)— चाल-चलन के नियम— अथवा(art of life)— जीवन की कला— ये दो शब्द सिद्ध हुए हैं।

उपनिषदों में से पहले ब्रह्मविद्या निकली, तदुपरान्त योगशास्त्र निकला; और उसी का भगवान ने गायन किया, इसलिए उसे भगवद्‌गीता कहते हैं।

इस रीति से धर्मानुभवों का लेखन करने वाले (१)दस प्रधान उपनिषद्, (२)उनको बिलोकर निकाली हुई ब्रह्मविद्या और (३)इन दोनों की दृष्टि की रक्षा करके रचा हुआ योगशास्त्र अर्थात् जीवन-कला— इन तीनों का जो कोई मेल बैठा सके, तीनों की एकवाक्यता सिद्ध कर सके, उसी ने जीवन का रहस्य पाया है और वही आचार्य माना जा सकता है, ऐसी प्राचीन मर्यादा है। जो जीवन-व्यवस्था इन तीनों का सामंजस्य कर दे अर्थात् जो जीवन-व्यवस्था इस प्रस्थानत्रयी के साथ बिल्कुल ठीक मेल खाती है वह धर्मानुभव के अनुकूल है, ऐसा हमारे पूर्वजों का मंतव्य है। जो मनुष्य

इस प्रकार की नई जीवन-व्यवस्था समाज के सम्मुख उपस्थित करता है, उसका मार्गदर्शन स्वीकारने के लिए समाज तैयार हो जाता है। लेकिन ऐसा मनुष्य अगर केवल बौद्धिक कसरत करके दिखाए, तो इतने से उसे आचार्यत्व प्राप्त नहीं होता। उसे इसके अनुसार जीकर, अपने आचरण द्वारा अपनी पारमार्थिकता (earnestness) सिद्ध करनी चाहिए। आचार्य का यह आदर्श है :

आचिनोति हि शास्त्रार्थम् आचारे स्थापयत्युत।
स्वयमाचरेत यस्तु स आचार्यः प्रचक्षते।।

तमाम शास्त्रों में से जो उनका रहस्य बीन-बीन कर निकालता है। (आचिनोति हि शास्त्रार्थम्) और जो उस रहस्य को जीवन में अनुस्यूत करने की या बोने की प्रक्रिया सिखाता है (आचारे स्थापयति उत)और इससे भी महत्त्व की तथा दुष्कर बात तो यह है कि जो उसके अनुसार आचरण करता है यानी जीवन जीकर दिखाता है। (स्वयं आचरते यस्तु), वही आचार्य कहला सकता है। प्रस्थानत्रयी की एकवाक्यता जो तर्क से, जीवन-व्यवस्था से और अपने आचरण से सिद्ध करता है, उसी को हम आचार्य या धर्मविद लोक-नायक की हैसियत से स्वीकार कर सकते हैं।

ऐसे आचार्य आज तक अधिक नहीं तो पाँच-दस अवश्य हुए हैं। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्क आदि प्रचीन आचार्य और श्री दयानन्द सरस्वती, श्री अरविन्द, महात्मा गांधी आदि आधुनिक आचार्य इस देश का पथ-प्रदर्शन करते आए हैं।

अब सवाल यह है कि अगर इन सबका प्रतिपादन मूल धर्मानुभव से सुसंगत है, तो इनकी जुदा-जुदा दृष्टियों में भी कुछ-न-कुछ एकता मिलनी ही चाहिए। हम इन्हें आपस में लड़ाकर अन्त में जो जीते उसी को प्रमाण मानने की सोचें, तो जीवन-द्रोही ठहरेंगे। ऐ सारे आचार्य अपनी बुद्धि और श्रद्धा के अनुरूप हमें सम्पूर्ण जीवन-व्यवस्था देते हैं। इतना ही नहीं, स्वयं उसके अनुसार आचरण करके जब उन्होंने सफलतापूर्वक लोक-नेतृत्व किया है, तब उन सबकी दृष्टि में भी कहीं तो मेल होना ही चाहिए।

सारांश, इन सब आचार्यों में जो कोई समन्वय करके दिखाएगा, वह सचमुच आचार्यों का आचार्य माना जा सकता है। इस समय ऐसी विभूति की संसार को आवश्यकता है।

इसके लिए जैनों का सप्तभंगी स्याद्वाद काम में आना ही चाहिए।

२९-१-'४१

११. उपनिषदों की शिक्षा
(एक पत्र से)

आप का पत्र मिला।

बीच में मेरी तबियत खूब अच्छी मालूम होती थी। उन दिनों मैंने पढ़ने का आनन्द लिया। चौमासे की वनश्री देखने के लिए मैं थोड़ा घूमता भी था। महाराष्ट्र की भूमि की अनोखी शोभा है। ऊँची-नीची जमीन, जहाँ देखो वहाँ छोटी-बड़ी पहाड़ियाँ। इसलिए चलने में या देखने में नया-नया आनन्द मिलता है। गुजरात में यह आनन्द नहीं मिलता। बिस्तर पर लेटा-लेटा भी मैं यहाँ से सिंहगढ़ देख सकता हूँ। और मेघों की प्रतिभा तो प्रतिक्षण नया-नया रूप धारण करती है। हरी-भरी धरती और नीला आकाश दोनों मिलकर रंगों के सभी मिश्रण और प्रकार सिद्ध कर दिखाते हैं। हरी घास खाकर मस्त बने हुए बछड़े पूँछ ऊँची करके चारों ओर कूदते फिरते हैं और पोपट, मैना और पंडुक पक्षी नए-नए गीत खोजते हैं। ऐसी वनशोभा के बीच भद्दी मोटर-बसों और भेड़ियों के झुण्डों जैसी ट्रेनों की अभद्रता भी दब जाती है और दोनों सर्वत्र फैले हुए काव्य में वृद्धि ही करती हैं।

ऐसे अनुकूल वातावरण में उपनिषद् पढ़ने में कितना आनन्द आता होगा, इसकी कल्पना आप कर सकते हैं। लगभग सारे ही उपनिषद् मैं बार-बार पढ़ गया हूँ। प्रतिक्षण उनमें से मुझे नई दृष्टि प्राप्त होती है। आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व मैंने उपनिषद् पढ़े थे, परन्तु भाष्य की सहायता से।

यह सच है कि भाष्यकारों ने हम पर अनेक उपकार किए हैं, किन्तु उपनिषद् ऐसे ग्रन्थ हैं कि भाष्य के साथ पढ़ने से उनका मूल स्वाद नहीं मिलता। भाष्यकारों में यह दोष होता है— आप चाहें तो इसे उनकी मर्यादा कह लीजिए— कि वे उपनिषदों में से एक विशेष तर्कसिद्ध और समन्वित वस्तु निकालने का प्रयत्न करते हैं। उपनिषद् इस तरह पढ़ने के लिए हैं ही नहीं। उपनिषद् तो ज्ञानवीर परमहंसों के (inspired) उद्‌गार हैं। उपनिषद्-कार ऋषियों ने यह सोचा ही नहीं होगा कि हमारे वचनों में परस्पर विरोध है या नहीं, उनसे कोई सुव्यवस्थित सुपरिष्कृत तत्त्वज्ञान (फिलॉसफी) निष्कर्ष के रूप में निकलता है या नहीं। उनके विचारों तथा कल्पनाओं में शुद्ध कौमार्य है। उनके भाषा-प्रवाह के साथ एक बार हमारा परिचय हो जाने के बाद तो जिस तरह हम गाय का धारोष्ण दूध पी जाते हैं, उसी तरह हमें उपनिषदों के अमृत की धाराएँ पीने का आनन्द अनुभव होना चाहिए।

उपनिषदों की कुछ दलीलें हमारे गले नहीं उतरतीं। कुछ बातें पढ़कर तो हम हँसे बिना नहीं रह सकते। सत्य के शोध में उपनिषदों के ऋषि कैसे अनेक दिशाओं

में दौड़ते हैं, यह देखकर हमारे मन में उनके लिए प्रेम उमड़ता है। विचार की एक भी दिशा में खोज उन्होंने बाकी नहीं रखी है। परन्तु सदियों तक की गई इस खोज के अन्त में जब हम उन्हें अध्यात्म-ज्ञान के धवलगिरि के सर्वोच्च शिखर पर बैठे हुए देखते हैं और 'अभयं वै ब्रह्म' की उनकी गंभीर गर्जना सुनते हैं, तब भक्ति भाव ये हमारा मस्तक नत हो जाता है। और साष्टांग प्रणिपात करके 'त्वं हि नः पिता योऽस्माकं अविद्याः परंपारं तारयसि। नमः परमऋषिभ्यः नमः परमऋषिभ्यः।' जैसी औपनिषदी नति (नमस्कृति)हमारे मुख से निकल पड़ती है।

आज हमारे समाज में उपनिषदों को दूर से ही नमस्कार करने की वृत्ति दिखाई पड़ती है। उपनिषदों का अध्ययन बहुत कम होता है और जो होता भी है वह वयोवृद्ध लोगों में भाष्यों की सहायता से तथा पंचीकरण के प्रपंच के बाद होता है। हमारे युवक जब सीधे उपनिषदों के पास जाएँगे तभी उनकी दृष्टि खुलेगी तथा विचार और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नए-नए अनुभव प्राप्त करने की शक्ति उनमें बढ़ेगी। उपनिषदों के वचन तो बिजली की कौंध जैसे हैं। उनका सम्पूर्ण अर्थ अभी तक किसी ने किया नहीं है। पाँच-पचास हजार वर्ष तक नए-नए ढंग से प्रयत्न किए जाएँ, तो भी उनमें से जानने को कुछ-न-कुछ बाकी ही रह जाएगा। प्रत्येक व्यक्ति अपने अनुभव की मदद गे नए ढंग से उपनिषदों के पास जाएगा और अनुभव से तेज बनी हुई बुद्धि से नई प्रेरणा उपनिषदों से प्राप्त करेगा। इस एक ही वचन को हम लें : 'सन्मूलाः सौम्य इमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।' इसमें सम्पूर्ण मानव-समाजशास्त्र समाया हुआ है।

'सर्वासां विद्यानां हृदयं एकायनम्'— इस वचन को पढ़ने के बाद क्या शिक्षा की सम्पूर्ण दिशा को बदलने का मन नहीं होगा ?

'हृदयेन हि रूपाणि जानाति। हृदये हि एव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्ति।' याज्ञवल्क्य के इस निरूपण को पढ़ने वाला व्यक्ति कला और आनन्द-मीमांसा को नई दृष्टि से ही समझेगा। और थोड़ा आगे जाकर जब अध्यात्म-विद्या का वही हिमालय कहता है : 'हृदयेन हि सत्यं जानाति। हृदये हि ऐव सत्यं प्रतिष्ठितं भवति।' तब तो हमें ऐसा लगे बिना नहीं रहता कि समग्र तत्त्वज्ञान की नींव ही बदलने की आवश्यकता है।

मैं तो आपको इतना ही लिखना चाहता था कि उपनिषदों का स्वतंत्र अभ्यास करने की जरूरत है। अन्धश्रद्धा से नहीं स्वतंत्र बुद्धि से और आदर की वृत्ति से। काव्य के क्षेत्र में गत पचास वर्षों में हमने अपने बालकों का खूब मार्गदर्शन किया है। अब उपनिषदों के इस भव्य काव्य में उनका मार्गदर्शन करने की जरूरत है। तभी संस्कारी शिक्षण सार्थक होगा। जानकारी चाहे जितनी दिमाग में भरें, लेकिन उतना ही करने से क्या लाभ होगा ? हृदय-परिवर्तन होना चाहिए। और हृदय-

परिवर्तन करने की शक्ति तो इन उपनिषदों के ऋषियों में ही है।
अक्तूबर १९२६

१२. नए जीवन-दर्शन
(एक पुरानी टिप्पणी)

हमारे विद्वान धार्मिकों ने यह बात निश्चित कर दी है कि जो मनुष्य प्रस्थानत्रयी की एकवाक्यता सिद्ध कर दिखाए वह आचार्य है। प्रस्थानत्रयी का अर्थ क्या ? उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता। उपनिषदों में हमारे ऋषियों के मौलिक अनुभव और मौलिक विचार हैं। ब्रह्मसूत्रों में उपनिषदों के वचनों से निथरा हुआ दार्शनिक शास्त्र है। और गीता इन्हीं उपनिषदों से तैयार किया हुआ दिव्य रसायन है। गीता उपनिषदों का अत्यन्त किन्तु संक्षिप्त जीवन-भाष्य है।

इसीलिए मूल वस्तु तो उपनिषदों में संगृहीत प्राणवान तथा प्रामाणिक अनुभवात्मक विचार ही हैं। जो मनुष्य इन सबकी एकवाक्यता सिद्ध कर सके अर्थात् इन उद्गारों में से एकरूप तथा अखंड जीवन-रहस्य निचोड़ सके, वही आचार्य है, वही जीवन-स्वामी है।

जीवन के सम्पूर्ण तत्त्वों की मीमांसा जिसमें की गई हो, एक सार्वभौम तत्त्व की कुंजी से प्रत्येक प्रश्न का हल जिसमें बताया गया हो, जो बुद्धि का समाधान करे, हृदय को सन्तोष दे, कर्म को प्रेरित करे और बुद्धि-हृदय-कर्म तीनों का समन्वय करके पुरुषार्थ के अन्त में विजयी शान्ति प्राप्त कराये वह दर्शन है। ऐसे दर्शन का द्रष्टा ऋषि है; और उसका व्यास (organiser) आचार्य है।

आज के युग में जीवन के सभी मुख्य प्रश्नों का हल निकालने वाले कुछ दर्शन प्रचलित हैं। सम्पत्ति शास्त्र ऐसा एक दर्शन है। वह मानता है और कहता है कि सम्पत्ति के प्रयोग से हर बात में सफलता प्राप्त की जा सकती है। यह दर्शन कहता है कि जो बात सम्पत्ति के क्षेत्र में नहीं आती, वह उपेक्षा के लायक है। इस उपेक्षा की सलाह के कारण यह दर्शन अधूरा या पंगु नहीं माना जा सकता। वेदान्त भी तो जगत और माया की उपेक्षा ही सूचित करता है न !

चिकित्सा शास्त्र भी एक दर्शन है। वह कहता है कि आत्मरक्षा अर्थात् शरीर तथा प्राणों की रक्षा मनुष्य का परम धर्म है। सभी प्रकार के कामोपभोग भोगने की शक्ति बढ़ा कर अधिक-से-अधिक जीना जीवन का परम पुरुषार्थ है।

राजसत्ता भी एक दर्शन है। सैन्यबल और कानून-बल उसका द्विविध साधन है। उसका विश्वास है कि दुनिया के सारे दुःखों की दवा सत्ता के योग्य उपयोग

द्वारा हो सकती है। यदि कोई सामाजिक आपत्ति दूर करनी हो या सामाजिक अभिलाषा पूरी करनी हो, तो समझदारी भरे कानून बनाने तथा उन कानूनों का व्यवस्थित अमल करने की शक्ति बढ़ाने से ऐसा किया जा सकता है।

विश्वव्यापी व्यापार तथा वस्तु-विनिमय भी दर्शन की कोटि में पहुँचने की आकांक्षा रखता है। भूख जीवन का मुख्य प्रेरक तत्त्व है। जहाँ भूख मालूम हो वहाँ उसे तृप्त करो, कि जीवन का मुख्य कार्य पूरा हुआ।

संसार का प्रत्येक धर्म तो जीवन के प्रत्येक प्रश्न का निराकरण करने के लिए ही उत्पन्न हुआ है। प्रत्येक धर्म को लगता है कि जीवन का रहस्य मैंने ही अच्छी तरह जाना है। लोग मेरा सेवन करेंगे तो उन्हें सुख अवश्य मिलेगा; अथवा जो कुछ उन्हें मिलेगा वही सच्चा सुख होगा।

आजकल कला भी सम्पूर्ण दर्शन होने का दावा करती है। दुःख की बात इतनी ही है कि कला स्वयं अपना स्वरूप नहीं जानती। कला ने हर बात को सरल, आह्लादक और अनुकुल बनाने का बीड़ा उठाया है। जो प्रश्न धर्म को कठिन-से-कठिन लगे हैं उन्हें भी अत्यन्त सरल और सुसाध्य बना सकने का जादू मेरे पास है, यह कला का एक बड़ा दावा है।

प्रत्येक दर्शन स्वयंभू सम्राट के जैसा होता है। प्रत्येक दर्शन की यह वृत्ति होती है कि वह अपनी शक्ति से सब-कुछ कर सकता है, उसे दूसरे किसी की मदद की जरूरत नहीं, वह असहाय नहीं है; किसी की मदद भी यदि वह लेता है तो उदारता दिखाने या उसे प्रोत्साहन देने के लिए ही। इस वृत्ति के बिना उसमें दर्शनत्व कैसे आ सकता है ? यहूदी लोगों के परमेश्वर की तरह प्रत्येक दर्शन द्वितीयाक्षम— लोभी ईश्वर ही होता है।

कुछ लोग प्रत्येक दर्शन से थोड़ा-थोड़ा अच्छा तत्त्व एकत्र करके अच्छाई की सम्पूर्ण सामग्री तैयार करना चाहते हैं। लेकिन दर्शन का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि वह दूसरे दर्शन के साथ मिल ही नहीं सकता। जैसे तेल और पानी एक साथ नहीं मिल सकते, शक्कर और नमक एक साथ नहीं मिल सकते, वैसे ही दो दर्शन एक साथ मिलकर नहीं चल सकते। यह भय रहता है कि दर्शनों की खिचड़ी कर देने से वे स्वयं भी बिगड़ेंगे और मानव-जीवन को भी बिगाड़ेंगे। परन्तु मनुष्य-जाति तो मानव-स्मृति के आरम्भ से ही प्रत्येक दर्शन से थोड़ा-थोड़ा अंश लेकर और उन सबको मिलकर ही अपना जीवन चलाती आई है। अश्रद्धालु मानव-जाति अपनी जिम्मेदारी एक ही दर्शन के हाथ में नहीं सौंप सकती। वह सभी दर्शनों की एक समिति नियुक्त करके अपना कामकाज उसके हाथ में सौंपती है।

ऐसा करने से मनुष्य जाति को सुविधा तो बहुत हुई, सुरक्षितता भी शायद मालूम हुई हो, परन्तु यह क्रम उन्नति की दृष्टि से ठीक नहीं है। एक-एक दर्शन के हाथ

में अपना जीवन सौप कर मनुष्य-जाति ने आज तक कितने ही प्रयोग किए हैं। परन्तु इसमें उसे सदा पछताना पड़ा है। इसमें दोष दर्शनों का नहीं है। दोष तो मनुष्य-जाति की उतावली का ही है। प्रत्येक दर्शन ने जीवन की व्यवस्था हाथ में लेने से पहले जो कौल-करार किए हैं, उनमें एक बड़ी शर्त उसने यह रखी है कि हमारा प्रयोग एकाग्रता से बहुत लम्बे समय तक किया जाना चाहिए। धैर्य की शर्त मनुष्य-जाति पाल नहीं सकी। इस कारण एक भी दर्शन की पूरी परीक्षा होने का सन्तोष न तो उस दर्शन को मिला और न मनुष्य जाति को मिला। मनुष्य-जाति को लाभ चाहिए और अन्त में सुन्दर फल भी चाहिए। आरम्भ में, मध्य में और अन्त में लाभदायक, सुखदायक और सरल हो, ऐसा कुछ उसे चाहिए। यह इच्छा चाहे जितनी स्वभाविक हो, परन्तु जीवन-धर्म के यह विरुद्ध है। धैर्य कहता है कि जिस प्रकार मध्यरात्रि के बिना सूर्योदय नहीं होता, उसी प्रकार निराशा में से निकले बिना श्रद्धा भी आशा की सुवर्ण-किरणें नही दिखा सकती।

दर्शनों के इस महान स्वयंवर में मनुष्य-जाति के हाथों से माला पहनने के लिए एक दर्शन-राज उपस्थित हुआ है। उसका नाम है विनय अर्थात शिक्षण। शिक्षण एक अद्भुत जड़ी-बूटी है, अलौकिक रसायन है, अमृत-संजीवनी है, कामधेनु है तथा कल्पलता है। शिक्षण आप जिसकी कल्पना कर सकें वह सब है, और उससे अधिक भी बहुत कुछ है। 'सत्ययुग लाने की शक्ति तो शिक्षण में ही है— ऐसा दावा शिक्षण के दर्शनकारों का है। हमें इस दर्शन के स्वरूप को, इसकी माँग को, इसके कलाकारों को, इसकी शर्तों को और इसकी फलश्रुति को ध्यान से सुनना चाहिए। सम्भव है कि यह अन्तिम राजपुत्र ही स्वयंवर में सफल हो। आज तक कोई दर्शन सफल न हुआ इसलिए शिक्षण भी सफल नहीं होगा, ऐसा अनुमान निकालने में अनुचित उतावली होने की भी सम्भावना है। जब हम हर दर्शन की बात सुनते आए हैं, तो शिक्षण की बात भी क्यों न सुनें ?

१९३१

१३. मूलभूत मनन

— And having found his instrument;
fotgets or disregards or more presumptuous still;
Denies the power that wields it.

— William Cowper

निसर्ग में बुद्धि हेतु और योजना नहीं है, ऐसा कौन कह सकता है ? जो बुद्धि मदान्ध होकर निसर्ग के बारे में ऐसा संकुचित मत रखती है, वह बुद्धि भी क्या निसर्ग की ही कृति नहीं है ?

सृष्टि में असंख्य जीव पैदा होते हैं। उन्हें पोषण मिलता है, उनका विकास होता है और उनका नाश होता है। और यह सब किसी मांगलिक नियम के अनुसार ही होता है। यह क्या बताता है ? जहाँ भी देखिए वहाँ व्यवस्था है, योजना है, औचित्य है, अनुकूलता है, सुन्दरता है, धीरज है, विकास है। यह सब महाबुद्धि के बिना सम्भव ही नहीं हो सकता। वनस्पति के जीवन और विकास की जाँच कीजिए। सूक्ष्म कीड़ों का जीवन-धर्म खोज निकालिए। तारों के विस्तार का और उनके विराट् रास (नृत्यक्रीड़ा)का ध्यान कीजिए। हृदय की गूढ़ और जटिल भावनाओं के महासागर में अवगाहन कीजिए। ज्ञात और अज्ञात सभी अदभुत है, व्यवस्थित है हेतुपूर्ण है। पत्तों का आकार, बादलों की अस्पष्ट रेखाएँ, हड्डियों की रचना, शंखों का मरोड़, पतंगों के पंख हिंसक जानवरों की भूख, श्वापदों (शिकारी जानवरों) का भय, दुष्टों के षड्यंत्र और प्रत्येक को व्यापने वाली अल्प या महानिद्रा सभी कुछ हेतुपूर्ण है। कुछ हमें पसन्द आता है, कुछ नहीं आता। कुछ से हम प्रसन्न होते हैं, कुछ से हम घबराते हैं। यह हमारा जीवन-धर्म है। हम केवल एक अंश हैं। अंश की मनोभावना से सम्पूर्ण की रचना या योजना का माप नहीं निकाला जा सकता, उसकी जाँच उसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। जैसे भूख के बिना खाना नहीं पच सकता, जैसे जिज्ञासा के बिना निरीक्षण नहीं हो सकता, जैसे अखंड जागृति के बिना उन्नति नहीं साधी जा सकती, वैसे ही नम्रता के बिना, अपनी अल्पज्ञता के भान के बिना विश्व के रहस्य की झाँकी नहीं हो सकती— इतना मानव कब समझेगा ?

जहाँ देखिए वहाँ निसर्ग में कितनी सुन्दरता है, कितनी व्यवस्था, कितनी परस्पर अनुकूलता, कितनी मितव्ययिता, कितना समंजस्य है !

तब क्या निसर्ग में उड़ाऊपन नहीं है ? है भी और नहीं भी है। यदि प्रत्येक प्रयोग में अमुक विशिष्टता हो और प्रत्येक प्राणी का अनुभव लेने वाला चैतन्य का केन्द्र अथवा व्यक्तित्व प्रत्येक प्रयोग में हो, तो फिर उड़ाऊपन कहाँ रहा ? निसर्ग में समृद्धि है, धैर्य है और बुद्धि की अनन्तता है। जितना कुछ झड़ जाता है या सूख कर गिर जाता है, असमय विनष्ट हो जाता है, अधूरा रह जाता है अथवा दूसरों का शिकार बन जाता है, वह सब क्या बेकार गया। नहीं, कभी नहीं। प्रत्येक वस्तु जिस प्रकार सकारण है उसी प्रकार सप्रयोजन भी है। निसर्ग में व्यर्थ कुछ नहीं है।

हमारी बुद्धि और निसर्ग की महाबुद्धि के बीच जाति का ऐक्य है, परन्तु ऐश्वर्य का ऐक्य नहीं; इसीलिए हम उस महाबुद्धि को समझने की हिम्मत तो कर सकते

हैं परन्तु नम्र बनकर ही वैसा करने की आशा रख सकते हैं।

और, वह महाबुद्धि भी क्या पूर्ण विकसित हुई है पूर्ण व्यक्त अथवा प्रकट हुई है। उसका नित्य विकास होता ही रहता है। उस विकास का अन्त कब होगा, यह कौन कह सकता है ? परन्तु उसका अन्त किसलिए हो ?

व्यक्ति का अथवा विश्व का जीवन प्रवाह-रूप होता है।

हम भले ही यह मानें कि यौवन में बाल्यकाल मिट जाता है और वृद्धावस्था में बाल्यकाल तथा यौवन का लोप हो जाता है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। सब अवस्थाएँ— विकास के क्रम के अनुसार हम जितनी अवस्थाओं से होकर निकले हों वे सब अवस्थाएँ— एक ही साथ हममें होती हैं। किसी कथा के अन्त तक जब हम आ जाते हैं तो क्या उसके आदि और मध्य नष्ट हो जाते हैं ? कोई राग पूरा हो जाने पर क्या उसका अस्थायी और अन्तरा नष्ट हो जाता है ? ऐसा होता तो राग का ज्ञान ही हमें नहीं होता। भूत भी वर्तमान है। नदी समुद्र में मिल जाती है, फिर भी उसका उद्गम और उसका मध्य तो बहता ही रहता है। निसर्ग की महाबुद्धि व्यक्त होती जाती है विकसित होती जाती है तो भी उसके प्राथमिक स्वरूप का अवशेष तो रहता ही है। जिस प्रकार हिन्दू धर्म में 'तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्' से लेकर अद्यतन विचारों और आचारों तक सभी के लिए स्थान है, सबका आदर है, उसी प्रकार निसर्ग सभी स्थितियों का समावेश और समन्वय है। अधिकांश स्थानों में वह स्थूल रूप में तो किसी स्थान में सूक्ष्म रूप में है।

पुरुष-सूक्त में कहा गया है कि विराट् पुरुष के असंख्य मस्तक हैं, असंख्य आंखें हैं और असंख्य पैर हैं। इसके आधार पर हमें जानना चाहिए कि विराट् पुरुष के असंख्य मन और असंख्य हृदय भी हैं, क्योंकि वह सब एकरूप है। इन अनन्त मनों में कोई भी विचार उठा, कल्पना जागी या भावना की ऊर्मि उठी कि वह किसी-न-किसी प्रकार मूर्त रूप लिए बिना नहीं रहती। इसीलिए तो मन के व्यापार पर प्रबल नियंत्रण रखना जरूरी होता है।

मैं जितने मानसिक पाप करता हूँ वे सब मेरे आचरण में भले ही न उतरें, परन्तु कहीं न कहीं तो वे आचार का रूप लेंगे ही। यह आशा व्यर्थ है कि हम किसी न किसी प्रकार अपने विचारों, अपने मनोरथों और अपनी कल्पनातरंगों को अलग या अलिप्त रख सकते हैं।

पानी में पड़ा हुआ नमक जैसे सारे पानी में फैल जाता है, आकाश में उठी हुई ऊर्मि जैसे अनन्त तक पहुँच जाती है, वैसे ही हमारी वासनाएँ विश्व में फैलती हैं और विश्व को बनाती है या उसे पीड़ा पहुँचाती हैं। केवल आचार पर रखा जाने

वाला नियंत्रण काफी नहीं है; चित् शक्ति तो हमारे संकल्प में ही रहती है। सारा विश्व और उसका एक-एक रज संकल्प-प्रभव है, इसलिए संकल्प शुद्धि ही महासाधना है। २१-४-२७

१४. ॐ-प्रणवोपासना

(एक प्रवचन)

ॐकार हमारा सर्वश्रेष्ठ एकाक्षरी मंत्र है। इसे प्रणव कहते हैं। इसका दर्शन और श्रवण गम्भीर और आह्लादक है। ऋषियों ने इस प्रणव का रहस्य बताने के लिए एक उपनिषद् का उपयोग किया है, फिर भी इसका सम्पूर्ण आकलन नहीं होता। इस ॐका अर्थ क्या है ? ॐ का अर्थ है सनातन 'हाँ'। संशय् अश्रद्धा, नास्तिकता सबको एक स्मित से ही दूर करने वाला यह प्रसन्न 'हाँ' है। ॐ कहता है: ब्रह्म है, यह जगत है, भूत-भविष्य-वर्तमान सभी हैं। इनके परस्पर सम्बन्ध के बारे में हम कैसी भी कल्पना क्यों न करें, सब कुछ है, और वह एक ही है, कुछ नहीं है, ऐसा नहीं। जहाँ ॐ है वहाँ असत्य, अभाव या संशय के लिए स्थान ही नहीं है।

वही सत्य-नारायण है। वहा हमारा प्रिय सखा है। उसके सहवास में हम सर्वत्र सुरक्षित हैं। जीवन में अनेक मार्ग हमें ललचाते हैं, हर कदम शंका से भरा होता है, सर्वोच्च आदर्श कौन-सा है— इस बारे में हम सदा उलझन में पड़े रहते हैं, प्रतिक्षण हमारे सामने धर्म-संकट आते हैं, परन्तु यदि हम इस प्रिय सखा ॐ का अथवा शुद्ध सत्य का हाथ पकड़ कर चलें, तो कहीं भी उलझन नहीं रहती। समाज-सेवा करनी है ? हाँ परन्तु सत्य का हाथ छोडकर नहीं। दान और परोपकार करना है। हाँ, परन्तु वह भी सत्य के प्रति वफादार रहकर ही। शास्त्रों की रचना करनी है? हाँ, किन्तु जहाँ तक सत्य ले जाए वहीं तक। अन्य सबका सहवास खतरों से भरा हो सकता है; परन्तु जिस प्रकार बालक के लिए परम आप्त, परम कल्याणकारी उसकी माता ही होती है, उसी प्रकार मनुष्य के लिए यह सत्य ही परम आप्त, परम कल्याणकारी होता है और सब बातें बाहरी होती हैं। उन्हें प्राप्त करना होता है या उन्हें सीखना होता है; परन्तु सत्य तो हमारी उत्पत्ति के साथ ही रहता है, वह हमसे पहले का है। बहू ससुराल के सभी लोगों की श्रद्धाभक्ति से सेवा करती है, परन्तु उसकी निष्ठा तो एक पति को ही अर्पित होती है। इसी प्रकार हम चाहे जिस क्षेत्र में कार्य करें, चाहे जो जिम्मेदारी उठाएँ, चाहे जो साधना करें, परन्तु इस प्रिय सखा सत्य को, इस सनातन साथी को छोड़कर

न करें। वह है इसलिए जगत है। वही ईश्वर है। हमारी दृष्टि अन्तर्मुख होगी तब हमें यह विश्वास होगा कि आत्मा उससे अलग नहीं है। सत्य का अर्थ केवल व्यवहार की प्रामाणिकता ही नहीं है। सत्य का अर्थ केवल यथार्थ कथन ही नहीं है। सत्य हमारे साथ पहले से ही है। जैसे-जैसे हमारी उन्नति होती जाती है, वैसे-वैसे हमें इस सत्य का सूक्ष्म और सूक्ष्मतर दर्शन होता जाता है। स्थूल अथवा सूक्ष्म सत्य के दर्शन से कोई मनुष्य वंचित होता ही नहीं। इसीलिए सबके लिए आशा है, और सबके जीवन में जिम्मेदारी है। सत्य का दर्शन ही जीवन का सार है, बाकी सब निःसार है। क्यों ? क्या आपको विश्वास नहीं होता कि बाकी सब निःसार है ? मैं सचमुच कहता हूँ कि बाकी सब निःसार है। हम उस हृदय-स्वामी को धोखा न दें। वह हमें कभी धोखा देता ही नहीं। वह कल्याणकारी है यह उसकी सुन्दरता है, परन्तु यह उसकी सिफारिश नहीं है। सत्य सत्य है, यही उसकी सिफारिश है। प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्तिम फल, अन्तिम सन्तोष ही है।

इस बात का अनुभव होने के बाद ॐ ही हमारा महाकाव्य बन जाता है। उसका जप ही हमारा अखड सन्तोष हो जाता है।

१९२४

१५. सन्तवाणी का कार्य*

आज जब कि देश में धर्म-धर्म के बीच झगडे बढ रहे हैं और चन्द लोग घबरा कर यहाँ तक कहने लगे हैं कि धर्म-मजहब की बला ही न रहे तो अच्छा, तब 'सन्तवाणी' का यह संग्रह देखकर अत्यन्त आनन्द और सन्तोष होता है। दावानल चारों ओर भडक रहा हो और बीच में वर्षा हो रही हो, तब जैसा सन्तोष होता है वैसा ही असर 'संतवाणी' का देश के सन्तप्त हृदय पर पड़ता है। लड़ाई-झगडे होते हैं धर्म के मिथ्या अभिमान मे, धर्म के नाम पर चलाये जाने वाले स्वार्थ, मत्सर और द्वेष से, अथवा अज्ञान के कारण वास्तविक भाव को छोड़कर शब्दों को दिए हुए महत्त्व के कारण। सन्त कहते हैं : धर्म कोई घर का पशु तो है नहीं, जिसका पालन-पोषण बाह्य रूप से किया जा सकता हो। धर्म तो जीवन-परिवर्तन है, नई दृष्टि को प्राप्त करना है। धर्म एक विशिष्ट कोटि का जीवन है। उस जीवन का उन्होंने प्रत्यक्ष परिचय पा लिया उन के मन में बाह्य सिद्धान्तों के झगड़े गौण हो जाते हैं। पहुँचे हुए लोगों की तो 'एक ही बात' होती

*श्री वियोगी हरि द्वारा संगृहीत 'सन्तवाणी' की प्रस्तावना।

है। 'सब साधों का एक मत, बिच के बारह बाट।'

जब देशों में धर्म-अधर्म के लड़ाई-झगड़े बढ़ गए तब इन सन्तों ने अनेक रूपों में अवतार ले लेकर धर्म का हार्द ढूँढ़ निकाला और लोगों को दिया। सन्तों में सबको सँभालने की समन्वयकारी वृत्ति थी; परस्पर स्वार्थ का मेल जमाने के लिए वह धूर्तों का किया हुआ समझौता नहीं था। सन्त में और कोई श्रेष्ठता हो या न हो, उसका प्रथम लक्षण उसकी निस्पृहता है। जो निस्पृह है वह निर्भय भी है। इसीलिए इन सन्तों ने धर्माग्रही और धर्माभिमानी कर्मकाण्डी लोगों पर कोड़े लगाने में जरा भी संकोच नहीं किया।

सन्तों के पास इस सुधार-कार्य के लिए कोई निश्चित योजना या कार्य-पद्धति नहीं थी। उन्हें पुरानी रचना तोड़ कर किसी नई रचना की स्थापना नहीं करनी थी। वे रचनामात्र को उदासीनता से देखते थे। कभी वे कहते थे कि इन ग्रन्थों में क्या खोजते हो, इनमें क्या धरा हुआ है ! ग्रन्थों को छोड़ दो। ग्रन्थों के सहारे हृदय-ग्रन्थि खुलने की नहीं। 'मसि कागज के आसरे क्यों टूटै भवबन्ध !' कभी वे कहते थे कि इन ग्रन्थों का कोई दोष नहीं। सोचने वाले लोग ही जहाँ स्वार्थी, अज्ञानी या मोहमत्त हों, वहाँ बेचारे धर्मग्रन्थ क्या करें ?

सन्तों ने सबसे बड़ा काम यह किया कि धर्म और रूढ़ि के नाम पर जो भ्रम, वहम या गलतफहमियाँ फैली हुई थीं, उनको दूर कर दिया। सम्भवत: संतों का सबसे श्रेष्ठ कार्य यही है।

लोगों के भ्रम को दूर करने के साथ-साथ उन्होंने व्यवहार-शुद्धि का कार्य भी काफी किया है। उनके जमाने में भिन्न-भिन्न जातियों में जो कुछ छल, कपट और अमानुषता थी, उसे भी दूर करने के लिए सन्तों ने काफी प्रयत्न किया है। वे सत्य के प्रचारक थे। जहाँ तक उनके जीवन का सम्बन्ध आता था, वे सत्याग्रही भी थे। किन्तु समाज की कमजोरी को तथा उसके और अपने बीच में रहने वाले अन्तर को देखकर सत्य-प्रचार से अधिक आग्रह उन्होंने नहीं रखा।

सामाजिक सुधार के बारे में भी सन्तों ने कुछ कम काम नहीं किया। छुआछूत को उन्होंने ऐसा फटकारा है कि अगर स्वार्थी ब्राह्मणों ने उनका काम बिगाड़ न दिया होता, तो छुआछूत कभी की नष्ट हो गई होती।

सन्त जानते थे कि जाति-व्यवस्था समाज के आर्थिक संगठन के लिए चाहे जितनी आवश्यक हो, परन्तु इस व्यवस्था से समाज का कल्याण और व्यक्ति का उद्धार न कभी हुआ है और न होने की सम्भावना ही है।

सन्तमत का प्रादुर्भाव यों तो अनादि काल से है, किन्तु जिस 'सन्तवाणी' का यहाँ संग्रह किया गया है उस वाणी का और उसकी परम्परा का प्रारम्भ तो शायद कबीर से ही हुआ है। कबीर ने जो कार्य किया उसकी प्रेरणा तो उन्हें स्वामी रामानन्द

से ही मिली थी। कबीर का हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के ही साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण उनमें असाधारण योग्यता आ गई थी। निर्भयता के साथ वे दोनों को फटकारते थे। दोनों को वे शुद्ध सत्य-धर्म का रास्ता दिखाते थे। आज हमारे देश में और खासकर गाँवों में जो हिन्दू-मुस्लिम-एकता दीख पड़ती है, वह सन्तों की ही बदौलत है। सन्तों ने सामाजिक नियम ज्यों-के-त्यों ही रहने दिए। वे जानते थे कि सामाजिक रूढ़ियों के पीछे विशिष्ट वर्गों के हित-अहित का भी सवाल आता है। लोगों को इन रूढ़ियों के बारे में उदासीन बना दिया, तो हमारा आधा काम हो गया। बाकी का आधा काम युग-प्रवर्तक काल स्वयं ही कर लेगा। सन्तों की इस दृष्टि में शायद दीर्घदर्शिता थी। शायद अपने सामाजिक कार्य को दृढ़ बनाने के सम्बन्ध में वे उदासीन थे। समय के प्रवाह के साथ समाज में रूढ़ि ने अपना आसन फिर से जमा लिया और उसने निश्चय किया कि सन्तों का उपदेश सन्तों के ही लिए अच्छा है। लोगों में न तो सन्तों का त्याग है और न संतों की शान्ति है।

सन्तों के कार्य में यह जो कमजोरी रह गई, उसे सन्तों की कार्य-पद्धति का दोष मानें या मनुष्य-स्वभाव के नैसर्गिक दोष का परिणाम मानें ?

सन्तों ने शास्त्र धर्म को श्रद्धांजलि देकर एक ओर रख दिया । लोकधर्म में जो अच्छा अंश उन्हें मिला उसी की उन्होंने प्रतिष्ठा बढ़ाई और अनिष्ट अंश का प्राणपण से विरोध किया। अपने अनुभव, अपने निरीक्षण और लोक कल्याण के आधार पर उन्होंने विशिष्ट सिद्धान्त-निरपेक्ष धर्म चलाया।

एक बात खास तौर से ध्यान में रखनी चाहिए। इन सन्तों की गंगोत्री तो नवनाथों के योग मार्ग में हैं। हठयोग और कीमिया का प्राधन्य उनमें बहुत था। बाद में इन दोनों चीजों की प्रतिष्ठा कम होने लगी और सुरता-साधक ध्यान-योग का महत्त्व बढ़ा। ध्यान योग चूँकि लोक-सुलभ नहीं था, इसलिए उसके साथ-साथ भक्तियोग आ गया। अनासक्ति और त्याग तो सन्तधर्म में प्रारम्भ से अन्त तक भरा ही हुआ है। हठयोग की प्रतिष्ठा सन्तों ने अपने मूक विरोध से जिस तरह कम की, उसी तरह ब्रह्मचर्याश्रम की प्रतिष्ठा भी सन्तों ने बिना किसी विरोध के कम कर दी। जो ब्रह्मचारी है वही सन्त हो सकता है— गृहस्थाश्रम सन्तों के लिए है ही नहीं, ऐसे विचार को उन्होंने धीर-धीरे नरम बनाकर सादगी, सन्तोष, अपरिग्रह और भूतमात्र के कल्याण की दयावृत्ति, इन्हीं को उन्होंने जीवन का सारसर्वस्व बताया।

संतों के प्रभाव से हमारा राष्ट्रीय चारित्र्य बहुत ही ऊँचा उठा, जिसमें कोई सन्देह ही नहीं। किन्तु आजकल सन्तमत के प्रचार के बारे में एक शिकायत बार-बार उठती हैं। वह यह कि सन्तों ने लोगों में जो सन्तोष-वृत्ति और अनाग्रह पैदा किया उसी का नतीजा है कि लोगों में लोक-जीवन के बारे में अनुत्साह पैदा हो गया। सन्तवाणी का अधिक प्रचार हुआ सिक्खों में, वैष्णवों में और महाराष्ट्र के

वारकरी लोगों में। सन्तमत के और सन्तवाणी के प्रचार के गुण-दोष इन लोगों के जीवन से निश्चित करने का मोह ऐतिहासिकों को अवश्य होगा, किन्तु ऐसा करना उचित नहीं है। प्राचीन काल से मनुष्य ने अपने सामाजिक गुण-दोषों के अनुसार अपने धर्म को समझा और अपनी संकुचित दृष्टि के अनुसार उसका पालन किया। जो कायर हैं वे अहिंसा की ढाल के पीछे रहकर अपनी कायरता को ढाँक देते हैं, परन्तु इससे अहिंसा-धर्म कायरों का धर्म सिद्ध नहीं होता।

भाषा की दृष्टि से भी सन्तों की सेवा कुछ कम नहीं है। सन्तों ने तो भाषा की एक टकसाल ही खोल दी है, जिसमें से नई-नई किस्म की अशर्फियाँ नित्य ढल-ढलकर निकलती रहती हैं। बन्दूक की गोली की तरह सन्तवाणी सीधे मनुष्य के हृदय तक पहुँच कर एक क्षण के भीतर उसकी मरी हुई धर्मबुद्धि को पुनर्जीवित कर देती है। सन्तों की वाणी अनेकार्थी, जन-मनोहर, अल्पाक्षर, मधुर और सत्यपूर्ण होती है। उनकी शैली निश्चयात्मक होती है, क्योंकि वह जीवन-मूलक होती है; इसी कारण वह लोक-सुलभ भी होती है। सन्तवाणी किसी भी राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ पूँजी है। वह वाणी का विलास नहीं, किन्तु जीवन का निचोड़ है, इसी लिए वह जीवित और अमर होती है। सन्तवाणी ऐसी स्वर्गीय गंगा है, जिसमें स्नान-पान करने से लोक-जीवन पवित्र, समृद्ध, समर्थ और स्वतंत्र हो जाता है।

भिन्न-भिन्न सन्तों के वचनों का ऐसा संग्रह करना दीर्घकाल के संकल्प और प्रयत्नों का फल होता है। उसके पीछे जो परिश्रम किया जाता है, उसके साथ-साथ जो अपूर्व आनन्द मिलता है, वही उस परिश्रम का मधुर फल है। इस संग्रह के पठन-पाठन से जो आनन्द होता है, उससे कहीं बढ़कर संग्रहकार को इन रत्नों का चुनाव करने में आनन्द हुआ होगा।

संग्रह करने के बाद संग्रहकार ने जिन भिन्न-भिन्न शीर्षकों के नीचे इनका वर्गीकरण किया है, वे शीर्षक ही सन्तमत का रहस्य बताने के लिए समर्थ हैं।

संग्रह के साथ-साथ आधुनिक हिन्दी गद्य में संग्रह का जो भावार्थ (paraphrase) संग्रहकार ने दिया है, उसमें उनकी कवित्व-शक्ति भी प्रकट होती है। इसे पढ़ते समय गद्यकाव्य का रसास्वाद मिल जाता है।

मुझे विश्वास है कि जिन लोगों की जन्मभाषा हिन्दी नहीं है उन्हें यह भावार्थ बड़ी सहायता पहुँचायेगा। अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषाएँ बोलने वाले हम हिन्दी-प्रेमियों का यह विशेष कर्तव्य है कि हम अपनी-अपनी भाषाओं के सन्तों की सूक्तियों का ऐसा ही संग्रह संकलित कर उसे नागरी अक्षरों में छपवा दें और हिन्दी में उसका अनुवाद भी दे दें। वियोगी जी की गद्यकाव्य की शक्ति हर एक भाषान्तरकार में शायद न हो, किन्तु कवियों की वाणी का तेज और उसकी मधुरिमा अपने कर-भार से राष्ट्रभाषा को समृद्ध किए बिना नहीं रहेगी।

१६. सत्य-नारायण का व्रत

१
प्रास्ताविक

स्वामी विवेकानन्द ने अपने 'उद्बोधन' में कुछ सुन्दर कथाएँ और आनन्दप्रद शब्दचित्र दिए हैं। उनमें एक यह भी है :

"सनातन हिन्दू धर्म का मन्दिर गगन-स्पर्शी है। उस मन्दिर में जाने के मार्ग भी कितने हैं ! और उस मन्दिर में क्या नहीं है ? वेदान्तियों के निर्गुण ब्रह्म से लेकर ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, दुर्गा, सूर्य नारायण और चन्द्रमा तक तथा चूहे पर सवार गणेश से लेकर ठेठ छठी, शीतला जैसे छोटे-बड़े देवी-देवताओं तक सभी कुछ है। और वेद, वेदान्त, दर्शन, पुराण, तंत्र आदि में इतना माल भरा है कि उनमें से एक ही चीज से हमारा भव-बन्धन टूट सकता है। और उस मन्दिर के सामने लोगों की भीड़ भी कितनी बड़ी है ! तैंतीस करोड़ लोग उस मन्दिर की ओर दौड़ते हैं।

"हमारे मन में भी कुतूहल पैदा होने से हम पैदल चले गए। लेकिन जाकर देखते हैं तो स्तब्ध रह जाते हैं। मन्दिर के भीतर कोई जाता ही नहीं। दरवाजे पर पचास सिर, सौ हाथ, दो पेट और पचास पैरों वाली एक मूर्ति खड़ी है और सब लोग उस मूर्ति के पैरों के पास लोट रहे हैं। एक आदमी से हमने पूछा: 'यह है क्या ?' उसने कहा : 'उस मन्दिर के भीतर जो देवी-देवता दिखाई देते हैं उन्हें आप दूर से ही नमस्कार करें और उन पर एक दो फूल फेंक दें, तो उनकी बहुत पूजा हो गई। लेकिन सच्ची पूजा तो इस दरवाजे पर खड़े देव की ही करनी चाहिए। और यह जो आप वेद, वेदान्त, दर्शन, पुराण, शस्त्र सब देखते हैं, उनका प्रसंगवश श्रवण करें तो कोई हर्ज नहीं। लेकिन आज्ञा तो आपको इस देव की ही माननी चाहिए।'

"हमने दुबारा पूछा: 'तो इस देवाधिदेव का नाम क्या है ?'

"उत्तर मिला : 'लोकाचार यानी रूढ़ि।'"

इस छटादार शब्दचित्र में स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म का व्यावहारिक रूप दिखाया है। यह स्थिति केवल हिन्दू धर्म की ही है, ऐसा नहीं । सारे संसार में सभी धर्मों की यह स्थिति है। शास्त्र की प्रगति तर्क के अनुसार हो सकती है, परन्तु लोकाचार तो हृदय का प्रवाह जिस दिशा में बहे, उसी दिशा में बहता है। ईसाई धर्म और इस्लाम में कितने ही संस्कार और प्रथाएँ उन धर्मों के सिद्धान्तों से भिन्न हैं। भारत में द्विज और अद्विज जैसा समाज का बड़ा भेद होने से शास्त्र धर्म तथा प्राकृत धर्म के दो स्पष्ट भेद पड़े हुए हम देखते हैं। हर समय धर्म-सुधारकों ने प्राकृत धर्म को सुधार कर उसे संस्कृत धर्म बनाने का प्रयत्न किया है। रूढ़धर्म और उसकी रूढ़ियों की निन्दा करने में ही हमने

अभी-अभी अनेक वर्ष बिता दिए, परन्तु हमारे ध्यान में यह बात नहीं आई कि रूढ़धर्म के पीछे राष्ट्रीय प्राण होते हैं। देश के दोष और देश की विशेषताएँ, देश की शक्ति और देश की अशक्ति इस रूढ़धर्म के ही ऋणी होते हैं। किसी देश का शास्त्रधर्म केवल उस देश के आदर्श अथवा सर्वोच्च महत्त्वाकांक्षा को बताता है, परन्तु देश की सच्ची स्थिति तो रूढ़धर्म से ही समझी जा सकती है। समाज जब बहते पानी की तरह पुरुषार्थी और स्वच्छ होता है तब शास्त्रधर्म पत्थर जैसा कठोर बना हुआ नहीं होता और रूढ़धर्म भी अपमानित नहीं होता। समाज में उच्च वर्ग और सामान्य वर्ग जब परस्पर मिल-जुलकर रहते हैं तब शास्त्रधर्म की उदारता झर-झर कर रूढ़ धर्म में उतर आती है और जिस प्रकार कमल को कीचड़ से पोषण मिलता है उसी प्रकार शास्त्रधर्म को रूढ़धर्म से नित-नया भोजन मिलता है। शास्त्रधर्म का तर्कशास्त्र बहुत तीक्ष्ण होता है; शास्त्रधर्म का मानस शास्त्र बहुत सूक्ष्म होता है। परन्तु रूढ़धर्म बहुत भोला होता है। वह मानव-स्वभाव की गहरी परीक्षा नहीं करता। शास्त्रधर्म ब्रह्मदेव की तरह हंस-वाहन होता है, जब कि रूढ़धर्म 'बहुचराजी माता' की तरह कुक्कुट-वाहन होता है। शास्त्र के हंस को तत्त्वरूपी मोती मिलते हैं या नहीं, यह कहना कठिन है; परन्तु रूढ़ि के कुक्कुट को बहुत घूमने वाला होने के कारण भले-बुरे संस्कारों के रूप में दाने खूब मिलते हैं।

आजकल यूरोप में संस्कारी लोगों का ध्यान 'एन्थ्रोपोलॉजी' अथवा मानव वंश-शास्त्र की ओर अधिक है। उसका प्रभाव भारत में भी पड़ा है। यहाँ के विद्वान शास्त्रों से बाहर के हिन्दू संस्कारों और रीति-रिवाजों का अध्ययन करने लगे हैं। बंगाल में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बाउल सम्प्रदाय के साहित्य की ओर लोगों का ध्यान खींचा है। मैसूर में मिथिकल सोसायटी ने तथा बम्बई में सर नारायण चन्दावरकर ने लोकरूढ़ियों की दृष्टि से हिन्दू धर्म का रहस्य खोजने का प्रयास आरम्भ किया है। यूरोप के मानववंश-शास्त्री मुख्यतः ऐसे साधनों के बारे में टिप्पणियाँ लिखने का तथा भिन्न-भिन्न देशों में प्रचलित मान्यताओं की तुलना का कार्य करते आए हैं।

संस्कारी सनातन धर्म का रूढ़धर्म भी बड़ा संस्कारी है। उसका अध्ययन बिलकुल अलग ढंग से होना चाहिए। हिन्दू समाज के नेताओं की दृष्टि पहले से ही इस रूढ़धर्म की ओर होने से उन्होंने रूढ़धर्म के स्वतंत्र प्रवाह को किसी भी तरह रोका नहीं और पहले से ही उसे संस्कारी बनाने का शुभ प्रयत्न आरम्भ कर दिया था। उन्होंने रूढ़धर्म के देवी-देवताओं को पंचायतन के अवतार बना डाला, उनमें से मुख्य देवी-देवताओं को राष्ट्रीय त्योहारों में स्थान दे दिया, मांस के बदले में उड़द का आटा या भूरा कुम्हड़ा रख कर हिंसक संस्कारों को अहिंसक बना दिया और इस प्रकार सारी जनता को उन्नति-मार्ग दिखाया।

रूढ़धर्म में बहुत बड़ी शुद्धता खोजना ही भारी भूल है। लोगों का जैसा स्वभाव है उसी को स्वीकार करके उसमें उन्नति का एकाध बीज बो देने का, लोक-जीवन

में अहिंसा की एकाध काव्यमय छटा बढ़ा देने का ही काम उसमें किया जा सकता है। इसी दृष्टि से हिन्दू शास्त्रकारों ने रूढ़धर्म पर कौन से और कितने संस्कार चढ़ाए हैं और उनकी वजह से आज का हिन्दू जीवन कितना संस्कारी तथा काव्यमय बन गया है, इसकी हमें संस्कृति की दृष्टि से जाँच करनी चाहिए। भगिनी निवेदिता ने इस प्रकार का अध्ययन बहुत किया है। फील्डिंग हॉल ने ब्रह्मदेश के बारे में इसी तरह के अनेक लेख लिखे हैं। किन्केड साहब ने ऐंग्लो-इंडियन पद्धति से इस दिशा में बहुत लिखा है। परन्तु हम इतने से कभी सन्तोष नहीं कर सकते। हमें प्रत्येक त्योहार, प्रत्येक रिवाज और प्रत्येक संस्कार की जाँच करनी चाहिए और यह खोज निकालना चाहिए कि उसमें कौन-सा रहस्य रखने का प्रयत्न किया गया है। रूढ़ियों में दोष देखना कठिन नहीं है। परन्तु सत्य की शुभ दृष्टि गुण-विवेचन से सन्तोष नहीं मानती; वह तो रहस्य जानना चाहती है। ऐसी ही दृष्टि से अपने देश के प्रचलित व्रतों तथा उत्सवों का अध्ययन हम करना चाहते हैं। इसका आरम्भ हम गुजरात और महाराष्ट्र में लोकप्रिय तथा तुलना में अत्यन्त नवीन व्रत— सत्य नारायण के व्रत से करते हैं।

२
व्रत-रहस्य

सत्या परता नाहीं धर्म।
सत्य तेंचि परब्रह्म।।*
— मुक्तश्वर

सत्य-नारायण का व्रत इस प्रान्त में तथा महाराष्ट्र में अत्यन्त लोकप्रिय है। धर्मशास्त्रों में इस व्रत का स्थान नहीं है, परन्तु रूढ़धर्म में सत्यनारायण-व्रत का स्थान ऊँचा है। लोगों की यह मान्यता है कि इस व्रत से इष्ट-कामना सिद्ध होती है। इस व्रत में सत्य-नारायण की पूजा, कथा का श्रवण तथा प्रसाद का भक्षण— ऐसे तीन मधुर विभाग हैं। कदाचित इसी कारण से इस व्रत के पीछे सत्य की जो महिमा है वह ढँक गई है। उस महिमा की ओर लोगों का ध्यान खींचने का यह एक अल्प प्रयत्न है।

इस रहस्य को पढ़ने से पहले जिन लोगों को सत्य-नारायण की कथा याद न हो, उन्हें यह कथा जान लेना जरूरी है।

धर्म मानव-हृदय की अत्यन्त उच्च वृत्ति है और वह मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को व्याप्त किए रहती है। हमारा जीवन उत्तम, सामान्य अथवा हीन होता है; धर्म

*सत्य से भिन्न कोई धर्म नहीं है। सत्य ही परब्रह्म है।

को भी हम ऐसा ही रूप देते हैं। बुद्धि-प्रधान तार्किक लोग धर्मवृत्ति को तत्त्वज्ञान का दार्शनिक रूप देते हैं; प्रेमल नम्र लोग उसे उपासना का रूप देते हैं; कर्म-प्रधान कला-रसिक लोग पूजा-अर्चना आदि तांत्रिक विधि द्वारा ही धर्म के उच्च सिद्धान्तों का आकलन कर सकते हैं।

धर्माचरण के फल के बारे में भी यही सिद्धान्त लागू होता है। धर्माचरण का फल आन्तरिक, अन्तःस्थ और उच्च होता है। यह बात जिन लोगों के ध्यान में नहीं आ सकती, उनके सन्तोष के लिए पौराणिक कथाओं द्वारा बाह्य फल बताना पड़ता है। धर्म के तत्त्व कितने ही ऊँचे क्यों न हों, परन्तु यदि उन्हें समाज में रूढ़ करना हो तो उन्हें समाज की भूमिका तक नीचे उतारना ही पड़ता है। भगवान तथागत (बुद्ध) ने जिन तत्वों का उपदेश किया, वे उच्च, उदात्त और नैतिक थे; परन्तु जब उन्हें देवी-देवता, पूजा-अर्चना, मंत्र-तंत्र आदि का तांत्रिक स्वरूप देकर महायान पंथ अवतरित हुआ तभी वे तत्त्व अथवा उनका अंश आधे एशिया के गले उतरा। सत्य-नारायण का व्रत इसी प्रकार का एक ताजा उदाहरण है। एक पुराण-धर्माभिमानी शास्त्री ने कहा था कि सत्य-नारायण का व्रत पिछले १०० वर्षों में ही अस्तित्व में आया है। गुजरात और महाराष्ट्र के बीच के व्यापार का और छोटे-छोटे राज्यों का स्मरण जब ताजा था उस समय यह व्रत शुरू हुआ होगा। परन्तु इस व्रत के विस्तार और लोकप्रियता को देखते हुए यह कहना गलत नहीं होगा कि इस व्रत में लोगों के हृदय में बसने वाले धर्म का रूप सुन्दर ढंग से देखने को मिलता है।

दुनिया का अधिकतर व्यवहार मामूली लोगों के हाथ में होता है। सत्य पर आम लोगों की तात्त्विक श्रद्धा बहुत कम होती है। संसार में चाहे जैसा नुकसान सहन करने जितना पौरुष सामान्य लोगों में नहीं होता। सत्य-असत्य का कोई भी विचार किए बिना क्षणिक और प्रत्यक्ष लाभ के लिए लोग वचन-भंग करते हैं, नियम तोड़ते हैं, झूठे को सच्चा कर दिखाते हैं। कामना की सिद्धि के लिए सत्य के साथ समझौता करने वाले जैसे अज्ञानी लोगों में सत्य की लगन कैसे लगाई जाए और सत्य के सेवन से ही अन्त में सारी कामनाएँ सिद्ध होती हैं यह श्रद्धा अज्ञानी लोगों के मन में कैसे बैठाई जाए, यह एक विकट सनातन प्रश्न है। साधु-सन्तों ने, कानून बनाने वालों ने तथा समाज के नेताओं ने अनेक तरह से इस दिशा में प्रयत्न करके देख लिया है। सत्यनारायण व्रत के प्रवर्तक ने अपनी शक्ति और मति के अनुसार सत्य-नारायण की पूजा तथा कथा के द्वारा इस प्रश्न को हल करने का प्रयत्न किया है।

सत्य-नारायण की पूजा को लोगों में प्रचलित करने से दो उद्देश्य सिद्ध हुए हैं। लोग सत्य का सेवन या पालन करें, यह पहला उद्देश्य; सत्य की महिमा का समाज में निरन्तर गान हो, यह दूसरा उद्देश्य। इस पूजा को उत्सव का नाम नहीं दिया,

परन्तु व्रत कहा है— यह बात भी यहाँ ध्यान में रखने जैसी है। उत्सव में हम किसी भूतकालीन घटना का या किसी धार्मिक तत्त्व का उत्साह के साथ सहर्ष स्मरण करते हैं, जब कि व्रत में हम अपने जीवन को अधिक ऊँचा बनाने के लिए कोई-न-कोई दीक्षा ग्रहण करते हैं।

सत्य-नारायण की कथा सुनने से और स्वादिष्ट प्रसाद खाने से सत्य-नारायण का उत्सव हुआ माना जाएगा, लेकिन उसे व्रत नहीं कहा जा सकता। जिसे सत्य-नारायण का व्रत करना हो उसने स्वयं हर समय, हर स्थान पर और हर अवसर पर सत्य के आचरण की ओर मौका मिलने पर सब लोगों को सत्य का महत्त्व समझाकर सत्य का कीर्तन करने की दीक्षा ली हो तो ही उसे सत्य-नारायण का व्रत करने का पुण्य मिल सकता है।

दुनिया में सभी लोग सामर्थ्य और सम्पत्ति की अभिलाषा रखते हैं। धर्म कहता है : 'भूतदया तथा सत्याचरण द्वारा ही तुम्हें सच्चा सामर्थ्य और संपत्ति मिल सकेगी।' पुराणों ने यही सिद्धान्त एक सुन्दर रूपक द्वारा हमारे मन पर बैठाया है। पुराण कहते हैं: सामर्थ्य और सम्पत्ति अर्थात् शक्ति और लक्ष्मी, क्रमशः कल्याण की इच्छा तथा सत्य अर्थात शिव और सत्य-नारायण के अधीन रहती है; क्योंकि शक्ति शिव की पत्नी है और लक्ष्मी सत्य-नारायण की पत्नी है। पति की आराधना यदि तुम करो तो पत्नी जरूर तुम पर अनुग्रह करेगी।' इस प्रकार धन, धान्य, सन्तति, संपत्ति आदि ऐहिक लक्ष्मी की इच्छा रखने वाले लोगों से इस व्रत में सत्य की अर्थात सत्य-नारायण की आराधना करने को कहा गया है।

हिन्दू धर्म में तथा हिन्दू नीतिशास्त्र में सत्य का व्यापक अर्थ किया गया है। श्री वेदव्यास ने महाभारत में सत्य के तेरह अर्थों की कल्पना की है। हिन्दू शास्त्रों और पुराणों को उलट कर देखें तो हमें मालूम होगा कि परस्पर सर्वथा भिन्न तीन वस्तुओं का समावेश सत्य शब्द में होता है।

पहली वस्तु: सत्य का अर्थ है यथार्थ कथन। जो बात जैसी हो, जिस रूप में हम जानते हों अथवा जिस रूप में हुई हमने देखी हो, जिस रूप में हमने उसे समझा-बूझा हो उसे वैसी ही यथातथ कहना सत्य है।

दूसरी वस्तुः सत्य का अर्थ है 'ऋतम्,' सृष्टि का नियम अथवा किसी भी महाकार्य का विधान। 'सत्य से ही सूर्य उगता है,' 'सत्य से ही हवा चलती है,' 'सत्य से ही पृथ्वी विश्व को (सबको) धारण करती है,' 'सत्य से ही यह लोक चलता है,' 'सत्य ही यज्ञ की प्रतिष्ठा है'— इत्यादि शास्त्र-वचनों में सत्य का अर्थ होता है। ऐसा नियम, जिसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता ।

तीसरी वस्तुः सत्य का अर्थ है प्रतिज्ञा-पालन। सत्य का अर्थ है यह टेक कि एक बार मुँह से निकले हुए बोल का पालन होना ही चाहिए, ऐसी टेक कि एक

बार मुँह से निकाला हुआ वचन हमें निगल नहीं जाना चाहिए । इस सत्य के लिए ही कर्ण ने अपने कुंडल इन्द्र को दे दिए, इस सत्य के लिए ही राम वनवास को गए, इस सत्य के लिए ही हरिश्चन्द्र ने अपने राज्य का दान कर दिया । यहाँ तक कि मातृभक्त पाँच पांडवों ने माता के वचन को सत्य सिद्ध करने के लिए द्रौपदी के साथ विवाह करने का निन्दनीय माना जाने वाला कर्म भी किया।

(आज हमारी सत्य और वफादरी की कल्पना अधिक विशुद्ध हो गई है। अपने पुत्र क्या प्राप्त करके लाए हैं यह जाने बिना ही 'पाँचों भाई समान रूप में बाँट लो' माता के मुख से निकले हुए इस वचन को सत्य सिद्ध करने के लिए आज यदि कोई पाँच भाई एक स्त्री से विवाह करने लगें, तो हम उन्हें सत्यद्रोही मूर्ख ही कहेंगे। सपने में ब्राह्मण को दिए हुए अपने वचन को सच्चा सिद्ध करने के लिए प्रजा के स्वामित्व का सम्पूर्ण अधिकार यदि प्रजा पर घोर अन्याय-अत्याचार करने वाले किसी तामसी ब्राह्मण को कोई राजा सचमुच दे दे, तो आज हम उसे राजधर्म से भ्रष्ट, श्रद्धाजड़ और पामर की कहेंगे। खैर, यहाँ तो हम प्राचीन कल्पनाके अनुसार सत्य-नारायण की कथा का रहस्य समझना चाहते हैं।)

जन-समुदाय में खास तौर पर दो वृत्तियाँ प्रबल होती हैं : लोभ और भय। इन दो वृत्तियों का लाभ उठाकर सत्य-नारायण की कथा रचने वाले ने सत्य की महिमा गाई है। सत्य का सेवन और कीर्तन करो, इससे तुम्हें सन्तति, सम्पत्ति आदि सारी बातें मिल जाएँगी, तुम्हारे संकट दूर होंगे और तुम्हारी मनोकामना परिपूर्ण होगी— यह हुआ लोभ। सत्य को भूलोगे, सत्य को छिपाओगे तो तुरन्त ही तुम्हारे बाल-बच्चे मर जाएँगें, तुम्हारा धन-धान्य नष्ट हो जाएगा, तुम्हारा जमाई डूब मरेगा; राजा यदि अन्याय से किसी को जेल में बन्द करेगा, तो उसकी सत्ता नष्ट हो जाएगी और उस पर सब तरह के संकट आ पड़ेंगे— यह हुआ भय।

सत्य का व्रत सबके लिए एक-सा फलदायी है। सत्य-पालन सब वर्णों का धर्म है, यह दिखाने के लिए इस कथा में ब्राह्मण, राजा, वैश्य, ग्वाले और लकड़हारे को लाया गया है। ऐसा लगता है कि ऊपर बताए हुए सत्य के तीनों अर्थ सत्यव्रत में स्वीकार किए गए हैं। वैश्य साधु और उसका जमाई, की हुई प्रतिज्ञाओं को भूल जाते हैं, इसलिए उन पर सत्यदेव का कोप होता है। उसके फलस्वरूप चन्द्रकेतु राजा उनके विरुद्ध हो जाता है। इन अभागे ससुर-जमाई की स्त्रियों के हृदय में प्रतिज्ञा-पालन की धर्मबुद्धि जाग्रत होती है इस कारण तुरन्त चन्द्रकेतु राजा के हृदय में भी न्यायबुद्धि जाग्रत होती है। साधु और उसका जमाई चोरों के डर से दंडी साधु के सामने झूठ बोलते हैं, इसलिए हमारे कथाकार— इस असत्य भाषण से उनका सर्वस्व नष्ट हो गया ऐसा उनका अनुभव देकर— विनाश के भय द्वारा उन्हें सत्यनिष्ठ बनाते हैं। कलावती पति-दर्शन के मोह के कारण सत्यनारायण-व्रत के नियम को

भंग करती है। तुंगध्वज राजा अपने उच्च वर्ण के गर्व से सत्ता के मद से सत्य का अनादर करता है। इसलिए कलावती का पति और तुंगध्वज राजा का राज्य नष्ट हो जाता है। परन्तु कलावती का मोह और राजा का मद नष्ट होते ही उनका सौभाग्य उन्हें फिर प्राप्त हो जाता है। यह दिखाकर कथाकार लोगों से कहते हैं : भाइयो जो सच हो वही बोलो; अपना वचन मत तोड़ो तथा समाज और प्रकृति के सर्वव्यापी नियमों को मत तोड़ो, उनका उल्लंघन मत करो। इस प्रकार आचरण करोगे तो तुम्हारा ऐहिक और पारलौकिक कल्याण अवश्य होगा, क्योंकि जो मनुष्य सत्य का पालन करता है वह :

सर्वान् कामान् अवाप्नोति
प्रेत्य सायुज्यम् आप्नुयात्।

इस लोककाव्य में सत्य को सर्व-संग-परित्यागी दंडी का रूप दिया गया है। यह भी ध्यान में रखने जैसी बात है। इसमें कवि ने बड़े सुन्दर ढंग से यह सूचित किया है कि सत्य का अनुसरण करके चलने से समस्त वासनाएँ नष्ट होकर मनुष्य में संन्यास की वृत्ति दृढ़ होती है और सत्य का आचरण करने वाले मनुष्य में आन्तरिक वृत्तियों तथा बाह्य समाज का नियमन या दंडन करने की दंडी-शक्ति उत्पन्न हो जाती है। सत्य-नारायण की पूजा में सत्य के स्वरूप तथा महिम को प्रकट करने वाले कुछ अत्यन्त उदात्त श्लोक हैं। उन्हें यहाँ देकर श्री सत्य-नारायण की यथामति की हुई इस उपासना को मैं पूरा करूँगा।

नारायणः त्वमेवासि सर्वेषां च हृदि स्थितः।
प्रेरकः प्रेर्यमाणानां त्वया प्रेरितमानसः।।
त्वदाज्ञां शिरसा धृत्वा भजामि जनपावनम्।।
नानोपासनमार्गाणां भावकृद् भावबोधकः।।
त्वदधिष्ठानमात्रेण सैव सर्वार्थकारिणी।
तामेव त्वां पुरस्कृत्य भजामि हितकाम्यया।।
न मे त्वदन्यः त्रातास्ति त्वदन्यं न हिं दैवतम्।
त्वदन्यं न हि जानामि पालकं पुण्यरूपकम्।।
नमस्ते देवदेवेश नमस्ते धरणीधर।
त्वदन्यः कोऽत्र पापेभ्यः त्रातास्ते जगतीतले।।

'वांछितार्थ-फलप्रद' इस श्री सत्यानारायण-व्रत का और कथा का रहस्य जो पढ़ेगा उसी को श्री सत्य-नारायण का कृपा-प्रसाद मिलेगा। यह संस्कृत भाषा में लिखा हुआ नहीं है अथवा आधुनिक है, ऐसा मानकर यदि कोई इसका अनादर करेगा, तो उसका सत्यनारायण-व्रत निष्फल जाएगा। परन्तु यदि कोई मनुष्य ध्यान और मनन के साथ इसे सुनकर सत्य-नारायण के व्रत का आचरण करेगा, तो वह :

सर्वदुःखेभ्यो मुक्तो भवति मानवः।
सर्वपापविनिर्मुक्तो दुर्लभं मोक्षमाप्नुयात्।।
इह सद्यः फलं भुक्त्वा परत्रे मोक्षमाप्युनात्।
धनधान्यादिकं तस्य भवेत् सत्यप्रसादतः।।
दरिद्रो लभते वित्तं,बद्धो मुच्येत बन्धनात्।
भीतो भयात् प्रमुच्येत सत्यमेव न संशयः।।

कलियुग में कोई भी मनुष्य चाहे ज़ैसी भली-बुरी कामनाएँ सिद्ध करने के लिए सत्य-नारायण का व्रत करने लगा। यह देखकर श्री महादेव ने फलप्राप्ति के मार्ग में एक मेख और चटखनी डाल दी है :

जो मनुष्य जितेन्द्रिय और सत्यवादी होगा, वही उसे उखाड़ कर इस व्रत के फल का द्वार खोल सकेगा। 'इति शम्'

१७. गजेन्द्र-मोक्ष

ईश्वर हमारा परम पिता है यह तो सब लोग मानते हैं, परन्तु हम सब भाई-भाई हैं इस बात का विश्वास सबको नहीं होता। सर्वोदय में विश्वास करने वाला सत्याग्रही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का नियम पालने वाला होता है, इसलिए कोई मनुष्य उसका शत्रु नहीं होता। इसका यह अर्थ नहीं कि कोई सत्याग्रही के प्रति शत्रुता नहीं रखता। उसके अनेक शत्रु हो सकते हैं। धर्म के अनुसार चलने वाला प्रत्येक मनुष्य अधर्म का आचरण करनेवाले मनुष्य के मार्ग में विघ्नरूप बनता मालूम होता है! फिर भी सत्याग्रही अपने मन में किसी के लिए प्रेम के सिवा दूसरा कोई भाव नहीं रखता। जब वह अपने भाई को कुवासना के वश हुआ देखता है तब प्रेम से उसका विरोध जरूर करता है। समय आने पर प्रेम कठोर हो सकता है। प्रेम में दुर्बलता की या मोह की मृदुता नहीं होती। परन्तु सत्याग्रही विरोध करते हुए भी अपने भाई का भला ही चाहता है और अपना विरोध वह खुद कष्ट सहकर ही प्रकट करता है। जिस विरोध के मूल में प्रेम रहता है, वह हमेशा सफल ही होता है। इसमें देर भले ही लगे, परन्तु विजय तो प्रेम की ही होती है। सच पूछा जाए तो इसमें विरोधी पक्ष की भी विजय होती है। वह बेचारा जिस कुवासना से घिरा हुआ रहता है उससे वह मुक्त हो जाता है— उसमें से वह अपनी आत्मा को फिर प्राप्त कर लेता है। यह भी एक असाधारण विजय है। सत्याग्रह का युद्ध धर्मयुद्ध होता है। इसलिए उसका परिणाम सदा सबके लिए शुभ और मंगलमय ही होता है। जब दो आदमी

परस्पर विरोधी स्वार्थ के वश होकर लड़ते हैं तब एक की जीत और दूसरे की हार होती है; ईश्वर तटस्थ रहकर देखता है और कर्म का नियम झगड़े का निबटारा कर देता है। परन्तु जब एक पक्ष स्वार्थ को छोड़कर धर्म का आधार लेता है तब परमात्मा स्वयं उसका पक्ष लेता है, क्योंकि परमात्मा सदा सत्य का पक्षपाती होता है। कठिन काम तो है स्वार्थ को छोड़कर धर्म का पालन करना। ईश्वर धर्मनिष्ठ मनुष्य की परीक्षा भी कुछ कम नहीं करता। ईश्वर की नीति धर्मनिष्ठ तथा उसका विरोधी— दोनों का हित करने की होती है। इस कारण धर्म-संग्राम की अवधि भी बहुत लम्बी होती है। धर्मनिष्ठ पक्ष जब निष्पाप बन जाता है तभी उसे सफलता मिलती है और सफलता का मुख्य भाग तो यह है कि विरोधियों का विरोध शान्त हो जाता है और दोनों फिर से पहले जैसे एकप्राण भाई-भाई बन जाते हैं। यही सिद्धान्त पुराणों में 'गजेन्द्र-मोक्ष' की कथा में बताया गया है।

इन्द्र के दरबार में हाहा और हूहू नाम के दो गवैये भाई थे। उनके हृदय में जब तक मत्सर ने प्रवेश नहीं किया तब तक वे हिल-मिलकर रहते थे। परन्तु दोनों के दुर्भाग्य से उनके मन में स्पर्धा बढ़ गई। दोनों के मन में यह भाव उत्पन्न हुआ कि 'मैं ही श्रेष्ठ हूँ, इसलिए श्रेष्ठ स्थान मुझे मिलना चाहिए। इन्द्र ने दोनों को समझा कर कहा : 'ईश्वर के यहाँ सब समान हैं । मैं तो तुम दोनों में कोई भेद नहीं देख पाता।' फिर भी उन गवैयों को सन्तोष नहीं हुआ। अन्त में इन्द्र ने दोनों भाइयों को देवल ऋषि के पास भेज दिया। देवल ऋषि महाज्ञानी थे, त्रिकालदर्शी थे। लेकिन पूर्णज्ञानी प्रायः मौन ही रहता है। ऋषि का मौन देखकर ईर्ष्या और मत्सर से भरे हुए दोनों गवैये कहने लगे : 'बिल्कुल मूर्ख है कुछ भी नहीं समझता'। मुनि ने मौन तोड़कर दयाभाव से कहा : 'तुम दोनों कैसे मूर्ख हो ! स्पर्धा और असूया से तुम्हारे दिमाग सड़ गए हैं। तुम्हारे भाग्य में क्या लिखा है, यह तुम नहीं जानते। जानते होते तो इतना मत्सर न रखते । परमात्मा ने हर मनुष्य का भविष्य उससे गुप्त रखा है; फिर भी कर्म का सिद्धान्त समझाने के लिए जरा कठोर बनकर मैं तुम्हारा जितना भविष्य जानता हूँ। उतना तुम्हें सुना देता हूँ। भाई-भाई होकर भी तुम एक-दूसरे से ईर्ष्या करते हो, इसका परिणाम यह होगा कि तुम स्वर्ग से नीचे गिरोगे और चित्रकूट पर्वत के पास पशुयोनि में जन्म लोगे। एक बनेगा जंगली हाथी और दूसरा बनेगा सरोवर में रहने वाला मगर। वहाँ तुम अपने वैर का पशुभाव से पोषण करोगे; भाई-भाई न रहकर शत्रु बन जाओगे।

बस, इतना सुनते ही दोनों का मद उतर गया। दोनों को क्षणिक पश्चात्ताप हुआ। दोनों ऋषि के चरणों में लेट कर प्रार्थना करने लगे : 'आप हम पर दया नहीं करेंगे ?' ऋषि ने कहा : 'कर्म का नियम अटल है। इसमें किसी की दया काम नहीं आती । किन्तु कर्म का नियम कल्याणमय भी है। वह जितना कठोर है उतना

ही दयामय भी है। कर्म का फल दण्डरूप नहीं होता। उसमें बिगड़े हुए आदमी को सुधारने की शक्ति होती है। तुम दोनों में से एक के हृदय में पश्चात्ताप जाग्रत रहेगा और वह धर्म के मार्ग पर चलेगा। संकट के समय उसे ईश्वर का स्मरण होगा। दूसरे के हृदय में ईर्ष्या की आग धायँ-धायँ जलती रहेगी। वह उत्तरोत्तर नीचे ही गिरता जाएगा। परन्तु उसका भी उद्धार होगा। अपने भाई का विरोध करते-करते उसके हृदय में भाई की श्रद्धा का संचार होगा, उसमें भी आस्तिकता उत्पन्न होगी और आस्तिकता के बल पर उसका भी उद्धार हो जाएगा।'

भविष्य का इतना परदा खोल कर मुनिराज फिर मौन में डूब गए और हाहा तथा हूहू अपने कर्मों के कारण स्वर्ग से नीचे गिर गए। एक बना राजा का हाथी और दूसरा बना पास के सरोवर का बड़ा मगर (ग्राह)। दोनों अपने पूर्वजन्म को भूल गए, अपने भ्रातृत्व को भूल गए। मगर हाथी को खाना चाहता था और हाथी मगर से डरता था। हाथी अपने पशु-जीवन के अनुसार विलास में डूब गया। शत्रु कहाँ है और शत्रु का बल किसमें है, यह बात विलास के नशे में चूर हाथी भूल गया और रूप-यौवनवती हथिनियों के साथ क्रीड़ा करने के लिए सरोवर में उतरा। ग्राह को तो वही मिल गया जो वह चाहता था। उसने गजराज का पाँव पकड़ लिया। गज छूटने के लिए चिंघाड़ने लगा। हथिनियाँ भी लाचार बन कर चिंघड़ने लगीं। लेकिन पानी में हाथी का बल कितना चलता ? हाथी जमीन की ओर दौड़ने लगा और मगर उसे पानी की ओर खींचने लगा— 'गजो ह्याकर्षते तीरं ग्राहश्चाकर्षते जलम्। दोनों का यह युद्ध सदियों तक चला (दिव्यवर्ष-सहस्रकम्)। अन्त में अव्यक्त-मूर्ति ग्राह ने विशाल गज को पंकज-वन में— कीचड़ में खींच लिया। अब गज के लिए बचने का कोई मार्ग नहीं रह गया। उस समय गज को यह ज्ञान हुआ कि अब मुझे केवल हृदयस्थ परमात्मा ही बचा सकता है। गजराज न तो शास्त्र पढ़ा था, न वह वेदविद् था। परन्तु उच्च कुल में जन्मा हुआ होने के कारण वह नारायण-परायण था। उसने नारायण का ध्यान किया। कवि ने गजराज के ध्यान का गीर्वाण-वाणी में इस प्रकार वर्णन किया है :

अनाश्रयाय देवाय निःस्पृहाय नमो नमः।
नमो जगत्प्रतिष्ठाय गोविन्दाय नमो नमः।
विश्वेश्वराय देवाय शिवाय हरये नमः।।

नारायणाय परलोक-परायणाय…
कालाय लौकैकनाथाय।
हितात्मकाय आर्तिविनाशनाय नमस्करोमी।
अच्युतं आत्मवंन्तं प्रभुं प्रपद्ये।
सनातनं लोकगुरुं नमामि।।

शरण्यं शरणार्तानां प्रपद्ये भक्तवत्सलम्।
प्रपद्ये मुक्तसंगानां यतीनां परमां गतिम्।।
एकाय लोकनाथाय परतः परमात्मने।
नमः सहस्रशिरसे अनन्ताय नमो नमः।।

ध्यान समाप्त होते ही आत्मशक्ति का आविष्कार हुआ; गजराज के हृदय में श्रद्धा का पूर चढ़ा ।

तावद् भवति में दुःखं चिन्तासंसारसागरे।
यावत्कमलपत्राक्षं न स्मरामि जनार्दनम्।।

गजराज पानी में पूरी तरह डूब गया था। साँस लेने वाली सूँड का अग्र भाग पानी के ऊपर रह गया था। उससे एक कमल तोड़कर गजेन्द्र ने भक्ति भाव से ईश्वर को अर्पण किया। कमल अनासक्ति का प्रतीक है। कीचड़ में उसका जन्म होता है; पानी में उसका निवास है। फिर भी वह शुद्ध और पवित्र रहता है। पानी में रहकर वह पानी से अलिप्त रहता है और प्रकाशमान प्रतापशाली सूर्य का ध्यान करता है। कमल की वृत्ति धारण करके गजराज ने ईश्वर को कमल अर्पण किया, इसलिए भगवान को उसकी मदद के लिए दौड़ना पड़ा। परमात्मा ने गजेन्द्र और ग्राह दोनों को कीचड़ से बाहर खींच लिया।

पृथ्वी पर आते ही ग्राह की शक्ति तथा उसकी दुर्बुद्धि नष्ट हो गई। स्वार्थ के छूट जाने से उसे भी पश्चात्ताप हुआ। अप्रमेय परमात्मा ने दोनों का उद्धार किया। भगवान के दर्शन के बाद भला किसकी दुर्गति हो सकती है ? दोनों के हृदय पवित्र हो गए। उन्हें इस बात का भान हो गया कि हम एक ही परम पिता के पुत्र हैं; भाई-भाई हैं; समान हैं; एक ही हैं।

दृढ़बद्धधर्ममूलो वेदस्कन्धः पुराणशास्त्राढ्यः।
क्रतुकुसुमो मोक्षफलो मधुसूदनपादपो जयति।।*

महाभारतकार ने लिखा है : गजेन्द्र-मोक्ष की यह कथा सुनने से दुष्ट स्वप्न का नाश होता है। क्यों न हो ? ईश्वर भले-बुरे दोनों का कल्याण करता है। दोनों अपने-अपने ढंग से ईश्वर की चरण-पूजा करते हैं।

सुरासुरैरर्चितपादपद्मं सनातनं एकगुरुं नमामि।

मार्च, १९२३

---

* धर्म जिसका दृढ़ मूल है, आध्यात्मिक ज्ञान जिसका तना है, प्राचीन इतिहास जिसकी शाखा है, स्वार्थत्यागपूर्ण पुरुषार्थ जिसका पुरुष है और मुक्ति— स्वतन्त्रता जिसका फल है, ऐसे परमात्मा-रूपी कल्पवृक्ष की सदा जय है।

१८. स्वाद-संयम

('हमारे शास्त्र स्वादेन्द्रिय के संयम पर बहुत जोर देते नहीं लगते'— गांधीजी के इस वचन से प्रेरित होकर काकासाहब ने स्वादेन्द्रिय के संयम पर कुछ सुन्दर शास्त्र-वचन भेजे हैं। इन्हें भेजते हुए काकासाहब लिखते हैं : 'आज जो शास्त्र अधिक रूढ़ हैं, उनके बारे में बापूजी की यह टीका सही है। बड़े से बड़ा पुण्य ब्रह्म-भोजन में है, इस प्रकार लोगों को समझा कर रोज मिष्ठान्न खाने वाले ब्राह्मण स्वाद-संयम की बात न करें यह स्वाभाविक ही है।'

गांधी जी का यह वचन ब्रह्मचर्य को ध्यान में रखकर कहा गया था। गांधी जी का कहना था कि ब्रह्मचर्य की नींव बचपन में ही डाली जानी चाहिए और स्वादेन्द्रिय के संयम की प्रतिज्ञा लिये बिना यह नींव कच्ची ही रहती है। जितना जोर हम ब्रह्मचर्य पर देते हैं उतना ही जोर आरम्भ से हमें स्वादेन्द्रिय-संयम पर भी देना चाहिए। गांधीजी का यह वचन यहाँ उद्धत करने जैसा है : शैतान के लिए पेट में से प्रवेश करना आसान होता है। इस द्वार को खुला रखा कि समझ लो सब पापों के लिए सारे द्वार खुले कर दिये गए।'

काकासाहब भी इन उद्धरणों के अन्त में स्वीकार करते हैं कि बाल-ब्रह्मचारियों के लिए गांधीजी स्वादेन्द्रिय-संयम पर जितना जोर देते हैं उतना जोर शास्त्रों में नहीं दिया गया है। परन्तु स्वादेन्द्रिय को बहकाने से जो अनर्थ-परम्परा चालू होती है उसका वर्णन यद्यपि यति को ध्यान में रखकर ही किया गया है, फिर भी वह सब लोगों के लिए हृदय में अंकित करने जैसा है। इसलिए काकासाहब के भेजे हुए शास्त्र-वचन हम यहाँ देते हैं।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जहाँ अति-आहार को वर्ज्य कहा गया है वहाँ स्वादेन्द्रिय-संयम की ही बात कही गई है, क्योंकि अति-आहार के मूल में स्वाद ही है। — महादेव देसाई)

अनारोग्यं अनायुष्यं अस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोक-विद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत।।
नोच्छिष्टं कस्यचिद् दद्यात, नाद्याच्चैव तथान्तरा।
न चैवात्यशनं कुर्यात्··· ।।

— मनुस्मृति

अति-भोजन आरोग्य, आयुष्य और स्वर्ग तीनों को असम्भव बना देता है, वह अपुण्य है, जगत में निन्दित है, इसलिए त्याग करने योग्य है।

किसी को जूठा अन्न नहीं देना चाहिए; असमय नहीं खाना चाहिए तथा अति-

आहार नहीं करना चाहिए।

यमस्मृति में नीचे के वचन आए हैं :

अन्नसंगात् बलं दर्पो विषयासक्तिरेव च।
कामः क्रोधः तथा लोभः पतनं नरके ध्रुवम्।।
तावज्जितेन्द्रियो न स्याद् विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे।।

अन्न की आसक्ति से बल, अहंकार, विषयासक्ति, काम, क्रोध और अन्त में निश्चित ही नरक-पात होता है। अन्य इन्द्रियों को जीत लेने पर भी जब तक मनुष्य रस को नहीं जीतता तब तक वह जितेन्द्रिय नहीं कहा जाता। जिसने रस को जीत लिया उसने सब-कुछ जीत लिया।

मनुस्मृति में दूसरा वचन भी है :

एकं कालं चरेत् भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर् विषयेष्वपि सज्जति।।
अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान् मात्रा संगाद्विनिर्गतः।।

एक जून भिक्षा माँग लेनी चाहिए, बहुत पाने की इच्छा नहीं रखनी चाहिए। भिक्षा प्राप्त करने में आसक्त यति विषय में भी फँस जाता है।

अलाभ होने पर विषाद नहीं करना चाहिए, लाभ होने पर प्रसन्न नहीं होना चाहिए; अनेक प्रपंचों का परिग्रह छोड़कर केवल शरीर-यात्रा चलाने का ही प्रपंच रखना चाहिए।

आगे चलकर मनुस्मृति कहती है :

अल्पान्नाभ्यवहारेण रह:स्थानासनेन च।
ह्रियमाणानि विषयैर् इन्द्रियाणि निवर्तयेत्।।
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानां अमृतत्वाय कल्पते।।

अल्प-अन्न खाकर, एकान्त स्थान तथा आसन से, विषयों द्वारा खींची जाने-वाली इन्द्रियों को (विषयों से) मोड़ लेना चाहिए।

इन्द्रियों के निरोध से, राग-द्वेष के क्षय से तथा भूतों के विषय में अहिंसा का विकास करने से अमृतत्व प्राप्त किया जाता है।

अब विष्णुस्मृति को देखिए :

ना स्वादयेद्रसं तत्र जिह्वया धर्मवित् क्वचित्।
अनेन विधिना हुत्वा पंचप्राणाहुतिः पृथक्।।
शेषं औषधवत्प्राश्य स्थित्यर्थं श्रुतिशासनात्।
मृष्टामृष्टे न कुर्वीत रागद्वेषौ च चेतसा।।

मिताशनो भवेन् नित्यं भिक्षुर्मोक्षपरायणः।
कामदर्पादयो दोषाः न भवन्ति मिताशिनः।।

धर्म को जाननेवाला (अन्न खाते समय) जीभ से रस का स्वाद न ले। इस विधि से अलग-अलग पंच-प्राणाहुतियाँ देकर बाकी का अन्न श्रुति के शासन के अनुसार शरीर-निर्वाह के लिए केवल औषधि की तरह खाना चाहिए। उसमें कच्चे या पके हुए का, स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट का, विचार नहीं करना चाहिए तथा मन से राग-द्वेष नहीं करना चाहिए।

मोक्ष-परायण भिक्षु को नित्य मिताहारी रहना चाहिए। मिताहारी मनुष्य काम क्रोध आदि दोषों से मुक्त रहता है।

खाने में कौन-सा अन्न पसंद किया जाए, इस विषय में देखिए :

हितं मितं सदाऽश्नीयाद् यत्सुखेनैव जीर्यते।
धातुः प्रकुप्यते येन तदन्नं वर्जयेद् यतिः।।

सदा हितकारी और मित आहार खाना चाहिए, सरलता से पचाया जा सके ऐसा ही आहार खाना चाहिए। जिस अन्न से धातु (वात, पित्त, कफ) का प्रकोप हो वैसे अन्न का यति को त्याग करना चाहिए।

दत्तात्रेय कहते हैं :

आत्मसंमितम्, आहारं आहरेद् आत्मवान् यतिः।
अत्यन्तक्षुधितस्यापि समाधिर् नैव जायते।।

जितात्मा यति को आत्मा के अनुकूल आहार करना चाहिए। अत्यन्त क्षुधित (भूखा) रहने वाले को भी समाधि सिद्ध नहीं होती।

व्यास जी कहते हैं :

नाहारं चिन्तयेत् प्राज्ञः धर्ममेकं तु चिन्तयेत्।

समझदार मनुष्य को आहार का विचार न करके केवल धर्म का ही विचार करना चाहिए।

श्रुति-वचन इस प्रकार है :

औषधवत्प्राश्नीयात्प्राणसंधारणार्थं यथा मेदोवृद्धिर्न जायते।

केवल प्राणों को टिकाये रखने के लिए औषध की तरह अन्न खाया जाए; इस प्रकार खाया जाए कि मेद अर्थात चरबी की वृद्धि न हो।

पराशर का श्लोक तो स्पष्ट ही है :

अन्नदोषेण चित्तस्य कालुष्यं सर्वदा भवेत्।
कलुषीकृतचित्तानां धर्मः सम्यङ् न भासते।।

अन्न के दोष से चित्त सदा कलुषित होता है; और कलुषित बने हुए चित्तवालों को धर्म का सही भान नहीं होता।

वायुपुराण में ताम्बूल (पान)के बारे में लिखा है :

द्वावेतौ समावीर्यौ तु सुरा ताम्बूलमेव च।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन ताम्बूलं वर्जयेत् यतिः।।

सुरा और ताम्बूल दोनों का एक-सा प्रभाव होता है, इसलिए सुरा की तरह ताम्बूल का भी यति को हर प्रयत्न से त्याग करना चाहिए।

मनुस्मृति की सुन्दर दलील लीजिए :

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम्।।

जिस प्रकार चमड़े के पात्र में (पखाल में) एक भी छेद हुआ कि उसमें से सारा पानी झर जाता है, उसी प्रकार एक भी इन्द्रिय का पतन हुआ कि मनुष्य की सम्पूर्ण प्रज्ञा का पतन हो जाता है।

शंखस्मृति में वानप्रस्थ के विषय में यहाँ तक कहा गया है :

नाग्निशुश्रूषया क्षान्त्या स्नानेन विविधेन च।
वानप्रस्थो दिवं याति-याति भोजनवर्जनात्।।

अग्निसेवा से, क्षमा से, विविध तीर्थों के स्नान से भी वानप्रस्थ स्वर्ग में नहीं जाता; भोजन-त्याग से ही वह स्वर्ग में जाता है।

वानप्रस्थ वृद्ध होता है। वह विषयों का त्याग करे इससे पहले विषय ही उसका त्याग कर देते हैं। एकमात्र रसेन्द्रिय ही उसकी जाग्रत रहती है। वह तो झरती ही रहती है। रसेन्द्रिय का संयम सबसे महत्त्वपूर्ण है, ऐसा मान कर ही ऊपर का श्लोक रचा गया होगा।

मुझे यह स्वीकार करना चाहिए कि विद्यार्थी ब्रह्मचारी के विषय में स्मृतियों में आहार के संयम के बारे में कुछ कहा ही नहीं गया है। बढ़ते हुए शरीर की जितनी माँग हो उतना आहार उसे मिलना ही चाहिए— 'यथेच्छं ब्रह्मचारिणाम्।' गृहस्थ लोग मोक्षमार्गी, अत्यन्त संयमी, नहीं होते । इसलिए वानप्रस्थ और सन्यासियों के विषय में कहते समय ही स्वादजय की बातें आती हैं।

शैशवेऽभयस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।।

(रघु-राजाओं का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं: वे बचपन में विद्याभ्यास करते थे। यौवन में विषयों का सेवन करते थे, वृद्धावस्था में मुनिवृत्तिवाले होते थे और अन्त में योग से शरीर का त्याग करते थे।)

कालिदास की इन पंक्तियों के अनुसार ही हमारा सामाजिक आदर्श रहा है; फिर भी हमारे शास्त्रकारों ने बार-बार यह बात कही है कि मोक्ष के लिए काम को जीतना और काम को जीतने के लिए रस को जीतना आवश्यक है।

व्यास जी कहते हैं :

काम एव मनुष्याणां पिधानं ब्रह्मबोधने।
तस्मात्कामं त्यजन्धीरो ज्ञानमाप्नोति मोक्षदम्।।

काम ही मनुष्य के ब्रह्मज्ञान में बाधक होता है। अतः काम को त्याग कर ही धीर पुरुष मोक्ष देने वाला ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

पत्र पूरा करते-करते श्री शंकराचार्य का यह सुन्दर वचन याद आ गया:

क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यताम्
तदुदितं भिक्षौषधं गृह्यताम्।
स्वाद्वन्नं न तु याच्यताम्
विधिवशात्प्राप्तेन सन्तुष्यताम्।।

क्षुधा को एक व्याधि (रोग) मानना चाहिए और उसके लिए बतायी हुई औषधि भिक्षान्न ग्रहण करना चाहिए। परन्तु स्वादिष्ट अन्न न माँग कर विधिवशात् प्राप्त होने वाले अन्न से सन्तोष करना चाहिए।

१९. सप्तपदी

सप्तपदी में वैवाहिक जीवन के सभी आदर्श सम्पूर्ण रूप में व्यक्त होते हैं। जीवन के आदर्श को अधिकाधिक ऊँचा बनाने का परिश्रम करने वाले लोगों ने सप्तपदी के मंत्रों से अनेक अच्छे-अच्छे अर्थ निकाले हैं। वे सब सच्चे हैं, स्वीकार करने जैसे हैं; परन्तु उन सबका आधार इन मंत्रों के सीधे शब्दार्थ पर है :

१. 'ॐ ईश एकपदी भव। सा मां अनुव्रता भव।' वैवाहिक जीवन चलाने के लिए पति-पत्नी दोनों में उत्साह होना चाहिए। एक-दूसरे को प्रेरणा देने वाला चैतन्य होना चाहिए। सगे-सम्बन्धी, इष्ट-मित्र, अतिथि-अभ्यागत, वृद्ध और बालक, नौकर-चाकर तथा अन्य आश्रित जन— सबका आधार गृहस्थाश्रम पर है। इसलिए पति-पत्नी को घर की समृद्धि बढ़ाने के लिए सदा तैयार रहना चाहिए। इसमें भी कमाई करने की जिम्मेदारी पति की है, इसलिए सुख-दुःख में अपने उत्साह को बनाए रखने के लिए वह अपनी पत्नी से सहायता माँगता है। पुरुषार्थ करने की जिम्मेदारी मेरी है, परन्तु तेरी सहायता मुझे हमेशा ही चाहिए। जीवन-यात्रा में काँटे आएँगे, कष्ट आएँगे, इसलिए मैं आगे चलूँगा, तू मेरे पीछे-पीछे आना।। मैं जिन व्रतों का पालन करूँ, उनका पालन तू भी करना। हमारा आदर्श एक रहेगा। इसी से हमारा जीवन एकरूप बनेगा। ऐसा कह कर पति सर्वव्यापी परमात्मा से प्रार्थना करता है

कि वह पति-पत्नी दोनों को मार्ग दिखाए।

'ईश' का अर्थ है प्रेरणा। उसी के बल पर घर-गृहस्थी की गाड़ी चलती है।

२. 'ॐ ऊर्जे द्विपदी भव।' ऊर्ज का अर्थ है शक्ति, शारीरिक सामर्थ्य। विवाह-सम्बन्ध से शारीरिक तथा दूसरी शक्तियाँ बढ़नी चाहिएँ। बड़े परिवार का भार उठाने के लिए पति-पत्नी दोनों में सब प्रकार की शक्ति आवश्यक है। गृहस्थाश्रम में परस्पर आकर्षण के साथ एक-दूसरे की शक्ति बढ़ाने की प्रवृत्ति भी होनी चाहिए।

३, 'ॐ रायस्पोषाय त्रिपदी भव।' विवाह का तीसरा आदर्श है धन-धान्य की समृद्धि । गृहस्थाश्रम पर ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास तीनों आश्रमों का अवलम्बन है, अतः प्रत्येक गृहस्थी को धन-धान्य की समृद्धि के लिए प्रयत्न करना ही चाहिए। जिस प्रकार धन-धान्य की आवश्यकता है उसी प्रकार ज्ञान, कुशलता और हर प्रकार के शुभ संस्कारों की भी आवश्यकता है। गृहस्थियों को इन सबके लिए सदा ही प्रयत्नशील रहना चाहिए।

४. 'ॐ मायोभव्याय चतुष्पदी भव।' जो लोग यह समझते हैं कि विवाह केवल एक-दूसरे के सुख के लिए ही है, उन्हें यह जानना चाहिए कि आपस में प्रेम की गहरी भावना, सब प्रकार का सामर्थ्य तथा धन्य-धान्य और ज्ञान-कुशलता— इतना प्राप्त करने के बाद ही और इन तीनों बातों की व्यवस्था तथा वृद्धि करने के बाद ही मनुष्य सुख की कामना कर सकता है और उसके योग्य भी बन सकता है। इसीलिए विवाह के सात उद्देश्यों में सुख-सन्तोष को केन्द्रस्थान में रखा गया है।

जिस प्रकार त्रिविध तैयारी करने के बाद ही सुख भोगने के लिए मनुष्य तैयार हो सकता है, उसी प्रकार इस सुख से तीन प्रकार के इष्ट परिणाम निकलने चाहिए।

५. 'ॐ प्रजाभ्यः पंचपदी भव।' प्रजा का अर्थ है सन्तान और समाज। गृहस्थाश्रम इनके हित के लिए होना चाहिए। विवाह की सन्तान संस्कारी हो, सुशिक्षित हो, तो ही माता-पिता को इहलोक और परलोक में, पारिवारिक जीवन में और सनातन सामाजिक जीवन में स्थिरता प्राप्त हो सकती है। उपनिषदों में कहा गया है कि जो सन्तान अच्छी तरह सुशिक्षित और सुसंस्कारी होती है, वही माता-पिता को और दूसरे पितरों को उत्तम लोक प्राप्त कराती है, उन्हें सद्‌गति अर्पण करती है। 'पुत्रं अनुशिष्टं लोक्यं आहुः।

इसके बाद का आदर्श वैवाहिक जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस आदर्श की रक्षा और पालन हो तो ही विवाहित जीवन की सफलता सिद्ध हो और उसकी सुगन्ध अन्त तक टिकी रहे।

६. ॐ ऋतुभ्यः षट्पदी भव।' वर्ष में जैसे एक के बाद दूसरी, छह ऋतुएँ आती हैं और सारी सृष्टि इन ऋतुओं के अनुसार अपने जीवन में परिवर्तन करती है, वैसे ही पति-पत्नी को भी जीवन की ऋतुओं में होने वाले परिवर्तनों के अनुसार नित-नूतन ढंग से एक-दूसरे के लिए अनुकूल बनना चाहिए। व्यापार-व्यवसाय में मूल करार

पर ही दृढ़ता से डटे रहने की जरूरत होती है, जबकि विवाह सम्बन्धों को एक-दूसरे के अनुकूल बनने की जरूरत होती है। युवावस्था के खेलाड़ीपन में दोनों एक-दूसरे के साथ जैसे घुलमिल जाते हैं उसी प्रकार प्रौढ़ होते ही दोनों एक-दूसरे की प्रौढ़ रसिकता के अनुकूल बन जाते हैं। इसके बाद जीवन समृद्ध होते-होते एक में आर्य-गम्भीरता आने लगी कि तुरन्त ही दूसरे को भी उसके अनुकूल प्रसन्न गम्भीरता अपने भीतर बढ़ानी चाहिए। परेशानी के समय जो पत्नी पति को धीरज बँधाएँ, दुःख के समय उसे सान्त्वना दे, पराक्रम करने के अवसर आने पर उसे प्रोत्साहन दे, पति की विजय में आनन्द व्यक्त करे और धर्माचरण में पूरी तरह उसका साथ दे, वही सह-धर्मिणी है। और जब जीवन के परिपक्व होने पर एक पक्ष विरक्ति अनुभव करे उस समय रामकृष्ण परमहंस के लिए जिस प्रकार उनकी पत्नी शारदा माता अनुकूल बन गईं उसी प्रकार पत्नी मोक्षमार्ग में भी पति की साधना-सहचरी बन जाए, तो कहा जाएगा कि उनके विवाह का परिपूर्ण उत्कर्ष हुआ।

७. 'ॐ सखा सप्तपदी भव।' जीवन-भर जिस पत्नी को पति का अनुसरण ही करना है, उस पत्नी के अनुयायी या गुलाम मान लिए जाने का डर रहता है। इस डर को दूर करने के लिए परस्पर समानता का द्योतक सखाभाव विवाह का सर्वश्रेष्ठ और चरम उद्देश्य माना गया है। सख्य अथवा समानता किसी का अधिकार नहीं है। जहाँ समृद्ध ऐक्य है वहाँ समानता की जिद हो ही नहीं सकती। सख्य के मूल में परस्पर आदर और भक्ति होनी चाहिए। पति को पत्नी के विरुद्ध स्वाभिमान की भावना का विकास न करके, व्यवहार में आश्रयदाता की स्थिति अनुभव करते हुए भी, पत्नी के प्रति भक्त की वृत्ति ही धारण करनी चाहिए। इस प्रकार एक-दूसरे के उपासक बन जाने से दोनों को जीवन में अपार आनन्द तो प्राप्त होता ही है, साथ ही दोनों का अखंड सहवास होने पर भी विवाह-सम्बन्ध में कभी बासीपन नहीं आता। न तो थकान मालूम होती, न ऊब महसूस होती। जिस प्रकार ऊषा प्रतिदिन आने पर भी अपनी प्रसन्नता को बनाए रखती है, उसी प्रकार विवाह में भी पति-पत्नी को नए-नए आकर्षण और नए-नए सन्तोष निरन्तर प्राप्त होते ही रहते हैं, वही सम्बन्ध सच्चा विवाह है। उसी से सब प्रकार के कल्याण सिद्ध होते हैं। विवाह-सम्बन्ध को आदि, मध्य और अन्त तीनों स्थितियों में सुखमय, शान्तिमय और कल्याणमय बनाया जा सकता है।

ऐसे आदर्श का पालन करने वाली पत्नी अपनी सेवा, नम्रता और प्रसन्नता के द्वारा केवल पति की ही नहीं परन्तु सास-ससुर, ननद-भौजाई सबकी आदरणीय सम्राज्ञी बन जाती है और उसके उत्पन्न किए हुए वातावरण के कारण मनुष्य तथा देव सभी सन्तुष्ट होते हैं।

जुलाई १९३९

२०. शास्त्रों का उपयोग

जिस प्रकार श्वास लेने के लिए किसी से पूछना नहीं पड़ता, भारत में रहने के लिए जिस प्रकार लोगों को किसी की इजाजत नहीं लेनी पड़ती, उसी प्रकार सनातन धर्म में रहने के लिए किसी की मेहरबानी की जरूरत नहीं होती। सनातन धर्म पर किसी का विशेष अधिकार नहीं है। वह सभी का है। सब हिन्दू उसमें रह सकते हैं और उससे लाभ उठा सकते हैं।

सनातन धर्म के ऋषि-मुनियों ने धर्मशास्त्र रचे हैं और वे संस्कृत भाषा में लिखे गए हैं। इसलिए संस्कृत भाषा पवित्र मानी जाती है। लेकिन संस्कृत भाषा का अर्थ सनातन धर्म नहीं है। अकेले शास्त्रों को भी सनातन धर्म नहीं कहा जा सकता। हिन्दू जाति के अर्थात् ब्राह्मण से लेकर अन्त्यज तक की सारी जातियों के समझदार और पवित्र पुरुषों का जीवन और चिन्तन ही सनातन धर्म है।

ऐसे पवित्र पुरुष अत्यन्त नम्र बनकर शिष्यभाव से प्राचीन ऋषि-मुनियों के वचनों को स्वीकार करते आए हैं। वे ऋषि-मुनियों के वचनों के आधार पर अपना जीवन बनाने की प्रेरणा प्राप्त करते आए हैं। इसीलिए शास्त्रों का इतना महत्त्व है। और वह उचित भी है; क्योंकि ऋषि-मुनि स्वयं धर्मप्राण थे— अर्थात् वे धर्म के लिए ही जीते थे। वे ईश्वर-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते थे और प्राणी मात्र का कल्याण चाहते थे।

धर्म का विचार करना हो तब पहले धर्मनिष्ठ, धर्म-परायण और धर्मप्राण लोगों के वचनों से धर्म की दृष्टि प्राप्त करनी चाहिए। इसी के लिए और इतना ही धर्मशास्त्रों का उपयोग है।

ईश्वर ने सबको आँखें दी हैं, सभी को बुद्धि दी है, प्रत्येक को उसके अपने लिए और उसके बाल-बच्चों के लिए स्वतंत्र जिम्मेदारी भी ईश्वर ने दी है। मनुष्य कितना भी अयोग्य क्यों न हो, फिर भी उसके बच्चों के पालन-पोषण की जिम्मेदारी उसके हाथों में सौंपने जितना विश्वास तो ईश्वर उस पर रखता ही है। यही बताता है कि मनुष्य अपनी और कुछ हद तक दूसरों की जिम्मेदारी अपने सिर लेने का अधिकारी अवश्य है। कोई भी मनुष्य इसलिए परतंत्र नहीं रह सकता कि वह मन्द-बुद्धि है, अनपढ़ है, पिछड़ा हुआ है या संस्कारहीन है। शास्त्र मनुष्य को परतंत्र बनाने के लिए नहीं किन्तु उसे स्वतंत्रता के अधिक योग्य बनाने के लिए हैं। इसलिए शास्त्र राजा या कानून का स्थान नहीं लेते, परन्तु माता और गुरु का स्थान लेते हैं। जहाँ राजा और कानून के पास जाने का प्रत्येक को अधिकार हो, वहाँ माता और गुरु के पास जाने का अधिकार सिद्ध करना जरूरी नहीं होता। शास्त्रों के अध्ययन

का अधिकार ब्राह्मणों को ही है— ऐसी मान्यता यदि समाज में फैली हुई हो, तो इसका कारण यही है कि शास्त्रों के ज्ञान के लिए जो भाषाज्ञान, जो धैर्य तथा जो उत्साह चाहिए वह ब्राह्मणों में है और साधारण लोगों में नहीं है। ब्राह्मणों की आजीविका ही शास्त्रों का अर्थ करने पर निर्भर रहती है, इसलिए यदि वे शास्त्रों का अध्ययन न करें तो कहाँ जाएँ ? परन्तु जब किसी भी बात का मनुष्य को एकाधिकार मिल जाता है तब वह आसानी से अभिमानी और आलसी बन जाता है। ब्राह्मणों का भी ऐसा ही हुआ।

यह बात सच है कि शास्त्रों की रक्षा करने, शास्त्रों का प्रचार करने और शास्त्रों का अधिकाधिक गहरा अध्ययन करने का कार्य ब्राह्मणों को सौंपा गया है। लेकिन समाज जाग्रत रहेगा तो ही ब्राह्मण अपना यह कर्तव्य अच्छी तरह पूरा करेंगे। ब्राह्मणों को जो दक्षिणा और आजीविका मिलती है, वह केवल दूसरी जातियों के लोगों को आशीर्वाद देने के लिए ही नहीं मिलती। उन्हें स्वयं ज्ञानवान् और चरित्रवान् रहकर सब लोगों को पवित्रता की और कौशल्य की शिक्षा देनी चाहिए, लोगों को सदाचार का ज्ञान देना चाहिए। विदेशी लोगों के आक्रमण से प्रजा की रक्षा करने के लिए जिस प्रकार क्षत्रियों की सेना रहती थी, उसी प्रकार ब्राह्मणों की सेना अज्ञान, अन्धविश्वास और अनाचार रूपी शत्रु से लड़कर प्रजा की रक्षा करने के लिए थी। क्षत्रिय यदि लुटेरे बन जाएँ और ब्राह्मण अज्ञान तथा अन्धविश्वास के समर्थक बन जाएँ, तो वे समाज-द्रोह करते हैं। फिर वे समाज से जमीन-जागीर या दक्षिणा पाने के अधिकारी नहीं रह जाते।

समाज में जब एकाध मनुष्य बिफरता या बिगड़ता है, तो समाज उसे सजा दे सकता है। परन्तु जब पूरा वर्ग ही बिगड़ता है, रास्ते से भटक जाता है, सड़ जाता है या शिथिल बन जाता है, तब समाज को अपनी रक्षा का काम स्वयं ही करना पड़ता है। ऐसे मौके पर क्षत्रिय और ब्राह्मण यदि परम्परा से चलते आए अपने अधिकार की बातें करें, तो वे उन्हें शोभा नहीं देतीं और न समाज के सामने उनका कुछ चलता है। लोगों के तूफानी या डरपोक बनने से जैसे राजा की लाज चली जाती है, वैसे ही लोगों के नास्तिक या अन्धविश्वासी बनने से धर्माचार्यों की लाज निश्चित रूप से चली जाती है।

अन्धविश्वास ही बड़ी-से-बड़ी नास्तिकता है, ईश्वर का द्रोह है, धर्म की हत्या है। यह दुख की बात है कि हमारे लोग इसे नहीं समझते। लगभग डेढ़ हजार वर्ष पहले अरबस्तान में एक मनुष्य ने यह बात समझ ली थी कि अन्धविश्वासों का पोषण करने में ईश्वर का द्रोह है। इसलिए उसने अन्धविश्वासों का नाश करने वाला एक पन्थ चलाया। जहाँ फोड़ा होता है वहाँ मक्खियाँ आकर बैठती हैं और उस सड़ाँध की ओर हमारा ध्यान खींचती हैं। उसी प्रकार जहाँ अन्धविश्वास होंगे

वहाँ उनका भण्डा फोड़ने के लिए इस्लाम जरूर पहुँच जाएगा। सच्चे इस्लाम का किसी भी धर्म से विरोध नहीं हो सकता। परन्तु अन्धविश्वासों का वह घोर विरोधी है। किसी समाज में इस्लाम को सफलता मिले तो समझ लेना चाहिए कि उस समाज में धर्म के नाम पर अधर्म चलता है, सच्चे शास्त्र सो गए हैं और अन्धविश्वासों का राज्य चलता है। यह प्रत्येक धर्म के लिए ईश्वर का दिया हुआ नोटिस है। इस नोटिस के मिलते ही प्रत्येक समाज को जाग्रत हो ही जाना चाहिए।

हिन्दू धर्म में जितनी भी जातियों का समावेश होता है। उन सब जातियों को अपने चरित्र की शुद्धि करनी चाहिए, सभी को अपना चरित्र-बल बढ़ाना चाहिए। इसलिए अन्धविश्वासों की अथवा अन्धविश्वासियों की सत्ता को स्वीकार न करके हमें स्वयं धर्म का रहस्य जानने का प्रयत्न करना चाहिए।

आज कोई भी मनुष्य संस्कृत भाषा सीख सकता है। शास्त्र सबके लिए बिलकुल खुले हैं। शास्त्रों में अच्छा क्या है और आज न चल सके या गले न उतर सके ऐसा कितना है, यह भी सब कोई जान सकते हैं। स्मृतिग्रन्थ इतने पुराने हो गए हैं कि कट्टर सनातनी लोग भी यह नहीं कह सकते कि वे शास्त्रों के अक्षरार्थ का पालन कर सकते हैं अथवा पालन करने के लिए तैयार हैं। शास्त्रों के एक-एक अक्षर को पसन्द करने वाला कोई सनातनी मिलेगा या नहीं, इसमें भी शंका ही है। कुछ लोग वकील की तरह दलीलें देकर इस स्थिति को छिपा जरूर सकते हैं; परन्तु इससे स्वयं उनका भी जब समाधान नहीं होगा, तब दूसरा तो कौन धोखे में आ सकता है ? इसीलिए यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सनातन धर्म का अर्थ है तमाम हिन्दू जातियों के सयाने और चरित्रवान लोगों का आज का धार्मिक आदर्श।

२१. अवतारवाद

१

अवतारवाद हिन्दू धर्म का एक विशेष अंग है। वेदान्त कहता है कि मनुष्य मूल में ईश्वर है। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में ईश्वरीय तत्त्व का वास है, यह बात कम-अधिक परिवर्तन के साथ हर एक धर्म में कही गई है। रोमन, ग्रीक या पौराणिक धर्मों में, जिनमें देवी-देवताओं की बहुत बड़ी संख्या है, तथा जगत में एक अप्रतिम मल्ल बन कर रहने वाले ईर्ष्यालु ईश्वर पर ही श्रद्धा रखने वाले यहूदी धर्म में, ईसाई धर्म में और इस्लाम में भी देवी-देवताओं के स्वभावों की कल्पना लगभग मनुष्य के स्वभाव जैसी ही की गई है। धर्मकथाओं में कहा गया है कि ईश्वर ने

मनुष्य को उत्पन्न किया है; परन्तु विकासवादी यह कहते आए हैं कि ईश्वर ही मनुष्य की कृति है। ऐसा आभास हो सकता है कि ये सब मत अवतारवाद से मिलते-जुलते हैं। परन्तु अवतारवाद सचमुच एक विलक्षण और अद्‌भुत परिणामवाली कल्पना है। यह वाद जितना हृदय को आश्वासन देता है उतना ही तर्कबुद्धि के लिए भी ग्राह्य है। इसके यथार्थ स्वरूप को हमें समझ लेना चाहिए। अवतारवाद को कुछ हद तक समझ लेने के बाद अब मुसलमान और ईसाई भी कहने लगे हैं कि 'अवतार ही पैगम्बर है' इस अर्थ में हमें अवतारवाद मान्य है। कुरान में तो स्पष्ट कहा गया है कि ''ऐसी एक भी भूमि या पीढ़ी नहीं है, जिसे ईश्वर ने पैगम्बर न दिया हो।'' सृष्टि की तरह पैगम्बरों की परम्परा अबाधित रूप में चली आई हैं। यहूदी और ईसाई भी पैगम्बरों की परम्परा पर विश्वास रखते हैं । इसलिए अब यदि हम मूल कल्पना का और विभिन्न धर्मों की अलग-अलग समझ के सच्चे स्वरूप का अनुसरण करके अवतारवाद की मीमांसा प्रस्तुत करें, तो न केवल हिन्दू धर्म को परन्तु सभी धर्मों को वह मान्य होगी। इतना ही नहीं, भविष्य में समस्त मानव-जाति का समावेश करने वाला सारे धर्मों का जो तत्त्व-परिवार रचा जाएगा, उसमें अवतारवाद को मुख्य स्थान प्राप्त हुए बिना नहीं रहेगा। यहाँ हमारा उद्देश्य केवल लाभ की या प्रतिष्ठा की दृष्टि से अवतारवाद को सुन्दर दिखाना नहीं है; हमारा उद्देश्य यही दिखाना है कि आज अवतार-मीमांसा कितनी महत्त्वपूर्ण और संस्कृति-पोषक है।

बौद्ध परिभाषा के अनुसार कोई जीव जब अन्तर्मुख बनकर अपनी स्थिति के बारे में असन्तुष्ट होता है और अपने सारे दोषों को दूर करके शुभ गुणों का आत्यन्तिक विकास साधने का संकल्प करता है, तब उसे बोधिसत्त्व कहा जाता है। ऐसा बोधिसत्त्व एक के बाद दूसरे सद्‌गुण की पारमिता अर्थात् सर्वोच्च कोटि सिद्ध करते-करते प्रत्येक जन्म में ऊपर चढ़ता जाता है। अन्त में बुद्ध बन जाता है। उसमें जब अपना उद्धार करने की शक्ति आ जाती है तब उसे 'पच्चेक (प्रत्येक) बुद्ध कहा जाता है। वही बुद्ध जब जगत का उद्धार करने के लिए समर्थ बन जाता है तब वह शाक्यसिंह गौतम बुद्ध के समान 'तथागत' हो जाता है।

प्रत्येक मनुष्य का स्वाभाविक उन्नति-क्रम यही है। गीता ने जिसका अनेक-जन्म-संसिद्ध' कहकर परिचय दिया है उसी को 'नर करनी करे तो नर का नारायण होय' इस लोकोक्ति में 'नारायण' कहा गया है।

हममें से ही हमारा उद्धारक उत्पन्न हुआ; हमने जो साधना नहीं की वह उसने की; हममें से ही एक होने पर भी वह परमात्मा का अंश बन गया— यह सब आँखों से देखते हुए भी मनुष्य के लिए इसे स्वीकार करना कठिन होता है। इसमें एक यह कठिनाई तो है ही कि हमारी बराबरी का आदमी हमसे आगे चला गया,

ऐसा स्वीकार करने में हमें हीनता का अनुभव होता है। लेकिन दूसरी एक सैद्धान्तिक कठिनाई भी है, जिसका विचार यहाँ किया जाना चाहिए।

यह शंका स्वाभाविक रूप में ही पैदा होती है कि प्रत्येक की आत्मा स्वभाव से शुद्ध, बुद्ध नित्य-मुक्त और सर्व-समर्थ होते हुए भी अपना यह मूल पद वह क्यों खो बैठी ? जो शुद्ध है वह अशुद्ध कैसे हो सकती है ? जो मुक्त है वह बन्धन में कैसे फँस सकती है ? जो नित्य है वह अनित्य कैसे बन सकती है ? और जो सर्व-समर्थ है वह स्वयं को अधःपतन से क्यों नहीं बचा सकती ? ये प्रश्न उठने स्वाभाविक हैं। तर्क कहता है कि 'आत्मा का अधःपतन हुआ ही नहीं। यह सब भ्रम है। आत्मा शुद्ध, बुद्ध नित्य-मुक्त ही है।' तो फिर यह भ्रम कैसे पैदा हुआ ? जब स्वतंत्र रूप से देखने पर ऐसे परस्पर विरोधी कथन सही मालूम होने लगते हैं तब तर्कबुद्धि परेशानी में पड़ जाती है और उसे स्वीकार करना पड़ता है कि इसका स्पष्टीकरण मेरे पास नहीं है। अपने पराभव की इस स्वीकृति को ही 'माया' कहा गया है। माया कोई वाद, कोई सिद्धान्त नहीं है। परन्तु वस्तुस्थिति का स्वीकार है।

सर्वोच्च स्थिति में होने पर भी जो आत्मा अपने स्थान को टिका नहीं सकी, वह अशुद्ध, अनित्य, अज्ञानी और बद्ध होने के बाद फिर से ऊपर चढ़ने की शक्ति कैसे प्राप्त कर सकती है ? जो कुछ अपने पास था वह जिसे सँभालते नहीं आया, वह आत्मा खोए हुए को अब अपनी शक्ति से वापिस पाने की योग्यता कैसे प्राप्त करेगी ? इसलिए जो समर्थ है उसी को कृपालु बनकर नीचे उतरना चाहिए और हमारा हाथ पकड़ कर हमें ऊपर उठा लेना चाहिए। इसमें स्वयं ऊपर चढ़ना नहीं है, परन्तु समर्थको हमें खींचकर ऊपर चढ़ाना है। सर्व-समर्थ परमात्मा कारुण्य-बुद्धि से कृपालु बन कर मनुष्यों का उद्धार करने के लिए नीचे उतरता है और हाथ बढ़ाता है, इसलिए पतित बने हुए हम पुनीत हो सकते हैं। जिस-जिस विभूति में हम उद्धारक शक्ति देखते हैं उस-उस विभूति में तारक प्रभु उतरा है, अवतरित हुआ है, ऐसा मानना ही युक्तिपूर्ण है। यह अवतार अल्प मात्रा में हो या पूर्णता को पहुँचा हुआ हो; अमुक समय के लिए हो या जीवन-पर्यन्त के लिए हो; किन्तु तारक तत्त्व बाहर से आकर मनुष्य में अवतरित अवश्य होता है, ऐसी जगत के उद्धार की जो कल्पना है उसी को अवतारवाद कहा जाता है।

कुम्हार का चक्र एक बार घूमने लगा कि फिर घूमता ही रहता है। परन्तु उसकी गति स्वयंभू नहीं है। मिली हुई गति को लम्बे समय तक टिकाए रखने में ही इस चक्र का सामर्थ्य है। चक्र का स्वभाव तो ऐसा है कि वह— अति अल्प प्रमाण में ही क्यों न हो— प्रतिक्षण रुकने का प्रयत्न करता है। इसीलिए उसकी गति को बनाए रखने के लिए कुम्हार को हाथ में एक डंडा लेकर बार-बार चक्र को प्रेरणा

देनी पड़ती है। और इसके फलस्वरूप ही चक्र घूमता रहता है। स्वभाव-जड़ समाज के बारे में भी यही नियम लागू होता है। ईश्वर की कृपा से अवतारी पुरुषों के प्रताप की परम्परा चालू रहती है। प्रेरणा का सम्बल अटूट बना रहता है। धौंकनी चालू रहती है, इसीलिए संस्कृति रूपी अग्नि आज तक प्रज्ज्वलित रही है।

यह प्रेरणा बाहर से आती है अथवा अन्त:स्फूर्त है ? मानुषी है अथवा अतिमानुषी है ?— इसकी चर्चा में हम नहीं जाएँगे। अवतारवाद कहता है: यह प्रेरणा नि:सन्देह बाह्य है, अतिमानवी है। इस प्रेरणा को मनुष्य ग्रहण कर सकता है, धारण कर सकता है। यही उसकी महत्ता है ! विरोधी पक्ष कहेगा : घर्षण के फलस्वरूप जब गरमी बहुत बढ़ जाती है तब उससे आग भड़क उठती है और वह ज्वाला या प्रकाश का रूप धारण करती है, ऐसा हम हमेशा देखते हैं। उष्णता-से ही प्रकाश उत्पन्न होता है। उष्णता और प्रकाश में स्वरूप-भेद है, किन्तु तत्त्वत: उष्णता का उत्कट रूप ही प्रकाश है, इस विषय में हम शंका नहीं करते । उष्णता अत्यधिक बढ़ जाती है, तब हमारे अवतार के लिए पृष्ठभूमि तैयार होती है, ऐसा कहकर चाहे जहाँ से प्रकाश आकर उसमें घुस नहीं जाता । वह भीतर से ही प्रदीप्त होता है। किसी प्रकार मनुष्य-जाति का तारनहार मनुष्यों में से ही उत्पन्न होता है और वह सर्वश्रेष्ठ मनुष्य-स्वभाव का ही बना हुआ होता है।

इस चर्चा को जरा आगे बढ़ाने पर यह स्पष्ट हो जाएगा कि दो पक्षों में मतभेद नहीं है, केवल शब्दभेद है। गांधीजी कहते हैं : "जो पुरुष अपने युग में सबसे श्रेष्ठ धर्मवान होता है, उसे भविष्य की प्रजा अवतार के रूप में पूजती है। जिस पुरुष में अपने युग में सबसे अधिक धर्म-जागृति होती है, वह उस युग का अवतार होता है।" अवतार की कल्पना को ऐसा दोहरा रूप देकर गांधीजी ने ऊपर के वाद को शान्त ही कर दिया है। प्रत्येक पीढ़ी में, प्रत्येक युग में समाज को सावधान रखने वाला कोई-न-कोई पुरुष होता ही है। उसी की विभूति उसके समय के लोगों को असाधारण जैसी लगती है। इसलिए बाद में लोग उसे अवतार के रूप में पहचानने लगते हैं और उसकी दी हुई प्रेरणा को ईश्वरीय प्रेरणा मान कर श्रद्धा और आदर से उसे स्वीकार करते हैं।

कुरान में भी स्पष्ट कहा गया है कि अल्लाह ने प्रत्येक देश को और प्रत्येक युग को एक पैगम्बर दिया है। पैगम्बर से रहित कोई भूमि नहीं है; पैगम्बर से रहित कोई समाज नहीं है; पैगम्बर से रहित कोई युग नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक स्थान और प्रत्येक काल में कोई-न-कोई तारक पुरुष होता ही है। उसे पहचानने की शक्ति समाज में होनी चाहिए।

इसी स्थान पर हम शास्त्रों के प्रामाण्य का थोड़ा विचार कर लें। तारक विभूति

की प्रेरणा को एक बार श्रद्धा और आदर से स्वीकार कर लेने के बाद उसके वचनों का संग्रह होना बिलकुल स्वाभाविक है। इस प्रकार प्रेरणा शब्दबद्ध होकर ग्रन्थों का रूप धारण करती है। सन्त-वचन ही शास्त्र हैं ऐसा जो मूल सिद्धान्त था वह विकृत हो जाता है तथा शास्त्र-प्रामाण्य को शब्द-प्रामाण्य अथवा ग्रन्थ-प्रामाण्य का रूप मिल जाता है। धर्म का तत्त्व गूढ़ है; अवसर के अनुसार उसका विनियोग बदलता है। धर्मज्ञ पुरूष के द्वारा परिस्थितियों का प्रत्यक्ष निरीक्षण करके एक समय जो निर्णय लिया जाता है वह काल और परिस्थितियों के बदल जाने पर लागू नहीं होता। शंकराचार्य ने भी कहा है : 'यस्मिन् देशे काले निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते स एव देशकालनिमित्तान्तरेषु अधर्मो भवति।' (शांकर शरीरभाष्य-३.१,२५.) ऐसी स्थिति में व्याकरणशास्त्र, तर्कशास्त्र और मीमांसाशास्त्र के बल पर प्राचीन वचनों का अर्थ करना और मृतप्राय ग्रन्थों पर जीवन्त समाज के जीवन-क्रम तथा भाग्य का आधार रखना अत्याचार है और आत्मद्रोह है। 'शिष्टः प्रमाणम्' यही मार्ग सच्चा है। वह पवित्र जीवित व्यक्ति शिष्ट है, जिसकी बुद्धि और हृदय शुद्ध हैं, जो समाज-हित को समझता है और जिसका हृदय समाज-हित की ओर ही मुड़ता है। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह इत्यादि व्रत जिनके लिए स्वाभाविक बन गए हैं, वे विरल व्यक्ति ही शिष्ट कहे जाते हैं। ऐसे लोगों ने जो मार्ग बताया हो वही शास्त्र है। भर्तृहरि तो इससे आगे जाकर कहते हैं कि सत्पुरुष सहज रूप में जो कह देते हैं, वह भी शास्त्र ही बन जाता है।

परिचरितव्याः सन्तः यद्यपि कथयन्ति ते न उपदेशम्।
यास्तेषां स्वैरकथाः ता ऐव भवन्ति शास्त्राणि।।

प्राचीन शास्त्र-वचनों का अर्थ करना हो तो वह भी ऐसे शिष्ट लोगों द्वारा ही किया जाना चाहिए। जीवन के जीते-जागते तत्त्वज्ञान को केवल पण्डितों के हाथ में नहीं फंसने देना चाहिए।

१९३०

२

हमारे पूर्वज कह गए हैं कि भूमि का भार हरण करने के लिए प्रत्येक युग में अवतार आते हैं। इन वचनों का केवल शब्दार्थ ग्रहण करने से बहुत से लोगों में यह समझ घर कर बैठी है कि जैसे नाव में मुसाफिरों का भार बढ़ने पर नाव से वह भार सहन नहीं होता और वह पानी में डूब जाती है, वैसे ही जनसंख्या के बढ़ने से पृथ्वी को अपनी पीठ पर भार असह्य मालूम होता है। वास्तव में पृथ्वी के तत्त्वों से ही बने हुए मानवों की संख्या बढ़ने या घटने से पृथ्वी के भार में और पृथ्वी के जड़ द्रव्यों में कोई घटती-बढ़ती नहीं होती।

राई जितने एक छोटे दाने में से बड़ जैसा विशाल वृक्ष जमीन पर खड़ा होता है, परन्तु इस विशाल वृक्ष का इतना बड़ा बोझ बाहर से नहीं आता; हवा, पानी और मिट्टी से ही वह पैदा होता है। वृक्ष के बढ़ने से धरती का बोझ कैसे बढ़ेगा ? घोड़े पर बैठे-बैठे कोई सवार थैली में रखी रोटियाँ खा ले तो थैली का बोझ कम हो जाएगा और सवार के पेट का बोझ बढ़ जाएगा। लेकिन इससे घोड़े को क्या ? उसे तो उतना ही बोझ ढोना पड़ेगा। पृथ्वी को भी यही बात लागू होती है। पृथ्वी का बोझ जो बढ़ता है वह भौतिक नहीं, परन्तु नैतिक होता है। उस बोझ को उतारने का कार्य अवतार का होता है। जब समाज में अनाचार बढ़ जाता है, स्वार्थ, विद्रोह कलह और नास्तिकता फूलते-फलते हैं, तब पृथ्वी के लिए उनका बोझ असह्य हो जाता है। उस स्थिति में पृथ्वी गरीब गाय की तरह दीन बनकर अपने पालन-कर्ता विधाता के पास जाती है और सर्व-अन्तर्यामी परमात्मा दया करके धर्म-परायण व्यक्ति में अवतरित होता है। जिस प्रकार हम सिगड़ी को हिला-हिलाकर और फुँकनी से फूँक-फूँक कर, उसकी आग को प्रज्ज्वलित करते हैं, उसी तरह अवतारी पुरुष समाज को हिला कर, धर्म को फूँक कर, धर्म का शुद्धीकरण करके फिर से सज्जनता, मनुष्य-प्रेम और दैवी सम्पत्ति की स्थापना करता है। समाज के सयाने और समझदार लोग इस धर्म-प्रेरणा को पहचान कर आत्तिकता से उसको स्वीकार करते हैं।

अवतार का उद्देश्य है मानव-समाज में धर्म की संस्थापना करना। धर्म-संस्थापना का अर्थ कोई मत अथवा पन्थ चलाना नहीं, किन्तु सत्य, प्रेम, दया, वासना-संयम, सर्वभूत-हित में रत रहने की भावना आदि शुभ मंगलमय तत्त्वों के प्रति लोगों में विश्वास जगाना है। धर्म वही है जिसमें सबका कल्याण समाया हुआ हो। समस्त प्रजाओं को सनातन रूप में धारण करने वाला तत्त्व धर्म है। यह धर्म विश्वव्यापी होता है, सनातन होता है और इसी कारण नित्य-नूतन होता है। चित्रकार जीवन्त, चलते-फिरते, चैतन्ययुक्त शरीर पर मोहित होकर उसका चित्र बनाता है और मूर्तिकार ऐसे शरीर पर मुग्ध होकर उसकी मूर्ति बनाता है। जिस व्यक्ति ने जीवन्त शरीर का दर्शन किया है, जिसने जीवन्त शरीर के साथ सत्संग किया है, उसे चित्र या मूर्ति देखकर भी मूल चैतन्य का स्मरण होता है और उससे चैतन्यमयी प्रेरणा मिलती है। किन्तु जिनके अनुभव और कल्पना उस चित्र या मूर्ति के बाहर जाते ही नहीं, उनके लिए वह चित्र और मूर्ति बन्धन रूप हो जाते हैं। चैतन्य की भूख जड़ मूर्ति से कैसे मिट सकती है। जीवन्त मूर्ति मनुष्य का उद्धार करती है। निष्प्राण मूर्ति गले का पत्थर बनकर मनुष्य को डुबा देती है।

अवतारी पुरुषों के नाम पर जो धर्म चलते हैं वे सचमुच उनके नहीं होते। प्रेम का सन्देश दूसरे गाँव भेजने के लिए प्रेमपत्र भेजना पड़ता है। प्रेमपत्र ले जाने-वाला सन्देश-वाहक प्रेमी नहीं होता; पत्र का कागज, स्याही, स्याही का रंग, अक्षरों

का मोड़, शब्द, भाषा के अलंकार— इनमें से एक भी तत्त्व प्रेम नहीं होता। प्रेम तो अमूर्त है; परन्तु इन सब साधनों के बिना उसका वहन कैसे हो ? प्रेम को समझने वाला इन सब साधनों का उपयोग करते हुए भी इन पर निर्भर नहीं रहता। साधनों से प्रेम भिन्न है, यह समझ लेने के कारण वह साधनों को ही सर्वस्व नहीं मान लेता। इसी न्याय से धर्म-संस्थापक अपने समाज में रूढ़ हो चुकी कल्पनाओं, रीति-रिवाजों और सिद्धान्तों का आधार लेकर उन्हीं में अपने सन्देश को उँडेलता है और उसे लोगों के सामने रखता है। पुराने में से जितना बुरा और त्याग देने जैसा उसे विश्वासपूर्वक लगता है, केवल उतने का ही वह विरोध करता है। उसकी वृत्ति जितने को निभाया जा सके उतने को निभा लेने की ही होती है। वह जो नए साधन, जो नई प्रथाएँ अथवा नई संस्थाएँ उतपन्न करता है और जिन वस्तुओं के प्रति अत्यन्त आदर और आग्रह बढ़ाता है, उन सबको उसके सन्देश के वाहक के रूप में ही महत्त्व दिया जाना चाहिए। परन्तु अविद्या— अज्ञान— से जकड़ी हुई मनुष्य जाति ने तत्त्व के साथ सम्बन्ध बाँधने की बजाए तत्त्व-वाहक अथवा तत्त्व-संग्राहक बाहरी साधनों को ही महत्त्व दिया है और कभी-कभी उनके लिए अनेक भयंकर युद्ध किए हैं।

साधन-भेद के कारण ऐसे युद्ध होते देखकर कुछ लोग तत्त्व को केवल बौद्धिक रूप में ग्रहण करके ही सन्तोष मान लेते हैं। साधना के विषय में उनका विश्वास न होने के कारण वे साधना-मात्र की उपेक्षा करते हैं। वे लोग इस बात को भूल जाते हैं कि धर्म केवल तत्त्व के ज्ञान के लिए ही नहीं है— धर्म जीवन-परिवर्तन के लिए है, आत्म-शुद्धि के लिए है, आत्म-साक्षात्कार के लिए है। सामान्य जन समुदाय देव को छोड़ कर देवालय की या मसजिद की ही उपासना करते हैं, जब कि कुछ उत्साही किन्तु अज्ञानी विद्रोही मन्दिरों को तोड़ कर देव को बचाने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु सच्ची जरूरत इस बात की है कि मनुष्य मन्दिर को मन्दिर और ईश्वर को ईश्वर के रूप में पहचाने । ऐसा होने पर मनुष्य साधन के विषय में साध्य के जितना ही आग्रह रखते हुए भी साधन-पूजक नहीं बनेगा। प्रत्येक धर्म-संस्थापक या पैगम्बर जो कुछ दे जाता है उसका शुद्ध रूप में सेवन हो, इसके लिए उसकी विरासत का प्रतिक्षण संस्करण और परिष्करण होना चाहिए। जिसका नित्य संस्करण होता है उसका नाश नहीं करना पड़ता । नित्य संस्करण ही जीवन को प्राणयुक्त अथवा चैतन्यमय बनाए रखने का साधन है।

मुहम्मद पैगम्बर से पहले अरबस्तान में बाबा अब्राहम का धर्म चलता था। उस धर्म में अनेक प्रकार के दोष घुस गए थे। उनमें से जो दोष मुहम्मद साहब को असह्य मालूम हुए, उन्हीं का उन्होंने डटकर विरोध किया। परन्तु मक्का की यात्रा (हज), काबा का चुम्बन, काबा का स्नान, एकवस्त्री स्नान आदि विधियों को

निर्दोष समझ कर उन्होंने चालू रहने दिया। बक्र ईद का पशु-बलिदान भी मुहम्मद साहब ने स्वयं आरम्भ नहीं किया, परन्तु इसके मूल में शिबि-श्रियाल अथवा रुक्मांगद जैसे भक्तों की अलौकिक ईश्वर-निष्ठा को देखकर ही मुहम्मद साहब ने उसे रहने दिया। मांसाहारी लोगों को बक्र-ईद का बलिदान स्वभावतः शोभा देता है; परन्तु इसी बक्र-ईद का बलिदान भारत में महाकलह का मूल बन गया है। तटस्थ दृष्टि से इस्लाम का अध्ययन करने से पता चला है कि बक्र-ईद का बलिदान इस्लाम का मुख्य अंग नहीं है। इस्लाम का अर्थ है ईश्वर के विषय में अनन्य निष्ठा। इस्लाम का सच्चा आग्रह ईश्वर के अद्वैत के बारे में है। अनात्मा को आत्मा मानना, अनीश्वर को ईश्वर मानना— इससे इस्लाम को अतिशय चिढ़ है। प्रत्येक धर्मनिष्ठ साधक और भक्तों को भी इस बात से चिढ़ होती है। जो लोग विलास-निष्ठ धन-लोलुप हैं, जान-माल परस्त हैं, किताब-परस्त हैं, वे सच्चे भक्त नहीं हैं। आजकल के कुछ मुसलमान दूसरों का अनुकरण करके ताबूत निकालते हैं और मसजिद-परस्ती का दोष करते हैं, यह दूसरी बात है। परन्तु सच्चे इस्लाम का अर्थ है ईश्वर-निष्ठा, गरीबों के लिए दया, ईश्वर-प्रार्थना और धर्म सेवा । यही बात हर धर्म के बारे में कही जा सकती है। धर्म के कारण होने वाले झगड़ों को देखकर व्याकुल बने हुए एक निरक्षर भक्त ने पूछा है :

"भाला भोला ठाकुर हारू
बाझी कां मरो ?"*

१९३३

* भले और भोले ईश्वर के लिए तुम क्यों आपस में लड़ते-झगड़ते हो ?

दूसरा खण्ड

विविध धर्म

२२. हिन्दू धर्म बनाम हिन्दू समाजशास्त्र

हमारे समाज में धर्म के नाम पर ऊँच-नीच भाव की तालीम व्यवस्थित रूप में दी जाती रही है। हिन्दू लोग आज इस भाव को सनातन धर्म का एक अभिन्न अंग मानने लगे हैं। हिन्दू धर्म अपने विशुद्ध रूप में आर्य, उदात्त और मुक्ति-परायण धर्म है। यदि किसी घातक दोष ने उसे निष्प्राण, अनार्य और जहरीला बना दिया हो, तो वह है ऊँच-नीच का भाव।

हम यह बात क्यों नहीं समझते कि हिन्दू धर्म और हिन्दू समाजशास्त्र दोनों अलग-अलग हैं। हिन्दू धर्म 'निर्दोष' और 'समं' ब्रह्म की उपासना सिखाता है। वह 'साधुष्वपि च पापेषु' 'समबुद्धि' का प्रतिपादन करता है। वह 'विद्याविनय-सम्पन्न' ब्राह्मण से लेकर 'श्वपाक' तक सबके प्रति 'समदर्शित्व' तथा 'समवर्तित्व' का उपदेश करता है। परन्तु हिन्दू समाजशास्त्र ऊँच-नीच की भावना के अभद्र और अमंगल तत्त्व पर जोर देता है। यदि हम अपनी स्मृतियों से ऊँच-नीच की भावना को मान्य रखने वाला वचन निकाल डालें, तो उनमें बाकी कितना भाग बचेगा !

इसीलिए भगवान मनु ने अपनी स्मृति में ही एक 'भेषज-रूप' (औषधि रूप) वचन दिया है कि स्मृतियों में यदि कोई धर्म (वेद)विरोधी वचन हो, तो उसे अप्रमाण मानना चाहिए। इसका कारण यह है कि स्मृतियाँ सदा धर्मशास्त्रों का विवेचन ही नहीं करतीं; वे धर्म-विरोधी परन्तु तत्कालीन शिष्टजन-मान्य समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और रूढ़ियों का भी समर्थन करती हैं। परन्तु प्रगति न करने का आदी बना हुआ समाज एक बड़े हितकारी न्याय को भूल जाता है। वह न्याय यह है : समाजशास्त्र अथवा अर्थशास्त्र की उपेक्षा शुद्ध धर्मतत्त्व अधिक प्रबल है। देश और काल से मर्यादित धर्मशास्त्र की अपेक्षा सनातन और सार्वभौम धर्मतत्त्व परम प्रमाण है।

इसलिए जब समाज में धार्मिकता बढ़ती है, धर्म का आकलन विशुद्ध बनता है, तब आचार और समाज-रचना में तत्त्व के अनुरूप परिवर्तन की जरूरत स्वीकार

की जाती है। अब वह समय आ गया है जब हमें शुद्ध हिन्दू धर्म को समाजव्यवस्था (जिसमें पुराना अर्थशास्त्र और परम्परागत किन्तु भेददर्शक शिष्टाचार समाए हुए हैं।) के चंगुल से छुड़ा लेना चाहिए। अपनी स्मृतियों को अब हमें अपने अध्यात्म के सिद्धान्त के अनुकूल बना लेना चाहिए।

जनवरी, १९३९

२३. आर्य संस्कृति का आधार

(सामान्य जानकारी)

हिन्दू धर्म को वेद धर्म भी कहा जाता है। वेद संसार में प्राचीन से प्राचीन और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। वेदों में इन्द्र, मित्र, वरुण, द्यावा-पृथ्वी, उषा, सविता, रुद्र आदि ईश्वर के अनेक रूपों का वर्णन और स्तुति है। ये सारे मन्त्र ऋषिगण जब ध्यान में बैठते थे, उस समय उनमें स्फुरित होते थे। वेदों में हिन्दू धर्म के सभी तत्त्वों का सूक्ष्म मूल है। कुछ मंत्रों में सुन्दर काव्य है। वेद चार हैं। ऋग्वेद में अधिकांश स्तुति के ही मंत्र हैं। यजुर्वेद में यज्ञ का प्रकरण है। सामवेद में हमारा प्राचीन गायन है। अथर्ववेद में विविध प्रकार की अनेक बातें हैं।

इन वेदों से ही ब्राह्मण नामक एक दूसरा भाग उत्पन्न हुआ। यहाँ ब्राह्मण अमुक प्रकार के ग्रन्थों का नाम है। ब्राह्मणों में यज्ञ-सम्बन्धी और धर्मतत्त्व सम्बन्धी लम्बी-लम्बी चर्चाएँ हैं।

ब्राह्मण-ग्रन्थों से ही उपनिषदों का जन्म हुआ। उपनिषदों में हमारे धर्म की सारी उदात्त कल्पनाएँ और उसके विशाल तत्त्व आ गए हैं। उपनिषदों में गुरु-शिष्य के कुछ संवाद बड़े ही सुन्दर हैं। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने इन उपनिषदों का ही दूध दुह कर रखा है। (बादशाह शाहजहाँ के बड़े पुत्र दारा ने इन उपनिषदों का फारसी में अनुवाद किया था।) उपनिषदों के बाद अध्ययन और अध्यापन का कार्य खूब बढ़ा, इसलिए स्मरण-शक्ति पर बहुत बोझ पड़ने लगा। इसके फलस्वरूप सूत्रग्रन्थों का निर्माण हुआ। सूत्रग्रन्थों में छोटे-छोटे वाक्य ऐसे ढंग से रचे गए हैं कि बहुत-सी जानकारी ध्यान में रह जाए। परन्तु इन वाक्यों का अर्थ करने की कुंजी गुरु से मिली हो तो ही इन सूत्रग्रन्थों का उपयोग हो सकता है। यह कुन्जी और सूत्रों का विवरण विद्वान आचार्यों ने अपने भाष्यों में दिया है।

जैसे-जैसे फलप्राप्ति के लिए एक निश्चित पद्धति से यज्ञविधि करने का आग्रह बढ़ा, वैसे-वैसे जीवन का हर काम लोग नियम के अनुसार और धर्म के अनुसार

करने लगे। चार वर्णों में से ब्राह्मणों को कैसा आचरण करना चाहिए, क्षत्रिय का क्या कर्तव्य है, वैश्यों का धर्म क्या है और शूद्रों को कौन-सी मर्यादा में रहना चाहिए— यह सब विस्तार से लिखा गया है। मनुष्य क्या खाए, क्या न खाए, क्या पहने, दूसरों के साथ कैसा व्यवहार करे, जीवन के मुख्य-मुख्य अवसरों पर कौन-से संस्कार प्राप्त करे अथवा विकसित करे, आदि सब बातों के नियम रचे गए। इन नियमों को स्मृति इसलिए कहते हैं कि ऋषि-मुनियों ने पुराने समय के आचारों का स्मरण करके ये स्मृतियाँ लिखी हैं। इन स्मृतियों में मनुस्मृतियों और याज्ञवल्क्य-स्मृति बड़ी हैं। वेद के मंत्र देवताओं से सुने गए थे, इसलिए उन्हें श्रुति कहते हैं। ब्राह्मणों और उपनिषदों का समावेश भी श्रुति में ही होता है।

जिस प्रकार मनुष्य के आचरणों की व्यवस्था स्मृतियों में हुई है, उसी प्रकार धार्मिक और तात्त्विक विचारों की व्यवस्था दर्शन में हुई है। आत्मा का दर्शन करने के लिए ये ग्रन्थ उपयोगी हैं, यह जानकर इन ग्रन्थों को ही दर्शन कहा जाने लगा। दर्शन छ: हैं। जो दर्शन वेदों को महत्त्व नहीं देते, उन्हें नास्तिक दर्शन कहा जाता है। वे सर्वथा भिन्न हैं। जिस वेदान्त के बारे में बहुत सुनते हैं, वह उपर्युक्त छह दर्शनों में से एक प्रधान दर्शन है।

(नास्तिक दर्शनों में जैन दर्शन भी आ जाता है। जैन लोग वेदों को नहीं मानते, इसीलिए यहाँ उन्हें नास्तिक कहा गया है। आज तो नास्तिक शब्द बिलकुल अलग ही अर्थ में प्रयुक्त होता है। नास्तिक शब्द का आज का अर्थ है ऐसा मनुष्य जो आत्मा, ईश्वर अथवा धर्म में विश्वास नहीं करता। जैन दर्शन को नास्तिक कहने में नास्तिक शब्द का यह अर्थ नही लिया जाता।)

प्रत्येक धर्म के साथ धार्मिक कथाएँ तो रहती हैं। कथाओं के द्वारा धर्म के सारे सिद्धान्त, प्रसंग, धर्म-संकट, परम्परा सब कुछ समझाया जाता है। ऐसी कथाओं का संग्रह पुराणों में किया गया है। सृष्टि की उत्पत्ति लेकर ताम्रमुखी (गोरे) लोगों के भारत में आने तक की अनेक बातें इन पुराणों में हैं। पुराणकारों ने ऐसी एक भी बात नहीं छोड़ी, जिसका समावेश पुराणों में न हुआ हो। पुराण अठारह हैं। उपपुराण भी इतने ही हैं। रामायण और महाभारत पुराण नहीं है। इनकी गिनती इतिहास में होती है।

आज का हिन्दू धर्म श्रुति, स्मृति और पुराणों के अनुसार चलता है। इसलिए उसे श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त धर्म कहा जाता है। इसके सिवा, आगमों या तंत्रों के नाम से एक अलग धर्म-संग्रह है। वे भी धर्मग्रन्थ ही माने जाते हैं। बंगाल, असम, नेपाल और कश्मीर में इन तंत्रों का अधिक महत्त्व है, यद्यपि हिन्दू धर्म पर सर्वत्र ही इन तंत्रों का प्रभाव है। इन तंत्रों में कुछ विधियाँ ऐसी हैं, जिनका सर्वथा त्याग कर दिया जाना चाहिए।

१९२३

२४. हिन्दू धर्म-संस्कार
(एक चिन्तनीय उपपत्ति)

महाभारत के युद्ध के कुछ समय बाद वैदिक या ब्राह्मण धर्म में सड़ाँध पैठ गई। उपनिषद्-काल के उच्च आध्यात्मिक आचार-विचारों के स्थान पर लोग आत्म-अनात्म की शुष्क नीरस चर्चाओं को ही धर्म का अन्तिम ध्यये मानन लगे। सब कोई यह समझने लगे कि यज्ञ-याग के आडम्बरपूर्ण कर्मकांड से ही स्वर्ग आदि सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। ऐसे समय बुद्ध भगवान ने सही रास्ते से भटके हुए संसार को सत्य और सदाचार के मार्ग पर मोड़ा और महावीर स्वामी ने सबके मन पर आग्रह के साथ यह बात जमाई कि अहिंसा में ही धर्म निहित है। इसके सिवा, जब बुद्ध भगवान के अनुयायी उनके उपदेश को अमुक धर्म अथवा सम्प्रदाय का रूप देकर सर्वत्र उसका प्रसार करने लगे तब उसमें अनेक परिवर्तन करने पड़े और इसके फलस्वरूप बौद्ध धर्म के भी दो पन्थ हो गए। बौद्ध साधु बुद्ध भगवान के मूल उपदेशों पर स्थिर रहने की बजाए जब अपने सम्प्रदाय को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न करने लगे और सम्प्रदाय के प्रचार के लिए राज्याश्रय भी खोजने लगे तब से उनके संघ में सड़ाँध पाई गई। हम बुद्ध भगवान के उपदेशों की सूक्ष्म जाँच करें तो पता चलेगा कि उनके उपदेशों में किसी नए धर्म की स्थापना की अपेक्षा धर्म-परिष्करण का ही भाग अधिक था। उनका आग्रह परम्परागत प्रचलित धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का विरोध करने का नहीं था। बुद्ध भगवान ने तो अपनी नजर के सामने धर्म के नाम पर चल रहे ढोंग के खिलाफ अपनी आवाज उठाई थी। उनके उपदेशों की खूबी यह थी कि उनका पूरी तरह पालन करते हुए भी मनुष्य हिन्दू रह सकता था; इतना ही नहीं बल्कि वह ज्यादा अच्छा हिन्दू बनता था। परन्तु जब से बौद्ध धर्म का साम्प्रदायिक स्वरूप ही अधिक बढ़ने लगा तब से बौद्ध साधु नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन का रहस्य समझने और समझाने की बजाय अपने अधिकारों की रक्षा में ही अधिकाधिक जुटे रहने लगे। ब्राह्मणों में अपने ऊँचेपन की जो शेखी थी, वह बौद्ध साधुओं में भी आने लगी। जिस प्रकार वैदिक यज्ञ के पुरोहित केवल अपने लाभ के लिए लोगों में अन्ध-विश्वास फैलाते थे उसी प्रकार बौद्ध साधु भी अपने स्वार्थ के लिए तथा लोगों की नजर में अपनी महत्ता को बढ़ाने के लिए अनेक अन्धविश्वासों का पोषण करने लगे। बुद्ध भगवान के अवशेषों की पूजा करने की प्रथा आडम्बर में वैदिक कर्मकांड से जरा भी कम नहीं थी। साथ ही बौद्ध साधुओं के दाँत, नख, अस्थि, राख आदि पर बड़े-बड़े स्तूप बनाने में तथा मठ खड़े करने में भारी खर्च करने की प्रथा चल पड़ी। इसके सिवा, अशोक

ने बुद्ध भगवान के अहिंसा और संयम के उपदेश से जिस सार्वत्रिक शान्ति की स्थापना की कल्पना की थी, वह शान्ति भी दुनिया में नहीं आई। प्राचीन काल मे क्षत्रिय राजा अश्वमेध यज्ञ करके बड़े-बड़े युद्ध लड़ते थे, वैसे ही बौद्ध राजा भी बुद्ध भगवान के अवशेषों के लिए आपस में युद्ध करने लगे।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि हिन्दू धर्म में कोई परिवर्तन करने की सुविधा है ही नहीं। हिन्दू धर्म बिल्कुल प्रगतिशील नहीं है, लेकिन यह बात सच नहीं है। हिन्दू धर्म की मान्यताओं में, रीति-रिवाजों और संस्कारों में धीरे-धीरे रूपान्तर होता आया है। बात इतनी ही है कि जैसे मनुष्य के शरीर में रोज परिवर्तन होता है, परंतु सूक्ष्म होने के कारण उसका पता नहीं चलता, वैसे ही हिन्दू धर्म में धीर-धीरे सूक्ष्म परिवर्तन होते रहे हैं। अमुक सिद्धान्तों की, जिन्हें वह अपने सनातन सिद्धान्त मानता है, रक्षा करके हिन्दू धर्म योग्य परिवर्तन स्वीकार करने के लिए सदा ही तैयार रहा है। आर्य राजकुमार सिद्धार्थ द्वारा उपदिष्ट बौद्ध धर्म से उसका जरा भी विरोध नहीं था। सम्भव है कि लोगों का विरोध ह्युएची, यवन और शक जैसे विदेशी राजाओं के नेतृत्व में विकृत रूप ग्रहण करने वाले बौद्ध धर्म के खिलाफ रहा होगा। स्थिति ऐसी उत्पन्न हो गई थी कि यदि भारत में इन राजाओ का और बौद्ध धर्म का प्राबल्य बढ़त, तो भारत में आर्य संस्कृति टिक नहीं पाती।

शाक्य मुनि ने स्वयं समाज में नया चैतन्य जगाने के लिए जैसा प्रयास आरम्भ किया था, कुछ वैसा ही प्रयास ईसा की तीसरी और चौथी शताब्दी मे भी भारत की आर्य प्रजा ने आरम्भ किया था।

अशोक के बाद मुख्यत: बौद्धों को राज्याश्रय मिलने लगा और ब्राह्मणों की सत्ता राजकाज में घटने लगी। लेकिन इसकी वजह से ब्राह्मण धर्म डूब नहीं गया। देश के कोने-अंतरे में पड़े हुए कुछ माध-चरित ब्राह्मण पण्डित उसकी रक्षा कर रहे थे और वन के आश्रमों में रहने वाले ब्राह्मण ऋषि-मुनि उसके मूलभूत सिद्धान्तो का संधोधन कर रहे थे। उन्होंने बुद्ध भगवान के बताए हुए दोषों को स्वीकार कर लिया, जी-तोड़ परिश्रम करके शुद्ध वैदिक धर्म का स्वरूप निश्चित किया और उस पर बौद्ध धर्म का मुलम्मा चढ़ाकर वेदिक कर्मकांड का स्थूल जड़वाद उसमें से निकाल दिया। यज्ञ-याग और उनके नाम पर होने वाली हिंसा का (जिसके विरुद्ध बुद्ध भगवान ने प्रबल आन्दोलन किया था) हिन्दू धर्म में लगभग अन्त हो गया। नीति और सदाचार को उनका स्वाभाविक महत्त्व प्राप्त हुआ। हिन्दू संन्यासी भी बौद्ध भिक्षुओं के समान उपदेश करने के लिए सर्वत्र घूमने लगे। बोधिसत्त्व और बुद्ध की पूजा की तरह राम और कृष्ण की भी पूजा होने लगी। इस तरह बौद्ध धर्म में हिन्दू धर्म से श्रेष्ठ अथवा अधिक आकर्षक कोई चीज नहीं रह गई। इसके विपरीत, बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय में विदेशी राजा अपनी इच्छानुसार हस्तक्षेप

कर सकते थे, जब कि इस हिन्दू धर्म में तो स्वदेशी परम्परा की ही प्रतिष्ठा रह सकती थी। इसके फलस्वरूप नया हिन्दू धर्म सर्वत्र फैल गया। विदेशों से आए हुए राजाओं को भी ऐसा हिन्दू धर्म स्वीकार करके उसे प्राधान्य देने में अपना हित मालूम हुआ। हिन्दू धर्म के अवतारवाद ने बुद्ध को उस ममय के अत्यन्त लोकप्रिय भगवान विष्णु के एक अवतार का रूप दे दिया और शुद्ध बौद्ध धर्म को आत्मसात करने का हिन्दू धर्म का प्रयत्न सफल हुआ।

हिन्दू धर्म में मूर्तिपूजा कब से आरम्भ हुई यह निश्चित रूप से कहना कठिन है, परन्तु यह मानने के कारण मिलते हैं कि मूर्तिपूजा बौद्ध धर्म के प्रभाव का फल है। कुछ लोग कहते हैं कि बौद्धों ने बुद्ध भगवान के अवशेषों पर स्तूप बनवाना शुरू किया और विहार बनाकर उनमें बुद्ध भगवान की मूर्ति की स्थापना वे करने लगे, उससे पहले हमारे देश में मन्दिर बनवाने की प्रथा नहीं रही होगी, ये लोग मानते हैं कि हमारे पुराणों में मन्दिरों का जो उल्लेख है वह बाद में जोडा गया होगा।

कुछ लोग तो यह मानते हैं कि ईश्वर के अवतार की कल्पना भी बौद्ध काल से आरम्भ हुई होगी। परन्तु एक ही ईश्वर के अनेक रूप है, यह कल्पना तो वेदो में भी है। इसी प्रवार वेदो के कुछ ऋषि ऐसा भी कह गए हैं कि 'मै ही ईश्वर हूँ।' अतः लोगों के उद्धार के लिए ईश्वर मनुष्य-रूप धारण करता है, यह कल्पना वेद धर्म के लिए अपरिचित नहीं है। भगवद्गीता में तो अवतारवाद का सिद्धान्त सम्पूर्ण रूप में पाया जाता है।

१९२३

२५. बुद्ध का समय और बुद्ध का कार्य

(ढाई हजार वर्ष पूर्व)

पहाड़ी प्रदेश में रहने वाले लोगों को कुदरत के साथ और आपस में एक-दूसरे के साथ सदा लडना पडता है। उनके बीच स्वतंत्रता का लड़ाई का वातावरण हमेशा जाग्रत रहता है। लेकिन जब ये ही पहाड़ी लोग समतल मैदान में आ बसते हैं और समृद्ध खेती चलाते हैं, तब उनके इस स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है। विस्तीर्ण और उपजाऊ प्रदेश को देखकर मनुष्य में या तो साम्राज्य की कल्पना दृढ होती है या स्वभाव में सन्तोष की मात्रा बढ़कर उसकी अहिंसा-वृत्ति दृढ़ हो जाती है।

गंगा-यमुना के तटों पर महान साम्राज्यों की स्थापना हुई, महान युद्ध लड़े गए

और कुछ समय के लिए तो लगभग सारा ही देश वीरान हो गया— इसका इतिहास महाभारत में आ गया है। उसके बाद सम्पूर्ण भारतवर्ष को पुनः एक जीवन-सूत्र में बाँधने का प्रयत्न बुद्ध भगवान की प्रवृत्ति से आरम्भ हुआ। युधिष्ठिर ने भारतवर्ष को एक साम्राज्य के छत्र के नीचे लाने का प्रयत्न किया था। भगवान बुद्ध ने अहिंसा अथवा प्रेम के धर्मछत्र के नीचे सारी दुनिया को लाने का प्रयत्न किया। वह काल भी इसके अनुकूल ही था। देश में मगध, कोसल, वत्स, काशी, अवन्ती जैसे छोटे-छोटे राज्य बिखरे हुए थे। शाक्य, मग्ग, कौलाम्, कोलीय, मोरीय, मल्ल, विदेह, लिच्छवी आदि गणों के छोटे प्रजासत्ताक राज्य भी थे। राजा लोग साम्राज्य के प्राचीन आदर्श को नजर के सामने रखकर सम्राट् बनने के लिए आपस में लड़ते थे। स्थलाभिमान और वर्णाभिमान खूब बढ़ गए थे; मूल में कुलाभिमान तो था ही। लोगों का जीवन आज की तुलना में कितना ही सादा और सरल क्यों न रहा हो, फिर भी मौज-शौक की वृत्ति खूब बढ़ गई थी। ब्राह्म विधियों के नीचे धर्म का सच्चा स्वरूप दब गया था। भय से लालच से कुदरती शक्तियों को सन्तुष्ट करने में ही धर्मका सर्वस्व समा जाता था। मंत्रों की शक्ति के बारे में भ्रामक कल्पनाएँ बढ़ गई थीं। लोगों में ऐसी मान्यता रूढ़ हो गई थी कि मंत्रों द्वारा भली-बुरी सब वासनाएँ तृप्त की जा सकती हैं और यज्ञ-याग करके उनमें देवताओं के लिए पशुओं का बलिदान देने से सारे पाप धुल जाते हैं।

जिन थोड़े से लोगों को इस स्थिति से घृणा होती थी, वे दूसरे छोर पर जाकर शरीर को तरह-तरह के निरर्थक कष्ट देने में ही जीवन की सफलता मानते थे। सुखोपभोग में डूबे हुए लोगों में ऐसे देह-दमन करने वाले तपस्वियों की प्रतिष्ठा अत्यधिक बढ़ गई थी। मनुष्य-जीवन का ध्येय क्या है, धर्म किस बात में है, मनुष्य का मनुष्य के प्रति और अन्य प्राणियों के प्रति क्या कर्तव्य है— इसकी सच्ची कल्पना ही लोगों के मन से नष्ट हो गई थी। पंडित लोग निठल्ले बैठे-बैठे ईश्वर के सम्बन्ध में अनेक चित्र-विचित्र कल्पनाएँ खड़ी करके आपस में लड़ते-झगड़ते थे। आत्मा है या नहीं, ईश्वर का स्वरूप कैसा है, कौन-सा यज्ञ करने से कौन-सा फल प्राप्त होता है— आदि चर्चाओं में ही वे लोग दिन-रात लीन रहते थे।

विचारशील लोग इन शुष्क चर्चाओं और शुष्क जीवन से ऊब गए थे। नीची जातियों के अनपढ़ और अज्ञानी लोग तो बिलकुल ही दब गए थे। इन सब दुःखों से मुक्त होने का मार्ग खोजने के लिए किसी समाज-हितैषी और स्थिर बुद्धि वाले व्यक्ति की जरूरत थी। बुद्ध भगवान ने एक ओर कर्म का अटल नियम लोगों को समझा कर बड़े-बड़े यज्ञ-यागों का दम्भ दूर किया और दूसरी ओर आत्मा परमात्मा की शुष्क चर्चाओं की प्रतिष्ठा घटाई, देह-दमन के नशे की निन्दा की तथा वर्णभिमान

का मद भी तोड़ा, सुख की लालसा के कारण लोगों को पामर बना देखकर उन्हें ब्रह्मचर्य और त्याग का महत्त्व समझाया और अपने धर्म का दृढ़ता से पालन करने वाले लोगों का एक महान संघ रचकर उनके द्वारा भोग और भ्रम से कलुषित बने हुए समाज पर मानो सदाचार का आक्रमण किया। बुद्ध के समय में शास्त्रों में जो अच्छे धर्मतत्त्व थे उन्हीं का अनुवाद जनभाषा में करके उन्होंने सब वर्णो के लोगों को उनका उपदेश किया; और सब लोगों को उन्होंने यह समझा दिया कि सदाचार ही धर्म की बुनियाद है, अहिंसा और त्याग ही धर्म का अधार है।

बुद्ध के कुछ पण्डित शिष्यों ने यह मांग की कि आज समाज में सर्वत्र वैदिक भाषा की ही अधिक प्रतिष्ठा है, इसलिए उसी भाषा में आपके उपदेशों को व्यवस्थित रूप देना ठीक होगा। बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों मे कहा : "मैं ऐसी प्रतिष्ठा को तोडना चाहता हूँ। मैं तो यह चाहता हूँ कि लोगों में बोली जाने वाली सभी भाषाओं में तुम मेरे उपदेशों को फैलाओ। धर्म सबके लिए है।"

इससे समाज के समान्य जन ऊपर उठे। आगे चलकर सन्तों ने भी यही कार्य किया।

१९२३

२६. जीता-जागता संघ

१
आर्य-समाज*

(आर्य-समाज एक जीता-जागता संघ है; वह आँखें खुली रखकर दुनिया की ओर देखने वाली एक संगठित संस्था है।

आप असहिष्णु नहीं है, यह सिद्ध करने का प्रयत्न आप किसलिए करें ? क्या असहिष्णुता हमेशा दुर्गुण ही होती है ? और सहिष्णुता क्या सदा सद्गुण ही होती है। महाभारत में एक स्थान पर कहा गया है कि सहिष्णुता बोझ ढोने वाले गधे का भूषण है। पड़े रहना, अपमान सहन करना, लुट जाना और फिर भी इसका बिलकुल ही प्रतिकार न करना यदि सहिष्णुता हो, तो ऐसी सहिष्णुता सद्गुण नहीं

---

* ता० ३१-८-'२८ को सूपा गुरुकुल के वार्षिक उत्सव के अवसर पर अध्यक्ष-पर से दिया गया भाषण।

है; वह अधर्म है, पाप है। हम पर दुःख आ पड़े और हम उसे दूर करने का प्रयत्न न करें, इसमें पुरुषार्थ नहीं है। यह तो पातक है, क्योंकि जो भी वस्तु हमें नीचे गिराती है, हमारा पता करती है, वह पातक है।

सहिष्णुता दो प्रकार की होती है: एक निष्क्रिय जड़ता की, पामरता की, कायरता की; और दूसरी व्यापक दृष्टि की, प्रेम की, सर्व-समर्थ उदारता की । पामर मनुष्य उदारता के नाम पर अपनी निर्बलता को छिपाता है और स्वयं अत्यन्त सहिष्णु होने का ढोंग करता है। किन्तु उसके जीवन में तेज दिखाई नहीं देता। ऐसी सहिष्णुता की बजाए तो असहिष्णुता ज्यादा अच्छी है। भय से डर जाने की बजाए साहसी बनकर भय का सामना करने में ही मनुष्य की उन्नति है। आपके धर्म के एकाध सुन्दर तत्त्व का भले ही नाश हो जाए, परन्तु उसकी आत्मा का कभी नाश नहीं होना चाहिए। आत्मा का नाश हुआ वहाँ सम्पूर्ण धर्म का नाश हुआ समझिए। प्रतिकार मनुष्य की जीवन्त दशा का लक्षण है। तेजस्वी पुरुष अपकार को सहन करके शान्त कैसे बैठ सकता है ?

परन्तु विचारवान शूरवीर मानव दीर्घ दृष्टि से देख लेता है कि विचारहीन बनकर लड़ने में कोई लाभ नहीं होगा, सहन करके ही हम जीतेंगे; सहन करने से हम बाजी खोएँगे नहीं, बल्कि परिस्थितयों पर विजय प्राप्त करेंगे। धैर्यवान मनुष्य आत्मत्याग करके बड़े-बड़े कष्ट सहन करता है और मानव-संस्कृति को ऊँचा उठाता है। जिस प्रकार गाली का जवाब गाली से देकर हम एक प्रकार का 'न्याय' भले ही प्राप्त करें, परन्तु अपनी या समाज की कोई उन्नति नहीं करते; उसी प्रकार प्रत्येक विरोधी का विरोध करने से भी हम सदा श्रेय ही साधते हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। जब हम अपनी शकित के भान के साथ ज्ञानपूर्वक कष्ट सहन करते हैं तब हमारा धर्म सोलहों कलाओं में चमकता है और अन्त में उससे सबका कल्याण होता है। दुष्ट मनुष्य पर विजय प्राप्त करने की बजाए यदि हम दुष्टता पर ही विजय पा सकें तो वह श्रेष्ठ कदम होगा, इसे कौन स्वीकार नहीं करेगा 'क्षमा वीरस्य भूषणम्'— क्योंकि वीर की क्षमा के पीछे डर नहीं होता। लेकिन अगर हमें यह लगे कि सहिष्णु रहने से हम सब-कुछ खो बैठेंगे, सहिष्णु बनने जितने समर्थ हम नहीं हैं, तो समर्थ होने का ढोंग करने की बजाए अच्छा यही होगा कि हम विरोध का प्रतिकार करें। इसी में से हमें आगे का रास्ता मिलेगा।

आर्य-समाज का प्रथम परिचय मुझे उत्तर भारत में हुआ था। प्रथम दर्शन में ही मैंने देख लिया कि आर्य-समाजी किसी के साथ टक्कर लेने में संकोच नहीं करते। वे इस बात का विचार करने नहीं बैठते कि हमारे विचारों का प्रचार करने से विरोधियो को बुरा लगेगा या नहीं। अपने मतों और सिद्धान्तों के बारे में वे इतने अधिक पारमार्थिक (serious) होते हैं कि कहीं भी विवाद करने के लिए तैयार

हो जाते हैं। 'मैं यह खड़ा हूँ और ये मेरे विचार हैं। या तो तुम इन्हें स्वीकार करो, या इनका खंडन करो।'— इस प्रकार आर्यसमाजियों को कहते सुनकर मुझे लगता था कि उनके रूप में मंडन मिश्र का नया अवतार हुआ है। उस समय आर्य-समाजी प्रचारकों के साथ वाद-विवाद में उतर कर मैंने आर्य-समाज के बारे में उनसे खूब जानकारी प्राप्त कर ली। फर्क इतना ही था कि मेरी वाद-विवाद की मर्यादा अलग थी। वाद-विवाद में एक आदमी दूसरे को हरा तो सकता है, लेकिन खुद जीत नहीं सकता। विवाद के समय दोनों ही वादी किसी हद तक प्रतिनिविष्ट* होते हैं। जब दोनों को यह विश्वास हो जाए कि वे एक-दूसरे का पक्ष समझ गए हैं तब उन्हें विवाद का अन्त कर देना चाहिए। मनुष्य बहुत बार विवाद के बाद मिलने वाले एकान्त में ही विरोधी पक्ष की दलीलों को हजम कर पाता है।

शान्त वाद-विवाद के फलस्वरूप यह मालूम हो जाता है कि प्रत्येक धर्म में कोई-ना-कोई खूबी तो है ही। मैं यह बात समझ गया हूँ कि मुसलमान मूलतः हिन्दुओं को चिढ़ाने के लिए मूर्तिपूजा का विरोध नहीं करते, परन्तु वे सचमुच मूर्तिपूजा में ईश्वर का घोर अपमान मानते हैं। आप भले ही मूर्तिपूजा को भ्रम मानें, परन्तु उसके पीछे ईश्वर की भक्ति ही है, ईश्वर का अपमान करने की नीयत नहीं है, इस प्रकार मैं उन्हें समझाने का प्रयत्न करता था। मैं उनसे कहता था कि मूर्ति में परमेश्वर को देखने वाले मनुष्य में जड़ता भी हो सकती है और उच्च आध्यात्मिक दृष्टि तथा कवि-हृदय भी हो सकता है।

आर्य-समाजियों के तर्क के पीछे भी मैं उनकी धर्म सेवा की सुधारक-वृत्ति को देख सकता था। हिन्दू धर्म में पैठे हुए चमत्कारों, अन्धविश्वासों, पामरता और सत्तावाद से ये लोग उब गए हैं, इसलिए उनका ये विरोध करते हैं— यह देखकर मेरी आत्मा को सन्तोष होता था। कुछ हिन्दू शास्त्रों में लोगों के मन पर धर्म के तत्त्वों को जमाने के लिए भय और लालच का छूट से उपयोग किया गया है। घर में भय, बाहर भय, जल में भय, स्थल में भय ! और मानो जमीन पर रहने वाले अत्याचारी काफी न हों, इसलिए आकाश में भी शनि, राहु और केतु का भय खड़ा कर दिया गया। यदि ऐसा भय ही धर्म का आधार हो, तब तो उस धर्म का नाश होना ही अच्छा है।

आर्य-समाजियों में भी शास्त्र-वचनों का आग्रह देखकर मुझे लगता था कि मुझमें यह वृत्ति क्यों नहीं है ? मैं तो सनातनी हिन्दू हूँ, समस्त शास्त्रों में विश्वास करने वाला यानी उनके प्रति आदर रखने वाला हूँ। परन्तु मैंने कभी इन शास्त्रों को 'पीनल कोड' जैसा माना ही नहीं, मैं तो शास्त्रों को अनुभवी ओर पूज्य लोगों के

* प्रतिनिविष्ट = विरोधी बनकर बैठे हुए, हठाग्रही।

वचन मानता हूँ। मेरे मन में उनके प्रति आदर का भाव रहता है, अश्रद्धा नहीं रहती। लेकिन उनमें से मैं जितना समझ सकूँ और जितना मेरे गले उतरे उतने को ही मैं स्वीकार कर सकता हूँ और उस पर अमल कर सकता हूँ। श्रद्धा रखते हुए भी यदि किसी वस्तु के बुरी या हानिकर होने की प्रतीति मुझे हो जाए, तो केवल इसलिए मैं उसका स्वीकार या उस पर अमल नहीं करूँगा कि शस्त्रों में उसका विधान है।

उत्तर भारत में जब आर्य-समाजी और सनातनी आपस में लड़ते थे, उस समय सनातनियों की दशा बड़ी विषम हो जाती थी। आर्य-समाज तो केवल वेद-शास्त्र को ही प्रमाण मानते थे, जब कि सनातनियों के लिए वेदों के उपरान्त ढेरों अन्य शास्त्र-ग्रन्थ भी प्रमाण थे। इन सबका बचाव करें तो ही सनातनी वाद-विवाद में जीत सकते थे। और वेदों का विरोध तो उनमें हो ही नहीं सकता था। ऐसे वाद-विवाद में जब मैं उतरता था तब कहता था कि मेरे लिए सभी शास्त्र श्रद्धापात्र अर्थात आदरणीय हैं, परन्तु प्रमाण के रूप में मैं किसी शास्त्रग्रन्थ को नहीं मान सकता। आर्य-संस्कृति के उद्‌गम के रूप में और अनुभवी ऋषियों के मुख से निकले हुए उद्‌गारों के रूप में वेद मेरी दृष्टि में पूज्य हैं। किन्तु उनका निश्चित अर्थ जाने बगैर मैं उन्हें प्रमाण के रूप में कैसे स्वीकार करूँ। सायणाचार्य वेदों का अर्थ एक प्रकार से करते हैं, तो यास्काचार्य दूसरे प्रकार से करते हैं। लोकमान्य का अर्थ अलग है, तो अरविन्द घोष का अर्थ भी अलग है। स्वामी दयानन्द सरस्वती का अर्थ तो उनसे भी अलग है। और वे स्वयं ही यह बात कह गए हैं कि प्रत्येक मनुष्य को वेदों का अर्थ करने का अधिकार है। ऐसी स्थिति में वेदों के प्रामाण्य के बारे में शस्त्रार्थ करने से क्या लाभ होगा ? जितना समझ में आए उतने को हम स्वीकार करें; बाकी का समझ में नहीं आता ऐसा कहकर छोड़ दें, किन्तु उसकी निन्दा न करें। जहाँ तक मेरी शुद्ध बुद्धि चलती है, मेरा अनुभव पहुँचता है और मेरी श्रद्धा टिक सकती है वहाँ तक मैं शास्त्रों को मानता हूँ। मेरी दृष्टि में प्राचीन काल के शस्त्रों के व्याकरण-शुद्ध अथवा तर्कशुद्ध अर्थ की अपेक्षा श्रद्धावान और अनुभवी धर्मद्रष्टा सत्पुरुषों के जीवन्त वचन अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उनके शब्दों पर विश्वास रखकर अपना मार्गदर्शन करने का काम मैं उन्हें सौंप देता हूँ।

ऐसी वृत्ति से की हुई चर्चाओं में हमें बड़ा आनन्द आता था। आर्य-समाजियों की धर्मचर्चा की अपेक्षा उनकी समाजसेवा और उनका आत्मत्याग मुझे सदा अधिक उज्जवल लगा है। ऐसे लोगों के कड़वे वचन भी मुझे मीठे लगते थे। 'काश्मीरजस्य कटुताऽपि नितान्त रम्या।'— काश्मीर के केसर का कड़ुआपन भी स्वादिष्ट लगता है। दयानन्द सरस्वती जैसे तेजस्वी ब्रह्मचारी और समाज-हितैषी पुरुष ही निर्भयता से किसी राजा से भी कह सकता था कि "तु कुत्ता मत बन।" जिस समाज में स्वामी दयानन्द से लेकर स्वामी श्रद्धानन्द तक बलिदान देने वाले वीर उत्पन्न होते

जाते हैं, उस समाज का तेज सदा उज्ज्वल ही रहने वाला है। किसी भी धर्म का प्रचार उसके पेशेवर या प्राकृत गायकों और प्रचारकों द्वारा नहीं होता। शुद्ध बलिदान से ही धर्म का प्रचार होता है। धर्म का प्रचार उस धर्म के अपने सच्चे तेज से होता है।

आज शुद्धि की और गुण-कर्मानुसार चातुर्वर्ण्य की बहुत चर्चा हुई है। सच कहूँ तो आप अस्पृश्यों की जो शुद्धि करते हैं, वह मुझे बिलकुल नापसन्द है। अस्पृश्यों की शुद्धि हम किसलिए करें ? उन्होंने ऐसे कौन से पाप या अपराध किए हैं कि हम उन्हें अशुद्ध मानें ? वे मृत पशुओं को चीरते हैं, चप्पल-जूते बनाते हैं या पाखाना साफ करते हैं, इसीलिए क्या वे अशुद्ध हो गए। ये सब तो समाज के लिए उपयोगी धन्धे हैं। अस्पृश्य लोग समाज की कीमती सेवा करते हैं। पाखाने साफ करके वे समाज को स्वास्थ्य प्रदान करते हैं। एक बंगाली कवि ने अपनी कविता में अस्पृश्यों की तुलना स्वयं हलाहल पीकर देवों को अमृत देने वाले नीलकंठ महादेव के साथ की है। ऐसे वर्ग को भला शुद्धि की आवश्यकता कैसे हो सकती है ? मैं तो 'अस्पृश्यों' को दूर रखने वाले 'स्पृश्य' वर्ग की शुद्धि चाहता हूँ। मैं स्पृश्यों से कहता हूँ कि भाइयो, अपने हृदय शुद्ध कीजिए और अपनी उत्तम प्रकार की सेवा से आपको ऋणी बनाने वाली इस अभागी जाति को अपनाइए। अस्पृश्यों को दूर रखने से हिन्दू जाति का संगठन नहीं होगा। एक अस्पृश्यता को यदि हम खतम कर दें तो हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी के साथ हमारा झगड़ा मिट जाएगा। यह झगड़ा यदि पूर्णतया न मिटा तो भी मन्द अवश्य पड़ जाएगा।

आर्य-समाज अस्पृश्यता को नहीं मानता, फिर भी गुजरात के कुछ आर्य-समाजी अस्पृश्यता-निवारण में शिथिल हैं, भीतर ही भीतर या छिपे रूप में अस्पृश्यता का बचाव करते हैं। रूढ़िग्रस्त सनातनी हिन्दू यदि अस्पृश्यता का बचाव करें तो यह बात समझ में आ सकती है। लेकिन आप लोग तो धर्म का उद्धार करने निकले हैं। आप रूढ़ि के शत्रु हैं। आप यदि अस्पृश्यता का बचाव करें तब तो हद हो गई न ! अन्धविश्वास से मुक्ति पाकर यदि आप अपने को पुण्यपात्र मानते हों, तो एक प्राचीन वचन उद्धृत करके मैं आप से कहूँगा :

अन्यक्षेत्रे कृतं पापं पुण्यक्षेत्रे विनश्यति।
पुण्यक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति।।

दूसरी बात यह है कि आप चातुर्वर्ण्य को जन्मसिद्ध नहीं मानते, बल्कि गुण-कर्म के अनुसार मानते हैं। भगवद्गीता में श्री भगवान ने कहा है:

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म-विभागशः।

इसमें भार 'गुणकर्म-विभागशः' शब्दों पर दिया जाए या 'मया सृष्टं' पर दिया जाए, इस प्रश्न की चर्चा में मैं यहाँ नहीं उतरूँगा। मैं तो आप से इतना ही कहूँगा

कि चातुर्वर्ण्य का आधार चाहे जो हो, उसमें ऊँच-नीच का भाव तो कभी होना ही नहीं चाहिए। सब कोई अपने-अपने स्थान पर समान है। ऊँच-नीच का भाव आया कि प्रतिस्पर्धा आई ही समझिए। प्रत्येक मनुष्य की इच्छा सर्वोच्च स्थान पर पहुँचने की होती है। उसे मना कैसे किया जा सकता है ? प्रतिस्पर्धा और चातुर्वर्ण्य इन दोनों में कोई मेल नहीं हो सकता। यदि आर्य -समाज में भी ब्राह्मण श्रेष्ठ और शूद्र कनिष्ठ जैसे ऊँच-नीच-भाव चालू रहेगा, तो यह समाज सनातनी समाज की उपेक्षा जल्दी नीचे गिरेगा। सबको संस्कार प्राप्त करने का, मोक्ष पाने का तथा समाज-सेवा और भूतमात्र की सेवा करने का समान अधिकार होना चाहिए। इसमें बाहर से मर्यादा लगाने का अधिकार किसी को नहीं है। चातुर्वर्ण्य केवल समाज में आजीविका की शान्ति-मूलक और प्रगति-पोषक व्यवस्था करने के लिए ही हैं ! जहाँ आपसी हित-सम्बन्धों के परस्पर विरोधी होने की सम्भावना हो, जहाँ एक का लाभ बढ़ने से दूसरे की हानि होती हो, वहाँ व्यवस्था की जरूरत होती है।

वर्ण-व्यवस्था को मैं मनुष्य-स्वभाव में निहित (एक प्रयोग रूप) संस्था मानता हूँ। और जब तक हम यह मानते हैं कि मनुष्य-स्वभाव के निर्माण में ईश्वर का हाथ है तब तक चातुर्वर्ण्य के ईश्वर-कृत अथवा मनुष्य-कृत होने की चर्चा मेरी दृष्टि से बेकार है। मनुष्य का स्वभाव तुरन्त नहीं बदलता। हमारा पुनर्जन्म में विश्वास है, वंश-परम्परागत संस्कारों में विश्वास है और इस बात में भी हमारा विश्वास है कि शिक्षा द्वारा तथा धर्म-संस्कारों के द्वारा मनुष्य के स्वभाव को बदला जा सकता है। इन सब बातों का विचार करके हम अपने मन में चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था को स्थिर कर सकते हैं।

चारों वर्णों को मिलाकर समाज का विराट् शरीर बनता है; किसी भी वर्ण को केवल अपना ही विचार करके स्वतंत्र अथवा अलग रहने का अधिकार नहीं है— यह बात वेद के पुरुष-सूक्त में स्पष्ट है। मुझे लगता है कि जब से हिन्दुओं में प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक जाति अपने-अपने अलग मंडल बनाकर दूसरे वर्ण या दूसरी जाति के प्रति उदासीन अथवा लापरवाह हो गए तभी से चातुर्वर्ण्य का नाश हुआ है। ब्राह्मण आदि ब्राह्मणों का ही विचार करें और अन्य तीन वर्णों के उत्कर्ष की परवाह न करें, तो वे वर्णों के गुरु न रहकर शैतान बन जाते हैं। क्षत्रिय अपनी जाति के आत्म-बलिदान से समस्त समाज की रक्षा करने की बजाए यदि अपनी जाति के अधिकारों की रक्षा और जाति की श्रेष्ठता सिद्ध करने में लग जाएँ, तो यही कहना पड़ेगा कि वे चातुर्वर्ण्य को नहीं मानते। वैश्य यदि सारे समाज के लिए खेती और गो रक्षा करना छोड़ दें और अपने दान के प्रवाह को अपनी जाति का भला करने की दिशा में ही मोड़ दें, तो वे आर्य हिन्दू धर्म के शत्रु कहे जाएँगे। चारों वर्णों को मिलाकर एक जीव समाज बनता है, यह दिखाने के लिए ही वैदिक ऋषि ने 'सहस्रशीर्षा'

पुरुष की कल्पना की है। परन्तु इस उपमा को खींच-तानकर हम ऐसा अनुमान न निकालें कि पाँव शरीर का आधा और निचला भाग है, इसलिए शूद्र समाज का आधा और उपेक्षणीय भाग है। प्रत्येक समझदार मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने आसपास के मनुष्य-मात्र को संस्कारी बनाए। ब्राह्मण अर्थात् शिक्षक यदि यह कहे कि 'अमुक वर्गों को मैं संस्कार द्वारा द्विज बनाऊँगा ही नहीं', तो समझना चाहिए कि ब्राह्मण वर्ण का दिवाला निकल गया है।

समाज में कुछ लोग तो दुर्भाग्य से जड़, मन्द या अपंग रहेंगे ही। प्रयत्न करने पर भी जो लोग सस्कार ग्रहण नहीं कर सकते ऐसे लोगों के लिए द्विजों की अर्थात संस्कारी लोगों की परिचर्या करके अपनी आजीविका पाने की व्यवस्था शूद्र वर्ण में है। परिचर्या का अर्थ है मनुष्य की व्यक्तिगत सेवा। अंग्रेजी में इसे 'menial service' कहा जाता है। स्वाश्रयी और स्वावलम्बी समाज में परिचर्या के लिए कम-से-कम स्थान होता है। संस्कारी लोग समाज-सेवा के रूप में बीमारों की या अपाहिजों की परिचर्या करें , विद्यार्थी धर्मबुद्धि से अपने गुरुओं की परिचर्या करके अध्यापन के लिए जरूरी फुरसत उन्हें जुटा दें, हर परिवार में युवक और युवतियाँ कृतज्ञता की भावना और भक्ति से परिवार के अतिवृद्ध गुरुजनों की परिचर्या करें, यह स्वाभाविक है। ऐसी परिचर्या करने वाला मनुष्य हमेशा ऊँचा उठता है। लेकिन ऐसी परिचर्या एक नैमित्तिक धर्म है। परिचर्या का धन्धा करने वाला और उससे जीविका प्राप्त करने वाला एक वर्ग खड़ा करके उसकी संख्या को बढ़ाना समाज की नाव को डुबाने वाली प्रवृत्ति है।

जिस प्राकर शिक्षाशास्त्री ब्रह्मचारिणी मॉन्टेसोरी ने अपंग बालकों को भी संस्कार प्रदान करने की नई-नई पद्धतियाँ खोजने का बीड़ा उठाया, उसी प्रकार हमें भी स्मस्त शूद्रों को शिक्षा और संस्कारों द्वारा द्विज बनाने का बीड़ा उठाना चाहिए। ब्राह्मण को ऐसा लगना चाहिए कि समाज का एक-एक अनपढ़ या संस्कार-शून्य विद्यागुरु ब्राह्मण के पराजय की पताका है। समाज मे शूद्रों की संख्या जितनी कम होती है उतना ही समाज अधिक हलका और अधिक शक्तिशाली बनता है।

जितने लोग स्वतन्त्र धन्धा करके आजीविका प्राप्त करते हैं और समाज के योग-क्षेम में पूरा भाग लेते हैं, वे सब वैश्य हैं। भले ही वह धन्धा राज्य-व्यवस्था का हो, आभूषण बनाने का हो, दवा-दारू करने का हो या जूते सीने का हो। विराट् वैश्य वर्ण में अनेक जतियों का और कौमों का समावेश होता है। वेदों में तो 'वैश्य' अथवा 'विश्' शब्द का प्रयोग सामान्य मनुष्य के अर्थ में किया गया है। ब्राह्मण-पुत्र शुन शेप वरुण की प्रार्थना करते हुए कहता है : "हे देव वरुण, हम सब विश् होने के कारण स्खलनधर्मी हैं। हम तुम्हारे नियम प्रतिदिन तोड़ते हैं। तुम हम पर कोप न करना।" मनुष्य-समाज का बड़ा भाग वैश्य-समाज ही हो सकता

है।

ब्राह्मण और क्षत्रिय ये दो वर्ण समाज की विशिष्ट और उत्कट पारमार्थिक सेवा के लिए उत्पन्न हुए हैं। धर्म-प्रचार अथवा शिक्षा-प्रचार के प्रताप से यदि सारा समाज सात्त्विक हो जाए, तेजस्वी बन जाए तो क्षत्रिय वर्ण के लिए अधिक काम न रहे। धर्म की शक्ति पर यदि हमारा सच्चा विश्वास हो तो हमें अवश्य यह लगेगा कि एक समय ऐसा आने ही वाला है जब मनुष्य-समाज में अन्याय, अत्याचार और विग्रह का नाश हो जाएगा। तेजस्वी समाज अपनी रक्षा का काम किसी एक वर्ग को ही सदा के लिए सौंप सकता है। 'स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः।' मनु की प्रजा— मानव-जाति— अपने वीर्य से ही अपनी रक्षा करे, दूसरों से रक्षा की अपेक्षा न रखे, ऐसी स्थिति में किसी-न-किसी दिन तो आनी ही चाहिए। उस समय तक प्रजा की रक्षा के लिए अपना बलिदान देने को तत्पर रहने वाले एक वर्ण समाज से अपनी आजीविका प्राप्त करने का अधिकारी रहेगा ही। क्षात्रवृत्ति समाज के प्रत्येक मनुष्य में विकास हो, यह वांछनीय है। परन्तु क्षात्रवर्ण बड़ा रहे या छोटा, यह तत्कालीन परिस्थितियों पर आधार रखता है।

ब्राह्मण का धर्म विद्या की उपासना, विद्या वृद्धि और विद्या-प्रचार, धर्म का पालन, धर्म का संस्करण और धर्म का प्रचार करना ही है। जब तक मानव-प्राणी जन्म से ही अपने साथ ज्ञान लेकर नहीं आता, जब तक वह संस्कारों की शिक्षा की अपेक्षा रखता है, तब तक ब्राह्मण-वर्ण अवश्य रहेगा। ब्राह्मण अपने ज्ञान और दीर्घ दृष्टि से समाज का स्वाभाविक नेता बन सकता है। वह समाज-भक्षक न बन जाए, इसके लिए हमारे शास्त्रकारों ने उस पर तीन प्रकार की मर्यादाएँ लगा दी हैं : (१) ब्राह्मण को सम्पत्ति, सत्ता और सुख तीनों के बारे में विरक्त रहना चाहिए; (२) ब्राह्मण को अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए गरीबी में रहना चाहिए, धन-संचय की लालसा त्याग देनी चाहिए; तथा (३) ब्राह्मण को सत्ताधीश बनने का लोभ नहीं रखना चाहिए। महान चाणक्य ने सत्ता का उपयोग करके विदेश के शक्तिशाली लोगों को देश से बाहर निकालने के लिए मगध देश में महान हिन्दू साम्राज्य स्थापित करने की हिमायत की। परन्तु अन्त में ब्राह्मण-धर्म के विरुद्ध यह कर्म करने के लिए उन्होंने भारी प्रायश्चित्त किया। आज देखिए, यूरोप के ब्राह्मण किस प्रकार दुनिया को सुलगाने लगे हैं !

आज मुझे कहीं भी वर्णधर्म दिखाई नहीं देता। जहाँ-तहाँ जातियाँ ही जातियाँ दिखाई पड़ती हैं। जाति खून के सम्बन्ध पर रची गई संस्था है। यह संस्था समूह-धर्मी है। वर्ण सांस्कृतिक है; जाति प्राकृतिक है। जिस प्रकार घास अपने आप उग आती है उसी प्रकार जातियाँ अपने आप बन जाती हैं। वे धर्म के वश में नहीं परन्तु कुदरत के वश में रहती हैं। संस्कार-प्रधान वर्ण-व्यवस्था को टिकाए रखने के

लिए धर्म को जातीय व्यवस्था का जंगल नष्ट कर देना चाहिए।

धर्म-परिवर्तन के बारे में मेरे विचार अलग हैं। अपने-अपने समूह की संख्या बढ़ाने की इच्छा से किया जाने वाला धर्म-परिवर्तन धार्मिकता को भूलकर समूह-धर्म को प्रधानता देता है। भारत में ईसाइयों के अनुभव को देखिए। कोई व्यक्ति जब अपना धर्म छोड़कर ईसाई बनता है तो वह अपने समाज से पूरी तरह उखड़ जाता है, समाज से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। नए समाज में उसकी जड़ें स्वाभाविक रूप में जमती नहीं। जब बड़ी तादाद में या सारी जाति का धर्म परिवर्तन किया जाता है तब ऐसा समाज अपने पुराने संस्कारों और अन्धविश्वासों को छोड़ता नहीं। धर्म-परिवर्तन करने से केवल नाम का 'लेबल' ही बदलता है। ऐसे वर्ग पुराने समाज से अलग पड़ जाते हैं और नए समाज के लिए बोझ बन जाते हैं। आवश्यकता है हृदय के परिवर्तन की, हृदय की शुद्धि की, संस्कारों की उच्चता की। इसके लिए तो सभी धर्मों में गुंजाइश है। प्रत्येक मनुष्य अपने आचरण द्वारा अपने जीवन-सिद्धान्तों का उत्कर्ष दिखाए तो उसका असर आसपास के समाज पर स्वाभाविक रूप में जितना हो सकता है उतना अवश्य होगा। जब तक लोग कहेंगे कि 'एकमात्र हमारा ही धर्म सच्चा है, बाकी सब धर्म झूठे हैं' तब तक धार्मिक विग्रह रहेगा। ही, धर्म के नाम पर अधर्म फैलेगा ही। इस्लाम में भी यह कहा गया है कि ईश्वर ने प्रत्येक देश को और प्रत्येक युग को धर्म-पुरुष दिए हैं; उसने किसी भी समाज या किसी भी युग को अनाथ नहीं रखा है। हमारा भी यह विश्वास है कि 'धर्मसंस्थापनार्थाय युगे-युगे' अवतार होते हैं। ईश्वर की व्यवस्था ऐसी ही हो सकती है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार, भिन्न-भिन्न जन-स्वभाव के अनुसार धर्म का कलेवर भले ही भिन्न-भिन्न रूप धारण करे, परन्तु धर्मतन्त्र बीज रूप में तो सर्वत्र एक-सा ही ओत-प्रोत है। जब इस व्यवस्था को सर्वत्र समझ लिया जाएगा तभी जगत में शान्ति स्थापित होगी। हमारे वेद सबके लिए खुले हैं— 'विवृताश्च वेदाः।' सभी धर्मग्रन्थ मब लोगों के लिए हैं। प्रत्येक मनुष्य को अपने धर्म का पालन करते हुए भी सब धर्मो के ग्रन्थों का, रीति-रिवाजों-का और संस्कारों का अध्ययन करना चाहिए और ईश्वर की विविध लीला को समझ कर अपने जीवन को धन्य बनाना चाहिए। जब हम इस तरह चलेंगे तभी हमें यह विश्वास होगा कि दुनिया के सभी धर्म सच्चे हैं, सभी धर्म मांगल्य-परायण हैं। और तभी हमारे इस भारतवर्ष में सब धर्मों का एंक विश्व-कुटुम्ब स्थापित होगा। हमारी शिक्षण-संस्थाएँ ऐसे धर्म-कुटुम्ब का आदर्श अपने समक्ष रखें और उसे सिद्ध करने का यथाशक्ति प्रयत्न करें, यह सर्वथा वांछनीय है। हमें इस दिशा में चलने की शक्ति प्राप्त हो और हम सब मनुष्यों की ओर मित्रता की दृष्टि से देख सकें, ऐसी प्रार्थना के साथ मैं अपना भाषण पूरा करता हूँ।

२
सनातन आर्य-समाज

आर्य-समाज में संन्यासी हैं, गृहस्थ हैं, राजनीतिज्ञ हैं, शिक्षा शास्त्री हैं, राजनीति से घबराने वाले पेंशनर हैं और सम्पूर्ण नागरिकता का अनुभव न करने वाले सरकारी अधिकारी भी हैं। आर्य-समाज एक सुधारक पन्थ है, यद्यपि उसमें भी प्रगति को देखकर चौंकने वाले, राजनीति से घबराने वाले और 'हमने बहुत काम कर लिया है, अब तो जो कुछ किया है उसकी रक्षा करने का काम ही रह जाता है;' ऐसा मानने वाले क्षेप-परायण लोग भी हैं। कभी-कभी ऐसे लोगों के हाथ में समाज की धुरी आ जाती है और सुधारक लोग आर्य-समाज के भविष्य के बारे में क्षणिक उद्वेग का अनुभव करके निराश हो जाते हैं।

इस सबके बावजूद आर्य-समाज एक जीवन्त समाज है। उसने काफी प्रगति की है। सनातनियों का सफलतापूर्वक मुकाबला करने की पद्धति भी उसने अब बड़ी हद तक बदल डाली है। आर्य-समाज का भविष्य उज्ज्वल है। किसी समय आर्य-समाज का अस्त हुआ तो वह अपने आदर्शों में उसकी श्रद्धा घटने के कारण अथवा अपने प्रयासों में उसे निष्फलता मिलने के कारण नहीं होगा; परन्तु इसलिए होगा कि उसने सुधार का जो कार्य हाथ में लिया था उसके पूरा हो जाने से वह कृतार्थता अनुभव करके अपना पुराना स्वरूप छोड़ देगा। और पुरानी प्रेरणा को नया रूप देने के लिए नया शरीर धारण करेगा।

सनातन का अर्थ है नित्य-नूतन। प्राण-विर्सजन करके भी मूल सिद्धान्तों की रक्षा करना और उनके बाह्य स्वरूप में समय-समय पर परिवर्तन करना— इसी में सच्चा सनातनत्व समाया हुआ है। मेरा विश्वास है कि ऐसा सनातनत्व आर्य-समाज में पूरी मात्रा में है। इसीलिए मेरा यह विश्वास है कि आर्य-समाज का भविष्य उज्ज्वल है।

२१-१२-'३७

३
आर्य-समाज की सफलता

इस बारे में किसी का मतभेद नहीं था कि (निजाम हैदराबाद में हुए सत्याग्रह के सम्बन्ध में) आर्य-समाज की माँगें न्याययुक्त थीं। सामाजिक शान्ति और सामाजिक हित का भंग न हो उस समय तक प्रत्येक मनुष्य को अपनी मान्यता के अनुसार धार्मिक जीवन बिताने का अधिकार होना चाहिए। इस सिद्धान्त को प्रस्थापित करने के लिए मनुष्य जाति ने कितने ही युगों तक पुरुषार्थ किया है और न जाने कितने

ही बलिदान दिये हैं। आज इस विषय में किसी प्रकार का मतभेद होने का कोई कारण नहीं है। फिर भी यदि कोई पिछड़ी हुई या मूढ़ाग्रही सरकार मनुष्य के सामान्य अधिकारों की रक्षा के लिए भी नए बलिदान की माँग करे, तो प्रत्येक धर्म प्रेमी को इतनी कीमत चुकाने के लिए तैयार रहना चाहिए। परन्तु यह सवाल मन में उठे बिना नहीं रहता : 'कोई भी सरकार ऐसा बलिदान किसलिए माँगे ?' जो बात अनेक बार सिद्ध हो चुकी है, उसे पुनः सिद्ध करने के लिए क्या बार-बार कीमत चुकानी होगी ?

इसका उत्तर यह है : स्वतंत्रता प्राप्त करना जितना मनुष्य का कर्तव्य है उससे भी अधिक सतत जाग्रत रहकर उस स्वतंत्रता की रक्षा करना उसका अधिकार है। यदि हम किसी-न-किसी कारण से अपनी स्वतंत्रता खो बैठें, तो उसकी पुनःस्थापना करने के लिए इतनी कीमत तो चुकानी ही पड़ती है। इसके बिना यदि स्वतंत्रता मिले, तो हम उसे पचा नहीं सकते।

आर्य-समाज हिन्दू धर्म का सेनामुख है।

जो लोग अपनी स्वतंत्रता खो बैठते हैं उन्हें फिर से स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए जैसे कीमत चुकानी पड़ती है, वैसे ही जो लोग दूसरों की स्वतंत्रता छीन कर उसे पुनः लौटाने के लिए बलिदान माँगते हैं उन्हें भी अपने ऐसे दुर्व्यवहार की कीमत चुकानी पड़ती है। इतिहास जानता है कि इस कीमत का स्वरूप कैसा होता है।

१२-८'३९

२७. प्रार्थना-समाज की सेवा

'अभंगमाला' के भक्त कवि भोलानाथ साराभाई द्वारा स्थापित यहाँ के प्रार्थना-समाज की षष्ठिपूर्ति का उत्सव मनाने के लिए आज हम यहाँ एकत्र हुए हैं। साठ वर्ष में एक संवत्सर-चक्र पूरा होता है, सारा जमाना बदल जाता है और नए युग का आरम्भ होता है। साठ वर्ष पहले आज के ही दिन इंग्लैंड के शहजादे का स्वास्थ्य-चिन्तन करने के लिए अनेक-धर्मी लोग एक-हृदय बनकर प्रार्थना करने के लिए एकत्र हुए थे। उसी में से गुजरात के प्रार्थना-समाज का उदय हुआ था ! आज साठ

ता० १७-१२-'३१ को अहमदाबाद प्रार्थना-समाज के मणि-महोत्सव के अवसर पर दिया गया भाषण।

वर्ष बाद जब गुजरात पूर्ण स्वराज्य की लड़ाई में सबसे आगे रहकर एक- हृदय हो गया है, उस समय हम यह उत्सव मना रहे हैं। साठ वर्ष पहले सरकारी शिक्षा-विभाग की ओर से प्रार्थना-समाज को प्रोत्साहन मिला था; आज राष्ट्रीय शिक्षा से सम्बन्ध रखने वाले हम कितने ही लोग आदर और भक्ति से इस मणि-महोत्सव में शामिल हुए हैं। प्रार्थना-समाज के साथ शिक्षा-जगत के लोगों का यह सम्बन्ध विशेष ध्यान खींचनेवाला है।

साठ वर्ष पूर्व प्रार्थना-समाज के कारण गुजरात और महाराष्ट्र का सम्बन्ध दृढ़ हुआ था। आज एक महाराष्ट्रीय के नाते इस समाज के उत्सव में भाग लेते हुए मुझे आनन्द होता है। प्रार्थना-समाज पश्चिम हिन्दुस्तान के अनेक प्रान्तों के बीच की प्रथम प्रेम-शृंखला है।

मैं यह कहूँ तो गलत नहीं होगा कि प्रार्थना-समाज के साथ बचपन से ही मेरा सम्बन्ध रहा है। लगभग ३३ वर्ष पहले मैं कारवार के हिन्दू स्कूल में पढ़ता था। वहाँ हमारे अध्यापकों का झुकाव प्रार्थना-समाज की ओर था। उनके प्रवचन मैं रसपूर्वक सुनता था। ठेठ बचपन में पंढरपुर के साधु-सन्तों का मुझ पर जो असर हुआ था, वह प्रार्थना-समाज के संस्कारों से विशुद्ध और दृढ़ बना। इस उमर में जाग्रत हृदय जराजीर्ण रूढ़ियों के खिलाफ विद्रोह आरम्भ करता है, उसमें रूढ़ियों के साथ धर्म-संस्कारों का नाश हो जाने का भय रहता है। शास्त्रधर्म की अपेक्षा हृदय-धर्म को अधिक समझने वाले साधु-सन्तों ने अपनी आर्षवाणी से उस समय मुझे इस भय से बचा लिया था। रूढ़ियों के खिलाफ विद्रोह करते हुए भी मनुष्य अपनी नीतिनिष्ठा और ईशनिष्ठा की रक्षा कर सकता है, यह जो विश्वास और मार्गदर्शन साधु-सन्तों ने मुझे दिया उसे वर्तमान परिस्थितियों में लागू करने का कार्य मेरे लिए प्रार्थना-समाज ने किया है। उन दिनों यह कल्पना रूढ़ हो गई थी कि धर्म केवल ऐहिक और पारलौकिक आत्मोन्नति के लिए ही है। इसमें समाज-सेवा को जोड़कर जनसेवा ही ईश्वर-सेवा है इस प्रकार का समन्वय हमारे जमाने ने विशेष रूप से किया है।

परन्तु आगे चलकर जब इसमें समाज-सेवा का जोर बढ़ा, तो ईश्वर और शास्त्र-धर्म दोनों की ओर लोगों की अनास्था बढ़ गई। मैं मानता हूँ कि संशयवाद और नास्तिकता सामान्य मनुष्य के लिए लगभग अपरिहार्य है। जवानी के साथ जैसे मुँह पर मुँहासे निकलते हैं वैसे ही विचार-जागृति के साथ मनुष्य में संशयवाद और नास्तिकता आते ही हैं। ऑगस्टस कॉन्ट, हर्बर्ट स्पेन्सर, जॉन स्टुअर्ट मिल और जॉन मोर्ली जैसे बुद्धिवादी तथा ईश्वर-विमुख पण्डितों की रचनाएँ पढ़ने के बाद यदि नास्तिकता अधिक जोर पकड़े, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। मनुष्य के जीवन में नास्तिकता और संशयवाद की लहर उठे, तो इसमें मैं कोई खतरा नहीं

देखता। खतरा है उसके साथ आने वाली अलंबुद्धि में और उद्दाम अहंकार में। बचपन के संस्कार यदि अच्छे हों, अथवा यदि सत्यनिष्ठा और धर्म-जिज्ञासा उत्कट हो, तो नम्रता और शुद्धता अवश्य बनी रहेगी। मेरा संशयवाद और बुद्धिवाद महामति रानाडे की रचनाओं से दूर हो गया। उसी अरसे में डॉक्टर भांडारकर का एक भाषण मुझे सुनने को मिला। उनके भाषण में मुझे तुकाराम के जैसी हृदय की शुद्धता दिखाई दी। लेखक और वक्ता अधिकतर कलाकार होते हैं। वे अपनी साहित्य-छटा से लोगों पर विशेष प्रभाव डालने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु डॉ० भांडारकर में ऐसा कुछ नहीं था। नग्न बालक की स्वाभाविकता से वे अपने विचार प्रकट करते थे। इस प्रकार उन्होंने श्रोताओं के सामने एक सुन्दर आदर्श प्रस्तुत किया। राजनीतिक क्षेत्र में उनके विचार उन्नति या स्वाभिमान के पोषक नहीं हैं, यह मैं जानता था। किन्तु इस कारण से उनकी दूसरी अच्छी बातों की उपेक्षा करने जितना मतांध मैं उस समय भी नहीं था।

प्रार्थना-समाज की ऐसी नींव पर मेरे लिए स्वामी विवेकानन्द तथा रामकृष्ण परमहंस के लेखों ने अपनी इमारत खड़ी की और मेरे चित्त को एक प्रकार का आश्वासन और प्रोत्साहन मिलने लगा। १९०८ में मैं 'लॉ-टर्म' भरने के लिए बम्बई में रहा। उन दिनों मैं प्रार्थना-समाज की उपासना को यथासम्भव चूकता नहीं था। उस अरसे में वहाँ के एक उपासक ने विलियम जेम्स की 'वेरायटीज़ ऑफ रिलीजियस एक्सपीरियन्स' नामक पुस्तक मुझे पढ़ने को दी। धर्मानुभव का विशलेषण करने तथा उसका मूल्यांकन करने की दृष्टि से यह पुस्तक बड़ी उपयोगी है। बुद्धि और भावना, श्रद्धा और संकल्प इन सबका सुन्दर समन्वय स्वामी विवेकानन्द के लेखों द्वारा मुझे वेदान्त में मिला। द्वैत-अद्वैत के झगड़े व्यर्थ हैं, यह मैं आसानी से समझ गया। हिन्दू सामाजिक जीवन में और धर्म-व्यवस्था में हम अपने तत्त्वज्ञान के प्रति वफादार नहीं रहे, यह बात ध्यान में आने से धार्मिकता के आधार पर सामाजिक सुधार करने की आवश्यकता मेरे सामने अधिकाधिक स्पष्ट होने लगी। भगिनी निवेदिता और आनन्द कुमारस्वामी आदि प्रतिभावान लेखकों की रचनाओं के कारण धर्म का सामाजिक पहलू अधिकाधिक स्पष्ट होने लगा। जीवन की समग्र कल्पना करने के लिए जो दृष्टि चाहिए, उसका मुझमें विकास होने लगा। इतनी तैयारी के बाद गीता, उपनिषद्, तुकाराम, कबीर आदि आध्यात्मिक शक्तियों का स्वरूप और सामर्थ्य मेरे समक्ष उत्तरोत्तर अधिक प्रकट होने लगा।

हिन्दू धर्म में अन्य धर्मों के प्रति तिरस्कार का भाव है ही नहीं। 'तुम्हारे लिए तुम्हारा धर्म और हमारे लिए हमारा धर्म'- यह कुरान का वचन सम्प्रदाय-बहुल हिन्दू धर्म का प्राण है। 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति'। प्रार्थना-समाज सभी धर्मों से समान रूप में प्रेरणा ग्रहण करता था, इसलिए हिन्दू धर्म में निहित सर्वधर्म-

सद्भाव अधिक स्पष्ट हुआ; और जिसे आधुनिक लोग धार्मिक उदारता कहते हैं तथा मैं जिसे जागृति की स्वाभाविकता कहता हूँ, उसका दर्शन मुझे हुआ। अब मेरे मन में यह विचार भी स्पष्ट हो गया कि वेद और स्मृति, बाइबिल और कुरान, शास्त्रों के संस्कार और लोगों में रूढ़ बनी हुई विधियाँ— इन सबको किस दृष्टि से देखना चाहिए और किस दृष्टि से इनकी परीक्षा करनी चाहिए। इससे मुझे हिन्दू धर्म से भी अधिक विशाल भारतवर्षीय सार्वभौम धर्म का साक्षात्कार हुआ। बचपनसे मिली हुई प्रार्थना-समाज की यह उदार सहायता मेरे लिए अनेक प्रकार से उपकारक सिद्ध हुई है और इसलिए प्रार्थना-समाज के प्रति मेरे मन में सदा कृतज्ञता बनी रही है।

इसके बाद की मेरी प्रवृत्ति इस नूतन विकसित दृष्टि से भारत के सब धर्मों और सम्प्रदायों का निरीक्षण करने की थी। प्रार्थना-समाज अथवा ब्राह्म-समाज, आर्य-समाज और देव-समाज, रामकृष्ण-मिशन और थियॉसॉफी, चैतन्य सम्प्रदाय और स्वामीनारायण सम्प्रदाय— सबकी ओर इसी दृष्टि से देखने का मन होने लगा। इस दृष्टि से देखने पर मालूम हुआ कि प्रार्थना-समाज भारतवर्षीय धर्म-परिवार के संगीत का तानपुरा है। आत्मा की अनन्तता को व्यकत करने वाला भाववाही संगीत चाहे जितने सप्तक चढ़े अथवा उतरे, आरोह-अवरोह तथा आलाप के चाहे जितने विविध विलास दिखाये, फिर भी इस तानपुरे के साथ तो उसे अपना मेल बैठाना ही होगा। अर्थात सभी धर्मों को प्रार्थना-समाज के साथ सुमेल साधना चाहिए। तानपुरे के अभाव में संगीत खिल नहीं सकता; किन्तु सारा संगीत तानपुरे में ही नहीं समा जाता।

प्रत्येक धर्म में बुद्धि, दिव्य अनुभव, श्रद्धा, अन्तःकरण की भावनाएँ, काव्य-कल्पना और कला-रसिकता होती है— होनी ही चाहिए। साथ ही, व्यक्ति का समाज और विश्व के साथ सम्बन्ध, जीवन-व्यापी संघ स्थापित करने की वृत्ति और आवश्यकता तथा क्षेमवृत्ति (conservatism) और परिवर्तन-वृत्ति (radicalism) ये दोनों पहलू धर्म में स्वभावतः होते हैं और होने चाहिए। इनमें से एक भी अंग को यदि हम कम कर दें, तो धर्म विकलांग हो जाएगा और मनुष्य-जीवन के लिए अपर्याप्त सिद्ध होगा। धर्म में श्रद्धा की मात्रा बढ़ने से धर्म बिगड़ता नहीं। भावना और कोमलता के बढ़ने से धर्म कमजोर नहीं बनता। काव्य-कल्पनाओं के बढ़ने से वह असत्य का प्रेरक नहीं होता और कला-रसिकता के बढ़ जाने से वह हीनता का संग्राहक नहीं बनता। विश्व के साथ अपने सम्बन्ध को पूर्णतया स्वीकार करने से वह अव्यावहारिक नहीं हो जाता। क्षेमवृत्ति को अंगीकार करने से वह जड़ नहीं बन जाता और न परिवर्तनशीलता का स्वागत करने से वह विनाशक हो जाता। धर्म की मृत्यु अज्ञान, विलासिता और बाह्य सत्ता के कारण होती है। भ्रममूलक सत्य से

सत्य ढक तो सकता है, परन्तु उसका नाश कभी नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि असत्य के पेट में भी सत्य ही छिपा रहता है। सत्य की पराजय सत्ता में है। कोई भी धर्म जब अज्ञान को बरदाश्त करता है, विलासिता के साथ समझौता करता है, अथवा सत्ता की उपासना करता है, तब पहले वह धर्म सुलभ हो जाता है, रोचक बनता है, विशाल होता है और अन्त में जल के बड़े बुलबुले की तरह फूट जाता है। शासन की सहायता से फैला हुआ धर्म क्षीणवीर्य और क्षणजीवी बनता है, इसका सम्राट अशोक ने भी अनुभव किया था और अकबर ने भी अनुभव किया था।

प्रार्थना-समाज ने ईश्वर के अद्वैत पर विशेष जोर दिया है। यह इस्लाम की देन मानी जाएगी। राजा राममोहनराय ने इस्लाम का गहरा अध्ययन किया था। ईश्वर के अद्वैत का जाग्रत भान इस्लाम की असाधारण सुन्दरता है। सर्वोपरि सत्ता की पूजा करने वाले यहूदी लोगों का ईश्वर ईर्ष्यालु 'Jealous God' हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। यह विरासत इस्लाम को और ईसाई धर्म को समान रूप में मिली है। भारतवर्ष में जीव-ब्रह्मैक्य का विचार पहले से ही चलता आया है, इसलिए हमारे देश में 'एक या अनेक' का झगड़ा उत्पन्न नहीं हुआ, हमारे मार्ग में बाधक नहीं बना। ईश्वर है, वह अद्वितीय है, सर्व-समर्थ है और प्रेममय है, यह भावना अथवा अनुभव प्रत्येक धर्म की पूँजी है। वह ईश्वर अन्तर्यामी है, आत्म-स्वरूप है, सर्व-सह है, अपार धैर्य रखनेवाला है, जाग्रत है और भक्तानुकूल है, यह शोध बाद में हुई है। इस शोध के अभाव में मनुष्य ने धार्मिक जीवन में बड़े-बड़े कष्ट भोगे हैं, बड़ी-बड़ी आपत्तियों का सामना किया है। परन्तु बाद में हुई इस शोध का विस्तार करने का यह स्थान नहीं है। इस शोध के कारण धर्म की पूँजी बढ़ी है। जो मनुष्य यह मानता है कि ईश्वर अनेक हैं, एक नहीं, उसका नाश निश्चित है। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।'

छोटे-छोटे देवों की उपासना से जो नुकसान होता है, उसे दूर करने के दो ही उपाय हैं : (१) मुख्य देव को रहने देकर बाकी के सब देवों की हत्या कर डालो, एकेश्वरवाद की लकड़ी से उनका स्पर्श करके उन्हें अपने स्थानों से नीचे गिरा दो; (२) अथवा यह समझो कि एक के ही ये अनेक रूप हैं, अनेक से उस एक का एकत्व कभी नष्ट होता ही नहीं। भारतवर्ष पहले से ही इस दूसरे मार्ग पर चलता आया है। सच पूछा जाए तो जिस ईश्वर की उपासना हम अपने ढंग से करते हैं, वह भी परमेश्वर की मानवीय आवृत्ति है। हमारा ईश्वर मनुष्य का बनाया हुआ तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु मनुष्य का पहचाना हुआ जरूर कहा जा सकता है। ईश्वर के स्वरूप के नाते हम जिसे पहचानते हैं, वह मनुष्य के अन्तिम प्राप्तव्य का स्वरूप है। मनुष्य ने स्वयं को पहचान कर ही ईश्वर को पहचानना सीखा है।

इसलिए हम ईश्वर को अन्तर्यामी कहते हैं, आत्माराम कहते हैं। उपनिषद्-कालीन ऋषियों ने ईश्वर के स्वरूप का जो चिन्तन किया है, उसी चिन्तन को प्रार्थना-समाज ने पुनः प्रचलित किया है और रूढ़िधर्म से उसने आग्रहपूर्वक कहा है :

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिमुपासते।

प्रार्थना-समाज ने पहले से ही मूर्तिपूजा का विरोध किया है। मुझे लगता है कि हिन्दू धर्म में मूलतः मूर्तिपूजा नहीं थी; सम्भवतः वह बाहर से यहाँ आई होगी। आज की मूर्तिपूजा का विरोध भी बाहर से ही आया है। भारत के सभी धर्मों ने मूर्तिपूजा का कला-रसिकता के उत्साह से स्वागत किया है, इसलिए हमारे यहाँ मूर्तिपूजा का विरोध करना आसान बात नहीं है। मूर्तिपूजा की अपेक्षा मूर्तिपूजा के आसपास जो आडम्बर और अनाचार लिपटा रहता है, वह अधिक घातक होता है। प्रार्थना-समाज ने मूर्तिपूजा का जो विरोध किया, वह आरम्भ में बहुत जोशीला था। प्रारम्भ में प्रार्थना-समाज की यह मान्यता थी कि मूर्तिपूजा असत मार्ग है, ईश्वर का अपमान करने वाली है, मनुष्य में नीचता पैदा करने वाली है और उसे दुराचार की ओर ले जाने वाली है। डॉ० भांडारकर ने इसमें परिवर्तन करवाया था। उन्होंने प्रार्थना-समाज में यह मत दृढ़ किया कि मूर्तिपूजा में पाप नहीं है, लेकिन वह निरर्थक है। आगे चलकर कहीं-कहीं मूर्तिपूजा का विरोध इतना मन्द पड़ गया कि प्रार्थना-समाज की अपनी उपासना के समय मूर्ति का उपयोग न करना ही काफी माना गया। मूर्तिपूजा के निषेध को दिया गया अत्यधिक महत्त्व भीतर से ही कम होने लगा, यह एक तरह से अच्छा हुआ है। मूर्तिपूजा में कोई खास रहस्य तो है ही नहीं। मूर्तिपूजा मनुष्य की कलावृत्ति को सन्तुष्ट करने वाला अथवा खिलौनों के साथ खेलने की बालवृत्ति का पोषण करने वाला एक प्रकार है। मूर्तिपूजा का त्याग प्रौढ़ या परिपक्व वृत्ति के मनुष्य के लिए स्वाभाविक होना चाहिए। लेकिन आज की परिस्थितियों में इस छोटी-सी बात पर विस्तृत चर्चा करना जरूरी नहीं है। प्रार्थना-समाज में मूर्तिपूजा के निषेध का जोश कम हो गया इसलिए प्रार्थना-समाज शिथिल पड़ गया है, ऐसा मानने का मैं कोई कारण नहीं देखता।

प्रार्थना-समाज द्वारा किया गया सुधार का तीसरा कार्य है जातिभेद का विरोध। जातिभेद कोई धार्मिक संस्था नहीं है, परन्तु मानव के स्वभाव में गहरी जमी हुई समूह-वृत्ति का ही एक रूप है। मैं मानता हूँ कि हिन्दू धर्म ने इसे उन्नत करके वर्ण-व्यवस्था का रूप देने का सतत प्रयत्न किया है। प्रार्थना-समाज ने जातिभेद का सर्वत्र एक-सा विरोध नहीं किया। बंगाल ने उसका अधिक विरोध किया, महाराष्ट्र का विरोध नहीं-जैसा ही कहा जाएगा; और गुजरात की तो उसका विरोध करने की हिम्मत ही नहीं हुई। जातिभेद की संस्था मनुष्य की प्रकृति से पैदा हुई है, इसलिए उसका विरोध करना कठिन है। भारत में उसे धर्म की मान्यता मिल जाने से उसकी

शक्ति पहाड़ी किले में घुसकर बैठी हुई सेना के समान सुदृढ़ हो गई ह। बाहरी विरोध या आक्रमण से यह प्रथा मर नहीं सकती। इसका भीतर से ही अन्त करना चाहिए। आज की परिस्थितियाँ और राजनीतिक आकांक्षाएँ यह काम कर रही हैं।

आज तक के अनुभव से मालूम होता है कि प्रार्थना-समाज ने एक ओर जीवन-विमुख वैराग्य तथा दूसरी ओर अनाचारपूर्ण विलासिता दोनों का खातमा कर दिया है। प्रार्थना-समाज स्वभाव से गृहस्थाश्रमी है। प्रोटेस्टेन्ट ईसाई लोगों की अंग्रेजी शिक्षा पाकर हम बड़े हुए हैं, इसलिए पिछली आधी शताब्दी में न तो हम अपने जीवन में अलौकिक त्याग और वैराग्य को दृढ़ कर सके और न कल्पना-शक्ति को उन्नत बनाने वाले नए उत्सवों या त्योहारों का ही आयोजन कर सके। यही कारण है कि प्रार्थना-समाज में अनेक आदरणीय सत्पुरुष तो हुए हैं, परन्तु उसमें भव्य पुरुषों की दीर्घ परम्परा हम नहीं पाते। जीवन-कुशल लोग जीवन-वीर होते ही हैं, ऐसी बात नहीं। प्रार्थना-समाज के लिए अब अध्यात्म के क्षेत्र में वीरवृत्ति का विकास करने का समय पक गया है।

मेरी दृष्टि में प्रार्थना-समाज का मुख्य कार्य तो यह है कि उसने धर्मग्रन्थों के प्रामाण्य का अन्त कर दिया। वैसे तो नास्तिक, तर्कवादी और धर्मशून्य लोग सदा ही शास्त्रग्रन्थों को अस्वीकार करते रहे हैं, परन्तु समाज के मानस पर उसक कोई अच्छा असर नहीं हुआ। धर्म-परायण सात्त्विक लोग जब बुद्धि, अनुभव और श्रद्धा पर आधार रखकर शास्त्रग्रन्थों के प्रामाण्य को स्वीकार करने से इनकार करते हैं, ग्रन्थों के अधीन होने से इनकार करते हैं, तभी समाज बौद्धिक और धार्मिक स्वातंत्र्य प्राप्त कर सकता है। प्रार्थना-समाज ने यह कार्य कर दिखाया, यह उसकी सबसे कीमती सेवा है।

प्रार्थना-समाज के भांडारकर तथा रानाडे जैसे आदि-पुरुषों ने शास्त्रों और सन्त वचनों के प्रति आदर का भाव बनाए रखा, परन्तु बुद्धि को स्वतंत्रता देकर ग्राह्य और अग्राह्य का विवेक मनुष्य के ही हाथ में रखा। 'केवल मेरे धर्म के ही शास्त्रग्रन्थ सच्चे हैं,' इस संकुचितता को दूर करके उन्होंने समाज को यह उदार वृत्ति सिखायी कि सत्य जहाँ से भी मिले वहाँ से उसे ले लेना चाहिए, 'सत्य हमारी ही खोयी हुई वस्तु है, हम अधिकारपूर्वक उसे ले सकते हैं।' अग्नि शीतल है-ऐसा सौ श्रुति-वचन कहें, तो भी हम उसे स्वीकार न करें, यह शंकराचार्य ने कहा है। अपने पूर्वजों ने हमें सिखाया है कि सत्य-ज्ञान यवनाचार्यों से भी ग्रहण किया जा सकता है। हमारे सुभाषित कहते हैं कि उत्तम विद्या किसी भी मनुष्य से सीखी जा सकती है। फिर भी हम ग्रन्थों के प्रामाण्य से चिपटे ही रहते थे। इसके फलस्वरूप हमारी बुद्धि को ग्रन्थ परतंत्रता की रुँधी हुई हवा में रहना पड़ता था और बेचारे शास्त्र-ग्रन्थों को तार्किकों द्वारा की जाने वाली शास्त्रार्थ की चमत्कारपूर्ण कसरत का शिकार

बनना पड़ता था।

संसार में मनुष्य को वकील, डॉक्टर और पुरोहित के बगैर अपना काम चलाना चाहिए। एक जर्मन दार्शनिक ने कहा है कि मनुष्य स्वयं ही अपना वकील बने, स्वयं ही अपना डॉक्टर बने और स्वयं ही अपना शास्त्रज्ञ धर्मगुरु बने यह जरूरी है। मानव-स्वातंत्र्य की इन त्रिविध शिक्षाओं का एक भाग प्रार्थना-समाज ने पूर्णतया सिद्ध किया है। और सौभाग्य से इस सम्प्रदाय में आरम्भ से ही मत-वैविध्य दाखिल होने से आप्तवाक्य का जुआ भी इसके सिर पर नहीं लदा। राजा राममोहन राय ने उपनिषदों और इस्लाम के प्रभाव को स्वीकार किया। महर्षि देवेन्द्रनाथ ने उपनिषदों और बौद्ध साहित्य से प्रेरणा ग्रहण की। न्यायमूर्ति रानाडे और भांडारकर ने उपनिषदों के साथ साधु-सन्तों की वाणी का छूट से उपयोग किया। केशवचन्द्र सेन ने ईसा मसीह की विशेष उपासना की। और रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कबीरपन्थ तथा लोकगीतों में फैले हुए अनेक स्वतंत्र लोकधर्मों का प्रभाव समाज पर पड़ने दिया है। यह सब प्रार्थना-समाज की उदारता का हितकारी फल है। महाराष्ट्र के प्रार्थना-समाज ने मराठी साधु-सन्तों के भजनों और गीतों को कुछ परिवर्तनों के साथ अपना लिया। भोलानाथ साराभाई की 'अभंगमाला' में महाराष्ट्र का प्रभाव दिखाई देता है। और साहित्य-शूर बंगाल ने नो गद्य और पद्य, इतिहास और विवेचन प्रत्येक क्षेत्र में एक नया ही साहित्य निर्माण किया है।

प्रार्थना-समाज ने समाज-सेवा का कार्य भी काफी किया है, परन्तु उसमें नई दिशा अथवा अलौकिक त्याग जैसा कुछ नहीं है। अनाथालय, रुग्णालय, विद्यालय, पुस्तकालय या चर्चालय चलाना कोई विश्वव्यापी धार्मिक प्रवृत्ति का पर्याप्त फल नहीं माना जा मकता। प्रार्थना-समाज यह भी नहीं कह सकता कि उसने सम्पूर्ण जनता को मंत्रमुग्ध करने वाली धार्मिक पुस्तकें बड़ी संख्या में प्रकाशित की हैं। प्रार्थना-समाज की सम्पूर्ण प्रवृत्ति मध्यमवर्ग के घर-बार और उसके रहन-सहन की, उसकी धर्मबुद्धि और सेवाबुद्धि की शुद्धि करने में ही समाप्त हो गई है। ईश्वरनिष्ठा और सदाचार प्रार्थना-समाज का मुख्य स्वर माना जाएगा। यह सच है कि बंगाल के बहुत से शिक्षाशास्त्री ब्राह्म-समाजी हैं; परन्तु हमारे देश में राष्ट्रव्यापी, जीवन-स्पर्शी, स्वतंत्र और प्राणवान शिक्षा का प्रचार-प्रसार करने का तो प्रार्थना-समाज ने विचार तक नहीं किया। जिस प्रवृत्ति के प्रभाव से सम्पूर्ण समाज देखते-ही-देखते द्विज नहीं बन जाता, उस प्रवृत्ति में धर्मबल है ऐसा नहीं कहा जा सकता। 'The religion of a thorough-going gentleman' तक ही जिसका स्वरूप सीमित है, वह प्रवृत्ति मनुष्य के हृदय को आकर्षित नहीं कर सकती। केवल वीर-धर्म का ही प्रसार और प्रचार होता है।

एक जमाना ऐसा था जब मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन-वैयक्तिक और कौटुम्बिक,

सामाजिक और राजनीतिक-धर्म-व्यवस्था के अधीन था। उसके समग्र जीवन पर धर्म का साम्राज्य था। आज वह जमाना चला गया; और वह सकारण गया। उसके स्थान पर आज लोकमान्य राज्यसत्ता का जमाना आया है। राज्यसत्ता एक व्यक्ति के हाथ में रहे अथवा अनेक व्यक्तियों के, इस सवाल पर लोग चाहे जितने लड़े-झगड़े हों; परन्तु समग्र जीवन को राज्यसत्ता के, राजनीतिक संस्थाओं के हाथ में सौंप देने की वृत्ति तो जड़ जमाती ही जाती है। एक राष्ट्र और दूसरे राष्ट्र के बीच का व्यवहार, संस्कृतियों का सहयोग, विभिन्न वर्गों के बीच का सम्बन्ध, शिक्षा, व्यापार-उद्योग, धर्म-व्यवस्था, परिवार-संस्था-इतना ही नहीं, स्वास्थ्य की रक्षा और सार-संभाल सब कुछ सरकार के द्वारा हो और कानून के नियंत्रण में रहे, इस तरह की वृत्ति आजकल बढ़ती जा रही है। जगत में जितनी भी शक्तियाँ हैं, समाज में जितने भी बल हैं, वे सब आज राज्यतंत्र के अधीन रहते हैं, उसी की सेवा करते हैं और उसी की कृपा से परिपुष्ट होते हैं। परन्तु यह स्थिति दीर्घकाल तक नहीं बनी रह सकती। इस जमाने का अन्त देर-सबेर आना ही चाहिए। देर से नहीं बल्कि जल्दी ही इसका अन्त आना चाहिए। एक समय धर्म-व्यवस्था सार्वभौम थी; आज राज्य-व्यवस्था सार्वभौम है। परन्तु हमें यह समझना चाहिए कि भविष्य में शिक्षा-व्यवस्था ही सार्वभौम बनने वाली है।

प्रार्थना-समाज ने शिक्षा का कार्य थोड़ा-बहुत किया है। परन्तु शिक्षा में स्वतंत्र विचार की दृष्टि से, दीर्घ तपस्या की दृष्टि से अथवा व्यापक संगठन की दृष्टि से प्रार्थना-समाज की कोई देन नहीं है। प्रार्थना-समाज को अपनी जीवन-दृष्टि का प्रकाश फैलाकर शिक्षा का एक स्वतंत्र, सम्पूर्ण और समर्थ दर्शन निर्माण करना चाहिए था। वह चाहे तो आज भी ऐसा कर सकता है। आज के सर्व-साधारण धर्म का प्रसार शिक्षा के द्वारा ही हो सकता है। गांधीजी ने एक बार इसी स्थान पर कहा था कि 'प्रार्थना-समाज सुशिक्षित लोगों का धर्म है।' गांधीजी के इस वचन में प्रार्थना-समाज की विशेषता और दोष, शक्ति और अशक्ति दोनों ही प्रतिबिम्बित होती हैं। हम चाहें तो इस स्थिति को बदलकर अपनी नई शक्ति, नई प्रेरणा और नई दिशा का निर्माण कर सकते हैं।

"अन्तर्यामी परमात्मा ही मेरा स्वामी है, मेरा आधार है; सद्भाव सर्वात्मैक्य और सर्वसद्भाव ही मेरा परम पुरुषार्थ है। शिक्षा-सर्वांगीण शिक्षा-ही उसकी साधना है।" यह है भविष्य का ब्राह्मधर्म, यही प्रार्थना-समाज है। इस नूतन शिक्षा में पाँच बातों का समावेश होना चाहिए : प्रार्थना, बोध, धैर्य, सेवा और बलिदान— Prayer, Persuasion, Patience. Service and Sacrifice.

शिक्षा का प्रथम क्षेत्र मनुष्य का हृदय है। हृदय का यदि पूरा विकास हुआ होगा, तो ही बुद्धि का विकास व्यक्ति और समाज के लिए हितकर, आशीर्वाद-

रूप सिद्ध होगा। हृदय का यदि सुन्दर विकास हुआ हो, बुद्धि प्रगल्भ बनी हो और शरीर नीरोग और कसा हुआ हो, तो ही धर्म का जीवन जीना मनुष्य के लिए सम्भव होगा। जब ऐसी शुद्ध धर्म-प्रधान शिक्षा प्रत्येक मनुष्य को मिलेगी तभी व्यक्ति और समाज का परस्पर सम्बन्ध मंगलमय बनेगा। समाज की सर्वांगीण सेवा ही आत्मोन्नति का एकमात्र उपाय है।

अब हम भलीभाँति यह समझ सकेंगे कि आदर्श सोशियालिज़्म ही जगत का भावी धर्म है। सोशियालिज़्म का अर्थ है समाज-सेवा का धर्म। आज जिस सोशियालिज़्म की चर्चा अनेक देशों में होती है और उसके सम्बन्ध में जो प्रयोग होते हैं, उनमें अनेक पहलुओं से संशोधन और परिवर्धन करना आवश्यक है। आज के सोशियालिज़्म ने तीन गलतियाँ की हैं। उसने केवल सम्पत्तिशास्त्र का आधार लिया, यह उसकी पहली गलती है। उसकी दूसरी गलती है राजनीतिक संस्थाओं पर उसका अपार विश्वास। और उसकी तीसरी गलती यह है कि धर्म-व्यवस्था को तोड़ने के प्रयत्न में उसने मूल धार्मिकता के प्रति ही घृणा बढ़ायी है और उसका विरोध किया है। सोशियालिज़्म मानता है कि ये उसकी गलतियाँ नहीं हैं, परन्तु यही भविष्य के लिए उसका कीमती-से-कीमती योगदान है। इसके बिना सोशियालिज़्म की स्थापना जगत में हो ही नहीं सकती।

यदि सच्चे सोशियालिज़्म का पूरा-पूरा अमल हो, तो केन्द्रित राज्यसत्ता का अपने आप नाश या रूपान्तर हो जाएगा। यहाँ तक कि शारीरिक वल पर टिकने वाली राज्यसत्ता का भी अन्त आ जाएगा। उस समय जीवन इतना सादा, इतना स्वावलम्बी और इतना परस्परावलम्बी हो जाएगा कि आज का अटपटा अर्थशास्त्र टिक ही नहीं सकेगा; और लोगों में सर्वत्र ऐसी संस्कारी शिक्षा फैल जाएगी कि उससे शुद्ध आध्यात्मिक जयोति प्रकट हुए बिना नहीं रहेगी। सोशियालिज़्म की शोध सच्ची है, उसकी प्रेरणा शुद्ध है और उसका समय भी आ चुका है, इसलिए दोषमुक्त होने में उसे समय नहीं लगेगा। गरीबों का देव अब जाग्रत हो गया है। शिक्षाशास्त्रियों को अपने-अपने ढंग से अब उसके उपासक बन जाना चाहिए। सत्य और अहिंसा ही उनकी प्रतिज्ञा हो सकती है, सत्य और अहिंसा ही उनके जीवन-मंत्र हो सकते हैं, यह समझ कर उन्हें लोकसेवा का काम अपने हाथ में लेना चाहिए।

सरकार का शिक्षा-विभाग आज तक निर्वीर्य सिद्ध हुआ है। धर्म और समाज ने तथा राजनीतिक प्रचारकों ने लोक-शिक्षण का जितना कार्य किया है उतनी शिक्षा-विभाग ने नहीं किया। सच्चे शिक्षकों और अध्यापकों को शुद्ध धर्म से प्रेरणा लेकर और शाला की चारदीवारी से बाहर निकल कर लोक-शिक्षण और लोक सेवा का कार्य करना चाहिए। आज धर्म का संस्करण, समाज का संस्करण, परिवार का संस्करण— संक्षेप में सम्पूर्ण जीवन का संस्करण करने का समय आ गया है। आ

कथा गया है, वह कभी का आरम्भ भी हो गया है। अब हम उच्च वर्ण के, शरीर-श्रम न करने वाले, सुरक्षा के उपासक मध्यवर्ग को संस्कारी बनाने के पीछे थोड़ी-बहुत शक्ति खर्च करके ही सन्तोष नहीं मानेंगे। हमें दीन, अनाथ, पतित और परित्यक्त लोगों के हृदय में बसे हुए नारायण की उपासना करनी है। आज तक धार्मिक लोगों ने पार्थिव मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा करने के मंत्रों का खूब उच्चारण किया है। अब हमें दलित-मूर्ति देशवासियों में स्वातंत्र्य, स्वावलम्बन और स्वाभिमान की प्राण-प्रतिष्ठा करनी है। हमें स्त्रियों, मजदूरों, किसानों, कारीगरों और कारकुनों-का जीवन सुवासित और सारयुक्त बनाना है। जातिभेद तोड़ने का यह अर्थ कभी न किया जाए कि हम केवल मध्यमवर्ग के उच्च वर्ण वाले लोगों के लिए ही रोटी-बेटी-व्यवहार की असुविधाएँ दूर करना चाहते हैं। इतना तो अनाचारी और स्वच्छंदी लोग भी कर सकते हैं। आज पिछड़े हुए और पतितों के केवल हितेच्छु आश्रयदाता बनने में भी बड़ी बहादुरी नहीं है। यह तो सात्त्विक लोगों का आनन्द और उदात्त विनोद कहा जाएगा। सच्ची धार्मिकता इस बात में है कि हम गरीबों के साथ, पतितों के साथ, अज्ञान और असंस्कारी लोगों के साथ एकता की भावना से घुलमिल जाएँ। उन्हें हम अपना बनाएँ, हम उनके बन जाएँ और उन्हें अपने साथ लेकर उन्नति के पहाड़ पर चढ़ें। इस तरह की वीर वृत्ति के बिना धार्मिकता सम्भव ही नहीं हो सकती। वीरत्व ही सच्चा धर्म है। हमें केवल दूसरों को मार कर वीर नहीं बनना है, परन्तु निर्वैर वृति से स्वार्थी संकुचितता को मार कर वीर बनना है।

यहाँ हमने जिस ब्राह्मधर्म के और धर्म-समाज के दर्शन किए हैं, वह तो एक अलग-थलग धर्म की तरह रहने से इनकार ही करेगा। वह धर्ममात्र में ओतप्रोत होकर रहेगा। विभिन्न सब धर्म समाज की उन्नति के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं। इन सब धर्मों को ऊँचा उठाने वाले 'लीवर' की— उन्नयन-दंड की गरज पूरी करेगा यह ब्राह्मधर्म । इसके आधार पर धर्ममात्र की उन्नति होगी। यह ब्राह्मधर्म किसी भी धर्म का नाश किए बिना सर्वत्र अपना साम्राज्य स्थापित करेगा।

यह श्रद्धा रखकर हम प्रार्थना करें कि परम-मंगल परमेश्वर की कृपा से प्रत्येक हृदय में ऐसा धर्म प्रकट हो और उसी का विकास हो।

२८. दोनों धर्म अनादि

मेरी मान्यता के अनुसार जैन धर्म और वैष्णव धर्म दोनों अनादि हैं। अर्थात दोनों धर्म वेदों के जितने ही प्राचीन हैं। दोनों धर्मों के मुख्य-मुख्य सिद्धान्त उसी

काल के हैं जब मनुष्य के हृदय में धर्म की स्फुरणा जागी थी। भागवत में तो ऋषभ-देव का वर्णन है ही । लेकिन मैं अहिंसा-धर्म अर्थात जैन धर्म को ऋग्वेद में भी देखता हूँ। आज जिस रूप में जैन धर्म हमारे देश में विकसित हुआ है, उसका निर्माण तो महावीर से आरम्भ हुआ था। यह इतिहास से सिद्ध होता है। महावीर गौतम बुद्ध के समकालीन थे, यह भी सब कोई जानते हैं।

मैं मानता हूँ कि महाभारत के युद्ध में जो महान संहार हुआ उसी के फल-स्वरूप आर्य जाति के मन पर यह बात जम गई है कि हिंसा व्यर्थ है, हिंसा से किसी भी पक्ष का भला नहीं होता; हिंसा से कोई भी स्थाई कार्य सिद्ध नहीं होता। विजयी धर्मराज पश्चात्ताप से जलकर कहते हैं कि 'जयोऽपि अजयाकारो भगवन् प्रतिभाति मे। भगवन्, यह विजय तो मुझ पराजय जैसी ही लगती है। महाभारत के युद्ध का यह कड़वा अनुभव राष्ट्र के हृदय में गहरा उतरा, उसके बाद ही भारत में बौद्ध धर्म और जैन धर्म का अधिक प्रचार हुआ।

वैसे तो दोनों ही धर्म व्यापक सनातन हिन्दू धर्म की ही शाखाएँ हैं। दोनों धर्मों के मुख्य सिद्धान्त बीजरूप में पहले से ही हिन्दू धर्म में मौजूद हैं। परन्तु ये सिद्धान्त राष्ट्र के हृदय पर व्यापक रूप में अंकित तो महाभारत के युद्ध के बाद ही हुए । इसलिए उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर जीवन-क्रम रचने का आग्रह रखने के कारण ये दो पन्थ सनातनियों के जीवन-क्रम से थोड़े अलग पड़ गए।

जो लोग आत्मा में अथवा किसी अतीन्द्रिय अमर शक्ति में विश्वास रखते हैं और उसके सम्बन्ध में पुनर्जन्म की कल्पना करके उसके द्वारा कर्म-धर्म की व्यवस्था करते हैं, वे सब आर्य अथवा हिन्दूधर्मी ही हैं। मैं नहीं मानता कि दार्शनिक वाद-विवाद में उतरने से यह बात अधिक समझ में आएगी।

१९३०

२९. सुधारक धर्म में सुधार*

आपका आमन्त्रण स्वीकार करके मैं यहाँ आया, इसमें एक उद्देश्य यह था कि इस निमित्त से एकाध दिन परमानन्द भाई के साथ रहने का आनन्द मिलेगा। अभी-अभी उनके अहमदाबाद के भाषण के विरुद्ध एक बड़ा झगड़ा खड़ा हुआ है। मुझे बार-बार आश्चर्य होता है कि परमानन्द भाई के समान सौम्य और सन्तुलित

*संवत्, १९९२ के पर्युषण-पर्व के अवसर पर बम्बई में दिया गया भाषण

व्यक्ति के भाषण में लोगों को ऐसा क्या मिल गया कि वे उन्हें मार्टिन लूथर बनाने के लिए तैयार हो गए हैं ! तीव्र विचार रखने वाले प्रत्येक मित्र को वस्तु का दूसरा पहलू बताकर उसे सौम्य और जिम्मेदार बनाना ही आज तक परमानन्द भाई का प्रिय कार्य रहा है। उनका पूरा भाषण पढ़े बिना ही मैं कह सकता हूँ कि उसमें उत्पात मचाने वाला अथवा विनाशक कोई तत्त्व नहीं है। उसका अर्थ इतना ही है कि क्रान्तिकारी या सुधारक युग परमानन्द भाई के समान सौम्य मूर्ति के द्वारा भी अपनी आवाज प्रकट कर सकता है।

मैं सुनता हूँ कि अमुक समाज ने अथवा समुदाय ने उनका बहिष्कार कर दिया है। इसलिए मैं पहले इस बहिष्कार के बारे में ही दो शब्द कहूँगा।

बहिष्कार प्रत्येक सुसंस्कृत और संगठित समाज का स्वाभाविक अधिकार है। वह सभ्य समाज के हाथ में एक प्रभावशाली और सात्त्विक शस्त्र है। लेकिन यह शस्त्र दुधारी तलवार है। जिनके खिलाफ इसका उपयोग किया जाता है उन्हें तो जब यह मारेगा तब मारेगा; परन्तु जो लोग इस शस्त्र का उपयोग करते हैं वे यदि उचित अवसर, उचित पद्धति और स्वाभाविक मर्यादा को न जानें, तो यह पहले उन्हीं का नाश करता है। एक समय हमारी जाति के एक सयाने वृद्ध पुरुष ने बहिष्कार की जो मीमांसा की थी, उसे इस समय मैं अपनी भाषा में आपको सुना दूँ। सत्याग्रहाश्रम में जाकर मैंने हरिजन के हाथ का खाना खाया था। इसलिए जब मैं अपने गाँव गया तो मैंने अपने जातिवालों से कहा कि मैं इस तरह व्यवहार करता हूँ। गुजरात के जैसी जातियों की रचना और जातियों द्वारा खड़ी की जाने वाली परेशानी हमारे प्रदेश में बिलकुल नहीं है। फिर भी जाति के लोग चाहते तो मेरा बहिष्कार कर सकते थे। मैंने हरिजनों के साथ भोजन करने की बात उनके सामने कबूल की, तो कुछ भाई बोल उठे : "बैठो, बैठो। हम पृछने आयें तब तुम ऐसी बातें हमसे कहना।" इसी रुख के समर्थन में एक वृद्ध पुरुष ने कहा: "कोई बड़ा अमीर आदमी होता है तब तो उसका बहिष्कार करने की हम बात भी नहीं करते। दंभी आदमी समाज में पाखंड चलाते हैं, लेकिन हम उन्हें अपने शिंकजे में पकड़ नहीं सकते। तब यदि एकाध मन के शुद्ध और सज्जन आदमी का ही हम बहिष्कार करें, तो क्या यह हमें शोभा देगा ? ऐसा करने से समाज का कल्याण भी नहीं होगा। इनके जैसे लोग रूढ़ आचार को जरूर तोड़ते हैं, परन्तु वे अनाचार नहीं करते। इसलिए जाति उनके खिलाफ हो जाए, तो भी उनकी प्रतिष्ठा को कोई धक्का नहीं पहुँचता। उल्टे बहिष्कार करने वाले लोगों की ही बदनामी होती है। यदि निर्मल और शुद्ध हृदय लोगों का बहिष्कार करके हम उन्हें खो देंगे, तो फिर जाति में रह ही क्या जाएगा ? इसलिए समझदारी का मार्ग यही है कि ऐसे लोगों का हम नाम ही न लें। यह कलियुग है; इसमें जो कुछ हो उसे हम चुपचाप देखते रहें।" इन वृद्ध पुरुष की

मुख्य दृष्टि सच्ची थी, यद्यपि कलियुग की उनकी दलील निरर्थक थी।

यह जरूरी है कि समाज के आचारों की (रहन-सहन की) प्रत्येक युग मे जाँच की जाए। उनमें आवश्यक परिवर्तन होना भी जरूरी है। शरीर को हम रोज नया पोषण देते हैं और गन्दगी भी रोज शरीर से बाहर निकालते रहते हैं, जिससे शरीर नीरोग रहकर अच्छी तरह अपना काम करता है। यही बात समाज-शरीर को भी लागू होती है। जिस प्रकार खाये हुए आहार का कुछ समय बाद रक्त बनता है और उसका निकम्मा भाग गन्दगी के रूप में शरीर से बाहर निकल जाता है, उसी प्रकार अच्छी-से-अच्छी प्राचीन व्यवस्थाएँ अपने-अपने समय को पोषण देने के बाद सड़ाँध के रूप में बची रहती है। उसे यदि हम समाज से निकाल न फेंकें, तो समाज-शरीर बदबू करता है और रोगी हो जाता है। प्रतिदिन होने वाले विकास को जब हम रोक देते हैं, तो किसी समय सन्निपात की तरह समाज में एकाएक क्रान्ति फूट पड़ती है। विकास को रोकने का अर्थ है क्रान्ति को निमंत्रण देना, फिर यह क्रान्ति विदेशी आक्रमण के रूप में हो या भीतरी विद्रोह के रूप में।

सामयिक सुधारों के बिना धार्मिक जीवन टिक ही नहीं सकता, इसलिए सामाजिक सुधार— सामाजिक प्रगति— के सार्वभौम नियमों को हमें जान लेना चाहिए। जिन लोगों के पास हजारों वर्षो का अनुभव और इतिहास है, वे यदि धर्म-विकाप और जीवन-परिर्वतन का शास्त्र न रचें, तो वे ऋषि-मुनियों की परम्परा को कलकित कर देंगे। हमारे स्मृतिकार समय-समय पर धर्म-व्यवस्था मे परिवर्तन करते ही आए हैं। अब हमें ऐसे परिवर्तनों का एक सम्पूण शास्त्र बनाना चाहिए। तभी हम अपने समाज का जहाज जीवन-सागर मे सुरक्षित रूप में चला सकेंगे। इस प्रकार जीवन-व्यवस्था की बार-बार परीक्षा करके जीवन के तत्त्वनान का नए सिरे से रचने वाले लोगों में भगवान महावीर एक अग्रगण्य महापुरुष थे। अब हम देखें कि उनका युग कैसा था।

महाभारत के युद्ध की घटना आर्यो के जीवन गें बडी-से-बड़ी क्रान्ति करने वाली सिद्ध हुई। अंग्रेजों और जर्मनों के बीच के भातृद्वेष का विग्रह जिस तरह विश्वव्यापी बनकर आज की दुनिया को अभी भी परेशान कर रहा है, उसी तरह कौरव-पांडवों के बीच का वह सर्वनाशी महायुद्ध भारत की प्राचीन संस्कृति के लिए घातक सिद्ध हुआ। इस भारतीय युद्ध के पहले रन्तिदेव जैसे सम्राट् इस प्रकार के महायज्ञ करने में जीवन की सार्थकता मानते थे, जिनमें प्रतिदिन पच्चीम-पच्चीस हजार पशुओं का वध होता था। उस समय के राजा लोग सम्राट् बनने के लिए प्रतिस्पर्धा करके एक-दूसरे का नाश करते थे और एक दिग्विजय सिद्ध करने के लिए किए गए राज-संहार का पाप धोने के लिए उतना ही हिंसक दूसरा यज्ञ करते थे। इसी कारण से

भीष्माचार्य तथा धर्मराज के समान पुण्य-पुरुषों ने क्षात्रधर्म को पापपूर्ण मानकर उसे धिक्कारना चाहा। मनुष्य की अखंड सेवा के कारण उसके कुटुम्बी बने हुए असंख्य पशुओं का— गाय, बैल और घोड़ों का— यज्ञ के नाम पर संहार करने की सिफारिश करने वाले वेदों से संत्रस्त होकर एक ऋषि यह विद्रोही वचन बोल उठे : 'धिग् वेदाः।' वैदिक मंस्कृति के सुवर्ण-काल में ऐसा वचन कहना उतना ही साहसपूर्ण था जितना वरडून का युद्ध लड़ रहे हिंडनबर्ग के समक्ष युद्ध का निषेध करना। हमारे वैदिक धर्म के अभिमानी पूर्वजों ने यह वचन भी लिख रखा है। यह बात उनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता को सूचित करती है; साथ ही यह उस काल की ऊबी हुई धर्मबुद्धि की द्योतक है।

भारतीय युद्ध, काठियावाड़ की भूमि पर परस्पर लड़ा गया यादवों का संहारक युद्ध तथा आस्तिक ऋषि द्वारा बन्द कराया हुआ राजा जनमेजय का मर्पसत्र— इस सारे वातावरण का जिन लोगों को स्मरण था, उन्होंने सम्पूर्ण जीवन-दृष्टि में परिवर्तन करने का निश्चय किया।

यह विचार धीरे-धीरे परिपक्व और दृढ़ होता गया; छह सौ वर्ष तक यह प्रक्रिया चलती रही और उसमें से आर्य-परम्परा के दो पन्थों का जन्म हुआ। इन पन्थों को हम बौद्ध धर्म और जैन धर्म के नाम से पहचानते हैं।

नहि वेरेण वेराणि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेण च सम्मन्ति ऐस धम्मो सनन्तनो।।

इस प्रकार कहकर बुद्ध भगवान ने अवैर का सन्देश दिया। दुखं सेते पराजितो'— प्रजा का यह अनुभव होने से उसने इस सन्देश को अपना लिया। बुद्ध भगवान ने मासाहार का निषेध भले ही न किया हो , किन्तु यह उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जब मानव-जाति यज्ञ के नाम पर पशुहत्या नहीं करती थी उस समय मनुष्यों में रोग नहीं जैमे ही थे। पशुहत्या के फलस्वरूप ही मानव-जाति को अनेक रोग लग गए हैं।

और, ज्ञातृपुत्र वर्धमान महावीर ने तो अहिंसा को ही परम धर्म कहकर मानव-जीवन के सम्पूर्ण आधार को ही बदल डाला। वैदिक काल में अवैर, अहिंसा और गौरक्षा की कल्पना थी ही नहीं ऐसा नहीं; परन्तु धर्म का पूर्ण साक्षात्कार भी तो अनुभव से ही होता है। बुद्ध और महावीर के समय में ही ऋषि-दृष्ट अहिंसा का प्रेम धर्म लोक-दृष्ट हुआ। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उनके समय के बाद भारत में यज्ञ हुए ही नहीं; परन्तु राष्ट्रधर्म के हृदय मे यज्ञ अप्रतिष्ठित बन चुके थे। वे प्राचीन संम्कृति की गूँज की तरह सुने गए और अनादर के मौन में विलीन हो गए। जहाँ-तहाँ जन-हृदय पूछने लगा कि वृक्षों का संहार करने से, पशुओं की हत्या करने से और रक्त-मांस का कीचड़ फैलाने से यदि स्वर्ग में जाया जाता हो,

तो फिर नरक में जाने का मार्ग कौन-सा है ?

जब अनुकूल और प्रतिकूल तटों पर बसने वाले किसानों में बीच की नदी के पानी के लिए युद्ध होने का अवसर खड़ा हो गया, तब बुद्ध भगवान ने दोनों के नेताओं को इकट्ठा करके पूछा: 'पानी कीमती है यह भाइयों का खून ? पानी लिए भाइयों का खून बहाना कहाँ की बुद्धिमानी है ?'

राजा ययाति ने अपने और अपने पुत्र के यौवन का अनुभव करके सम्राट्-के लिए सुलभ सारे भोग-भोग लेने के बाद यह अनुभव-वचन कहा कि जगत में जितने भी चावल और तिल हैं, जितने भी ऐश-आराम के साधन हैं, उन सबको कोई अपना बना ले, तो भी एक के सुखोपभोग के लिए वे पर्याप्त नहीं होंगे; वे उसके मन में तृप्ति उत्पन्न नहीं कर सकते। इसलिए स्वयं वासना का ही त्याग करके सन्तोष मानने में जीवन की सफलता की कुंजी है। भगवान महावीर ने भी लोगों से यही कहा। हिंसा के द्वारा दूसरों को दबाने की अपेक्षा तप के द्वारा अपनी वासनओं को दबाना ही विश्वजित् यज्ञ है। इसी में जीवन की सफलता और कृतार्थता है। मनुष्य का जीवन अपने आम-पास के लोगों के लिए शापरूप और त्रासरूप बनने के बदले आशीर्वाद बने, इसी में धर्म निहित है। तप के मूल में यही बात है। तप के बिना मनुष्य का जीवन निष्पाप नहीं बन सकता।

जिस प्रकार यज्ञ के जैसे भव्य जीवन-सिद्धान्त को उस समय के लोगों ने पशुहत्या करके भ्रष्ट कर दिया, उसी प्रकार उसके बाद के लोगों ने तप के सर्वमंगलत्व को भूलकर उसे निरर्थक देह-दमन का रूप दे दिया। सचमुच हमारे देश के लोगों ने महान-से-महान धर्म-सिद्धान्तों को अर्थ-विहीन यांत्रिक क्रिया रूप देकर बहुत बडा बुद्धिद्रोह और समाज-द्रोह किया है।

आहारशास्त्र, जीवनशास्त्र, प्राणीशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, मानसशास्त्र, तर्कशास्त्र आदि मनुष्योपयोगी शास्त्रों का जिन्होंने उत्तम और अद्यावधि (up-to date) अध्ययन किया है, उन समाज-हितैषी लोगों को धर्मशास्त्रों पर बार-बार विचार करना चाहिए और अपने जमाने के स्वजनों का मार्गदर्शन करना चाहिए।

यदि यह सनातन आवश्यकता न होती तो भगवान बुद्ध और महावीर जैसे महापुरुषों को पुरुषार्थ करके जनता को सनातन धर्म की नए सिरे से दीक्षा देना आवश्यक नहीं लगता। धर्म कितना भी उज्ज्वल क्यों न हों, मानवीय बुद्धि अथवा अबुद्धि की जड़ता के कारण उस पर राख चढ़ ही जाती है। इस राख को हटाकर तथा प्राचीन धर्मतत्त्वों का संस्कार करके धर्म को नए सिरे से गति देने का कार्य प्रत्येक युग में होता आया है, इसीलिए धर्म टिका है। धर्म के ग्रन्थ, धर्म के मन्दिर तथा अहिंसा, सत्य और शान्ति सबको भूलकर धर्म का ही द्रोह करने वाले धर्मान्ध आचार्य धर्म की रक्षा नहीं कर पाएँगे। शान्ति, तितिक्षा और उदारता जिनमें है, विरोधी पक्ष के

तर्क में रहे सत्यांश और शुभ हेतु को समझने और स्वीकारने जितना स्याद्वाद जिनके गले उतर गया है, ऐसे धर्म-परायण लोग ही धर्म के रक्षक होते हैं। उच्च धर्म में जन्म पाने से मनुष्य उच्च नहीं होता, परन्तु उच्च जीवन से ही वह उच्च बनता है, यह बुद्ध और महावीर ने अनेक बार कहा है।

धर्म का अर्थ ही है जीवन-सुधार। प्राकृत मनुष्य का जीवन सामान्यतः आहार-निद्रादि आवश्यकताओं के, राग-द्वेषादि वासनाओं के तथा दम्भ-मत्सरादि विकृतियों के अनुसार ही बहता रहता है। इसमें सुधार करके जीवन सु-संस्कृत बनाना ही धर्म का मुख्य कार्य है। जिस प्रकार जीवन पर जंग चढ़ता है उसी प्रकार धर्म-वचनों और धार्मिक संस्थाओं पर भी जंग चढ़ता है। इस जंग को दूर करने का कार्य यदि धर्म स्वयं न करे, तो दूसरा कौन करेगा ? सामाजिक सुधार ही धर्म का प्रयोजन है। यदि कोई यह कहे कि बुद्ध और महावीर के बाद समाज-सुधारकों की आवश्यकता नहीं रही, तो इससे यही सिद्ध होगा कि बुद्ध और महावीर को भी उनके जमाने में कोई आवश्यकता नहीं थी। प्रत्येक धर्म-संस्थापक को यही न्याय लागू होता है, भले ग्रन्थ-वचन कुछ भी कहें। 'ऐसा एक भी देश नहीं है और ऐसा एक भी युग नहीं है, जिसे समाज-सुधार करने के लिए धर्म-संस्थापक प्राप्त न हुए हों। इसलिए हमें धर्म से ही समाज-सुधार के सिद्धान्त मिल सकते हैं। और इन सिद्धान्तों का उपयोग सर्वप्रथम हमें प्रगति सिद्ध करने, धर्मसंस्था को सुधारने के लिए ही करना चाहिए।

प्रगति का अर्थ क्या है ? — यह प्रश्न हमेशा उठता है। जहाँ जीवन के आदर्श बार-बार बदलते हैं वहाँ प्रगति की दिशा निश्चित करना आसान नहीं होता। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक समय के लोगों को तात्कालिक जो कुछ वांछनीय मालूम हो उसकी ओर जाने के लिए आवयश्क परिवर्तन करना प्रगति है। लोगों को जो दिशा पसन्द होगी उसी दिशा में वे जाएँगे। एक समय हमारे लोगों ने संगीत और नृत्य की निन्दा की थी। उन्होंने इन दोनों कलाओं को सामाजिक बुराई मान लिया था। उस समय के कुछ लोगों ने इन कलाओं के खिलाफ जोरों का आन्दोलन किया था । आज उसी संगीत और नृत्य को अपनी संस्कृति की विशेषताओं के रूप में हम सीखते हैं और उनका विकास करते हैं तथा दुनिया को उनकी कदर करने के लिए निमंत्रित करते हैं। एक जमाने में अपने बालकों को खेलकूद में समय बिगाड़ने के लिए हम सजा देते थे; आज खेलकूद में जो विद्यार्थी भाग नहीं लेते उनसे हम नाराज होते हैं। हमारी पोशाक के बारे में भी यही बात लागू होती है। हमारे देश में एक ऐसा जमाना भी हो गया है, जो मांस और मदिरा के सेवन में ही प्रगति मानता था। आदर्श सदा झूले की तरह दो सिरों के बीच झूलते रहते हैं। फिर भी प्रगति जैसी कोई स्थाई चीज अवश्य है और सभी जमानों को वांछनीय लगें ऐसे

कुछ तत्त्वों का भी विकास होना चाहिए। इसका विचार हम आगे करेंगे।

सामान्यतः यह देखा गया है कि समाज को स्थिरता और प्रगति दोनों तत्त्वों की रक्षा करनी होती है। यदि स्थिरता न हो, तो सामाजिक सद्गुणों की पूँजी एकत्र नहीं हो सकती; चरित्र का विकास नहीं हो सकता और मनुष्य का सामाजिक जीवन में विश्वास भी नहीं बैठ सकता। उल्टे यदि हम अपरिवर्तनवादी बन जाएँ, तो जीवन को जंग लग जाएगा, जीवन सड जाएगा और सारे जीवन-रस सूख जाएँगे। स्थिरता और प्रगति ये एकसाथ रहने वाले तत्त्व कभी-कभी श्रम और विश्राम की तरह एक के बाद एक आते हैं। यह भी प्रगति का एक बडा सिद्धान्त है। इन दोनों की अपरिहार्यता को ध्यान में रखकर ही सामाजिक जीवन के नियम बनाए जाने चाहिए। धर्मशास्त्रों ने समय-समय पर सामाजिक नियमों की रचना की है। हमारे समाज की मान्यता ऐसी बना दी गई है कि नियम ईश्वर के दिये हुए हैं अथवा सामान्य बुद्धि से परे रहने वाले अलौकिक दृष्टि के लोग ही नियम बना सकते हैं। प्रत्यक्ष व्यवहार में तो सभी लोग परिवर्तन करते हैं, किन्तु मान्यता में सब लोग इस विचार को ही प्रोत्साहन देते हैं कि धर्म की दी हुई समाज-व्यवस्था में कोई परिवर्तन करने का अधिकार समाज को नहीं है। समाज-व्यवस्था का प्रत्यक्ष अनुभव, उस अनुभव के आधार पर होने वाला विचार, समाज की भावनाएँ और समाज में विकसित होने वाली सनातन श्रद्धा— इन्हीं सब पर आधार रखती है। इनमें से श्रद्धा प्रत्येक समाज का मूल धन है। इस धन की रक्षा करना सामाजिक शक्ति का मूल मंत्र है।

यदि हम प्रतिक्षण परिवर्तन करते रहेंगे, तो समाज बालू के ढेर जैसा हो जाएगा। उसमें धृति (cohesion) का गुण आएगा ही नहीं। और यदि हम किसी भी तरह का परिवर्तन न करने का निश्चय कर लें, तब तो समाज मुर्दे की तरह सडने लगेगा।

समाज में आवश्यक परिवर्तन करने पर भी कोई परिवर्तन नहीं किए गए हैं ऐसा मानने-मनवाने में प्रत्येक समाज अपना श्रेय समझता आया है। न्यायाधीश प्रत्येक मुकदमे में अपना निर्णय देते समय कानून में परिवर्तन करते हैं, परन्तु उनका प्रयत्न यह दिखाने का होता है कि कानून में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। इसे 'legal fiction' कहते हैं । समाज-व्यवस्था को धर्मशास्त्रों के हाथों में सौंपने के बाद उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया, ऐसा दिखाना पड़ता है। इसके लिए भाष्यकार भाष्य रचते हैं और एक ही शास्त्र में श्रद्धा रखते हुए भी अलग-अलग भाष्यकारों के अर्थ के अनुसार लोगों के गुट बन जाते हैं। लोग शास्त्र-वचन के प्रामाण्य की रक्षा करके अपने स्वीकृत भाष्यकार के वचन को अधिक महत्त्व देते हैं। सब देशों के आज तक के इतिहास को देखते हुए प्रगति का यह भी एक सार्वभौम नियम कहा जा सकता है।

सामाजिक प्रगति का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त भी सर्वत्र देखा गया है।

एक जमाना धर्म-व्यवस्था के बाह्य आकार की रक्षा करके उस आकार में पूरे या भरे जाने वाले मसाले में परिवर्तन करता है। पशु के मांस का यज्ञ करने के बदले वह माश का (उड़द का) पशु बनाकर उसकी बलि देता है और मानता है कि मांस-यज्ञ की रक्षा हो गई। इस प्रकार भीतर का मसाला पूरी तरह बदल जाने के बाद नए लोग तर्क करते हैं कि मुख्य चीज ममाला है, आकार तो गौण चीज है। इसलिए भीतर की चीज की रक्षा करके उसे कैसा भी आकार देने में धर्मद्रोह नहीं होता; तत्त्व की रक्षा का ही वास्तविक महत्त्व है। इस प्रकार आकार के बदल जाने के बाद नए आकार को ही महत्त्व प्रदान किया जाता है। उड़द के आटे के पशु बनाने के बदले गेहूँ के आटे के पिंड बनाए जाते हैं और फिर उसमें नया मसाला स्वीकार करने की तैयारी हो जाती है। एक प्राचीन वचन है: 'चलत्ये- केन पादेन तिष्ठत्येकेन पण्डित:।' एक पैर को उठाकर आगे रखने के लिए दूसरा पैर अडिग और स्थिर रखना होता है। उठाया हुआ पैर आगे स्थिर हो जाए उसके बाद पीछे के अडिग पैर के डिगने की या उसे डिगाने की बारी आती है। इसी तरह समाज की प्रगति होती आई है। जो लोग इस सिद्धान्त को जान लेते हैं, उनकी समाज-सेवा करने की शक्ति खूब बढ़ जाती है।

आज का जमाना चर्चा का है। प्राचीन नियम यह था कि जिस बात के लिए मन में परम आदर हो, उसकी चर्चा नहीं की जा सकती । माता, पिता या गुरु की आज्ञा पर कोई विचार किया ही नहीं जा सकता था— 'आज्ञा गुरूणां ह्य-विचारणीया।' गुरुजनों के आचरण के काजी हम न बनें, वे जो कुछ करते हैं वह उत्तम ही है; 'वृद्धास्ते न विचारणीयचरिता:' इस वृत्ति का भी खूब विकास हुआ था। आज एक भी वस्तु इतनी पवित्र नहीं रही, जिसकी चर्चा ही न की जा सके। सभी लोग सभी वस्तुओं की चर्चा करें, इसमें एक प्रकार की शिक्षा भी है और अनाधिकार चेष्टा भी है। इससे समाज का नेतृत्व क्षुद्र वृत्तियों को उत्तेजित करने वाले गैर-जिम्मेदार लोगों के हाथ में आसानी से चला जाता है। परन्तु इस दोष से बचने के लिए यदि यह नियम बना दिया जाए कि 'अधिकारी पुरुष ही चर्चा करने योग्य माने जाने चाहिए,' तो इसके भी अपने अलग गुण-दोष हैं ही । ऐसा करने से समाज-हित का विचार एक तरह से परिपक्व रूप में होता है, लोगों में बुद्धिभेद उत्पन्न नहीं होता, स्थिरता बनी रहती है और समाज प्रचण्ड सामर्थ्य का विकास कर सकता है। परन्तु ऐसी स्थिति में लोक-शिक्षण बहुत बार रुक जाता है और नेताओं की ही एक जाति खड़ी हो जाती है। समाज की कार्यशक्ति बढ़ने पर भी उसकी सूझ-बूझ की शक्ति को जंग लग जाता है और नेतावर्ग का नैतिक अध:पतन होने पर सारा समाज टूट जाता है।

धार्मिक सुधार करने वाले लोग परम धार्मिक और त्रिकालज्ञ होने चाहिएँ। जो लोग धर्म के विधि-विधान में और बाह्य प्रथाओं में क्रान्ति कर सकते हें, उनके पास धर्म की आत्मा अखण्ड जागृत होनी चाहिए। उन्हें धर्मतत्त्व का आकलन स्वयं करना चाहिए। ऐसे लोग हर जमाने में और हर देश में अथवा समाज में उत्पन्न होते ही हैं, यह धर्मग्रन्थों में लिखा हुआ है, और इतिहास में देखा गया है।

त्रिकालज्ञ शब्द का अर्थ हमें भलीभाँति समझ लेना चाहिए। 'लाखों वर्ष पहले कौन-कौन-सी घटनाएँ घटी हैं और लाखों वर्ष बाद कौन-कौन-सी घटनाएँ घटने वाली हैं' प्रत्येक व्यक्ति क्या-क्या कर चुका है और आगे क्या करनेवाला है, यह सब विस्तार से जानने वाला मनुष्य त्रिकालज्ञ है'— ऐसी जड़ मान्यता समाज में फैली हुई है। ईश्वर की ओर से सन्देश प्राप्त करने का दावा करने वाले मुहम्मद पैगम्बर कहते हैं कि दूसरे क्षण क्या होने वाला है यह न तो खुदा ने अपने नबियों से कह रखा है और न अपने फरिश्तों से। भविष्य सम्बन्धी ज्ञान खुदा ने अपने पास ही रखा है। कहने का मतलब यह है कि सर्वोच्च मनुष्य को भी भविष्य का ब्योरेवार ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। तब त्रिकालज्ञ का अर्थ क्या है?

जो मनुष्य दीर्घकालीन इतिहास के अध्ययन से भूतकाल के स्वरूप को अच्छी तरह जानता है और लोकस्थिति का सूक्ष्म और व्यापक निरीक्षण करने के फलस्वरूप वर्तमान काल की वस्तुस्थिति से पूर्ण परिचित होता है, उसे— यदि उसने शास्त्रीय वृत्तिका विकास अपने भीतर किया हो तो— समाजशास्त्र की रचना करना आता है और इस शास्त्र के बल पर वह आसानी से यह समझ सकता है कि भविष्य का प्रवाह— विचार-प्रवाह तथा घटना-प्रवाह— किस दिशा में बहेगा। ऐसे शास्त्रीय दृष्टि वाले मनुष्य को हम त्रिकालज्ञ कहते हैं। प्रत्येक देश में और प्रत्येक युग के सर्वोच्च नेता इस प्रकार कम या अधिक मात्रा में त्रिकालज्ञ होते ही हैं। और जो लोग इस अर्थ में त्रिकालज्ञ रहे हैं, वे ही समाज की नौका को जीवन-सागर में भलीभाँति चला सके हैं।

ऐसे मनुष्य में एक विशिष्ट शकित की आवश्यकता होती है। वह है भविष्य के आदर्श की झाँकी करने की शकित। जिस प्रकार जहाज का कप्तान अपने पास के नकशे के अनुसार जहाज को चलाता है, जिस प्रकार मकान बनाने वाले लोग अपने नकशे के अनुसार मकान की सारी रचना करते हैं, जिस प्रकार महाकाव्य का कोई कवि निश्चित किए हुए उद्देश्य के अनुसार अपने काव्य का विस्तार करता है, उसी प्रकार समाज की धुरी को धारण करने वाला, समाज का नेता अपने मन में निश्चित किए हुए आदर्श की दिशा में समाज को निःशंक भाव से ले जाता है। उसके सामने अपने आदर्श का चित्र जितना स्पष्ट और जीवन्त होगा, उतने ही विश्वास के साथ वह समाज का मार्गदर्शन करेगा। बुद्ध और महावीर ऐसे ही समाज-सुधारक थे, इसीलिए

वे अपने पीछे इतनी समर्थ संस्कृति छोड़ गए हैं।

लेकिन बाद के लोग धर्म के रहस्य को भूलकर केवल रूढ़ि और अपनी प्रतिष्ठा से चिपटे रहते हैं। अहिंसा-धर्म की सर्वत्र विजय देखने की इच्छा रखने वाले जैनों में जब धर्म के नाम पर मार-पीट होती है तब धर्म कलंकित होता है। शम-दम का उपदेश करने वाले आचार्य जब क्रोधित होते हैं और किसी का सर्वनाश करने की प्रतिज्ञा लेते हैं, तब जिस धर्म के नाम पर उनको प्रतिष्ठा मिली है वह धर्म गहरे सोच में पड जाता है कि अब मैं कहाँ जाऊँ ? जिनके आधार को मैंने मुख्य माना था वे मेरे रक्षक होने का दावा तो करते हैं, परन्तु अपने जीवन से ही मेरा गला घोंटते हैं !' महाराष्ट्र में नागपुर के पास रामटेक नामक एक स्थान है। वहाँ का एक जैन मन्दिर देखने मैं गया था। उसके द्वार पर बन्दूक, तलवार आदि शस्त्र रखे गए थे और सिपाही उस मन्दिर की रक्षा करते थे ! इस तरह मन्दिर मे एकत्र की हुई धन-दौलत की रक्षा जरूर होती थी, लेकिन अहिंसा-धर्म की तो निरन्तर विडम्बना ही होती थी।

धन-दौलत के भंडार और अहिंसा का मेल कभी बैठ ही नहीं सकता। यूरोप मे अहिंसावादी क्वेकरों को और भारत में अहिंसावादी जैन लोगों को काफी धनी देखकर मेरे मन में शंका होती है कि इन लोगों की समझ में अहिंसा-धर्म अच्छी तरह आता होगा या नहीं ? गरीबों का वृत्तिच्छेद किए बिना कोई धनवान हो ही नहीं सकता। और वृत्तिच्छेद में शिरच्छेद से कम हिंसा नहीं है। यदि धर्माचार्य धर्म की विजय देखना चाहते हों, तो उन्हें समाज की अन्याय-मूलक व्यवस्था को बदलना ही होगा और ऐसी स्थिति लाने का प्रयत्न करना होगा जिसमें प्रत्येक मनुष्य को उसकी मेहनत का पूरा फल मिले।

यह अच्छा ही हुआ कि प्राचीन काल में आहारशास्त्र के सूक्ष्म नियम बनाए गए। परन्तु आज वे नियम बदलने ही चाहिए। नया आहारशास्त्र बड़ी तेजी से विकास कर रहा है। धर्म की दृष्टि से उसका लाभ उठाकार धर्माचार्यो को चाहिए कि वे अपने समाज को नया रास्ता दिखाएँ। मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि प्याज, आलू, बैंगन या टमाटर न खाने में धर्म मानने वाले लोग कीड़ों को उबाल कर तैयार किए हुए रेशम के कपड़ों का घर में और उपाश्रय में कैसे उपयोग करते होंगे। लेकिन यह तो तुलना में एक गौण बात हुई। आज स्त्रियों, हरिजनों, गरीबों, किसानों और मजदूरों के प्रति जो जीवन-व्यापी अन्याय चल रहा है, उसे रोकने के लिए धर्मवीरों को कटिबद्ध होना चाहिए।

जैन का अर्थ है वीर। उसे तो सदा लड़ने की तैयारी रखनी ही चाहिए। उसका शस्त्र अहिंसा है, लेकिन इस कारण कम वीरता से उसका काम नहीं चल सकता। जिस धर्म की स्थापना एक महान सुधारक ने की उसके अनुयायी स्वयं ही सुधार का

विरोध करें, यह एक आश्चर्यजनक घटना है। बुद्ध और महावीर ने जातिभेद का विरोध किया था, अस्पृश्यता की अवगणना की थी; फिर भी उनके अनुयायी जाति के अभिमान से ओतप्रोत हैं और अस्पृश्यता को टिकाये रखने में धर्म समझते हैं !

यह स्थिति देखकर ही एक मित्र ने कहा है: 'सन्त लोग धर्म चलाते हैं और रूढ़ि पूजक आचार्य उस धर्म का खून करते हैं और बाद में उसकी 'ममी' (सुरक्षित शव)की पूजा करते हैं।' मैं नहीं मानता कि ऐसा होना ही चाहिए। इसीलिए मेरी यह आशा है कि धर्माचार्य अपनी प्रतिष्ठा को नहीं परन्तु धर्म को जीवन्त रखने के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देंगे।

३०. धर्म-संस्करण : १

कुछ लोग कहते हैं कि हमारा धर्म प्राचीन से प्राचीन है, इसलिए वह अच्छा है। कुछ लोग कहते हैं कि हमारा धर्म अन्तिम से अन्तिम है, इसलिए वह ताजा है। कुछ और लोग कहते हैं कि अमुक पुस्तक आद्य धर्मग्रन्थ है, इसलिए उसमें सब कुछ आ जाता है। दूसरे लोग कहते हैं कि अमुक ग्रन्थ ईश्वर के द्वारा जगत को दिया हुआ अन्तिम से अन्तिम धर्मग्रन्थ है, इसलिए उसे स्वीकार करना चाहिए।

सनातन-धर्मी इस बारे में दूसरी ही दृष्टि से विचार करते हैं। आज की सृष्टि का आदि और अन्त हो सकता है। धर्मग्रन्थों का भी आदि और अन्त हो सकता है। परन्तु धर्म अनादि और अनन्त है, इसीलिए वह सनातन कहलाता है। सनातन का अर्थ क्या है ? जो इस सृष्टि के आरम्भ से पहले भी था और इस सृष्टि के अन्त के बाद भी रहेगा वह सनातन है। इस अर्थ में केवल आत्मा और परमात्मा ही सनातन माने जाएँगे।

लेकिन सनातन का एक दूसरा अर्थ है, जो स्वभाव से ही नित्य-नूतन है, वह सनातन होता है। जो जीर्ण होता है वह मर जाता है; जो बदलता नहीं वह सड़ जाता है; जिसकी प्रगति नहीं होती उसकी अधोगति होती है। रुँधी हुई हवा बदबू करती है । न बहने वाला पानी स्वच्छ नहीं रहता। पहाड़ के पत्थर बदलते नहीं, इसीलिए धीरे-धीरे उनका चूरा हो जाता है। घास बार-बार उगती है, इसलिए वह ताजी रहती है। जंगल की वनस्पति हर साल सूख जाती है और हर साल फिर से उगती है। बादल खाली होते हैं और फिर पानी से भर जाते हैं। प्रकृति को नित्य-नूतन बनने की कला प्राप्त हो गई है, इसीलिए प्रकृति सदा नवयौवना दिखाई देती है।

इस सिद्धान्त को जानने के कारण ही सनातन धर्म के व्यवस्थापकों ने युगधर्म

के अनुसार भिन्न-भिन्न धर्मों की व्यवस्था की है। काल की महिमा जानने के कारण ही वे काल को जीत सके हैं। धर्म के आध्यात्मिक सिद्धान्त अचल और अटल हैं। परन्तु उनके व्यवहार को देश-काल के अनुसार बदलना पड़ता है। इसका ज्ञान होने के कारण धर्मकारों ने हिन्दू धर्म की बुनियादी रचना में ही परिवर्तन का तत्त्व रख दिया है। इसीलिए वह धर्म सनातन पद प्राप्त कर सका है। अनेक बार क्षीण-प्राण होने पर भी वह निष्प्राण नहीं हुआ है। मनुष्य की जड़ता के कारण अनेक बार इस धर्म में सड़ाँध पैठी है, फिर भी किसी प्रकार के विप्लव के बिना उसका पुनरुद्धार हुआ है।

सामाजिक व्यवस्था में अथवा धार्मिक विधियों के रिवाजों में समय के अनुकूल परिवर्तन होना चाहिए; परन्तु जब से हिन्दू समाज में अबुद्धि ने जड़ जमायी है तब से ऐसे परिवर्तनों की ओर हिन्दू लोग शंका की दृष्टि से देखने लगे हैं । पूर्वजों की अपेक्षा हमारा सयानापन बढ़ ही नहीं सकता, पूर्वज तो त्रिकाल का विचार करने वाले थे। उनकी रची हुई व्यवस्था में यदि हस्तक्षेप करेंगे तो पता नहीं कौन से संकट में हम पड़ जाएँगे— ऐसा कायर भय अथवा नास्तिकता हमारे भीतर घुस गई है। सच पूछा जाए तो परिवर्तन का भय सनातन धर्म के स्वभाव के विरुद्ध है। गहरे विचार के बिना चंचलता के कारण किए जानेवाले परिवर्तन की कोई हिमायत नहीं करेगा; परन्तु अज्ञानता के कारण प्रगति से डरकर निष्प्राण स्थिरता खोजने में पुरुषार्थ नहीं बल्कि मृत्यु ही है।

अपने धर्म को त्याग कर दूसरों का धर्म ग्रहण करना एक बात है; और अपने तथा दूसरों के धर्म की जाँच करके अपने धर्म में आवश्यक परिवर्तन और सुधार करना दूसरी बात है। ईश्वर प्रत्येक युग में हमारे सामने नई-नई परिस्थितियाँ खड़ी करके हमारी बुद्धिशक्ति को सक्रिय बनाए रखता है और इस प्रकार धर्म के मूल सिद्धान्तों के हमारे परिचय को जागृत रखता है। यदि धर्म के बाह्य आकार में परिवर्तन न हो, तो उसके भीतरी तत्त्व का शुद्ध आकलन हो ही नहीं सकता। हमारे जमाने में यदि पूर्वजों की ही नकल करने का काम रह जाए, नया कुछ भी करना, जानना अथवा खोजना बाकी न रह जाए, तब तो कहा जाएगा कि हमारी शताब्दी निरर्थक और बन्ध्या ही सिद्ध हुई है।

हमारे देश में प्राचीन काल से हर तरह एक-दूसरे से अलग पड़ने वाले धर्म और वंश साथ-साथ रहते आए हैं। ऐसे सहवास के कारण हमें हर समय धर्म-प्रवचन अलग-अलग ढंग से करना पड़ा है। जिस प्रकार की शंका दूर करनी हो, जिस प्रकार के दोष मिटाने हों, उसी के अनुसार हमें एक ही धर्म-सिद्धान्त को नई-नई भाषा में और नए-नए रिवाजों के रूप में प्रस्तुत करना पड़ता है। इसीलिए हमारा धर्म अनेक पहलुओं वाले तेजस्वी रत्न के समान दिव्य से दिव्यतर बनता

रहा है।

जब हम विदेशी सत्ता के अधीन रहते हैं तब धर्म को अत्यन्त कृत्रिम और हीन वातावरण सहन करना पड़ता है। जब किसी देश पर विदेशी लोगों का आक्रमण हो रहा हो उस समय धर्म-संस्करण में स्वाभाविक विकास नहीं रहता। हम कोई परिवर्तन करने जाएँ और हमारे विरोधी हमारी कमजोरी देखकर मर्मस्थान पर आघात करें तो ?— यह भय हमेशा बना रहता है। विदेशी सत्ता स्वभावतः समभाव से शून्य होती है। वह रूढ़ियों को तो टिके रहने देती है, लेकिन हमारी शक्ति को बरदाश्त नहीं कर सकती। इसीलिए विदेशी सत्ता के कानून कहते हैं : 'तुम्हारे जो रीति-रिवाज परम्परा से चले आए हैं, उन्हीं को संरक्षण मिलेगा। तुम नए रिवाज चालू नहीं कर सकते। तुम जहाँ हो वहाँ से हट नहीं सकते। पुराने कलेवर को हमारा अभय-दान है। लेकिन यदि हम तुम्हारे प्राण को, तुम्हारी शक्ति को राज्य की मान्यता दें, तब तो हमारा प्रभुत्व तुम्हारे देश में टिक ही नहीं सकता।' ऐसी समभाव-शून्य तटस्थता मे सड़ी-बुसी रूढ़ियाँ भी कानून की कृत्रिम सहायता से टिक सकती हैं।

ब्रिटिश राज्य के कारण हमारे यहाँ 'हिन्दू लॉ' के अमल में यह स्थिति कदम-कदम पर बाधक सिद्ध हुई है। न्यायमूर्ति तेलंग अक्सर इस स्थिति के विरुद्ध अपनी नाराजगी और खीज प्रकट किया करते थे। प्रत्येक धर्म और प्रत्येक समाज को अपनी व्यवस्था में चाहे जैसा परिवर्तन करने का अधिकार होना ही चाहिए। परन्तु ऐसा करने के लिए जो स्वतंत्रता, एकता और योजना-शक्ति आवश्यक हैं,वह उस-उस समाज में होनी चाहिए। बड़ी से बड़ी कीमत चुका कर भी हमें इन गुणों का विकास करना चाहिए। हिन्दू धर्म को यदि टिकाये रखना हो और जगत में उसका स्वाभाविक स्थान उसे फिर से दिलाना हो, हिन्दू धर्म को यदि समाज के लिए कल्याणकारी बनाना हो, तो हमें साहस के साथ उसका मैल धो डालना चाहिए। ऐसे कितने ही रिवाज और अन्धविश्वास हमारे समाज में घुस गए हैं, जो धर्म के सनातन सिद्धान्तों के विरोधी हैं और जिनकी वजह से समाज की सारी प्रगति रुक जाती है। इन सबको तुरन्त जलाकर भस्म कर देना चाहिए।

अस्पृश्यता एक ऐसी ही बुराई है। जाति के विषय में उत्पन्न होनेवाला अहंकार और प्रेम की संकुचितता, व्यापक आत्मीयता का अभाव— यह दूसरी बुराई है। जहाँ रूढ़ि के नाम पर दया धर्म का खून होता है, जहाँ आत्मा अपमानित होती है, जहाँ धर्मप्रीति के स्थान पर लालच और भय को स्थान दिया जाता है, वहाँ धर्म को इन सबके खिलाफ अपनी अधिकारपूर्ण बुलन्द आवाज उठानी चाहिए। हर जगह सरकारी अधिकारियों और कर्मचारियों को रिश्वत देकर अपना मतलब निकालना सीखे हुए लोग एक ईश्वर को छोड़कर उसके स्थान पर अनेक भयानक शक्तियों

को प्रलोभन देने में अपना धर्म समझने लगे। निरंकुश, क्रोधी, तरंगी और खुशामद-पसन्द अधिकारियों के जुल्म में रहकर नामर्द और कायर बने हुए लोगों ने देवी-देवताओं के स्वभाव के बारे में भी वैसी ही निरंकुशता, क्रोध आदि की कल्पना करके उनके प्रति भी अपने भीतर डरपोक की वृत्ति बढ़ा ली। इस प्रकार हमने धर्म में ही अधर्म का साम्राज्य स्थापित कर दिया। सत्यनारायण से लेकर शीतला माता तक के सब देवी-देवताओं के हमने डराने वाले गुण्डों (bullies) का रूप दे दिया। आकाश के तारे और ग्रह, जंगल के पेड़-पौधे और वनस्पतियाँ, हमारे भाईबन्द जैसे पशु और पक्षी, उषा और सन्ध्या, ऋतु और संवत्सर— सबमें हमारे पूर्वज ऋषि-मुनि परम मांगल्य की प्रेममय विभूतियों के दर्शन करते थे और उनके साथ आत्मीयता तथा एकता का अनुभव करते थे; लेकिन हमें आज इन सबमें शाप का और कोप का भय ही भय दिखाई देता है। धर्म के शुद्ध और उदात्त स्वरूप को जानने वाले लोग हमारी धार्मिक विधियों में निहित काव्य को समझ सकते हैं, परन्तु अज्ञानी जन-समुदाय उस काव्य को सनातन सिद्धान्त अथवा वास्तविक स्थिति मानकर विचित्र अनुमान लगा लेता है और धर्म के कार्य को विफल बना देता है।

आज हिन्दू धर्म का उत्कर्ष चाहने वाले प्रत्येक मनुष्य का पहला कर्तव्य यह है कि वह अपने समाज में धर्म का शुद्ध स्वरूप प्रकट होने की आतुरता से प्रतीक्षा करे। इस बात को हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए और दूसरों को समझाना चाहिए कि जिस धर्म में सत्य की निर्भयता और प्रेम की एकता नहीं है, जिसमें निःस्वार्थ त्याग की भावना नहीं है, जिसमें उदारता की सुगन्ध नहीं है, वह धर्म नहीं है। अब हिन्दू धर्म के संस्करण और परिष्करण का समय आ गया है, क्योंकि उसके ऊपर जमी हुई अशुद्धि की परतें अब उसका दम घोंटने लगी हैं।

२७-१०-४२

३१. धर्म-संस्करण : २

एक मात्र धर्म ही मानव-जीवन का सब पहलुओं से और समग्र रूप में विचार करता है। जीवन का स्थायी अथवा अस्थायी एक भी अंग ऐसा नहीं है, जिस पर विचार करना धर्म अपना कर्तव्य नहीं मानता।

इसलिए धर्म मनुष्य के सनातन जीवन जितना ही अथवा उससे भी अधिक व्यापक होना चाहिए; और चूँकि समस्त जीवन उसका क्षेत्र है, इसलिए उसे अत्यन्त

उत्कट रूप में जीवन्त और प्राणवान होना चाहिए।

आज जगत के जितने भी प्रसिद्ध धर्म हैं, वे अधिकांश ऐसे व्यापक धर्म हैं। अपनी स्थापना के समय तो वे सब जीवन्त थे ही। परन्तु धार्मिक पुरुषों ने उनकी चेतना को बार-बार जगाकर उन्हें जीवंत बनाए रखा है। सिगड़ी की आग जिस प्रकार स्वाभाविक रूप में ही बार-बार मन्द पड़ जाती है और इसलिए बार-बार उसमें कोयले डालकर और फूँककर उसका संस्करण करना पड़ता है, उसे प्रज्ज्वलित रखना पड़ता है, उसी प्रकार समाज में धर्मतेज को जाग्रत रखने के लिए धर्म-परायण समाज-पुरुषों को उसे फूँकने और उसमें ईंधन डालने का काम करना पड़ता है। यह काम यदि समय-समय पर न किया जाय, तो धर्म-जीवन क्षीण और विकृत हो जाता है; और धर्म का क्षीण और विकृत रूप अधर्म के जितना ही हानिकारक होता है। धर्म को चेतनावान और प्रज्ज्वलित रखने का कार्य केवल धर्म-परायण व्यक्ति ही कर सकते हैं। यह शक्ति न तो धर्मग्रन्थों में होती है, न धार्मिक रीति-रिवाजों या संस्कारों में होती है, न धार्मिक संस्थाओं में होती है और न धर्म को सहारा देनेवाली राज्य-व्यवस्था में होती है। शास्त्रग्रन्थ, संस्कार, रीति-रिवाज और धार्मिक तथा राजकीय सस्थाएँ धार्मिक जीवन के लिए कम-अधिक मात्रा में उपयोगी हैं जरूर; यह भी सच है कि धार्मिक वातावरण को स्थिर बनाने में उनकी सेवा बहुमूल्य सिद्ध हुई है। परन्तु मूल शक्ति तो धर्मप्राण ऋषियों की, सन्तों की और महात्माओं की ही होती है। पवित्र मनुष्य-हृदय ही धर्म का अन्तिम आधार है। उपनिषद् का यह वचन बिलकुल यथार्थ है: 'धर्मशास्त्रं महर्षीणां अंतःकरण-संभृतम्।'

धर्म-जिज्ञासा और धर्म-चिन्तन मनुष्य का स्वभाव ही है। इस कारण से प्रत्येक युग में और प्रत्येक प्रदेश में उन्नति की कक्षा के अनुसार मनुष्य के हृदय में धर्म-का आविर्भाव होता ही रहा है। यह हृदय-धर्म कितना ही कलुषित, कितना ही मलिन क्यों न हो जाय, फिर भी मूल वस्तु तो शुद्ध ही रहती है। अशुद्ध सोना पीतल नहीं है; और पीतल चाहे जितना शुद्ध, चमकीला और सुडौल हो, फिर भी वह सोना नहीं है। इसी प्रकार केवल बुद्धि के जोर पर खड़ा किया गया, लोगों के हृदय में रहनेवाले राग-द्वेष से लाभ उठाकर आरम्भ किया गया और थोड़े या बहुत से सामर्थ्यवान लोगों के स्वार्थ का पोषण करनेवाला धर्म सच्चा धर्म नहीं है। असंस्कारी हृदय की क्षुद्र वासना और दम्भ से उत्पन्न होने वाली विकृति को ढकनेवाला शिष्टाचार अथवा चतुराई से भरे तर्क द्वारा किया गया उसका समर्थन भी धर्म नहीं है। अज्ञान (अर्थात अल्पज्ञान), भोलापन और अंधश्रद्धा— इन तीन दोषों से कलुषित बना हुआ धर्म अधर्म की कक्षा में पहुँच जाय, यह एक बात है; और मूल में ही जो धर्म नहीं है वह केवल चालाकी से धर्म का रूप धारण कर ले, यह दूसरी बात है। मनुष्य-समाज अब इतना प्रौढ़ और अनुभवी हो गया है कि मानव-इतिहास में धर्म के

ऊपर कहे गए दोनों प्रकार व्यापक रूप में पाये जाते हैं। परन्तु इन दोनों प्रकारों का पृथक्करण करके इनके सच्चे स्वरूप को पहचानने का कष्ट अभी तक मनुष्य ने नहीं किया है।

हृदय-धर्म जब बुद्धि-प्रधान लोगों में अपना कार्य आरम्भ करता है, शिष्ट लोगों द्वारा मान्य किया हुआ धर्म बनता है और इसलिए जब वह संस्थाबद्ध हो जाता है तब उसके शास्त्र रचे जाते हैं, शास्त्रों का अर्थ लगानेवाली मीमांसा-पद्धति उत्पन्न होती है और अन्तिम निर्णय देनेवाले शास्त्रज्ञों का एक वर्ग खड़ा होता है; अथवा पोप या शंकराचार्य के समान अधिकार-रूढ़ व्यक्तियों को मान्यता प्राप्त होती है।

धर्म को शास्त्रबद्ध और संस्थाबद्ध बनाने का कार्य बुद्धि-प्रधान और व्यवहार-कुशल लोगों के हाथों होता है, इसलिए धर्म की स्वाभाविक भविष्योन्मुख दृष्टि क्षीण हो जाती है और उस पर भूतकाल की ही परतें चढ़ जाती हैं। भूतकाल में सदा अग्नि की अपेक्षा भस्म ही अधिक होती है, इसलिए धर्मतेज मन्द पड़ जाता है। यही कारण है कि प्रत्येक धर्म का समय-समय पर संस्करण या परिष्करण करना जरूरी हो जाता है।

सन्त तुकाराम जब बाजार जाने को निकलते थे तब उनकी सज्जनता का लाभ उठाने के लिए कई लोग अपनी-अपनी तेल की नली तेल लाने के लिए उन्हें सौंप देते थे और तुकाराम भी सन्तोष के साथ उन नलियों की भारी माला को गले में डालकर सौंपा हुआ काम नियमित रूप से पूरा कर देते थे। जन-स्वभाव ही ऐसा होता है। कोई बालक या कोई आदमी किसी की बात सुनता है, यह मालूम होते ही निकम्मे लोगों का समाज उससे अपना काम करवाने के लिए तैयार हो जाता है। कोई नाव या जहाज नियमित रूप से और तेजी से अपने नियत स्थान पर पहुँचता है, ऐसा पता चलने पर लोग उसी में अपना माल भरने का आग्रह रखते हैं— और वह भी इस हद तक कि उसकी गति मन्द पड़ जाय और अत्यधिक बोझ से वह डूबने लगे ! धर्म की भी इसी तरह की सार्वभौम उपयोगी शक्ति को देखकर हर गरजमन्द आदमी ने अपनी गरज को किसी-न-किसी रूप में धर्म के गले में लटकाया है। इस कारण से भी धर्म का तेज बार-बार हीन और क्षीण होता आया है।

जिस प्रकार कोई चालू दुकान अपनी तरक्की को बनाए रखने और बढ़ाने के लिए पुराना और निकम्मा हो चुका माल बार-बार हटाया करती है और केवल पड़े रहने के कारण बिगड़े हुए माल को साफ-स्वच्छ करके उजला और चमकीला बना देती है, उसी प्रकार धर्म का भी बार-बार संस्करण और परिष्करण करना चाहिए। परन्तु यह संस्करण ऐसे कुशल और धर्मज्ञ समाज-सेवकों द्वारा ही होना चाहिए, जिनमें खरे सोने को परखने और उसे सुरक्षित रखने की शक्ति है। आज दुनिया में बढ़ी हुई अधिकतर प्रचलित नास्तिकता का मुख्य कारण धर्म-संस्करण

का अभाव ही है।

२

किसी भी समाज के वृद्ध अथवा क्षीणवीर्य होने के मुख्य कारण दो हैं : इन्द्रिय-परायण विलासिता और धर्म-जड़ता।

समाज जब विलासी बन जाता है तो उसके पास की धन-दौलत उसके लिए पर्याप्त नहीं होती, उसका पुरुषार्थ अपने आप घट जाता है और 'ऐसा हो तो भी क्या और वैसा हो तो भी क्या ? किसी में कुछ नहीं है' इस तरह की निष्क्रियता और आलसीपन उस पर सवार हो जाता है। उसके बाद नए-नए अनुभव लेने की बजाय वह प्राचीन अनुभवों के बारे में कृत्रिम तथा दम्भपूर्ण आदर और आग्रह को बढ़ाकर उन्हें ढाल के रूप में अपने सामने रखता है।

दूसरी ओर जब मनुष्य में बौद्धिक जागृति मन्द पड़ जाती है और प्रयोग की अपेक्षा प्रामाण्य पर ही अधिक भार देने की वृत्ति बढ़ जाती है, तब समाज में एक प्रकार की धर्म-जड़ता उत्पन्न होती है। यह धर्म-जड़ता दिखती तो है धर्माभिमान जैसी ही; परन्तु वास्तव में उसका रूप लापरवाही का होने से वह एक प्रकार की नास्तिकता ही होती है। अनुभव यह नहीं बताता कि अभिमान और आग्रह के मूल में सच्चा आदरभाव अथवा सच्ची श्रद्धा होती ही है।

आज भारत में ग्रामीण समाज की दुर्दशा का कोई पार नहीं है। शहरों से विदेशी माल और मौज-शौक की चीजें गाँवों में पहुँचती हैं, लेकिन उद्योग-धन्धे नहीं पहुँचते। शहरों का उड़ाऊपन, असंस्कारिता तथा अन्य समाज-घातक दुर्गुण गाँवों में तेजी से फैलने लगे हैं। लेकिन शहरों में जो धार्मिक विचार-जागृति, राजनीतिक प्रगति और समाज-सुधार कुछ अंशों में दिखाई देता है, उसका प्रभाव बहुत ही कम मात्रा में गाँवों में पहुँचता है। जिस हिन्दू धर्म में और आर्य तत्त्वज्ञान से आज हम जगत को प्रभावित और चकित कर देते हैं, वह धर्म और वह तत्त्वज्ञान जिस विकृत रूप में आज के ग्राम-समाज में प्रचलित है उसे देखकर यही कहना पड़ेगा कि 'नेदं यदिदमुपासते।' देश-देशान्तर में प्रशंसा पानेवाला हमारा धर्म और गाँवों में पाला जानेवाला धर्म एक है ही नहीं। गाँवों में कल तक सच्ची धर्मनिष्ठा, पवित्र आस्तिकता और ऊँचा चरित्र बल-था; आज भी कहीं-कहीं इनके अवशेष दिखाई पड़ते हैं। परन्तु अबुद्धि, जड़ता और छिपी नास्तिकता का ही साम्राज्य वहाँ सर्वत्र फैलता दिखाई दे रहा है। इस कारण से गाँव के समाज-मानस में वृद्धत्व अधिक मालूम होता है। गाँवों में अज्ञान है, रोग है, गरीबी है। इन तीनों को यदि गाँवों से हटाया नहीं गया, तो ग्राम-समाज अब टिक ही नहीं सकेगा। परन्तु प्रश्न यह है कि ज्ञान, स्वास्थ्य और उद्योग बाहर से गाँव के लोगों पर कहाँ तक लादे जा सकते हैं ? बाहर से

लादे जानेवाले उपायों की एक मर्यादा होती है। इस तारक त्रिपुटी का स्वीकार गाँव के लोगों को स्वेच्छा से ही करना चाहिए। और तीनों का स्वेच्छा से स्वीकार हो इसके पूर्व ग्राम-समाज का वृद्धत्व दूर होना चाहिए। उस समाज में उत्साह और जागृति आनी चाहिए। धर्म-संस्करण के बिना यह बात सम्भव नहीं होगी। अतः दूसरी सब बातों से पहले गाँवों में धर्म-संस्करण का समुचित प्रयत्न होना चाहिए।

गाँवों में जिस धर्म का पालन होता है उसमें भय, रिश्वत, दैववाद और जन्तर-मन्तर का कर्मकांड ही मुख्य होता है— फिर वह धर्म हिन्दुओं का हो, मुसलमानों का हो या ईसाइयों का हो। गाँव के लोगों को अपनी दुर्बलता का, अज्ञान का, भोलेपन का और अनाथ स्थिति का अनुभव से उत्पन्न इतना कड़वा ज्ञान होता है कि वे स्वाभाविक रूप में ही शक्ति के उपासक बन जाते हैं, फिर भले वे लोग जैन हों या लिंगायत हों। इस अज्ञान-मूलक शक्तिपूजा से ही जादू-टोने और जन्तर-मन्तर पर लोगों की आस्था जमती है। धर्म यानी बलवान की आराधना अथवा खरीदा हुआ उनका संरक्षण— सामान्य जनता धर्म का यही अर्थ समझती है।

धर्म के द्वारा मांगल्य पर मनुष्य की श्रद्धा बढ़ानी होती है, चरित्र की तेजस्विता को स्वाभाविक बनाना होता है। संसार के अनुभव में पद-पद पर जो विषाद प्राप्त होता है उसे दूर करने में समर्थ दैवी आश्वासन प्राप्त करना होता है और जीवन के अंगभूत प्रत्येक तत्त्व का नूतन दृष्टि से नया ही मूल्यांकन करना होता है। सफलता और निष्फलता के ख्यालों को ही बदलकर इस भौतिक जगत में आध्यात्मिक स्वातंत्र्य सिद्ध करना होता है।

सैद्धान्तिक विवेचन की दृष्टि से यह दृष्टिभेद बहुत कठिन मालूम होगा। लेकिन जहाँ हृदय के साथ हृदय बात करता है वहाँ उन्नत भूमिका का आमंत्रण हृदय पर गहरा असर करता है; और एक बार हृदय में परिवर्तन हो गया कि फिर किसी भी उपाय से उससे पीछे नहीं हटा जा सकता। हृदय का ऐसा आमंत्रण देनेवाले व्यक्ति के अपने हृदय में किसी के बारे में तुच्छता का भाव नहीं होना चाहिए। हमारा आमंत्रण अमोघ है, ऐसी अमर आस्तिकता उसमें होनी चाहिये। साथ ही मनुष्य-मात्र के हृदय के बारे में उसके दिल में प्रेम और आस्था— आदर होना चाहिए।

[धर्मज्ञान देते या लेते समय उसे ग्रहण करनेवाले के अधिकार के विषय में आज तक अपार चर्चा हुई है। लेकिन अब धर्मज्ञान देनेवाले व्यक्ति के अधिकार की गहरी चर्चा करने के दिन आए हैं। ऊपर बतायी हुई आस्तिकता जिन लोगों में हो, उन्हीं को धर्मबोध और धर्म-संरक्षण का कार्य अपने सिर लेना चाहिए।]

आज गाँवों में धर्मान्धता के रूप में नास्तिकता कितनी फैली हुई है, इसका सच्चा ख्याल होने पर मन को गहरा आघात ही लगना चाहिए— और लगता भी है।

प्रत्येक धर्म अनेक तरह के जीवन-काव्य से भरपूर होता है। सच पूछा जाय तो धर्मज्ञान का समर्थवाहन दलील या युक्ति और तर्क नहीं है, उसका सच्चा वाहन काव्य है। इसलिए काव्य-विहीन धर्म हो ही नहीं सकता। परन्तु जहाँ-जहाँ समाज में अज्ञान और जडता का साम्राज्य होता है वहाँ धार्मिक काव्य के शब्दार्थ को ही सच्चा मान लिया जाता है और अपने अज्ञान के कारण मनुष्य जहाँ न हो वहाँ भी गृढता और जादू का आरोपण करने लगता है। इस वृत्ति से अधिक धर्म-विघातक वृत्ति कोई हो सकती है या नहीं, इसमें मुझे शंका ही है। इसके विपरीत, धर्म के विषय में बढ़नेवाले जिस पागलपन से ऊबे हुए लोग ऐसे मौकों पर धर्म में भरे हुए काव्य को जड़ से मिटा देने का निरर्थक और निष्फल प्रयत्न करते हैं। सच्चा उपाय तो यह है कि लोगों की बुद्धि को तीव्र बनाया जाय और उनकी काव्य-रसिकता को विवेकपूर्ण बनाकर धर्म में काव्य की वृद्धि की जाय। लोगों की काव्य-रसिकता बढने पर वे धर्म को आसानी से समझ सकेंगे और धर्म में घुसे हुए अन्धविश्वासो को भी पहचान सकेंगे।

परन्तु यह सब करने के लिए ज्ञानवान लोगों को शहरी आदतें छोडकर गाँवो की जनता के श्रम से पवित्र और प्रकृति से मधुर बने हुए दैनिक जीवन में ओतप्रोत हो जाना चाहिए। ग्रामवासियों के जीवन से अलग रहकर उनके सरपरस्त, आश्रयदाता बनने से अब काम नहीं चलेगा।

कोई भी समाज युग-कल्पना से पीछे रहकर सफल नहीं हो सकता। आज का युग केवल सैद्धान्तिक मानव-समानता का युग नहीं है। स्त्री-पुरुष की समानता को और जातियों की समानता को आज अमली रूप में स्वीकार करना होगा। इतना ही नहीं, सब धर्मो को भी समान प्रतिष्ठा और समान आदर मिलना चाहिए। आज सब धर्मों के प्रति एक से अनादर की समानता पसन्द की जाती है; और उनके प्रति एक-सी अनास्था अथवा एक-से अज्ञान को भी समानता का एक मार्ग समझा जाता है। लेकिन यह मार्ग घातक है। आज के युग में समाज में रहने वाले प्रत्येक मनुष्य को मुख्य-मुख्य धर्मो का सामान्य ज्ञान होना चाहिए। परन्तु ऐसा ज्ञान लेने या देने में केवल तार्किक, आलोचनात्मक अथवा ऐतिहासिक दृष्टि रखने से काम नहीं चल सकता। प्रेम, आदर और सहानुभूति के साथ जाग्रत जिज्ञासा-बुद्धि से सब धर्मों का परिचय प्राप्त करना चाहिए। गाँवों का धर्मज्ञान बहुत पिछडा हुआ होता हैं, उनकी दृष्टि संकुचित होती है और उनका जीवन का हेतु बहुत उन्नत नहीं होता। आज के जमाने में दुनिया के विभिन्न धर्मो के सत्पुरुषों ने और चरित्र-परायण संघों ने जो प्रयत्न किए हैं, उनकी जानकारी उन्हें बड़े प्रेम से देनी चाहिए। इसमें ध्येय धर्म-जागृति का और लोक-कल्याण का होना चाहिए, केवल पण्डिताऊ बहुश्रुतता का नहीं।

आज के समाज का एक महान दोष है वर्ग-विग्रह। लोगों को ईर्ष्या, द्वेष या मत्सर करने के लिए ध्यानमूर्ति चाहिए। स्त्रियों को पुरुषों के खिलाफ, नौजवानों-को वृद्धों के खिलाफ, गरीबों को अमीरों के खिलाफ, हिन्दू-मुसलमानों को एक-दूसरे के खिलाफ और गोरे लोगों को काले और पीले लोगों के खिलाफ लड़ना है। इस प्रकार सर्वत्र विग्रह का— लड़ाई का वातावरण फैला हुआ है। कम या ज़्यादा लोगों को संगठित करके उनका नेतृत्व ग्रहण करने की नीयत हो, तो इसके लिए उन सबकी द्वेषबुद्धि को केन्द्रित करके उन्हें द्वेष के आलम्बन के लिए एक ध्यानमूर्ति देकर संशय का और परायेपन का वातावरण खड़ा करना बहुत आसान है।

यह रोग धर्म में बड़ी जल्दी से घुस सकता है। आजकल इस दिशा में प्रबल प्रयत्न भी चल रहे हैं। इन सबका परिणाम परस्पर हत्या और अन्त में आत्महत्या ही आएगा। हम जिस धर्म-संस्करण का विचार करते हैं, उसमें इस रोग से मुक्त रहने की पूरी सावधानी रखनी चाहिए।

धर्म के बुरे तत्त्वों को दूर करते समय इतना ध्यान रखना चाहिए कि उनके स्थान पर शुभ, सात्त्विक और ठोस तत्त्वों का धर्म में प्रवेश हो। केवल शून्यता, रिक्तता भयंकर सिद्ध होती है।

व्यवहार-कुशल लोग कहेंगे कि यह सारा विवेचन सुन्दर और उद्‌बोधक है, परन्तु इसमें योजना जैसा कुछ भी दिखाई नहीं देता।

विधान-सभा में कोई कानून बनाते समय पहले उसके उद्देश्यों का व्यवस्थित निरूपण किया जाता है और उसके बाद ही उस कानून की धाराएँ आती हैं। परन्तु व्यवहार में देखा जाता है कि कानून की धाराएँ हाथ में आते ही उसका हेतु और उद्देश्य गौण बन जाता है और अन्त में भुला दिया जाता है। समाज को ऐसी धाराबद्ध योजना की आदत पड़ गई है। परन्तु इससे जीवन यांत्रिक बन जाता है। भावना का स्थान योजना कैसे ले सकती है ? भावना का क्षेत्र शिक्षा से नव-पल्लवित होता है; जबकि योजना अन्त में व्यवस्था का रूप ले लेती है। यहाँ मैंने जिस परिवर्तन की बात कही है, वह किसी सत्ता के बल पर नहीं हो सकेगा। वह शिक्षा के द्वारा और प्रत्यक्ष उदारहण द्वारा लोगों का हृदय-परिवर्तन कराने से ही हो सकेगा। जिसके लिए कोई सार्वजनिक योजना तैयार करने की जरूरत नहीं है। यदि भावना मूल में शुद्ध होगी और सुरक्षित तथा जीवन्त रहेगी, तो हमारी आवश्यकता के अनुसार अनेक योजनाएँ उत्पन्न होंगी और बदलती रहेंगी।

१९३३

३२. जैन समाज के साथ मेरा परिचय*

श्री परमानन्द भाई ने मुझे बहुत कठिन विषय दिया है। अमुक आदमी हमारे बारे में कैसा मत रखता है, यह जानने में सबका रस होता है। मैं मानता हूँ कि आप सब इसलिए इतनी बड़ी संख्या में यहाँ उपस्थित हुए हैं। परन्तु जैनों के सामने खड़े होकर जैन समाज या जैन धर्म के साथ का अपना परिचय बताना कोई सरल काम नहीं है। मैं तो अंग्रेज मनीषी एडमंड बर्फ के मत का हूँ कि किसी भी जाति, समाज अथवा राष्ट्र के बारे में सार्वत्रिक सिद्धान्त बनाए ही नहीं जा सकते। प्रत्येक संस्कृति की विशेषताएँ हो सकती हैं, परन्तु समाज में तो अनेक प्रकार के होते हैं। अमुक जाति या वर्ग के सब लोग अच्छे और अमुक के बुरे, ऐसा भेद किया ही नहीं जा सकता। मनुष्य-जाति सब जगह एक-सी ही है।

और, जैन समाज के साथ मेरा परिचय भी कहाँ इतना व्यापक है ? मैं तो कुछ मित्रों को ही पहचानता हूँ। मैंने मुसाफिरी खूब की है, लेकिन वह तो नदियों और पर्वतों को, तीर्थों और मन्दिरों को, गाँवों और उनकी परेशानियों को देखने के लिए की है। समाज की विविध प्रवृत्तियों के साथ मेरा परिचय सीमित ही है। जो है वह ज्यादातर विद्यार्थियों और अध्यापकों के साथ है। ईश्वर ने मुझे बड़े अच्छे मित्र दिये हैं। परन्तु इतने परिचय के आधार पर मैं सम्पूर्ण समाज के बारे में कैसे बोल सकता हूँ ?

मनुष्य का परिचय कम हो या अधिक, उसके साथ उसे अपना अभिप्राय तो बनाना ही पड़ता है; क्योंकि अभिप्राय बनाए बिना जीवन में व्यवहार सम्भव ही नहीं होता। परन्तु ऐसा अभिप्राय शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। अपने मन में भी उसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता। अभिप्राय निश्चित हो तो भी वह अव्यक्त ही रह सकता है।

अपने अनुभव के आधार पर मैं इतना कह सकता हूँ कि कोई भी समाज अपने लिए श्रेष्ठ होने का दावा नहीं कर सकता। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि अन्य जातियों से अधिक अहिंसक होने का दावा भी जैनों को नहीं करना चाहिए। तफसीलों में या रीति-रिवाजों में भले ही भेद हो, लेकिन गुजरात की सभी जातियाँ समान रूप से अहिंसक हैं। आप चाहें तो इतना दावा जरूर कर सकते हैं कि जैन धर्म के प्रचार के कारण और आपके सहवास के कारण लोगों में इतनी अहिंसा आई है। ऐसे दावे में तथ्य जरूर है।

*ता २७-८-'२९ को जैन युवक-संघ, बम्बई में दिया हुआ भाषण।

किसी भी व्यक्ति या समाज के बारे में बोलते समय एक और असुविधा भी बाधक होती है। अगर गुण बताये जाएँ तो वह खुशामद अथवा ऊपरी शिष्टाचार माना जाता है; मानो मनुष्य दूसरों के दोष बताते समय ही सच बोलता हो। और, दोष बताते समय मनुष्य तटस्थ बुद्धि रखे, तो भी कोई उस पर विश्वास नहीं करता। मेरे जितने भी जैन मित्र हैं उनकी उदारता और सहिष्णुता पर मैं मुग्ध हूँ। कट्टर जैन समाज में उनकी प्रतिष्ठा कितनी है, यह मैं नहीं जानता। किन्तु मेरी दृष्टि में वे मित्र अहिंसा के सच्चे उपासक हैं। जैनों की संकुचितता के बारे में मैंने बहुत कुछ सुना है : वे दान करेंगे तो वह उनकी अपनी जाति तक ही मर्यादित रहेगा; मदद करेंगे तो वह अपनी जाति के नौजवानों की शिक्षा के लिए ही होगी; फंड एकत्र करेंगे या छात्रालय खोलेंगे तो भी वह अपनी जाति के प्रति रही भावना के कारण ही होगा। इस विषय में मैं इतना ही कह सकता हूँ कि मेरा अनुभव इससे भिन्न है। मैं जिस राष्ट्रीय विद्यापीठ में काम करता हूँ, उसका विशाल भवन एक जैन सज्जन ने बनवाया है। समस्त धर्मों के धर्मग्रन्थों से अहिंसा-शास्त्र की शोध करने की सुन्दर सुविधा एक अन्य जैन सज्जन ने वहाँ कर दी है। देश की दुर्दशा की दवा के रूप में हमने अभी-अभी ग्राम-सेवा की जिस योजना पर अमल शुरू किया है, उसका आर्थिक बोझ भी एक उदार हृदय वाले जैन सज्जन ने उठा लिया है। ऐसे कितने ही उदाहरण मैं आपके सामने रख सकता हूँ।

परन्तु आप कहेंगे कि 'प्रत्येक जाति में ऐसे उदार सज्जन हो सकते हैं; आप एक जाति के नाते हमारे कुछ दोष तो बताइए।' मैं दोष बता सकूँ इतना निकट परिचय अभी जैन समाज के साथ मेरा नहीं है। किन्तु जो शंकाएँ मेरे मन में उठी हैं, उन्हें ही यहाँ प्रश्न के रूप में पूछ लूँ।

गुजरात के जैन अधिकतर गाँवों में रहते हैं या शहरों में ? यदि वे शहरों में ही रहते हों, तो आपको इस विषय में गहरा विचार करना चाहिए। जैन लोग अधिकतर खेती करते ही नहीं। क्या यह बात सच है ? यदि सच हो तो मुझे कहना चाहिए कि यह स्थिति गम्भीर है। यदि ऐसा ही हो तो मैं कहूँगा कि आपको अपने अस्तित्व के बारे में और अपनी प्रतिष्ठा के बारे में जितनी सावधानी रखनी चाहिए उतनी आप नहीं रखते। इतना ही नहीं, मैं तो यह भी कहूँगा कि आप अहिंसा-धर्म के पालन की पूरी तैयारी नहीं करते। आहार पर जीने वाला मनुष्य खेती से विमुख रहे, यह कोई साधारण दोष है ?

समाजशास्त्र के आज तक के अपने अध्ययन के आधार पर मैंने एक अचूक नियम ढूँढ निकाला है। जिस जाति ने ज़मीन के साथ अपना सीधा सम्बन्ध नहीं रखा है, उसने अपनी जड़ें कमजोर बना ली हैं। मैं यह मानता हूँ कि जो अनाज हम खाते हैं वह कैसे और कहाँ उत्पन्न होता है, यह हमें अनुभव से जानना

चाहिए। कहीं-कहीं खेती में होने वाली हिंसा के कारण खेती से दूर रहने की बात कही जाती है। लेकिन मेरा अनुमान है कि जैन लोग ऐसा तर्क नहीं कर सकते, क्योंकि जैन मत ने तो किए हुए, कराए हुए और अनुमोदित कार्य में समान दोष बताया है। जो अनाज खाया जाता है उससे सम्बन्धित खेती का दोष खाने वालों को लगता ही है। इतने पर भी यदि आपका धर्म इससे भिन्न कुछ कहता हो, तो मैं लाचार हूँ। मुझे जो कुछ उचित लगता है उसे आपके सामने रखना मैं अपना धर्म मानता हूँ।

धनी होने के दो ही मार्ग हैं : (१) व्यापार-उद्योग और (२) लूटपाट। व्यापारी व्यापार करते हैं और खूब धन इकट्ठा करते हैं। सरकार कानूनन लूटपाट करती है और धन के भण्डार भरती है। सरकार से मेरा मतलब केवल अंग्रेज सरकार से ही नहीं; आज की प्रत्येक सरकार यही काम करती है। वह व्यक्तियों को चूसती है और पशुबल से सर्वत्र राज्य चलाती है। व्यापार से समाज में पैसा आता है; परन्तु ज़मीन के साथ सम्बन्ध रखे बिना समाज में स्थिरता नहीं आती। पैसा शहर की चीज है। इसमें कोई शंका नहीं कि हमने शहर में ही रहने के कारण अपने अनेक गुण खो दिये हैं। कुदरत के साथ सीधा सम्बन्ध तो गाँव में रहने से ही स्थापित हो सकता है। जो मनुष्य गाँव में रहता है वह ऋतु के परिवर्तनों का, खुली हवा का, खुली धूप, ठण्ड, गरमी और बरसात का, भव्य आकाश तथा पक्षियों के मीठे कलरव का अनुभव कर सकता है। जिसे खेती करनी होती है वह आकाश की ओर टकटकी लगाकर बैठता है और रात के तारों तथा दिन के सूर्य-प्रकाश के साथ एकरूप होकर जीवन बिताता है। आत्म-रक्षक वृत्ति का विकास करने के लिए भी खेती अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि किसान को कुदरत के तथा पशु-पक्षियों के अनेक आक्रमणों के सामने निरन्तर जूझना पड़ता है। इसी दृष्टि से मैं कहता हूँ कि क्षत्रिय और क्षेत्रिय (किसान) में मैं बहुत भेद नहीं करता। गाँव के किसानों ने सदा ही आत्म-रक्षक वृत्ति दिखाई है। शिवाजी ने और बारडोली के किसानों ने यह बात सिद्ध कर दिखाई है। जब सत्ताधारी का आदेश निकलता है कि 'you shall yield' (तुझे झुकना ही पड़ेगा) तब किसान ही यह उत्तर दे सकता है कि 'I shall neither break nor bend' (मैं न तो टूटूँगा और न झुकूँगा)।

इस विश्व में अहिंसा के समान दूसरा कोई धर्म नहीं है। इसे आप और मैं दोनों मानते हैं। फिर भी इस शरीर के साथ इस जीवन में सम्पूर्णतया अहिंसा का आचरण करना किसी भी मनुष्य के लिए सम्भव नहीं हो सका। भविष्य में भी कभी यह सम्भव नहीं होगा। हमारे जीवन का उद्देश्य अपनी वर्तमान प्रवृत्तियों में हिंसा को यथासम्भव कम करना ही हो सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जब तक हमारी सांसारिक प्रवृत्तियाँ चलती रहें तब तक अहिंसा-धर्मियों को अहिंसा के

नए-नए प्रयोग चालू रखने ही होंगे। इसी प्रकार हमें यह भी देखना चाहिए कि खेती के काम में अहिंसा की ओर बढ़ने की कितनी सम्भावना है; क्योंकि खेती को हम जितना अहिंसक बना सकेंगे, सम्पूर्ण जगत उतना ही अहिंसक बनेगा। बाहर के जीवन में हम अहिंसा की चाहे जितनी बातें करें, परन्तु जिस अन्न के बिना हमारा और जगत का जीवन एक दिन के लिए भी नहीं चलता, उसे उत्पन्न करने वाली खेती को जब तक हम विशुद्ध नहीं बनाएँगे तब तक अहिंसा-धर्म हमारे जीवन के मूल को स्पर्श नहीं कर सकता। संन्यासी समस्त प्रवृत्तियों से दूर रहकर स्वयं बड़ा अहिंसक होने का दावा कर सकता है, परन्तु उसके दावे की बहुत कीमत नहीं है। अहिंसा-धर्म जीवित और जाग्रत विश्वधर्म है और उसकी पूर्णता हम जीवन में कभी सिद्ध कर ही नहीं सकते। इस अहिंसा-धर्म का आचरण हिंसक मानी जाने वाली प्रवृत्तियों से दूर रहकर तथा दूर रहते हुए भी उन प्रवृत्तियों के फलों का लाभ उठाकर हम कभी करा ही नहीं सकते। मैं इस बात की ओर जैन मित्रों का खास-तौर पर ध्यान खींचना चाहता हूँ कि हमारा कर्तव्य संसार की स्थिति के लिए अनिवार्य प्रवृत्तियों से हिंसा के तत्त्व को यथासम्भव दूर करने में ही निहित है।

इस तरह विचार करने पर मैं यह मानता हूँ कि जैन समाज को आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, बौद्धिक, स्वास्थ्य-विषयक दृष्टि अथवा अन्त में मोक्ष की दृष्टि से भी ज़मीन के साथ अपना सम्बन्ध बढ़ाना ही चाहिए। मैं यह कहने की इजाजत चाहता हूँ कि जब तक जैन लोग ऐसा नहीं करेंगे तब तक उनकी प्रतिष्ठा स्थिर भूमि पर टिकी हुई नहीं मानी जा सकती।

जैन समाज के साथ मेरा बहुत गहरा विस्तीर्ण परिचय नहीं है। मेरा परिचय है पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों के साथ तथा जिन लोगों की सेवा का मैं सदा लाभ उठाता रहता हूँ, उनमें से कुछ गरीब भाइयों के साथ। मेरे जीवन का मुख्य कार्य है : शिक्षा। विद्यापीठ, मेरे साथी, मेरे विद्यार्थी और मैं— यही मेरी दुनिया है। इन सबके होते हुए भी मुझे जो थोड़े से जैन मित्र मिले हैं, वे बड़े अच्छे— प्रेमल, उदार और पूरे सहिष्णु हैं और उनके कारण मेरा जैन समाज के विषय में हमेशा बहुत ऊँचा ख्याल रहा है। मैंने तो उन मित्रों में ऊँचा जैनत्व और अहिंसक वृत्ति देखी है। यहाँ अहिंसा का अर्थ मैं उदार सहिष्णुता करता हूँ। मेरा विश्वास है कि यही एक ऐसी चीज है, जिसकी आज की दुनिया को बड़ी आवश्यकता है; और जैन लोग यदि चाहें तो दुनिया को यह चीज दे भी सकते हैं। आज आप दुनिया में प्रचलित मांसाहार को नहीं रोक सकते, क्योंकि आज तो कुछ स्थानों में इसके विपरीत बड़ी विचित्र हवा बह रही है। जैन शास्त्रों का सर्वत्र खूब अध्ययन हो, इसके लिए जैन मित्र बहुत आतुर रहते हैं। मुझे कोई भी जैन पुस्तक छपवानी हो तो उसके लिए पैसे प्राप्त करने में मुझे बहुत कठिनाई नहीं हो सकती। लेकिन

आज हमें यह काम नहीं करना है। आज तो हमें दुनिया की पीड़ा जाननी है और उसे दूर करने का उपाय सुझाना है। यह उपाय अहिंसा में है; और यदि जैन धर्म का समुचित निरूपण किया जाय, तो दुनिया उससे बहुत स्वस्थता प्राप्त कर सकती है।

आज जब मैं जैन शब्द का प्रयोग करता हूँ तब जैन नाम धारण करने वाले को जैन मानकर मैं इस शब्द का प्रयोग नहीं करता; इस शब्द का प्रयोग मैं ऐसे लोगों के लिए करता हूँ, जिनमें जैन भावना ओतप्रोत हो गई है। 'Hindu view of life' के लेखक श्री राधाकृष्णन् के शब्दों में मैं भी यह मानता हूँ कि धर्म-परिवर्तन कराने का प्रयत्न जब तक रुकेगा नहीं तब तक जगत में शान्ति नहीं होगी। प्रत्येक धर्म में अपना विकास करने की पूरी गुंजाइश और पूरी सामग्री होती ही है। प्रत्येक धर्म कम या अधिक मात्रा में अहिंसा-परायण है और उतने अंश में उसमें जैनत्व है।

मुझे तो आपसे दो ही बातें कहनी हैं : आप सहिष्णु बनिए; और जीवन की जरूरतों को यथासम्भव कम कीजिए। आप अपनी जरूरतें कम नहीं करेंगे तब तक आप सच्चे अहिंसक बन ही नहीं सकते। हमारा साधारण जीवन तरह-तरह के द्रोहो से भरा है। धन-सम्पत्ति अद्रोह से मिल ही नहीं सकती। अपने में से कुछ लोगों के लिए आप जप-तप करने की सुविधाएँ जुटा दें और बाकी के लोग जो कुछ करते हों वही किया करें, तो इससे समाज कभी अद्रोही अथवा अहिंसक बन ही नहीं सकता।

हिन्दू धर्म ने एक ही बात कही है— और जैन धर्म उसमें आ जाता है; वह यह है कि कोई भी धर्म झूठा है ऐसा नहीं कहा जा सकता, प्रत्येक धर्म के सत्यांश का आश्रय लेकर मनुष्य परम कोटि को प्राप्त कर सकता है और इसलिए धर्म-परिवर्तन करना व्यर्थ है। इसी विचार में स्याद्वाद के तत्त्व का सार आ जाता है। 'दूसरे लोग जो कुछ कहते हैं वह बिलकुल झूठ कहते हैं', ऐसा कहने वाले लोग पहले तो स्याद्वाद-मूलक जैन धर्म का ही द्रोह करते हैं।

आप पैसा खर्च करके जो पण्डित उत्पन्न करेंगे उनसे आपका साहित्य तो खूब बढ़ेगा, परन्तु धर्म या जगत का उद्धार नहीं होगा। गांधीजी को कितने ही लोग उत्तम जैन— उत्तम हिन्दू— के रूप में स्वीकार करते हैं। इसका कारण गांधीजी का पाण्डित्य नहीं है, परन्तु उनका चारित्र्य, उनका अनुभव और उनकी तपस्या है। वे ही गांधीजी कहते हैं कि इनमें से कुछ अच्छी-अच्छी बातें मुझे श्रीमद् राजचन्द्र से मिली हैं और इन राजचन्द्र में भी असाधारण पाण्डित्य नहीं था; उनमें था तपोमय जीवन और विश्वव्यापी विशाल भावना। इन दोनों सद्गुणों को अपनाकर आप जगत को जैन धर्म का सच्चा दर्शन करा सकते हैं। आज

कुछ पाश्चात्य विचारक यह मानते हैं कि भारत ने अपना सन्देश जगत को सुना दिया है और जगत ने उसे ग्रहण कर लिया है। अब भारत के पास जगत को देने के लिए कुछ रहा नहीं है, और इसलिए अब भारत को जीने का कोई अधिकार नहीं है। यदि अब हमें जगत को कुछ नहीं देना है और यदि हम मृतप्राय बन गए हैं, तो हमें ऊपर का अभिप्राय स्वीकार कर लेना चाहिए। यदि ऐसा न हो तो हमें अपने में प्रेरणा, उत्साह, ओजस्विता और नव-निर्माण की शक्ति दिखानी होगी, अपनी विरासत को उत्तरोत्तर बढ़ाना होगा और अपने अस्तित्व से जगत को समृद्ध तथा गौरवान्वित करना होगा।

३३. 'प्रबुद्ध जैन'

यूरोपियन लोग इस देश में आए तब से उन्होंने इस देश को पहचानने का प्रयत्न किया है। बड़े-बड़े विद्वानों ने भारत में शोध करके हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति पर प्रकाश डाला है। उनके बाद मैडम ब्लेवेट्स्की, कर्नल आल्कॉट और मिसेज़ एनी बेसेंट जैसे प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने भारत की ब्रह्मविद्या का अध्ययन करने के लिए थियॉसॉफिकल सोसायटी की स्थापना की। परन्तु भारत को अपनी अस्मिता का, अपने स्वाभिमान का भान तो स्वामी विवेकानन्द की अमेरिका-यात्रा के बाद ही हुआ। स्वामी विवेकानन्द जब अमेरिका से भारत लौटे तब उन्होंने बिस्तर पर लोटते हुए किन्तु नींद से जागे हुए भारत को देखा। जागे हुए भारत को खड़ा करने और अपने पैरों पर खड़े रहकर चलने लायक बनाने के लिए स्वामी विवेकानन्द ने 'प्रबुद्ध भारत' नामक मासिक शुरू किया। उसमें स्वामीजी ने वेदान्त धर्म की नींव पर सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक जागृति का नया भवन खड़ा करने का प्रयास किया। वेदान्त वास्तव में पण्डितों की चर्चा-मण्डली में केवल छान-बीन करने का विषय नहीं है; वह गुफा में पलथी मारकर, सीधे बैठकर और नाक पकड़ कर सो जाने की सुविधा कर देने वाला हठयोग नहीं है। इसके विपरीत, वेदान्त एक सार्वभौम जीवन-दर्शन है और जीवन के विषय में उठने वाले सारे प्रश्न हल करने की गुरुकुंजी (master-key) है— ऐसा स्वामीजी ने अनुभव से देखा और उसके अनुसार भारत को प्रेरणा दी। ब्रह्म-समाज और आर्य-समाज में भी हमें यही प्रेरणा दिखाई पड़ती है। यही प्रेरणा हमें अरविन्द घोष में और रवीन्द्रनाथ ठाकुर में दिखाई देती है। और इसी प्रेरणा के अद्वितीय विस्तार का अनुभव हम अहिंसावादी गांधीजी के समस्त कार्यों में करते हैं।

जैन-दर्शन भी ऐसा ही एक जीवन-व्यापी सार्वभौम दर्शन है। स्याद्वाद की भूमिका पर अहिंसा और तप के साधन से सारी दुनिया का स्वरूप बदलने की शक्ति और अभिलाषा जैन-दर्शन में है अथवा होनी चाहिए। विनाश के किनारे पहुँचे हुए जगत को यदि अन्तिम क्षण में उससे बचना हो, तो उसे स्याद्वाद-रूपी बौद्धिक अहिंसा स्वीकार करनी ही चाहिए, संयम-रूपी नैतिक साधना का आचरण करना ही चाहिए और तप के द्वारा संकल्प का सामर्थ्य बढ़ा कर उपरोक्त साधना की पूर्ण तैयारी करनी ही चाहिए।

रूढ़िग्रस्त शास्त्री और ग्रन्थ-परायण पण्डित दुनिया को यह सन्देश नहीं दे सकते, क्योंकि दुनिया में उनसे अधिक बुद्धिशाली और कम पामर कितने ही लोग हैं। शब्दजड़ और ग्रन्थ-परतन्त्र बने हुए साधु, मुनि और आचार्य यह सन्देश नहीं दे सकते। इसका कारण यह है कि वे अधिकतर अपने समाज के, अपने अज्ञान के तथा इन दोनों का पोषण करने वाली रूढियों के अनुयायी होते हैं। वे पढी हुई और सुनी हुई बातें कहते हैं, अनुभव की हुई बातें नहीं कहते। उन्हें सिद्धान्तों के अर्थो का दर्शन भले ही हुआ हो, लेकिन विशाल और गम्भीर मानव-जीवन का दर्शन उन्हें शायद ही होता है।

भूतकाल को यथार्थ रूप में न समझने वाले, भविष्यकाल को न देख सकने वाले तथा वर्तमानकाल के संकुचित स्थल और काल से मर्यादित रहने वाले आजकल के लेखक और संपादक, जाति-भूषण और समाज-सुधारक भी यह सन्देश नहीं दे सकते; क्योंकि उनकी श्रद्धा उनके जीवन जैसी ही शिथिल और छिछली होती है। वे जीवन के विद्यार्थी तो बन सकते हैं, परन्तु जीवन-वीर नहीं होते। प्रयोग-परायणता से वे डरते हैं। वे महासागर में अपना और अपने समाज का जहाज चलाने वाले और एकमात्र ध्रुव के आधार पर चाहे जैसे पानी में अकुतोभय— पूरी निर्भयता से— संचार करने वाले साहसी नाविक नहीं होते।

परन्तु यह सन्देश दुनिया के सामने रखा गया है। महावीर की वाणी के प्रति जिन लोगों की निष्ठा है उनका यह कर्तव्य है कि वे इस सन्देश को समझें, आचरण में उतारें और उसका विस्तार करें। 'प्रबुद्ध जैन' जैन समाज को और उसके साथ भारतीय समाज को जगा हुआ देखकर उसे बैठा दे और उठकर चलने की प्रेरणा दे, तो कहा जायगा कि उसने जैन-दर्शन को जीवन-दर्शन बना दिया है।

उस सन्देश के मंत्र जिन लोगों ने सुने हैं, उस सन्देश की आवाज से जो लोग अस्वस्थ और अशान्त हुए हैं, ऐसे लोगों को एकत्र करने वाला स्थान यदि यह 'प्रबुद्ध जैन' बन जाय, तो उसका अस्तित्व सफल होगा।

१-५-'३९

३४. महावीर का जीवन-सन्देश*

आज संसार की विचित्र स्थिति है। हिंसा से यदि कोई अधिक-से-अधिक डरते हों, तो वे आज के यूरोपियन हैं। २५ वर्ष पहले प्रथम विश्वयुद्ध में हुए संहार और नाश को वे आज भी भूले नहीं हैं। उन्हें भय है कि यदि फिर से युद्ध की ज्वाला भड़क उठी तो हमें अपने सारे वैभव, सारे मौज-शौक, भोग-विलास और ऐश्वर्य से हाथ धोने पड़ेंगे। यूरोप का मनुष्य यह सोचकर काँप उठता है कि आज संस्कृति के नाम पर जिस वैभव-विलास का आनन्द हम भोगते हैं, वह युद्ध होने पर नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। युद्ध को टालने के लिए वह सब कुछ करने को तैयार है। इसके लिए वह दिये हुए वचनों का भंग करेगा, किए हुए कौल-करारों को भुला देगा, अपमानों का कड़वा घूँट पी जायगा, अपने साथियों को धोखा देगा और कैसे भी अप्रिय लोगों के साथ मित्रता बाँधेगा। युद्ध को टालने के लिए वह अपने जीवन-सिद्धान्तों को तिनके की तरह हवा में उड़ा देगा। लेकिन इतना सब करने के बाद भी वह युद्ध को टाल नहीं सकेगा। इन्द्रिय-परायण जीवन, भोग-विलास, बासनाएँ, लोभ, भय, महत्त्वाकांक्षा और परस्पर अविश्वास उसे शान्ति से बैठने नहीं देंगे। हिंसा से भयभीत बना हुआ यूरोप का मनुष्य सारी दुनिया को हिंसा की दीक्षा दे रहा है और मारने की कला का विकास करने के लिए जीवन की कई अच्छी शक्तियों को नष्ट कर रहा है। आज वह जिस युद्ध को टालना चाहता है, उसी युद्ध को जोरों से खींचकर अपने निकट ला रहा है।

ऐसी विचित्र परिस्थितियों में आज हम एक बार फिर भगवान महावीर के सन्देश को उज्ज्वल बनाना चाहते हैं।

उस धार्मिक सन्देश को ग्रहण करने के लिए आज की दुनिया तैयार नहीं है ! वह शान्ति का मार्ग तो है, किन्तु उस मार्ग पर चलने में मनुष्य को अभी आनन्द नहीं आता। पहले वह दूसरे सारे मार्ग आज़माएगा और सब तरह से हारने के बाद ही लाचारी से इस सच्चे मार्ग पर आएगा।

मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह ऐसे उपायों पर विश्वास रखकर उन्हें पहले आजमाता है, जिनमें कोई सार नहीं होता। आज यूरोप में जो अनेक मार्ग सुझाये जाते हैं, उनसे हमें आश्चर्य होता है। हमारे यहाँ के पुराने लोग जब-जब तर्क और न्याय, दर्शन और मीमांसा की बात को ले बैंठते हैं और घटत्व तथा पटत्व का और अवच्छेदकावच्छन्न का पिष्टपेषण करते हैं, तब हम उन पर हँसते हैं और

* ता. १४-९-'३९ को बम्बई में दिये गये भाषण से।

कहते हैं कि जिनका जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, तत्त्व से जो सर्वथा दूर हैं, ऐसी निरर्थक बातों की चर्चा में ये लोग क्यों पड़ते होंगे ? हम कहते हैं कि उनकी इन बातों में जीवन को स्पर्श करने वाला थोड़ा भी अंश नहीं होता। यूरोप में भी जब लोग व्यक्तिवाद और समष्टिवाद, समाजवाद और साम्यवाद की चर्चा करते हैं तब मन में विचार आता है कि इन अनेक 'वादों' से क्या लाभ होने वाला है ? मनुष्य जब तक अपने स्वभाव और जीवन में परिवर्तन न करे तब तक हम कोई भी 'वाद' (ism) क्यों न चलाए, अन्त में हम वहीं आ पहुँचेंगे जहाँ पहले थे। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि जगत का दुःख सन्धिवात (गठिया रोग) जैसा है। ऊपर के लेप से वह मिटाने वाला नहीं है। सिर से उसे निकालो तो वह पैर में बैठ जाता है। पैर से उसे निकालो तो वह कंधे में घुस जाता है। वह अपना स्थान तो बदलता रहेगा, लेकिन शरीर को नहीं छोड़ेगा। आप यदि व्यक्तिवाद को चलाएँगे तो दुनिया को एक प्रकार का दुःख भोगना पड़ेगा। व्यक्तिवाद के स्थान पर यदि आप समष्टिवाद को स्वीकार करेंगे, तो पुराने दुःख मिटकर उनके स्थान पर नए दुःख पैदा हो जाएँगे। जकात को टालने के लिए रातभर जंगल में भटकने के बाद सबेरे गाड़ी जब रास्ते पर आई तो ठीक जकात-नाके के सामने ही । जकात के पैसे तो चुकाने ही पड़े, ऊपर से रातभर जंगल में व्यर्थ भटके सो अलग । यही दशा आज की दुनिया की है। आचार्य एल.पी. जैक्स ने ठीक ही कहा है कि आज की दुनिया सम्पत्ति को सामाजिक बनाना चाहती है, राज्यसत्ता को सामाजिक बनाना चाहती है, किन्तु मनुष्य को और उसके स्वभाव को सामाजिक बनाने की बात उसे नहीं सूझती। जब तक यह नहीं होता तब तक किसी भी 'वाद' की सच्ची स्थापना नहीं होगी; और यदि मनुष्य का चरित्र सुधर गया तब तो किसी भी 'वाद' से हमारा काम चल जायेगा। इसका एक सुन्दर उदाहरण मैं आपके सामने रखता हूँ।

शराब की बुराई से सारी दुनिया त्रस्त है। अमेरिका ने कानून बनाकर इस बुराई को दूर करने का प्रयत्न किया। जिन लोगों ने कानून बनाने की सम्मति दी, उन्हें स्वयं शराबबन्दी की कोई परवाह नहीं थी। समाज में प्रतिष्ठा भोगनेवाले बडे-बड़े स्त्री-पुरुष भी खुलेआम कानून का भंग करने में बहादुरी मानने लगे और एक-दूसरे के सामने इस बात की डींग हाँकने लगे कि उन्होंने शराबबन्दी का कानून कैसे तोड़ा है। इसी शराबबन्दी का हमारा इतिहास अमेरिका से भिन्न है। हमारे देश में बसने वाली सारी जातियों के दिल में शराब के लिए नफरत है। नियमित रूप में और खुलेआम शराब पीने वाले लोग भी यह स्वीकार करते हैं कि शराब बुरी चीज है। उससे छूटने की शक्ति भले ही उनके भीतर न हो, लेकिन इसमें कोई उनकी मदद करे तो वह निश्चित रूप से शराब की लत से मुक्त होना चाहते हैं। सम्पूर्ण राष्ट्र का चरित्र शराबबन्दी के पक्ष में होने के कारण हमारे देश में शराबबन्दी का

कानून बनाना आसान साबित हुआ। कुछ आधुनिक वृत्ति वाले विकृत लोग शराब के पक्ष में दलील करते हैं सही। लेकिन ऐसे लोग तो गिने-चुने ही हैं। और उनमें से कुछ तो यह कहते भी हैं कि हमारी पार्टी की नीति के नाते ही हम ऐसी दलील करते हैं।

ऐसे लोगों की बात हम छोड़ दें। मुझे कहना तो यह है कि यदि हम राष्ट्र के चरित्र का विकास कर सकें, तो किसी भी 'वाद' की समाज-रचना में हम मनुष्य-जाति को सुखी बना सकेंगे !

महावीर जैसे सन्त पुरुषों ने संसार को यह मार्ग दिखाया है। चरित्र-बल बढ़ाओ, संयम सिद्ध करो, वासनाओं को जीतो, असामाजिक वृत्तियों का नाश करो और राग-द्वेष में निहित हीनता को पहचान कर दोनों को हृदय से निकाल फेंको, तो हिंसा का मार्ग अपने आप क्षीण हो जाएगा। यदि हिंसा को टालना है और अहिंसा की स्थापना करनी है, तो केवल राज्यतन्त्र को बदलने से यह ध्येय सिद्ध नहीं होगा; राष्ट्रसंघ रचने से यह समस्या हल नहीं होगी। इसके लिए तो मनुष्य के स्वभाव में सुधार करना होगा, संयम-रूपी तप करना होगा। यही सच्ची साधना है। कोई पामर मनुष्य यह कार्य नहीं कर सकता। बाहरी शत्रु से लड़ना आसान है, किन्तु भीतर के विकारों का नाश करना कठिन है। इसके लिए वीरत्व की आवश्यकता होती है। महावीर ने अपने भीतर इस शक्ति का विकास किया और दुनिया को उसे दिखा दिया।

महावीर स्वभाव से ही प्रयोग-वीर थे। उन्होंने जो अनेक प्रयोग किए थे उन्हें हम तप कहते हैं। उस तप का मार्ग सबके लिए एक-सा नहीं हो सकता। प्रत्येक मनुष्य को अपना प्रयोग करना चाहिए और अपना मार्ग खोज लेना चाहिए। जो मनुष्य प्रयोग-वीर नहीं है वह यदि बिना सोचे-विचारे महावीर के वचनों के अनुसार केवल बाह्य जीवन ही जीने का प्रयत्न करेगा, तो उसे महावीर की सिद्धि नहीं मिलेगी। इसके विपरीत, जो मनुष्य महावीर से प्रेरणा लेकर और उनके प्रयोगों के रहस्य को समझ कर उनके मुख्य जीवन-सिद्धान्तों के अनुसार अपना जीवन बनाने के लिए निजी ढंग का स्वतंत्र प्रयत्न करेगा, वही महावीर की परम्परा का माना जायगा और भगवान महावीर उसी को अपना आत्मीय जन समझेंगे।

आज जब संसार अनेक दृष्टियों से व्याकुल हो उठा है तब इस व्यापक जीवन की मुख्य उलझन का हल ढूँढ़ना जरूरी हो गया है। इसके लिए महावीरों की आवश्यकता है, प्रयोग-वीरों की आवश्यकता है। ऐसे लोग अपनी श्रद्धा को दृढ़ बनाने के लिए महावीर के जीवन को समझेंगे और स्वयं ही ऊँचे उठने का प्रयत्न करेंगे। महावीर के स्मरण और चिन्तन से हम ऐसी प्रेरणा प्राप्त करें और अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन का उद्धार करें।

३५. जैनेतर*

एक बार एक पुस्तक मेरे हाथ में आई। उसका नाम था 'जैनेतर दृष्टि से जैन।' उसमें मेरे भी दो लेख थे। अनेक बड़े-बड़े लोगों की पंक्ति में अपना नाम देखकर मुझे अच्छा तो लगा, लेकिन विशेष शोध तो उस दिन मैंने यह की कि हम जैनेतर हैं। उसके पहले मैं ऐसा कुछ जानता नहीं था।

'इतर' शब्द बड़े मजे का है। यह शब्द मैंने पहले-पहल सुना था कालेज में पढ़ाये जाने वाले तर्कशास्त्र में। 'मनुष्येतर: भिन्न: मनुष्य:'— ऐसी शास्त्रशुद्ध, तर्कशुद्ध परन्तु ज्ञान में शून्य की वृद्धि करने वाली व्याख्याएँ तर्कशास्त्र में आती थीं। 'जो मनुष्य नहीं है उससे जो भिन्न है वह मनुष्य है।' इसलिए घानी के बैल की तरह घूम-फिर कर जहाँ से चलते वहीं फिर आना होता था। तर्कशास्त्र की भी कैसी बलिहारी है कि इस प्रकार की व्याख्याएँ देकर वह ज्ञान में वृद्धि करना चाहता है !

इसके बाद 'इतर' शब्द सुनने में आया मद्रास की ओर के 'ब्राह्मणेतर' पक्ष के नाम में। मैं यह मानता था कि ब्राह्मणेतर लोग हिन्दू तो होंगे ही। एक बार मैं मदुरा के एक ईसाई मित्र के घर ठहरा था। मैं उनका मेहमान था, इसलिए घर के सब लोगों को शाकाहार करना पड़ता था। मैंने उनसे मजाक में कहा : 'शाकाहारी बनकर आप कुछ समय के लिए तो हिन्दू हो ही गए।' लेकिन बाद में पता चला कि वे वास्तव में 'ब्राह्मणेतर' पक्ष के माने जाते हैं ! मैंने यह भी देखा कि वहाँ के ब्राह्मणेतर पक्ष का नेता भी दूसरा एक ईसाई ही है। जो मनुष्य ब्राह्मण नहीं है वह ईसाई हो या पारसी, ब्राह्मणेतर क्यों नहीं माना जा सकता ? तर्क की दृष्टि का उपयोग करके मैंने पूछा : 'यह टेबल ब्राह्मणेतर मानी जायगी या नहीं ? यह लालटेन भी ब्राह्मणेतर है न ?'

जो लोग हमसे भिन्न हैं उनके बारे में कुछ न जानना और उन सबको एक ही नाम के नीचे लाना, यह मनुष्य-समाज का पुराना रिवाज है। वेदों में भी यह दिखाई देता है। जो आर्य नहीं है वह दास या अनार्य है। इस प्रकार आर्येतरों में आर्यो से भिन्न सम्पूर्ण सृष्टि आ सकती है। जो मनुष्य इस्लाम को स्वीकार नहीं करता, वह मुसलमानों की दृष्टि में काफिर है। जो मनुष्य यहूदी नहीं है उसे यहूदी लोग 'जेन्टाइल' मानते हैं। 'जेन्टाइल' सब अपवित्र और अशुचि माने जाते हैं। ईसाइयों की दृष्टि में जो ईसामसीह की शरण में नहीं गया है वह 'हीदन' है; उसका जीवन ही पापमय

*पर्युषण-पर्व के उपलक्ष्य में अहमदाबाद में आयोजित व्याख्यान-माला में ता. १२-९-'३१ को दिया गया भाषण।

है। दक्षिण भारत में लिंगायत लोग होते हैं। वे मन्दिर नहीं बनाते, लेकिन शिवलिंग को गले में बाँधकर घूमते हैं। जो लोग उनकी जाति के नहीं होते उन्हें वे 'भवी' कहते हैं। 'भवी' मोक्ष के अधिकारी नहीं होते। वे सब भव-सागर के प्रवाह में बह जाने वाले हैं। ग्रीक लोगों में भी यही वृत्ति च जाती है। जो लोग ग्रीक नहीं हैं वे सब असंस्कारी 'बार्बेरियन' हैं।

इस सारी मनोरचना के पीछे एक प्रकार का समूह-धर्म है। आप समूह के धर्म को मानें, तो आपका उद्धार होगा। समूह से बाहर के सब लोग जंगली, गन्दे, मैले अथवा विचित्र हैं ! ऐसा समूह-धर्म यदि 'जन्म से जाति' के सूत्र को मानने वाले हमारे सनातनियों में हो, तो उसे समझा जा सकता है। यहूदियों में भी उसे समझा जा सकता है। लेकिन जैन धर्म में यह क्यों होना चाहिए ? फिर भी जैनों को भी इस समूह-धर्म की छूत लगी है। महाराष्ट्र के जैन शुरू-शुरू में तो सनातनियों की तरह ही रहते थे। वे गणपति की पूजा करते थे और छुआछूत भी पालते थे। शास्त्र के जानकार किसी मुल्ला के मिलने पर जिस प्रकार मुसलमानों में धर्म का जोश पैदा हो जाता है, उसी प्रकार किसी जैन पण्डित के मिलने और कहने से हमारे यहाँ के जैनों ने गणपति का उत्सव मनाना छोड दिया। तभी हमें पता चला कि जैन नाम का कोई स्वतंत्र पन्थ है। उस समय तक हम इतना ही जानते थे कि जो लोग रात में भोजन नहीं करते और अपने मन्दिर में दूसरों को जाने नहीं देते वे जैन हैं। यह जैन और जैनेतर का भेद 'जैनेतर दृष्टि से जैन' नामक पुस्तक मेरे हाथ में आई, उस समय फिर से ताजा हो गया।

सामान्यतः धर्म दो प्रकार के होते हैं : सामाजिक धर्म और मोक्षधर्म। सामाजिक धर्म में इहलोक और परलोक का विचार तो होता है, किन्तु मोक्ष का इतना आग्रह नहीं होता— उतावली तो होती ही नहीं। सनातनियों में केवल संन्यास-धर्म में ही मोक्ष की उत्कंठा दिखाई देती है। बाकी सबको भुक्ति (भोग) भी चाहिए और यथासमय मुक्ति (मोक्ष) भी चाहिए। सनातनी लोग दूसरों को अपने धर्म में निमंत्रित नहीं करते, पारसी भी नहीं करते और यहूदी भी नहीं करते। लेकिन जिन लोगों को मोक्ष का, निर्वाण का अथवा कैवल्य का मार्ग मिल गया है, उन्हें तो सभी को निमंत्रित करना चाहिए। उनके यहाँ सबका स्वागत होना ही चाहिए। किसी धर्म की दीक्षा मिलने पर ही वास्तव में मनुष्य उस धर्म का अनुयायी माना जा सकता है। जिस धर्म में सबका स्वागत होता है, उसमें अस्पृश्यता के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। इस्लाम में अस्पृश्यता नहीं है। ईसाइयों में नहीं है, बौद्धों में भी नहीं है। जैनों में भी नहीं हो सकती। लेकिन निरीक्षण करने से पता चलता है कि सनातन धर्म का असर जैनों पर भी हो गया है। मुसलमानों और ईसाइयों को भी इस बुराई की छूत लग गई है।

सिन्धु में एक मुसलमान से मेरी बात हो रही थी। अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए हिन्दुओं के अनेक दोष दिखाकर अन्त में उसने मुझसे कहा : "मैं तो हिन्दुओं के हाथ का पानी भी नहीं पीता।" उसकी बात चुपचाप सुन लेने के बाद मैंने कहा : "तब तो हिन्दू धर्म की विजय ही हुई न ? सनातनियों में यह रिवाज है कि वे अपने से नीची कक्षा के लोगों के हाथ का पानी नहीं पीते। इस बात को आप जिस हद तक स्वीकार करें उस हद तक आप हिन्दू हो गए। मुझे आप नीची कक्षा का आदमी भले कहें, लेकिन यह ऊँच-नीच का भेद तो हिन्दू कसौटी से ही मापा जायगा न ? और एक बार आपने हिन्दू कसौटी स्वीकार की फिर तो ऊँचा कौन और नीचा कौन, यह अपने आप सिद्ध हो जायगा।"

मज़ाक की बात को छोड़कर मैं कहूँगा कि जैनों को इस ऊँच-नीच-भेद तथा इस अस्पृश्यता को अपने समाज में नहीं घुसने देना चाहिए था। मेरी दृष्टि में तो जो अस्पृश्यता में विश्वास रखता है वह जाति से भले ही जैन हो, लेकिन वास्तव में जैनेतर ही है। मोक्षधर्म में अस्पृश्यता कैसे हो सकती है ? जो मनुष्य उत्साहपूर्वक आत्मा का विकास करना चाहे, केवल आत्मा के कल्याण की दृष्टि से ही जिए, वह जैन है। दूसरों के प्रति जनूनी होने के बजाय स्वयं अपने प्रति जनूनी होना और तपोमय जीवन व्यतीत करना कितना उत्तम है ! सनातनियों ने एक आसान रास्ता खोज निकाला है। जो लोग मोक्ष के लिए आतुर हैं, उन्हीं के लिए उसने मोक्षधर्म रख छोड़ा है। संन्यास-धर्म की दीक्षा लेकर यदि कोई उसके पालन में शिथिलता दिखाये, तो सब कोई उसे धिक्कारते हैं। मोक्ष की लगन न हो तो कोई संन्यासी बनेगा ही क्यों ? मैं तो मानता हूँ कि जिसे मोक्ष की, कैवल्य-पद को लगन लगी है वही जैन है। बाकी के सब लोग जैनेतर हैं। उन्हें सनातनी भले ही कह लीजिए। सनातनियों में सबके लिए स्थान है। समूह-धर्म की कसौटी को सामने रखकर यदि जैन और जैनेतर का भेद हम करें, तब तो जैन धर्म टिक ही नहीं सकता।

एक बार मैं नागपुर की ओर रामटेक की पहाड़ी देखने गया था। उसकी तलहटी में एक जैन-मन्दिर है। उस मन्दिर के पास धन-दौलत होगी, अतः उसकी रक्षा के लिए सिपाही, बन्दूक, तलवार सब कुछ रखा गया था। मैं तो वह सब देखकर दंग रह गया। मैंने पूछा : "क्या यह शाक्त मन्दिर है ? यहाँ मैं दुर्गापाठ करूं ?" मन्दिर के पुजारियों ने मुझसे कहा, "नहीं, नहीं, यह तो जैन मन्दिर है।" मेरी बात वे लोग समझे नहीं; और उनकी बात मैं नहीं समझा। मैं वहाँ से लौट आया। मन में विचार उठा : जहाँ धन का संग्रह है और उसकी रक्षा के लिए जहाँ राज्यसत्ता की सहायता ली जाती है, जहाँ हिंसा के हथियार खुले तौर पर रखे जाते हैं, वहाँ जैन धर्म कैसे हो सकता है ? आखिर समूह-धर्म ने जैन धर्म पर विजय प्राप्त कर ली। आत्मा को भूल जाने के बाद और अनात्मा को ऊँचा मानने के बाद छोटे-

छोटे आचारों का पालन किया तो भी क्या और न किया तो भी क्या ?

आज के दिन का उपयोग हृदय-शुद्धि के लिए किया जाना चाहिए। हृदय-शुद्धि तो होगी तब होगी, लेकिन हम विचार-शुद्धि तो कर लें। जो मनुष्य आत्मा और अनात्मा का विवेक नहीं करता, जो मनुष्य केवल आत्मा को ही पहचानने और उसकी रक्षा करने का प्रयत्न नहीं करता, वह धार्मिक नहीं है; जैन तो वह किसी भी हालत में नहीं है।

इस्लाम में एक सिद्धान्त का बड़े जोरों से उपदेश किया गया है। ईश्वर एक है, अद्वितीय है; उसके साथ किसी दूसरे मनुष्य को या पदार्थ को मिलाया नहीं जा सकता, शरीक नहीं किया जा सकता, यह इस्लाम का एक महान सिद्धान्त है। ईश्वर के साथ दूसरे किसी को मिलाने के गुनाह को 'शिर्क' कहा जाता है। जो मनुष्य शिर्क का गुनाह करता है, वह मुशरिक है—काफिर है। इस्लाम का यह सिद्धान्त मुझे अच्छा लगता है। हम अपनी परिभाषा में इस सिद्धान्त का विचार करें। अन्तर्यामी परमात्मा ही हमारी शुद्ध आत्मा है। उसके साथ हम अनात्मा को मिला दें, तो यह 'शिर्क' का गुनाह होगा। जो मनुष्य केवल आत्मा के प्रति ही सच्चा है, आत्मा की उन्नति के लिए ही जीता है, अनात्मा के मोहजाल में नहीं फँसता, वही जैन है। बाकी के सब लोग जैनेतर हैं। इस शुद्ध विचार की दृष्टि से क्या हम सभी जैनेतर नहीं हैं ? कौन आत्म-परायण है और कौन नहीं है, यह तो मनुष्य का अपना अन्तर ही उससे कह सकता है। बाहरी जीवन से तो लगता है कि मैं भी जैनेतर हूँ और आप लोग भी जैनेतर हैं। फिर भी यदि इस समाज में कोई जैन हो, तो उसे मेरे हजार-हजार प्रणाम।

३६. गाय के साथ मधुमक्खी

वेदों में गाय को 'अघ्न्या' कहा गया है। सारे पशुओं से गाय को अलग मानकर वेदकाल में ही यह नियम बना दिया गया था कि 'गाय को कभी नहीं मारना चाहिए।' गाय का दूध अत्यन्त पौष्टिक, सुपाच्य और निर्दोष आहार है। उसका दूध मिलने के बाद ही मनुष्य को मांसाहार कम करने की बात सूझी। दूध की प्राप्ति न हुई होती तो मांसाहार छोड़ना मनुष्य के लिए कठिन हो गया होता। गाय-बैल को जंगल से लाकर मनुष्य ने उन्हें अपने पारिवारिक जीवन में स्थान दिया। गाय ने दूध देकर और बैल ने हल खींचकर मनुष्य के आहार में बहुत बड़ी क्रान्ति कर दी। हल की मदद से मनुष्य ने खेती शुरू की और अनाज का उत्पादन बढ़ाया। गाय को पालकर

मनुष्य ने उसे भयमुक्त बनाया और विशेष खुराक खिलाकर उसका दूध बढ़ाया। इस प्रकार गाय और बैल ने अपनी सेवा से मानव के लिए आहार के विषय में अहिंसा-धर्म की सम्भावना पैदा की। जंगली गाय को गाँव का पशु बनाने के लिए मनुष्य को हजारों वर्ष तक प्रयत्न करना पड़ा होगा। गाय, बैल, घोड़ा, गधा, ऊँट, हाथी— इन सब पशुओं को मनुष्य ने जब 'पालतू' बनाया उस समय मानव-संस्कृति एकदम ऊँची उठ गई।

अब एक कदम और आगे बढ़ाने का अवसर आया। घास का दूध बनाने का काम गाय करती है। अब घास के फूलों में जो बिन्दुमात्र अमृत-रस रहता है और जिसे एकत्र करके उपयोग में लेने का काम मानव के लिए असम्भव है, उन सब बिन्दुओं को एकत्र करके उनका शहद बनाने का काम मधुमक्खियों का रहा है। मधुमक्खियों को मार कर या जला कर उनके छत्ते को लूटने का काम मनुष्य-जाति ने जीवन के आरम्भ से ही किया है। शहद जैसी स्वादिष्ट और सुन्दर वस्तु को मनुष्य कैसे छोड़ सकता है ? लेकिन इतनी मेहनत करके शहद लाने वाली मधुमक्खियों को मार डालना, उनके अंडों-बच्चों का नाश करना और शहद के साथ उनके अंडों को भी निचोड़ लेना अत्यन्त क्रूर, मूर्खतापूर्ण, गन्दा और महँगा काम है। आज भी हमारे देश में यह प्रथा चालू है। परन्तु अब उसमें अहिंसक परिवर्तन हो रहा है। मधुमक्खियों की अमुक जाति के समूह को पकड़ कर कृत्रिम घरों में (छत्तों में) रखना, उनके लिए आवश्यक खान-पान की व्यवस्था करना और उनके लिए तथा उनके बच्चों के लिए जरूरी शहद रख लेने के बाद बचा हुआ शहद अपने उपयोग में लेना— यह मानव-संस्कृति का प्रगति-सूचक कदम है। शहद मनुष्य के लिए अत्यन्त रुचिकर, लाभप्रद और सुन्दर आहार है। यदि हम मधुमक्खियों को पाल सकें तो कहा जायगा कि हमने गोरक्षा के बाद मानव-संस्कृति के विकास का अगला कदम उठाया है। इन मधुमक्खियों को पालने का खर्च बहुत ही कम आता है। उनके स्वभाव को पहचानने में आनन्द आता है और इस धन्धे में कमाई तो घी के धन्धे से भी ज्यादा होती है। गायों और मधुमक्खियों के पालन का धन्धा अहिंसावादियों के लिए केवल लाभकारी ही नहीं परन्तु जीवन में अहिंसा की नई दिशा सूचित करने वाला और धर्म-परायण बनाने वाला सिद्ध होगा।

शहद इकट्ठा करने में हिंसा होती है, इतना जानकर जैनों ने यह निश्चित कर दिया कि हर तरह का शहद निषिद्ध आहार है। यह निश्चय उस समय के लिए ठीक रहा होगा। लेकिन हमें धर्मशास्त्रों को जीवन्त बनाए रखने की जरूरत को समझना चाहिए। यदि शहद न खाएँ तो हम मधुमक्खियों को मारने की हिंसा से बच जाते हैं। लेकिन मनुष्य-जाति मधुमक्खियों को छोड़ने वाली नहीं है और यदि मानवतापूर्ण ढंग से हम मधुमक्खियों का पालन नहीं करेंगे, तो मधुमक्खियों की

जंगली ढंग की हिंसा टलेगी नहीं। अतः जैनों को अपने शास्त्रों में वृद्धि करनी चाहिए। उन्हें शास्त्रों में यह वचन जोड़ देना चाहिए कि न केवल मधुमक्खियों को पाल कर अहिंसक ढंग से एकत्र किया हुआ शहद निषिद्ध नहीं है, बल्कि उसका सेवन करने में लाभ है और पुण्य भी है।

इस धन्धे में बहुत ही थोड़ी पूँजी से काम चल सकता है और खूब धन कमाया जा सकता है। यदि जैन लोग इस धन्धे को स्वीकार करें, तो यह उनकी धर्मबुद्धि और वाणिज्य बुद्धि दोनों के अनुकूल सिद्ध हो सकता है।

अगस्त, १९३९

३७. जैन धर्म और अहिंसा*

धर्म की अनेक व्याख्याएँ की गई हैं। मेरे विचार से धर्म की उत्तम व्याख्या यह है : 'जीवन-शुद्धि और समृद्धि की साधना जो दिखाए वह धर्म है।' प्रत्येक धर्म में आत्मोद्धार के लिए जो बातें बतायी गई हैं, उनके द्वारा ही मनुष्य अपनी उन्नति कर सकता है। यह साधना दो प्रकार से होती है। केवल अपना ही विचार करके आत्मशुद्धि से आत्म-विजय प्राप्त करना और अन्त में मुक्त होना, यह पहली साधना है। दूसरी साधना वह है जिसमें केवल व्यक्ति का विचार न करके समस्त समाज का विचार किया जाता है। सारे व्यक्तियों को मिलाकर समाज बनता है और वह समाज ही मुख्य माना जाता है। जैसे हम शरीर के एक-एक अवयव का विचार नहीं करते, अपितु समग्र शरीर का विचार करते हैं, वैसे ही मुख्यतः विचारणीय प्रश्न यह है कि संगठन बनाकर रहने वाली मनुष्य-जाति अहिंसा की साधना कैसे कर सकती है।

मेरी मान्यता के अनुसार अभी तक मनुष्य-जाति की बाल्यावस्था थी, इसलिए केवल व्यक्ति के लिए मार्ग विचारने और बताने से हमारा काम चल जाता था। परन्तु अब जो कार्य हमारे सामने है वह विकट और व्यापक है। अब निश्चित तथा व्यवहार्य सामाजिक साधना बताने के दिन आये हैं। आज की साधना केवल आत्मशुद्धि की नहीं परन्तु समाज-जीवन की शुद्धि की साधना है।

प्रत्येक बालक को कभी-न-कभी ऐसा लगता ही है कि कल जो बात मेरी

*ता. ८-८-'४० को बम्बई में हुई सभा में अध्यक्ष-पद से दिये गये भाषण का सारभाग।

समझ में नहीं आती थी वह आज समझ में आ रही है। मनुष्य को भी अक्सर ऐसा लगता है कि अमुक महापुरुष इस जगत में आने के बाद ही इतनी बात हमारी समझ में आई। प्रत्येक धर्म में साधना का मार्ग दिखाने वाले महापुरुष आते हैं। मुसलमानों का विश्वास है कि इस्लाम के नबी मुहम्मद साहब ने जो कुछ कहा वह अन्तिम वचन है। सनातनी हिन्दू भी ईश्वर के अमुक संख्या के अवतारों में विश्वास करते हैं। जैन भी चौबीस तीर्थकरों में विश्वास करते हैं। जैन लोग मानते हैं कि अन्तिम तीर्थकर महावीर हुए हैं; अब आगे कोई तीर्थंकर नहीं होंगे।

लेकिन यह दलील मेरे गले नहीं उतरती। कोई एक व्यक्ति चाहे जितना महान हो, फिर भी उसके साथ धर्मशास्त्र पूर्ण नहीं हो जाता। तब तो माना जायगा कि मनुष्य-जाति की प्रगति का अन्त हो गया। इससे तो यही माना जा सकता है कि विश्व की रचना को चलाने वाली अगम्य शक्ति या तो तृप्त हो गई है या निराश हो गई है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। साधना का संस्करण और परिष्करण बार-बार होना ही चाहिए। यह कार्य करनेवाले व्यक्ति भी बार-बार आने ही चाहिए। जिस समय चार व्रतों की आवश्यकता थी उस समय चार व्रतों से काम चला। लेकिन जब उनमें परिवर्तन करके व्रतो की संख्या पाँच करने की आवश्यकता हुई तब ऐसा कहने वाले व्यक्ति निकल आये और चार के पाँच व्रत हो गए। इसी प्रकार समय-समय पर मार्गदर्शन करने वाले महापुरुष निकल ही आते हैं।

अहिंसा एक सनातन तत्त्व है। अमुक समय के पहले अहिंसा नहीं थी, यह नहीं कहा जा सकता। समय-समय पर अहिंसा का प्रचार करने वाले पुरुष निकल ही आते हैं। मुझे सदा यह लगा है कि अहिंसा की सच्ची साधना ब्रह्मचर्य में, संयम में है। जो मनुष्य भोग-विलास में डूबा रहता है और वैसा करके मरने के लिए बच्चे पैदा करता है, वह अहिंसक नहीं है। जीवन में विलासिता, कामुकता कम हो तो ही सच्ची अहिंसा को जीवन मे उतारा जा सकता है और समाज में उसे फैलाया जा सकता है।

पुण्य दुःखकर है, लेकिन उसका फल सुखकर है; जब कि पाप बाहर से अथवा प्रारम्भ में सुखकर होता है, लेकिन उसका फल दुःखकर होता है। इसलिए भोग-विलास का सुखकर मालूम होना स्वाभाविक है। मनुष्य जिस हद तक विलासिता का त्याग करता है उसी हद तक वह अहिंसा-धर्म के निकट पहुँच पाता है। विलासिता को दूर करने के लिए इन्द्रियों की वृत्तियों को जीतना पड़ता है। इसी को तप कहा जाता है। यह तप ही अहिंसा है। यह साधना व्यक्तिगत और सामुदायिक दोनों प्रकार से होती है। उसे बताने वाले तीर्थकर समय-समय पर आते ही रहने चाहिए। और इस प्रकार सनातन अहिंसा-धर्म का विकास होना चाहिए।

अपराध के लिए सजा देना मनुष्य-जाति का बड़ा अपराध है। दूसरों को सजा

देने वाले हम कौन होते हैं ? अपराध के लिए अपराधी को प्रायश्चित्त करना चाहिए। अपराध के लिए सजा देकर तो हम हिंसा को घटाने के बदले प्रतिहिंसा करते हैं। सजा देने से मनुष्य का सुधार नहीं होता। सजा देकर हम भले ही सन्तोष अनुभव करें, परन्तु वास्तव में उससे हिंसा दुगुनी होती है। अपराध करने वाले की हिंसा अप्रतिष्ठित मानी जाती है। जब किसी अपराधी को सजा होती है तो लोग उस कार्य को अच्छा मानते हैं; इसलिए यह प्रतिहिंसा प्रतिष्ठित मानी जाती है। यह उलटे मार्ग की साधना है। इतनी बात हम समझ लें, तो अहिंसा का मार्ग हमारी समझ में आ जाएगा। भावी तीर्थंकर हमें अवश्य कहेंगे कि अपराधी को सजा देना भी अपराध ही है। क्रोधी के सामने अगर हम क्रोध न करें, तो अन्त में उसे शान्त होना ही पड़ेगा। 'अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति'— तृणरहित स्थान में पड़ी हुई आग अपने आप बुझ जाती है।

आज हम अहिंसा के बाल्यकाल में हैं। अहिंसा के विकास के लिए बड़े धीरज और अटूट साहस की जरूरत है। मार्ग लम्बा है। समाज में अहिंसा की शिक्षा का कार्य करना आवश्यक है। इसके लिए अनेक महापुरुष आएँगे और मार्ग दिखाएँगे।

केवल स्थूल हिंसा का त्याग पर्याप्त नहीं होगा। जहाँ धन के ढेर जमा हो गए हैं वहाँ उनकी नींव नें शोषण का पाप है— हिंसा है। अमेरिका में क्वेकर सम्प्रदाय के लोग अहिंसक हैं और धनी भी हैं। भारत में जैन लोग अहिंसक होने का सकारण दावा करते हैं, फिर भी वे धनाढ्य हैं। द्रोह के बिना धन नहीं मिलता। इसलिए मेरी समझ में नहीं आता कि अहिंसा और धन का मेल कैसे बैठ सकता है। आप चींटियों के बिल के सामने आटा डालें, रात्रि-भोजन न करें, आलू न खाएँ— यह सब तो अच्छा है। परन्तु यह आरम्भ की क्रिया है। हमें तो अहिंसा-धर्म में आगे बढ़ना है। जगत में जब युद्ध चल रहा हो तब हम शान्त कैसे बैठ सकते हैं ? हमें उसे रोकने का मार्ग खोजना चाहिए। हमारे विचारों में परिवर्तन की आवश्यकता है। कई लोग कहते हैं कि युद्ध तो यूरोप में लड़ा जा रहा है; हमारे देश में तो गांधीजी के प्रताप से सब ठीक चल रहा है। लेकिन मैं कहता हूँ कि हमारे देश में प्रत्येक प्रान्त में भीतर-ही-भीतर फूट फैली हुई है, हर जगह अविश्वास फैला हुआ है। ये सब हिंसा के ही प्रतीक हैं। यूरोप के पास अस्त्र-शस्त्र हैं, इसलिए वहाँ के लोग युद्ध करते हैं। हम एक-दूसरे के पैर खींचकर एक-दूसरे को नीचे गिराते हैं। वृत्ति से तो दोनों एक से ही हैं। वहाँ समर्थों की शस्त्रधारी हिंसा चलती है, यहाँ असमर्थों की अविश्वास, द्वेष, निद्रा और द्रोह-मूलक हिंसा।

अदालत में जाने के बदले, पंच के द्वारा अन्याय दूर कराना और अन्याय करने वाले को अपना बनाकर उसकी शुद्धि का प्रयत्न करना— इस प्रकार की अहिंसक साधना का विकास विचारपूर्वक अभी तक हमने नहीं किया है।

सरकारी अन्याय के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह करने के बजाय सत्याग्रह करने की अहिंसक साधना हमारे जमाने में गांधीजी ने ही बतायी है। राज्य के विरुद्ध किए जाने वाले पुराने 'त्रागा' (धरना) या ऐसे ही दूसरे विद्रोह में अहिंसा नहीं थी। शायद ऐसा कहा जा सकता है कि उसमें अहिंसक पद्धति के बीज थे।

राष्ट्रों के बीच जो युद्ध लडे जाते हैं उनकी बजाय चढ़ाई करने वाले शत्रु का अहिंसक पद्धति से प्रतिकार कैसे किया जाय, यह सोचने या सुझाने का मौका गांधीजी को भी नहीं मिला है।

अमेरिका में या अफ्रीका में गोरे लोग काले लोगों पर जो जुल्म ढाते हैं, उन्हें दूर करने का अहिंसक मार्ग दिखाने की जिम्मेदारी अहिंसा के उपासकों और आचार्यों की है। परन्तु आज तो ये लोग शास्त्र-वचनों की व्याख्या करने में और परम्परागत मार्ग से अपने तप या प्रतिष्ठा को बढ़ाने में ही मशगूल हैं।

आज दुनिया में बडी-मे-बडी हिंसा शोषण की चल रही है। दूसरों की कठिन परिस्थितियों का लाभ उठाकर उनकी सेवाओं का दुरुपयोग करना और उन पर अनुचित अत्याचार करना अर्थात उनके जीवन का शोषण करना बहुत बड़ी हिंसा है। इस तरह की हिंसा परिवारों में भी चलती है। जमींदार और काश्तकार, खेत में काम करने वाले मजदूरों के मालिक और खेतिहर मजदूर, कारखानेदार और कारखाने के मजदूर, उच्च वर्गों के लोग और श्रमजीवी लोग— इन सबके सम्बन्धों में शोषण की, दबाव की और जुल्मों की हिंसा सतत चला ही करती है। साहूकार मनमाना ब्याज लेकर कर्जदार को चूसता है, यह भी हिंसा ही है।

जैन समाज तथा जैन साधुओं और आचार्यों को यह सोचना चाहिए कि इस सारी हिंसा का सामना कैसे किया जाय और इस दृष्टि से समाज-जीवन का परिवर्तन करने के लिए कौन से कदम उठाए जाने चाहिएँ।

जब हमारा समाज धर्मशील था उस समय हमारे धर्माचार्य तत्कालीन विज्ञान की मदद से साहसपूर्वक जीवन-परिवर्तन करने में हिचकिचाते नहीं थे और समाज की पुरानी रूढ़ियों का विरोध करने में भी डरते नहीं थे।

शरीर-शुद्धि के लिए पंचगव्य में गोमूत्र का भी प्राशन करने की प्रथा के पीछे वैज्ञानिक साहस स्पष्ट दिखाई देता है। पानी में सूक्ष्म कीटाणु होते हैं इसलिए पानी को गरम करने और उसे तुरन्त ठण्डा करने की जो प्रथा जैनों ने चलायी, उसमें आज के डॉक्टरी आग्रहों से कम हिम्मत नहीं थी। जैन साधुओं का केशलुंचन तथा मुख पर बाँधी जाने वाली 'मुहपत्ती' भी सामाजिक शिष्टाचार की परवाह न करके एक प्रकार के विज्ञान से चिपटे रहने की हिम्मत का ही प्रतीक है। बहुबीज वनस्पति न खाना, रात्रि-भोजन न करना इत्यादि सुधारों का प्रचार जिन आचार्यों और साधुओं ने किया, वे आज के जमाने में विज्ञान का अनुसरण करके यदि चिन्तन करें और

नए आचार का प्रचार करें, तो कोई यह नहीं कह सकेगा कि आज के जैन आचार्य धर्म-परायण न रहकर रूढ़ि-परायण हो गए हैं और आज के जैन साधु अन्ध-परम्पराओं का निष्प्राण जीवन जीते हैं।

जो चीज बुरी मानी जाती है वह कितनी ही सुखकर, प्रिय अथवा प्रतिष्ठित क्यों न हो, तो भी उसका त्याग करने के लिए तैयार होना और अद्यतन विज्ञान तथा धर्मज्ञान आज जो नई दृष्टि प्रदान करें उसका अनुसरण करने के लिए तैयार होना जीवन्त और प्राणवान रहने का लक्षण है। जो व्यक्ति जीवन पर विजय प्राप्त करता है वह जिनेश्वर है। अब ऐसे अनेक जिनेश्वर उत्पन्न होने चाहिए। उनके आने की हम तैयारी करें ओर उनके स्वागत के लिए लोक-मानस तैयार करें।

३८. राजचन्द्र-जयन्ती*

१

आज हम एक ज्ञानी और तपस्वी पुरुष की जयन्ती मनाने के लिए यहाँ एकत्र हुए हैं। श्रीमद् राजचन्द्र का समय हमारा ही समय है। वे यदि जीवित रहते तो आज ६४ वर्ष के होते। मनुष्य की सामान्य आयु का विचार करें तो जिन्हें आज प्रत्यक्ष जीवित देखने का हमारा अधिकार था उनकी मृत्यु को ३३ वर्ष हो जाने का उल्लेख हमें करना पड़ रहा है, यह हमारे देश की अर्थात हमारी जनता की दुर्गति का सूचक है। सौ वर्ष की आयु माँगने वाले हमारे पूर्वजों ने यह भी पहले से कह दिया है : 'अतिदीर्घे जीविते को रमेत ? बहुत लम्बे जीवन में क्या स्वाद है ? 'मुहूर्तं ज्वलितं श्रेय: न च धूमायितं चिरम्।' घड़ी भर ज्योति जलाकर बुझ जाना अच्छा है; वर्षों तक धुँधुवाते रहना अच्छा नहीं । किन्तु यह तो केवल आश्वासन की बात है। सम्पूर्ण पुरुष १०० वर्ष तक क्यों न जिएँ ? श्री रामचन्द्र और श्रीकृष्ण, महावीर और बुद्ध कम नहीं जिये थे; परन्तु हमारे भाग्य में तो शंकराचार्य अथवा ज्ञानेश्वर जैसे ३०-३५ वर्ष के भीतर ही अपनी जीवन-लीला समाप्त करने वाले धार्मिक पुरुषों की संख्या आई है। स्वामी विवेकानन्द चालीस वर्ष भी पूरे न कर सके।

आज के दिन राजचन्द्र के विषय में बोलने का अधिकार उन्हीं लोगों का है, जिन्होंने श्रीमद् राजचन्द्र को स्वयं देखा हो, उनसे बोध प्राप्त किया हो तथा उनके

*ता० १५-९-'३१ को श्रीमद् राजचन्द्र-जयन्ती के अवसर पर अध्यक्ष-पद से दिया गया भाषण।

तपस्वी जीवन से प्रेरणा ग्रहण की हो। और, ऐसे लोग बहुत हैं। लेकिन श्री पूँजाभाई ने राजचन्द्र-जयन्ती का भार आज मेरे सिर पर डाल दिया है। उनके इस आग्रह का मैं अनुग्रह के रूप में स्वागत करता हूँ। राजचन्द्र कवि को मैंने देखा नहीं था। वे जीवित थे उस समय मैंने गुजरात का दर्शन भी नहीं किया था। उनके सम्पर्क में मैं आता तो उनके प्रति आकर्षित होता या नहीं, इस बारे में भी मुझे सन्देह है। उस समय तो मेरे मन में इस शंका का उदय हो रहा था कि धर्म नीति, सदाचार आदि की गूढ कल्पनाओं का किस हद तक पालन करना चाहिए। अनुभव के बिना प्रचलित बातों को स्वीकार करने के लिए मेरा मन नहीं होता था। उस समय मन में इस प्रकार की वृत्ति स्फुरित होती थी कि हर बात की स्वयं जाँच करनी चाहिए, अनुभव से हर बात की छानबीन करनी चाहिए और उलटे रास्ते जाने की भी हिम्मत करनी चाहिए। सबसे पहले मैंने श्रीमद् राजचन्द्र के विषय में गांधी जी के मुंह से सुना था। १९१६ के अरसे में आश्रम की प्रार्थना में श्रीमद् राजचन्द्र के वचन पढ़े जाते थे। गांधी जी उनका अर्थ करके हमें समझाते थे। मूल गुजराती मैं समझता नहीं था, उसमें भी कवि की भाषा जैन परिभाषिक शब्दों से भरी होती थी; इसलिए गांधी जी अपने विवेचन में जितना कहते थे उतना ही समझ में आता था। गांधी जी जिस पुरुष को महापुरुष मानते हैं, रस्किन और टॉल्स्टॉय से भी बड़ा समझते हैं, उस पुरुष की विभूति असाधारण होनी चाहिए, यह सोचकर मैंने श्रीमद् राजचन्द्र के पद्य और पत्र पढ़ना शुरू किया। पद्यों में तो मेरा चंचु-प्रवेश भी नहीं हो सका। बीच-बीच में कोई रत्न जैसा सुभाषित हाथ लग जाता, तो मन को आनन्द होता था। उनके पत्र ही मुझे आकर्षक लगे। पत्र-साहित्य सदा ही आकर्षक लगता है, क्योंकि वह व्यक्तिगत सम्भाषण जैसा पवित्र होता है, उसमें एक हृदय दूसरे हृदय से बातें करता है। और जब कोई उन्नत हृदय मोक्षार्थी होकर सच्चे लोक-कल्याण की भावना से 'हित-काम्यया' अन्य हृदयों के साथ बातें करता है, तब तो इन पत्रों में आध्यात्मिक भाव इतने स्वाभाविक रूप में खिलता है कि कभी-कभी ये पत्र दीक्षा की गरज पूरी करते हैं।

राजचन्द्र-जयन्ती पर गांधी जी ने जो उद्गार प्रकट किए थे, वे स्वाभाविक थे। उन्हें मैंने अनेक बार पढ़ा है और उनका मनन भी किया है। लेकिन राजचन्द्र के भक्त जब हर जगह इन उद्गारों को इस तरह उद्धृत करते हैं, मानो वे राजचन्द्र को गांधी जी द्वारा दिये गए प्रमाण-पत्र हों, तब मुझे जरा विचित्र लगता है। उपनिषदों के विषय में शोपेनहार के उद्गार और शाकुन्तल के विषय में जर्मन कवि गेटे के उद्गार जग-विख्यात हैं। परन्तु हर अवसर पर जब उन्हें अचूक रूप में उद्धृत किया जाता है, तो उनका अलग ही असर होता है।

रस्किन और टॉल्स्टॉय आध्यात्मिक वृत्ति के पुरुष थे। आज लोग उनका आदर

करते हैं, उनके साहित्य के कारण । परन्तु यह साहित्य उनके उदात्त जीवन से उत्पन्न हुआ था। राजचन्द्र के प्रति गांधी जी को जो भक्ति है, वह राजचन्द्र के साहित्य की अपेक्षा उनके पारमार्थिक जीवनके प्रति अधिक होनी चाहिए। रस्किन की जीवन-साधना के बारे में अधिक कुछ कहने जैसा है ही नहीं। टॉल्स्टॉय की जीवन-साधना अवश्य ही आकर्षक है, परन्तु उसमें जहाँ-तहाँ दुर्बलता और शायद धर्म-अधर्म के निर्णय के बारे में उलझन भी दिखाई पड़ती है। धर्म-विचिकित्सा वृत्ति विचिकित्सा का निर्णय करते समय वे परेशानी महसूस करते हैं। राजचन्द्र अपनी जीवन-साधना में तेजी से बढ़ते दिखाई देते हैं। जितना कुछ जानें उतने को जीवन में उतारने का आग्रह— यह भारतवर्ष के सच्चे जीवन की कसौटी है। इस कसौटी को ध्यान में रखकर ही एक बार स्वामी अभेदानन्द ने कहा था कि अमेरिका में एक ही एमर्सन पैदा हुआ, लेकिन भारत में तो दस-दस कोस पर एक-एक एमर्सन बैठा है।

धार्मिक जीवन के इतिहास की जाँच करने से हमें पता चलता है कि कुछ विशेष लोग ही अनुभव-परायण होते हैं, आम जनता तो श्रुति-परायण ही रहती है। शास्त्रों ने लिखा है, पूर्वजों ने माना है, बुजुर्ग कहते आये हैं, इसी कारण से अमुक मान्यताएँ मंजूर रखना, अमुक रिवाज पालना और अमुक समुदाय में रहना मानव के लिए आसान और स्वाभाविक होता है। साधना, साक्षात्कार और मोक्ष चाहे जितने सामान्य और रोचक शब्द हों, परन्तु वे साधारण मानव के लिए नहीं होते। जो लोग शास्त्रों को स्वीकार करते हैं वे और आजकल जो लोग शास्त्रों को स्वीकार नहीं करते वे भी अधिकतर रूढ़िग्रस्त ही होते हैं। जो लोग शास्त्रों को स्वीकार करते हैं वे परम्परा की वजह से उन्हें स्वीकार करते हैं; और जो लोग शास्त्रों से इनकार करते हैं वे अधिकतर एक नई फैशन तथा बौद्धिक सहूलियत अथवा सरलता को देख कर ऐसा करते हैं। इन दोनों का जीवन बिलकुल छिछला तो नहीं होता, परन्तु इन्हें प्रयोग-वीर नहीं कहा जा सकता । शास्त्रों में मूल महत्त्व की जो बातें लिखी हैं उनका प्रयोग और अनुभव किए बिना रहा ही नहीं जा सकता, इस तरह का आग्रह रखने वाले जो थोड़े से लोग होते हैं वे ही वास्तव में धर्म के विषय में जीवन्त कहे जाएँगे।

श्रीमद् राजचन्द्र इसी कोटि के पुरुष माने जाएँगे। उनकी रचनाओं से स्पष्ट होता है कि उनमें बचपन से ही धार्मिक जीवन जीने का आग्रह था, उनका मनोमंथन सतत चला ही करता था। उनका यह विश्वास था कि एक प्रयोग-वीर के नाते अपने प्रयोगों की रिपोर्ट समय-समय पर अपने मित्रों को तथा सह-धर्मियों को देने के लिए वे बँधे हुए हैं। इसलिए राजचन्द्र के पत्रों में अनेक बार उनके सम्बन्ध में उल्लेख आता है।

अध्यात्मशास्त्र के अनुभव विविध प्रकार के होते हैं और बहुत बार वे एकांगी

भी होते हैं। शुद्ध भाव से अपने हृदय की जाँच करने से मनुष्य को अपने दोषों और विकारों का पता चल जाता है; इसलिए जब इस जाँच के फलस्वरूप उसे मालूम होता है कि साधना के अनुपात में उनकी प्रगति नहीं हुई है, तो वह अपनी अयोग्यता को पूरी तरह स्वीकार कर लेता है। दूसरी ओर, जहाँ विकारों के खिलाफ महान संघर्ष अनिवार्य होने का भय रहता है वहाँ उन्हें आसानी से पार कर लेने पर मनुष्य को स्वाभाविक रूप में ऐसा लगता है कि मैं मंजिल के नजदीक पहुँच गया हूँ। जो मनुष्य अखंड साधना करने वाला है, उसे आत्मा का सतत भान रहना ही चाहिए।

आत्मा का भान भौतिक विज्ञान की जानकारी की तरह तटस्थ नहीं रह सकता। उसका सारे जीवन पर प्रभाव पड़ता है। आत्मा का भान ही हमारा यथार्थ जीवन है। उसकी सतत तथा अखण्ड जागृति एक अलौकिक रसायन (कीमिया)है। जिस मनुष्य में आत्मा का भान जाग्रत है, विद्यमान है, उसमें जीवन का नियंत्रण देखते- ही- देखते बढ़ जाना चाहिए। निश्चय की शान्ति तो उसे सदा मिलनी ही चाहिए। ऐसे जीवन की आत्म-स्वीकृतियाँ अध्यात्मशास्त्र का आधार होती हैं। अध्यात्मशास्त्री के व्यापक सिद्धान्त ऐसी प्रामाणिक आत्म-स्वीकृतियों के आधार पर ही बनाये हुए होते हैं। शास्त्रों का अर्थ करने की अन्तिम कुंजी ये आत्मा-स्वीकृतियाँ ही होती हैं। धर्म की जागृति अन्त में ऐसे धार्मिक पुरुषों द्वारा किए जाने वाले जीवन प्रयोगों पर ही निर्भर करती है।

जिस प्रकार कोई जौहरी सधी हुई आँखों से हाथ के क़ीमती हीरे के सारे पहलुओं का निरीक्षण-परीक्षण करता है, उसी प्रकार ध्यानवीर और प्रयोग-वीर मनुष्य जीवन के सारे पहलुओं को प्रत्यक्ष जीवन में अथवा 'scientpfic imagination'— वैज्ञानिक कल्पना में अर्थात ध्यान में देखता है, उनकी कसौटी करता है और उनका मूल्य आँकता है। जीवन के विस्तार और गहराई का उसका दर्शन जितना अधिक होगा उतना ही उसका ध्यान, निरीक्षण/और परीक्षण अचूक होगा। कवि राजचन्द्र की रचनाओं में आरम्भ से ही जीवन के अनेक पहलुओं पर नजर डालने की जौहरी-वृत्ति दिखाई देती है। आगे चलकर उनकी दृष्टि अधिकाधिक एकाग्र बनी हुई मालूम होती है और तब से सार्वत्रिक सिद्धान्त प्रतिपादित करने की ओर उनकी रुचि अधिक दिखाई देती है। मनुष्य को जब समग्र जीवन की कुंजी मिल जाती है तब वह अपने आनन्द में एक ही बात को बार-बार अनेक प्रकार से कहता रहता है। यह प्रभाव भी हम कवि की रचनाओं में देखते हैं। इसीलिए राजचन्द्र का कविपद विशाल अर्थ में सार्थक होता है। कवि का अर्थ है अनुभवी; कवि का अर्थ है विजयी; कवि का अर्थ है क्रान्तदर्शी; कवि का अर्थ है वह व्यक्ति जिसे जीवन के सारे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का हल मिल गया है।

जिन लोगों की दर्शनशास्त्र में अभिरुचि नहीं है, फिलॉसफी के प्रति जिनकी अरुचि है, वे शायद लम्बे समय तक श्रीमद् राजचन्द्र की रचनाओं का आनन्द नहीं ले सकेंगे। परन्तु राजचन्द्र की पारमार्थिकता, जीवन के तत्त्वों को खोजने की एकाग्रता और जीवन के सत्य को सरल बनाने का आग्रह— ये तीन बातें उन्हें आकर्षित किए बिना नहीं रहेंगी।

२

मानव-जीवन का अर्थ है श्रेय और प्रेय के बीच होने वाला संग्राम। सामान्य मनुष्य को जो-जो वस्तुएँ प्रिय लगती हैं, जो-जो वस्तुएँ आकृष्ट करती हैं और इसीलिए जो वस्तुएँ उसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लगती हैं, वे जीवन की दृष्टि से वास्तव में कीमती नहीं होतीं। आज यूरोप और अमेरिका में ऐसे कितने ही लोग हैं, जो विषय-सेवन को और अहंकार की तृप्ति को जीवन की सार्थकता या जीवन का साक्षात्कार (expression of life) मानते हैं। वे ईमानदारी से यह विश्वास करते हैं और कहते हैं कि इसके आगे कुछ है ही नहीं। परन्तु वे समझते नहीं कि जीवन की कृतार्थता के अन्त में उन्हें जो परम शान्ति मिलनी चाहिए, गन्तव्य स्थान पर पहुँचने का जो सन्तोष मिलना चाहिए, वह उन्हें नहीं मिलता।

हमारे देश में जीवन-विषयक कल्पना इन्द्रिय-तृप्ति की अपेक्षा कुछ अधिक है। इन्द्रिय-तृप्ति द्वारा अथवा इन्द्रिय-निग्रह द्वारा आत्मा को पहचानना, चैतन्य का विकास करना और अन्त में इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना यही हमारे देश के समस्त सम्प्रदायों का उद्देश्य है। कुछ लोग इन्द्रियों के साथ समझौता करने की बात सुझाते हैं; कुछ लोग यह मानते हैं कि इन्द्रियों पर हमें विश्वास रखना चाहिए, स्वाभाविक परिस्थितियों में वे स्वयं ही हमें आत्मिक विकास की दिशा में ले जाएँगी। कुछ लोग इन्द्रियों के साथ कामचलाऊ समझौता करने की बात सुझाते हैं, जबकि कुछ आत्मवीर निश्चय के साथ यह कहते हैं कि इन्द्रियों के साथ कोई समझौता किया ही नहीं जा सकता। 'इन्द्रियाँ बिफर कर विकृति उत्पन्न न करें' इतनी सावधानी रखकर इन्द्रियों के साथ सतत जीवन-युद्ध करना ही पुरुषार्थ का मार्ग है। आत्मा और अनात्मा, जड़ और चेतन एक-दूसरे से इतने भिन्न हैं और इतने परस्पर विरोधी हैं कि एक का विकास दूसरे का निश्चित विनाश है। इसलिए किसी प्रकार की दया बताये बिना इन्द्रियों को अंकुश में लाना ही चाहिए। एक भी इन्द्री शिथिल हुई तो आत्मशक्ति उसमें से वैसे ही निकल जाएगी जैसे छेदवाली पखाल में से पानी निकल जाता है।

जीवन की सार्थकता आत्मा को पहचानने में, जीवन का सर्वांगीण विकास साधने में और सर्वत्र आत्मा का ही साम्राज्य स्थापित करने में है। देहधर्म के नाम पर,

जीवन के साक्षात्कार के नाम पर, कला-रसिकता के नाम पर अथवा आत्मदेव की पूजा के नाम पर हम जो भी इन्द्रिय-भोग करते हैं, वह हमें मोक्ष की ओर ले जानेवाला नहीं बल्कि अध:पतन की ओर ले जाने वाला होता है। इसलिए किसी भी कारण से, किसी भी बहाने से, हमें इन्द्रियों के मोह में नहीं फँसना चाहिए। यही समझदारी है; यही उद्धार का एकमात्र मार्ग है। कवि राजचन्द्र का इस सिद्धान्त में दृढ़ विश्वास था । इसीलिए उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन इसी मार्ग में बहा डाला, ऐसा कहा जा सकता है।

आत्म-संयम के साथ अहिंसा— यह भी कवि राजचन्द्र के अचल विश्वास का एक विषय था। अहिंसा का अर्थ कितना व्यापक है, यह गांधी जी ने हमें बताया है। अब यह बात भी हमारी समझ में आती है कि ब्रह्मचर्य में भी अहिंसा ही समाई हुई है। यह अहिंसा कायर का धर्म नहीं परन्तु शूर-वीर का धर्म है, यह समझने की बड़ी आवश्यकता है। प्रत्येक फिलॉसफी के दो परस्पर विरोधी उपयोग होते हैं। 'यह दुनिया फानी है, जगत नश्वर है, हमारे साथ कुछ भी आने वाला नहीं है'— यह सनातन सत्य विराट से विराट अनुभव पर रचा हुआ है। इस सत्य का आधार लेकर एक मनुष्य कह सकता है कि 'तब तो इस नश्वर जगत में स्वराज्य और स्वातंत्र्य सब व्यर्थ है। देश और देश की दौलत, सगे-सम्बन्धी और उनका सुख-सन्तोष सभी कुछ फानी है। जो जानेवाला है और इसलिए जिसकी कीमत कौडी की भी नहीं है, उसके लिए लडने में, आध्यात्मिक साधना के लिए उपयोगी शरीर को खतरे में डालने में और इस देश की दौलत पर लोभ की नजर डालकर उसे अपने अधिकार में रखने वाले पामर लोगों को दुखी करने में क्या लाभ है ? दूसरा मनुष्य दुनिया के फानी होने की दलील को ही सामने रखकर मन में सोचेगा : 'धन-दौलत और जमीन-जायदाद तो क्या, हमारा यह प्यारा शरीर भी फानी है। तब इज्जत के लिए, ऐहिक मोक्ष के लिए लड़ने का, शरीर का बलिदान करने का, परम अहिंसा-धर्म हम क्यों चूकें ? शरीर को हम बचाएँगे भी तो आखिर वह कहाँ तक टिकेगा ? बाल-बच्चों के लिए धन-दौलत रखकर हम उनका कौन-सा कल्याण करेंगे ? गरीब समझें या न समझें, उनके अज्ञान का या उनकी विषम स्थिति का लाभ उठाने में स्पष्ट और भयानक हिंसा है। इसकी बजाय गरीबों को सुखी करने के लिए, उनके हृदय की जलन को दूर करके उन्हें आत्मिक सन्तोष देने के लिए हम श्रम का जीवन क्यों न पसन्द करें ? और देश का स्वातंत्र्य— सामाजिक मोक्ष की पहली मंजिल— सिद्ध करने मे यदि इस फानी शरीर का उपयोग हो, तो अनित्य द्रव्य से नित्य वस्तु प्राप्त करने का परम लाभ होगा। यह लाभ अहिंसा-धर्म का उत्तम फल है।

'इस फल की सिद्धि के लिए हम श्रीमद् राजचन्द्र की निष्ठा से सतत प्रयत्न करें।'

तीसरा खण्ड

आस्तिक्य

३९. ईश्वर की कृपा
(एक प्रवचन)

'दीनन दुखहरन देव, सन्तन हितकारी।'

ईश्वर के नाम अनन्त हैं; परन्तु ईश्वर को यदि उनमें सबसे प्रिय कोई नाम हो, तो वह 'दीनन दुखहरन' ही होगा, 'सन्तन हितकारी' ही होगा। दीन जनों का दु:ख दूर करने में ही परमात्मा को आनन्द होता है। जिस प्रकार माता को अपने बालकों की सेवा में सारा समय बिताने में, उनकी सेवा में स्वयं को भूल जाने में ही आनन्द आता है, उसी प्रकार परमात्मा सदा सन्तों के हित में लगे रहने में ही प्रसन्नता अनुभव करता होगा।

परमात्मा के इस स्वभाव को किसने देखा ? एक अन्धे साधु ने। दुनिया के प्रति जो अन्धा हो वही न ऐसी दिव्य वस्तु को देख सकता है। दुनियावी दृष्टि खोये बिना ऐसी दिव्य दृष्टि आ ही नहीं सकती। व्यावहारिक दृष्टि खोये,बिना पारमार्थिक दृष्टि खिल ही नहीं सकती। दिन में एक सूर्य उगता है। उसके आधार पर हमारा सम्पूर्ण व्यवहार चलता है। परन्तु उसी कारण से असंख्य तारे और नक्षत्र हमारे लिए लुप्त हो जाते हैं। व्यवहार का यह सूर्य डूबता है तभी अनेक तारे और अनेक सूर्य दिखाई देने लगते हैं— उसी समय हमें सृष्टि के अनन्त विस्तार का थोड़ा भान होता है और उसके रहस्य का कुछ ज्ञान होता है।

व्यवहार कहता है : 'स्वार्थ में और उसके लिए चलाये जाने वाले कलह में ही जीवन की सफलता है। जिसने स्वार्थ को छोड़ दिया उसे डूबा हुआ ही समझो, रसातल को गया हुआ ही समझो।' अनुभव का प्रकाश भी इसका साक्षी बनकर कहता है : 'हाँ, ऐसा ही है। हमेशा ऐसा ही होता देखा गया है। इस सफल व्यवहार तथा उसके ठोस अनुभव के बारे में जो अन्धा बन गया, वही यह कह सकता है कि ईश्वर परोपकारी सन्तों का पक्षपाती है, दीन जन ही उसे प्रिय हैं। ईश्वर की कृपा उन्हीं के लिए है।'

परन्तु ईश्वर की यह कृपा किसी को मुफ्त नहीं मिलती। ईश्वर कोई खैरात बाँटने वाला दानवीर सेठ नहीं है। याचक की कठिनाई दूर करके उसे भिखारी बनाना, उसकी आत्मा में ग्लानि पैदा करना— ईश्वर का ढंग नहीं है। ईश्वर तो कर्माध्यक्ष है। थोडा भी सत्कर्म यदि मनुष्य करे, तो ईश्वर उसे फल देता है। तपश्चर्या की थोडी-बहुत परीक्षा किए बिना वह पसीजता ही नहीं। संकट के समय भी वह शाक-सब्जी का एक पत्ता ही माँगने के लिए हमारे द्वार पर खड़ा रहता है। और कर्म का नियम ऐसा है कि थोडा भी शुभ कर्म करने से उसका विशाल फल मिलता है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

हम सदा पाप को मानते आये हैं, पाप का विस्तार ही देखना सीखे हैं; परन्तु सच पूछा जाए तो जो पाप असत्य-रूप है— मायारूप है, उसकी शक्ति कितनी हो सकती है ? पुण्य ही बलवान है। पुण्य ही वीर्यवान है। प्रकाश की एक किरण जैसे घने अन्धकार को चीर देती है वैसे पुण्य— शुभ कर्म— कर्म-राशि को चीर कर सात्त्विकता का उदय कराता है।

यही बात कवि ने कही है कि ईश्वर 'सन्तन हितकारी है' दीनन दु:ख-हरन' है। जो मनुष्य दुनिया की दृष्टि से अन्धा है, वही इसे समझ सकता है; जो मनुष्य दुनिया की दृष्टि से अन्धा है, वही दुनिया को रास्ता बता सकता है।

फरवरी, १९२६

४०. आस्तिक कौन है ?

जो कहता है कि 'है' वह आस्तिक है। जो कहता है कि 'नहीं है' वह नास्तिव है। आस्तक और नास्तिक की यही सरल व्याख्या है। लेकिन किस चीज के अस्तित्व या नास्तित्व का प्रश्न है, यह हमें निश्चित करना होगा। धर्मशास्त्र के शब्दार्थ पर जो विश्वास रखता है वह आस्तिक है। 'धर्मशास्त्र के वचन मनुष्य के नहीं हैं किन्तु ईश्वर के कंठ से निकले हैं, ऐसा जो कबूल करता है वह आस्तिक है'— इस तरह की व्याख्या करने के दिन अब नहीं रहे हैं।

'ईश्वर के अस्तित्व को जो मानता है वह आस्तिक है। ईश्वर नहीं है ऐसी जिसकी श्रद्धा है वह नास्तिक है'— ऐसी व्याख्या आजकल की जाती है।

श्रद्धा से ही ईश्वर का अस्तित्व माना जाता है। ईश्वर नहीं है ऐसा विश्वास-पूर्वक कहने के लिए भी एक उलटी किन्तु जबरदस्त श्रद्धा चाहिए।

जिसे किसी ने देखा नहीं, जिसके कानून का आज तक पता भी नहीं चला है, जिसकी

इच्छा के बारे में कोई भी दो भक्त एकमत नहीं हैं, ऐसे 'स्वर्गीय ईश्वर' को माना तो क्या और नहीं माना तो भी क्या ? स्वर्गीय ईश्वर के और उसके राज्य के इतिहास-भूगोल हर धर्म के पुराणों में पाए जाते हैं, लेकिन उनमें भी एकवाक्यता नहीं है।

दूसरा एक ईश्वर है, जिसे अन्तर्यामी कहते हैं, आत्माराम कहते हैं, हृदयस्थ नारायण कहते हैं, जिसका अनुभव, जिसका साक्षात्कार हरएक आदमी को अखण्ड रूप में होता ही रहता है। आस्तिक भी उसे पहचानता है और नास्तिक भी उसी के बल पर अपनी खोज चलाता है।

इस अन्तर्यामी की प्रेरणा को जो प्रमाण मानता है वह आस्तिक है। उस प्रेरणा को जो ठुकराता है वही नास्तिक है, द्रोही है।

इस दुनिया में एक परम मंगल शक्ति अपना काम कर रही है और जहाँ तक उसकी सफलता है वहाँ तक ही जीवन की सफलता है— ऐसी जिसकी श्रद्धा है वही आस्तिक है।

मार्च, १९८१

४१. ईश्वर की आस्तिकता

ईश्वर के अस्तित्व के बारे में बहुत कुछ लिखा जाता है और हर एक लेखक मानता है कि उसने ईश्वर का अस्तित्व निर्विवाद सिद्ध कर दिया है। यह हुआ ईश्वर के अस्तित्व के बारे में। लेकिन ईश्वर के आस्तिक्य के बारे में किसी ने विचार ही नहीं किया है। 'आस्तिक' और 'नास्तिक' दोनों विशेषण मनुष्य को ही लगाये जाते हैं। बोलचाल की भाषा में आस्तिक वही है जो ईश्वर को मानता है। ईश्वर के बारे में जिसे विश्वास नहीं है वह नास्तिक है। ऐसी हालत में ईश्वर को आस्तिक कहना लोगों को अचम्भे में डालना है। फिर भी ईश्वर का आस्तिक्य एक सच्ची चीज है, और उसी में मनुष्य को सबसे बड़ा आश्वासन मिल सकता है।

भक्तों ने आज तक ईश्वर को किसी बादशाह के जैसा माना है। उन्होंने उसे सर्व-समर्थ बताया है। कर्तुम्, अकर्तुम् और अन्यथाकर्तुम्, शक्ति तो उसी की है। वह जिस वक्त जैसा चाहता है वैसा हो जाता है; उसकी इच्छा को रोकने वाली कोई चीज है ही नहीं। भक्तों के मुँह से ऐसे-ऐसे उत्साह-वचन हम हमेशा सुनते रहते हैं। वे भूल जाते हैं कि भगवान सर्व-समर्थ होते हुए भी अपने सामर्थ्य को कदम-कदम पर काम में नहीं लाना चाहता। वह चाहता है कि मनुष्य अपना सामर्थ्य

स्वयं बढ़ाए। वीटो (veto) और सर्टिफिकेशन (certification)की सत्ता हमेशा हाथ में होते हुए भी उसे काम में न लाने में ही ईश्वर का आनन्द है। वह सर्व-समर्थ तो है, लेकिन सर्वंसह रहने में ही वह अपने ऐश्वर्य का अनुभव करता है। भगवान सब कुछ सहन करता है और धैर्य के साथ वह अनन्त काल तक राह देखता है। अनन्त-वीर्य होते हुए भी, बल्कि अनन्त-वीर्य होने के कारण ही, वह अनन्त धैर्य धारण करता है और मनुष्य को बहुत कुछ स्वतंत्र रखकर उसे उसकी अपनी सहूलियत के अनुसार अपने पास आने देता है।

जब कोई साहूकार किसी सज्जन को कर्ज देकर देखता है कि उसका पैसा निश्चित मुद्दत में वापस आने वाला नहीं है तब वह कहता है : "मैं जानता हूँ कि मेरी रकम खतरे में नहीं है, लेकिन मुद्दत जरूर खतरे में है और तिजारत में मूल धन की अपेक्षा मुद्दत का मूल्य अधिक होता है। जो पैसा समय पर न मिला उसे गया ही समझना चाहिए।" ईश्वर के यहाँ मुद्दत का सवाल ही नहीं होता उसके बहीखाते का हिसाब अनन्त काल का ही होता है। और हर एक मनुष्य के बारे में ईश्वर का यह दृढ़ विश्वास होता है कि मूल धन को कभी भी खतरा नहीं है। सचमुच मनुष्य अपने ऊपर विश्वास रख सकता है, उससे अधिक विश्वास उस पर ईश्वर का होता है।

इस चीज को समझने के लिए मनुष्य-जीवन की विचित्रता का जरा ख्याल करना चाहिए।

मनुष्य का अर्थ है 'देहधारी आत्मा'। विषयों की ओर दौड़ने वाला शरीर और ईश्वर की ओर निरन्तर खिंचने वाली आत्मा— इन दोनों का बेमेल पारिवारिक जीवन ही मनुष्य-जीवन है। इस जीवन में शरीर और आत्मा के बीच, वासना और भक्ति के बीच, प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच सनातन काल से गजग्राह* चलता ही आया है। इस गजग्राह में दुर्बल मनुष्य अकसर हार कर निराश हो जाता है। वह मानने लगता है : "मेरे लिए उन्नति का मार्ग है ही नहीं। मैं एक बार गिरा सो गिरा ही रहूँगा। अब मेरे लिए चढ़ने की बात कहाँ है ? और उसका प्रयत्न भी मैं क्यों करूँ ? उसमें क्या लाभ है ? अब तो इन्द्रिय-सुख ही नजदीक दीख पड़ता है। उसी को मैं क्यों न स्वीकार करूँ ?"

इस तरह जब मनुष्य अपने ऊपर का विश्वास खो बैठता है, उसकी श्रद्धा का

---

*गजेन्द्र मोक्ष की बात सब जानते ही हैं। गज का पाँव पकड़ कर उसे गहरे पानी में खींचता था ग्राह यानी मगर। गज जमीन की ओर खींचता था। इस तरह गज और ग्राह के बीच ' Tug-of-war' चली । इस पर से खींचातानी के लिए 'गजग्राह' जैसे सुन्दर पौराणिक शब्द का यहाँ प्रयोग किया गया है।

दिवाला निकलता है, तब भी भगवान उसे अपनाता है। भगवान कभी किसी से निराश नहीं होता। मनुष्य की आत्मशक्ति पर विश्वास रखकर भगवान कहता है : "मैं अब भी राह देखूँगा। अब भी इस आदमी में किसी-न-किसी दिन उपरति होगी ही। कितनी भी गहरी खाई में वह क्यों न पड़ा हो, वहाँ से वह किसी-न-किसी दिन बाहर निकल ही आएगा और उन्नति की पहाड़ी की चोटी तक पहुँचने की कोशिश करेगा ही। मेरे पास अनन्त धैर्य है। मैं राह देखूँगा— इसके अनेक जन्मों तक राह देखूँगा। आज यह मुझे भूल गया है। किन्तु इसे मेरा स्मरण अवश्य होगा। आज जिस रास्ते वह जा रहा है उसमें उसे आनन्द आता है सही। लेकिन वह मजा हमेशा के लिए टिकेगा नहीं। उससे वह ऊब जाएगा। अन्त में मेरी ही शरण में आयेगा। इस समय वह सोता है। लेकिन मैं सोया नहीं हूँ। मैं जागता हूँ। इस समय उसके मन में मेरे प्रति कोई भक्तिभाव नहीं है। लेकिन मैं उसे चाहता हूँ। मेरे मन में उसके प्रति भक्ति है। (हाँ, भगवान का वात्सल्य अन्त में एक प्रकार की भक्ति ही है।) वह मनुष्य अपने ऊपर जितना विश्वास रखता है उससे अधिक विश्वास उसके बारे में मेरे मन में है। और यही मेरा विश्वास उसका उद्धार करेगा। अपनी हर एक वासना द्वारा और हर एक कृति द्वारा आज भले ही वह मुझे परास्त करता हो, किन्तु मैं निराश नहीं होऊँगा। आखिरकार वह है तो मेरा ही। वह किसी भी क्षण मुझसे दूर जाने वाला नहीं है और मैं कभी भी उसे खोने वाला नहीं हूँ।"

ईश्वर को यह वृत्ति, भगवान की यह निष्ठा ही उसकी आस्तिकता है। ईश्वर आस्तिक है, इसी कारण यह दुनिया टिकी हुई है और इसी कारण दुनिया के सामने उन्नति का साधना-क्रम मौजूद है। अगर सच पूछा जाए तो आस्तिकता ही ईश्वर है।

जनवरी, १९४१

४२. नास्तिकता

अमुक बात पर मनुष्य की श्रद्धा न जमे तो वह बेचारा क्या करे ? श्रद्धा न होने पर भी वह कैसे कहे कि-मेरी श्रद्धा है ? ऐसा करना क्या असत्य के साथ-साथ कायरतापूर्ण दम्भ भी नहीं होगा ? आप जिसे नास्तिक कहते हैं, वह नम्र होकर आप से कहता है :

'जिस बात पर आपकी श्रद्धा जमती है, वह मेरे हृदय को जरा भी स्पर्श नहीं करती। इससे मैं प्रसन्न नहीं हूँ। मुझे इसका दुःख है। आपका समाधान और सन्तोष मुझे मिला होता, तो मुझे खुशी होती। मेरी परेशानी को समझ कर आप मुझ पर

तरस खाइए। आप प्रार्थना कीजिए कि मुझमें श्रद्धा का उदय हो । आप मुझ पर चिढ़ते क्यों हैं ?

'आपका तो यह विश्वास है न कि मुझमें भी अमर आत्मा है ? तो फिर मेरे बारे में आप निराश कैसे हो सकते हैं ? आत्मा यदि मेरे भीतर हो तो उसका उदय होना ही चाहिए। मुझमें यदि अज्ञान हो, तो किसी-न-किसी समय वह दूर होना ही चाहिए।

ज्ञान की शक्ति में तो आपका विश्वास है न ? सर्वकष— सर्वशक्तिमान— ज्ञान यदि आप मेरे अज्ञान का नाश न कर सके, तो वह ज्ञान का पराभव ही माना जायेगा। यदि आप मेरी नास्तिकता पर क्रुद्ध हों, मुझसे द्वेष करें और मुझे त्याज्य मानें, तब तो यही कहा जाएगा कि सनातन आत्मा और परम-मंगल ज्ञान के विषय में आप निराश हो चुके हैं। फिर आप आस्तिक कैसे माने जाएँगे ? उस स्थिति में तो आप भी नास्तिक ही कहे जाएँगे न ?'

नास्तिकता और आस्तिकता ऐसे शब्द हैं, जिनका हम चलते-फिरते, बिना सोचे-विचारे प्रयोग करते रहते हैं। सच पूछा जाए तो ये तीन शब्द इतने सरल नहीं हैं। इन दो शब्दों का मूल इस प्रकार है : 'है' ऐसा जो मानता है वह आस्तिक; नहीं है' ऐसा मानने वाला नास्तिक । दुनिया में बहुतेरी वस्तुएँ हैं और उनसे भी अधिक संख्या की वस्तुएँ नहीं हैं। भूत नहीं हैं ऐसा यदि मैं मानूँ, तो भूतों के बारे में मैं नास्तिक हूँ। हिंसा से किसी भी प्रकार मनुष्य-जाति का कल्याण नहीं होगा ऐसा मेरा दृढ विश्वास हो, तो हिंसा के बारे मे मैं नास्तिक हूँ। विदेशी सरकार के शिक्षण से ज्ञान का भार कितना ही क्यों न बढ़ता हो, परन्तु चरित्र-बल अथवा देश प्रेम को दृढ़ बनाने मे वह जरा भी सहायक नहीं होता, उलटे इसमें वह शिक्षण विघ्नरूप ही सिद्ध होता है— ऐसा मेरा दृढ मत हो, तो सरकारी शिक्षण के बारे में मैं नास्तिक हूँ। मुझसे जिनका मत भिन्न है वे लोग जरूर कह सकते हैं कि मेरे विचारों में दोष है, विकृति है। उनकी आस्तिकता के बारे में मेरी राय भी ऐसी ही हो सकती है, और होनी चाहिए।

आस्तिकता और नास्तिकता इन दो शब्दों का ऐसा व्यापक अर्थ करने के बाद नास्तिक कहने से न तो किसी को गाली दी जाती है और न आस्तिक कहने से किसी की प्रशंसा की जाती है। दोनों शब्द तटस्थ हैं।

परन्तु भाषा में नास्तिक शब्द का अर्थ इतना व्यापक नहीं है। प्राचीन लोगों ने इसका अर्थ ऐसा किया था : वेदों में विश्वास न रखने वाला मनुष्य नास्तिक है। 'नास्तिको वेदनिन्दकः।' उस काल में नास्तिक शब्द की कीमत म्लेच्छ, काफिर, हीदन शब्दों जैसी ही थी। नास्तिक शब्द का अधिक शास्त्र-शुद्ध तथा व्यापक अर्थ है— 'परलोक के विषय में अश्रद्धा रखने वाला।'

न साम्परायः - प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तम् वित्तमोहेन मूढ़म्।
'अयं लोको नास्ति पर' इति मानीः
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे।।

साम्पराय अर्थात परलोक नहीं है; परम-मंगल तत्त्व नहीं है; इन्द्रियातीत वस्तु को जानने का साधन नहीं है; भोगैश्वर्य से परे सन्तोष प्राप्त करने का अन्य कोई तत्त्व नहीं है— ऐसा जिस मनुष्य का विश्वास है वह नास्तिक है।

सामान्य व्यवहार में उसी मनुष्य को नास्तिक कहा जाता है, जो खुले आम यह कहने की हिम्मत करता है कि ईश्वर नहीं है और जो हिम्मत के साथ समाज द्वारा मान्य की हुई रूढ़ियों को तोड़ता है। जो लोग इस व्याख्या में नहीं आते, वे सब आस्तिक कहलाते हैं। इस मान्यता के अनुसार जितने लोग आस्तिक माने जाते हैं वे सब यदि वास्तव में ही आस्तिक होते, तो यह कहने में जरा भी अतिश्योक्ति न होती कि आज सत्ययुग है। जैसा कि समर्थ रामदास स्वामी ने कहा है :

देवा वेगलें कांहीं नाहीं । ऐसेंचि बोलतीं सर्वही।
परन्तु त्यांची निष्ठा कांही तैसींच नसे।*

आज कुछ लोगों के लिए धर्मनिष्ठा और ईश्वर-निष्ठा राजनिष्ठा जैसी ही औपचारिक बन गई है। 'ईश्वर नहीं है' ऐसा कहकर समाज में बदनाम होने और अपने चित्त को अस्वस्थ बनाने के बजाय 'ईश्वर है' ऐसा मानकर ही चलो न ! इसमें हमारा क्या बिगड़ता है ?— यही वृत्ति आज हर जगह दिखाई देती है। 'ईश्वर है' ऐसा जो मनुष्य मानता है, उसके जीवन में अमुक परिवर्तन अवश्य ही दिखाई देने चाहिए। अमुक गाँव में प्लेग है, अमुक कमरे में साँप है, बैंक मे मेरे इतने रुपये हैं, अथवा कोर्ट में न्यायाधीश बैठे हैं— इस मान्यता के साथ ही इन स्थानों में हमारे आचरण में जैसा फर्क पड़ता है, वैसा ही फर्क 'ईश्वर है' यह विश्वास रखने से इस पृथ्वी के हमारे जीवन में पड़े, तो ही हमारी यह श्रद्धा, निष्ठा या आस्तिकता सच्ची कही जाएगी।

बहुत बार 'ईश्वर नहीं है' ऐसा कहने वाले प्रामाणिक और नम्र नास्तिक में सामान्य आस्तिकों की अपेक्षा अधिक निष्ठा होती है। ऐसा कट्टर किन्तु शुद्ध नास्तिक जब कहता है कि ईश्वर नहीं है तब उसका अर्थ इतना ही होता है कि 'मैंने ईश्वर की खोज की है; उसका स्वरूप अगम्य है, उसकी माया अगाध है, उसका आकलम करने में मानवीय शक्ति समर्थ नहीं है; मैं तो उसके विषय में कुछ नहीं कह सकता। 'ईश्वर की खोज करके जो मनुष्य इतना अनुभव प्राप्त कर सका, उसे आस्तिक

---

*अर्थ — सभी लोग यह कहते हैं कि ईश्वर से अलग कुछ नहीं है। परन्तु उनकी निष्ठा भी ऐसी ही होती है, यह नहीं कहा जा सकता।

कहने में क्या आपत्ति हो सकती है ? 'यस्यामतं तस्य मतम्।'

परन्तु ईश्वर है या नहीं, उसका स्वरूप कैसा है, इस बात की दार्शनिक चर्चा में उतरने की जरूरत ही क्या है ? हृदय में निरन्तर स्फुरित होने वाले आत्मतत्त्व पर जिस मनुष्य का विश्वास है वह आस्तिक है। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में आत्माराम का वास है, प्रत्येक के हृदय में कम-ज्यादा सज्जनता रहती ही है, पापी से पापी मनुष्य भी हृदय की गहराई में पुण्य और पवित्रता की ही रटन लगाये रहता है— इस प्रकार की श्रद्धा ही आस्तिकता है। दुनिया चाहे जितनी पीड़ित रहती हो, भले ही कदम-कदम पर साधु-सन्तों की हार होती हो, भले ही दुर्जन उन्मत्त होकर अधिकार और सत्ता भोगते हों, फिर भी अन्त में धर्म की ही विजय होगी, प्रत्येक हृदय में सज्जनता का ही उदय होने वाला है, ऐसी श्रद्धा ही आस्तिकता है। पवित्रता से प्रेम करना, हृदय की शुद्धता का आदर करना और सदाचार से प्राप्त होने वाली स्थिति में सन्तोष मानना प्रत्येक हृदय का धर्म है; इस धर्म को चाहे जितने समय तक ग्रहण लग जाए, फिर भी वह खग्रास कभी नहीं होगा और इस धर्म का सम्पूर्ण अस्त भी कभी नहीं होगा— इस तरह के दृढ विश्वास का ही नाम आस्तिकता है। माँ के हाथ में जिस प्रकार बालक अपने को सुरक्षित मानता है उसी प्रकार सत्य की गोद में हम सदा सुरक्षित हैं, ऐसी श्रद्धा ही आस्तिकता है। सत्य का द्रोह किसी से हो ही नहीं सकता, सत्य पंगु नहीं है— दुर्बल नहीं है, सत्य की सदा विजय ही होती है, सत्य किसी से अपनी रक्षा की आशा नहीं रखता, अपने अमोघ सामर्थ्य के कारण सत्य के पास अखूट धीरज है और इस धीरज में ही उसकी विजय है— इस प्रकार सत्य के प्रति मनुष्य की दृढ़भक्ति परम आस्तिकता है।

भेड़-बकरियों को मारकर खा जाने वाले बाघ में भूतदया सुप्त रूप में रहती है, ऐसी श्रद्धा आस्तिकता है। क्षणिक या हजार युग तक टिकने वाले स्वार्थ के वश में होने वाली मानव-जाति में भी मुख्य प्रेरक तत्व तो प्रेम ही है और अन्त मे इसी प्रेम का साम्राज्य विश्व में चारों तरफ स्थापित होने वाला है— इस तरह की सूक्ष्म रूप में चमकती रहने वाली तथा कड़वे-से-कड़वे अनुभवों की परम्परा के बाद भी बुझ न जाने वाली अद्‌भुत श्रद्धा ही मुख्य आस्तिकता है। यह श्रद्धा यदि आप में है तो फिर सगुण अथवा निर्गुण ईश्वर में विश्वास रखने या न रखने से कोई फर्क नहीं पड़ता। आप ईश्वर की विभूति एक मानें या अनेक मानें, शास्त्रों की मूर्तिपूजा करें अथवा उन्हें जला डालें, इसका अधिक महत्त्व नहीं।

सच पूछा जाए तो आस्तिकता और नास्तिकता जैसा भेद करना व्यर्थ है। प्रत्येक मानव के हृदय में आस्तिकता रहती ही है। महत्त्व का प्रश्न यही है कि वह किस हद तक सुप्त है और किस हद तक जाग्रत है, व्यापक है, तीव्र है। शिक्षक जब किसी विद्यार्थी से कहता है कि यह चीज तुम कभी नहीं सीख सकोगे, तब समझना

चाहिए कि शिक्षक नास्तिक हो गया है। भय, लालच या बाहरी रस चखे बिना लड़के-लड़कियाँ शुद्ध ज्ञान-पिपासा से जरा भी पढ़ने वाले नहीं हैं, ऐसा शिक्षक और माता-पिता मानें तो भी वे नास्तिक ही हैं। हम सैनिकों की प्रशंसा न करें, छाती पर लगाने के लिए उन्हें रंग-बिरंगी पट्टियाँ न दें, तो उनमें शौर्य प्रकट नहीं होगा, ऐसा मानने वाला सेनापति भी नास्तिक है। सेनापति बड़ा सेनापति बनने के लिए युद्ध में लड़ता होगा, परंतु सैनिक देश के खातिर, स्वधर्म के पालन के लिए लड़ते हैं, यह सेनापति के ध्यान में नहीं आता। बाहरी दम्भ और आचार का आडम्बर दिखाये बिना लोगों पर मेरी धार्मिकता का प्रभाव नहीं पड़ेगा। ऐसा मानने वाला धर्मोपदेशक धर्म पर जीने वाला होते हुए भी नास्तिक है। अमुक लोगों में कभी क्षात्र तेज पैदा ही नहीं होगा, अमुक प्रजा अथवा वर्ग सदा गुलामी में ही रहने के लिए पैदा हुआ है, ऐसी मूढ़ मान्यता भी नास्तिकता का ही एक रूप है।

यह मायावी नास्तिकता कितने ही रूप धारण करती है ! बीमार आदमी अपथ्य को जानते हुए भी उसका सेवन करके जब मन को समझाता है कि इतने से कोई नुकसान नहीं होगा, तब वह नास्तिकता को ही बढ़ाता है। गुप्त रखा हुआ पाप मुझे या दूसरों को कष्ट नहीं देगा, ऐसा मानने वाला प्रतिष्ठित व्यक्ति नास्तिक ही है। सद्‌गुणों और योग्यता को प्रधानता देनेवाला कोई कद्रदान न मिला तो वे सद्‌गुण व्यर्थ जाते हैं, ऐसा मानने वाला कृपण भी नास्तिकता का ही पुजारी है। और आज सारी दुनिया में सर्वत्र फैली हुई नास्तिकता तो यह मानने की वृत्ति है कि 'धूर्तता, लुच्चाई, कपट और दुष्टता की ही विजय होती है।' दुनिया की दीन और सहनशील प्रजाएँ अनन्त काल तक अन्याय सहती ही रहेंगी, वे कभी भी अन्याय का विरोध नहीं करेंगी; ईश्वर के जो अवतार अब तक हो गए वे हो गए। अब ईश्वर मर गया है या कम- से-कम कुम्भकर्ण की निद्रा में तो पड़ा ही है, अब उससे डरने का कोई कारण नहीं है— इस तरह की जो व्यावहारिक मान्यता सत्ताधारियों में घर कर बैठी है, वह भी नास्तिकता का ही नया अवतार है। सत्ययुग का अपने आप उदय होगा, इसके लिए हमें कोई प्रयत्न करने की जरूरत नहीं, ऐसी आशा रखना भी एक अलग प्रकार की नास्तिकता ही है यह भूलना नहीं चाहिए; क्योंकि वह मूढ़ विश्वास है।

ऐसी सूक्ष्म अर्थात शुद्ध दृष्टि से देखने पर इस बात की थोड़ी कल्पना होगी कि मनुष्य के हृदय में नास्तिकता कितनी व्यापक हो गई है। परन्तु इस बात की पूरी-पूरी कल्पना हो जाने के बाद भी 'ब्रिटिश साम्राज्य से अधिक बड़ी इस नास्तिकता' का आखिर अन्त होगा ही, ऐसा विश्वास यदि हममें न हो तो हम आस्तिकता की सेना के सिपाही नहीं बन सकते। नास्तिकता ईंधन के ढेर के समान है और आस्तिकता आग की चिनगारी के समान है। ईंधन गीला होगा तभी तक वह टिकेगा। मानव-जाति की लापरवाही नास्तिकता का गीलापन है। उसके मिटने पर ईंधन की होली

जरूर जलेगी। एक जलने वाली लकड़ी दूसरी को जलाती है और इस प्रकार अपने भीतर से ही अग्नि को भोजन देकर स्वयं भस्मसात् करती है।

श्रद्धा और धैर्य अग्नि में डाला जाने वाला घी है।

२३-१०-'२७

४३. हमारे ईश्वर का स्वरूप

''ईश्वर शताब्दियों से हमें कष्ट देता आ रहा है, अब उसे पेन्शन दे दें तो कैसा रहे ? अब हम विज्ञान और इतिहास की सहायता से अपने जीवन का अच्छी तरह विकास कर सकेंगे। मनुष्य-जाति के बाल्यकाल में ईश्वर रूपी 'चालन गाड़ी' की जरूरत थी। इस रूप में ईश्वर ने मनुष्य-जाति की बहुत बड़ी सेवा की है। इस सेवा के लिए हम सदा उसके कृतज्ञ रहेंगे। परन्तु अब हम अपना व्यवहार अपने ही हाथ में ले लें तो अच्छा होगा।

''ईश्वर के बारे में एक और कठिनाई है। ईश्वर स्वतंत्र नहीं है. शास्त्रकार, धर्म-गुरु, उपदेशक और हर प्रकार का झूठ चलानेवाले चालाक लोग ईश्वर पर अपना अधिकार करके बैठ गए हैं। इसलिए ईश्वर का उपयोग आम जनता के लिए न होकर प्राय: उन्हीं लोगों के लिए होता है, जिनका प्राचीन काल को टिकाये रखने में स्वार्थ है। जिस तरह गुलाब के साथ उसके काँटे आये बिना नहीं रहते, जिस तरह अमरूद से उसके बीजों को अलग करना कठिन है, उसी तरह ईश्वर के साथ उसके नाम पर रचे गए शास्त्र, उसके नाम पर पेट भरने वाले वाले साधू और फकीर, उस पर एकाधिकार स्थापित करके बैठे हुए पंडित, मुनि, पादरी और मुल्ला, उसके नशे से जड़ बने हुए संन्यासी और भक्त तथा उसकी पूँजी हड़प कर जाने वाले मन्दिर और मठ— सभी आ जाते हैं। जिस प्रकार यज्ञ में तक्षक की बलि चढ़ाने के लिए उसके साथी इन्द्र की भी बलि चढ़ानी ही पड़ती है, उसी प्रकार मानव-जाति में अज्ञान, अंधविश्वास, संकुचितता, अबुद्धि और झगड़े फैलाने वाले इस समग्र चंडाल चक्र का नाश करने के लिए यदि ईश्वर की बलि चढ़ानी पड़े तो जरूर चढ़ा देनी चाहिए।

''ईश्वर है या नहीं, इस सैद्धान्तिक चर्चा में भी हम पड़ना नहीं चाहते। यह विषय उतना ही नीरस है जितनी धर्मशास्त्रों की चर्चा । हम तो इसी बात का विचार करेंगे कि ईश्वर उपयोगी प्राणी है या नहीं। हमें यह प्रतीति हो गई है कि अब ईश्वर का कोई उपयोग नहीं रह गया है। अत: ईश्वर को अब हम अपने जीवन में स्थान देने के लिए तैयार नहीं हैं। प्राचीन काल के एक नास्तिक ने कहा था : ईश्वर न

हो तो भी समाज को चलाने के लिए हमें काल्पनिक ईश्वर की योजना करनी चाहिए। वह सबसे सस्ता पुलिस है। इसलिए सत्य की दृष्टि से ईश्वर नहीं है, यह सिद्ध होने पर भी उपयोग की दृष्टि से हमें ईश्वर को खड़ा कर लेना चाहिए।' लेकिन आज तो हमें इसके ठीक विपरीत यह लगता है कि ईश्वर के होने न होने के प्रश्न को उठाया ही न जाए; और यदि ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध हो जाए तो भी उसका इनकार करने में ही हमारा कल्याण है। मानव-जीवन के क्षेत्र से अब ईश्वर को बाहर निकाल देना चाहिए। आज वह प्रजा का पुलिस नहीं है, परन्तु सामाजिक असमानता, लोगों की अज्ञानता और बुद्धिनाशक जड़ता पर ही जीने वाले विभिन्न वर्गों का एकमात्र आश्रय बन गया है। ऐसे तक्षकों के साथ इस इन्द्र की भी बलि चढ़ानी ही चाहिए।''

ऊपर मैंने आज के जमाने को नए-नए विचार देने वाले कुछ विद्वानों के मतों का सार संक्षेप में प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार रामायणी प्रजा के बीच देवी सीता की शुद्धि बार-बार चर्चा का विषय बनती रहती थी, उसी प्रकार बेचारे ईश्वर का अस्तित्व आज बार-बार खतरे में पड़ा जाता है। एक यह कठिनाई तो है ही कि ईश्वर का अस्तित्व आज बार-बार खतरे में पड़ जाता है। एक यह कठिनाई तो है ही कि ईश्वर दिखई नहीं देता, वह हो भी तो कभी घबराता या अकुलाता नहीं। लेकिन इतने ही कारण से ईश्वर खतरे में नहीं पड़ सकता था। जो लोग ईश्वर को जानने का दावा करते हैं, जिन्होंने ईश्वर पर अपना अधिकार जमा लिया है, वे ईश्वर के बारे में जो साक्षी देते हैं, ईश्वर के बारे में जो कल्पनाएँ हमारे सामने रखते हैं, ईश्वर का जो जीवन-चरित्र या रेखाचित्र प्रस्तुत करते हैं, वे सब इतने बेहूदे हैं कि उनके आधार पर ईश्वर को स्वीकार करने में भारी आपत्ति खड़ी होती है। ऐसे लोगों ने ही ईश्वर के अस्तित्व को खतरे में डाल दिया है। चेस्टरटन कहता है कि 'कैथोलिक धर्म के निन्दकों के ग्रन्थ पढ़-पढ़ कर ही कैथोलिक धर्म पर मेरी श्रद्धा जमी है।' इसी प्रकार ईश्वर का इनकार करने वाले 'पारमार्थिक' लोग यह कहते हैं कि ईश्वर का पक्ष लेने वाले साहित्य को पढ़ कर ही हमारी नास्तिकता दृढ़ हुई है।

ईश्वर का साक्षात्कार सिद्ध कर चुके एक ऋषि को ईश्वर का केवल समर्थन करने वाले लोगों की विडम्बना से ईश्वर को बचाने की ऐसी ही आवश्यकता पड़ी होगी, इसलिए उन्होंने कहा था : ''ईश्वर के तत्त्व को मैं जानता हूँ; तुम मुझसे वह तत्त्व जान लो। उसका वर्णन कैसे किया जाये, यह मैं नहीं जानता। परन्तु आज लोग जिसकी उपासना करते हैं, वह तो ईश्वर है ही नहीं। सच्चे ईश्वर को इस जन्म में यदि तुमने जान लिया तो तुम बच गए; वर्ना तुम्हारे भाग्य में महानाश ही लिखा हुआ है।''

तब यह सच्चा ईश्वर कैसा है ? और हमारे जीवन के साथ उसका क्या सम्बन्ध है ? हमारे समस्त प्रिय आदर्शों का वह पोषण करता है या शोषण ? क्या वह प्रजा का सहायक है ? क्या वह प्रजा का रक्षक है ? क्या वह प्रजा का तारक है ? और यदि ईश्वर ऐसा ही हो, तो उसे पहचाना कैसे जाए ? उसका उपयोग हम कैसे करें ? ईश्वर के एकाधिकारियों से हम उस बचा सकें, तो ही वह हमें बचा सकता है।

तो ईश्वर है क्या चीज ? इतना तो स्पष्ट है कि यदि ईश्वर जैसा कुछ है, तो वह हमारे हृदय में ही है। ईश्वर का सर्वोत्कृष्ट नाम 'अन्तर्यामी' है। हमारे हृदय में अनेक बार अनेक प्रकार की मंगल आकांक्षाएँ जन्म लेती हैं; वे हमें केवल कल्पना जैसी नहीं लगतीं, किन्तु व्यवहार की इस दुनिया की अपेक्षा अधिक सच्ची और अधिक महत्त्वपूर्ण लगती हैं। 'खाना, पीना और राज करना' यह हमारे जीवन का मुख्य भाग नहीं है; परन्तु जो परम मंगल कल्पनाएँ तथा आदर्श हमारे हृदय में बसते हैं और हमारे जीवन का मार्गदर्शन करते हैं, वे ही हमारे जीवन का मुख्य भाग हैं। मनुष्य-जाति अनादि काल से आदर्शों की उपासना करती आई है। ये आदर्श भिन्न होते हुए भी एकरूप हैं, ऐसा अनुभव होता है। जहाँ भेद दिखाई देता है, जहाँ विरोध दिखाई पड़ता है, वहाँ शुद्धिकरण की क्रिया एकदम प्रवेश करती है और फिर समन्वय की वृत्ति इन भिन्न-भिन्न आदर्शों के बीच सुमेल करा देती है। ये आदर्श, शुद्धिकरण की यह क्रिया और इन सबका सुमेल, यह सब एकरूप है, ऐसा अनुभव होता है। हमें सतत यह प्रतीति होती रहती है कि यह सम्पूर्ण विश्व अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो हमारा समग्र मनुष्य-जीवन किसी सत्य पर रचा हुआ है। कोई भी फिलॉसफी (तत्त्वज्ञान) वास्तव में इस प्रतीति का इनकार नहीं कर सकी है, फिर तार्किक भाषा कुछ भी क्यों न कहे ? हमें ऐसा लगा करता है कि उस परम सत्य पर, उस अमर अखंड सनातन सत्य पर रचा हुआ जो कुछ भी है वह शुद्ध ही होना चाहिए, उसके स्वभाव में मेल ही होना चाहिए और उसमें अनन्त विविधता होने के कारण जड़ता तो उसके भीतर हो ही नहीं सकती।

यह जो हमारी अमर भावना है, इसी में हमें ईश्वरीय तत्त्व मिलनेवाला है। मनुष्य ने ईश्वर की रचना की है या ईश्वर ने मनुष्य की रचना की है, इस सवाल का कोई अर्थ नहीं रहता; क्योंकि दोनों में भेद ही नहीं है। मनुष्य में ईश्वर है और ईश्वर में मनुष्य है। फिर किसे किसकी कृति माना जाए ? हम तो ईश्वर का स्वरूप जानना चाहते हैं और उसकी उपयोगिता अपने लिए सिद्ध करना चाहते हैं। यदि जीवन सत्य हो तो ईश्वर सत्य है। यदि जीवन में कोई सार या रहस्य है, तो ईश्वर परम मंगलमय है। यदि जीवन में तृप्ति और अतृप्ति दोनों ही तत्त्व हों, तो आदर्शों का अस्तित्व है। आदर्श वास्तविक वस्तु हैं। मनुष्य-जीवन का परम उत्कर्ष, सब आदर्शों की कृतार्थता, सब प्रकार के विरह का अन्त, सारी अशान्ति की शान्ति,

समग्र यात्रा की अन्तिम मंजिल और फिर भी समस्त आकांक्षाओं की चिरन्तन अतृप्ति ही ईश्वर है। यदि ईश्वर की सम्पूर्ण प्राप्ति हो जाए, तो वह ईश्वर न रह जाए। इसलिए ईश्वर का सच्चा नाम अनन्त है।

ऐसे ईश्वर से इनकार करने का अर्थ है अपने जीवन से इनकार करना; प्रत्येक उच्चता और उदात्तता से इनकार करना। और सारे प्रामाणिक इनकार के पीछे जो सत्य की शोध है, जो प्रामाणिकता है, जो उत्कटता और एकाग्रता है, उससे भी इनकार करना।

इस ईश्वर का अपना कोई नाम नहीं है, हमने उसे मनमाना नाम दिया है; इसी तरह उसका अपना कोई रूप भी नहीं है, हम ईश्वर को जो रूप देते हैं उसे धारण करने का सामर्थ्य उसमें है। प्रत्येक शरीर में जिस प्रकार परिवर्तन होता रहता है उसी प्रकार ईश्वर के रूप में भी सतत परिवर्तन होना ही चाहिए। बालक सूर्य की किरण को अपनी मुट्ठी में पकड़ने का प्रयत्न करता है, फिर भी सूर्य-किरण उसकी मुट्ठी में कैद नहीं होती; उसी तरह जब मनुष्य अपने स्वभाव के कारण अपनी सुविधा के लिए ईश्वर को एक रूप में बाँधने का प्रयत्न करता है तब ईश्वर उस रूप में बँधने से, रुँध जाने से इनकार ही करता है। जब तक हम उसे बाँधने का प्रयत्न नहीं करते तब तक वह हमारा ही है, और तभी तक हमारा है।

तब क्या मनुष्य का आदर्श ही उसका ईश्वर है ?

आदर्श ही ईश्वर है, ऐसा कहने से ईश्वर बहुत सरल और सस्ता हो जाता है। ईश्वर इससे अधिक बड़ा है। ईश्वर ही मनुष्य का आदर्श है, यह बात सच है और आदर्श के बारे में हम अपनी कल्पना को शुद्ध और व्यापक बनाएँ, तो आदर्श ही ईश्वर है यह भी सच है। किन्तु परम आदर्श मनुष्य-कृत नहीं होता, वह स्वयंभू होता है। वह मनुष्य का आदर्श अवश्य है, परन्तु उस आदर्श के कारण ही मनुष्य मनुष्य है। मनुष्य के कारण आदर्श का जन्म नहीं हुआ है। आदर्श के कारण मनुष्य-जीवन सत्त्वपूर्ण होता है। परन्तु आदर्श का सम्पूर्ण आकलन कभी मनुष्य को हो ही नहीं सकता। जिस आदर्श का सम्पूर्ण आकलन हो जाए, वह आदर्श नहीं रह जाता; क्योंकि वह शान्त हो जाता है। आदर्श तो अनन्त ही होना चाहिए।

२-८-३८

४४. 'प्रभु जागत है तू सोवत है'

आत्मा का कोई लिंग नहीं होता, कोई जाति नहीं होती। चाहें तो हम उसे पुल्लिंग

कह सकते हैं और चाहें तो स्त्रीलिंग भी कह सकते हैं। दोनों ही लिंगों में आत्मा समान है। संस्कृत में या मराठी अथवा गुजराती में आत्मा को पुल्लिग माना जाता है; जब कि ग्रीक भाषा में तथा अरबी-फारसी और उर्दू में भी उसे स्त्रीलिंग माना गया है। हिन्दी में कोई आत्मा को पुल्लिग बताता है तो कोई स्त्रीलिंग।

वैष्णवों के भक्ति-सम्प्रदाय में परमात्मा की श्रीकृष्ण के रूप में और जीवात्मा की गोपी के रूप में कल्पना करके भक्ति के स्वरूप और उसकी उत्कटता को स्पष्ट किया जाता है। यह देखा गया है कि अत्यन्त प्रेम, एकाग्र निष्ठा तथा सम्पूर्ण आत्म-समर्पण ये तीन गुण स्त्री-जाति में विशेष रूप से व्यक्त होते हैं, इसलिए जीवात्मा का परमात्मा की ओर होनेवाला आकर्षण गोपी की कृष्णभक्ति के रूपक द्वारा ही भलीभाँति व्यक्त हो सकता है।

अब पुरुष जिस प्रकार स्त्री की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता रहता है उसी प्रकार परमात्मा भी जीवात्मा को अपने पास खींचकर उसका उद्धार करने के लिए अपनी ओर से सतत प्रयास करता ही रहता है। इसमें यदि कोई भी रुकावट है तो वह है जीवात्मा की उत्कटता का अभाव, असावधानी या अज्ञानता। और प्रेममूर्ति परमात्मा जीवात्मा की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए इतना उत्सुक रहता है कि वह अपनी अलौकिक आतुरता को भी एक ओर रखकर जीवात्मा के हृदय में मुमुक्षा जाग्रत होने तक धैर्य के साथ प्रतीक्षा करना ही पसन्द करता है। उसकी दृष्टि में अपनी आतुरता की उतनी कीमत नहीं होती जितनी जीवात्मा की स्वतंत्रता की होती है।

बहुत बार यह शंका उठती है कि ईश्वर-प्राप्ति के लिए जीवात्मा की आतुरता अधिक होती है या जीवात्मा को अपने पास खींचने की भगवान की साधना अधिक होती है।

यहाँ कोई मन मे यह शका न लाये कि पूर्ण-पुरुष, निःस्पृह और नित्यतृप्त परमात्मा स्वयं ही साधना करनेवाला साधक कैसे बन सकता है ? परम कारुणिक और सब-कुछ सहनेवाला परमात्मा साधक ही है और उसकी साधना अनन्त और अखंड रूप में चला करती है। ईश्वर यदि साधक न होता तो मनुष्य को साधना कैसी सूझती और उसे करने की शक्ति भी कैसे मिलती ? सोचने से इस बात का विश्वास हो जाता है कि जिस प्रकार बालक की मातृभक्ति की अपेक्षा माता का अपत्य-प्रेम अधिक गहरा होता है अथवा शिष्य की गुरुभक्ति की अपेक्षा गुरु का शिष्य-वात्सल्य अधिक उत्कट और अधिक ज्ञानपूर्ण होता है, उसी प्रकार मनुष्य की दर्शन-लालसा की अपेक्षा ईश्वर की भक्तनिष्ठा अधिक होनी ही चाहिए। असंख्य बार अपने अनेक जन्म मनुष्य ने ईश्वर-विमुख कर्म करने में बिताये हों, तो भी ईश्वर का धैर्य कभी नहीं टूटता।

जीवात्मा घोर निद्रा में सोया हो तब उसे ईश्वर के सान्निध्य का भान कैसे हो सकता है ? परन्तु जब उसकी घोर निद्रा दूर हो जाती है और जब वह प्रभात की मीठी, गुलाबी और हल्की नींद में होता है, तब उसे ईश्वर के अस्तित्व की और उसकी प्रेमल साधना की अस्पष्ट झाँकी समय-समय पर होने लगती है। कविवर रविबाबू ने नीचे के भजन में इस स्थिति का सुन्दर वर्णन किया है।

गोपी स्वयं को लक्ष्य करके कहती है :

"जब वह तेरे पास आकर बैठा तब तू जागी नहीं। हे हतभागिनी, तुझे कैसी नींद आई थी ? शान्त और स्तब्ध रात्रि की वेला में वह आया था। उसके हाथ में वीणा थी। उसका संगीत सुनकर मैं जागी नहीं, परन्तु मेरा स्वप्न केवल उसके गम्भीर राग में ओतप्रोत हो गया और मेरा स्वप्न असाधारण रूप में सुखमय बन गया।"

"जाग कर देखती हूँ तो अपनी सुगन्ध से पागल बना देनेवाला दक्षिण का मलयानिल अन्धकार की रिक्तता को भर कर सन-सन बह रहा है।"

"मेरा यह कैसा दुर्भाग्य है कि मेरी सब रात्रियाँ इसी प्रकार व्यर्थ चली जाती हैं ! वह मेरे पास होते हुए भी मेरे पास नहीं होता ! उसका संगीत सुनायी देता है, उसकी सुगन्ध मस्तिष्क को भर देती है, और फिर भी उसकी माला का स्पर्श मेरे हृदय को प्राप्त नहीं होता। मैं क्या करूँ ? कैसी कालनिद्रा मुझे घेर लेती है !"

जिन लोगों को ईश्वर के अस्तित्व का भान ही नहीं है तथा जो लोग केवल एक निरपवाद रिवाज के रूप में ही ईश्वर पर विश्वास रखते हैं और ईश्वर के विषय में बोलते हैं, वे इस गायन के मर्म को नहीं समझ सकते। मनुष्य जब सब तरफ से हार जाता है तभी शायद उसे एकाध क्षण के लिए ईश्वर का सच्चा स्मरण होता होगा। वर्ना प्रतिदिन नियम से ईश्वर की पूजा करने पर भी और सुबह-शाम ईश्वर का नाम जपने और गुँजाने पर भी ऐसे लोगों के जीवन में ईश्वर का प्रवेश नहीं होता। ऐसी घोर निद्रा की अवस्था में यदि उन्हें ईश्वर के सान्निध्य की असंख्य निशानियाँ मिलें, तो भी उनके किस काम की ? आगे चलकर जब मनुष्य अन्तर्मुख होता है और उसके जीवन में ईश्वर का थोड़ा-सा प्रवेश हो जाता है, तभी सच्चा झगड़ा शुरू होता है। ईश्वर की जड़ें यदि मनुष्य के जीवन में थोड़ी भी पहुँच जाएँ, तो फिर वहाँ वे घर किए बिना रह ही नहीं सकतीं। साधना के अभाव में मनुष्य कितना ही असावधान क्यों न रहे, ईश्वर के सान्निध्य की निशानियाँ उसकी नजर में आये बिना रह ही नहीं सकतीं; ईश्वर की कृपा का अनुभव उसे समय-समय पर अवश्य होता है। बाद में तो मनुष्य यह सोचकर चिढ़ने लगता है कि मैं इतना साधना-दुर्बल क्यों हूँ, और वह अपनी भर्त्सना करने लगता है; फिर तो यह आत्मनिन्दा

ही एक प्रकार की साधना बनकर मनुष्य से प्रगति कराती है।

जड़ जीवन को यदि रात्रि की उपमा दी जाए, तो ऊपर वर्णित हल्की मीठी नींद के समय को ब्राह्म-मुहूर्त ही कहना चाहिए।

अब नींद का जोर कम हो गया है, अब थोड़े ही समय में हम जाग जाएँगे और जागृति का सुख भोगेंगे, इस विषय में शंका रखने का कोई कारण नहीं है। २०-१०-४०

४५. जीवन का शास्त्र

न जाने क्यों आज का जमाना धर्म से घबराया हुआ रहता है। धर्म के नाम पर संसार के देश परस्पर लड़े हैं। धर्म के नाम पर एक वर्ग ने दूसरे वर्ग पर निरंकुश सत्ता चलायी है। धर्म के नाम पर ज्ञान के दीप को बुझा कर जाने-अनजाने दुनिया में अज्ञान और अन्धविश्वास का खूब अन्धकार फैलाया गया है। धर्म के नाम पर कभी-कभी जीवन को सारशून्य और खट्टा बना दिया गया है। धर्म के नाम पर मनुष्य की प्रगति को सफलतापूर्वक रोका गया है। यह सच है कि शास्त्रधर्म और रूढ़िधर्म ने षड्यन्त्र रचकर बहुत बार हृदय-धर्म, प्रेमधर्म, मानवता का धर्म तथा विश्व-मांगल्य का धर्म— इन सब उच्च धर्मों का उच्छेद कर डाला है। परन्तु यह सारा उत्पात मचानेवाला 'धर्म' वास्तव में धर्म नहीं है; मनुष्य की संकुचितता, मनुष्य की धर्मान्धता तथा मनुष्य का अज्ञान धर्म के नाम पर जो अधर्म फैलाते हैं, वही इस सारे उत्पात की जड़ है। धर्म इतनी प्रभावशाली और तेजस्वी वस्तु है कि उसकी शकित को देखकर प्रत्येक क्षुद्र वृत्तिवाला मनुष्य उसके आश्रय में अपना काम निकालने का प्रयत्न करे तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। परन्तु मानव-द्रोही वृत्तियाँ धर्म का आश्रय लेती हैं इसलिए उस आश्रय को ही नष्ट कर देने से सारी अशुभ वृत्तियाँ नष्ट हो जाएँगी या भूखों मरेंगी, ऐसा मान लेने का कोई कारण नहीं है। इसका परिणाम तो इतना ही होगा कि हम धर्म के जैसी कल्याणमय वस्तु को गँवा बैठेंगे। ईश्वर, आत्मा, परलोक, पुनर्जन्म आदि के बारे में हम आज एकमत नहीं हो सकते इस कारण से इन सबका समावेश करने वाला धर्म ही त्याज्य है, ऐसा अनेक लोग सोचने लगते हैं।

धर्म के विषय में ऊपर जो अनर्थ-परम्परा अथवा संदिग्धता बतायी गई है, वह सब तो विज्ञानशास्त्र को भी अच्छी तरह लागू होती है। परन्तु इस कारण से किसी ने विज्ञान का त्याग नहीं किया है। जैसे-जैसे विज्ञान के दोष मालूम होते गए वैसे-

वैसे उन दोषों को सुधार लेने की ओर ही सयाने लोगों का प्रयत्न रहा है। विज्ञान का बचाव करने वाले लोग कहते हैं कि विज्ञान किसी ग्रन्थ से चिपटा नहीं रहता। वह तो अनुभव से सिद्ध हुई वस्तु को ही ग्रहण करनेवाला सत्यनिष्ठ और सत्य-परायण शास्त्र है।

सच्चे धर्म को भी यही बात लागू होती है। आज तक के विज्ञानशास्त्रियों के ग्रन्थों पर विज्ञान का जितना आधार है उससे जरा भी अधिक आधार सच्चे धर्म का धर्मशास्त्रों पर नहीं है। वह भी अनुभव से सिद्ध हुई वस्तु को पकड़ने वाला, सत्य-परायण, सत्यनिष्ठ शास्त्र ही है। दोनों में भेद ही देखना हो तो कहना होगा कि धर्मशास्त्र की सत्यनिष्ठा भौतिक शास्त्रों से कुछ अधिक है।

प्राचीन काल में राजाओं के नाम पर अनेक युद्ध हुए हैं। राजा की विषय-वासना को तृप्त करने के लिए बड़ी-बड़ी सेनाएँ किसी राजा की राजकन्या को लूटने के लिए निकली हैं और दोनों सेनाओं का संहार हुआ है। यह कोई नहीं कह सकता कि राजा-महाराजा और राजवंश प्रजा के लिए आशीर्वाद-रूप ही सिद्ध हुए हैं। परन्तु इस कारण से कोई यह नहीं कहता कि राज्यतंत्र ही नहीं रहना चाहिए— समाज व्यवस्था का ही नाश कर देना चाहिए। इसके विपरीत, शासन-संस्था में उत्तरोत्तर सुधार किए जाते हैं और उसे उच्च भूमिका पर पहुँचाने के प्रयत्न किए जाते हैं। यही बात धर्म के विषय में भी होनी चाहिए।

आत्मा, ईश्वर, परलोक और पुनर्जन्म धर्म की पूँजी हैं— यह बात भले ही सच हो, किन्तु धर्म अन्धा बनकर इन्हीं से चिपटे रहने को नहीं कहता। धर्म का अर्थ है जीवन-व्यवस्था। सयाने लोग यही कहते आये हैं कि जिससे प्रजा का धारण हो सके, जिससे प्रजा परस्पर सहयोग साधकर अपना उत्कर्ष कर सके वही धर्म है। जिस किसी व्यवस्था से, विचार-पद्धति से और आचार-व्यवहार से प्रजा का सब प्रकार से उत्तम कल्याण हो सके, उसे धर्म कहा जाता है। धर्म का अर्थ है जीवन-मीमांसा, जीवन-व्यवस्था, जीवन-दृष्टि। जिस प्रकार वृक्ष में रहने वाला जीवन-रस वृक्ष को टिकाये रखता है, उसे कृतार्थ करता है, उसी प्रकार मनुष्य-समाज को टिकाने वाला और उन्नति के मार्ग पर ले जाने वाला जो तत्त्व होता है, जो संजीवनी-रूप जीवन-रस होता है, वही धर्म है। इस हेतु या प्रयोजनके विरुद्ध जो कुछ भी सिद्ध हो वह धर्म नहीं है। वह यदि धर्म के नाम पर चलता हो, तो भी उसे धर्म से निकाल फेंकना चाहिए। 'प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।' धर्म का अस्तित्व सारे प्राणियों के विकास के लिए, उदय के लिये और प्रगति के लिए है। 'धारणाद् धर्मम् इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।' यही धर्म का सच्चा स्वरूप है। धर्म का अर्थ ही संस्कृति है। धर्म का अर्थ ही व्यापक समाजशास्त्र है।

जहाँ से मनुष्य में समस्त सर्वोच्च वृत्तियाँ आती हैं वहीं से धर्म भी आया हुआ

है। धर्म मनुष्य-मात्र के स्वभाव में बसी हुई वस्तु है। धर्म का विरोध करके मनुष्य उसके स्थान पर जो कुछ स्थापित करने का प्रयत्न करता है, उसमें भी धर्म के ही तत्त्व होते हैं। मनुष्य धर्म से भाग कैसे सकता है ?

यह सच है कि धर्म के नाम पर बोलने वाले सभी लोगों की दृष्टि में धर्म का इतना विशाल और विशुद्ध अर्थ नहीं होता। आज धर्म के नाम पर समाज में असंख्य बल काम कर रहे हैं। उनमें से अधिकतर बलों का नाश करना शुद्ध धार्मिकों का तथा प्रामाणिक धर्म-विरोधियों का समान कर्तव्य है। अतः सबसे पहले धार्मिकों को चाहिए कि वे 'नास्तिक' शब्द से चौंकना छोड़ दें, और धर्मविरोधियों को भी यह भ्रम छोड़ देना चाहिए कि जितने भी लोग धर्म के हिमायती हैं वे सब अन्धविश्वासी हैं, स्वतंत्रता और प्रगति के विरोधी हैं, जनता के कल्याण के शत्रु हैं।

आज की समाज-व्यवस्था में जितने ढोंग और पाखंड चलते हैं और आज के समाजशास्त्र में जितनी गड़बड़ी है, उतने ही ढोंग, पाखंड और गड़बड़ी धर्म के विषय में भी पायी जाती है। अतः हम सबका मुख्य कार्य यह है कि इन दोनों को शुद्ध बनाकर जीवन में इनका अधिक-से-अधिक उपयोग करें। और जिस किसी वस्तु को शुद्ध बनाना हो उसका उपयोग करना ही उसकी शुद्धि का सच्चा प्रारम्भ है।

समाज क्या है, समाज की व्यवस्था कैसी होनी चाहिए, वह व्यवस्था किन तत्त्वों के आधार पर हो और किन तत्त्वों के हाथ में वह व्यवस्था रहे, इन सब बातों का प्रत्येक युग को स्वतंत्र रूप से विचार करना चाहिए। परन्तु यह सब निश्चित करने से पहले इस बात का निश्चय होना चाहिए कि जीवन क्या है, जीवन का उद्देश्य क्या है, मनुष्य-जाति को कहाँ जाना है और क्या प्राप्त करना है। कुछ लोग कहते हैं कि यह सब निश्चित किए बिना भी हम जी सकते हैं। जीना और जीने में सफल होना ही हमारा जीवन-हेतु है। पशु आज तक इस तरह रहते आये हैं। लेकिन पशुओं का और मनुष्यों का मार्ग एक नहीं है। पशु अपने आप बिगड़ते भी नहीं और सुधरते भी नहीं। मनुष्य में ये दोनों शक्तियाँ हैं। और यदि सोचने-विचारने के अन्त में, खोज के अन्त में, यह निश्चित हो कि जीना और सफल होना ही मनुष्य-जाति का भी आदर्श है, तब तो यही हमारा पुरुषार्थ होगा। इसके आधार पर जो जीवन-क्रम निश्चित हो, वही हमारा धर्म होगा। व्यक्ति, परिवार और समाज इन सबका विचार करके जो भी पुरुषार्थ हमने निश्चित किया हो, उसे सिद्ध करने का उपाय ही हमारा धर्म है। जिस जगत में हम आये हैं उसका समग्र परिचय करा कर उसमें हमारा स्थान और अन्तिम प्राप्तव्य जो निश्चित कर दे तथा वहाँ तक पहुँचने का मार्ग बताये वही धर्म है।

धर्म की इस कल्पना के अनुसार अनेक धर्मों का विचार करना होगा। कार्ल मार्क्स ने भी एक धर्म बताया है। लेनिन ने उसी धर्म का रूपान्तर कर दिया है। गांधीजी इससे सर्वथा भिन्न धर्म बताते हैं। दोनों धर्मों के आदर्श में बहुत साम्य है,

परन्तु दोनों के साधन में बड़ा भेद है। जर्मन दार्शनिक नीत्शे ने भी एक धर्म का ही विस्तार कर दिखाया है। इन सब धर्मों की जाँच करके मनुष्य को पहले यह देखना चाहिए कि कौन-सा धर्म मानव जाति के लिए हर दृष्टि से पोषक है, कौन-सा धर्म मानव-जीवन में उतर सकता है और सबका कल्याण कर सकता है। हमें धर्म ही नहीं चाहिए, ऐसा कहकर भी धर्म से भागा नहीं जा सकता। यह कथन या नीति भी एक प्रकार का धर्म ही बन जाता है। और चूँकि यह भूमिका उतावली में और घबराहट में ग्रहण की हुई होती है, इसलिए डर रहता है कि यह धर्म कहीं अधूरा, कच्चा, असुविधापूर्ण और मूल उद्देश्य का नाश करने वाला सिद्ध न हो। धर्म जीवन का सम्पूर्ण शास्त्र है, इसलिए उस पर गहरा विचार होना चाहिए।
३०-६-'३३

४६. अन्धभक्ति

जब कोई राजनीतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक चर्चा चलती है उस समय विरोधी पक्ष के किसी भी आदमी को देने लायक एक गाली बोलचाल में खूब बैठने वाली है। कोई आदमी दूसरे का समर्थन करे या अमुक रूढ़ि से चिपटा रहे, तो फिर उसके व्यवहार के पीछे चाहे जितना चिन्तन हो, चाहे जितनी स्वतंत्र दलीलें हों, तो भी उसे अन्धभक्त कहने में कोई बाधा नहीं आती। जितने अनुयायी होते हैं उतने सब अन्ध हैं, जितने धर्म का कट्टरता से पालन करने वाले होते हैं उतने सब अन्ध हैं; और शास्त्रों में विश्वास करने वालों को तो अन्धों का भी अन्ध माना जाता है। यह शब्द सुधारवादियों ने भाषा में दाखिल किया है, परन्तु प्राचीन मताभिमानी लोग भी इस शब्द का कम उपयोग नहीं करते। तर्क का उपयोग करें वे नास्तिक और भावना को प्रधान मानें वे श्रद्धाजड़। टीका करने की ऐसी सरल युक्ति की खोज होने के बाद हमारा सार्वजनिक जीवन यदि निष्फल सिद्ध हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। आमने-सामने एक-दूसरे को 'तू अन्धा', 'तू अन्धा' कहकर आज तक हमने क्या पाया ? स्वार्थ, द्वेष या मत्सर के कारण देश में फैली हुई फूट में एक यह डर और बढ़ गया है कि अन्धेपन का आरोप कहीं मुझ पर न लग जाए। और समाज का तो मानो यह एक नियम ही बन गया है कि 'नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्'। जो मनुष्य अपना अलग मत न प्रकट करे वह बुद्धिमान कभी कहा ही नहीं जा सकता।

तब क्या इस दुनिया में अन्धभक्ति अथवा अन्ध-अनुयायित्व जैसी कोई चीज

है ही नहीं ? नहीं, ऐसा नहीं है। हमारे देश में अथवा किसी भी देश में अन्धभक्ति इतनी ज्यादा है कि जहाँ अन्धभक्ति न हो वहाँ भी लोगों को अन्धभक्ति का आभास होने लगता है ! छापने की कला का आविष्कार हुआ उस दिन से दुनिया में लेखकों और विचारकों की एक बड़ी फौज निकल आई है। लेकिन उनके विचारों की हम बारीकी से जाँच करें, तो पता चलेगा कि किसी एक युग में अधिक-से-अधिक दो-तीन ही नई कल्पनाओं का उद्‌भव हुआ है। बाकी के सामान्य लोग तो पुरानी कल्पना को अथवा दूसरे की कल्पना को लेकर स्वयं जिस रूप से उसे समझे हों उस रूप में प्रस्तुत कर देते हैं। मनुष्य यदि अपने मन को निर्मल बनाकर अपने विचारों और मतों की जाँच करे, उनका मूल खोजने का प्रयत्न करे, तो यह देखकर वह लज्जित हुए बिना नहीं रहेगा कि उनमें उसका 'अपना' हिस्सा कितना कम है।

जो चीज— फिर वह दूसरों से सुनी हुई हो या अनेक लोगों के मतों का एकत्र विचार करके निष्कर्ष रूप से प्रस्तुत की हुई हो— हमारे गले उतर गई हो, उसे अपनी कहने में कोई हर्ज नहीं। युक्लिड ने हजारों वर्ष पूर्व अपने भूमिति के सिद्धान्तों को सिद्ध कर दिखाया था, फिर भी प्रत्येक विद्यार्थी जब अपने आप उन सिद्धान्तों की शुद्धता को स्वीकार करता है तब कोई उसे युक्लिड का अन्ध अनुयायी नहीं कहता। हाँ, जैसे-तैसे मैट्रिक की परीक्षा पास करने के लिए युक्लिड के प्रमाणों को बिना समझे ही घोट डालने वाले किताबी कीड़े को आप चाहें तो अन्ध अनुयायी मान सकते हैं।

शास्त्र में अमुक वचन है इसलिए उसे मानना ही चाहिए, यह कहने वाला अन्ध अनुयायी है। शंकराचार्य के मुख से अमुक सिद्धान्त निकला है इसलिए उसकी मीमांसा हो ही नहीं सकती, ऐसा मानने वाला मनुष्य अन्ध अनुयायी है। शास्त्रों की चर्चा हो ही नहीं सकती, यह प्रतिपादन करने वाला अन्ध अनुयायी है। राजा की गद्दी पर कोई मनुष्य चढ़ बैठा इसलिए उसमें सम्पूर्ण राजत्व आ गया, यह मानने वाले लोग अन्ध अनुयायी हैं। सरकार ने कोई कानून पास किया इसलिए वह न्यायपूर्ण होना ही चाहिए, इस तरह मानने वाले अन्ध अनुयायी हैं। गोरी चमड़ी वालों ने कोई वचन दिया है इसलिए उसका पालन किया ही जाएगा, ऐसा मानने वाले अन्ध अनुयायी हैं। सरकारी रिपोर्ट में छपी हुई हकीकतों में गलती हो ही नहीं सकती, ऐसा जो मानता है वह अन्ध अनुयायी है। स्मृतियों में जो-जो लिखा हुआ है वह सब त्रिकाल के लिए है, इस तरह की दलील करने वाला भी अन्ध अनुयायी है। गोखले ने, तिलक ने, शंकराचार्य ने अथवा गांधी ने कोई बात कही है, केवल इसीलिए उसे स्वीकार करने वाला भी अन्ध अनुयायी ही है। आद्य शंकराचार्य ने कभी यह नहीं कहा था कि मैं कहता हूँ इसलिए मेरी बात मान ली जाए। वर्ना अपनी प्रस्थानत्रयी के प्रत्येक वाक्य में उन्होंने तर्क न किया होता। 'अग्नि शीतल

है ऐसा सौ श्रुतियाँ कहें, तो भी हम उसे कैसे मान सकते हैं ?' यह स्वयं शंकराचार्य ने ही स्पष्ट कहा है।

मत्स्यपुराण कहता है : 'जिज्ञासा नास्ति नास्तिक्यम्।' तिलक और गांधी ने भी हमेशा यही कहा है कि आप हमारे विचारों के दास न बनें। हम जो कहते हैं उस पर पूरा विचार करने के बाद यदि वह आपके गले उतरे, तो ही आप उसे स्वीकार करें। देश, काल और वर्तमान का विचार करने के बाद जो सिद्धान्त आपके गले उतरे, उसी को आचरण में उतारिये। आपके विचार और आपके आचार में कोई भेद नहीं होना चाहिए। आप ऐसा नहीं करेंगे तो आप में कायरता आ जायेगी, आप दीन बन जाएँगे, आप अधर्मी हो जाएँगे।

श्रेष्ठ पुरुष, ज्ञानी पुरुष अथवा तपस्वी पुरुष जो कुछ कहते हैं वह आसानी से उडा देने जैसा नहीं होता, इस प्रकार की मान्यता श्रद्धा है। सत्यवादी सज्जन अपने अनुभव के रूप में जो कुछ कहते हैं उस पर आदरपूर्वक विचार करना श्रद्धा है। हमारी मनःस्थिति जब विकार और मोह से मुक्त हो उस समय अन्तर की शुद्ध आवाज जो कहे उसका अनुसरण करने की वृत्ति श्रद्धा है। सत्य को कोई आँच नहीं आती, शुद्ध प्रेम और शुद्ध करुणा से किसी का कभी नुकसान नहीं होता, ईश्वर किसी भी समय किसी का त्याग नहीं करता— ऐसी ऐसी मानव-हृदय की जो विश्वजनीन तथा सार्वभौम भावनाएँ हैं उनकी दृढ़ प्रतीति श्रद्धा है।

आद्य धर्माचार्यों की वाणी को आगे-पीछे का विचार किए बिना अर्थ करने के लिए केवल व्याकरण के हाथ में सौंप देने की वृत्ति अन्धश्रद्धा है। रूढ़ियों को युक्ति अथवा नीतिकी कसौटी पर कसने से इनकार करना अन्धश्रद्धा है। देश सेवा का मार्ग नीतियुक्त होते हुए भी वह राजमान्य है या नहीं, इस विचार में उलझना अन्ध-श्रद्धा है। जो आज तक नहीं हुआ वह भविष्य में भी कभी नहीं होगा, इस तरह मन में गाँठ बाँध लेना अन्धश्रद्धा है। हम कुछ भी न करें, स्वार्थ त्याग अथवा पुरुषार्थ का नाम भी न लें, तो भी स्वराज्य-सूर्य का अपने आप उदय होगा— यह मान लेना अन्धश्रद्धा है। बाजार में, कोर्ट-कचहरी में, होटलों में या सरकारी स्कूलों में अन्त्यजों को छूने में कोई हर्ज नहीं, परन्तु राष्ट्रीय शालाओं में अन्त्यजों के साथ पढ़ने में सनातन धर्म का सनातनत्व मिटकर वह डूब जाता है— ऐसा मानना भी अन्धश्रद्धा है। हमारे अखबार में शराब आदि मादक पदार्थों और काम-विलास मे मदद करने वाली दवाइयों के विज्ञापन धन लोभ से छपते रहने पर भी यदि हम यह मानें कि हमारे लिखे हुए संयम और ब्रह्मचर्य-सम्बंधी लेखों का समाज पर प्रभाव पड़ेगा, तो यह हमारी अन्धश्रद्धा है। दिनोंदिन देश की आर्थिक अवनति होने पर भी यह मानना कि देश समृद्ध और सम्पन्न हो रहा है, अन्धश्रद्धा है। और, गोरों

के अधिकाधिक उद्धत बनते जाने का प्रतिक्षण अनुभव . ग भी यह मानना अन्धश्रद्धा ही है कि धारासभा में बैठकर देश का हित किया जा सकता है तथा स्वराज्य भी प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार की अन्धश्रद्धाओं से मुक्त होना प्रत्येक मनुष्य का सर्व-प्रथम कर्तव्य है। समाज के नेताओं, राजनीतिज्ञों तथा धर्मगुरुओं का ऐसी अन्धश्रद्धा से मुक्त होना विशेष आवश्यक है, क्योंकि यदि वे अन्ध बने रहे तो समाज की दशा 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' जैसी होगी। इतिहास और तर्क ये शास्त्रों की दो आँखें हैं। इनके अध्ययन के बिना यदि कोई धर्मोपदेशक बन जाए, तो वह अन्ध कहा जाएगा; और ऐसे धर्मोपदेशक के पास धर्म-निर्णय के लिए जाने का अर्थ होगा 'दृष्टिकी खोज में निकलते समय अन्धापन स्वीकार कर लेना'।

१९२१

४७. अन्धविश्वास और श्रद्धा

एक लोककथा कहती है कि 'काली चौदस की रात में—ठीक आधी रात के समय यदि नाक काटी जाए, तो दूसरे दिन सुबह सोने की नाक निकल आती है।' भगवद्गीता में कहा गया है कि 'जो मनुष्य कल्याणकारी है उसकी दुर्गति नहीं होती।' सामान्य मनुष्य का इन दोनों वचनों पर एक-सा अविश्वास होता है, क्योंकि दोनों वचनों का प्रत्यक्ष अनुभव किसी को भी नहीं होता। भोला-भाला आदमी बचाव में कहेगा कि 'नाक न निकले तो दोष हमारा है। ज्योतिष के अनुसार काली चौदस की तिथि निश्चित करने में भूल हुई होगी या ठीक आधी रात का क्षण पकड़ में नहीं आया होगा, इसीलिए सोने की नाक नहीं निकली। पूर्वजों के वचन तो कभी झूठे हो ही नहीं सकते। हमारी ही कोई भूल हो गई होगी।' श्रद्धालु मनुष्य कहेगा : 'यह ठीक है कि कल्याणकारी धर्मराज पर आपत्ति आ पड़ी थी। परन्तु वह सच्ची आपत्ति ही नहीं थी। बाहरी लाभालाभ की कीमत ही क्या है ? धर्मराज को निरन्तर भगवान का सहवास मिला। इससे भिन्न सद्गति भला क्या हो सकती है ? कष्ट-सहन को तो कायर लोग ही विपत्ति मानेंगे। भगवान ने यह वचन दिया है कि कल्याणकारी की दुर्गति कभी हो ही नहीं सकती।'

प्राकृत मानव इन दोनों बचावों से असन्तुष्ट रहता है। उसकी दृष्टि में इन दोनों वचनों पर रखा जाने वाला विश्वास समान रूप से अन्धश्रद्धा की निशानी है। दम्भ का आवरण हटा दें और औपचारिक धर्मनिष्ठा को दूर कर दें, तो आज की दुनिया

में ऐसे प्राकृत लोगों की संख्या ही अधिक दिखाई पड़ेगी।

फिर भी क्या उपर्युक्त दोनों वचन और उन पर रखी जाने वाली श्रद्धा एक से ही माने जा सकते हैं ? पहला वचन भौतिक जगत के बारे में एक झूठा नियम प्रस्तुत करता है, जबकि दूसरा वचन एक आध्यात्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। पहले वचन की सत्यता की जाँच करने के लिए जिस प्रकार की कसौटी आवश्यक है वैसी दूसरे वचन के लिए आवश्यक नहीं है। मनुष्य को नई नाक की जरूरत ही क्यों होनी चाहिए ? वह नाक सोने की क्यों होनी चाहिए ? काली चौदस के साथ सोने की नाक का क्या सम्बन्ध ? आधी रात में ऐसा कौन-सा जादुई प्रभाव है ? ज्योतिष के अनुसार काली चौदस का दिन निश्चित करना और आधी रात के क्षण को बराबर पकड़ना, ये दोनों बातें कठिन भले ही हों, किन्तु असम्भव बिलकुल नहीं। प्रत्यक्ष अनुभव के बिना ऐसी बात को सत्य माना ही नहीं जा सकता। और ऐसा विचित्र अनुभव करने से पहले तो इस बात की जाँच करनी चाहिए कि इस वचन में कोई बुद्धि-प्रयोग या सच्चाई है या नहीं। इस तरह का वचन सुनते ही उसका प्रयोग करने को तैयार हो जाय, इतना बेवकूफ तो इस वास्तविक जगत में कोई नहीं मिलेगा।

दूसरा वचन आध्यात्मिक है। सामने वाला आदमी उपकार करे या न करे अथवा अपकार करे, तो भी इस बात का कोई विचार किए बिना सभी लोगों के साथ जो सज्जनता का व्यवहार करते हैं उन कल्याणकारी आर्य पुरुषों को आन्तरिक सन्तोष मिलता है, यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है। बाहरी आपत्तियाँ उन पर कितनी ही क्यों न आ पड़ें, अपने हृदय की महत्ता ही उन्हें अपार आनन्द देती है। यही कारण है कि वे कभी अस्वस्थ नहीं होते। समाज भी जानता है कि ऐसे पुरुष आपत्ति में भी चमक उठते हैं। उनके चरित्र का असर समाज पर अधिकाधिक होता रहता है। उनकी बुद्धि सदा प्रसन्न और निर्मल रहती है, इसलिए उनकी दुर्गति नहीं होती। मान लीजिए कि ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव उन्हें नहीं हुआ, तो भी उससे क्या ? कौन-सा आर्य हृदय दुराचरण को पसन्द करेगा ? बड़े से बड़े प्रलोभनों में भी वे दुराचरण की ओर नहीं मुड़े, यह सन्तोष ही उन्हें अपार शान्ति प्रदान करता है। जब मनुष्य बदला लेने के लिए कोई हीन कृत्य करता है तब उसकी आत्म-प्रतिष्ठा नष्ट हो जाती है। समाज भले ही उसकी प्रशंसा करे, लेकिन हृदय की अप्रसन्नता के सामने उस सामाजिक प्रतिष्ठा का कोई मूल्य नहीं होता। आत्म-प्रतिष्ठा खोकर मनुष्य सामाजिक प्रतिष्ठा पाता है तब उसके लिए वह लाभदायी सिद्ध नहीं होती। मनुष्य कितने ही आवेश से अपना बचाव क्यों न करे, परन्तु वह बचाव उसे स्वयं ही पोला और पंगु मालूम होता है। इसीलिए कल्याणकारी की दुर्गति नहीं होती। यह वस्तु स्वयंसिद्ध है, इसे उसका हृदय स्वीकार करता है। इस वचन का भावार्थ

हृदय-धर्म के साथ इतना अधिक समरस हो जाता है कि हृदय इस वचन को हर बार अनुभव की कसौटी पर भी चढ़ाना नहीं चाहता।

धार्मिक श्रद्धा से कहे गए वचनों और अन्धविश्वास के वचनों में आकाश-पाताल का अन्तर होता है। आज का प्राकृत युग कभी-कभी धार्मिक श्रद्धा के साथ धर्म के नाम पर चलने वाले तमाम अन्धविश्वासों को भी टिकाये रखना चाहता है; और बाद में इसके कड़वे फलों के अनुभव से घबरा कर अन्धविश्वासों के साथ धार्मिक श्रद्धा को भी एक ही झटके में उड़ा देना चाहता है।

'हाथ की कोहनी से दो बालिश्त ज़मीन खोदने से पाताल दिखाई देता है,' तथा 'आदर्श ब्रह्मचारी पूर्ण निरोग और प्रसन्न प्रज्ञा वाला होता है'— इन दोनों वचनों की प्राकृत लोग एक-सी कदर करते हैं। लेकिन इससे ये दो वचन समान कोटि के नहीं हो सकते। आज कायिक ब्रह्मचर्य के साथ मानसिक ब्रह्मचर्य का अनुभव करने वाले लोग इतने कम हैं कि ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी उपर्युक्त वचन का अतिशयोक्तिपूर्ण लगना आश्चर्यजनक नहीं होगा। परन्तु जिन लोगों ने इस दिशा में कुछ ठोस और लम्बा अनुभव प्राप्त किया है, वे अपने अनुभव से अनुमान लगाकर इस वचन को पूर्ण रूप से स्वीकार करने के लिए तैयार होते हैं। वे कहेंगे कि जिस प्रकार घर्षण-रहित यंत्र तैयार करना कठिन है, परन्तु कम-से-कम घर्षण वाले नए-नए यंत्र अधिकाधिक सफलता से तैयार किए जा सकते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य की कोटि को पहुँचा हुआ मनुष्य दुर्लभ होने पर भी ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी उपर्युक्त वचन को कोई आँच नहीं आ सकती। जिस प्रकार गणित में अनन्त-श्रेणी सम्बन्धी सिद्धान्त निर्विवाद सत्य होते हैं, उसी प्रकार सरल कोटि विषयक आध्यात्मिक सिद्धान्त भी सत्य ही होते हैं।

अन्धविश्वास तथा श्रद्धा के बीच की समानता और विरोध को ध्यान में रखकर हमें धर्म का संस्करण और परिष्करण करने में प्रवृत्त होना चाहिए। जिस प्रकार मन्द अग्नि पर राख जमने लगती है और वह राख धीरे-धीरे उस अग्नि को बुझा देती है, उसी प्रकार धर्म में घुसे हुए असंख्य अन्धविश्वास धीरे-धीरे धर्म का गला घोंट देते हैं। अन्धविश्वास अज्ञान से उत्पन्न होते हैं। ज्ञान के विषय में, सत्य के विषय में प्रखर जिज्ञासा न होने से ही वे टिकते हैं। अन्धविश्वास निरी नास्तिकता है। जिस प्रकार असावधान वैद्य या डॉक्टर बेवकूफी या लापरवाही से चाहे जैसी दवा चाहे जिस बीमार को देता है, उसी प्रकार सत्य की, सच्ची धार्मिकता की परवाह न करने वाले मूर्ख लोग ही अन्धविश्वासों को चलाते हैं और झूठे आश्वासनों से शान्ति पाने के इच्छुक दुर्बल-हृदय मानव ऐसे अन्धविश्वासों को टिकाये रखते हैं। जिस आदमी को अपनी तबियत सुधारनी है वह अपनी तबियत के साथ दवा के गुण-दोषों की भी पूरी जाँच करता है; उसी प्रकार जिसे धार्मिकता का विकास

करना है, सत्य रूपी स्वास्थ्य प्राप्त करना है ऐसा प्रत्येक मनुष्य हर एक मान्यता को बुद्धि और अनुभव की कसौटी पर कसे बिना नहीं रहता।

हमारा समाज धर्म के विषय में इतना लापरवाह हो गया है कि न तो लोगों को सनातन श्रद्धाओं का विकास करने की कोई चिन्ता है और न समाज की ज्ञानशक्ति और प्राणशक्ति को घुन की तरह धीरे-धीरे नष्ट करने वाले असंख्य अन्धविश्वासों की निन्दा करने की चिन्ता है। समाज में और खास करके निष्पाप और मेहनती सामान्य लोगों में जो अकर्मण्यता, निराशा और वृद्धत्व आ गए हैं, उनका कारण जितनी भुखमरी है उतनी ही अश्रद्धा और अन्धविश्वास भी हैं। इन सबको दूर करके जब तक धर्म की शुद्धि नहीं की जाती तब तक समाज को संजीवन प्राप्त नहीं होगा। भुखमरी को हम मिटाएँगे तो ही लोग हमारी बात सुनने को तैयार होंगे। परन्तु जब वे हमारी बात सुनने को तैयार हों उस समय हमें उन्हें अन्धविश्वासों का नाश करने वाली और श्रद्धा उत्पन्न करने वाली सत्य की अमृत-वाणी सुनाने को तैयार रहना चाहिए। अन्धा अन्धे को रास्ता नहीं दिखा सकता।

२४-७-'२७

४८. चिट्ठी का निर्णय ?

धर्मनिष्ठ और जिम्मेदार मनुष्य के लिए भी कभी-कभी किसी प्रश्न पर स्पष्ट निर्णय करना कठिन हो जाता है। कोई समय ऐसा भी आता है जब मनुष्य को वह चीज, जिसके बारे में वह निर्णय करना चाहता है, अपने जीवन से भी अधिक महत्त्वपूर्ण लगती है। ऐसे समय मनुष्य सम्भवतः यह व्याकुलता भी अनुभव कर सकता है : "इतनी महान वस्तु का आधार ईश्वर ने मुझ जैसे अल्प शक्तिवाले सामान्य मानव पर क्यों रखा होगा ?"

जिस विषय में मनुष्य की अपनी बुद्धि नहीं चलती उसमें अपने से श्रेष्ठ विभूति की सलाह लेने के लिए उसका प्रेरित होना स्वाभाविक और उचित है। जिसके पास श्रेष्ठ बुद्धिमत्ता और निष्पक्ष हृदय होता है, उसकी सलाह लेने के लिए अनेक लोग दौड़ेंगे ही। ऐसे आर्य लोग सलाह देते समय या तो अपना अधिकारपूर्ण निर्णय स्पष्ट शब्दों में देकर शान्त और अलिप्त हो जाते हैं अथवा यदि उनमें शिक्षक की वृत्ति हो तो अपने निर्णय के साथ वे निर्णय करते समय किए हुए साधक अथवा बाधक विचार भी कह सुनाते हैं। कभी-कभी वे दोनों पक्षों के विचार प्रस्तुत करके अन्त में अपना निर्णय देने से इनकार भी कर देते हैं। ऐसे आर्य पुरुष शब्दकोश

की तरह सदा हमारे पास नहीं रहते। इसलिए बहुत बार मनुष्य को अपनी ही बुद्धि का— फिर वह कैसी भी हो— उपयोग करके किसी प्रश्न के विषय में निर्णय करना पड़ता है।

कभी-कभी निर्णय करते समय कष्टदायी दुविधा मनुष्य के सामने खड़ी हो जाती है। और वह दूर होती ही नहीं ! किसी समय निर्णय में दो पक्ष ऐसे खड़े हो जाते हैं कि मनुष्य का मन दोनों ओर समान रूप में झुकने लगता है। दोनों ओर की दलीलें एक-सी होती हैं, लाभ और हानि एक से दीखते हैं, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष परिणाम भी एक से ही महत्त्वपूर्ण लगते हैं। ऐसी परिस्थिति जब खड़ी हो जाती है तब मनुष्य लाचार बनकर चिट्ठियाँ डालने का उपाय आजमाता है। मैं मानता हूँ कि यह उपाय मनुष्य की बुद्धि को, महत्ता को और उसकी ईश्वर-निष्ठा को शोभा नहीं देता।

बुद्धि का काँटा बिलकुल सन्तुलित रहे, सर्वथा मध्यस्थ रहे, ऐसा क्वचित् ही होता है। लेकिन उसके तटस्थ हो जाने के कारण ही मनुष्य बुद्धिशून्य, अकस्मात्-मूलक चिट्ठियों की शरण ले तो यह ठीक नहीं है। अमुक निश्चित परिस्थितियों में मनुष्य को स्पष्ट निर्णय करना आना ही चाहिए। गहरा विचार करके किसी निश्चित अभिप्राय पर पहुँचने के लिए बुद्धि की एकाग्रता और निर्णय करने का साहस दोनों की जरूरत होती है। यह बात बहुत से लोगों के ध्यान में नहीं आती कि विचार करने में भी श्रम की आवश्यकता होती है। कुछ लोग विचार करने में ही आलसी होते हैं। जिस प्रकार विदेशी तैयार माल आसानी से मिल जाने के कारण ही मनुष्य दुकान से उसे खरीद लेता है, उसी प्रकार सोचने-विचारने की झंझट के कारण मनुष्य येन-केन-प्रकारेण किसी के भी मत को अपना मत बनाकर काम चलाने के लिए प्रेरित होता है।

निर्णय की जिम्मेदारी लेने की हिम्मत न करने वाला मनुष्य भी दूसरे मनुष्य की, और दूसरा कोई मनुष्य न मिले तो चिट्ठी की, शरण में जाता है। विचार करने का आलस्य और जिम्मेदारी से कम-ज्यादा बचने की नीयत— दोनों ही धर्म के विरुद्ध हैं। इन दोनों को श्रद्धा, भक्ति अथवा नम्रता जैसे दैवी गुणों के साथ मिला देना ठीक नहीं है। चिट्ठी की शरण में जानेवाला मनुष्य ईश्वर की शरण में नहीं जाता, परन्तु अकस्मात की शरण में जाता है। दैव और अकस्मात एक ही चीज हैं। दोनों अदृष्ट होते हैं। जिसका कारण दृष्ट नहीं होता वह अदृष्ट है, अ-कस्मात है।

मान लीजिए कि बुद्धि का काँटा बिलकुल तटस्थ है, परन्तु एक ओर या दूसरी ओर कोई-न-कोई निर्णय करना अनिवार्य है। ऐसे समय मनुष्य को अपने हृदय ही शरण में जाना चाहिए। ऋषि कहते हैं : 'हृदयेन हि सत्यं जानाति।' मनुष्य की निर्णय-शक्ति, साहस, जिम्मेदारी और स्वतंत्रता हृदय में ही प्रतिष्ठित होते हैं; और हृदय कभी तटस्थ नहीं रह सकता।

'सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणम् अन्तःकरणप्रवृत्तयः।'

अवसर कितना भी गम्भीर और महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, मनुष्य को उतना ऊँचा उठना या उड़ना ही चाहिए। अपने हृदय पर विश्वास रखकर मनुष्य को प्रसंगानुसार बड़ा बनना ही चाहिए।

चिट्ठियों के खिलाफ हमारी मुख्य दलील यह है कि वे मनुष्य को अपनी जिम्मेदारी से मुक्त करके उस नास्तिक और कायर बनाती हैं। चिट्ठी डालकर मनुष्य जो कदम उठाता है, उसके लिए कौन जिम्मेदार है ? समाज के सामने तो वह खुद ही जिम्मेदार है परन्तु मन में वह दैव की शरण में गया है, मन के सामने वह खुद जिम्मेदार नहीं है। ऐसी स्थिति में आध्यात्मिक दृष्टि से उसके इस निर्णय की कीमत शून्य से भी कम है। इतनी हद तक उसका मानव-जीवन व्यर्थ गया।

एक तर्क यह है कि ईश्वर की दुनिया में अकस्मात जैसी कोई चीज है ही नहीं; हर एक चीज के लिए कार्य-कारण-भाव होता है और इसलिए चिट्ठी के निकलने में या उछाले हुए पैसे के गिरने में ईश्वर की इच्छा अवश्य ही प्रकट होती है। पहली दृष्टि में यह तर्क सच्चा मालूम होता है, परन्तु वह निरा भ्रम है। दुनिया में अकस्मात जैसी कोई चीज नहीं है। प्रत्येक घटना कार्य-कारण-सम्बन्ध से जुड़ी हुई है, यह भी सच है। परन्तु इसके लिए हम भ्रमवश चाहे जैसे कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित करने बैठ जाएँ, तो यह कैसे चल सकता है ? मेरी बात तू मानेगा तो तू बुद्धिमान है, वर्ना तू मूर्ख है— ऐसा हम किसी आदमी से कहें, तो भी उसकी बुद्धिमानी या मूर्खता उसकी आज्ञाकारिता में नहीं समा जाती; जिसकी जीभ नाक के सिरे तक न पहुँचे उसे अपने माता-पिता प्रिय नहीं हैं— ऐसा बालकों से हम कहें, तो उसके आधार पर बालकों के प्रेम की परीक्षा नहीं होती; आज मेरे मित्र का पत्र आयेगा तो ही मैं मानूँगा कि वह जिन्दा है, वर्ना मानूँगा कि वह मर गया है— ऐसा निर्णय करके बैठ जाने वाले आदमी के संकल्प पर उसके मित्र की आयु अवलम्बित नहीं होती; उसी प्रकार चिट्ठियाँ डालने में बुद्धिमानी अथवा शुद्ध निर्णय नहीं आ सकता। मनुष्य की शराब पीकर धर्मबुद्धि या डरपोकपन को मिटाने में जितनी बुद्धिमानी या बहादुरी है उतनी ही बुद्धिमानी और ईश्वर-निष्ठा चिट्ठियाँ डालकर मन का संशय अथवा दुविधा मिटाने में है।

एक बार एक सज्जन ने किसी अवसर पर कोई निर्णय न कर सकने के कारण चिट्ठियाँ डालीं। चिट्ठी का उत्तर ही ईश्वर की प्रेरणा है, ऐसा वे मानते थे। चिट्ठी का उत्तर उन्हें मिला। उस निर्णय के अनुसार चलने की तैयारी उन्होंने की; इतने में अपने एक बुजुर्ग का पत्र उन्हें मिला। उसमें लिखी तफसील और सलाह के मुताबिक उन्हें अपना चिट्ठी का निर्णय बदलना पड़ा ! इस मामले में यदि यह कहा जाए कि 'घन्टे भर पहले चिट्ठी का निर्णय ठीक था; लेकिन अब अधिक तफसील और सलाह मिल गई है, इसलिए त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ ईश्वर ने पहले का निर्णय रद्द कर

दिया है', तो वह हास्यास्पद ही माना जाएगा।

कुछ लोग यह मानते हैं कि 'सिक्कों को हम जैसा भी उछालें, तो भौतिक शास्त्र के नियम के अनुसार वह गुलाट खाकर बिना चूके शास्त्रसिद्ध रीति से उलटा या सुलटा जमीन पर गिरेगा। उछालते समय दी गई मूल प्रेरणा यानी जोर की गति आदि निश्चित कारणों के फलस्वरूप उसका अमुक ही पहलू ऊपर आयेगा। अनिश्चितता मुख्यतः पैसे को उछालते समय काम में ली गई शक्ति के माप और दिशा में ही रहती है। परन्तु जब मनुष्य विशेष संकल्प के साथ शरणागत होकर सिक्का उछालता है तब कोई दैवी शक्ति बीच में पड़कर 'उसकी अँगुलियों को विशेष प्रेरणा देती है।'

भोले-भाले लोगों को अपनी बात सिद्ध करनी है अथवा मनवानी है, इसलिए उन्हें बुद्धि पर अत्याचार करके ऐसी दलीलें करना सूझता है। मान लीजिए कि दो भाइयों को किसी गाँव जाने या न जाने का निर्णय करना है। स्थिति ऐसी है कि दोनों साथ जाएँ तो ही उनका काम हो सकता है। किसी एक के जाने से काम नहीं चल सकता। ऐसे मौके पर मान लीजिए कि दोनों एक-दूसरे से कहे बिना स्वतंत्र रूप से अपने-अपने कमरे में जाते हैं और ईश्वर की शरण में जाकर चिट्ठियों द्वारा जाने या न जाने का प्रश्न हल करते हैं। इसमें एक भाई को उत्तर मिलता है कि 'जाओ' और दूसरे को उत्तर मिलता है कि 'मत जाओ'। अव वह दैवी या अदैवी गूढ़ शक्ति कहाँ गई ? भोले लोग इसका उत्तर देंगे कि 'ईश्वर ने जान-बूझकर उन्हें उलझन में डाला था; ईश्वर चाहता था कि दोनों मिलकर एक ही चिट्ठी डालें और अपना निर्णय प्राप्त करें। 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' । इसलिए किसी भी चीज को दलीलों की टाँगों पर खड़ा किया जा सकता है। परन्तु ऐसी दलीलें बुद्धि और आस्तिकता का दिवाला सूचित करती हैं। अपने हृदय के विश्वास को खोकर हम ईश्वर पर कभी अपना विश्वास बढ़ा नहीं सकते। थोड़ी देर सोचकर और समय न हो तो क्षणभर के लिए बुद्धि और हृदय को योगयुक्त बनाकर निर्णय प्राप्त करना चाहिए और उसके अनुसार 'सुख-दुःखे समे कृत्वा' आचरण करना चाहिए तथा यह समझना चाहिए कि सच्चा फल बाहरी बातों में नहीं है, किन्तु हृदय के विकास और बुद्धि के उपयोग में है; इसी में मानव-जीवन की सार्थकता है।

हम यह नहीं कहना चाहते कि चिट्ठी डालने का कोई लाभ ही नहीं है। जहाँ दोनों पक्ष समान रूप से महत्त्वरहित हों, कोई न कोई निर्णय देना अनिवार्य हो तथा किसी एक पक्ष के निर्णय को दूसरा पक्ष स्वीकार न करे, वहाँ चिट्ठियाँ डाली जा सकती हैं। उदाहरण के लिए, खेल-कूद में कौन-सा पक्ष पहले खेलना आरम्भ करें यह तय करने के लिए यदि चिट्ठियाँ डाली जाएँ या पैसा उछाला जाए, तो पक्षपात की शंका न रहे और खेल-कूद शुरू हो जाए । दो एक-सी पुस्तकों मे से

एक का पुट्ठा लाल है और दूसरी का हरा है। दो लड़के इनमें से कोई पुस्तक पसन्द नहीं कर पाते और आपस के समझौते से भी किसी निर्णय पर आना नहीं चाहते। ऐसे मौके पर कोई आदमी आँखें बन्द करके दोनों पुस्तकों को अपने हाथों में ले और दोनों लड़कों से आँख बन्द करके एक-एक पुस्तक ले जाने को कहे, तो पुस्तकों का बँटवारा हो सकता है। यह मज़े की बात है। रंग के साथ पुस्तकों का कोई सम्बन्ध नहीं है; और लड़कों का झगड़ा निबट जाता है। परन्तु जिस मामले में निर्णय का थोड़ा भी महत्त्व हो उसमें बुद्धि और हृदय का उपयोग करना चाहिए और जिसका अधिकार हो उसे ही जिम्मेदारी के साथ निर्णय करना चाहिए। इसी में मानव-जीवन की महत्ता है और बुद्धिदाता अन्तर्यामी प्रभु के प्रति हमारी निष्ठा है।
१९३१

४९. धर्म-संकट में क्या किया जाए ?

हमारे सामने धर्म-संकट के अनेक अवसर आते हैं। उस समय हमें सूझता नहीं कि क्या किया जाए ? इस बारे में गहरा विचार करने के बाद मैं एक निर्णय पर पहुँचा हूँ।

जब तक मनुष्य निचली भूमिका पर रहता है तब तक दो मार्गों में से एक ही मार्ग विहित होता है; परन्तु ज्यों-ज्यों मनुष्य ऊपर उठता जाता है त्यों-त्यों कर्म की बाहरी सूक्ष्मता-असूक्ष्मता (योग्यायोग्यता) का महत्त्व घटता जाता है। अनेक मार्ग समान रूप से उचित होते हैं। उस समय किस वृत्ति से प्रेरित होकर हम कोई एक मार्ग पसन्द करते हैं, इसी बात पर सारा आधार रहता है; क्योंकि ऐसे समय प्रेरक वृत्ति ही कर्म का सार होती है। इस मायावी जगत में कर्म का परिणाम अच्छा क्या और बुरा क्या ?

यहाँ मुझे हिमालय के एक संन्यासी का वचन याद आता है : 'सन्त करे सो छाजे'— सन्त करे सो अच्छा। नीति की मीमांसा इससे अधिक गहराई में नहीं जा सकती।

ऊँची कला, ऊँची रसिकता और ऊँची नीतिमत्ता को कलाकार से, रसिक से और सन्त से अलग किया ही नहीं जा सकता । जिस कला-रसिक पर हमारी श्रद्धा हो अर्थात जिस कला-रसिक ने हमारी श्रद्धा प्राप्त करने के लिए पर्याप्त तपस्या की हो, वह जब कहता है कि 'यह चित्र सुन्दर है' तब हम तुरन्त ही किसी प्रयत्न अथवा विलम्ब के बिना उस चित्र में सुन्दरता का दर्शन कर सकते हैं। स्वाद में

इष्ट क्या है और अनिष्ट क्या है— अर्थात कौन-से स्वाद को रुचिकर मानना चाहिए और कौन से स्वाद को रुचिकर नहीं मानना चाहिए— यह बात जितनी हम कुदरत से सीखते हैं उतनी ही माँ से भी सीखते हैं।

(मुझे एक घटना याद है। उस समय मैं बच्चा ही था। हम लोग रामदुर्ग में रहते थे। मेरी माँ ने गुलाब का एक सुन्दर सुगन्धित फल मुझे सूँघने को दिया। मुझे उसकी गन्ध अच्छी नहीं लगी ! माँ ने मुझे उलाहना दिया और कहा : "तू इसकी सुगन्ध को अनुभव नहीं कर सकता ? तुझे इसकी सुगन्ध प्यारी नहीं लगती ? कैसा 'वनमानुष' है !" बस, उसी क्षण से मैं गुलाब को हृदय से सुगन्धित फूल मानने वाला बन गया, गुलाब को सूँघकर मुझे अपूर्व आन्नद आने लगा। मैं आशा करता हूँ कि आप लोग मुझे दुनिया से निराला (freak) आदमी नहीं मानेंगे।)

सन्त—जीवित सन्त हमें जो मार्ग बतायें वही योग्य मार्ग है। जिस हद तक हमारे भीतर सन्त के गुण आये होंगे उस हद तक हमारी जागृति ही धर्माचरण है। इस मान्यता में अराजकता नहीं है, अव्यवस्था नहीं है। बाहरी बन्धन न होने का अर्थ यह नहीं कि व्यवस्था नहीं है। जीवन में सभी जगह कहाँ बाह्य नियमन और नियंत्रण होता है ?

जीवन की व्याख्या करना असम्भव है। जीवन को नियम-बद्ध करना असम्भव है। जैसे जीवन स्वतंत्र (स्वबद्ध) है वैसे नीतिधर्म भी स्वतंत्र है। नीति को मनुष्य से कभी अलग नहीं किया जा सकता। 'Morality is subjective' इस वचन का यह नया अर्थ है।

तब क्या सामाजिक नीति जैसी कोई चीज है ही नहीं ? ऐसी बात नहीं। समाज एक अर्ध-जीवन्त रचना है। जिस हद तक उसमें आत्मा का प्रवेश होता है उस हद तक उसकी अपनी नीति अवश्य होती है। परन्तु व्यक्तिगत नीति, सन्तों की नीति और सभ्य समाज की नीति परस्पर विरोधी नहीं होती— एक ही होती है।

नीति की यह मीमांसा पाश्चात्यों द्वारा विकसित हुई नीति-मीमांसा जैसी लगती है, परन्तु तत्त्वतः यह उससे सर्वथा भिन्न है।

पाश्चात्य नीति के पीछे द्वैत है। 'द्वितीयाद्वै नीतिस्सम्भवति' यह उनका सूत्र है। अद्वैत में नीति के लिए कोई स्थान नहीं है।' 'morality is the law of conduct towards others' यह पाश्चात्य तत्त्वज्ञान की व्याख्या है। हम कहें : 'Morality is the law of self-realisation; इस व्याख्या को ध्यान में रखें और आत्मानुभूति के स्वरूप को समझें, तो धर्म-संकट कभी नहीं आयेगा।

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु।
प्रमाणं अन्तःकरणप्रवृत्तयः ।।

३०-१२-'२०

५०. मरणोत्तर जीवन की स्पष्ट कल्पना

स्वर्ग-नरक के इतिहास और भूगोल पुराणों में खूब पढ़ने को मिलते हैं। जैसे भारत के उस पार तिब्बत है, दक्षिण में लंका है, सात समुद्रों के पार अंग्रेजों के श्वेतद्वीप हैं, वैसे ही बादलों के उस पार आकाश में स्वर्गभूमि अर्थात कोई देश होगा और वहाँ देवगण रहते होंगे। यह कल्पना पुराणों के वर्णनों के आधार पर मन में पैदा होती है। पृथ्वी पर स्थित देश उसकी सतह पर पास-पास हैं, जबकि स्वर्ग के इन्द्रलोक, चन्द्रलोक, गोलोक, विष्णुलोक आदि जहाजों के डेक या केबिनों की तरह अथवा रेलगाड़ी के इण्टर क्लास के डिब्बों में लगी सीटों की तरह या बम्बई की चालों की मंजिलों की तरह ऊपर-नीचे हैं, इतना ही फर्क है।

नागलोक की बात इससे जरा अलग और विचित्र है। पानी में डुबकी लगाकर नागलोक पहुँचा जा सकता है। यह कैसे होता होगा, कुछ समझ में नहीं आता। इसकी कोई कल्पना ही नहीं आती। पृथ्वी गोल है, ऐसा निश्चित हो जाने के बाद हम कहने लगे कि अमेरिका पाताल की भूमि है। तब फिर यमलोक की स्थापना कहाँ की जाए ?

ये सब लोक काल्पनिक हैं, ऐसा बार-बार सिद्ध करने के दिन अब लद चुके हैं। ये सारे लोक विचारशील लोगों के मन से कभी के उड़ चुके हैं। किन्तु इस बात का स्पष्टीकरण हमारा मन रोज-रोज माँगता है कि मरणोत्तर जीवन कैसा होगा । यह कहने में कोई हर्ज नहीं कि सामान्य विलासी लोगों को इहलोक में जो सुखोपभोग चाहिए उसी का संशोधित संस्करण हमारे पुराणों का स्वर्गलोक है। आखिर मनुष्य की कल्पना भी बेचारी जा-जाकर कहाँ तक पहुँचने वाली थी ? जो कुछ आँखों से देखा हो, अनुभव किया हो। उसी के विभिन्न अंशों को एकत्र करने से स्वर्गादि लोकों की बाह्य रूपरेखा तैयार होती है। पृथ्वी पर मनुष्य तरह-तरह के मधुर पेय— शरबत और आसव पीता है; स्वर्ग में इन सबके प्रतिनिधि के रूप में मनुष्य ने माधुर्य की पराकाष्ठा जैसे अमृत की कल्पना की। पृथ्वी पर विलासी लोग यदि सर्वभोग्य वारांगनाओं का उपभोग करते हैं, तो स्वर्ग में उनके स्थान पर अप्सराओं की योजना की गई है। पृथ्वी पर विषय-सेवन करने वाले मनुष्यो को व्याधि, जरा और मरण का शिकार होना पड़ता है। स्वर्ग काव्यप्रदेश के समान काल्पनिक होने के कारण वहाँ ये तीनों झंझटें नहीं हैं, ऐसा स्वर्ग-विधाता कल्पकों ने निश्चित किया है। पौराणिक भूगोलशास्त्रवेत्ता कहते हैं कि स्वर्ग में व्याधियाँ नहीं हैं और आधियाँ अर्थात मानसिक चिन्ताएँ भी नहीं हैं। परन्तु वहाँ का इतिहास इसके विरुद्ध प्रमाण देता है। स्वर्ग का राजा इन्द्र भागक्षीण नृपालों की तरह सदा डर-डर कर

जीता है। किसी ने भी तपस्या आरम्भ की कि उसका सिंहासन डोलने लगता है। कोई भी बलवान व्यक्ति उठ कर खड़ा हुआ कि उसके सामने इन्द्र का यह प्रस्ताव तैयार ही रहता है : 'तू ही इन्द्र बन जा ! और गुप्त रूप में अपने सुकुमार शस्त्रों' (अप्सराओं)को भेजने के लिए भी इन्द्र सदा तैयार ही रहता है। रोज नए-नए दाँव-पेच चलाकर स्वर्ग में उसे अपना स्थान सुरक्षित रखना पड़ता है। इससे बड़ी आधि दूसरी क्या हो सकती है ?

और, बाकी के देव भी क्या किसी हद तक निश्चिन्त रहते हैं ? नहीं। वे अमृत का पान करते हैं और अप्सराओं का नृत्य देखते हैं। गाना-बजाना और सारी इन्द्रियों को तृप्त रखना यही स्वर्ग का अखंड क्रम है। परन्तु ऐसी मिठास से बिगड़ जाने वाले मुँह को फिर स्वाद वाला बनाने के लिए ही मानो स्वर्ग में सोंठ के तीखे चरपरे लड्डू भी रखे गए हैं। स्वर्ग के देवों में एक-सा दर्जा नहीं है। प्रत्येक देव को अपने-अपने पुण्य के अनुसार 'अ,' 'ब' या 'क' वर्ग मिलता है और स्वर्ग नाम के होटल में जिसका जितना पुण्यांश जमा होता है। उसके अनुसार उसे सुख भोगने को मिलता है। बैंक में जमा रकम खतम हुई कि स्वर्ग के मालिक प्राणी को नीचे धकेल ही देते हैं। देवों को सबसे बड़ी चिन्ता अपने दरजे की होती है। जिनका पद अपने से नीचा हो उनकी ओर तुच्छता से देखना और जिनका पद ऊँच हो उनसे ईर्ष्या करना— इस तरह की मत्सर का पोषण करने वाली तीखी चरपरी व्यवस्था यदि स्वर्ग में नहीं होती, तो स्वर्ग का अखंड सुखमय जीवन बिलकुल ऊबाऊ बन जाता !

राजा-महाराजाओं के दरबारी भोग-विलासों को देखकर जैसे मनुष्य को स्वर्ग की कल्पना सूझी, वैसे ही कारावास की यातनाओं के अनुभव से उसे नरक की कल्पना सूझी । नरक के बारे में भी मनुष्य की कल्पना प्रत्यक्ष अनुभव से बहुत आगे नहीं जा सकी। कष्ट पहुँचाने या बदला लेने के लिए जो-जो उपाय इस लोक में किए जाते हैं, उन्हीं का आरोपण संशोधन और परिवर्धन के साथ नरक में किया गया है। इस लोक के सुखोपभोग में जिस प्रकार रोग, बुढापे और मृत्यु की एक बड़ी कठिनाई है उसी प्रकार यातना देने की उमंग पूरी करने में भी एक कठिनाई है। मारने वाला आदमी कब थक जाएगा या उसके मन में कब दया उमड़ पड़ेगी, यह कहा नहीं जा सकता। यह एक बडी कठिनाई तो है ही । फिर भी यातना देने में मनुष्य का मन और शरीर बेरहम ओर दृढ़ बन सकते हैं। परन्तु मारपीट और तिरस्कार के अतिरेक से जिसे पीडा पहुँचानी है वह बेसुध होकर गिर जाए अथवा मर भी जाए, तो उसका क्या इलाज हो सकता है ? दोनों ही सूरतों में वह हमारी पहुॅच से बाहर जा सकता है; और इसका कोई इलाज नहीं हो सकता। परन्तु नरक में ऐसी कोई कठिनाई नहीं है। वहाँ के यमदूतों का यह धन्धा ही होता है, इसलिए

उन्हें थकान, उकताहट या दया छू भी नहीं सकती । और वहाँ की यातनाएँ कितनी भी भयंकर क्यों न हों, मनुष्य न तो बेसुध होकर नीचे गिरता और न कभी मरता। मर कर ही नरक में जाया जाता है, इसलिए वहाँ यातनाओं से दुबारा मरने की बात ही नहीं रहती।

इस प्रकार स्वर्ग और नरक की लोगों में रूढ़ बनी हुई कल्पना मनुष्य के अनुभव के आधार पर ही खड़ी की गई है, इतना समझ लेने के बाद उसकी बहुत कीमत नहीं रह जाती। फिर भी मन की यह वृत्ति बनी रहती है कि मनुष्य-जीवन से अधिक उच्च जीवन अवश्य होना चाहिए और मनुष्य-जीवन से अधिक हीन, अधिक अर्थशून्य और अधिक सन्ताप देने वाला जीवन भी होगा ही।

अत: मरणोत्तर जीवन, पारलौकिक जीवन, स्वर्गलोक, मृत्यु आदि क्या हैं, इस पर पुन: एक बार अपने मन में विचार करने की इच्छा मानव-जाति को बार-बार होती है। एक देह का त्याग करने के बाद तत्काल अथवा कालान्तर में, इसी पृथ्वी पर अथवा अन्यत्र, मनुष्य-योनि में या अन्य किसी योनि में जन्म लेकर जीव नई देह धारण करता है और नया अनुभव लेना आरम्भ करता है। इस सर्वमान्य लोक-कल्पना का किसी तरह विरोध किए बिना हम सर्वथा भिन्न दृष्टि से इन बातों पर विचार करेंगे।

कोई भी मनुष्य जब अपने पूर्वजों का श्राद्ध करता है तब किसका श्राद्ध करता है, किस चीज का श्राद्ध करता है ? क्या वह आत्मा का श्राद्ध करता है ? नहीं। आत्मा सर्वव्यापी अर्थात, विभु है। उसके लिए मरण नहीं है।, स्थानान्तर अथवा लोकान्तर नहीं है। इसलिए आत्मा के श्राद्ध का तो प्रश्न ही नहीं उठता। तब क्या मनुष्य देह का श्राद्ध करता है ? नहीं, देह का भी नहीं। देह की तो राख या मिट्टी हो जाती है। कदाचित देह अन्य प्राणियों का आहार बनकर उनके साथ एक रूप भी हो गई हो। मृत देह को खाने वाले सियारों, भेड़ियों या गिद्धों का हम श्राद्ध नहीं करते। अथवा सम्भव है कि देह में कीड़े पड़ गए हों और उनका ही एक बड़ा देश बस गया हो; लेकिन उनकी तृप्ति के लिए भी हम तर्पण नहीं करते अथवा पिंड नहीं रखते।

अब बाकी बचता है मरने वाले मनुष्य की वासनाओं का समुच्चय अथवा पीछे रहने वाले लोगों के मन में रही मृतक-सम्बन्धी भावनाओं का समुच्चय। इन दो वासनात्मक और भावनात्मक देहों के द्वारा मनुष्य मृत्यु के बाद शेष रहता है। इन दो में से एक देह का अथवा दोनों देहों का श्राद्ध सम्भव तो है।

लोक-कल्पना यह है कि मरा हुआ पूर्वज महाशूर, क्रूर, पेटू या आलसी हो तो उसका वासना-समुच्चय अथवा लिंग-शरीर बाघ या भेड़िये के शरीर में जन्म लेता है। यदि वह मिलनसार न.होगा, तो बाघ की योनि प्राप्त करेगा। समान शील

वालों का संघ बनाने की वृत्ति वाला होगा, तो भेड़िये की योनि उसके लिए अधिक अनुकूल सिद्ध होगी। परन्तु श्राद्ध इन बाघों या भेड़ियों का नहीं होता। ऐसा हो तब तो उनके नाम पर खीर और लड्डू अर्पण करने के लिए किसी वेद-शास्त्र-सम्पन्न ब्राह्मण को बुलाने पर यह तमाशा हो सकता है कि हमारे पूर्वज खीर और लड्डू के बदले उस ब्राह्मण को ही पसन्द करें और चट कर जाएँ; और श्राद्ध में एक समय जो पशुहत्या होती थी। उसके बदले ब्रह्महत्या हो जाए ।

(मानव-पिता मनु भगवान ने कहा है कि 'मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसं इहाद्म्यहम् इति मांसस्य मांसत्वम्।'— जिसको मांस मैं यहाँ खाता हूँ वह (सः) मुझे (माँ) परलोक में खायेगा, इसलिए मांस को मांस कहते हैं। इस न्याय से यदि हम श्राद्ध का विचार करें, तो कहना होगा कि दुनिया में सब जगह श्राद्ध ही चल रहा है।)

पूर्वजों में से कोई अपने कर्मो, वासनाओं और संस्कारों के अनुरूप किसी भी योनि में गया हो और वहाँ अपनी पुरानी वासनाओं की तृप्ति करते-करते नई वासनाओं का बन्धन रचता हो, तो उससे हमारा कोई वास्ता नहीं । हमारा कोई पूर्वज अपना शरीर छोड़कर चला गया हो, तो भी इस लोक में उसका सम्पूर्ण नाश नहीं होता। उसके द्वारा किए गए अच्छे-बुरे कर्म, उसके द्वारा प्रेरित अच्छी-बुरी प्रवृत्तियाँ और उसके द्वारा मानव-स्वाभाव के विकास में की गई वृद्धि— यह सब उसके चले जाने के बाद भी इस लोक में मौजूद रहता है।

उसके साथ जिनका सम्बन्ध था उन सगे-सम्बन्धी, शत्रु-मित्र आदि लोगों की स्मृति और भावना में वह पहले की तरह जीवित रहता है; इतना ही नहीं, उसके बाकी रहे स्मृतिगत जीवन में दिन-प्रतिदिन परिवर्तन भी होते हैं। मृत्यु के बाद उसका निवास एक ही शरीर मे नहीं रहता; स्मृति के रूप में , कार्य के रूप में अथवा प्रेरणा के रूप में वह जितने समाज में व्याप्त होगा उस समस्त ममाज में उसका निवास होता है; और उसके इस जीवन को लक्ष्य में रखकर ही उसका श्राद्ध सम्भव हो सकता है। शिवाजी महाराज जैसे पुण्यश्लोक राजा ने मोक्ष प्राप्त किया हो या इस देश अथवा दूसरे देश में राष्ट्र-पुरुष का जन्म लिया हो; उनकी इस नई यात्रा— 'कैरियर'— का हम श्राद्ध नहीं करते। आज हम उन शिवाजी महाराज का श्राद्ध करते हैं, जो हमारे हृदय में बसकर जीते हैं, वहाँ बड़े होते हैं— विभूति के रूप में बढ़ते हैं। श्राद्ध मरे हुए जीवों का नहीं होता; परन्तु देहत्याग करने के बाद उनका जो अंश समाज में जीवित रहता है, समाज के द्वारा प्रवृत्ति करता है, विकसित होता है और पुरुषार्थ करता है, उसी का श्राद्ध हो सकता है। यह मरणोत्तर सामाजिक जीवन ही सच्चा पारलौकिक जीवन है। शास्त्रकारों ने मनुष्य की जीवित अवस्था के छह लक्षण गिनाये हैं; : 'अस्ति, जायते, वर्धते, अपक्षीयते, परिणमते, म्रियते।'

ये सब लक्षण इस पारलौकिक जीवन को भी लागू होते हैं। इस कारण यह जीवन काल्पनिक नहीं, परन्तु वास्तविक है, व्यापक है, दीर्घजीवी है और परिणामकारी है। यही पारलौकिक जीवन है। यह जीवन यदि सुन्दर, उन्नतिकर, शुभकर होगा, तो वही जीव का स्वर्ग होगा। वही जीवन यदि समाज का अध:पतन करने वाला होगा, आर्यत्व का ध्वंस करने वाला होगा, तो वह जीव का नरक होगा। इस प्रकार सोचें तो प्रत्येक जीव का स्वर्ग-नरक उसकी मृत्यु के बाद आरम्भ होता है, परन्तु वह जीव तो इस लोक में ही ओतप्रोत रहेगा।

मुसलमान लोग मानते हैं कि मृत्यु के बाद मनुष्य 'बरज़ख नाम के एक स्थान में रहकर कयामत की— अन्तिम न्याय के दिन की— राह देखता है। सब प्राणी जब तक मरें नहीं और यहाँ का सारा विराट नाटक पूरा न हो तब तक अन्तिम न्याय के लिए सब प्राणी हाजिर नहीं रह सकते और हिसाब की बहियाँ भी बन्द नहीं हो सकतीं। हिसाब पूरा हो, सब लोग (नट) नाटक के अंत में इकट्ठे होते हैं वैसे इकट्ठे हों और सारा भेद खुले, तो ही सबके सामने न्याय दिया जा सकता है। न्याय के अन्त में जिनके भाग्य में स्वर्ग (बहिश्त) आये वे हमेशा स्वर्ग में आनन्द भोगेंगे और जिनके भाग्य में नरक— जहन्नुम (दोज़ख) आये वे हमेशा वेदना में डूबे रहेंगे। यह फैसला हो तब तक मरे हुए सभी लोगों को बरज़ख के वेटिंग रूम में बैठे रहना होगा। बरज़ख कर्मभूमि भले न हो, परन्तु वहाँ मनुष्य की स्थिति में परिवर्तन तो होता ही रहता है; क्योंकि उसके पाप-पुण्य का हिसाब बैंक में रखी हुई अमानत की तरह अथवा व्यापार में लगायी हुई पूँजी की तरह बढता-घटता रहता है।

मैंने यदि एकाध कुआँ अपने जीते-जी बनवाया होगा तो जैसे-जैसे लोग उस कुएँ का उपयोग करेंगे वैसे-वैसे बरज़ख में मेरे नाम उसका पुण्य (सवाब)बढ़ता जायगा। यदि मैंने कोई बिलकुल नए ही प्रकार का सत्कार्य किया होगा और लोग उसका अनुकरण करने लगे होंगे, तो सत्कृत्य के नूतन क्षेत्र की खोज करने वाले के नाते भी मेरा अनुकरण करने वालों के पुण्य में से कुछ अंश (रॉयल्टी) मुझे बरज़ख में मिलता रहेगा। एबल और केन नामक दो भाइयों की लड़ाई के फलस्वरूप मनुष्य-जाति में प्रथम बन्धुहत्या हुई थी। इसलिए अब मनुष्य-जाति में कोई भी खून करता है तो खून का रास्ता दिखाने वाले बन्धुघाती केन के नाम पर हर बार खून के पाप का कुछ अंश जमा होता ही है। परलोक में 'पेटेंट एक्ट' भले न हो, किन्तु न्याय का बहीखाता हमेशा जाग्रत रहता है।

उपरोक्त बरज़ख की कल्पना और हमारी पारलौकिक जीवन की कल्पना लगभग एक-सी है।

हम जिसे कीर्ति कहते हैं वह वास्तव में इस पारलौकिक जीवन का प्रतिबिम्ब है। पारलौकिक सुदीर्घ जीवन के साथ तुलना की जाए, तो जन्म-मरण के दो छोरों

के बीच का हमारा सुख-दुःख से भरा एहिक जीवन बहुत छोटा या संक्षिप्त कहा जाएगा। परन्तु पुरुषार्थ की दृष्टि से देखा जाए, तो यह जीवन बहुत महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि यही कर्मभूमि है। भोग की दृष्टि से देखें तो यह देहगत जीवन अत्यन्त अल्प और तुच्छ है। इसलिए जो मनुष्य अपने नफे-नुकसान का हिसाब कर सकता है, उसे एहिक सुखों पर अधिक दृष्टि न रखकर पारलौकिक यशः शरीर की, उसमें मिलने वाले कीर्तिरूपी सुखोपभोग की और लोगों द्वारा निरन्तर प्राप्त होने वाली कृतज्ञता की ही अधिक चिन्ता करनी चाहिए। इस लोक में हम यदि सत्कर्म करेंगे, लोगों को सत्प्रेरणा देंगे और पीछे रहने वालों का सर्वांगीण विकास करेंगे, तो मृत्यु के बाद इन सबमें वृद्धि होती रहेगी और हमारा मरणोत्तर जीवन परिपुष्ट तथा लोगों की उन्नति करने वाला बनेगा।

ऐसे पारलौकिक जीवन का प्राकृत लोगों को ख्याल नहीं होता, इसीलिए उन्हें स्वर्ग-नरक के काल्पनिक इतिहास और भूगोल का प्रलोभन दिखाया गया है; अथवा प्रलोभन के स्थान पर यह भी कहा जा सकता है कि उनके सामने वस्तुस्थिति का ही एक बालग्राह्य चित्र प्रस्तुत किया गया है।

तब मरणोत्तर जीवन अर्थात साम्पराय क्या है ?

१. मनुष्य मृत्यु के बाद भी अपने विचारों, अपनी भावनाओं, अपने संकल्पों तथा अपने द्वारा प्रेरित पुरुषार्थों के योग से समाज में जीवित रहता है। मृत्यु के बाद का यह जीवन उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है जितना कि मृत्यु से पहले का जीवन। वह परिपुष्ट भी होता है और क्षीण भी होता है। वह जीवन समाज की उन्नति करने वाला हो तो वही मनुष्य का स्वर्ग है। और यदि वह जीवन समाज को नीचे गिराने वाला हो तो वही मनुष्य का नरक होता है। पंच महाभूतों से बने शरीर में वास करने की अपेक्षा समाजरूपी शरीर में वास करके मनुष्य अत्यन्त दीर्घ जीवन प्राप्त कर सकता है और ऐसे जीवन की सफलता का अधिकारी बनता है। इस मरणोत्तर जीवन का व्यक्तिरूपी दर्पण में, अहंकार-रूपी दर्पण में जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वही कीर्ति है, वही यश है।

२. मनुष्य को मृत्यु के बाद के समाजगत जीवन का ख्याल नहीं होता, इसीलिए कीर्ति, यश, पुण्य, स्वर्ग, नरक आदि कल्पनाएँ रचकर मनुष्य के सामने प्रस्तुत की गई हैं। परलोक कोई पृथ्वी से बाहर है, ऐसी बात नहीं। परलोक का अर्थ है मृत्यु के बाद की स्थिति। इसी स्थिति को उपनिषदों में 'साम्पराय' नाम दिया गया है। बालकों जैसी बुद्धि रखने वाले मूढ़ को इस 'साम्पराय' की पहचान नहीं होती। 'न साम्परायः प्रतिभाति बालम्।' मूढ़ लोग यह मानते हैं कि शरीर उसके सुख-दुःख उन सुख-दुःखों का साधन बनने वाली स्थावर और जंगम सम्पत्ति, इन सुख-दुःखों का भोक्ता अहंकार (अस्मिता)और शरीर टिके उतने समय में मर्यादित आयु— इन

सबमें ही उनका सारा जीवन समा जाता है। परन्तु इन सबको मिलाकर हमारा जो व्यक्तित्व बनता है. वह हमारे जीवन का केवल एक अल्प अंश है। वास्तव में काल, देश (व्याप्ति) और आधार का विचार करने पर मालूम होगा कि हमारा जीवन अत्यन्त विशाल है। यह सत्य जिसने समझ लिया है और जिसके गले उतर गया है, वह निश्चित रूप से निष्पाप और अमर होगा।

३. ऐसा मनुष्य यदि सन्त तुकाराम के शब्दों में कहे कि 'मरण माझें मरोनि गेलें, झालों मी अमर— मेरी मृत्यु मर गई और मैं अमर हो गया हूँ, तो इसका अर्थ समझना कठिन नहीं है। जीवन की दृष्टि से शारीरिक मृत्यु बिलकुल तुच्छ है, इतना तो आसानी से हमारी समझ में आ जाना चाहिए।

१९३३

५१. सृष्टि की संहार-लीला का बोध

राजा रूठे नगरी रक्खे अपनी
मैं हर रूठ्या कहाँ जाना ?
— मीराबाई

यूरोप में एक भयंकर संहार-लीला विश्वनाश का संकल्प करके केवल मुहूर्त-की ही प्रतीक्षा कर रही है। ऐबिसीनिया, चीन, स्पेन वगैरा के अनुभव अभी ताजे ही हैं। मनुष्य जब नाश करने के लिए तैयार हो जाता है, उस समय प्रत्यक्ष हिंसा से जितना नुकसान होता है उसके बनिस्बत हिंसावृत्ति के बढ़ने से हृदय-नाश के रूप में जो नुकसान होता है वह कहीं अधिक होता है। फिर भी ये सब मानवीय आपत्तियां हैं। मनुष्य चाहे तो इनसे बच सकता है। शत्रु की शरण में जाकर, युद्ध से भाग कर या दूसरे देश में जाकर मनुष्य इन आपत्तियों से खुद को बचा सकता है। परन्तु यह मार्ग कायरों का है; वीरों को यह पसन्द नहीं आता।

वीरों को भी मानवीय संहार से बचने कौ उपाय मिल सकता है। शत्रु से अधिक तैयारी करके और बहादुरों का बलिदान दे कर बाकी के लोग बच सकते हैं। मनुष्य सत्याग्रह के द्वारा भी युद्ध का इलाज कर सकता है और बहुत-सी प्राणहानि को टाल सकता है।

परन्तु जब कुदरत का कोप होता है, जब हरि रूठता है, उस समय बचने का कोई उपाय नहीं रह जाता। भूकम्प, बाढ़ कॉलरा, प्लेग वगैरा रोग और अकाल वगैरा कुदरती आपत्तियाँ जब टूट पड़ती हैं, उस समय जो मानव संहार होता है

उससे कोई कैसे बच सकता है ? जो लोग वीर हैं वे ही बच सकते हैं, ऐसा हम नहीं कह सकते। और जो लोग कायर हैं वे ही बच सकेंगे, ऐसा भी कोई नियम नहीं है। कुदरती आफत वीरों को खा जाएगी और स्त्रियों तथा बालकों को छोड़ देगी, ऐसा नियम भी कहीं नहीं है। यह भी कहीं देखने में नहीं आता कि पवित्र लोग ऐसी आफतों से बच जाते हैं और अपवित्र लोग ही मरते हैं। जब द्वारका डूबने वाली थी तब भगवान श्रीकृष्ण ने अपने कुछ श्रेष्ठ भक्तों को द्वारका छोड़ने का आदेश देकर बचाया था। सज्जनों के प्रति बताये गए भगवान के इस पक्षपात को हम उचित मानें या न मानें, परन्तु भगवान ने दुबारा ऐसा पक्षपात कभी नहीं किया। आज तो जब-जब भी कुदरती आफत आती है। तब-तब वह किसी तरह के भेद-भाव के बिना अपना अन्धकार्य कर ही डालती है।

अभी-अभी तुर्कों के अंगोरा नगर में भयानक— जिससे भय भी भयभीत हो जाए इतना भयानक— कुदरती कोप हुआ है। महायुद्ध कितना ही भयंकर क्यों न हो, उसमें एक दिन में, एक क्षण में ४५,००० मनुष्यों का संहार आसानी से नहीं हो सकता।* युद्ध में लोग कम-से-कम एक-दूसरे पर क्रोध करते हैं। शूर-वीर लोग शत्रु से बदला लेते हैं, संकट कहाँ से आया यह जानकर उसका उपाय करते हैं। प्राचीनकाल के धर्मयुद्ध में क्षत्रिय योद्धा सोये हुए शत्रु को जगाकर, उसके हाथ में शस्त्र न हो तो उसे शस्त्र देकर और उसके पास रथ न हो तो स्वयं रथ से उतर कर पहले समानता पैदा करते थे और फिर उसके साथ युद्ध करते थे। लेकिन कुदरत ने धर्मयुद्ध का यह नियम न तो कभी माना और न कभी पाला। भूकम्प कभी यह नहीं देखता कि दिन है या रात, लोग घर में हैं या बाहर घूमते हैं। वह तो एक ही क्षण में बड़े-बड़े ऊँचे महलों को जमींदोस्त कर देता है। शहर के छोटे-बड़े सभी मकानों को इस तरह जड़ से हिला देता है, मानो वे सब ताश के महल हों !

भूकम्प के कारण कभी-कभी कितने ही मकान अपना मुँह घुमाकर उलटी दिशा में देखने लगते हैं। नदी का पाट ऊँचा होकर नदी को कहाँ का कहाँ धकेल देता है। कभी-कभी जहाँ जंगल होता है वहाँ तालाब बन जाता है और जहाँ तालाब होता है वहाँ हिमालय के जैसा पर्वतराज खड़ा हो जाता है। कहा जाता है कि इसी प्रकार प्राचीनकाल में एक पूरा महाद्वीप अटलाण्टिक महासागर के पेंदे में विलीन हो गया था। भूमध्य समुद्र के बारे में भी ऐसी ही बात कही जाती है।

परन्तु इस समय तुर्कों पर जो आफत आ पड़ी है वह तो बेजोड़ है। अ-पूर्व

* यह लेख लिखा गया उस समय हिरोशिमा और नागासाकी जैसे शहरों को पलभर में नष्ट करने वाले अणुबम का जन्म नहीं हुआ था।

भूकम्प के कारण वहाँ हजारों मकान बैठ गए हैं और हजारों लोग जमीन में दब गए हैं। इतने में पानी ने सोचा कि मैं थोड़े ही किसी से कम हूँ। मैं भी अपना चमत्कार दिखाऊँगा !' और ऐसी भयंकर बाढ़ आई कि रहे-सहे अनेक मनुष्य और ढोर उसमें बह गए। अंगोरा के लोग प्राण बचाने की चिन्ता में पड़े थे, इतने में वहाँ पागल कुत्तों की एक फौज खड़ी हो गई !

पुराणों में दी गई महान आपत्तियों की सूची में चूहों का उल्लेख है, टिड्डियों का उल्लेख है और अनाज के खेतों को बरबाद कर डालने वाले तोतों का भी उल्लेख है :

अतिवृष्टिः, अनावृष्टिः, शलभाः, मूषकाः, शुकाः।
प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेताः ईतयः स्मृताः।।

पाठान्तर में कहा गया है :

स्वचक्रं, परचक्रं च, सप्तैताः ईतयः स्मृताः।

स्वचक्र का अर्थ है आन्तरिक विद्रोह और परचक्र का अर्थ है विदेशियों का आक्रमण। इन इतियों, आपत्तियों में ईश्वर ने अब कुत्तों की एक आपत्ति और जोड़ दी है।

अंगोरा के उत्तर में काला समुद्र है। उस पर भी यह पागलपन सवार हो गया। उसने ऐसा तूफान मचाया कि जीवन (पानी) पर विहार करनेवाली अनेक नौकाओं को मृत्यु की शरण में भेज दिया।

अब इस भयंकर प्राणनाश के लिए किस पर क्रोध किया जाय ? इसका इलाज भी क्या हो सकता है ? जिस मानव-संस्कृति के हम इतने अभिमानी भक्त हैं और जिसकी रक्षा के लिए हम प्राणों की बाजी लगाने को तैयार हो जाते हैं, उस संस्कृति की कुदरत की नजर में कोई कीमत नहीं। मधुमक्खियों का छत्ता, दीमक की बांबी, समुद्र में होनेवाले प्रवाल के कीड़ों के वृक्ष जैसे घर और मानवीय महासाम्राज्य— इन सबका मूल्य प्रकृति की दृष्टि में समान है।

ग्वाले का लड़का मधुमक्खियों के छत्ते को जितनी आसानी से तोड़ देता है उतनी ही आसानी से इतिहास-विधाता बड़े-बड़े साम्राज्यों को एक क्षण में मिट्टी में मिला देता है। इतिहास कहता है कि समरकन्द और बुखारा के प्रदेश में अमुदरिया ओर सिरदरिया के किनारे तीनों महाद्वीपों का व्योपार चलता था और महान आन्तर-राष्ट्रीय संस्कृति का वहाँ विकास हुआ था। परन्तु जहाँ भगवान ने एक फूँक मारी और भयंकर आँधी आई कि रेत की बाढ़ आकर सारी आबादी— सम्पूर्ण संस्कृति— एक क्षण में उसके नीचे दब गई ! पॉम्पी शहर जिस प्रकार ज्वालामुखी की अग्नि में जलकर भस्मीभूत हो गया, उसी प्रकार मध्य एशिया का एक समृद्ध शहर रेत के समुद्र के सूखे तल में डूब गया और सदा के लिए नष्ट हो गया। वहाँ

का अत्याचारी राजा भी रेत के नीचे दबकर मर गया और लोकहित के लिए लड़नेवाले लोकमेता भी दबकर मर गए। न्यायी और अन्यायी, प्रामाणिक और अप्रामाणिक, स्वपक्षी और परपक्षी सब कोई धरती में समा गए। समूचा आनन्द और समूचा दुःख, सदाचार और अनीति, जीवन और कलह— सब एकदम शान्त हो गए। हजारों वर्षों से मनुष्य-जाति ने जो पुरुषार्थ किया था वह सारा का सारा देखते-देखते स्मृतिशेष बन गया। परन्तु स्मृति भी कैसे रह सकती थी ? स्मृति को रखने के लिए भी कोई मनुष्य जीवित तो रहना चाहिए न ? वह महान संस्कृति रेत के समुद्र में डूबकर विस्मृति की खाई में लुप्त हो गई।

हजारों वर्षों के बाद भगवान ने फिर एक फूँक मारी और आँधी उल्टी चलने लगी। रेत के समुद्र में भाटा आया सब तरह के प्राचीन अवशेष प्रकट हो गए। जिस संस्कृति की स्मृति भी नष्ट हो गई थी, उसके बहुत-से बचे हुए अवशेष खुले होकर हाथ लग गए।

जो भूकम्प अंगोरा में हुआ वही यदि भूमध्य समुद्र में हुआ होता, तो शायद उस सागर के तल की भूमि ऊँची हो जाती, मुसोलिनी का इटली, अतातुर्क का तुर्की, फ्रांस का अल्जीरिया ओर नेगस का एबिसीनिया सब पानी में डूब जाते और आज जहाँ सहारा का रेगिस्तान है वहाँ फिर से एक विशाल समुद्र गर्जना करता होता। उस स्थिति में तो यूरोप के सारे प्रश्न ही एकदम बदल जाते। और यदि सारे यूरोप में ऐसी कुदरती उथल-पुथल हो जाती, तो फासिस्टवाद और नाज़ीवाद, साम्यवाद और पूँजीवाद— सभी वाद चिरकाल के लिए निद्राधीन हो जाते। मनुष्य-जीवन इतना ज्यादा कुदरत के अधीन है, इतना क्षणभंगुर है कि उसमें क्षुद्र लाभ-हानि के लिए राग-द्वेष के ज्वर में फँसे रहना मनुष्य के लिए कहाँ तक उचित है, इस बात का विचार करने का समय अब आ गया है। यूरोप के महायुद्ध के साथ ही मानो विश्व-नियन्ता ने अपना उपहासपूर्ण व्यंग्य तथा लोक-क्षयकृत विकट हास्य करने के लिए अंगोरा का भूकम्प भेज दिया। मनुष्य ने जो युद्ध छेड़ा है उस पर भगवान ने मानो अपना यह भाष्य कर दिया है।

मानव-पिता मनु भगवान कहते हैं कि 'न चैनं दहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्।' ऐसी क्षण-भंगुर काया के सहारे रहकर अभिमान करने का और किसी के प्रति वैर रखने का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

प्राचीन लोग असंख्य महायुद्ध लड़ने के बाद जो बोधपाठ सीखे थे उसे पुनः सीखने के लिए मनुष्यों को प्राचीनों के जितनी या उससे कहीं अधिक कीमत चुकानी पड़ेगी ! यही है मनुष्य की बुद्धिमता ! !

"इस सृष्टि में नीति का साम्राज्य है या केवल अन्धे अदृष्ट का ? मनुष्य को जो दुःख सहना पड़ता है वह उसके दुराचार का परिणाम है या केवल आकस्मिक

घटना है ? निरा संयोग है ?'' ये प्रश्न बार-बार मेरे मन में पैदा होते हैं और जब अंगोरा जैसे भीषण संकट अकस्मात टूट पड़ते हैं तब तो ये प्रश्न अधिक तीव्रता से मेरे मन में उठते हैं। बिहार के भूकम्प के बाद जब गांधी जी ने कहा कि, ''इस भयानक प्रकोप के पीछे मैं भारत के महापापी की सजा देखता हूँ'' तब सारे बुद्धिवादी लोगों ने आश्चर्य प्रकट किया था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर को भी दुःख के साथ कहना पड़ा था कि 'गांधीजी का यह कथन युक्ति-संगत नहीं है। मैं ऐसे अन्धविश्वास के साथ सहमत नहीं हो सकता।' इतना ही नहीं, गांधीजी जैसे महापुरुष के इस प्रचार का जनता पर जो अनिष्ट असर होने की सम्भावना थी, उसे दूर करने के लिए उन्हें (रवीन्द्रनाथ ठाकुर को) अपना मत सार्वजनिक रूप में प्रकट करना आवश्यक मालूम हुआ। गांधी जी ने इन सब लोगों से एक ही प्रश्न पूछा : ''क्या दुनिया में अंशतः नीति का राज्य है और अंशतः अदृष्ट का राज्य है ? जो भी कुछ होता है उसका यदि कोई-न-कोई कारण होना ही चाहिए और प्रत्येक कारण का कोई न कोई परिणाम होना ही चाहिए, तो क्या इस महान प्रकोप के पीछे भी मानवीय अपराध का कोई-न-कोई कारण नहीं हो सकता ?''

बिहार के भूकम्प ने आकर गांधी जी से यह नहीं कहा था कि मैं अस्पृश्यता रूपी पाप का ही फल हूँ। गांधी जी यह नहीं मानते थे कि अस्पृश्यता केवल बिहार में ही है और दूसरे प्रान्तों में नहीं है— और न वे यह मानते थे कि बिहार का भूकम्प बिहार के पापों का फल है। कुदरत में सारी बातें एक-दूसरे से जुड़ी हुई होती हैं। पेट ठीक न हो तो सिर में दर्द होता है। राज्यकर्ताओं की नीयत बिगड़ने से प्रजा को दुःख भोगना पड़ता है। महामारी के एक रोगी के सम्पर्क में आने से सारे शहर को कॉलरा या ऐसी दूसरी किसी बीमारी का शिकार बनना पड़ता है। हाथ से चोरी करने पर भी कोड़े पीठ पर पड़ते हैं, क्योंकि हाथ और पीठ एक ही शरीर के अंग हैं। कुदरत की सजाएँ भी मानो हमें सार्वत्रिक सम्बन्ध का पाठ सिखाने के लिए ही कहीं भी प्रकट हो सकती हैं। कुदरत की इस रचना को हम पूरी तरह समझ नहीं सकते। फिर भी नीति के सार्वभौम तत्त्वों में हमारी श्रद्धा होने के कारण जिस बात को हम अनुभव से सिद्ध नहीं कर सकते तथा जिसे विरोधी तर्क से हम काट भी नहीं सकते, उसे श्रद्धा से मान लेते हैं।

गांधी जी ने समझ लिया कि बिहार का भूकम्प एक असाधारण संकट है। उसका सम्बन्ध देश के सैंकड़ों वर्षों से चले आ रहे किसी पुराने और असाधारण व्यापक पाप के साथ हो सकता है। इसलिए उस समय गांधी जी ने अपनी ऐसी श्रद्धा प्रकट की।

और, हम जरा सोचें कि अदृष्ट का अर्थ क्या होता है ? अकस्मात का अर्थ क्या होता है ? दैव किसे कहा जाता है ? जिसका कारण तो है, परन्तु जो दिखता

नहीं, वह अ-दृष्ट है। जिस घटना का 'कस्मात्' अथवा कारण हम नहीं खोज सकते, परन्तु जिसका कोई-न-कोई कारण तो होना ही चाहिए, उस घटना को हम अ-कस्मात् कहते हैं।

इस घटना के मानवीय और कुदरती कारणों का विचार करने के बाद भी कुछ कारण बाकी रह जाते हैं। 'अधिष्ठान', 'कर्ता', 'नाना प्रकार के करण' और 'विविध व्यापार'— इन चारों प्रकार के कारणों का हिसाब हो जाने के बाद जो कारण बाकी रहता है, उसे दैव कहा जाता है। ऊपर बताये चार कारणों में कोई न कोई नैतिक प्रयोजन तो रहता ही है और केवल 'अज्ञात' कारण में ही 'नैतिक हेतु का अभाव है' ऐसा निश्चित रूप से कहना युक्ति-संगत नहीं है। परन्तु यदि किसी कारण के बारे में हम इतना भी निःसन्देह कह सकें कि वह सर्वथा 'हेतुहीन' है, तो फिर वह पूर्णतया 'अज्ञात' नहीं रहता !

खैर ! बुद्धिमानी तो इसमें है कि हम प्रत्येक महान घटना से कोई-न-कोई बोध सीखें और अन्धे तथा अज्ञान बने रहने में ही बुद्धि की सफलता न मानें। जब यूरोप में महायुद्ध चल रहा है, जब पचास-पचास हजार लोग कुदरती दुर्घटना से वैसे ही मर जाते हैं, तब इसमें मनुष्य के लिए कोई भी बोध नहीं है ऐसा मानना कसाईखाने के पास आनन्द से घास चरने वाले जानवरों की स्थिति में रहने जैसा है। मनुष्य को इन सब बातों पर विचार करके कम-से-कम अपने युद्ध-ज्वर को तो दूर करना ही चाहिए।

मार्च, १९४०

५२. काल की महिमा

"काल के माहात्म्य से सब कुछ समय पर अपने आप होगा, आप क्यों जल्दबाजी करते हैं ? और, रूढ़ियों से चिपटी रहने वाली जनता में बुद्धिभेद क्यों पैदा करते हैं।" इस तरह समाज के कुछ लोग सुधारकों के सामने दलील करते हैं। "काल बड़ा बलवान है। दुनिया में जो परिवर्तन होना चाहिए उसे काल स्वयं करा लेता है। आप सब कुछ उसी पर छोड़ दीजिए। अकारण जल्दबाजी दिखा कर आप सुधार का मिथ्या प्रयत्न क्यों करते हैं ? अस्पृश्यता आज जिस रूप में है उस रूप में वह टिकने वाली नहीं है, यह हम भी जानते हैं। हम यह भी नहीं कह सकते कि आज अस्पृश्यता का जो रूप है, वही सौ दो सौ वर्ष पहले था। यह सब कालबल से बदलने वाला ही है। इसलिए काल को आप उसकी अपनी गति से चलने दीजिए।

व्यर्थ में समाज को छेड़ कर आप टूटे हुए समाज के और अधिक टुकड़े क्यों करते हैं; और नए-नए झगड़े क्यों अपने सिर लेते हैं ?" इस तरह की दलील आजकल कितने ही लोग करते हैं। परन्तु थोड़ा सोचने से भी समझ में आ जाएगा कि इस दलील में कोई सार नहीं है। वह जड़ता का ही लक्षण है।

लेकिन उस दलील के पीछे भी सनातन हिन्दू धर्म का एक विशिष्ट लक्षण जरूर मालूम होता है। सनातन हिन्दू धर्म ने काल की महिमा को पहचाना है। 'जैसे-जैसे काल बदले वैसे-वैसे हमारा कलेवर बदलना चाहिए; यह जीवन-धर्म है। यदि इस सिद्धान्त के अनुसार हम न चलें, तो काल के शिकार बन जाते हैं। यह सब जानने के कारण ही सनातन हिन्दू धर्म नित्य-नूतन और चिरंजीवी बना है। सनातन धर्म जानता है कि 'एक दिन में आम नहीं पकते।' सनातन धर्म यह भी जानता है कि 'जो रुक गए उन्हें मरा हुआ ही समझना चाहिए।'

साइकल चलती है तभी तक वह सीधी खड़ी रह सकती है। उसकी गति रुकी कि वह गिरी। देवों के राजा इन्द्र ने कहा है कि 'जो मनुष्य बैठा रहता है उसका भाग्य भी बैठा रहता है, जो उठता है उसका भाग्य भी उठता है; जो सोया रहता है उसका भाग्य भी सोया रहता है; जो चलने लगता है उसका भाग्य भी चलने लगता है। इसलिए तुम चलो, चलो, चलने लगो। जो चलता है वह अपने स्थान पर पहुँचता है।' हमारे ऋषि-मुनियों ने जीवन को यात्रा कहा है, क्योंकि जीवन में जाना, चलना ही जरूरी होता है। सनातन हिन्दू धर्म गंगा नदी के समान निरन्तर बहता आया है। इसी कारण से वह सदा ताजा, वेगवान और चिरन्तन रहा है। सनातन हिन्दू धर्म वेदों को प्रमाण मानता है, आधार मानता है; परन्तु वह वेदों के पास ही रुका नहीं रहता। वेदों का ही नया संस्करण जो स्मृतियाँ अथवा धर्म-शास्त्र हैं उनको भी वह स्वीकार करता है लेकिन वहाँ भी ठहरता नहीं। इतिहास-पुराणों को पाँचवें वेद के रूप में स्वीकार करके इन्हें भी उसने धर्म की नई प्रेरणा देने का काम सौंपा। पुराणों के बाद जो तंत्र आए, उनका भी हिन्दू धर्म में स्थान है। इन सब परिवर्तनों में बहुत-से परिवर्तन अच्छे थे, तो कुछ बहुत बुरे भी थे। हर जमाने की परेशानियाँ और कठिनाइयाँ एक-सी नहीं होतीं। बुद्धि भी एक-सी नहीं होती। और इलाज भी एक-से नहीं होते। कभी-कभी किसी रोग को मिटाने के लिए हम जो दवा करते हैं वह दवा ही मूल रोग से अधिक बुरी साबित होती है। और बाद में तो उस दवा की दवा करते-करते ही हमारा दम निकल जाता है। तंत्रमार्ग में इतनी सड़ाँध घुस गई कि इस बात का बड़ा भय पैदा हो गया कि धर्म और सदाचार का ही कहीं इसकी गन्दगी में दम न घुट जाए। इस सारी सड़ाँध को दूर करने का काम धर्म-सुधारक सन्तों ने किया। वैष्णव धर्म की सारी प्रवृत्ति पुरानी सड़ाँध और गन्दगी को जड़ से मिटा कर धर्म को भक्ति के उज्ज्वल आसन पर बैठाने के लिए थी। इसीलिए

सन्तवाणी भी सनातन हिन्दू धर्म में आधार-रूप मानी जाने लगी। जिस किसी सन्त को धर्मानुभव हुआ है वह हिन्दू धर्म के लिए प्रमाण है। और प्रत्येक अनुभव किसी भी समय और किसी भी स्थान पर एक-सा ही होना चाहिए। अतः जब कोई नया व्यक्ति अनुभव की बात लेकर आता है, तो सनातनी लोग पुराने अनुभव के साथ उसकी तुलना करके देख लेते हैं। हर जमाने की भाषा अलग होती है, विचार-पद्धति अलग होती है; किसी का अनुभव कच्चा हो सकता है, किसी का अधूरा हो सकता है— एकांगी हो सकता है। कुछ लोगों में अपने अनुभव को शब्दों में अच्छी तरह रखने की क्षमता नहीं होती और कुछ लोग तो श्रोताओं की शकित को समझ कर ही अपनी बात कहने वाले होते हैं। इसी कारण से एक अनुभव और दूसरे अनुभव में भेद दिखाई देता है। इस भेद तक अनुभवों की समानता दिखाने की, उनकी एकवाकयता सिद्ध करने की जिम्मेदारी धर्मज्ञ भाष्यकारों की है।

जिस प्रकार सृष्टि में विकास का तत्त्व सर्वत्र लागू होता है, उसी प्रकार धर्म के साक्षात्कार में भी विकास जैसी वस्तु अवश्य है। ईश्वर हमें, मनुष्य को जो ज्ञान देता है वह क्रम-क्रम से ही देता है। मुक्ति भी मनुष्य को क्रम-क्रम से ही मिलती है। क्रम के इस महान तत्त्व को ही काल-माहात्म्य कहा जाता है।

जो लोग यह कहते हैं कि ईश्वर ने हमारे पुरखों को सारा ज्ञान दे दिया था, वे सर्वज्ञ थे, इसलिए हम अपने पुरखों से आगे बढ ही नहीं सकते, वे मनातनी नहीं हैं। जो लोग सच्चे सनातनी होते हैं वे गतिशील धर्म-प्रवाह में विश्वास रखते हैं। वे यह मानने से इनकार करते हैं कि ईश्वर ने एक बार ऋषि-मुनियों और पैगम्बरों को प्रेरणा दी और और फिर ईश्वर सो गया। ईश्वर सबके हृदयो मे प्रतिष्ठित है। सच्चे सनातन धर्म का यह विश्वास है कि ईश्वर की आवाज सुनने से जिसने अन्तःकरण की शुद्धि कर ली हो, तो कोई भी मनुष्य ईश्वर की आवाज सुन सकता है। इसीलिए धर्मशास्त्रों के अक्षरार्थ से चिपटे न रहने वाले पुरुषों को नास्तिक या भ्रष्ट कह कर सूली पर चढ़ाने, जला डालने या ईट-पत्थर चला कर मार डालने की भूल हमारे सनातन धर्म ने कभी नहीं की। सनातन धर्म मे काल की महिमा का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। काल-महिमा सनातन धर्म की विशिष्टता ही है।

अतः जो लोग काल-माहात्म्य पर निर्भर रहने की बात कहते हैं, वे सनातन धर्म की नाड़ी को समझ कर सनातन वृत्ति से ही बोलते हैं। परन्तु काल-माहात्म्य के ऊपर रहने वाला यह विश्वास दो प्रकार का होता है : एक आस्तिक, दूसरा नास्तिक। एक का विश्वास आत्मा पर होता है; दूसरे का जडता पर। मनुष्य यदि कोई पुरुषार्थ न करे और केवल काल के प्रवाह में बहता रह कर कहे कि मैं काल का उपासक हूँ, काल के प्रति वफादार हूँ, तो वह अनात्मवादी नास्तिक है,

जड़ता का उपासक है, मरण-धर्मी है। लकड़ी का जो टुकड़ा पानी में बहता जाता है। वह प्रवाह-धर्मी है, जीवन-धर्मी नहीं। नदी के प्रवाह में दो पत्थर पड़े हों और उनके बीच वह टुकड़ा फँस जाए, तो वह वहीं का वहीं पड़ा रहता है और सड़ा करता है। सड़ने में उसे कोई आपत्ति नहीं होती, लेकिन अपने आप वह प्रवाह में आगे नहीं बढ़ सकता । किसी को उस पर दया आ जाए और पानी में तैरते-तैरते उसके पास जाकर उसे लात मार दे या हाथ से धक्का दे दे, तो प्रवाह में आकर वह फिर से आगे बढ़ेगा और बोल सके तो कहेगा कि 'देखो, काल का माहात्म्य, मैं कैसी प्रगति कर रहा हूँ !' कोई लोभी आदमी उसी प्रवाह में तैर रहा हो और उसे अपनी शक्ति का संग्रह करना हो, तो वह लकड़ी के उस टुकड़े को देखकर खुश होगा। वह उस पर सवार हो जाएगा और अपनी सुविधा के अनुसार उसे प्रगति के पथ पर ले जाएगा। इसमें प्रगति तो सवार होने वाले जिन्दा आदमी की ही मानी जाएगी। लकड़ी का निर्जीव टुकड़ा नदी के उद्‌गम के पास पड़ा हो तो क्या, नदी के बीचों-बीच पड़ा हो तो क्या और नदी के मुख पर ज्वार-भाटे के धक्के खाते-खाते दुर्दशा भोगता रहे तो भी क्या ? मुर्दे की प्रगति कैसी ? उसका एकमात्र नसीब यही है कि या तो वह स्वयं सड़ जाए और जहर बनकर दूसरों को मारे अथवा खाद बनकर दूसरों का पोषण करे।

पुरुषार्थ-हीन समाज, मरा हुआ समाज, परतन्त्र बना हुआ समाज ऊपर कहे लकड़ी के टुकड़े की तरह काल-माहात्म्य की रक्षा करता है। वह जड़धर्मी होने की वजह से नास्तिक है, उसका जीवन व्यर्थ है। उसे देखकर ईश्वर भी रोएगा।

काल-माहात्म्य के विषय में पुरुषार्थी आस्तिक व्यक्ति का विश्वास इससे भिन्न होता है। वह ईश्वर को पहचानता है। ईश्वर मंगलमय है, ईश्वर की सृष्टि सप्रयोजन है, इस सृष्टि का क्रम चैतन्य के विकास के लिए है— ऐसा समझ कर वह काल-प्रवाह का उपयोग विचार-पूर्वक चैतन्य के विकास के लिए करता है।

उस पार के मन्दिर तक जाने के हेतु से नदी के प्रवाह में कूदने वाला कुशल तैराक जानता है कि वह सीधा सामने के किनारे पर नहीं पहुँचेगा। पानी का प्रवाह उसे नीचे की ओर ही खींच ले जाएगा। सामने के किनारे पर पहुँचने में शायद उसे एक-दो मील प्रवाह के साथ खिंचकर बहना भी पड़े। परन्तु उसका यह दृढ़ संकल्प होता है कि भले ही नीचे की ओर खिंच जाऊँ, लेकिन सामने के किनारे तो मैं पहुँचने ही वाला हूँ। वह कोई लकड़ी का टुकड़ा या मुर्दा नहीं है, जो प्रवाह-धर्म में पड़कर अपने चैतन्य-धर्म को और प्राप्तव्य स्थान को भूल जाए। रास्ते में पत्थर आये तो वह उनसे बचकर निकल जाएगा। भूल से किसी किनारे पर पहुँच गया तो फिर पानी में कूदेगा और फिर से उस किनारे जाने का प्रयत्न करेगा। नीचे की ओर खिंचकर अधिक दूर न चले जाना पड़े, इसके लिए वह कुछ हद तक प्रवाह के

विरुद्ध भी अपनी शक्ति का उपयोग करेगा; लेकिन अपनी अधिकांश शक्ति का उपयोग वह सामने वाले किनारे पर पहुँचने के लिए ही करेगा और अन्त में उस किनारे पर पहुँच कर ही आराम लेगा। वह सोचता है कि प्रवाह में हूँ तब तक आराम लिया ही नहीं जा सकता, थकान उतारी ही नहीं जा सकती; आगे बढ़ते-बढ़ते ही जो आराम मिलता है, उसका लाभ उठाकर मुझे आगे ही बढ़ना है। एक बार सामने का किनारा हाथ में आया कि मनचाहा आराम लिया जा सकता है और ऊपर की ओर चलकर मोक्ष-मन्दिर तक पहुँचा जा सकता है। कुशल तैराक की कालोपासना अलग होती है, उसका धीरज (धैर्य) भी अलग होता है; और शव की कालोपासना या धीरज बिलकुल अलग होता है।

प्राचीन काल से सभी धर्म-सुधारक काल के माहात्म्य को पहचानते आये हैं और धर्म को नए संस्कार देते रहे हैं। वे काल से लाभ उठाते हैं, काल की शरण में नहीं जाते।

पश्चिमी देशों में काल-पुरुष की बड़ी सुन्दर कल्पना की गई है। वह एक युवा पुरुष है। उसके सारे शरीर पर चरबी या मक्खन लगा हुआ है। वह सतत दौड़ता ही रहता है। कोई उसे पकड़ नहीं सकता। उसकी चोटी कोई पकड़ न ले इस ख्याल से उसने अपने सिर को अच्छी तरह मुंड़वा लिया है। ईश्वर की आज्ञा से उसने कपाल के ऊपर बालों की केवल एक अच्छी लट रख छोड़ी है। काल को पकड़ना हो तो वह हमारे पास आये इसके पहले ही हाथ लम्बा करके उसकी इस लट को पकड़ा कि काल हमारे हाथ में आया। एक क्षण की भी गफलत हुई तो उसे हाथ से छूटा ही समझिए। उसके बाल कोई पीछे की ओर नहीं उड़ते कि हम उन्हें पकड़ लें। इस खूबी को अंग्रेजी में 'To catch time by the forelock' कहते हैं।

जो मनुष्य काल के इस स्वरूप को जानता है, वही काल के माहात्म्य को जानता है; वही काल को अपना बनाता है और काल से सारे वरदान प्राप्त करता है।

अंग्रेज सरकार ने रेलगाड़ी चलायी, तो उसमें ब्राह्मण के साथ भंगी को भी बैठने की छूट दी। ब्राह्मण का रेल से लाभ उठाने का लोभ छूटता नहीं; और भंगी से दूर बैठने के लिए कहा जाए तो वह मानता नहीं। इसलिए लाचारी से ब्राह्मण ने छुआछूत के विचार को कुछ हद तक छोड़ दिया है। चिढ़ता-कुढ़ता भी वह भंगी के साथ बैठ जाता है; घर जाकर स्नान करने का पुरुषार्थ भी अब उसमें नहीं रह गया है। दूसरे लोग डाँटेंगे, इसका डर कम रहता है। ब्राह्मण रेलगाड़ी का लाभ उठाने के लालच में पड़ा और कहने लगा कि कलिकाल आ गया है, इसलिए अब धर्म का पालन कठिन हो गया है। व्यास मुनि ने कहा ही है कि कलिकाल

में म्लेच्छ लोग बलवान हो जाएँगे। व्यास जैसे त्रिकालज्ञ मुनि का वचन गलत कैसे हो सकता है ? इस तरह काल-माहात्म्य को समझ कर रूढ़ि से चिपटे रहने वाले ब्राह्मण ने कुछ हद तक अस्पृश्यता को छोड़ा, और वह इसका अभ्यस्त हो गया। ऐसी आज तक की हमारी प्रगति रही है। इसमें हिन्दू धर्म की विजय कहाँ है, यह समझ में नहीं आता। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस', बलवान की ही सत्ता सब जगह चलेगी— यही अगर सनातन हिन्दू धर्म हो तब तो बात अलग है। सच पूछा जाए तो इसमें लज्जाजनक दब्बूपन की नास्तिकता ही कूट-कूट कर भरी है। सरकारी अधिकारी के अन्याय के सामने झुकना पड़े तब यह दलील सामने रखना कि 'राजा विष्णु का अवतार है, कोई धनी व्यक्ति या देशी राजा स्वेच्छाचार से समाज को बिगाड़े तब 'समरथ को नहिं दोस गुसाईं' वाला वचन उद्धृत करना और धर्माभिमानी लोगों के दोषों को छिपाने के लिए यह कहना कि धर्म की विजय के लिए अधर्म करने में दोष नहीं— ये सब नास्तिकता के ही लक्षण हैं। इस प्रकार लाचारी से जो परिवर्तन करने पड़ें, स्वार्थ के कारण, भय के कारण या झूठे अभिमान के कारण जो परिवर्तन किए जाएँ, उनका श्रेय धर्म को नहीं दिया जा सकता; इसे काल-माहात्म्य भी नहीं कहा जा सकता। मनुष्य-समाज कोई जड़ पंचभूत नहीं है। वह कोई वनस्पति-सृष्टि नहीं है, पशुयोनि भी नहीं है कि कुदरत के जोर पर लाचारी से अपने-आप जो परिवर्तन हों उन्हीं से सन्तोष मान ले।

ईश्वर ने मनुष्य-जाति को स्थल और काल दोनों में दूर तक देखने की दृष्टि प्रदान की है। पशु-पक्षियों को, तिर्यक्-योनि को कुदरत ने दिशादृष्टि प्रदान की है, किन्तु अधिक कालदृष्टि प्रदान नहीं की है। कालदृष्टि केवल मनुष्य को ही मिली है, इसलिए मनुष्य को काल के वश न रखकर ईश्वर ने उसे काल का सहयोगी, काल का साथी बनाया है। मनुष्य काल की अवगणना हरगिज नहीं कर सकता, यह बात जितनी सच है उतनी ही यह भी सच है कि मनुष्य शव की तरह काल के अधीन भी नहीं रह सकता। अतः मनुष्य के भाग्य में यह लिखा गया है कि वह कालग्रस्त या कालत्रस्त न होकर कालज्ञ बने, काल-सहायक बने और अन्त में कालकृत् (काल का निर्माण करने वाला) बने। मनुष्य की महिमा काल महिमा से ग्रस्त नहीं है। मनुष्य-महिमा का अधिकार काल-महिमा से अधिक है।

समस्त मनुष्य-जाति के चैतन्य-रूप नारायण ने— समस्त मनुष्य-जाति के परम आदर्श-रूप भगवान पुरुषोत्तम ने— स्वयं कहा है कि मैं काल हूँ। परन्तु वह काल अलग है और नामर्द आदमी को पशु की तरह घसीट कर ले जाने वाला बलवान काल अलग है। एक काल पर विजय प्राप्त करनी होती है, जब कि दूसरे काल की उपासना करनी होती है।

१६-७-'३३

चौथा खण्ड

मन्दिर-भावना

५३. हमारे मन्दिर

१

मन्दिरों की संस्था बहुत पुरानी है। वैदिक काल में शायद मूर्तिपूजा नहीं थी। महाभारत-काल में भी नहीं रही होगी। मन्दिरों में जाकर परमात्मा की उपासना करने की प्रथा शायद हमने बौद्ध सम्प्रदाय से सीखी होगी। यह भी सम्भव है कि बाल्हीक देश से आकर भारत में बसे हुए रोमनों अथवा यवनों से हमने मूर्तिपूजा की प्रथा अपनायी हो। इतिहास के अन्वेषक इस प्रश्न का निर्णय कभी भी करें, परन्तु इतना तो निर्विवाद है कि हिन्दुओं के सामाजिक और धार्मिक जीवन में मन्दिरों को दीर्घकाल से महत्त्वपूर्ण स्थान मिला हुआ है।

मनुष्य को मन्दिर की कल्पना कैसे आई होगी ? किसी भक्त या साधक ने हृदय को उन्नत बनाने वाला कोई स्थान पसन्द करके वहाँ अपने ध्यान और भक्ति के लिए कोई आलम्बन पसन्द किया होगा अथवा रखा होगा ? वहाँ भक्त को अपनी श्रद्धा के अनुसार अथवा ईश्वर के अनुग्रह के अनुसार धर्म की प्राप्ति हुई होगी या उसकी कामना सिद्ध हुई होगी। फिर लोगों को इस बात का पता चला होगा। अब तो पूछना ही क्या ? जिस तरह किसी वैद्य के हाथ के गुण की (निदान की) ख्याति फैलते ही सारे रोगी दौड़ कर उसके पास पहुँच जाते हैं, उसी तरह किसी स्थान की 'जाग्रत देवस्थान' के नाम से ख्याति फैली कि सारे आर्तजन उसी स्थान पर दौड़े चले गए होंगे और अपने भक्तिभाव से उन्होंने उसे ओत-प्रोत कर दिया होगा।

जब सच्चे हृदय का एकाग्र समर्पण न हो सके तब मनुष्य क्या करे ? तब तो हृदय के बदले में अपनी सम्पत्ति का समर्पण करना ही उसे सूझेगा। हमें राजा के पास अरजी लेकर जाना होता है तब हम खाली हाथ उसके सामने नहीं जा सकते। राजा तो रोज भूखा ही रहता है। उसे तृप्त करने के बाद ही वह हमारी प्रार्थना सुनता है। संस्कृत में राजा और परमात्मा दोनों को ईश्वर ही कहते हैं। तब तो परमात्मा का स्वभाव भी राजा के समान ही होना चाहिए। राजा जिन चीजों से सन्तुष्ट होता

है वे ही चीजें ईश्वर को भी अर्पण करनी चाहिए। राजा भव्य मन्दिर में अर्थात महल में रहता है। भाट-चारण उसका बिरुद गाकर प्रातः काल उसे जगाते हैं। भोग-विलास की सामग्री सदा उसके चारों ओर तैयार रहती है। पालकी जैसे सुखदायी वाहन में बैठकर वह सैर करता है। मिष्ठान्न उसका रोज का भोजन है। पत्र-पुष्प-फल, धूप, पंचामृत— ये सब उसकी दैनिक जरूरतें हैं। इन्हीं चीजों से मन्दिर के देव को सन्तुष्ट करना चाहिए। सचमुच मनुष्य की कल्पना जिस हद तक पहुँच सके उस हद तक दयालु परमात्मा को नीचे उतरना ही चाहिए। हमारी जो कल्पना है उससे अधिक उन्नत कल्पना भगवान ने हमें नहीं दी, इसमें हमारा क्या दोष ?

इस प्रकार शायद मूर्ति की षोडशोपचार पूजा करने के लिए ही मन्दिरों की रचना की गई होगी। बुद्ध और महावीर जैसी विरक्त विभूतियों के मन्दिर में भोग-विलास के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए। श्मशानवासी योगीराज महादेव के मंदिर में भी वैभव का कोई स्थान नहीं होना चाहिए। परन्तु भगवान तो बेचारा भक्तों के अधीन होता है। जब महात्माओं को भी लोगों की भक्ति से परेशान होना पड़ता है तब भगवान को यदि भक्तों का दिया हुआ रूप और स्थिति स्वीकार करनी पड़े, तो इसमें आश्चर्य कैसा ? गरमी के दिनों में लोग मन्दिर की मूर्ति पर पंखा झलते हैं, जाड़े में भगवान को रजाई ओढ़नी पड़ती है, चौमासे में जुकाम से बचने के लिए दूध के साथ सौंठ भी पीनी पड़ती है !

किन्तु जब मूल संस्थापक के अनुयायी बढ़ जाते हैं तब मन्दिर में जाकर पूजा करने, दर्शन करने और प्रसाद लेने का अधिकार उन सबका हो जाता है जिन लोगों को हम अपना मानते हैं उन्हें हम मन्दिर में ले जाते हैं और दर्शन तथा प्रसाद के भागी बनाते हैं। साथ ही ऐसे स्थान पर जिस प्रकार हम मूर्ति का दर्शन करके कृतार्थ होते हैं उसी प्रकार साधकों की भक्तिपूर्ण आँखें देखकर भी हम कृतार्थ होते हैं।

यह तो कर्मकाण्ड और उपासना-काण्ड की बात हुई। साधु-सन्तों ने मन्दिर की उपयोगिता को इससे भी आगे बढ़ाया। उन्होंने मन्दिरों को धर्मोपदेश और भक्ति-प्रचार का धाम बना दिया और इस प्रकार मंदिरों को सामाजिक जीवन के केन्द्र का रूप दे दिया। इसकी मीमांसा भी आज हमें जाननी चाहिए।

२१-११-'२९

२

कर्मकाण्डी लोग जब पूजा करते हैं तो अकेले ही करते हैं। अनेक आदमी एकत्र होकर जब कर्मकाण्डी पूजा करते हैं तो बड़ी असुविधा होती है। पूजा-विधि की जटिलता की एक कठिनाई तो रहती ही है। फिर कर्मकाण्डी प्रायः सकाम पूजा करते हैं। प्रत्येक की कामना भिन्न होने के कारण सामुदायिक पूजा करने में उन्हें

बड़ी कठिनाई होती है। बड़े-बडे होम-यज्ञों में, इष्टियों और समाराधनाओं में सामुदायिक विधि का पालन जरूर होता है, परन्तु अब इन सबके दिन चले गए।

काशी-विश्वनाथ के मन्दिर में जाकर आप देखिए। एक भक्त आता है, विश्वनाथ की पूजा करता है, अभिषेक करके लिंग पर फूल तथा बिल्वपत्र चढ़ाता है और चला जाता है। वह पूजा करके मन्दिर के बाहर निकले इसके पहले ही दूसरा भक्त आता है; वह पहले भक्त की सारी पूजा को फेंक देता है और नया अभिषेक और नया पत्र-पुष्प भगवान विश्वनाथ को अर्पण करता है। फिर इसकी पूजा की भी वही दशा होती है, जो इसने पहले भक्त की पूजा की की थी। सबेरे से दोपहर तक यही क्रम चलता रहता है। आटा पीसने की चक्की पर एक आदमी आता है और अपना अनाज पिसवा लेता है। फिर दूसरा आता है और अपना अनाज पिसवा लेता है। प्रत्येक आदमी का चक्की के साथ सम्बन्ध होता है, लेकिन पिसवाने वाले लोगों में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं होता। आदर-बुद्धि की मन्दता के दुर्भाग्यपूर्ण क्षण में मेरे मन में यह विचार आया कि होटल में एक आदमी किसी टेबल पर चाय पीकर चला जाता है। फिर टेबल साफ कर दी जाती है और दूसरे लोग वहीं आकर चाय-कॉफी पीते हैं। फिर टेबल साफ की जाती है, और फिर चाय-कॉफी के नए भक्त आते हैं। क्या यही दशा हमारे मन्दिरों की नहीं है ? लेकिन मन को धमका कर मैंने समझाया कि इस तरह सोचना अनुचित है। भगवान तो निरपेक्ष है। वह भक्तों के सन्तोष के लिए सब तरह की विडम्बना को भी पूजा मानकर ग्रहण कर सकता है। क्या भगवान ने स्वयं यह नही कहा है :

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
पत्र पुष्प फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतं अश्नामि प्रयतात्मनः।।

भगवान का उपहास करना ठीक नहीं कहा जाएगा। शर्म के कारण मेरा मन दब तो गया, लेकिन धीमी आवाज में कहने लगा : 'हम भगवान का उपहास कहाँ करते हैं ? हम तो सकाम पूजा से होने वाले भगवान के उपहास को देखकर मनुष्य-बुद्धि का आदर करते हैं ।'

साधु-सन्तों ने कर्मकाण्ड का महत्त्व घटा कर भक्ति तथा उपासना का महत्त्व बढ़ा दिया। भक्तों में एकान्त उपासना भी होती है और सामुदायिक पूजा भी होती है। इस प्रकार साधु-सन्तों ने हमें मन्दिरों का नया उपयोग सिखाया। उन्होंने कहा कि मन्दिरों में पूजा की विधि भले ही हो, राज-वैभव की शोभा भले ही बढे परन्तु वहाँ जन-ममुदाय को एकत्र करके भगवान का गुणगान करना चाहिए और नीति, सदाचार तथा भक्ति का उपदेश करना चाहिए। यही मन्दिरों की मुख्य प्रवृत्ति होनी चाहिए। सब लोग मन्दिर में आओ, हिल-मिल कर रहो, एक-दूसरे

की मदद करो और सीधे मार्ग पर चलो, यही सन्तों का सन्देश था। बस, फिर तो कर्मकाण्ड और शोभाकाण्ड मन्दिरों में गौण बन गए और भक्ति द्वारा धर्म-प्रचार का काण्ड बढ़ने लगा। परमात्मा के सभी बालक प्रेम से एकत्र हों और सब प्रेमपूर्वक हिल-मिलकर साथ-साथ 'परस्परं भावयन्तः' उन्नति के मार्ग पर चलें ! यही हो गई नई प्रेरणा।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।

यही सन्तों का मार्ग है।

निर्मान-मोह साधु-सन्तों के मन में ऊँच-नीच-भाव के लिए कोई स्थान हो ही नहीं सकता। सब मनुष्य परमात्मा के बालक हैं, सब समान हैं और सब भाई-भाई हैं। वैश्य तुकाराम ने गाया है : 'आम्ही जाती चे ब्राह्मण, आम चे सोयरे मुसलमान'— हम जाति से ब्राह्मण हैं और मुसलमान हमारे सगे-सम्बन्धी हैं। ऐसे सन्तों के घर में प्रत्येक मनुष्य का प्रेम से स्वागत हो सकता है। जिन्हें सत्पुरुषों के उपदेश की जरूरत नहीं है, वे मन्दिर में इकट्ठे हों। यही सन्तो का नियम— सन्तों का कानून है।

मन्दिर में तीन विभाग होते हैं : (१) गर्भगृह जहाँ पूजा के लिए मूर्ति रहती है। इसके ऊपर ही मन्दिर का शिखर होता है। (२) सभा-मंडप जहाँ पुराण-कीर्तन और उपदेश-प्रवचन होता है। (इस विभाग को नाट्य-मन्दिर भी कहते हैं, क्योंकि इसी स्थान पर भगवान की लीला का अभिनय भी किया जाता है।) (३) गर्भगृह तथा सभा-मंडप के बीच जो छोटी-सी जगह होती है, उसे अन्तराल कहा जाता है।

कर्मकाण्डियों ने मन्दिर के गर्भगृह का बीज बोया; ध्यानमार्गियों ने अन्तराल को पसन्द किया; और भक्तिमार्गी तथा पुराण-प्रिय लोगों ने अपने प्रेम से सभा-मंडप को भर दिया। इस तरह हिन्दू धर्म का सम्पूर्ण स्वरूप एक मन्दिर में समा जाता है। इनमें से ज्ञान और भक्ति के प्रतिनिधि के समान सभा-मंडप ही हिन्दू समाज का सार्वजनिक स्थान माना जाता है। सभा-मण्डप तक सारे हिन्दू केवल मूर्ति के दर्शन के लिए ही नहीं किन्तु धर्म कथा सुनने-सुनाने के लिए भी जा सकते हैं।

कर्मकाण्डियों ने गर्भगृह में चलने वाली पूजाविधि को अपने हाथ में रखा और सर्व-साधारण को केवल दर्शन का अधिकारी ठहराया; और उसमें भी 'तर-तम भाव (ऊँच-नीच-भाव)को जोड़कर हिन्दू धर्म के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। मुसलमानों ने मन्दिरों की मूर्तियां तोड़कर हिन्दू समाज का अपमान किया, सम्पत्ति और कला का नाश किया, परन्तु इससे हिन्दू धर्म को किसी प्रकार की तात्त्विक हानि नहीं पहुँची; इसके विपरीत, हमारे अभिमानी कर्मकाण्डियों ने समाज को तोड़कर छिन्न-भिन्न कर दिया, हिन्दू धर्म को बड़ी हानि पहुँचायी और इस प्रकार ईश्वर से इनकार

किया। इस छिन्न-भिन्न हिन्दू समाज को पुनः संगठित और एकजीव बनाकर धर्म को प्रतिष्ठित और शोभान्वित करना ही आज मन्दिरों का युगकार्य है।
१९-१२-'२९

३

आजकल अस्पृश्यों के लिए नए मन्दिर बनवाने की सूचना की जाती है। इस सूचना पर थोड़ा अधिक विचार करना जरूरी है।

देश में पुराने मन्दिर इतने अधिक हैं कि उन सबकी व्यवस्था करना हिन्दू समाज के लिए अशक्य नहीं तो कठिन जरूर है। विधवाओं का प्रश्न जितना जटिल है उतना ही मन्दिरों का प्रश्न भी जटिल है। हमने ऐसे अनेक अनाथ मन्दिर देखे हैं जो कहलाते तो विश्वनाथ के मन्दिर हैं, परन्तु जिनमें वर्षों से किसी ने झाड़ू भी नहीं लगायी है। जो नियम मिट्टी की मूर्तियों के लिए ठीक है वही मन्दिरों के लिए भी होना चाहिए। मिट्टी की जिस मूर्ति की पूजा नहीं होती अथवा जो मूर्ति खण्डित हो गई है, उसका दर्शन अशुभ होता है। उसका किसी तीर्थ या जलाशय में विसर्जन कर देना चाहिए। कुछ ऐतिहासिक मन्दिरों को इतिहास-रक्षा की दृष्टि से खण्डित अवस्था में ही रखना हो तो बात अलग है। परन्तु सामान्य रूप में प्रत्येक मन्दिर का अच्छे अखंड रूप में ही उपयोग होना चाहिए। और यदि ऐसा न हो सके तो विधिवत् उसका विसर्जन ही कर दिया जाना चाहिए। यदि हम पुराने मन्दिरों की इस तरह व्यवस्था नहीं करना चाहते, तो नए मन्दिर बनवाने का हमें कोई अधिकार नहीं है। जितने मन्दिर हैं उतनों की रक्षा और सेवा करने की शक्ति हममें होनी चाहिए। ऐसा न हो सके तो जितनों की रक्षा और सेवा की शक्ति हममें हो तथा जितनों की उपयोगिता हमें मालूम हो उतने ही मन्दिर रखे जाएँ।

हम देखते हैं कि समाज को नए-नए मन्दिरों की जरूरत है। जिस तरह कर्मकांडी साधकों के मन्दिरों में ही परिवर्धन करके भक्तिमार्गी उपासकों तथा साधुसन्तों ने उनमें नए मन्दिर बना दिये, उसी तरह समाज-हितैषी सेवकों के हाथों नए मन्दिरों की रचना होना उचित है और समाज की आवश्यकताओं में जैसा परिवर्तन होता है। वैसा ही परिवर्तन मन्दिरों की रचना और व्यवस्था में भी होना चाहिए।

१. सबसे पहले यह बात होनी चाहिए कि आज पूजास्थान और पूजा-मूर्ति जो *'गुहां प्रवष्टि'*— अँधेरे में होते हैं, उसके बदले मूर्ति के लिए *'विवृतं सद्म'* बनाया जाए। मूर्ति ऐसे स्थान में ऊँचाई पर प्रतिष्ठित होनी चाहिए कि हजारों और लाखों लोग एक साथ उसके दर्शन कर सकें।

२. मूर्ति का मूल उपयोग दर्शन के लिए है। मूर्ति को साफ करना, उसका शृंगार करना किसी वेतन पर काम करने वाले पुजारी का काम है। प्रत्येक भक्त

खड़ा होकर मूर्ति को स्नान कराए, भोजन कराए या अन्य कोई सेवा उसकी करे, यह सार्वजनिक मन्दिरों के लिए वांछनीय नहीं है। नित्य-तृप्त परमात्मा के सामने भोग लगाने की कोई जरूरत नहीं। उसके समक्ष नैवेद्य रखने से ध्यान में कोई सुविधा नहीं होती। बेशक, पत्र-पुष्प, होम, धूप-द्वीप हो सकते हैं, संगीत हो सकता है, कला-विधान भी हो सकता है। यह सब सात्त्विक रूप में होता है तब प्रसन्नता को बढ़ाता है और ध्यान-दर्शन में सहायक होता है। भोग और नैवेद्य के कारण स्पर्शास्पर्श का झगड़ा बहुत ज्यादा बढ़ जाता है। यदि भोग लगाना ही हो तो उसके लिए अच्छे ताजे फल, सूखा मेवा और गाय का ताजा दूध ही पसन्द किया जाना चाहिए। मूर्ति की सेवा तो निरर्थक है— उसका मूल उद्देश्य तो ध्यान के लिए ही है। यदि हम इतनी बात समझ लें और बच्चों की तरह पूजा का खिलवाड़ करना छोड़ दें, तो मन्दिर से सम्बन्धित अनेक झगड़े मिट जाएँ।

यदि मूर्तिपूजा हिन्दू धर्म का आवश्यक अंग न हो, तो फिर मन्दिर में मूर्ति की प्रतिष्ठा करने का आग्रह क्यों रखना चाहिए ? ऐसे कितने ही हिन्दू मन्दिर हो सकते हैं, जिनमें भक्ति की गम्भीरता हो, पवित्र और शान्त वातावरण हो, परन्तु मूर्ति या मूर्तिपूजा का नाम न हो, ऐसे मन्दिर भी हो सकते हैं, जिनमें किसी एक मूर्ति की स्थाई स्थापना न की जाए, परन्तु त्योहार के अनुसार किसी भी ईष्ट मूर्ति की स्थापना पूजा के स्थान पर की जा सके।

जिन लोगों का ऐसी पूजा से विरोध न हो, वे सब इन मन्दिरों में प्रवेश कर सकते हैं। ऐसे मन्दिरों में धर्म-चर्चा, समाज-चर्चा, इतिहास का अध्ययन-अध्यापन और सब धर्मों का अध्ययन आदि हो सकता है।

यदि हम समस्त समाज या धर्म को केन्द्र स्थान में रखकर अपने समग्र जीवन को संगठित करना चाहें, तो यह कार्य मन्दिरों द्वारा अच्छी तरह हो सकता है। मन्दिरों के साथ समाज-हित की अनेक प्रवृत्तियाँ जोड़ी जा सकती हैं : जैसे, पाठशाला, रुग्णालय, पशु-चिकित्सा, सार्वजनिक स्नानागार, वाचनालय, पुस्तकालय, नाट्यगृह, बैंक, प्रदर्शनी आदि। ऐसे मन्दिरों की व्यवस्था धर्मनिष्ठ, चरित्र-वत्सल लोक-प्रतिनिधियों के द्वारा ही होनी चाहिए। पुजारी का कार्य किसी एक जाति के हाथ में नहीं रहना चाहिए और मन्दिर में आये हुए दान का उपयोग दूसरे किसी विलास के कार्य में नहीं होना चाहिए। मन्दिर का स्थान सर्वोच्च सदाचार का पोषक होना चाहिए। मन्दिर का संगीत उच्च कोटि का तथा संस्कारी होना चाहिए, कोलाहल मचाने वाला नहीं। एक भी मन्दिर व्यवस्थाहीन नहीं होना चाहिए।

आज ऐसे नए मन्दिरों की बड़ी जरूरत है। मन्दिर और मस्जिद के झगड़ों-से ऊब कर कितने ही लोग मन्दिरों के विरोधी हो गए हैं। किन्तु वे समाज के हृदय को नहीं पहचानते। मन्दिर सामाजिक और धार्मिक जीवन का केन्द्र है। उसने हिन्दू समाज

की बहुत बड़ी सेवा की है और अपने नए रूप में आगे भा -ह खूब सेवा करेगा।
२-१-'३०

४

हमें दु:ख के साथ कहना पडता है कि दक्षिण भारत के कुछ विशाल मन्दिरों को और उनके नमूने पर बने हुए वृन्दावन के दो-तीन भव्य मन्दिरों को छोड दें, तो हमारे बाकी के सब मन्दिर बहुत ही छोटे होते हैं। ओर किसी मन्दिर के थोड़ी-सी भी लोकप्रियता प्राप्त करते ही उसके आस-पास पंडों के मकान और बाजार की दुकानें खड़ी हो जाती हैं। हम ट्रेन में हो, नाव में हों या गाँव में हों, भीड़ करके बैठना और भीड़ करके बसना हमारा जाति-स्वभाव हो गया है। नि:शस्त्र और अहिंसक होने के कारण हमने आत्मरक्षा की दृष्टि से भीड पसन्द की हो, या किसी अन्य कारण से हमने यह रीति अपनायी हो, परन्तु इतना सच है कि हम लोग सदा भीड मे ही रहते हैं। यह भीड व्यक्ति के विकास के लिए अच्छी नहीं है। एक काम करना हो तो दस आदमियों को पूछना और इतना पूछने के बाद भी दृढ़ निश्चय से वह काम करने के लिए कटिबद्ध न होना यह अच्छा स्वाभाव नहीं है। और इतना पूछने के बावजूद हमने पूछने की प्रथा या रीति अच्छी तरह निश्चित नहीं की है। इसका कारण भी हमारी यह भीड ही है। बड-बडे धार्मिक मेलों मे जो व्यवस्था रहती है वह तो सैकडो वर्षो के रिवाज मे उत्पन्न हुई स्वयभू व्यवस्था है। अपने अहिंसक, सहिष्णु और मिलनसार स्वभाव के कारण हम लोग इतनी अव्यवस्था को पचा सकते हैं। इसी कारण से हम अपने मन्दिरों मे दान, भक्ति, धर्म-श्रवण और अखण्ड जागरण के होते हुए भी उसका सच्चा उपयोग नहीं कर सकते। हमारे मन्दिरो मे खूब भीड होती है। परन्तु वह 'समाज' नहीं होता, केवल जमाव ही होता है। किसी का किसी के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। कोई किसी का पूछता नहीं, कोई किसी की सुनता नहीं। यह स्थिति असामाजिक कही जाएगी। मन्दिर में प्रसाद बाँटने या बेचने की प्रथा अत्यन्त अव्यवस्थित होती है। सुसगठित हिन्दू समाज इसमें भी बहुत-कुछ सुधार कर सकता है। सिक्खो ने जैसे गुरुद्वारा प्रबन्धक-मंडल बनाया है। उसी तरह हिन्दू मन्दिर-प्रबन्धक मडल बनाने की जरूरत है। इस तरह का प्रबन्ध हो जाने से थोड़े खर्च में बडी समाज-सेवा हो सकती है। सबसे पहला काम हमें यह करना चाहिए कि मन्दिर के आस-पास जितनी भी खुली जमीन रखी जा सके उतनी रखें। मन्दिर एक सामाजिक संस्था है। उसमें हजारों लोग आयेगे और एकसाथ बैठकर कुछ विचार-विमर्श भी करेंगे। मन्दिर में आने के लिए चारों और चौड़े रास्ते होने चाहिए। गाड़ियों और घोडों जैसी सवारियों को मन्दिर के निकट आने से रोकना चाहिए। और मन्दिरों के आस-पास कहीं अस्वच्छता या गन्दगी का नाम भी नहीं होना चाहिए।

मन्दिर हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए होते हैं। अतः नए मन्दिरों के द्वारा गोरक्षा का प्रबन्ध भी होना चाहिए। प्रत्येक मन्दिर के द्वारा आस-पास के समाज को चाहिए उतना गाय का शुद्ध, ताजा और सत्त्वपूर्ण घी-दूध मिलने का प्रबन्ध अवश्य किया जाना चाहिए। मन्दिर किसी एक व्यक्ति की संस्था नहीं होता, इसलिए वहाँ से केवल स्वार्थ और उससे पैदा होने वाली धोखेबाजी दूर होनी चाहिए। दूध से जो आय हो, वह गोरक्षा के लिए ही खर्च की जानी चाहिए। गाय के दूध से होने वाली आय गोवंश को बचाने और उसे सुधारने के लिए ही खर्च की जानी चाहिए। यदि गो-ब्राह्मण-प्रतिपालन हिन्दू धर्म का एक विशिष्ट लक्षण हो, तो फिर मन्दिरों के द्वारा केवल ब्राह्मणों की ही रक्षा क्यों होनी चाहिए ? गाय की भी रक्षा होनी चाहिए ? और सारे ब्राह्मणो की रक्षा भी कहाँ हो पाती है ? केवल इने-गिने पंडों की ही बन आती है। कभी-कभी लंगडी-लूली गायों की रक्षा भी हो जाती है, लेकिन इसमें हिन्दू समाज की शोभा नही है। मन्दिरों के द्वारा गोवंश की और ब्राह्मणों की यानी धर्म-सेवको को आदर्श रूप मे रक्षा होनी चाहिए।

५

अच्छे और बडे मन्दिरो के साथ छोटी या बडी अच्छी अथवा नाम की एक संस्कृत पाठशाला कभी-कभी चलाई जाती है। उसमे संस्कृत भाषा का और धर्म की शिक्षा दी जाती है। हमारे समाज मे धर्मशास्त्र का अर्थ बहुत सकुचित हो गया है। इस पाठशाला में मन्दिरों के सेवक पुजारियो का (अथवा पुरोहितों का) कर्मकाण्ड और वेदान्तियों का तर्क और ज्ञानकाण्ड अथवा वेदान्त ही मुख्यतः पढाया जाता है। किन्तु धर्मशास्त्र तो जीवन-व्यापी सार्वभौम शास्त्र है। उसमें प्राचीन पुराणों के साथ आधुनिक इतिहास भी होना चाहिए और आचारशास्त्र के साथ आरोग्यशास्त्र तथा सम्पत्तिशास्त्र भी होना चाहिए। सामाजिक धर्म मे अर्थशास्त्र का भी समावेश होता है। मन्दिरों को दान की जरूरत हमेशा रहती है। तब मन्दिर-दाताओं की आर्थिक सुस्थिति का विचार क्यों न करें ? जैसे रेलवे को तीसरे दरजे के मुसाफिरों से ही अच्छी आय होती है, उसी तरह मन्दिरों को गरीब लोगों के दान से ही अच्छी आय होती है। और जिस प्रकार रेलवे तीसरे दरजे के मुसाफिरो को तिरस्कार की दृष्टि से देखती है, उसी प्रकार हमारे मन्दिरों में गरीबों की भक्ति की कोई कदर नहीं होती।

यह देखना प्रत्येक मन्दिर का कर्तव्य है कि उसके द्वारा गरीब लोगों को राष्ट्रव्यापी उद्योगों की अच्छी शिक्षा मिले। मन्दिर के धन में से गरीब कारीगरों को अपने धन्धे के लिए उधार पैसा मिलना चाहिए। सोने-चाँदी के पाट लाकर या गहने बनवा कर उन्हें ताले में बन्द रखना सामाजिक द्रोह है। मन्दिर के धन को शहरों के बैंकों में रखना या प्रॉमिसरी नोटों के रूप में रखना भी लोकहित का द्रोह करना है। मन्दिर

का धन लोकनाथ परमेश्वर का है। गरीब लोगों की सहायता में ही उसका उपयोग होना चाहिए। गाँव के किसान सरकारी लगान या साहूकार के कर्ज के हमेशा देनदार बने रहते हैं। यदि किसानों को जरूरत के समय मन्दिर की ओर से उधार पैसा मिलता रहे, तो वे सर्वनाश से बच सकते हैं। कुछ प्राचीन मन्दिरों के पास कल्पनातीत धन है। यह सारा पैसा लोकहित मे ही लगाना चाहिए। स्वार्थी दलों और साधुओं ने कहीं-कहीं यह प्रचार शुरू किया है कि मन्दिर का पैसा समाज-हित के कार्यो मे खर्च करना पाप है। यह गलतफहमी दूर की जानी चाहिए। जिस प्रकार मन्दिर के खेत और बाग लगान पर दूसरों को दिए जाते हैं, उसी प्रकार मन्दिर का पैसा भी मन्दिर के भक्तों को मिलना चाहिए। नहीं तो मन्दिरों को लूटने का जमाना आने वाला ही है।
१६-१-'३०

५४. देव-मन्दिर : सार्वजनिक जीवन का केन्द्र

१

प्यासों को पानी पिलाना, भूखों को और खास करके ब्राह्मणों को भोजन कराना, गायों को घास खिलाना, अनाथ ब्राह्मणों के पुत्रों की यज्ञोपवीत कराना, उनके लड़के-लड़कियों की शादी कराना, तीर्थयात्रा करना, कुएँ खुदवाना, धर्मशालाएँ और मन्दिर बँधवाना— ये सब पुराने जमाने के दानधर्म के मुख्य प्रकार हैं। अतिथि-सत्कार करना, विद्याध्ययन करने वाले ब्राह्मण बटुकों को मधुकरी (भिक्षा) देना और पशुओं को गोग्रास अथवा काकबलि जैसा कुछ देना— ये क्रियाएँ नित्यकर्म में मानी जाती थीं। इसलिए इन्हें दानधर्म जैसा बड़ा नाम नहीं दिया जाता था।

आज के जमाने में इन सब बातों पर लोगों की श्रद्धा कुछ घट गई है। दान के ये प्रकार बिलकुल बन्द तो नहीं हुए है; परन्तु जमाने के विचारों में पले-पुसे लोगो से ही इन प्रकारों को थोड़ा-बहुत प्रोत्साहन मिलता है। समाज का मार्गदर्शन करनेवाले नेताओं ने दानधर्म को समाज-सेवा का रूप प्रदान किया है। शिक्षण-संस्थाएँ खोलना, दवाखाने चलाना, आरोग्य-भवन बनवाना, वाचनालय खोलना, छात्रवृत्तियाँ देना, पुस्तकें लिखवाना, प्रचार और आन्दोलन के लिए पैसा एकत्र करना और जाति की उन्नति के लिए बोर्डिंग हाउस चलाना— यह आज की नई रीति है। समाज की उन्नति की कल्पना और चर्चा, ज्यों-ज्यों आगे बढ़ेगी, त्यों-त्यों नए क्षेत्र भी मिलेंगे। उदाहरण

के लिए, इस विचार को फैलाना आवश्यक है कि मद्य-निषेध तथा सामाजिक स्वच्छता के लिए दानधर्म करने से आज के जमाने में अधिक-से-अधिक पुण्य प्राप्त होगा।

परन्तु यह विचार करना आवश्यक है कि हमारी पुरानी संस्थाओं को, जिनकी उपयोगिता के बारे में रूढ़िवादी समाज को जरा भी शंका नहीं है, पुनर्जीवन प्रदान किया जा सकता है या नहीं। दस वर्ष पहले सनातनी लोगों में ऐसी एक हवा चल पड़ी थी कि नए मन्दिर बनवाने की अपेक्षा पुरानों का जीर्णोद्धार करने में अधिक पुण्य है। काशी के प्रसिद्ध तैलंग स्वामी ने काशी में यही मुख्य कार्य किया था। जिन पुराने मन्दिरों को अच्छी आय होती हो उन मन्दिरों के प्रबन्ध को सुधार कर मन्दिरों का पैसा समाज-सेवा में खर्च किया जाना चाहिए; सुधार का यह एक महत्त्व का विचार भी सारे देश में खूब फैला था। सिक्ख लोगों का गुरुद्वारा-प्रबन्धक आन्दोलन इसका एक नया रूप है। दक्षिण के कुछ मन्दिरों की आय छोटे-बड़े देशी राज्यों की आय के बराबर होती है। दक्षिण के कुछ मन्दिरों की आय की व्यवस्था से सम्बन्ध रखने वाला एक कानून भी पास हुआ है। मन्दिरों के व्यवस्थापक अपने पद के कारण (ex-offpcio)सत्पुरुषों के रूप में पूजे जाते हैं। उन लोगों का चरित्र कैसा होता है, यह तो वे ही जानें। प्रत्येक मन्दिर के व्यवस्थापक के बारे में कोई-न-कोई किंवदन्ती, अफवाह समाज में चलती ही रहती है। सभी बातें निराधार नहीं हो सकतीं। और सभी बातें सच हैं यह विश्वास भी कैसे दिलाया जाए ? कुछ मन्दिरों के व्यवस्थापक-ब्रह्मचारियों के मैंने बाल-बच्चे देखे हैं। शिष्टाचार को एक ओर रखकर उनसे पूछा जाय तो वे निर्लज्ज होकर कहते हैं : 'ब्रह्मचारी को आप हमारा उपनाम समझिए।' ऐसे लोगों की संख्या अधिक तो नहीं है, लेकिन समाज में उनका निभ सकना ही दु:ख की बात है।

यह सच है कि मन्दिरों के अनेक व्यवस्थापक अनपढ़, पिछड़े हुए, डरपोक और लोभी होते हैं; और योग्यता की अपेक्षा अधिक सत्ता अर्थात पैसे का उपयोग करने की सुविधा होने के कारण जितने भी शक्तिशाली सत्ताधारी या दुर्जन इनके सम्पर्क में आते हैं उन सबकी खुशामद करना, उन्हें प्रसन्न रखना, इन व्यवस्थापकों का जीवन-धर्म बन जाता है। सरकारी अधिकारियों की तो उन्हें दिन-रात खुशामद करनी पड़ती है। 'राजा विष्णु का अवतार है और राजा के साथ उसके छोटे-बड़े अधिकारी भी आ जाते हैं।' पत्थर के विष्णु की अपेक्षा इस जीते-जागते विष्णु की या इन काल-भैरवों की उपासना उपासकों के लिए प्रत्यक्ष फल देने वाली सिद्ध होती है। कुछ मन्दिरों की ओर से पुजारी ब्राह्मणों के सिवा बाजे बजानेवालों, नृत्यनारियों आदि तरह-तरह के गुणीजनों को भी वार्षिक वृत्ति (सालियाना) मिलती है। वहाँ धर्म के नाम पर सब-कुछ चलता है। ऐसी संस्थाओं का सुधार अंग्रेजों के राज्य में असाध्य नहीं तो दु:साध्य अवश्य है। मन्दिरों के सम्बन्ध में ऐसे अनुभव के बाद

कौन धर्मनिष्ठ या नीतिवान देशप्रेमी ऐसा होगा, जो उसी ढंग के नए मन्दिरों की स्थापना से प्रसन्न होगा ?

इस सबके बावजूद अस्पृश्यता-निवारण के सम्बन्ध में नए मन्दिर स्थापित करने की बात हमारे लोगों को सूझी है। अन्त्यज, भील आदि पिछड़ी हुई जातियों को धर्मज्ञान और धर्म के अनुकूल शिक्षा देना जरूरी है। उन्हें शुभ संस्कारों की तालीम मिले, यह भी उतना ही जरूरी है। पिछड़ी हुई जातियों को मन्दिरों में, उत्सवों में तथा पूजा, अर्चना आदि बाह्य विधियों में ऊँची जातियों से जरा भी कम रस नहीं होता। ऐसा भी कहा जा सकता है कि पिछड़े हुए लोगों को उत्सवादि बाह्य प्रकारों की आवश्यकता ऊँची जाति के लोगों से अधिक होती है। इस सारी वस्तुस्थिति का विचार करने पर लगता है कि उनके लिए मन्दिर बनवाना जरूरी है। परन्तु हमारा नया आन्दोलन, नूतन प्रेरणा, शुद्ध हिन्दू धर्म-विषयक हमारा आदर्श और भविष्य के हमारे स्वप्न— इन सबको दृष्टि में रख कर इन नए मन्दिरों की रचना, व्यवस्था, पूजाविधि, अन्य प्रथाएँ, त्योहार आदि का विचारपूर्वक तथा उपयुक्त रूप में निर्णय किया जाना चाहिए। एक बार परम्परा बन गई कि फिर उसे बदलना मुश्किल होगा। आदि-संस्थापकों में विचार का जो बीज होगा, वही आगे चल कर फल का रूप लेगा।

किसी मन्दिर के आस-पास इतनी सारी चीजे जुड़ी हुई होती हैं; और हम चाहें तो मन्दिरों के द्वारा धर्मसेवा का बहुत बड़ा कार्य कर सकते हैं। इसलिए इन नए मन्दिरों के बारे में खूब सार्वजनिक चर्चा होनी चाहिए।

अनेक मन्दिरों तथा उनमें प्रचलित पद्धतियों का आस्तिक बुद्धि से निरीक्षण करने के बाद इस विषय में जो विचार मुझे सूझे हैं, उन्हीं को मैं यहाँ प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

२

पहले हम मन्दिरो की रचना का विचार करें। हमारे मन्दिरों के सामान्यतः तीन विभाग होते हैं : (१) जिस विभाग में मूर्ति होती है वह गर्भगृह, (२) जिसमें कथा-कीर्तन चलता है वह सभा-मंडप और (३) इन दोनों को जोड़ने-वाला बीच का भाग अन्तराल। मन्दिर यदि बड़ा हो तो उसके आस-पास बड़ा आँगन होता है। सामने दीपस्तम्भ होता है और आँगन में चारों ओर ओसारे होते हैं। इनके बाहर कुछ दुकानें तो होती ही हैं, परन्तु मन्दिर के 'सेवकों' के मकान भी पास ही कहीं बने हुए होते हैं।

हिन्दू मन्दिरों में बड़ी-से-बड़ी कठिनाई यह होती है कि जितने लोग मन्दिर का लाभ उठाते हैं उनकी तुलना में मन्दिर सदा ही छोटा होता है। मन्दिर का स्थापत्य मजबूत होता है, उस पर अद्भुत कला उँडेली जाती है। खास तौर पर इटली से

लाये हुए संगमरमर के पत्थर उसमें जड़े होते हैं, नए ढंग के पाखानों में जैसी चमकती चीनी मिट्टी की तख्तियाँ (टाइल्स) लगायी जाती हैं वैसी ही तख्तियों से मन्दिर का फर्श और दीवारें सजायी जाती हैं ! परन्तु मन्दिर तो छोटा ही होता है। पुण्य के लोभी दानशूर लोग सारा पुण्य अपने ही नाम पर लिखे जाने की आशा से अकेले अपने ही खर्च से मन्दिर बनवाएँ तो यही होगा। मन्दिर बनवाने में मुख्य विचार सुविधा का नहीं होता। इसके पीछे प्रेरक वृत्तियाँ परलोक पुण्य और इस लोक में कीर्ति अर्जित करने की ही होती हैं। किसी एक शहर में दस या बीस मन्दिर होंगे, लेकिन दीवाने-आम, संथागार या टाउनहॉल की गरज पूरी करने वाला एक भी मन्दिर नहीं होगा। अब भविष्य में हम जो मन्दिर बनवाएँगे वे छोटे हों या बड़े, परन्तु उनके साथ इतना बड़ा आंगन तो रहेगा ही कि जिसमें गाँव के सब लोग एकत्र हो सकें। मन्दिर का वैभव बढ़े और सार्वजनिक जीवन समृद्ध हो, तो बड़ी परिषदें बैठ सकें ऐसा खुला एम्फीथिएटर (रंगशाला) खड़ा किया जा सकता है। इससे भी अधिक जगह की जरूरत हो तो रंगशाला पर छज्जा भी बनवाया जा सकता है। लेकिन प्रत्येक मन्दिर के आस-पास विस्तीर्ण और खुली जगह तो होनी ही चाहिए। रास्ते की दुकानों जितने सँकरे मन्दिर बाँधने से कोई लाभ नहीं होगा। ऐसे मन्दिर बनवाने की इजाजत ही नहीं मिलती चाहिए।

दूसरी बात। हमारे पुराने मन्दिरों के गर्भगृह अत्यन्त मजबूत किन्तु बिना प्रकाश वाले और सँकरे होते हैं। मूर्ति की रक्षा की अपेक्षा मूर्ति के गहनों की रक्षा के ख्याल से ही शायद यह व्यवस्था की गई होगी। गर्भगृह में बैठकर मूर्ति पर अभिषेक करने वाले स्वर्ग के उम्मीदवार को इहलोक में दूसरी बार गर्भवास का अनुभव कराने का उद्देश्य भी इसमें हो तो कह नहीं सकते ! मूर्ति का इस प्रकार दम घोंटने से भाविक लोगों को दर्शन की बड़ी असुविधा होती है। भविष्य के मन्दिरों में मूर्ति का दूर से दर्शन हो सके इस ख्याल से एक ऊँचे चबूतरे पर उसे खड़ा करना चाहिए। मूर्ति के आस-पास दीवार तो होनी ही नहीं चाहिए। मूर्ति के आस-पास चार, आठ या इससे अधिक स्तम्भों पर ही शिखर बनाया जाए, तो वह सुन्दर दिखाई देगा और दर्शन के अभिलाषी भक्तों को भी इससे बड़ी सुविधा होगी। मूर्ति पर अच्छी तरह प्रकाश पड़ेगा, फिर तो 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' कहने का समय नहीं आयेगा। अधिक-से-अधिक किया तो मूर्ति के पीछे उसे ढक सके इतनी बड़ी दीवार बनायी जा सकती है। भीड़ को रोकने के लिए चाहें तो मूर्ति के आस-पास चार फुट ऊँचा कठघरा बना दिया जाए। परन्तु उपर्युक्त व्यवस्था में भीड़ की गुंजाइश ही नहीं रह जाएगी। हर आदमी के आगे घुस कर अपने हाथ से मूर्ति की पूजा करने की प्रथा का अन्त कर दिया जाए, तो भीड़ होने का कोई कारण ही न रह जाए।

मन्दिर के सामने यदि दीपस्तम्भ बनाना हो तो वह इतना ऊँचा होना चाहिए

कि सारे गाँव के लिए पहरेदार की मीनार का काम दे सके। रात में मार्ग भूले हुए लोगों को दिशा का ज्ञान कराने के लिए दीपस्तम्भ के शिखर पर एक बड़ा दीपक सारी रात जलाया जाए, तो कहीं-कहीं तो यह व्यवस्था अत्यन्त लाभदायी सिद्ध होगी। मन्दिर के आँगन में एक ओर एक बड़ा कुआँ अवश्य होना चाहिए। कुएँ के आस-पास ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए, जिससे गाँव के अनेक लोग और राहगीर वहाँ स्नान कर सकें और कपड़े धो सकें, और फिर भी वहाँ कीचड़ या गन्दगी न हो। जिस प्रकार भोजन करने के लिए अनेक लोग एक स्थान पर जमा होते हैं, या शाम को बहुत से लोग एक साथ घूमने के लिए जाते हैं; उसी प्रकार स्नान के लिए अनेक लोगों के एक स्थान पर जमा होने का रिवाज भी डाला जा सकता है। नदी-तट पर अनेक लोग इकट्ठे तो होते हैं, परन्तु वहाँ क्लब जैसा वातावरण नहीं जमता। मन्दिर को यदि हमें अपने सार्वजनिक जीवन का केन्द्र बनाना हो, तो नगरवासियों अथवा ग्रामवासियों के मन्दिर में अनेक प्रकार से और अनेक कारणों से एकत्र होने का रिवाज डालना चाहिए।

१९३१

५५. मूर्तिपूजा

हरएक समाज को अपनी संस्थाओं और सामाजिक प्रथाओं की समय-समय पर जाँच करनी चाहिए और प्राचीन के साथ समभाव रख कर, वर्तमान गतिविधि को अच्छी तरह समझ कर तथा भविष्य पर दृष्टि रख कर उनमें आवश्यक परिवर्तन कर लेने चाहिए। अब मूर्तिपूजा की प्रथा अथवा संस्था की हर पहलू से जाँच करने का समय आ गया है। यहाँ एक ऐसे सामान्य जन के मन में पैदा होने वाले कुछ विचार दिये जाते हैं, जो न तो मूर्तिपूजा का विरोध करता है और न मूर्तिपूजा के विषय में आज अधिक उत्साह रखता है।

मैं मानता हूँ कि मूर्तिपूजा धर्म-साधना का आवश्यक अंग नहीं है। इसके साथ मैं यह भी मानता हूँ कि हमारे देश में जिस प्रकार से मूर्तिपूजा होती है उसमें मूर्ति-विध्वंसकों के कथनानुसार अनैतिकता भी नहीं हैं। मूर्तिपूजा का आश्रय मनुष्य के चित्त के लिए आवश्यक नहीं है; और फिर भी यदि वह मूर्तिपूजा का आश्रय ले, तो उसमें शरमाने जैसी कोई बात नहीं है। मूर्तिपूजा के द्वारा मोक्ष के निकट आने की बात में विश्वास नहीं होता; फिर भी इतना सच है कि मूर्तिपूजा के द्वारा, और विशेषतः मन्दिरों की स्थापना के द्वारा, हमने अपनी संस्कृति को बहुत बड़ा वेग

दिया है, अपने समाज का संगठन किया है, अपने धार्मिक साहित्य, संगीत, कला तथा उत्सवों का विकास किया है और किसी हद तक सारी जनता में सर्वोदय की दिशा में ले जाने वाले संस्कार फैलाने की सुविधा खड़ी की है। हमारी प्रजा की रसिकता, संस्कारिता और धार्मिकता को प्रकट करने के लिए मन्दिरों का बहुत बड़ा उपयोग हुआ है। अतः हमारे मन्दिर जो हमारी भक्ति के भाजन बन गए हैं, वह सर्वथा उचित ही है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मूर्तिपूजा और मन्दिरों की संस्था में कोई मौलिक परिवर्तन किया ही नहीं जा सकता।

जीवित समाज चाहे तो आगे-पीछे का पूरा विचार करके अपने धर्म में और धार्मिक संस्थाओं में— समाज में और प्रचलित सामाजिक रूढ़ियों में— आवश्यक परिवर्तन करने का उसे सदा ही अधिकार है। ऐसा समझ कर ही यह लेख अनेक वर्ष पहले लिखा गया था। आज भी मेरे इस मत में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। हमारे मन्दिरों के विषय में इससे पहले मैंने अनेक लेख लिखे हैं। सौराष्ट्र के वरतेज गाँव में हरिजनों के लिए मन्दिर की स्थापना हुई तब उसमें मूर्तियों की प्रतिष्ठा मेरे हाथों ही हुई थी। उस समय मैंने जो भाषण दिया था उसमें मैंने मूर्तिपूजा की सभी पहलुओं से मीमांसा की थी। इस विषय में आदर के साथ ठोस विचार करना जरूरी है। कोई मनुष्य मूर्तिपूजा का समर्थन करता है या विरोध करता है, केवल इतना ही देखकर घबरा जाना या डर जाना आज के जमाने के लिए और हमारे हित की दृष्टि से भी ठीक नहीं है।

सच पूछा जाए तो हिन्दू धर्म में न तो मूर्तिपूजा का आग्रह है और न उसका विरोध है। इस प्रश्न का बहुत महत्त्व नहीं है कि महाप्रयत्न करने पर भी वेदों में मूर्तिपूजा का उल्लेख खोजा जा सकता है या नहीं। महाभारत में मन्दिर का कहीं उल्लेख नहीं है, यह सिद्ध करने की भी जरूरत नहीं है। हमारे आचारधर्म का सारा आधार श्रौतसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों पर है। उन्हीं से स्मृतियों का विस्तार हुआ है। मनुष्य बिलकुल जड़ बन जाए इस हद तक स्मृति-साहित्य में आचार-धर्म का ब्योरेवार विस्तार किया गया है। लेकिन उसमें मूर्तिपूजा, देव-मन्दिर आदि का झंझट बिल्कुल नहीं है। इसलिए यद्यपि हिन्दू धर्म मूर्तिपूजा का विरोधी नहीं है, फिर भी इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि 'हिन्दू धर्म के मूल में मूर्तिपूजा नहीं है।' तब फिर मूल हिन्दू धर्म का प्रधान अंग तो [redacted] मानी ही कैसे जा सकती है ? तो यह मूर्तिपूजा हिन्दू धर्म में आई कहाँ से ?

मूर्तिपूजा और मूर्ति-निर्माण के बीच हमें भेद करना चाहिए। मूर्तियां तो हमारे देश में परापूर्व से अर्थात, प्रागैतिहासिक काल से बनती रही होंगी। मोहन-जो-दड़ो में जो मिट्टी की मूर्तियाँ मिली हैं उनमें से एक के बारे में यह अनुमान किया गया है कि वह पुजारी की होगी और दूसरी दो छोटी मूर्तियों के विचित्र शिरोवेष्टन के

आधार पर यह कल्पना की गई है कि वे कृषि-देवता की होंगी। ये मूर्तियाँ भी मिट्टी की ही हैं। पशु-पक्षियों की मूतियाँ तो अनेक तरह की वहाँ मिली हैं। परन्तु यह कहना मुश्किल है कि इन सबका उपयोग पूजा के साधन के रूप में होता था या नहीं। जिन मूर्तियों को कृषि-देवता की मूर्तियाँ माना गया है, वे शायद नौकरानियों की मूर्तियाँ भी हो सकती है; क्योंकि उनका शिरोवेष्टन ऐसा लगता है मानो उनके सिर पर दोनों और दो टोकरे काँवर की तरह रखे गए हों।

प्रश्न यह नहीं है कि ये मूर्तियाँ कहाँ से पैदा हुई हैं, परन्तु यह है कि पूजा के साधन के रूप में मूर्तियाँ हमारे देश में कहाँ मे आयीं अथवा इस रूप में उनका उपयोग कब से होने लगा ?

कुछ लोग तो मानते हैं कि बौद्धों और जैनों ने इस देश में मूर्तिपूजा का आरम्भ किया। पहले प्राचीन बौद्ध मूर्तिकला में स्वयं बुद्ध की मूर्ति नहीं बनायी जाती थी। एक घोड़ा बनाया जाता था, जिस पर जीन तो कसी रहती थी लेकिन सवार नहीं होता था; और उमके आस-पास भक्तों का मेला दिखाया जाता था। इससे मान लिया जाता था कि घोड़े पर बुद्ध भगवान विराजमान हैं। उस समय बुद्ध भगवान को मूर्ति के द्वारा व्यक्त न करने की मर्यादा का पालन किया जाता होगा।

कुछ बौद्ध ऐसा कहते हैं कि पहले हम में मूर्तिपूजा थी ही नहीं । यह तो तंत्रमाग की छूत है। तांत्रिकों के असर से महायान पन्थ का जन्म हुआ ओर उसके बाद परलोक के सुख-दुःख के चित्र और विमान लोगों को दिखाकर उनकी श्रद्धा को जाग्रत करने और दृढ बनाने के प्रयत्न होने लगे। मूर्ति-पूजा का यह सम्प्रदाय उसी ममय से दिखाई देता है। अधिक सम्भावना इस बात की है कि मूर्तिपूजा हमारे यहाँ ग्रीस से आई होगी। पत्थर की खुदाई की कला यवन (आयोनिया— ग्रीस) देश से बाल्हिक देश में होती हुई भारत में पहुँची है। कला-रसिक, संस्कारी तथा उत्सव-प्रिय आर्यो को— फिर वे वेदधर्मी हों, जैनधर्मो हों या बौद्धधर्मी हों— सुन्दर सुन्दर मूर्तियाँ, उनकी पूजा, उत्सव, रथयात्रा, ऊँचे मन्दिर और उनमें चलने वाले भोग ये सब पसन्द आ गए होंगे। महाभारत-काल के अन्त में यज्ञ की प्रथा निश्चित रूप से शिथिल पड़ गई थी। उसके बदले में लोगों को कल्पना के लिए और उत्साह के लिए कोई भोजन चाहिए था। इसलिए मूर्तिपूजा उन्हें अनुकूल लगी होगी। किसी राज्य को दृढ़ और सुस्थिर बनाने के तीन मुख्य उपाय होते हैं : (१) सैनिक बल मे लोगों को दबाना; (२) शिक्षा या प्रचार द्वारा लोगां के हृदयों अथवा भावनाओं पर अधिकार करना; और (३) जनता की चित्तवृत्ति पर रंग चढ़ाने वाले उत्सवों, 'समाजों', यात्राओं आदि का आयोजन करके लोगों की खुशामद करना। मुसलमान भारत में आये उससे पहले जो अनेक जातियाँ बाहर से आकर भारत में बस गयीं, उन्होंने यहाँ का धर्म स्वीकार किया, यहाँ के धार्मिकों को प्रोत्साहन दिया, यहाँ की

भाषा बोलना शुरू किया और सब तरह से वे यहीं के बन गए। उसके बाद तो इन बाहर से आकर बसे हुए लोगों की भली-बुरी कल्पनाएँ, मान्यताएँ और रूढ़ियाँ भी हमारे समाज में प्रचलित हुए बिना कैसे रह सकती थीं ? इस प्रकार हिन्दू धर्म गंगा नदी के प्रवाह के समान अत्यन्त विशाल हो गया। लेकिन उसमें कूड़ा-करकट भी आ गया। यहाँ हमारा कहने का मतलब यह नहीं कि मूल वैदिक धर्म अत्यन्त शुद्ध था, उसमें किसी भी प्रकार का मैल या मिश्रण नहीं था। परन्तु मूल धर्म समाज की ही तरह एकरूप, सुसम्बद्ध और प्राणवान था; जब कि बाद का मिला-जुला धर्म निःसंदेह अव्यवस्थित, शिथिल और मेदस्वी बन गया था। 'नया मुल्ला पाँच बार बांग देता है' — इस कहावत के अनुसार बाहर से आये हुए राजा और जन समुदाय देशी लोगों की रूढ़ियों तथा भावनाओं का शायद अधिक कट्टरता से पालन करते थे और विविध उत्सवों तथा मन्दिरों को प्रचलित करके अपना परायापन मिटाने का प्रयत्न करते थे। जो भी हो, परन्तु इतना तो निर्विवाद है कि हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म में मूर्तिपृजा की जड़ें खूब गहरी जम गई हैं।

कहावत है कि आदमी जमीन-जागीर के लिए सगे भाई को भी मार डालता है और अपना धर्म भी छोड़ देता है। मूर्तिपूजा और मन्दिरों की स्थापना कुछ ब्राह्मणों के लिए जागीर-सी बन गई। सामान्य लोगों को भी त्याग, तपस्या और चित्तशुद्धि के कठिन धर्म की अपेक्षा 'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः' इस न्याय से देवों को खिलाएँ-पिलाएँगे तो देव भी हमें खिलाएँ-पिलाएँगे, इस प्रकार भोग और मोक्ष का सम्मिश्र प्रलोभन दिखाने वाला धर्म अधिक पसन्द आया; और मन्दिर तथा मूर्तिपूजा अन्त में हिन्दू धर्म के लोकमान्य अंग बन गए।

एक कल्पना ऐसी भी है कि आर्यों ने मूर्तिपूजा भारत के अनार्यों अथवा जंगली लोगों से धीरे-धीरे ग्रहण की होगी। नाथद्वारा के श्री नाथ जी की डरावनी मूर्ति, पुरी के जगन्नाथ जी की विचित्र मूर्तियाँ तथा ऐसी अन्य मूर्तियाँ देखकर लगता है कि मूर्तियों के ये प्रकार हमने सौन्दर्योपासक ग्रीस देश से तो नहीं ही लिये होंगे। हमारे देश के एक विद्वान यह सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं कि मूर्ति-विध्वंसक मुसलमान भारत में आये उससे पहले— बहुत समय पहले— लिंगपूजा जैसी पार्थिव-पूजा अरबस्तान से ही भारत में आई होनी चाहिए। आज की मूर्तिपूजा, सम्भव है, ऊपर वर्णन किए गए सभी प्रवाहों में से निकल कर स्थिर हुई हो !

सगुण-निर्गुण उपासना तथा व्यक्त-अव्यक्त गति के प्रश्न तो बिलकुल अलग और बहुत पुराने हैं। मूर्तिपूजा की स्थापना से लोगों को लगा कि यही सगुण उपासना है। और कर्मकांड, तंत्रमार्ग, भक्ति आदि भावना-प्रधान तथा कला-प्रचुर मार्गों को लगा कि मूर्तिपूजा उन्नति का एक प्रभावशाली उपाय जरूर है। अव्यक्त गति की अपेक्षा व्यक्त गति कम कष्टकारक हो सकती है। हम यह भी स्वीकार करें कि

निर्गुण उपासना की अपेक्षा सगुण उपासना अधिक अर्थपूर्ण और सन्तोषकारक है। यह सच है कि प्राकृत, सामान्य जनों के लिए व्यक्त और सगुण उपासना ही ठीक है। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अज्ञानी, अबोध और अन्धविश्वासी लोगों के लिए मूर्तिपूजा में खतरा नहीं है। सामान्य लोग यथासम्भव उदार-चरित सन्तों और सत्पुरुषों की सेवा-शुश्रूषा करें और उनके सत्संग द्वारा धर्मबोध ग्रहण करें, यह सगुण उपासना का एक अच्छा प्रकार है। ईश्वर परम पिता है, माता है, स्वामी है, पति है, प्रेमपात्र है, मित्र है, गुरु है, आचार्य है— इस प्रकार किसी भी एक या अनेक सम्बन्धों की कल्पना करके और ईश्वर के न्यायी, दयामय, कल्याणकारी, ज्ञानदायी, क्षमावान आदि अनेक सद्‌गुणों का ध्यान धर कर ईश्वर की भक्ति करना ही सच्ची व्यक्त-गति है, सगुण उपासना का मुख्य अर्थ भी यही है। मुसलमान, सिक्ख, प्रार्थना-समाजी, प्रोटेस्टेन्ट ईसाई वगैरा सब मूर्ति का आलम्बन लिये बिना किसी ढंग से सगुण उपासना करते हैं। प्राकृत लोगों के लिए यही उचित है।

सच पूछा जाए तो मूर्तिपूजा जड़ और अन्धविश्वासी लोगों के लिए नहीं, परन्तु विशिष्ट संस्कार पाये हुए तथा तत्त्वज्ञान में आगे बढ़े हुए कला-रसिक, कर्मपरायण लोगों के लिए ही उपयोगी हो सकती है। ईश्वर सर्वत्र है, इस तत्त्व का सच्चा रहस्य जो लोग समझ सकते हैं, केवल उन्हीं के लिए मूर्तिपूजा धार्मिकता का विकास करने का एक निर्दोष साधन हो सकती है। फिर भी मूर्तिपूजा इसका सर्वश्रेष्ठ साधन तो मानी ही नहीं जा सकती। कहा जाता है कि मूर्तिपूजा जड़ बुद्धि के लोगों के लिए ही है; परन्तु जड़ समाज मूर्तिपूजा के रहस्य को नहीं समझ सकता। जड़ मनुष्य की दृष्टि में तो मूर्ति एक बड़े भूत की तरह है। मूर्ति के साथ उसके मन में केवल भय ही उत्पन्न हो सकता है और उसकी पूजा बलवान की शरण में जाकर बच जाने का एक उपाय ही होती है। ऐसे लोगों के लिए मूर्तिपूजा निर्भयता तथा स्वतंत्रता की विनाशक है। भीतर से पोली लकड़ी की बड़ी मूर्ति बनाकर उसके हाथ में रखा हुआ भोग उसके हाथ के पीछे गुप्त रूप से बँधी हुई रस्सी को खींचकर मूर्ति के मुँह में गिरा दिया जाता है— इस बात को क्या हम नहीं जानते ? भारत के बाहर मूर्तिपूजा ने अवर्णनीय अत्याचारों को प्रोत्साहन दिया है और भारत में मूर्तिपूजा ने पिछड़ी हुई जातियों के लिए अगणित अन्धविश्वासों को जन्म दिया है। जिन लोगों को तत्त्वज्ञान की शिक्षा प्राप्त हुई हैं, उन्होंने बेशक मूर्तिपूजा से बहुत लाभ उठाया है। परन्तु ऐसे लोगों में जो लोग शुद्ध आत्मार्थी अर्थात मोक्षार्थी थे। वे तुरन्त मूर्तिपूजा से ऊपर उठ कर आगे बढ़ गए। मूर्तिपूजा का बचाव करते हुए एक बार स्वामी विवेकानन्द ने कहा था : 'मूर्तिपूजा से यदि रामकृष्ण परमहंस प्राप्त होते हों, तो मूर्ति-पूजा दीर्घायु हो !' पुजारी रामकृष्ण परमहंस का मूल धन्धा ही मूर्तिपूजा का था, परन्तु अन्त में वे भी उससे बाहर निकल गए थे। फूल अपने झाड़ पर ही

ईश्वर को अर्पित हैं, उन्हें तोड़कर मूर्ति के सिर पर क्यों चढ़ाया जाए— ऐसा रामकृष्ण परमंहस कहते थे और भावावेश में आ जाने पर मूर्ति की पूजा करने के बदले वे अपनी ही पूजा करने लग जाते थे। उन्होंने मूर्तिपूजा को अन्त तक छोड़ा नहीं था, परन्तु आगे जाकर वे मूर्तिपूजा के सच्चे स्वरूप को समझ गए थे।

अतः ध्यानपूर्वक जाँच करने से मालूम होगा कि मूर्तिपूजा बिलकुल जड़ लोगों के लिए हितकर नहीं है, और अत्यन्त संस्कारी तथा गंभीर लोगों के लिए वह आवश्यक नहीं है। जिन्हें मूर्तिपूजा की आदत हो गई है उन्हें मूर्तिपूजा को छोड़ना हो, तो इसके लिए बीच की सीढ़ी है मानस-पूजा। हमारे साधु-सन्तों ने मूर्तिपूजा का प्रायः सीधा विरोध नहीं किया, परन्तु पूजा के बदले उन्होंने भजन को ही प्रधानता दी।

ईसाई धर्म ने अनेक देवों को आग्रहपूर्वक छोड़कर एक देव की स्थापना की, तब सामान्य लोगों ने अनेक सन्तों की पूजा शुरू कर दी क्योंकि अनेकता उनके खून से निकली नहीं थी। इसी प्रकार ऐकेश्वरी धर्म का आग्रह रखने वाले इस्लामी अरबस्तान में और टर्की में भी पवित्र स्थान, पवित्र कब्रें, कुरान के मंत्रों का उच्चारण और उससे होने वाले चमत्कार आदि पूजा के अनेक प्रकार उत्पन्न हो गए।

सच पूछा जाए तो धर्म असल में शस्त्रों के और धर्म गुरुओं के आदेशों पर आधार नहीं रखता। धर्म शुद्ध सात्त्विक भावनाओं पर, शुद्ध बुद्धि पर, भले-बुरे का विवेक करने वाली विवेचक शक्ति पर तथा पवित्र पुरुषों के अनुभव पर आधार रखता है। धर्म एक जीवन्त वस्तु है। शास्त्रों तथा ग्रन्थों के शब्दों को प्रमाण मान कर बैठ जाना ही जड़ पूजा या बुतपरस्ती है। हृदय के भीतर से परमात्मा को उसकी दी हुई जीवित धर्मवृत्ति को हटा कर उनके स्थान पर शास्त्रों, ग्रन्थों और पुराने रीति-रिवाजों को बैठाना धर्म की घोर अवगणना करना है।

हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि समाज जब अपने बल पर भीतर से अर्थात स्वेच्छा से, आन्तरिक प्रेरणा से प्रगति नहीं करता तब उसे बाहरी दबाव के कारण लाचार होकर परिवर्तन करने पड़ते हैं। अन्त में जो होना है वह तो हो ही जाता है लेकिन अनिच्छा से कोई काम करने से जो विकृति उत्पन्न होती है, उसका असर लम्बे समय तक बना रहता है। ईश्वर की मूर्ति बनाने से और उसकी षोडशोपचार पूजा करने से मानव की प्रौढ़ बुद्धि का शायद अपमान होता होगा, परन्तु इससे ईश्वर का अपमान होने की बात किसी के गले नहीं उतरती। पहली बात तो यह है कि ईश्वर का मान-अपमान मनुष्य के हाथ में है ही नहीं। मनुष्य ने अपने स्वभाव के आधार पर ही ईश्वर को 'जेलस गॉड' अर्थात 'ईर्ष्यालु देव' बना दिया है। ईर्ष्यालु पति, ईर्ष्यालु राजा, ईर्ष्यालु गुरु और ईर्ष्यालु देव— ये सब एक ही वृत्ति के परिपाक हैं। ईश्वर एक है, फिर भी उसके अनेक गुणों और विभूतियों के सम्बन्ध में मानव ने अनेक देवों की कल्पना कर ली है। इसलिए एक ईश्वर के सिवा बाकी सब

देवी-देवता काल्पनिक हैं। इतने देवों को देखकर परमात्मा को चिढ़ क्यों आने लगी ? ईश्वर जानता है कि भूल से ही क्यों न हो, लेकिन ये लोग पूजा तो अन्त में मेरी ही करते हैं। क्या ईश्वर यह नहीं जानता कि मनुष्य-जाति कितनी अपूर्ण है, उसकी जरूरतें क्या हैं और उसे सन्तोष कैसे मिलता है ? हृदय में बसकर हृदय को प्रेरित करने वाला अन्तर्यामी क्या मनुष्य के हृदय के भावों को नहीं जान सकता ?

जिस प्रकार मूर्तिपूजा के लाभ हैं उसी प्रकार उसके कुछ नुकसान भी हो सकते हैं। इन नुकसानों में एक बड़ा नुकसान है धर्म-रहस्य को समझने में मूर्तिपूजा से उत्पन्न होने वाली बाधा। जड़ पार्थिव पदार्थ की मूर्ति बनाने के बाद हम यह मानने की गलती करते हैं कि अन्य पदार्थों की अपेक्षा उसमें अधिक शक्ति है; यह गलती हमेशा हमारे मार्ग में बाधक बनती है। मनुष्य की भावना एक जगह स्थिर होती है और दूसरी जगह स्थिर नहीं होती, यह स्वभावगत भेद है। परन्तु इसे वस्तुगत भेद मानना अथवा ऐसे भ्रम को प्रोत्साहन देना वांछनीय नहीं है।

मनुष्य में भोग भोगने की, कला का आनन्द लूटने की, उत्सव मनाने की और समूह में एकत्र होकर मौज करने की वृत्ति होती है। यह वृत्ति एकाएक नष्ट नहीं की जा सकती। किसी विशेष दृष्टि से इन सब वृत्तियों को मारने की अपेक्षा जान-बूझकर विशिष्ट समय में इन्हें सुधारने और व्यवस्थित बनाने से ही इनके बुरे स्वरूप से बचा जा सकता है। इसीलिए हिन्दू समाज के प्राचीन नेताओं ने धर्म का और सार्वत्रिक वासनाओं का सम्बन्ध जोड़ दिया था। एक ओर इससे लाभ हुआ। भोग, कला, उत्सव आदि में भी धार्मिक वृत्ति का प्रवेश हो, यह कोई मामूली प्रगति नहीं है। लेकिन इसी बात का दूसरा पहलू यह है कि इस प्रगति के साथ धर्म में— धर्म सम्बन्धी विचारों में, धार्मिक आदर्शों में भोगादि मलिन वस्तुएँ घुस गई। इसे कौन हितकारी मान सकता है ? शहद में पानी डालने से पानी का स्वाद तो सुधरता है, किन्तु उतनी ही हद तक शहद का स्वाद बिगड़ जाता है या उतर जाता है। वैसी ही यह धर्म और भोगादि के सम्बन्ध की बात है। धर्म का प्रचार बढ़ाने के लिए, धर्म को लोकप्रिय बनाने के लिए, प्राचीन लोगों ने जो उपाय अपनाए, उन्हीं के कारण उन लोगों को किसी हद तक धर्म को शिथिल भी बनाना पड़ा। बेशक, इसका यह परिणाम हुआ कि बहुत से ऐसे लोग, जो अन्य किसी प्रकार से धर्म के प्रभाव में न आते, आसानी से उसके प्रभाव में आ गए। परन्तु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि इसके फलस्वरूप धर्म की गति तथा धर्म का तेज कुछ मन्द पड़ गया । प्रत्येक धार्मिक वस्तु के प्रति मनुष्य के हृदय में श्रद्धा और भक्ति तो रहती ही है। इसलिए जो चीज किसी भी कारण से एक बार धर्म में घुस जाती है उसकी जड़ें जीवन में इतनी गहरी पैठ जाती हैं कि अधर्म की पोषक होने का विश्वास हो जाने पर भी उसे हटाना कठिन हो जाता है। प्राणियों का बलिदान, देवदासियों की प्रथा, पूजा में ताम्बूल आदि का उपयोग, अस्पृश्यता,

प्रतिनिधि के द्वारा पाप-क्षालन और पुण्य-प्राप्ति, भूत-प्रेतों का पूजन, द्रव्यों को जला कर किया जाने वाला यज्ञ आदि कितनी ही घातक और भ्रमोत्पादक बातें धर्म में घुस जाने के कारण ही आज तक टिकी हुई हैं। और अभी भी हमारी प्रगति में बाधा पहुँचाती रहती हैं। मूर्तिपूजा को भी यह बात लागू होती है। रामकृष्ण परमहंस शराब नहीं पीते थे; परन्तु पूजा में उपयोग की गई शराब यदि प्रसाद के रूप में उन्हें दी जाती, तो वे उस शराब में एक उँगली डालकर उसका छोटा-सा छींटा मुँह में उड़ाते या शराब में उँगली डालकर माथे पर उसका तिलक कर लेते थे। उन्होंने मांस खाना छोड़ दिया उसके बाद कोई उन्हें प्रसाद का मांस देता, तो उसे सिर पर चढ़ा कर वे एक ओर रख देते थे।

कितनी ही हानिकारक बातें मूर्तिपूजा के द्वारा अपनी प्रतिष्ठा और आयु बढ़ाती चली जाती हैं। भोग में धार्मिकता को स्थान देकर संयम उत्पन्न करने के प्रयत्न से भोग ही अधिक दृढ़ हुआ है। एक ओर मूर्तिपूजा द्वारा यदि कल्पना-शक्ति— रसवृत्ति— को तालीम मिली, तो दूसरी ओर इन्हीं बातों की प्रगति पर अंकुश लग गया।

नदी के प्रवाह में कोई बाँस बाँधे रखने से जिस तरह कितना ही कूड़ा-कचरा और काई उसके आस-पास लिपट कर पड़ी रहती है, उसी तरह मूर्तिपूजा के आस-पास कितने ही अन्धविश्वास और सामाजिक बुराइयाँ टिकी हुई हैं। हमारे मन्दिर सामाजिक तो हैं, परन्तु सार्वजनिक नहीं हैं ! इस कारण से बहुत-सी सामाजिक सम्पत्ति व्यक्तिगत बन जाती है। नतीजा यह है कि या तो इस सम्पत्ति का दुरुपयोग होता है या उसका कोई उपयोग ही नहीं होता। नामधारी राजा के मन्त्रियों में जो दोष आ जाते हैं। वे सब दोष देवस्थानों में भी आ जाते हैं।

परन्तु यह तो मैंने केवल हानि का ही पहलू बताया। इसके लाभ भी अनेक हैं। कुल मिलाकर लाभ अधिक है या हानि अधिक है, इसकी जाँच की जानी चाहिए।
१९३०

५६. नए मन्दिर

नए जमाने के हम लोग मन्दिरों का उपयोग पहले के लोगों के जितना नहीं करते। मन्दिरों में जाना बहुतों को लगभग निकम्मा काम मालूम होता है किसी विशेष उत्सव के अवसर पर जाना पड़े तो बात अलग है। वर्ना हमारी भावना यह हो गई है कि मन्दिर केवल अशिक्षित रूढ़िवादियों, बूढ़ियों, विधवाओं और दक्षिणा के लोभी पंडे-पुजारियों के लिए ही हैं। किसी मन्दिर की मूर्ति विशेष सुन्दर हो

अथवा विशिष्ट शृंगार धारण करती हो, तो उसकी मोहकता को देखने के लिए जरूर हमारा मन ललचा सकता है। किन्तु दर्शन के लिए इकट्ठे हुए असंस्कारी लोग अपने कोलाहल के कारण कहीं मोहकता और काव्यमयता को टिकने दें तब न ! मन्दिर में पुरोहित, पंडे और भिखारी हमें एक मिनट की भी शान्ति नहीं लेने देते। मूर्ति का ध्यान धरने के लिए एक क्षण हम खड़े रहें उतने में तो 'चरणामृत लो और दक्षिणा दो' का उनका तकाजा शुरू हो जाता है।

कुछ मन्दिरों के देव जन्म से श्रीमन्त राजाओं के समान होते हैं। राजाओं के जितने भी भोग-विलास और व्यसन होते हैं, वे सब इन देवों को मिलने चाहिए। एक मन्दिर में तो मैंने वेश्याओं को मन्दिर की सीढ़ियों की पाँवचप्पी करते देखा है। इन देवों के अन्तःपुर में अनेक देवियाँ भी होती हैं और राजाओं की तरह इन देवों के देवियों से मिलने के दिन भी निश्चित किए हुए होते हैं। भक्त लोग जिस दिन ईश्वर के समान होंगे वह शुभ दिन होगा। परन्तु तब तक तो ईश्वर को अपने भक्तों के समान ही बनना पड़ रहा है। ईर्ष्यालु प्रजा के देव भी ईर्ष्यालु ही होते हैं। राजाओं की निरंकुशता की आदी बनी हुई प्रजा के देव भी पल में कृपालु बन जाते हैं और पल में क्रूर बन जाते हैं। हमारे कुछ देव शीघ्रकोपी हैं, तो कुछ रुधिर-प्रिय हैं। और उनका यह स्वभाव अन्त में हमारी पूजाविधियों में प्रकट होता है।

हमारे धनिक लोग जिस प्रकार अर्जित सम्पत्ति को पीढ़ी-दर-पीढ़ी बनाये रखने के लिए उसका स्थावर जमीन में रूपान्तर कर देते हैं, उसी प्रकार जिसे भी पूजा की कोई नई विधि सूझती है वह उसे शास्त्र की आज्ञा का रूप देकर चिरंतन बना देता है। हर मन्दिर की पूजा की प्रणाली अलग होती है, परन्तु एक बार वह चली कि फिर उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। सरकार की जबरदस्ती या शंकराचार्य के समान महापुरुषों की जबरदस्ती के कारण कोई परिवर्तन हो जाए तो भले हो जाए।

हमारे मन्दिरों की सम्पत्ति और उसका होनेवाला उपयोग किसी भी सज्जन को बेचैन बना सकते हैं। फिर भी यह आशा लगभग व्यर्थ मालूम होती है कि उस सम्पत्ति की व्यवस्था की गहरी जाँच करके उसका कोई सदुपयोग किया जा सकता है। सिक्ख लोगों ने अपने मन्दिरों में सुधार करने का प्रयत्न किया तब बात खून-खच्चर तक पहुँच गई थी। दक्षिण भारत में मन्दिरों की आय पर समाज अथवा सरकार का अधिकार जमाने के लिए कानून बनाने का आन्दोलन चल रहा है। विदेशी सरकार को महायुद्ध के जैसे अवसर पर मनिदरों की सम्पत्ति से वार-बॉन्ड के लिए पैसा मिलता है, उस समय तक सरकार भी मन्दिरों की व्यवस्था में हस्तक्षेप क्यों करे ?

'मन्दिरों की संस्था जड़ता से घिरी हुई है। उसमें कोई सुधार नहीं हो सकता । किसी दिन जीर्ण होकर वह अपने आप नष्ट हो जाय तो बात अलग है।' ऐसा मानने वाले अनेक लोग होंगे। लेकिन अभी-अभी अमरेली और दाहोद जैसे स्थानों

पर समाज-सेवकों ने स्वयं ही नये मन्दिरों की स्थापना की है; यह जानने के बाद तो हमें यही कहना पड़ता है कि मन्दिरों की संस्था अभी भी पूरी निरर्थक अथवा कालग्रस्त नहीं हुई है।

आज हम अपनी नयी भावनाओं का, नयी आध्यात्मिक भूख और नये सामाजिक प्रश्नों का तथा आदर्शों का विचार करके ही नये मन्दिर बनवाएँ और उनके लिए नये नियम रचें। आज के नये मन्दिर भले ही खिलौनों जैसे हों। इन मन्दिरों की स्थापना में मदद करने वाले मध्यमवर्ग के लोगों में मन्दिर-सम्बन्धी श्रद्धा और आस्था भले ही शिथिल हो। भले ही इन मन्दिरों की स्थापना अज्ञानी लोगों को आश्वासन देने के लिए केवल 'लोक-संग्रह' की नीयत से ही की जाती हो। लेकिन अगर इन मन्दिरों के आस-पास धार्मिक बुद्धि से की जाने वाली समाज-सेवा का तप बढ़े, तो भविष्य में ये जाग्रत स्थान माने जाएँगे और हजारों-लाखों लोग इनसे लाभ उठाएँगे। अतः आज से ही हमें इन मन्दिरों की स्थापना, इनकी रचना और पूजा-अर्चना की विधि के बारे में, भविष्य की दृष्टि रख कर, निणर्य कर लेना चाहिए।

हमारे प्राचीन मन्दिर छोटे हों या बड़े, मुख्य देव की मूर्ति तो वहाँ अँधेरे में ही रहती है। क्या ऋषियों ने ही यह गाया नहीं था कि पुराण-पुरुष 'गुहायां' प्रविष्ट ' है ? अँधेरे की मदद से मूर्ति के बारे में भय और गूढ़ता का भाव उत्पन्न होता है; और द्वार पर बैठे हुए व्यवस्थापक अथवा पुजारी महाराज की आय निश्चित हो जाती है। इतिहास की दृष्टिवाला मनुष्य कहेगा कि मूर्ति को अँधेरे में इसलिए छिपाकर सुरक्षित रखा जाता है कि कोई उसे आसानी से तोड़ न डाले, कोई उसे चुराकर न ले जाए। संस्कृति की स्वाभाविकता का विचार करने वाले लोग यह भी कहते हैं कि प्रचंड गर्मीवाले इस देश में मोटे-मोटे पत्थरों से बने ठंडे मन्दिरों के भीतर खूब गहराई में बनी आधे अँधेरे वाली शीतल कोठरियों में दोपहर का समय बिताना भगवान के लिए और भक्तों के लिए सुखद और शान्तिप्रद होता है। इस कारण से पूजा के स्थान ऐसे ही बनवाए जाते हैं।

जो भी हो, लेकिन इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि भविष्य के मन्दिर देवों को अँधेरे में न बैठाएँ। निरंकुश बादशाह (और गणंजय डिक्टेटर) का दर्शन भले ही कठिन और दुप्राप्य हो, किन्तु प्रजा-नायक का तो सबके बीच होना ही शोभा देता है। भविष्य के हमारे मन्दिर चारों ओर से खुले होने चाहिए। मजबूत स्तम्भों पर यदि मन्दिर का शिखर बनाया जाए, तो शोभा में और सुरक्षितता में जरा भी कमी नहीं आएगी। ऐसे मन्दिरों में मूर्ति को यदि ऊँचे चबूतरे पर स्थापित किया जाए और चबूतरे के आस-पास काफी जगह छोड़कर एक कठघरा बना दिया जाए, तो मूर्ति भी सुरक्षित रहेगी और उसका दर्शन भी सरल हो जायेगा। मन्दिर की रचना ऐसी होनी चाहिए कि हजारों लोग दूर से भी एक साथ मूर्ति का दर्शन कर सकें।

दर्शन के लिए आने वाले लोगों की संख्या अमर्यादित हो, तो कुछ जैन और बौद्ध मन्दिरों की तरह मन्दिर के मध्य में चार दिशाओं में देखने वाली चार मूर्तियाँ बैठा देनी चाहियें और मूर्ति यदि एक ही मुखवाली हो, तो उसकी रक्षा के लिए पीछे की ओर एक छोटी-सी शिला खड़ी कर देना काफी होगा।

मन्दिर भले ही छोटा हो, किन्तु उसके आस-पास पर्याप्त खुला स्थान तो होना ही चाहिए। हमने अपने कितने ही मन्दिरों को उनके चारों ओर घनी बस्ती बसाकर बिगाड़ दिया है। सारी जनता को यदि मन्दिर के चारों ओर खुली जगह रखना जरूरी लगे, तो वैसी जगह पाना कठिन नहीं है; कठिन बात तो यात्रियों की सुविधा के लिए मन्दिर के चारों ओर छोटे-बड़े छप्पर खड़े करने का मोह छोड़ना है। पहले मन्दिर के आस-पास मंडप बाँधे जाते हैं, फिर धर्म-शालाएँ बाँधी जाती हैं और उसके बाद किराए के लोभ से वहाँ दुकानें खड़ी कर दी जाती हैं— जिससे मन्दिर का पवित्र वातावरण ही नष्ट हो जाता है। मन्दिर में या मन्दिर के आस-पास जो भी कोई दीवार वगैरा बनवाता है, वह उस दिशा में दर्शन की सुविधा को रोकने का पाप करता है।

मन्दिरों के बारे में बनाने जैसा मुख्य नियम तो नैवेद्य और भोग से सम्बन्ध रखता है। हिन्दू धर्म को विदेशी लोग 'चूल्हा-धर्म' या 'रसोई-धर्म' कहते हैं। जहाँ पकाए हुए भोजन का सवाल आता है वहाँ जात-पाँत के और छुआछूत के सभी सवाल खड़े हो जाते हैं। इसमें कोई शंका नहीं कि हमारे ऋषि-मुनियों-ने कन्द-मूल और फल को ही पवित्र मानने में बहुत बड़ी बुद्धिमानी बतायी थी। मन्दिरों में सूखे या ताजे, कच्चे या पक्के फल ही भोग के रूप में ले जाए जाएँ, ऐसा नियम बनाना अत्यन्त आवश्यक है। अधिक-से अधिक शक्कर, दूध मक्खन और दूध से तैयार होने वाली ताजी मिठाइयाँ— इतनी ही वस्तुएँ नैवैद्य के लिए उचित मानी जाएँ। हमारा पेट और हमारा स्वाद कृत्रिम हो गया है, इसलिए हम अनाज को पका और तरह-तरह के मसालों से बिगाड़ कर खाते हैं। नित्य-तृप्त ईश्वर को ऐसा भोजन खिलाने की क्या जरूरत ? वाल्मीकि ने कहा है : 'यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः'। मनुष्य जैसा अन्न खाता है वैसा ही अन्न वह अपने देवों को अर्पण करता है। इस प्रकार अनार्य लोगों के देव और देवियाँ भेड़-बकरों और भैंसों का भोग माँगने लगे। यदि हम परिशुद्ध हिन्दू धर्म के देवों की उपासना करना चाहते हों, तो हमें परम ऋषियों द्वारा हविष्य माने गए कन्द-मूल और फल तथा गरी का नैवेद्य ही देवों के सामने रखना चाहिए। ऋषि-पंचमी के दिन बैल की सेवा से उत्पन्न किया हुआ कुछ भी न खाने का नियम होता है। स्वार्थ के कारण हम पशुओं पर जो अत्याचार करते हैं, उसी का भान यह नियम हमें कराता है। मनुष्य-जाति सदा के लिए यह निष्पाप आहार खाने वाली बन जाए, यह सत्ययुग

के लिए हमारा एक स्वप्न है। हमारी पूजाविधि द्वारा इस आशा को पोषण मिले, तो यह कोई छोटा लाभ नहीं है।

इस प्रकार पूजाविधि में 'चूल्हा-धर्म' को हटा देने के बाद पुराणकार की यह सलाह स्वीकार करने में हमारे लोगों को बहुत आपत्ति नहीं होगी :

कृष्णालयसमीपस्थान् कृष्णसेवार्थमागतान्।
चांडालान्पतितान्व्रात्यान् स्पृष्ट्वा न स्नानमाचरेत।।

''भगवान की सेवा के लिए आए हुए तथा मन्दिर के समीप एकत्र हुए चांडालों, पतितों या भ्रष्ट लोगों को हम छुएँ, तो भी स्नान करने की जरूरत नहीं है।''

हमने अपनी पूजाविधि में कर्मकांड और तंत्र को आवश्यकता से अधिक स्थान दे दिया है। पूजा में तो हृदय-धर्म की उत्कटता और सादगी होनी चाहिए। मनुष्य की जैसी सारी जरूरतें ईश्वर की भी होती हैं, यह कल्पना करके षोडश उपचारों का आडम्बर बढ़ाने की अपेक्षा यदि हम ऋषियों का यह वचन याद रखें कि नित्य-तृप्त ईश्वर को किसी वस्तु की जरूरत नहीं है और अपनी भक्ति तथा पूजा को हम हृदय को सन्तोष देने वाली बनाएँ, तो बहुत से झंझटों से बच जाएँगे। ईश्वर की पूजा तो केवल भाव-प्रधान ही होनी चाहिए। रसायनशास्त्र के प्रयोगों की तरह अथवा वैद्यों की दवा बनाने की विधियों की तरह ईश्वर-पूजा को कर्मकांडी बनाने की कोई जरूरत नहीं। औषध की भस्म तैयार करने में यदि कोई गलती हो जाए, तो वह जहर बन जाती है; उसी प्रकार पूजा की विधि में जरा-सी भी गलती होने पर महादेव या माता हमें भस्म कर देगी— इस तरह का डर बढ़ाने से सकाम भक्ति में उत्कटता भले ही आए, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि उससे धार्मिकता निश्चित रूप से दृढ़ होती है। पूजा की विधि सरल और उत्कट भक्ति वाली होनी चाहिए।

ऐसी पूजा करने के लिए किसी विशेष पंडे, पुजारी, ब्राह्मण या तपोधन, साधु या मुखिया को रखना जरूरी नहीं है। पेशेवर पुजारी को पूजा के लिए रखते ही उसके पीछे असंख्य बुराइयाँ आएँगी। यहाँ हम पुराने मन्दिरों की बात नहीं करते। उन्हें उनके सारे अटपटे रिवाज जब तक चलें तब तक मुबारक हों। किन्तु नये मन्दिरों मे तो हम पूर्णतया शुद्ध रहें ! ऐसे सभी लोग, जो मूर्तिपूजा के विरोधी नहीं है; मन्दिर में दर्शन के लिए आ सकते हैं— फिर वे किसी भी धर्म के अनुयायी क्यों न हों। उनके लिए इतना नियम काफी होगा कि वे मन्दिर में आकर मन्दिर की मर्यादा का पालन करें। जहाँ तक पूजा का सवाल है, उस मन्दिर में विश्वास रखने वाले हर हिन्दू को, मान्य की हुई विधि के अनुसार, पूजा करने की छूट होनी चाहिए। पुरुष हो या स्त्री, दोनों स्नान करके और धुले हुए स्वच्छ कपड़े पहन कर

(और भूखे पेट) मन्दिर में पूजा करने जाएँ। इसमें जात-पाँत का कोई भेद नहीं होना चाहिए। स्त्री-पुरुष का भी कोई भेद नहीं होना चाहिए। जिन लोगों ने मिलकर मन्दिर को बनवाने का उद्योग किया हो, वे सब पूजा की अपनी बारी बाँध लें। जब से लोगों को पैसे के बल पर मन्दिर बनवाने और चलाने की सुविधा सूझी तब से हिन्दू समाज में आवश्यकता से अधिक मन्दिर बनने लगे हैं और ये मन्दिर भक्ति का पोषण करने के लिए नहीं परन्तु अमुक लोगों की उमंग को या प्रतिष्ठा की लालसा को तृप्त करने के लिए ही बनवाए जाते हैं। जो लोग मन्दिर बनवाएँ उन्हें ही मन्दिर का नित्य-नैमित्तिक खर्च उठाना चाहिए।

दर्शन कराने के लिए भक्तों से दक्षिणा लेने का तो प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए। दर्शन कर लेने के बाद किसी की कुछ देने की इच्छा हो, तो वह लिया जा सकता है; परन्तु इस तरह इकट्ठा हुआ धन मन्दिर के मालिकों, संचालकों, पुजारियों (यदि दुर्भाग्य से पुजारी हों तो) अथवा मन्दिर के देवी-देवताओं का नहीं माना जा सकता। जिस समाज से यह धन प्राप्त होता है उसकी भावना के अनुसार समाज-सेवा के किसी भी योग्य कार्य में इस धन का उपयोग होना चाहिए। लेकिन यह एक स्वतंत्र विषय हुआ। इसकी चर्चा अलग से की जानी चाहिए।

हिन्दुओं के मन्दिरों में हजारों या लाखों लोग एकत्र भले ही होते हों, परन्तु पूजा तो प्राय: व्यक्तिगत ही होती है। सामुदायिक उपासना शायद ही कहीं देखने में आती है। इस कारण से संगीत के बदले मन्दिरों में कोलाहल सुनायी देता है और कला का विकास होने की बजाय कला की विकृति ही दिखाई पडती है। मन्दिर मुख्यत: एक सामाजिक संस्था है। इन मन्दिरों में धर्म के सामाजिक स्वरूप के विकास की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। शुद्ध,सात्त्विक, पवित्र और कला-रसिक अग्रणियों को मन्दिर की संस्था का सारा तंत्र रचना चाहिए। पूजा की विधि भी इसका अनुसरण करने वाली ही होनी चाहिए।

जिस तरह हमने मन्दिरों में उपयोग किए जानेवाले या रखे जाने वाले आहार (नैवेद्य) के विषय में ऊपर स्पष्टता की, उसी प्रकार पूजा में अथवा मन्दिर में उपयोग किए जाने वाले वस्त्रों के बारे में भी कोई निश्चित और स्पष्ट नियम होना चाहिए। परमात्मा 'दीनन दुखहरन' है, पतित-पावन है। उसे राज-विलास या वैभव का शृंगार शोभा नहीं देता। शुद्ध खादी कपड़े ही उसे शोभा देंगे। सिंहासन पर बैठे हुए राम की अपेक्षा अहिल्या का उद्धार करने वाले, गुहक को गले लगाने वाले तथा शबरी के बेर चखने वाले तपस्वी या वनवासी राम की मूर्ति ही मुझे पूजा अथवा भक्ति के लिए अधिक उपयुक्त लगती है।

इस प्रकार समाज के भविष्य-हित का पोषण करे ऐसी मन्दिरों की रचना का विचार करने के बाद उनका समाज के ऐहिक और पारलौकिक कल्याण के लिए

कैसे लाभ उठाया जाए, इस प्रश्न पर विचार किया जाना चाहिए।
१५-४-'२८

५७. प्राण-प्रतिष्ठा*

श्री मूलचन्दभाई का आमंत्रण स्वीकार करने के सिवा कोई चारा नहीं था, इसलिए मैं आपके बीच आ गया हूँ। किन्तु राम-मन्दिर में मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा करने के पवित्र कार्य में भाग लेते समय मुझे अनेक प्रकार से संकोच होता है।, घबराहट मालूम होती है। पुण्य प्राप्त करने के लिए या भक्ति-उपासना का प्रचार करने के लिए मन्दिर बनवाने का उत्साह रखने वाली दुनिया से हम बहुत दूर हैं। हिन्दू सामाजिक जीवन में एक समय मन्दिरों का जो स्थान था वह आज नहीं रहा है। नये ढंग से शिक्षा पाये हुए लोगों में जो पक्के सनातनी हैं वे मन्दिरों, मूर्तिपूजा आदि का चाहे जितना सैद्धान्तिक बचाव करें, परन्तु इनके विकास का प्रयत्न कोई करता हो ऐसा मालूम नहीं होता। समाज की अग्रगण्य जातियों में सामाजिक प्रयत्न से मन्दिर बनवाने का विशेष प्रयास दिखाई नहीं देता। मन्दिरों के द्वारा धार्मिक जीवन समृद्ध होता है या नहीं, इस विषय में लोगों की शंका दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। कुछ मन्दिरों की व्यवस्था इतनी बुरी है कि वे व्यक्तिगत सम्पत्ति जैसे ही बन गए हैं। इतना ही नहीं, वे मुफ्त की आय के साधन भी बन गए हैं और आलोचक तो यहाँ तक कहते हैं कि कुछ मन्दिरों के अनीति के धाम बन जाने की आवाज भी सुनायी देने लगी है। ऐसे समय यह एक बड़ा सवाल है कि जो जातियाँ अभी तक पिछड़ी हुई हैं, जिनकी संरक्षकता का कार्य हमने अहंकार से या जिम्मेदारी के भान से अपने हाथ में ले रखा है, उन जातियों को हमें सन्देहास्पद दिशा में ले जाना चाहिए या नहीं ? जैसे-जैसे मूर्तिपूजा और देव-मन्दिरों की आलोचना होती है वैसे-वैसे इन दोनों के पीछे रहे भव्य आदर्श को चित्रित करके हम इनका बचाव करते हैं। इस उच्च और भव्य चित्र को दृष्टि के समक्ष रखते हुए भी हम दूसरी तरह से परेशानी महसूस करते हैं। जिस उच्च आदर्श के बल पर हम इन दोनों का औचित्य सिद्ध करते हैं उस आदर्श को हमने अपने जीवन में कुछ अंश तक भी सिद्ध किया

* सौराष्ट्र के वरतेज नामक गाँव में हरिजनों के लिए बनाए हुए राम-मन्दिर में मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा करने के अवसर पर ता० १०-८-'२९ को दिया गया प्रवचन।

है ? अथवा, और कुछ नहीं तो क्या उस आदर्श की दिशा-में प्रयाण करने की वृत्ति भी हमारे जीवन में दिखाई देती है ? इस तरह की अन्तर्मुखी शंका हमें जरूर व्याकुल बना देती है। व्यवहार में भी हम देखते हैं कि बीज बोने का काम तो सरल है; परन्तु उस बीज से जो अंकुर फूटता है उसका पालन-पोषण करने के लिए उसकी रक्षा के लिए सारा जीवन निचोड़ कर रख देना पड़ता है। हमें मकान बनवाने में और मन्दिर बनवाने में भेद करना चाहिए। आज देश में जब मन्दिरों और मन्दिरों की व्यवस्था के बारे में इतनी आलोचना होती है उस समय नये मन्दिर बनवाने से पहले हमें इस बात की जाँच अवश्य करनी चाहिए कि पुराने मन्दिरों के दोषों को दूर करने की कोई व्यवस्था हमने यहाँ की है या नहीं। ऐसा हम नहीं करेंगे तो समाज के उपालम्भ या उलाहने के पात्र बनेंगे।

फिर, यह तो हमारे समाज के सबसे छोटे भाइयों के लिए बनाया हुआ मन्दिर है। इसके सम्बन्ध में तो हमारी जिम्मेदारी हजार गुना बढ़ जाती है। जिस संस्था को संस्कारी मानी जाने वाली जातियाँ भी शुद्ध नहीं रख सकीं, उसे चलाने की जिम्मेदारी अपने छोटे भाइयों के सिर पर डालने से पहले हमें जरूर सोचना चाहिए। दो दिन के उत्साह के बाद मन्दिर को चलाने के बारे में लोग लापरवाह या निरुत्साही नहीं बन जाएँगे इसका विश्वास यदि हम्ने कर लिया हो,समय के प्रभाव से चारों ओर फैल रही नास्तिकता तथा पर-जीवन के विषय में बढ़ती जा रही अश्रद्धा के सामने यह मन्दिर टिकेगा इसका विश्वास यदि हमने कर लिया हो, सामाजिक प्रतिष्ठा के अभाव में आसानी से फैलने वाले आनाचार से यह मन्दिर भ्रष्ट नहीं होगा ऐसा यदि हमारा विश्वास हो गया हो, मन्दिर की पूजा-अर्चना, उसकी मरम्मत और उसके आस-पास की स्थूल तथा नैतिक स्वच्छता के प्रश्न का हल हमने सोच निकाला हो तथा कौमी अथवा राजनीतिक्क विप्लव से इस नये मन्दिर की रक्षा करने की अपनी जिम्मेदारी का हमें पूरा भान हो चुका हो, तो ही हम मन्दिर जैसी धार्मिक संस्था खड़ी कर सकते हैं। एक बार मन्दिर बनवानेके बाद वह अखंड रूप में चलता रहना चाहिए। समाज को उससे लौकिक तथा धार्मिक लाभ मिलना चाहिए, क्योंकि वह एक स्थाई सनातन संस्था है।

इन सब बातों का विचार करते हुए इस समारोह में भाग लेते समय मन का अस्वस्थ होना स्वाभाविक ही है।

सबसे पहले हम मूर्तिपूजा का ही विचार करें। मूर्तिपूजा हमारे धर्म का आवश्यक अग नहीं है।

उत्तमा सहजावस्था, मध्यमा ध्यानधारणा।
अधमा तीर्थयात्रा च, मूर्तिपूजाऽधमाधमा।।

मूर्तिपूजा सबसे निकृष्ट है, ऐसा प्राचीन वचन भी हमारे यहाँ है! इसे हम एकांगी,

मताग्रही वचन कहकर उड़ा सकते हैं और चाहें तो तर्क चलाकर यह सिद्ध कर सकते हैं कि 'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः।' श्रुति-वचन भी मूर्तिपूजा का निषेध नहीं करता। किन्तु मैत्रेयी उपनिषद् जैसे प्रधान उपनिषद् में कहा गया है : "पत्थर, लोहे, स्फटिक या मिट्टी जैसी पार्थिव वस्तु की मूर्ति बनाकर पूजा करने से भोग भोगने के लिए बार-बार जन्म लेना पड़ता है। इसलिए संयमी मुमुक्षु पुरुष को अपने हृदय के भीतर ही अन्तर्यामी की अर्चना करनी चाहिए।"* बेशक, यह सीख मुख्यतः मुमुक्षु संन्यासियों के लिए है। परन्तु मोक्ष किसे नहीं चाहिए? हमारे देश में अधिकारवाद पर खूब सोचा-विचारा गया है। ज्ञानी, संन्यासी या ऐसे अन्य अधिकारी पुरुष भले हो मूर्ति-पूजा का त्याग करें, ध्यान-कुशल लोग भले मानस-पूजा द्वारा ही मूर्तिपूजा कर लें; परन्तु सामान्य लोगों के लिए तो मूर्तिपूजा ही एकमात्र आश्रय है। ध्यान, पूजा अथवा सेवा के लिए कोई-न-कोई आलम्बन तो उन्हें चाहिए ही। इस प्रकार की दलील हम हमेशा सुनते हैं।

लेकिन मेरे गले यह दलील कभी उतरती नहीं। मैं यह मानता हूँ कि हर कोई आदमी मूर्तिपूजा नहीं कर सकता। मूर्तिपूजा के लिए विशेष अधिकार प्राप्त करना होता है। मनुष्य के धार्मिक विचार एक खास ऊँचाई तक पहुँचे हों, तो ही उसे मूर्तिपूजा से लाभ होता है। वर्ना मूर्तिपूजा अज्ञान, अन्धविश्वास तथा अनाचार की जननी बन जाती है। बाद में धार्मिक पुरुषों को इनका कड़ा विरोध करना पड़ता है। अरबस्तान, सीरिया, खाल्डिया, मिस्र आदि देशों में अनाधिकारी लोगों के बीच चलने वाली मूर्तिपूजा ने कहर ढा दिया था। इससे ऊब कर हजरत इब्राहिम, मूसा, मुहम्मद वगैरा खुदापरस्त पैगम्बरों को उसका कड़ा विरोध करना पड़ा। जो लोग यह नहीं जानते कि ईश्वर सर्वव्यापी है, अन्तर्यामी है, वे मूर्तिपूजा से सच्चा लाभ नहीं उठा सकते। इसके विपरीत, भय अथवा लोभ से अन्यान्य पार्थिव वस्तुओं का ध्यान करके वे अधिक भयभीत और लोभी बनेंगे और अपने भीतर दासवृत्ति को बढ़ाकर गुलाम बनेंगे। जिस समाज में ईश्वर का विभुत्व दृढ़ता से स्वीकार किया गया है, जिस समाज की परम्परा ईश्वर को हृदय के भीतर ही खोजने की है, उस समाज में मूर्तिपूजा का स्वरूप बदल जाता है, मूर्ति केवल 'पूजा तक मर्यादित रहने वाला प्रतीक' बन जाती है, इन्द्रिय द्वारा अमूर्त तत्त्व का ध्यान करने का केवल एक साधन बन जाती है।

हमारे सामने का गढ़ा हुआ पत्थर है तो पत्थर ही, परन्तु ईश्वर के प्रति अपनी भक्ति प्रकट करने के लिए हम उसमें ईश्वरत्व का आरोपण करते हैं— इस बात

---

* पाषाण-लोह-मणि-मृण्मय-विग्रहेषु पूजा पुनर्जनन-भोगकरी मुमुक्षोः।
तस्माद् यतिः स्वहृदयार्चनमेव कुर्याद; बाह्यार्चनं परिहरेत् अपुनर्भवाय।।

को समझने के लिए विशेष आध्यात्मिक तैयारी, दार्शनिक विकास आवश्यक होता है। ईश्वर जब सर्वत्र विद्यमान है, तो हम यह क्यों मानें कि वह इस पत्थर में नहीं है? हमारा हृदय जहाँ माने वहाँ ईश्वर है ही, इस प्रकार का विश्वास या सन्तोष मनुष्य दूसरी किसी तरह नहीं बढ़ा सकता।

मेरी यह दृष्टि यदि गलत न हो तो इससे यह शंका जरूर उठती है कि 'यदि ऐसा ही हो तो अग्रगण्य जातियाँ भले मूर्तिपूजा करें, वेदान्त-शास्त्र जानने वाले पंडित भले ही पत्थर को स्नान कराएँ और भोजन खिलाएँ, परन्तु पिछड़ी हुई जातियों को तो हमें इस कैद में डालना ही नहीं चाहिए।' मेरे विचार से यह तर्क ठीक नहीं है। हमारे साधु-सन्तों ने सैकड़ों वर्षों तक दया-बुद्धि से जो कार्य किया है, उसका प्रभाव सारे समाज पर पड़ा है। हमारे ये छोटे भाई शास्त्रीय चर्चा में अथवा दुनियावी समझदारी में भले ही हमसे पिछडे हुए हों, परन्तु यह अनुभव कभी नहीं हुआ कि ईश्वर-निष्ठा, भक्ति और आत्म-समर्पण के बारे में वे हमसे पिछड़े हुए हैं। जैसे प्रेम-शक्ति को बाहरी शिक्षा की जरूरत नहीं होती वैसे श्रद्धा को भी तार्किक कसरत की जरूरत नहीं होती। अनुभवी सन्तों ने श्रद्धा दी और हमारे देश की मुग्ध-हृदय जनता ने उसे आत्म-बुद्धि से ग्रहण किया।

ये भोले-भाले लोग सर्वोच्च आध्यात्मिक ज्ञान के अधिकारी हो सकते हैं या नहीं, ऐसी शंका सन्तों के मन में कभी नहीं उठी।

तब हमारे देश में मूर्तिपूजा का क्या स्थान है?

हम यह न मानें कि मूर्तिपूजा हर मनुष्य के लिए जरूरी है। फिर भी सब मनुष्य जाने-अनजाने किसी-न-किसी ढंग से मूर्तिपूजा करते ही हैं। बहुतेरे लोग कला-रसिक तो होते ही हैं। इन्द्रियों द्वारा इन्द्रियातीत वस्तु का आस्वाद भोगना और इस प्रकार इन्द्रियों की विषय-लोलुपता को कम करना अथवा उच्च दिशा में मोडना— यह मार्ग अनेक लोगों के लिए बड़ा अनुकूल होता है। काव्य अथवा सगीत के द्वारा मनुष्य दुनियावी दुःख को जो भूल जाता है उसका कारण यही है। यह कलावृत्ति अनेक लोगों में इतनी प्रबल होती है कि मूर्तिपूजा के द्वारा वे अनायास अपने हृदय का विकास कर सकते हैं। चक्र को घुमाने के लिए जैसे बीच में एक स्थिर धुरी का होना जरूरी है, राज्यतंत्र को सुस्थिर रखने के लिए जैसे कुछ प्रजाओं को नाम के राजा की जरूरत होती है, सेना को जैसे अपनी प्रतिष्ठा के प्रतीक के रूप में झंडे की जरूरत होती है, वैसे ही मनुष्य-मात्र को अपना आध्यात्मिक प्रेम उँडेलने के लिए तथा ध्यान में एकाग्र होने के लिए मूर्ति की जरूरत रहती है। कुछ लोग मूर्ति को छोड़कर केवल मन्दिर को ही आवश्यक मानते हैं। परन्तु यह तो तफसील की बात हुई। आदर का भाव किसी-न-किसी आलम्बन की खोज में रहता ही है; फिर वह मूर्ति हो या ग्रन्थ, तालाब हो या नदी, प्रकाश हो या अन्धकार, पूर्व दिशा

हो या पश्चिम दिशा, पूर्वज हों या पूर्वग्रह।

यह आलम्बन विघ्नरूप न बने, बन्धनकारक न हो, कल्पना और विचार का अवरोधक न बने, शोध को गलत रास्ते न ले जाए और अनुभव को कलुषित न करे, इसके लिए समाज को पहले से ही हृदय की शुद्ध शिक्षा-दीक्षा मिलनी चाहिए। यह शिक्षा-दीक्षा हर देश के सन्त और फकीर जनता को देते आए हैं और आज भी देते हैं। हृदय द्वारा धार्मिक शिक्षण देने की व्यवस्था यदि न हो और खाली मन्दिर ही हों, तो इसमें कोई शंका नहीं है कि वे शापरूप ही सिद्ध होंगे। जिस प्रकार किसी सुयोग्य, अनुभवी और समर्थ मनुष्य के बिना कोई संस्था नहीं खोली जा सकती, उसी प्रकार शुद्ध हृदय और ईश्वर-निष्ठा से कैसी भी परिस्थितियों में समाज का मार्गदर्शन करने की थोड़ी-बहुत शक्ति रखने वाला समाज-सेवक न मिले तब तक मन्दिर बनवाने से हमें क्या लाभ होगा?

मन्दिर सामाजिक शिक्षा का केन्द्र है, धार्मिक संगठन का एक बड़ा साधन है तथा जनता के विविध आदर्शों को जीवित रखने का एक माध्यम है। व्यक्तिगत जीवन तथा परिवारिक जीवन से परे जितना भी मानव-जीवन है उस सारे जीवन का हम चाहें तो अपने मन्दिरों द्वारा विकास कर सकते हैं।

तब प्रश्न उठता है कि क्या इन सारी बातों का विचार करने के बाद हम मन्दिर बनवाने में प्रवृत्त हुए हैं? ऐसा ही होता तो हमने सभी वर्णों के लिए समान मन्दिरों की स्थापना की होती। जैसे अछूतों के लिए अलग शालाएँ खोलना और अलग कुएँ खुदवाना हमारी लाचारी को प्रकट करता है, उसी प्रकार उनके लिए अलग मन्दिर बनवाना भी अच्छी स्थिति का द्योतक नहीं है। जिस प्रकार मैं चाहूँ तो रेल में अछूतों के डिब्बे में बैठ सकता हूँ, चाहूँ तो अछूतों की शाला में अपने बालकों को पढ़ने भेज सकता हूँ या अछूतों का कुआँ साफ हो तो उसका पानी पी सकता हूँ, उसी प्रकार मन्दिरों में श्रद्धा रखने वाले सब लोगों को अछूतों के मन्दिर में जाने की स्वतंत्रता है। और इस स्वतंत्रता का लाभ हम सबको लेना चाहिए। यदि हमारा रूढ़िवादी समाज समय को पहचान कर यह बात स्वीकार न करे, तो कुछ लोगों को यह नियम बनाना पड़ेगा कि हम पूजा करेंगे तो अछूतों के मन्दिर में ही करेंगे, दान देंगे तो अछूतों के मन्दिर को ही देंगे और उत्सव मनाएँगे तो अछूतों के मन्दिर के छत्र के नीचे ही मनाएँगे।

लेकिन मन्दिरों के बारे में किसी भी तरह का उत्साह ऊँची जातियों में है? आज हम मन्दिरों के द्वारा-अपने सामाजिक-धार्मिक जीवन की शोध बहुत कम करते हैं। आधुनिक ढंग से सोचने-विचारने वाले लोग इसके लिए दूसरे ही केन्द्र खोज रहे हैं। हम लोगों को अन्तर्मुख होकर अपनी वृत्तियों की जाँच करके देखना चाहिए कि लोक-संग्रह के नाम पर हम कहीं इन बाल-जातियों में अन्धविश्वासों को तो

नहीं बढ़ा रहे हैं? वे लोग हमारा अनुसरण करें इस खयाल से हम ऐसी चीज तो गम्भीर भाव से उन लोगों के हाथ में नहीं सौंप रहे हैं, जो स्वयं हमें खिलौने जैसी मालूम होती है? अथवा इन लोगों में जड़ जमा कर बैठे हुए अन्धविश्वासों का ही लाभ उठाकर उनकी सेवा के नाम पर हम उनकी जेबों से पैसा इकट्ठा करने का साधन तो खड़ा नहीं कर रहे हैं? यह अन्तिम उद्देश्य ईमानदारी से मन में रखा जाए, तो भी इसका परिणाम हितकर तो हो ही नहीं सकता। मन्दिर का मुख्य उद्देश्य सामाजिक उपासना का, शुद्ध धार्मिकता का विकास करना ही होना चाहिए। यह उद्देश्य हो तभी इन जातियों में मन्दिर के लिए कोई स्थान हो सकता है। वर्ना लौकिक शिक्षण की संस्था खोलकर धीरज के साथ प्रतीक्षा करना ही हमारे लिए बेहतर होगा।

और, हम तो आज राम-मन्दिर खोलने जा रहे हैं। रामचन्द्र के चरित्र में हिन्दू जीवन के सर्वोच्च्व आदर्श का कौन-सा पहलू हमें नहीं मिलता? पुत्रकामेष्टि यज्ञ की दिव्य ज्वाला से जिन राम का जन्म हुआ, उनका सम्पूर्ण जीवन यदि यज्ञ की आहुति के समान सिद्ध हो तो उसमें आश्चर्य कैसा? रामचन्द्र अर्थात पवित्र आहुति। इन रामचन्द्र ने समस्त आर्य जाति के लिए, और भविष्य का विचार करें तो सारी दुनिया के लिए, जीवन का भव्य आदर्श उपस्थित किया है। यह शबरी के जूठे बेर खाने वाले राम का मन्दिर है। अपनी मित्रता से, अपने सखाभाव से गुहक जैसे भील राजा को कृतार्थ करने वाले रामचन्द्र का यह मन्दिर है। जटायु के समान गृध्रराज का श्राद्ध करने वाले रामचन्द्र का यह मन्दिर है। वानर-राज सुग्रीव के साथ संधि करने वाले रामचन्द्र का यह मन्दिर है। वानर-यूथ-मुख्य हनुमान को अपना हृदय अर्पण करने वाले रामचन्द्र का यह मन्दिर है। विजय से प्राप्त हुई सम्पत्ति भक्तराज राक्षस विभीषण को प्रसाद के रूप में दे देने वाले रामचन्द्र का यह मन्दिर है। 'दीनन दुखहरन देव' राम का यह मन्दिर है। इस मन्दिर में ऊँच-नीच का भेद नहीं होना चाहिए, अशिक्षित और शिक्षित का भेद नहीं होना चाहिए; द्विज और अन्त्यज का भेद तो होना ही नहीं चाहिए। यहाँ अमीर और गरीब का भेद नहीं होना चाहिए; यहाँ सभी रामभक्त समान भाव से एकरूप हो जाने चाहिए और एक होकर वे इस मन्दिर में कैसी प्रेरणा प्राप्त करें? यह प्रजा-रंजक राजा का, एक पत्नी-व्रती पति का तथा एकवचनी मर्यादा-पुरुषोत्तम का मन्दिर है। ऐसे रामचन्द्र के मन्दिर में आकर हम इन सभी उदात्त गुणों का विकास अपने भीतर करने के लिए बँधे हुए हैं।

अखंड और जाग्रत प्रयत्न के बिना इस आदर्श को हृदयंगम नहीं किया जा सकता; इसका विकास नहीं किया जा सकता। ऐसे नये मन्दिरों के साथ हमें बिलकुल नयी प्रणाली को जोड़ना चाहिए। हमारे अन्धबिश्वास और हमारी पुरानी प्रथाएँ इन

नये मन्दिरों में किसी भी तरह हमारी प्रगति में बाधक नहीं बनने चाहिए। इन नये मन्दिरों की पूजा में पान-सुपारी जैसे व्यसनों के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए। भूखों मरने वाली क्षीणवीर्य प्रजा के राजा रामचन्द्र को अब छप्पन भोगों को भूल जाना होगा। एक भी शास्त्र ऐसा नहीं कहता कि मनुष्य जितने मौज-शौक करे वे सब अपने इष्टदेव से भी उसे करवाने चाहिए। हमें पूजा और भक्ति के द्वारा अपना और अपनी जनता का विकास साधना चाहिए। नीचे गिराने वाले साधनों को धार्मिकता का रूप देने की गलती हम न करें।

जहाँ पूजा होगी वहाँ विधि तो रहेगी ही। किन्तु विधि के आडम्बर को बढ़ा कर उसके विशेषज्ञ 'सेवकों' का एक नया वर्ग हम क्यों खड़ा करें? इन 'सेवकों' के प्रभुत्व और स्वामित्व से आज तक क्या हम कम त्रस्त हुए हैं? क्या हम जानते नहीं कि काशी, रामेश्वर, जगन्नाथपुरी, नाथद्वारा, बैजनाथधाम, ज्योतिर्मठ, बद्रीनारायण, द्वारका और डाकोर जैसे स्थानों में भक्तिभाव में डूबे हुए यात्रियों की कैसी दुर्दशा होती है? हमारे इन मन्दिरों में सबको पूजा का एक-सा अधिकार होना चाहिए। मूर्ति के चरण धोना, पत्र-पुष्प चढ़ाना, खादी का वस्त्र अर्पण करना, धूप-दीप रखना और थोड़ा फलाहार चढ़ाना— इतने से पूजाविधि पूरी हो जानी चाहिए। भक्त को जैसे सूझे वैसे स्तोत्र वह गा सकता है और भगवान की प्रार्थना कर सकता है। नित्य की पूजा के लिए ऐसे भक्तों को ही पूजा की बारी बाँधनी चाहिए, जो मन्दिर के आस-पास रहते हैं और मन्दिर के द्वारा अपनी उन्नति करते हैं। यदि हम जात-पाँत के ऊँच-नीच-भाव के झगड़ों से बचना चाहते हैं, तो हम मन्दिर में पकाये हुए भोजन का नैवेद्य कभी न रखें। मन्दिर में हमें सर्वत्र पवित्रता का भाव भर देना चाहिए। परन्तु यदि हम मन्दिर में छुआछूत की झंझट से मुक्त नहीं होंगे, तो वहाँ भ्रातृभाव का सामाजिक जीवन खड़ा करना कठिन होगा। रेशमी कपड़े, आभूषण, सोने चाँदी के बरतन-छिछले जीवन का यह आडम्बर प्रभु के मन्दिर में बिलकुल शोभा नहीं देता। वहाँ तो शुद्ध जीवन का संगीत प्रवाहित होना चाहिए। राम का मन्दिर वशिष्ठ के आश्रम जैसा होना चाहिए, विश्वामित्र की यज्ञभूमि जैसा होना चाहिए, शबरी के पवित्र धाम जैसा होना चाहिए। वहाँ अखंड रूप में विद्याध्ययन चलना चाहिए। वहाँ लोकसेवा की कोई-न-कोई योजना निरन्तर तैयार होनी चाहिए। राम का इस प्रकार प्रसाद सम्पूर्ण समाज-जीवन में सभी लोगों को प्रतीत होना चाहिए।

आज हम यहाँ प्राण-प्रतिष्ठा की विधि करने के लिए एकत्र हुये हैं। प्राण-प्रतिष्ठा का अर्थ क्या है? क्या हम पत्थर की मूर्ति में प्राण फूँक सकते हैं? क्या हम अपनी ओर से श्री रामचन्द्र जी को प्रतिष्ठा प्रदान करने वाले हैं? प्राण-प्रतिष्ठा हमारे धार्मिक जीवन की एक रूढ़ बनी हुई विधि है। परमात्मा तो सदा ही सर्वत्र व्याप्त है। परन्तु पूजा के लिए हम जिस प्रतिमा को पसन्द करते हैं उसे पूजा के

योग्य बनाने के लिए हम अपने हृदय में बसे हुए ईश्वर का उसमें आरोपण करते हैं। इसी को कहा जाता है प्राण-प्रतिष्ठा। ईश्वर यदि कहीं अधिक-से-अधिक प्रत्यक्ष हो तो हमारे लिए वह अपने शुद्ध हृदय में ही है। इस हृदयस्थ नारायण को, इस आत्माराम को मूर्ति में संचरित हुआ मान कर हम मूर्ति में उसकी पूजा करें और पूजा समाप्त होने के पश्चात वहाँ से उसका विसर्जन करके पुनः अपने हृदय में उसका दर्शन करें, यह हमारे पूर्वजों की पद्धति है। मन्दिरों में तो सामाजिक प्राण की और हमारे सर्वोच्च आध्यात्मिक जीवन की प्रतिष्ठा करनी होती है। उस जीवन की यत्किंचित् झाँकी तो हमारे पास प्रत्यक्ष होनी ही चाहिए। विधि तो एक बाह्य चिह्न है। प्राचीन ऋषियों द्वारा बतायी हुई पद्धति से हम यह विधि पूरी कर सकते हैं ऐसी विधि हमें न मिले तो जो भी विधि सूझे उसी से हम अपना काम चला सकते हैं। परन्तु सच्ची प्राण-प्रतिष्ठा तो तभी होगी जब समाज का आध्यात्मिक आदर्श निश्चित करके मन्दिर के द्वारा हम उस आदर्श तक पहुँचने का संकल्प करेंगे। हमारे भीतर सच्ची जीवन-व्यापी धर्मनिष्ठा हो, अनन्य भक्ति और ईश्वर-शरण की भावना हो, 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' की साधना हो और शुद्ध धार्मिक वृत्ति से समाज-सेवा करने की बात हमें सूझे, तभी ऐसी प्राण-प्रतिष्ठा सम्पन्न हो सकती है।

इस प्राण-प्रतिष्ठा का अर्थ यह होता है कि हम समाज के प्राण की स्थापना यहाँ मन्दिर में और मूर्ति में करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को यह प्रण करना चाहिए कि प्राण भले ही चले जाएँ परन्तु हमारा मन्दिर अप्रतिष्ठित नहीं होगा। सोमनाथ के मन्दिर के खंडहर जिस भूमि पर बिखरे हुए पड़े हैं उस भूमि पर नया मन्दिर बनवाने का प्रारम्भ करने से पहले हमें गम्भीरता से सोचना चाहिए कि क्या हमारा संकल्प धार्मिक वैर-द्वेष को शान्त करने का है? बाहुबल से धर्मस्थानों की रक्षा करनी पड़े तो अवश्य की जा सकती है, परन्तु ऐसी रक्षा से धर्म तो अपमानित होता ही है। धर्म-विजय को बाहु-विजय की आशा नहीं रखनी चाहिए। जब तक हमारा प्रेमभाव मनुष्य-मात्र के हृदय पर विजय प्राप्त नहीं करता तब तक धर्म की विजय हुई ऐसा नहीं कहा जा सकता।

परन्तु यदि हम ऐसा मानें कि द्वेष, क्रोध आदि शत्रु हमारे समाज से बाहर हैं, तो वह हमारी बहुत बड़ी भूल होगी। दूसरे धर्मों ने हमारे जितने मन्दिरों को तोड़ा या भ्रष्ट किया, उनसे अधिक मन्दिरों को हमारे समाज के लोभ, अनास्था, ईर्ष्या, अनाचार आदि महादोषों ने जर्जरित किया है। इस भीतरी आक्रमण से समाज को बचाने की हमारी प्रतिज्ञा हो, तो ही हम सच्ची प्राण-प्रतिष्ठा कर सकेंगे।

जिस पुण्य-पुरुष के हाथों इस मन्दिर की शिलारोपण-विधि संपन्न हुई है, उसका अंत्यज-सेवा का उत्साह, धर्म के लिए मर-मिटने की उसकी तैयारी, प्राणी-मात्र के लिए उसके हृदय में रही दया और मानव मात्र के प्रति उसके चित्त में बसी हुई

अवैर-बुद्धि यदि हमें आदर्श मालूम होती हो, तो ही हम यह प्राण-प्रतिष्ठा करें।

यह मन्दिर मुख्यतः अन्त्यजों के लिए है। अंत्यज ही इसे चलाएँगे और निभाएँगे। उन्हीं की इच्छा को तृप्त करने के लिए हमने यह मन्दिर बनवाया है। परन्तु ऐसा नया मन्दिर खोल कर हमने अपनी सामाजिक जिम्मेदारी को बढ़ाया है, इतना याद रखने की नैतिक जिम्मेदारी तो हम सवर्णों की है ही। यही कारण है कि अन्त्यजों को लक्ष्य करके न बोलते हुए मैं अन्त्यजों का हाथ पकड़ने के लिए तैयार हुए लोगों को लक्ष्य करके आज यहाँ बोला हूँ। अन्त्यज तो लम्बे समय के अन्याय-अत्याचार से अकुलाये हुए बालक हैं। उनके सारे दोषों के लिए हम लोग ही जिम्मेदार हैं। हम लोग ही उनके लिए ईश्वर के दरबार में उत्तरदायी हैं। आज तक हमने उनके स्वाभाविक जीवन-विकास को रोका है; इसी में से यह जिम्मेदारी पैदा हुई है। इस जिम्मेदारी का स्मरण करके हम प्रभु रामचन्द्र से प्रार्थना करें : 'हे अनाथों के नाथ, हम सभी तेरे सामने बालक हैं। हम प्रमादी हैं। तुझे पहचानने के अपने एकमात्र कर्तव्य को भूलकर हम क्षुद्र वासनाओं के पीछे दौड़ते हैं। और आपस में लड़ते-झगड़ते हैं। दीन, हीन, पतित होकर भी हम एक-दूसरे के प्रति ऊँच-नीच की भावना रखकर हँसी के पात्र बनते हैं। एक दूसरे से द्वेष करके हम नष्ट-भ्रष्ट हो रहे हैं। तू हम सबको एक कर दे। हमारे बीच एकता की स्थापना कर। हमें प्रेम का दान दे। हमारे हृदय में, हमारे समाज में, हमारी इस दुनिया में तेरी जय-जयकार हो! भारत में स्वराज्य की— धर्मराज्य की स्थापना हो!'

५८. मूर्ति का जन्म

एक मूर्तिकार था। वह अपने ध्यान की मस्ती में घूमता था। उसने जंगल मे एक पत्थर देखा। वह था तो दूसरे पत्थरों के जैसा ही; परन्तु जैसे हमें अंगूर के भीतर के बीज उसे प्रकाश के समान रखते ही दिखाई देते हैं अथवा जैसे एक्स-रे द्वारा हमें अपने शरीर के भीतर की हड्डियाँ साफ दिखाई देती हैं, वैसे ही उस मूर्तिकार को पत्थर के भीतर एक मूर्ति दिखाई दी। फर्क इतना ही है कि सुन्दर और आकर्षक अंगूर के भीतर हमें खुरदरे बीज जैसे-तैसे दिखाई देते हैं तथा लावण्य और प्रसन्नता से खिले हुए मानव-शरीर के भीतर एक्स-रे की सहायता से आँखों को डरावना लगने वाला अस्थि-पंजर दिखाई देता है, क्योंकि दोनों जगह हमारी पार्थिव दृष्टि काम करती है; जबकि मूर्तिकार की पार्थिव आँखें तो ब्रह्मदेव के बनाए हुए पत्थर को ही देखती थीं, परन्तु रसेश्वर द्वारा प्रदान की हुई कल्पना की गुप्त दृष्टि से उसने उस खुरदरे पत्थर

के भीतर एक सुन्दर सुडौल और जीती-जागती मूर्ति को देखा— बस उसी प्रकार जैसे भगवान रामचन्द्र के चरणों ने शिला में अहिल्या को देखा था। फिर तो पूछना ही क्या? सोने की खदान में, दुर्घटना के कारण, जब एकाध मनुष्य दब जाता है तब उसे बाहर निकालने के लिए— उसका दम घुटने के पहले ही उसे जीवित बाहर निकालने के लिए— जिस प्रकार बाहर के लोग प्रयत्न और उतावली की पराकाष्ठा कर देते हैं। उसी प्रकार वह मूर्तिकार मनुष्य और बैलगाड़ी की मदद से तुरन्त उस पत्थर को अपने घर ले गया। फिर उसने हाथ में हथौड़ी और छैनी लेकर उस मूर्ति पर चढ़ी हुई पत्थर की परतों को तोड़ कर हटाने का प्रयत्न आरम्भ किया। हथौड़ी का एक-एक प्रहार वह जल्दी-जल्दी लेकिन दृढ़ता और निश्चित शक्ति से पत्थर पर करने लगा। कैसा उसका बल था! और फिर भी कैसी उसकी कुशलता और कोमलता थी । भीतर की मूर्ति को जरा-सी भी चोट कहीं लगती, तो मूर्तिकार के प्राण सूख जाते थे। वह काम करता गया। पसीने से उसका शरीर तरबतर होता गया। पत्थर की परतें एक के बाद एक टूट कर गिरती गयीं— पहले मोटी-मोटी परतें, फिर पतली और बारीक। धीरे-धीरे मूर्ति का स्वरूप प्रकट होने लगा। डूबते मनुष्य को पानी से बाहर निकलने के बाद या सोते मनुष्य को नींद से जगाने के बाद पहले-पहले जैसे उसके अंग-प्रत्यंग आलस्य से भरे दिखाई देते हैं। और चेहरा व आँखें ऊँघते आदमी के-से लगते हैं उसी प्रकार मूर्ति का दर्शन होने लगा। कोई सर्जन जिस प्रकार अपने प्राणों को और अपनी विद्या को, अपनी निष्ठा और अपने ध्यान को, उँगलियों में एकाग्र करके योगयुक्त स्थिति में रोगी का ऑपरेशन करता है, उसी प्रकार हमारा वह मूर्तिकार स्वयं बनाये हुए सूक्ष्म औजारा से मूर्ति को जगाने लगा। मूर्तिकार के इस कोमल ओर गुप्त स्पर्श का अनुभव होते ही मूर्ति पहले हँसी, फिर उसने धीरे-धीरे अपनी आँखे खोलीं। मूर्तिकार को देखकर उसने पूर्ण परिचय का द्योतक मन्द-सा स्मित किया। फिर अपने वस्त्रों को ठीक करके वह बोली : " क्यों मूर्तिकार बन्धु, मुझे तुमने किसलिए बुलाया है। युगों की मेरी नींद से तुमने मुझे क्यों जगाया है? तुम मुझसे कैसे कार्य की आशा रखते हो?"

अपनी ही बनायी हुई मूर्ति के समक्ष मूर्तिकार हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। उसने अपना सिर झुकाया और अत्यन्त नम्रता से भक्ति पूर्ण स्वर में बोला :

"क्षमा करना, देवी ! यह दुनिया अब अधिक दुःख नहीं सहन कर सकती। दुःख की दीक्षा से दिव्य बनने की बजाय यह दुनिया दुःख से घायल होकर नास्तिक बन रही है। मनुष्य के प्रति मनुष्य का व्यवहार विपरीत हो गया है। मनुष्य को अब प्रसन्नता, बन्धुता, प्रेम और उत्पन्न बनने की दीक्षा देनी है। परन्तु मुझसे यह कार्य नहीं हो सकता। इससे मेरा दम घुटता था, मैं भीतर-ही-भीतर कुढ़ता था। परन्तु जंगल में उस पत्थर के भीतर मुझे तेरा दर्शन हुआ और मुझे मार्ग मिल गया। मुझे

लगा कि यही दीन जनों के उद्धार का मुहूर्त है, इसलिए मैंने तुझे बुलाया है। मैं यहाँ तेरी स्थापना करूँगा। यहाँ मैं तेरे योग्य एक मन्दिर बनाऊँगा। सारी दुनिया के लोगों को आमंत्रण दूँगा। वे आकर तेरा दर्शन करेंगे, जिससे उनके हृदय में भक्ति का आस्तिक भाव उदय होगा, उनके सामने जीवन का रहस्य प्रकट होगा; और उसके बाद वे मनुष्य को मनुष्य के रूप में, भाई के रूप में, तेरे भक्त के रूप में पहचानना सीखेंगे। मेरी प्रार्थना है कि इस कार्य को अखंड रूप में करने के लिए, हे भुवनेश्वरी, तू यहीं सदा विराजमान रह।''

देवी ने प्रसन्न होकर कहा, ''तथास्तु ! परन्तु तुझे अपने लिए कोई वरदान मुझसे नहीं चाहिए?''

''क्यों नहीं, माता? मुझे एक वरदान अवश्य चाहिए। तेरा दर्शन करने के लिए यहाँ आने वाले लोग, तेरा आविष्कार करने वाले मुझ मूर्तिकार को भूल जाएँ, मेरा नाम खोजने न बैठें। मैं यही वरदान माँगता हूँ कि मेरे कारण तेरे दर्शन में, तेरे साक्षात्कार में कोई विक्षेप न पड़े।''

देवी परेशानी में पड़ गई। उसके होंठ बन्द हो गए। मानो 'वरं ब्रूहि' कहने का उसे पश्चात्ताप हो रहा हो। परन्तु तुरन्त पुनः प्रसन्न होकर उसने कहा : ''तथास्तु !'' इतना कहने के बाद देवी ने मूर्तिकार को उठाकर अपने हृदय में समा लिया। वह बोली : ''अब तू मुझसे भिन्न रह ही नहीं सकता। मेरे साथ का यह अभेद ही तुझे मेरा वरदान है। मैं इस पत्थर में आवृत्त थी, लुप्त थी, सुप्त थी। तूने मेरा आविष्कार किया। अब मैं तुझे अपने हृदय के साथ एकरूपता प्रदान करती हूँ। तूने मुझे देह दी; मैं मुझे विदेह बनाती हूँ। लोग मेरे द्वारा तुझे ही देखेंगे। अब मुझमें और तुझमें कोई भेद रहा ही नहीं है।''

मूर्तिकार का शरीर वहीं लुढ़क गया!

३०-९-'३९

५९. प्रेम के अधिकारी

हम लोग छह भाई थे। मैं सबसे छोटा था। मेरा जन्म अन्त में हुआ था, इसलिए मैं 'अन्त्यज' था। इस कारण से बचपन में सभी भाई मुझ पर प्रेम बरसाते थे। कोई खाने की चीज उनके हाथ में आती, तो सबसे पहले वे मुझे खिलाते थे। चित्रों की पुस्तक पर मेरा ही अधिकार होता था। मैं कितना ही गन्दा क्यों न होऊँ, मेरे माता-पिता और बड़े भाई मुझे गोद में लेने में हिचकिचाते नहीं थे। मुझे नहलाने का काम

कभी नौकरों को नहीं सौंपा जाता था; यह काम पिता जी स्वयं करते थे। प्रेम के ऐसे मीठे वातावरण में पल-पुस कर मैं बड़ा हुआ। मुझे स्मरण नहीं है कि बचपन में मेरी गन्दगी और मेरा अज्ञान घर में किसी के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ हो।

जो स्थिति बचपन में मेरी थी, वही हर बालक की होती है। जो पवित्र नियम परिवार पर लागू होता है वही नियम कम या अधिक मात्रा में समाज पर भी लागू होना चाहिए। चारों वर्णों की चिन्ता रखने वाले हमारे पूर्वजों ने ढेढ़, भंगी, चमार, महार आदि जातियों को जो 'अन्त्यज' नाम दिया था, वह तिरस्कार की भावना से तो नहीं ही दिया होगा। 'अन्त्यज' प्रेम का शब्द है (जिस प्रकार 'अग्रज— ब्राह्मण— शब्द आदर का सूचक है)।

हमें सोचना चाहिए कि आज हम अन्त्यजों के साथ समाज में कैसा व्यवहार करते हैं। परिवार में जैसे अच्छी-से-अच्छी वस्तु हम अपने छोटे भाई को देते हैं, उसी प्रकार क्या हम अन्त्यजो को सामाजिक लाभ देते हैं? राजा-महाराजाओं के दरबार में ऐसे-ऐसे मुन्दर चित्र सजाए हुए रहते हैं, जो गरीबों को देखने के लिए भी नहीं मिलते। राजा-महाराजा मिष्टान्न खाते हैं; गरीबों को मिष्टान्न कहाँ मिलते हैं ? अमीर लोग हमेशा गंधर्वो का गान सुनकर अपना चित्त प्रसन्न कर सकते हैं, परन्तु गरीब लोग उससे सदा ही वंचित रहते हैं। राजाओं के दीवान-खानो में गुलदस्तों में रमणीय पुष्प-रचना की जाती है, लेकिन गरीबों को उसकी कल्पना भी नहीं आती। इस तरह अमीरी हमेशा बहिष्कार-प्रेमी, स्वार्थी होती है; इसलिए उमे धर्मद्रोही माना गया है। धर्म सबके लिए होता है। 'विवृताश्च वेदाः'— वेद सबके लिए खुले हैं। वेदों के द्वार किसी के लिए बन्द नहीं हैं। जो धर्म सामाजिक संस्कृति के, समाज-जीवन के मारे लाभ समाज के सभी अगों को न दे सके वह धर्म कैसा ? इमलिए तो धर्म-मन्दिरों में, देव-मन्दिरों में अमीर-गरीब का भेद किए बिना सभी को धर्म का प्रसाद दिया जाता है। चित्रकार लाख रुपए लेकर भी जैमा चित्र राजा के लिए नहीं बनता, वैसा चित्र वह भक्ति-भाव से देव-मन्दिर को और देवभक्तों को, बिना कुछ लिए ही, अर्पण कर देता है। पंडित विष्णु दिगम्बर, जो उत्तम कोटि के गायक थे, हजार रुपए लिये बिना राज-दरबार में गाते नहीं थे; परन्तु वे ही जब हरिद्वार जाते थे तो गंगा के तट पर बैठकर अपना उत्तम संगीत गंगा मैया को सुनाते थे और देश-देशान्तर के असंख्य भक्त उसे मुफ्त में सुन सकते थे।

दुनिया का सर्वोतम कला-कौशल भारत में तो उसके मन्दिरों में ही देखने में आता है। धर्म का उपदेश करने के लिए हजारों रुपए का वेतन लेने वाला आर्चबिशप रखने की प्रथा हमारे देश में नहीं है। धर्म का उपदेश, पुराणों का श्रवण और नाम-संकीर्तन सभी लोगों के लिए है। जात-पात के झगड़े समाज में चल सकते हैं, परन्तु ईश्वर के घर तो सभी मनुष्य समान हैं। पंढरपुर के विट्ठल-मन्दिर में सब

जातियों के लोग जा सकते हैं। जगन्नाथपुरी में जातिभेद रखना महापाप माना जाता है। बद्रीनारायण के प्रसाद का भात कोई अन्त्यज लेकर आए तो भी ब्राह्मण उस पर टूट पड़ता है। यही बताता है कि धर्मगृह में किसी का निषेध नहीं है, किसी का बहिष्कार नहीं है। काशी विश्वनाथ के मन्दिर के द्वार भी सदा सब लोगों के लिए खुले रहते हैं।

तब हमारे असंख्य मन्दिरों में अन्त्यजों के लिए मनाही क्यों होती है? मन्दिर बनवाने में जितना पुण्य है उतना ही पाप अन्त्यजों को मन्दिर से बाहर रखने में है। दक्षिण में एक पुरानी कथा है कि एक अन्त्यज भक्त कनकदास को उड़पी क्षेत्र के एक प्रसिद्ध मन्दिर में प्रवेश करने से रोक दिया गया। उस सच्चे भक्त ने पुजारी से नम्र प्रार्थना की कि मुझे चाहे जितनी दूर खड़ा रखिए, लेकिन देवता के दर्शन करने दीजिए। मन्दिर के पुजारी सदा ईश्वर के पुजारी नहीं होते। उसने अन्त्यज भक्त को धिक्कार कर वहाँ से निकाल दिया । इस पर वह बेचारा मन्दिर के पीछे जाकर रोने लगा। कहा जाता है कि उसकी आर्तवाणी सुनकर मन्दिर की मूर्ति घूम गई और जिस ओर कनकदास खड़ा था उस ओर उसका मुँह हो गया। यह देखकर सब लोग चकित हो गए।

उस अवसर पर अन्त्यज भव्त ने ब्राह्मण पुजारी से गिड़गिड़ा कर जो प्रार्थना की, और बाद में मन्दिर की खिडकी से भगवान का दर्शन होने पर उसने जो धन्यता अनुभव की, उसका भक्त ने एक कन्नड़ कविता में बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। मैं उसका अर्थ तो नहीं समझ पाया, परन्तु उम कविता का करुण स्वर और भक्ति की उत्कटता आज भी मेरे हृदय में ताजी है।

मई, १९३९

६०. कनकदास

१

कुदरत में नैतिक नियमों के तथा भौतिक नियमों के बीच समबन्ध होना ही चाहिए, ऐसी श्रद्धा मनुष्य के हृदय में है। यह श्रद्धा सब देशों में होती है और सब कालों में होती है। प्रज्ञा के अभाव में मनुष्य इन दोनों का सम्बन्ध विचित्र ढंग से जोड़ना चाहता है और उससे अनेक तरह के अन्धविश्वास पैदा होते हैं। मनुष्य यदि झूठ बोले और कुछ ही देर में उसे ठोकर लगे, तो तुरन्त उसका यह कहने का मन हो जाता है : "देखा, पाप का परिणाम ! अभी दुनिया में सत्य जीवित है।" पंजाब

का लेफ्टिनेन्ट गवर्नर यदि लाला लाजपतराय को देश-निकाले की सजा देकर ब्रह्मदेश में भेज दे और यदि थोड़े ही दिनों बाद वह गवर्नर मर जाए तो लोग जरूर कहेंगे : "जाएगा कहाँ? साधु आदमी परेशान करना कोई आसान बात है क्या?" पुराणों में भी कितने ही पात्र हाथ में जल लेकर कहते हैं कि "यदि आज तक मैं कभी असत्य न बोला होऊँ, अथवा आज तक मैं पूर्ण ब्रह्मचारी रहा होऊँ, तो आकाश में सूर्य रुक जाए अथवा मृत ब्राह्मण जीवित हो जाए।"

हम इतना ही कहेंगे कि इसके पीछे की श्रद्धा तो सच्ची है, परन्तु प्रज्ञा के साथ उसका योग नहीं है।

पश्चिम समुद्र के किनारे मालपे नामक बन्दरगाह के पास उड़पी नाम का एक वैष्णव-क्षेत्र है। भक्ति-योग-धुरन्धर श्री मध्वाचार्य के कारण यह स्थान विशेष प्रसिद्ध हो गया है। कोई व्यापारी द्वारका से नौका में कीमती माल भर कर दक्षिण-की ओर जा रहा था। मालपे बन्दरगाह के पास उसकी नौका आई और सागर ने रौद्र रूप धारण किया। मल्लाहों ने जी-तोड़ प्रयत्न किया, लेकिन बचने का कोई रास्ता मिल नहीं रहा था। समुद्र की एक उत्ताल तरंग मानो मौत की भूखी जीभ बन रही थी। किनारे पर खड़े एक पहापुरुष ने यह भयंकर दृश्य देखा। उनके हृदय से कारुण्य की सरिता बह निकली। उन्होंने ईश्वर से प्रार्थना की, "प्रभो, इन अनाथों की सहायता कर इन्हें बचा ले।" एक क्षण में समुद्र शान्त हो गया, मानो किसी वीतराग योगी की ही मुखमुद्रा उसने धारण कर ली हो। नौका सही-सलामत किनारे पर आ गई। लोगों को यह समझने में देर नहीं लगी कि यह इन महापुरुष की ही कृपा का फल है। नौकापति ने महापुरुष के चरणों में प्रणाम करके कहा, "महाराज, इस नौका में मेरा जो कुछ भी है वह सब आपका ही है। आपके आशीर्वाद से मैं फिर व्यापार करूँगा और चाहे जितना धन कमा लूँगा। लेकिन इस बार आपने मुझे जीवन-दान दिया है, इसलिए मेरा यह धन स्वीकार करके आप मुझे अनुग्रहीत करें।" नित्य-तृप्त संन्यासी को धन का लोभ कैसे हो सकता है? परन्तु बेचारे सेठ को सन्तुष्ट करना आवश्यक था। इसलिए महापुरुष ने कहा, "तुम्हारी नौका में यह जो इतना गोपीचन्दन पड़ा है वह हमें दे दो, तो हमें सन्तोष होगा। बाकी का तुम्हारा धन तुम्हीं ले जाओ। हम तुम्हारा धन लेकर क्या करेंगे?"

उस गोपीचन्दन की पीली मिट्टी के ढेर में दैवयोग से दो मूर्तियाँ निकलीं। स्वामी ने एक मूर्ति की तो मालपे के किनारे ही स्थापना कर दी और दूसरी की स्थापना वहाँ से दो-तीन मील दूर उड़पी नामक स्थान में की। उड़पी के श्रीकृष्ण की यही मूर्ति देखने हम लोग गए थे। मन्दिर वैसे तो काफी छोटा है, परन्तु प्रमाण-बद्ध और सुन्दर है। वहाँ हमने एक विचित्र बात देखी। मन्दिर का महाद्वार हमेशा बन्द रहता है, क्योंकि महाद्वार की ओर भीतर की मूर्ति की पीठ है। पीछे की ओर दीवार में

पत्थर की एक जाली लगी हुई है; उस जाली से ही मूर्ति के दर्शन होते हैं। मन्दिर के भीतर जाना हो तो उसकी बाईं ओर जो दरवाजा है, उसी से जाया जा सकता है। हर कोई मन्दिर के भीतर नहीं जा सकता। हम लोग भीतर गए थे, लेकिन वहाँ ऐसा घोर अँधेरा था और वहाँ की हवा इतनी रुँधी हुई थी कि हम पसीने से तरबतर हो गए और हमारा दम घुटने लगा, मानो गर्भवास का दूसरा अनुभव कर रहे हों! घबराते ही घबराते हमने प्रार्थना की : "हे वैकुन्ठ-नायक, हमें दूसरी बार गर्भवास का अनुभव न हो।" हमारी समझ में यह बात नहीं आई कि मूर्ति की नाक पर सोने का टुकड़ा क्यों जड़ा गया है। काठियावाड़ की यह मूर्ति यहाँ दक्षिण में कैसे आ गई, यह प्रश्न हमारे मन में उठा। परन्तु कुतूहल तो यह था कि मूर्ति महाद्वार से विमुख क्यों है। जाँच करने पर अन्त्यज साधु कनकदास की कहानी सुनने में आई।

२

सन्त कवि कनकदास असल में धारवाड़ प्रदेश में बाड़ गाँव के निवासी थे उनका मूल नाम था वीरनायक। वे शिकारी का धन्धा करते थे। अचूक बाण मारकर लक्ष्य को बींधने में उनकी बराबरी कर सकने वाला कोई दूसरा आदमी उनके समय में नहीं था। (उस समय किसने सोचा होगा कि अस्पृश्यों का यह सरदार उपनिषद् में बतायी हुई :

प्रणवो धनुः, शरो ह्यात्मा, ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं; शरवत् तन्मयो भवेत्।।

जैसी दैवी बाणविद्या में भी प्रवीण हो जाएगा?)

वीरनायक चित्रकलदुर्ग (आज का चितलद्रुग)के राजा की सेना में सेनापति के पद पर पहुँचे थे। वे सम्पत्ति और प्रतिष्ठा के स्वामी बन गए थे। किन्तु एक बार एक युद्ध में उन्हें विरक्ति हो गई। अन्तर्नाद ने उनसे कहा, "वीरनायक, तू दुनिया की सारी माया का त्याग कर दे और एकतारा तथा भिक्षापात्र हाथ में लेकर दास बन जा!" आत्मवीरों का लक्षण ही यह है कि जीवन में परिवर्तन करते समय उन्हें मन के साथ बहुत संघर्ष नहीं करना पड़ता। और यदि संघर्ष करना भी पड़े तो वे इस संघर्ष में हारते नहीं। वीरनायक ने घर-बार त्याग दिया ओर वे यात्रा के लिए निकल पड़े। तिरुपति, काँची, कलहट्टी आदि स्थानों में घूम कर वे विजयनगर पहुँचे उस समय वहाँ महान् कृष्णदेवराय राज्य करते थे। वहाँ वीरनायक को अपने गुरु मिल गए। उन्होंने उनसे मध्व-सम्प्रदाय की दीक्षा ली और फिर यात्रा आरम्भ कर दी।

चिदम्बरम, श्रीरंगम्, मदुरा, रामेश्वर, अनन्तशयन, कन्याकुमारी, गोकर्ण आदि स्थानों की यात्रा करते हुए अनेक प्रकार के कष्ट भोगते-भोगते कनकदास उड़पी

आ पहुँचे। उड़पी कट्टर सनातनी ब्राह्मणों का केन्द्र था। कनकदास जैसे अन्त्यज को वहाँ खड़ा भी कौन रहने देता? ऐसी दशा में उन्हें भिक्षा देने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। अनेक संकट उठाने के बाद वादिराज स्वामी का ध्यान कनकदास की ओर गया। उड़पी के मन्दिर की व्यवस्था अलग-अलग आठ मठों के स्वामियों के हाथ में थी। इनमें से सोडे मठ के मुखिया थे वादिराज स्वामी। वे असाधारण विद्वान् तथा धर्मशील व्यक्ति के नाते प्रसिद्ध थे। उन्होंने समझ लिया कि कनकदास उनमें भी बड़ा भक्त है। मन्दिर की पूजा के बाद वादिराज स्वामी प्रथा के अनुसार सबको हस्तोदक देते थे और उसके बाद ही सब ब्राह्मण भोजन करने बैठते थे। यह हस्तोदक प्रतिष्ठा के क्रम में ही सबको मिलता था। कनकदास की योग्यता जान लेने के बाद वादिराज स्वामी मन्दिर से निकल कर सबसे पहले कनकदास के पास जाते थे और उन्हें हस्तोदक देने के बाद ही अन्य ब्राह्मणों को देते थे। इससे ब्राह्मण बहुत चिढ़ गए। वादिराज ने उनसे कहा : "भाइयो, कनकदास मुझसे भी बड़ा भक्त है। इसे चरणामृत सबसे पहले न दूँ तो अधर्म हो।" ब्राह्मणों ने इसका प्रमाण माँगा। वादिराज मन्दिर में गए। वहाँ से दाहिने हाथ की मुट्ठी को बन्द करके वे बाहर आए और ब्राह्मणों से प्रश्न किया : "ब्राह्मणो, मेरे हाथ में क्या है? बताओ।" हर ब्राह्मण ने अलग-अलग उत्तर दिया। अन्त में कनकदास की बारी आई। वे तो भक्ति में मग्न हो गए। उनके कंठ से गीत फूटा : "ये तो वासुदेव परमात्मा हैं।" जैसे-जैसे गीत आगे बढ़ता गया, वैसे-वैसे वादिराज के हाथ का बोझ भी बढ़ता गया। वे उस बोझ को सहन नहीं कर सके। अन्त में उन्होंने मुट्ठी खोल दी। उसमें क्या था? एक शालिग्राम और तुलसी-पत्र!

वादिराज स्वामी ने एक दिन ब्राह्मणों को एक-एक केला दिया और कहा, "आज एकादशी है। यह केला तुम ऐसे स्थान पर जाकर खाना जहाँ तुम्हें कोई न देख सके।" कनकदास को भी एक केला दिया गया था। शाम को सब लोग इकट्ठे हुए। वादिराज ने यह जानने के लिए सबसे पूछा कि उनकी आज्ञा का पालन किसने कैसे किया। (हर ब्राह्मण ने कहाँ-कहाँ एकान्त खोजा, यह हम जानते तो बड़ा मजा आता) अकेले कनकदास के हाथ में ही केला जैसा का तैसा था। उन्होंने कहा, "जहाँ जाऊँ वहीं वासुदेव हैं। एकान्त कहाँ मिल सकता है? इसलिए मैं केले को हाथ में रख कर ही बैठा हूँ।"

एक दिन कनकदास की इच्छा हुई कि मन्दिर के तालाब में स्नान करके भगवान के दर्शन किए जायँ। वादिराज उस दिन उड़पी में नहीं थे। कनकदास की इच्छा पूरी करे ऐसा दूसरा कोई व्यक्ति उड़पी में नहीं था। जितनी बार वे दर्शन करने गए उतनी ही बार ब्राह्मणों ने उन्हें बाहर निकाल दिया। अन्त में निराश होकर कनकदास मन्दिर के पीछे गए। और वहाँ गीत गाने लगे। उन्होंने हृदय का सारा दुख अपने इस

गीत में उँड़ेल दिया। परमात्मा से भक्त का यह दुख सहा नहीं गया। मूर्ति ने एकाएक उन कर्मकांडी ब्राह्मणों से विमुख होकर अपना मुख पीछे की ओर घुमा लिया!

यह क्या हो गया? अब क्या किया जाए? किसी को कुछ सूझता ही नहीं था। वादिराज आए। उन्होंने इस घटना के बारे में जानते ही ब्राह्मणों से कहा : "अरे, तुमने कनकदास का कोई अपराध किया है, इसीलिए भगवान वासुदेव ने हमारे आचार-धर्म की ओर पीठ फेर ली है।" अन्त में उन्होंने पीछे की दीवार में पत्थर की एक जाली बनवाई और कनकदास के लिए वासुदेव के दर्शन की सुविधा कर दी। आज भी वह खिड़की 'कनकदास की खिड़की' कही जाती है। उस खिड़की के पास ही कनकदास की कुटिया है। आज वहाँ संस्कृत का एक वर्ग चलता है।

एक बार रथयात्रा के अवसर पर जाने क्यों भगवान का रथ आगे बढ़ता ही नहीं था। अन्त में वादिराज ने कहा : "मालूम होता है कि कनक के स्पर्श के बिना रथ चलने देने की भगवान की इच्छा नहीं है।"

धन्य हैं वादिराज स्वामी, जिन्होंने इस बात को समझ लिया कि अन्त्यजों के स्पर्श के बिना हिन्दू समाज की गाड़ी चल नहीं सकती। आज कर्नाटक में कट्टर से कट्टर पुष्टिमार्गी वैष्णव ब्राह्मण भी कनकदास के रचे हुए भजन गाकर अपना भक्ति रस बढ़ाते हैं और उन्हें सन्त के रूप में स्वीकार करके उनका चरितामृत गाकर अपने को पावन हुआ मानते हैं। परन्तु कनकदास के जातिबन्धुओं को तो वे तिरस्कार और धिक्कार के पात्र ही मानते हैं !! हिन्दू धर्म की रक्षा करने वाले वादिराज स्वामी प्रत्येक हिन्दू के हृदय में यदि अवतरित नहीं होंगे, तो हिन्दू धर्म का रथ चलेगा नहीं और परमात्मा हिन्दू समाज से विमुख ही रहेंगे।

२७-९-'२५

६१. भारत-शक्ति

कहा जाता है कि महाभारत के युद्ध के आरम्भ में धर्मराज युधिष्ठिर ने प्रतिज्ञा की थी कि "यदि मेरे चार भाइयों में से एक भी मारा जाएगा, तो उसी क्षण मैं भी अपने प्राण छोड़ दूँगा।" ऐसे दृढ़ प्रेम के कारण ही युद्ध में पांडवों की रक्षा और विजय हुई थी।

हिन्दू समाज ने ऐसी प्रतिज्ञा तो नहीं की है, फिर भी उसकी भवितव्यता ही कुछ इस प्रकार की है कि अनेक जातियों में बँटे हुए उसके चार वर्णों में से किसी एक वर्ण अथवा जाति की अवनति होने पर समस्त हिन्दू जाति का अधःपतन हुए

बिना नहीं रहता। न जाने कितने वर्षों से हम अपने छोटे भाइयों की— हरिजनों की— अवहेलना करते आए हैं। मानो हमारा प्रेम का झरना ही सूख गया है! वैसे देखें तो भारत कोई निर्बल राष्ट्र नहीं है। परन्तु वह इस बात को भूल गया है कि उसकी शक्ति का संचय कहाँ है। जिन्हें भारत पतित कहता है, उन्हीं लोगों के हाथों उसका उद्धार होने वाला है। जिन जातियों को हम जंगली कहते हैं, वे ही जातियाँ हमारे राष्ट्र का रक्षण करने वाली हैं। जिन स्त्रियों को हम अबला कह कर अज्ञान और असहाय दशा में रखते हैं, उनकी जागृति से ही भारत में जागृति का संचार होगा। अब भारत को अपनी आँखें खोलनी चाहिए और अपनी अकर्मण्यता को त्याग कर अविलम्ब राष्ट्रीय हित के कार्य में उत्साहपूर्वक जुट जाना चाहिए।
१९३१

६२. धर्म-विकास

हिन्दू समाज में सामाजिक दोष दूर करने की जिम्मेदारी ऋषि-मुनियों की और साधु-सन्तों की रही है। धर्मनिष्ठ धर्म-सुधारकों द्वारा ही यह कार्य होता आया है; इसलिए हिन्दू समाज गलत रास्ते नहीं गया और जड़ता से यह सड़ा भी नहीं। जब-जब सुधार का यह कार्य शिथिल पडा है, तब-तब समाज क्षीणप्राण बना है; और बाद में धर्म-सुधारकों को कठोर तपस्या करके समाज को जाग्रत करना पडा है।

विवाह के नियम जैसे आज हैं, वैसे पहले नहीं थे। महाभारत में लिखा है कि एक समय ऐसा था जब समाज में विवाह-सम्बन्ध बहुत शिथिल थे। इसके दुष्परिणामों को देखकर एक ऋषि ने आदेश निकाला कि आज तक जो हुआ सो हुआ, लेकिन अब आगे से यह शिथिलता बन्द होती है। वेदकाल में विधवाएँ नियोग-विधि से अमुक समय के लिए अपने देवर से सम्बन्ध करती थीं। वैदिक काल से चली आई इस प्रथा की सीधे शब्दों में निन्दा करने की हिम्मत तो बाद के लोगों ने नहीं थी, परन्तु कलियुग में यह प्रथा बन्द होनी ही चाहिए ऐसा आग्रहपूर्वक कहकर उन लोगों ने इस प्रथा को बन्द कर दिया। प्राचीन लोग स्वतंत्रता से मदिरा पीते थे। लौकिक रूढ़ि के अनुसार धार्मिक विधियों में भी मदिरा का उपयोग किया जाता था। परन्तु मदिरा के दुष्परिणामों को देखने के बाद ऋषि-मुनियों ने मदिरा का सम्पूर्ण निषेध करने में संकोच नहीं किया । उन्होंने सुरापान की गिनती पंच-महापातकों में करके सुरापान बन्द करा दिया और समाज को सर्वनाश से बचा लिया। संन्यास-धर्म का दुरुपयोग होते देख कर एक समय के धार्मिक नेताओं ने यह आदेश निकाला

था कि कलियुग में कोई संन्यास न ले। परन्तु बाद में आद्य शंकराचार्य ने देखा कि धर्म पर ही अचल रहने वाले तथा धर्म की ही सेवा करने वाले त्यागी वैरागियों की परम्परा टूटने में समाज का बड़ा नुकसान है। अतः कलिवर्ज्य के प्राचीन आदेश को एक ओर रखकर शंकराचार्य ने संन्यास-धर्म की संस्था को फिर से जाग्रत किया और उसके दस विभाग करके उसमें आवश्यक विविधता उत्पन्न की।

जात-पात के कड़े नियम हमारे कार्य में विघ्नरूप हैं, यह देखकर सौम्य प्रकृति वाले सन्तों ने चौदहवीं सदी से यह छूट दे दी कि भक्तिमार्ग में जात-पात का कोई स्थान नहीं है।

वर्ण-व्यवस्था जन्म के अनुसार मानी जाए अथवा केवल संस्कारों, आजीविका आदि गुणों के आधार पर मानी जाए, इस बारे में पहले से ही मतभेद चला आया है। जाति जन्म के अनुसार और वर्ण गुण-कर्म के अनुसार — ऐसा मत रूढ़ बना हुआ मालूम होता है। हम यह भी देखते हैं कि जब धर्म के संस्कार प्रबल होते हैं, तब जाति का प्रामाण्य उतना महत्त्व नहीं रखता।

चार आश्रमों में सबसे ऊँचा आश्रम कौन-सा है, इसका झगड़ा भी लम्बे समय तक चला। अन्त में धर्मबुद्धि ने यह निर्णय दिया कि प्रत्येक आश्रम अपने-अपने स्थान पर योग्य और श्रेष्ठ है। आहार के विषय में भी लम्बे समय तक मतभेद बना रहा। महाभारत में कदम-कदम पर इसकी चर्चा सामने आती है। यज्ञ में पशुहिंसा की जाए या नहीं की जाए, इसका झगड़ा इतना अधिक चला कि महाभारतकालीन एक ऋषि ने तो वेदों को धिक्कारने की हद तक अपना क्रोध व्यक्त किया है।

इस प्रकार स्मृतियों में भी समय-समय पर परिवर्तन होता आया है। लोगों के रीति-रिवाज तय करने का काम पंडितों का और शास्त्रियों का नहीं रहा, क्योंकि वे तो केवल धर्मग्रन्थों का अध्ययन ही करते हैं, बुद्धि की कसरत करके अनुमान ही निकालते हैं। परन्तु जिन्हें धर्म का अनुभव है, धर्म को हृदय से समझ कर उसके पालन में ही जिन्होंने जीवन की सफलता मानी है, उन सदाचारी, धर्म-परायण, सर्वभूत-हितकारी महात्माओं के वचनानुसार स्मृतियाँ निश्चित की जाएँ, ऐसी प्राचीन परम्परा है। हमारे पास जितनी भी स्मृतियाँ हैं उनके आरम्भ में ही स्मृतिकार के गुणों का वर्णन किया गया है। वैसे गुणों का अपने भीतर विकास करने के बाद ही ऋषिगण जमाने की पहचान कर और धर्म के रहस्य को जीवन में अनुभव करके धर्म की व्यवस्था करते थे और उसे बदलते भी थे।

अछूतों की अस्पृश्यता सामाजिक झगड़ों का परिणाम है। उसकी जड़ को मजबूत बनाने के लिए किसी दुर्भाग्यपूर्ण क्षण में लोगों ने उसे धार्मिक अस्पृश्यता के साथ जोड़ दिया। उसी दिन से हम नीचे गिरने लगे। जब समाज का अधःपतन बढ़ जाता है तब धर्मात्मा लोगों का पुण्य-प्रकोप प्रज्ज्वलित हो उठता है। गत १०० वर्षों में

अनेक धर्म-चिन्तकों तथा समाज-सेवकों ने अस्पृश्यता की निन्दा की, परन्तु समाज ने अपनी जड़ता के कारण उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। हिन्दू धर्म में कहा गया है कि कोई भी कार्य कठिन मालूम हो तो तुरन्त तपस्या आरम्भ करो। मनु भगवान ने कहा है :

यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्।
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्।।

आज उसी परम्परा का अनुसरण करके धर्मप्राण, धर्म-सेवक और धर्मनिष्ठ महात्मा गांधी ने उग्र तप आरम्भ किया है। इस तप के फलस्वरूप अस्पृश्यता का नाश होगा; इतना ही नहीं, समाज में घुसी हुई तथा धर्म का नाश करने वाली ऊँच-नीच की भावना भी मिट जाएगी। 'तपसा किल्बिषं हन्ति।' राष्ट्र-पुरुष के तप से सामाजिक सड़ाँध तथा धर्म की ग्लानि दूर होनी ही चाहिए।

१४-५-'३३

६३. सर्वोदय की तैयारी

गांधी जी के उपवास से लोगों का चौंक उठना स्वाभाविक है, रो पड़ना भी आसान है; किन्तु दोनों में से एक भी बात गांधी जी को अथवा देश को मदद पहुँचाने वाली नहीं है। यह धर्म-संस्थापक उपवास क्यों शुरू किया गया है, उसकी गहराई में क्या-क्या है, और अब प्रत्येक हिन्दू का, प्रत्येक भारतवासी का और मानव-जाति के कल्याण की अभिलाषा रखने वाले प्रत्येक मानव का क्या कर्तव्य है— इन सब प्रश्नों का विचार करने के लिए हृदय की गहराई में उतरने की आज खास जरूरत है। गांधी जी के प्राण धर्म के लिए हैं। उन प्राणों का उपयोग करना, उन्हें निचोड़ डालना या उनका बलिदान कर देना— ये तीनों क्रियाएँ गांधी जी के लिए एक-सी हैं। कितने ही लोग साफ-साफ कह देते हैं कि 'समान्य मनुष्य का अब धर्म में रस नहीं रह गया है।' धर्म के नाम पर ईसाइयों ने जो जुल्म किए हैं, धर्म के नाम पर हिन्दू-मुसलमान जिस तरह लड़े हैं, धर्म के नाम पर जहाँ-तहाँ जो दम्भ और पाखण्ड आज चलता है, उसे देख-सुन कर और उसके उदाहरण देकर लोग खुलेआम पूछते हैं : 'ऐसे धर्म को टिकाए रखने का प्रयत्न कौन करे? धर्म की इस बला से तो समाज में सड़ाँध पैठती है। समाज की हवा को शुद्ध करना हो, तो धर्म के पाखण्ड को दूर करना ही होगा। इसके बजाए गांधी धर्म को टिकाने के लिए सारे विश्व का मूल्य रखने वाले अपने प्राणों को क्यों खतरे में डाल रहे हैं?'

और हमारे नौजवान? रूस की क्रान्ति पर मोहित हुए ये नौजवान तो एक ही बात कहते हैं : धर्म को कुचल डालो, धर्म का जड़मूल से नाश कर डालो, तभी सामान्य जनता अपना सिर ऊँचा कर सकेगी। धर्म का अर्थ है गुलामी। धर्म का अर्थ है अज्ञान। धर्म का अर्थ है अन्धविश्वास, धूर्तों की पूँजी, जालिमों की ढाल, प्रगति के मार्ग में खड़ी की हुई दीवार और पीड़ित लोगों को जाग्रत न होने देने के लिए उन्हें खिलाई जाने वाली अफीम।' ऐसे-ऐसे वाक्यों से देश के नौजवान धर्म को सम्मानित करते हैं।

लेकिन ये लोग जानते नहीं कि जिस बात से नौजवानों को घृणा है उसी से गांधी जी को भी घृणा है। नौजवान कहते हैं : 'डाउन विथ रिलीजन'; जब कि गांधी जी इसी बात को व्यवहार की भाषा में रखकर इस प्रकार कहते हैं, 'अस्पृश्यता को दफना दो। ऊँच-नीच की भावना को नष्ट कर दो। पाखण्ड को अपने पास खड़े होने की भी जगह न दो।' नौजवान जब 'डाउन विथ रिलीजन' कहते हैं तब यह आदेश वे हवा में छोड़ते हैं; वे देखते भी नहीं कि इस आदेश को पालने वाला कोई है या नहीं। गांधी जी कहते हैं, 'पाखण्ड का नाश करने की बात हम दूसरों से कहें इसके पहले हम स्वयं ही उसका नाश करें। हमारे भीतर जो पाखण्ड हो उसी को हम पहले दूर करें, क्योंकि वह हमारी गोली की पहुँच के भीतर होगा। उसके बाद आसपास के पाखण्ड का नाश करना भी हमारा ही काम होगा।'

केवल शब्दों के जाल में फँसकर नौजवान लोग यदि ऐसा मान लें कि गांधी जी और उनके बीच गहरा समुद्र फैला हुआ है, तो यह दुर्भाग्य की बात होगी । हम जिसे समाज-हित कहते हैं उसी को गांधी जी धर्म कहते हैं। हम जिसे चरित्र का तेज कहते हैं, उसी को गांधी जी आत्मबल कहते हैं। फर्क इतना ही है कि हम लोग जिस बात की केवल चर्चा करते हैं उसे गांधी जी आचरण में उतार कर दिखा देते हैं और स्वयं आचरण में उतारने के बाद हमें भी उस पर आचरण करने का निमंत्रण देते हैं।

गांधी जी ने अपने जमाने के खिलाफ एक महान् संघर्ष छेड़ दिया है। आज का जमाना युक्ति-प्रयुक्ति से काम निकलवाना चाहता है। आज के दाँव-पेंच जानने वाले चतुर लोग दुनिया को हमेशा यह आशा दिलाते हैं कि हम कोई ऐसी हिकमत खोज निकालेंगे, जिससे हमारा अपना स्वार्थ भी बढ़ती हुई मात्रा में सिद्ध होता जाए और जन-समाज का भी दिनों दिन अधिक भला होता जाए। इसीसे धीरे-धीरे समाज में बेहद सड़ाँध बढ़ती जाती है। निजी जीवन में क्या और सार्वजनिक जीवन में क्या, जीवन का आदर्श ही नीचे गिरता जाता है। ऐसी स्थिति में दम्भी लोग और उनके गुप्त पाप बढ़ें, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं। गांधी जी इस स्थिति से लोहा लेकर वीरयुग की स्थापना का प्रयास कर रहे हैं। वे लोगों के मन पर यह बात

जमाना चाहते हैं कि किसी-न-किसी को तो बलिदान देना ही पड़ेगा; इसके बिना लोग ऊँचे नहीं उठ सकेंगे, उनका चारित्र्य टिक नहीं सकेगा। आज भले ही गांधी जी ने हरिजनों के लिए उपवास आरम्भ किया हो परन्तु हरिजनों का प्रश्न तो उपवास का केवल एक मुख्य कारण है। सारी दुनिया के राजनीतिज्ञों ने धर्म पर जमी हुई मनुष्य-जाति की श्रद्धा को तोडने का जो धन्धा शुरू किया है, उमके खिलाफ गांधीजी ने एक प्रचण्ड विद्रोह कर दिया है। यह विद्रोह किसी देश के या किसी राज्य के खिलाफ नहीं है, परन्तु मनुष्य-जाति के हृदय में जो शैतान बैठा हुआ है और धर्म के नाम पर सर्वत्र अधर्म फैला रहा है, उसके खिलाफ है। भारत की या किसी भी देश की राजनीति से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। तो शुद्ध हृदय-नीति है, समाज-नीति है, धर्म नीति है। इस बात को यदि हम समय रहते समझ लेंगे तो बहुत-सा कार्य आसानी से और तुरन्त कर सकेंगे।

यह बात हमें याद रखनी चाहिए कि गांधीजी के साथ रहकर प्रयत्न करेंगे, तो कम मेहनत से और बगैर परेशानी के हम संकट को पार कर लेंगे। लेकिन यदि आज हम गांधी जी का साथ नहीं देगे, तो हमें हाथ मलने पडेंगे और अनेक पीढियों तक बलिदान पर बलिदान देने के बाद ही हम किनारे पर पहुँच सकेंगे। भारतवर्ष में रहने वाले हर आदमी से गाधी जी यह कहते हैं कि वह शुद्धि के इस यज्ञ में अपना हिस्सा दे, जो जहाँ बैठा हो वहीं खडा होकर सफाई और शुद्धि करने लगे, अपने हृदय में धूप जलाए और सर्वोदय की तैयारी करे।

७-५-'३३

६४. भावना का खतरा

गांधी जी की उपवास के दैनिक समाचार जानने के लिए लोग इतने उत्सुक हैं कि जिस दुख के कारण गांधीजी ने उपवास किया है, उसे तो मानो लोग भूल ही गए हैं। सितम्बर माह के उपवास के समय लोगों ने जो उत्सुकता और उत्साह बताया था। वह आज नहीं दिखाई देता। यह सच है कि उस समय गांधी जी के उपवास को छोटा बनाना अधिकतर लोगों के हाथ में था। इसलिए हर भारतवासी में यह परिणाम लाने के लिए यथाशक्ति सब-कुछ कर गुजरने का उत्साह था। इस बार केवल आध्यात्मिक वृत्ति से गांधी के उपवास का आरम्भ हुआ है। नतीजा यह है कि लोग गांधी जी की तबीयत के समाचारों में ही डूबे रहते हैं।

आध्यात्मिक वातावरण में लोगों का अधिक मात्रा में अन्तर्मुख होना स्वाभाविक

है, बल्कि उचित भी है। अन्तर्मुख वृत्ति में बाहरी दौड़धूप बहुत नहीं हो सकती और उसकी आवश्यकता भी नहीं है। परन्तु सच्चा अध्यात्म, सच्ची धार्मिक वृत्ति ठोस सेवा के रूप में प्रकट हुए बिना रह ही नहीं सकती। जो वेदान्त मनुष्य की क्रियाशक्ति को नष्ट करे, वह सच्चा वेदान्त नहीं है। अन्तर्मुख होकर अपने दोष दूर करने के समय दूसरों के काजी बनने की वृत्ति को छोड़कर एक-दूसरे के भाई बनने की वृत्ति बढ़ानी चाहिए। २१ दिन के उपवास के बाद जब गांधी जी देश की स्थिति का निरीक्षण करें, तो उस समय उन्हें यह दिखाई पड़ना चाहिए कि वैर-द्वेष का वातावरण शान्त हो गया है; जो लोग पाप के मोह में फँसे हुए थे। उनमें न केवल पाप के प्रति अरुचि बढ़ी है, किन्तु पाप का विरोध करने की शक्ति भी आ गई है; जो लोग केवल जिद पर चढ़ कर एक-दूसरे के विरुद्ध बातें करते थे उनकी वह उत्तेजना अब शान्त हो गई है; जो लोग हरिजनों की बुनी हुई खादी के प्रति उदासीन थे वे लोग अब खादी खरीद कर हरिजनों के लिए स्थाई जीविका का प्रबन्ध कर रहे हैं; और संक्षेप में कहा जाए तो हरिजन लोगों को हिन्दू समाज-रूपी घर में स्वतंत्रता से चलते-फिरते देख कर किसी को आश्चर्य अथवा द्वेष नहीं हो रहा है।

भावनाओं के उद्रेक के समय एक-दो बातें विशेष रूप से समझ लेना आवश्यक है। आज देश में चारों तरफ लोगों की भावनाएँ उत्तेजित हो उठी हैं। ऐसी भावनाओं के फलस्वरूप यदि कार्य तुरन्त न हो, तो ये भावनाएँ मादक सिद्ध होती हैं; और फिर तो मनुष्य अपनी भावनाओं का ही प्रशंसक बन जाता है। भावनाओं का उत्तेजित होना ही मानो कोई बहुत बड़ा काम हो, यह मानकर भावनाओं की कोमलता का आनन्द लूटने में ही मनुष्य लीन रहता है। यह काम विषय-भोग करने जैसा ही विषम हो जाता है। इसके परिणाम-स्वरूप मनुष्य की संकल्प-शक्ति क्षीण होती है, कार्यशक्ति नष्ट होती है और हर प्रकार के नशे के नियम के अनुसार मनुष्य का मन भावना के अधिकाधिक नशे की माँग करता है। अखबार और लेखक भी इस भोजन को बढ़ाते ही जाते हैं, मानो वे यह भोजन मुहैया करने के लिए वचन-बद्ध हों। इसके फलस्वरूप वातावरण बिजली से भरा हुआ, उत्तेजनापूर्ण और अलौकिक मालूम होते हुए भी जितना काम या सेवा होनी चाहिए, उतनी होती नहीं। और इसके बाद समाज स्तब्ध भले न हो, परन्तु निराश और निरुत्साह तो हो ही जाता है।

बड़े-बड़े जन-नायक और समाज-नेता इस स्थिति को जानते हैं। इसीलिए वे ऐसी भावनाओं को छेड़ते अथवा जगाते नहीं, जिनसे हितकर कार्य को जन्म न दिया जा सके, लोगों को काम में न लगाया जा सके और लोक-जीवन में परिवर्तन न किया जा सके। भावनाओं को जगाना बहुत आसान है; परन्तु प्रत्येक भावना लोककथा के भूत के समान है। यदि हम उससे काम न लें, तो वह हमें निश्चित ही खा जाती

है।

इसलिए मनुष्य भावना के वश भले ही हो, परन्तु उसी के उन्माद में न फँसे। भावना के प्रभाव के नीचे अकर्मण्य बनकर मनुष्य लम्बे समय तक पड़ा न रहे। भावना का रूपान्तर कार्य में, सेवा में, संकल्प-सिद्धि में होना ही चाहिए।

२१-५-'३३

६५. भक्ति का प्रसाद

नम्रता धार्मिकता का लक्षण है। हममें सच्ची नम्रता हो तो दूसरों से ज्ञान प्राप्त हो सकता है, हम बोध ग्रहण कर सकते हैं और अपने जीवन में सुधार भी कर सकते हैं। जिस मनुष्य से हम धर्मज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, उसके प्रति हमारे मन में विश्वास, निष्ठा और श्रद्धा होनी ही चाहिए; क्योंकि धर्म केवल बुद्धि का विषय नहीं है, निष्ठा का भी विषय है।

इस नम्रता को व्यक्त करने के लिए ही जिज्ञासु से शुश्रुषा की अर्थात् 'कही हुई बात को सुनने और मानने की' तैयारी की अपेक्षा रखी गई है। 'मैं आपका कहा मानूँगा। जीवन में आवश्यक परिवर्तन करने के लिए मैं तैयार हूँ। आप के सहवास में रहकर, आपके जीवन में ओत-प्रोत होकर ही जीवन-रहस्य समझा जा सकता है, अतः मैं आपके कार्यों में भी भाग लूँगा'— ये सब संकल्प प्रकट करने के लिए उपनिषद्-काल के जिज्ञासु प्रतीक-रूप में हवन की सामग्री और समिधा लेकर गुरु के पास जाते थे।

उसके बाद भक्तों ने इस नम्रता में और वृद्धि की। ज्ञानी मनुष्य के चरण जहाँ हैं वहाँ हमारा सिर पहुँचे तो भी हम उन्नत ही होंगे— ऐसी भावना व्यक्त करने के लिए पैर पड़ने का, पैरो पर सिर रखने का रिवाज शुरू हुआ। उसके बाद तो नम्रता की स्पर्धा होने लगी। मैं आपके दास के दास का दास हूँ, आपके गुलाम का गुलाम हूँ, आप गुरु के गुरु हैं,' आदि शिष्टाचार बढ़ने लगा। इसके बाद चरणों को छोड़ कर लोग चरणों की रज से चिपट गए। ईश्वर में और ईश्वर के नाम में जो चमत्कारी शक्ति है वैसी शक्ति का आरोपण ज्ञानियों, भक्तों और पंडितों के चरण-स्पर्श के बारे में भी होने लगा। एक शिष्य ने तो अपने माने हुए गुरु के पाँवों पर लगी धूल रोज-रोज इकट्ठी करके एक थैली भर ली और उस पर रेशमी तथा जरी के कपड़े सीकर रोज उस थैली को अपने सिर पर चढ़ाने लगा। लेकिन इतने से उसे सन्तोष नहीं हुआ। घर में पूजा के लिए रखी हुई भगवान की मूर्तियाँ भी उसे गुरु की चरण-

रज की थैली के सामने तुच्छ मालूम होने लगीं। इसलिए उसने वे मूर्तियाँ थोड़ी दक्षिणा के साथ अपने पुरोहित को सौंप दीं और फिर वह केवल उस थैली की ही पूजा करने लगा!

भक्ति अच्छी चीज है; परन्तु मनुष्य का जीवन यदि प्राकृत हो तो भक्ति-में निरी विह्वलता आ जाती है। चरण-स्पर्श की योजना पहले-पहल नम्रता प्रकट करने के लिए की गई थी। उसके बदले आगे चल कर यह अन्धविश्वास पैदा हुआ कि चरण-स्पर्श में कोई चमत्कारी प्रभाव है, उससे धार्मिकता की बिजली बिना मेहनत के हमारे शरीर में प्रवेश कर सकती है। और फिर तो मनुष्य की लोभी वृत्ति ऐसा मुफ्त का लाभ पाने के लिए जहाँ-तहाँ दौड़ने लगी। एक ओर भक्तजन दिनों-दिन चरण-स्पर्श का महत्त्व बढ़ाने लगे। दूसरी ओर इस सरल और सस्ती धार्मिकता के लिए लोगों का लोभ बढ़ने लगा। और जिसके प्रति मन में पूज्य भाव हो उसे परेशान करके भी लोग ऐसा चरण-स्पर्श पाने की स्पर्धा करने लगे।

पत्थर या धातु की मूर्ति को हम पूजा के लिए कितनी ही बार क्यों न स्नान कराएँ, कितनी ही बार क्यों न भोजन कराएँ और कितने ही पूजाद्रव्य उस पर क्यों न लादें, फिर भी उस मूर्ति को जुकाम, अपच या घबराहट नहीं होगी। इसलिए भक्ति की प्रीति मूर्ति पर उँड़ेलने में कोई कठिनाई नहीं होती। मन्दिर के मुखिया जैसी चाहें वैसी पूजा मूर्तियों की हो सकती है। इतना ही ध्यान रखना होता है कि मन्दिर में भक्त एक-दूसरे को परेशान न करें। परन्तु किसी देहधारी को हम ईश्वर का अवतार मानने लगें और अपने पागलपन में उसके सुख-दुख का या उसकी भावनाओं का विचार न करें, तो यह अविवेक की पराकाष्ठा कही जाएगी। स्पर्श में और स्पर्श की बिजली में मानव का जो विश्वास है, वह धार्मिक रिवाजों में घुसा हुआ एक जड़वाद है। जब बहुत लोग एक जगह इकट्ठे होते हैं तो एक-दूसरे की देखादेखी उनका पागलपन बढ़ भी जाता है। फिर तो पामर मनुष्य सत्पुरुष के उन्नत जीवन का विचार करने के बदले उसके प्रति रही अपनी भक्ति की ही कदर करने लगता है, और अन्त में ईश्वर के नाम पर वह अपनी निर्बल किन्तु उत्तेजित बनी हुई भावना की ही उपासना करने लगता है।

गांधी जी की हरिजन-यात्रा में इस बात का अनुभव— अत्यन्त कड़वा अनुभव — कदम-कदम पर होता है। लोग आधी रात में भी स्टेशन पर गांधी जी को देखने आते हैं। वे रात के दो-तीन बजे भी उन्हें नहीं छोड़ते। यदि कहा जाए कि गांधी जी सोये हैं, तो उन्हें जगाने के लिए वे इतनी ऊँची आवाज में 'गांधीजी की जय' बोलते हैं कि सुनने वालों के कान फट जाएँ। गांधी जी की तबियत नाजुक है ऐसा कहा जाए, तो दर्शन के लिए कितनी दूर से स्वयं आए हैं इसकी कदर कराना चाहते हैं। यदि यह कहें कि 'इस तरह गांधीजी को दिन-रात परेशान करोगे तो तुम उन्हें खो

बैठोगे,' तब तो आवाज कम करने के और गांधीजी जी को आराम करने देने के बदले यह वृत्ति बताने वाले लोग देश में मौजूद हैं कि 'ऐसा हो तो हमें इसी समय गांधीजी के दुर्लभ दर्शन कर लेने दीजिए!' ऐसे धार्मिक लोभ में धार्मिकता का नाम भी नहीं है, यह बात ये लोग कब समझेंगे? सभा की भीड़ में से निकलते समय कितने ही लोग गांधीजी के चरणों का स्पर्श करने के लिए दौड़ पड़ते हैं। गांधीजी ठोकर खा कर गिर पड़ेंगे, इस तरह सोचने जितनी भक्ति-शून्यता उनमें नहीं होती। उनके भीतर केवल यही वृत्ति सर्वोपरि होती है कि पुण्य प्राप्त करने का जो मौका मिला है, उसे हाथ से जाने देंगे तो हम बेवकूफ कहे जाएँगे।

हजार बार चरण-स्पर्श करने पर भी मन का मैल नहीं मिटा, हृदय उन्नत नहीं बना, ऐसा अनुभव होने के बाद भी मनुष्य इतना स्पष्ट नहीं समझता कि जब तक हृदय का परिवर्तन नहीं होगा तब तक स्पर्श की यह बिजली उसे शायद ही कोई लाभ पहुँचा सकेगी।

भक्तों के सामने कोई मनुष्य ऐसी बात करे, तो उसे नास्तिक कह देने में उन्हें जरा भी देर नहीं लगती। कविगण अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन लिखते हैं। सिद्धान्तवादी लोग ठेठ अन्तिम छोर पर पहुँच कर इन वचनों का बचाव करते हैं और सामान्य लोग इन सब वचनों के अक्षरार्थ से चिपटे रहने में ही धार्मिकता समझते हैं। लोग अपने सन्त-महन्तों और धार्मिक सेवकों से भी कुछ-न-कुछ लाभ उठा लेना चाहते हैं। इस वृत्ति में सच्ची धार्मिकता नहीं है, परन्तु हीनता अथवा जड़ता है। इससे धर्म की विजय नहीं होगी।

कुछ ही समय पहले सिन्ध में चरण-स्पर्श करने के प्रयत्न में लोगों ने गांधी जी के पैरों में खरोंचे पैदा कर दी थीं। उनका इलाज अभी भी चल रहा है। (सच बात तो यह लगती है कि भक्ति से पागल बने हुए लोगों के हाथों को हटाने के लिए दौड़ने वाले किन्तु उनके जितने ही भक्ति-दीवा ने स्वयंसेवकों द्वारा ये खरोंचें पैदा हुई थीं। लेकिन इस सुधार से भी मूल बात बदलती तो नहीं।) लोगों की ऐसी दीवानी भक्ति का प्रसाद गांधीजी को अनेक बार चखना पड़ता है जहाँ मिट्टी के रास्तों पर खुले पैर चलने का रिवाज है वहाँ तो पैरों की खरोंचें अकसर गम्भीर रूप ले लेती हैं। मिट्टी का जहर आदमी के खून में प्रवेश कर जाता है। इससे भारी बीमारी भी हो जाती है, जिसके मिटने में बड़ी देर लगती है।

एक बार आधी रात में गांधीजी को सताने की बात समझाने का प्रयत्न करने पर कुछ लोगों ने कहा : 'गांधी जी तो ईश्वर के अवतार हैं। उनको थकान कैसी?' मैंने कहा : 'वे स्वयं ही कहते हैं कि मैं थक गया हूँ। यदि वे सच नहीं कहते, तो वे महात्मा नहीं हैं। और यदि उनका कहना सच है ऐसा आप लोग स्वीकार करें, तो इस तरह की थकान से आप उन्हें जरूर बचाएँ। मैंने मान लिया था कि इस

दलील से वे लोग समझ जाएँगे; और यदि समझे नहीं तो निरुत्तर जरूर हो जाएँगे। परन्तु पुराणकारों और भाष्यकारों की तालीम पाए हुए हमारे इन लोगों के पास इसका जवाब भी तैयार था। वे बोले : 'गांधीजी तो लीला करते हैं। वे अवतारी पुरुष हैं यह बात उन्हें छिपानी है, इसीलिए वे थकने की बात कहते हैं। श्री रामचन्द्र सीताजी के विरह में इधर-उधर भटकते थे तब क्या वे जानते नहीं थे कि सीता तो उनकी चित्त-शक्ति है और गुप्त रूप में उनके पास ही है?'

ऐसी दलील का भला क्या जवाब दिया जाता है? भगवान ने स्वयं बुद्ध का रूप धारण करके जगत को धोखा दिया, इस प्रकार कहकर नवें अवतार का रहस्य समझाने वाले धर्म-वाचस्पति के सामने बुद्धि के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता। जहाँ किसी को यह लगता ही नहीं कि बुद्धि की रक्षा करके धर्म का रहस्य समझा जा सकता है, वहाँ बेचारी दलीलें क्या करें?

दर्शन की अभिलाषा होना स्वाभाविक है। जुलूसों, यात्राओं, सभाओं और सम्मेलनों में केवल विचारों का आदान-प्रदान ही नहीं होता; ये सब विचारों के प्रचार के उत्तम प्रतिबिम्ब भी हैं। ये सब लोगों की भावनाओं को विकसित करने तथा लोक-मानस का निरीक्षण करने के शक्तिशाली साधन हैं। हजारों की संख्या में लोग इकट्ठे हों, यह बुरा नहीं है। ऐसे जन-समुदायों में ही विराट् जनता की जागृति का दर्शन होता है। बड़े समुदायों में सारे सात्त्विक उदात्त भाव फूटने लगें, तो यह जितना स्वाभाविक है उतना ही वांछनीय भी है। लेकिन इसके साथ ही लोगों में कुछ अनुशासन अवश्य आना चाहिए। दूसरों के सुख-दुख के बारे में, दूसरों की भावनाओं के बारे में ऐसे समय अधिक कोमलता प्रकट होनी चाहिए। और सामाजिक जीवन का शिष्टाचार तो ऐसे अवसर पर सबका प्रधान कर्तव्य होना चाहिए।

हम पागल बन कर भक्ति प्रसाद महात्मा को चखाएँ, यह तो अत्याचार ही कहा जाएगा।

२२-७-'३४

पाँचवाँ खण्ड

हृदय-धर्म

६६. संस्कृतियों का जीवन-क्रम

संस्कृति कोई तालाब नहीं है, जिसका पानी चारों तरफ से बन्द हो। संस्कृति तो एक बड़ी नदी है, जिसे दोनों ओर के किनारे एक सीमित पाट में ही बाँधे रखते हैं और जिसमें ऊपर से चाहे जितना नया पानी आ सकता है तथा जिसका पानी आगे स्वेच्छापूर्वक अनुकूल और आवश्यक दिशा में जा भी सकता है। जैसे-जैमे नदियाँ आगे बढ़ती हैं, उनमें छोटे-मोटे अनेक स्रोत आकर गिरते हैं और कभी-कभी एक ही नदी अनेक स्रोतों में विभक्त होकर महासागर में जा मिलती है। कई नदियाँ ऐसी भी होती हैं, जिनके एक स्रोत के दो-तीन या अधिक स्रोत बन जाते हैं और आगे जाकर वे फिर से एक हो जाते हैं।

नदियों का यह प्रवाह-क्रम या जीवन-क्रम पूरी तरह मानव के हाथ में नहीं होता। प्रकृति की अगम्य लीला से ही यह जीवन-क्रम निश्चित होता है। मनुष्य अपने दृढ़ संकल्प और तपस्या के बल से इसमें थोड़ा-सा परिवर्तन कर सकता है। जैसा और जो कुछ थोडा-बहुत परिवर्तन वह कर सकता है, उससे काफी लाभ भी उठाता है।

हिन्दुस्तान में दुनिया की सभी मानवीय संस्कृतियों का महासम्मेलन हुआ है। इसमें कुछ भाग हमारे साधु-सन्तों, साहित्यकारों, नेताओं और तत्त्वज्ञों का है और इससे अधिक भाग इतिहास-विधाता की लीला का फल है।

संस्कृति की रक्षा करने के लिए हम ऐसी कोशिश न करें, जिससे नदी का तालाब बन जाये। जिस जल की हमें ज्यादा जरूरत हो, उसके स्रोत का वेग बढ़ा कर ही हमें सन्तोष करना चाहिए।

दिसम्बर, १९४०

६७. प्राणदायी हवा

एक गाँव के लोग बहुत ही भोले और भले थे। वे अपने बड़ों के वचन का आदर करते थे और बड़े कहें वैसे ही चलते थे।

उस गाँव में पुराने जमाने का एक बूढ़ा रहता था। वह हमेशा कहा करता था : "हेमन्त ऋतु की हवा बड़ी स्वास्थ्यवर्धक होती है। वह जितनी शरीर में जाती है, उतना ही मनुष्य अधिक स्वस्थ और बलवान बनता है। हेमन्त की हवा क्या है, शुद्ध प्राण है प्राण!"

कुछ समय बाद उस बूढ़े का स्वर्गवास हो गया। अब लोग उसको ज्यादा याद करने और आदर देने लगे। उसके श्राद्ध के दिन सब लोग एकत्र होते तब उसके वचन याद आते थे।

एक बार एक आदमी बोला : "भाइयो, हमारे वृद्ध पुरुष जो कहते थे, उसके अनुसार हम चलेंगे तभी सुखी होंगे। हम ऐसा करें कि हेमन्त ऋतु पूरी होने से पहले उसकी हवा को घर में भर लें और घर के खिड़की-दरवाजे बन्द करके उस प्राणदायी हवा को बाहर न जाने दें। दूसरी हेमन्त ऋतु के आने तक वह हवा हमारे काम में आएगी। घर से बाहर हम यथासम्भव कम जाएँ; जाएँ भी तो एक छोटा-सा छेद करके उसी से बाहर जाएँ। मौका आने पर उसे जरा खोलें और फिर तुरन्त बन्द कर दें।"

यह सलाह सबके गले उतर गई और सब लोग ऐसा ही करने लगे। इस प्रकार रुकी हुई हवा में रहने का परिणाम लोगों के लिए क्या आया, यह कहना जरूरी नहीं।

रूढ़ियों का उपासक पुराण-प्रिय कट्टर सनातनी हिन्दू समाज इस परिणाम-का अनुभव हमेशा ही करता रहता है।

१९२७

६८. धर्म बनाम धार्मिकता

एक जमाना था जब बड़े-बड़े सम्राट् भी अपने राज-मुकुट हाथ में लेकर धर्माचार्यों की अदालत में खड़े रहते थे। साहित्य, कला, विज्ञान— सबको धर्म की अदालत में अपनी निर्दोषता और निष्ठा सिद्ध करनी पड़ती थी।

अब वे दिन चले गए हैं; क्योंकि धर्मों से मा‥ ˉर्मिकता ही रूठ गई है। अब तो आर्य धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम, बौद्ध धर्म, यहूदी धर्म इत्यादि सबके सब धर्म मानवता की अदालत में अभियुक्त बनकर खडे हैं। धर्म के नाम पर इतनी संकीर्णता फैलाई जा रही है, इतना मनुष्य-द्रोह किया जा रहा है कि अब सबके सब धर्म न्यायाधीश न रहकर अभियुक्त बन गए हैं।

सबसे पहले सत्त्व जाता है, बाद में प्रतिष्ठा जाती है। फिर स्थान भ्रष्ट होते क्या देर लगती है? धर्मों ने धार्मिकता छोड़ दी और अपना नाश किया। अब धार्मिकता को ही धर्मों के शिकंजे से बचाने के दिन आ गए हैं।

अप्रैल, १९४०

६९. हृदय की शक्ति

प्रश्न— मन, बुद्धि, चित्त, मस्तिष्क और हृदय— ये सब क्या हैं और इनका धर्म (functions) क्या है ?

उत्तर— मस्तिष्क तो सिर की खोपडी में रहने वाली मेधाशक्ति को कहते हैं। उसकी सहायता से ही सुप्त अथवा व्यक्त संवेदनाएँ अपना व्यापार करती हैं। उसमे जो विचार-शक्ति है उसे चित्त कहते हैं। उमी की विशिष्ट तरंग को मन कहते हैं। तरंग के सभी गुण-धर्म मन में दिखाई देते हैं। इन तरंगों के हेतु को स्थिर बनाने वाला जो निश्चयात्मक व्यापार है वही बुद्धि है। ये सब स्थूल व्याख्याएँ जैसी सूझीं वैसी मैंने यहाँ लिख दी हैं।

हृदय की व्याख्या करना बहुत कठिन है। लोग मानते हैं कि हृदय का अर्थ है भावनाएँ। यह माना जाता है कि इन भावनाओ का सम्बन्ध ऑतो के साथ है अथवा रक्त के भंडार-रूप कलेजे के साथ है। लेकिन यह बात सिद्ध नहीं हुई है। भावनाएँ भी शरीर-व्यापी होती हैं; और वे चित्त का एक व्यापार हैं। कहा जाता है कि शुभ-अशुभ, रुचि-अरुचि, प्रेम, द्वेष अथवा उपेक्षा— यह भेद हृदय का ही व्यापार है।

मै तो मानता हूँ कि प्रत्येक मानव में आत्मौपम्य अथवा आत्मैक्य का अनुभव करने की जो भूख होती है, वही हृदय है। भूख होने के कारण वह क्रियारूपिणी है, प्रवाह-रूप है। एक आत्मा का दूसरी आत्मा के प्रति जो आकर्षण या प्रवहण (attraction, response and flow) होता है, वही हृदय है। यह व्याख्या बिलकुल नई है, इसलिए शायद आप इसे स्वीकार नहीं कर सकेंगे। लेकिन मुझे इसी में सन्तोष है। उपनिषत्कारों ने हृदय की निरुक्ति इस प्रकार दी है : 'हृदि अयम्।' वे

यह भी कहते हैं कि सत्य को जानने का साधन बुद्धि नहीं, किन्तु हृदय है। वे लोग यहाँ तक भी कहते हैं कि हृदय ही आत्मा है।

जिस चीज को हम बुद्धि से जान लेते हैं उसी को जब हम हृदय से स्वीकार करते हैं, तब उस ज्ञानानुभव को साक्षात्कार कहते हैं। अंग्रेजी भाषा में साक्षात्कार को 'realisation' कहा जाता है। यह एक सुन्दर शब्द है। जो कुछ बुद्धि को सत्य लगता है उसे हृदय के द्वारा जीवन में सत्य (real) बनाने की क्रिया को 'realise' कहते हैं। यह शक्ति हृदय की ही है।

१९३१

७०. हृदय-धर्म की दीक्षा

सब धर्मों में श्रेष्ठ धर्म है— हृदय-धर्म! संसार में जितने धर्म, मजहब, पन्थ, फिर के और सम्प्रदाय हैं, वे आज चाहे जितनी तंगदिली पैदा करते हों, किन्तु असल में वे किसी-न-किसी मानव-प्रेमी संस्कृति-परायण हृदय-धर्म से ही निकले हुए हैं। 'धर्मशास्त्रं महर्षीणां अन्तःकरण-संभृतम्।' जिस उदार हृदय की प्रेरणा से वे निकले हैं उस हृदय का जो व्यापक प्रेमधर्म है वही हृदय-धर्म है। हिन्दुस्तान में दुनिया भर के करीब सभी धर्म इकट्ठे हुए हैं; क्योंकि उनको पता चल गया है कि यहाँ हृदय-धर्म का साम्राज्य है। यहाँ जितने धर्म आए वे सब अपना-अपना अभिमान लेकर आए। उन्होंने, जितना भी उनसे हो सका, भला और बुरा किया, लेकिन धीरे-धीरे वे हृदय-धर्म की प्रेम-लड़ी में बँध गए। सबको प्रेमधर्म का भान हुआ। पर किसी को उसकी दीक्षा नहीं मिली। इसीलिए वे आपस में खींच-तान करते हैं और इस देवभूमिको भूतल का स्वर्ग बनाने की बजाए नरक बना रहे हैं। जिसके हृदय में जितनी ही संकीर्णता और क्षुद्रता होगी उतना ही वह दुख उठायेगा और दूसरों को भी अधिकाधिक दुख देगा। किन्तु अन्त में (या अनन्त में) विजय हृदय-धर्म की ही होगी।

हे हृदयान्तर्यामिन्! हमें उस हृदय-धर्म की दीक्षा दो और हमारी श्रद्धा को अनन्त बनाओ, जिससे हम भारत के हृदय-धर्म की सच्ची सेवा करें और अपने जीवन द्वारा और मरण द्वारा उसी का साम्राज्य स्थापित हुआ देखें।

दिसम्बर, १९३९

७१. हृदय-शुद्धि की याचना

अपना हित-अनहित तो पशु भी सोचते हैं। वे इतना तो जानते ही हैं कि 'संकट के समय हमें आपस में मिलकर और संगठित होकर, अपनी सामूहिक संघशक्ति से आने-वाले संकट का सामना करना चाहिए। यही मुक्ति का रास्ता है।' किन्तु जिस जाति में लोग मुक्ति को ही संकट्र मानते हैं, उसकी नीति कुछ और ही होती है। हमारे लिए जब एक होने की ज्यादा-से-ज्यादा जरूरत होती है, उस समय हमारा देश अनेक मतों, अनेक मार्गों और अनेक दुर्गुणों से पीड़िन होता है।

तो क्या यह विनाश की निशानी है या सूर्योदय के पहले, उषाकाल के पहले ब्रह्म-मुहूर्त के भी पहले जो घोर अन्धकार होता है वही यह है? जब मनुष्य बडी-से-बड़ी भूल कर बैठता है तभी वह चौंक कर जाग पड़ता हे और अपना व्यवहार सुधारता है।

भगवन्! हमने बहुत सहन किया है, और भी सहन करेंगे। किन्तु अब हमें 'बुद्धिभ्रंश' की सजा या पीड़ा और ज्यादा सहन न करनी पडे, यही एकमात्र हमारी प्रार्थना है। अगर हमारी बुद्धि शुद्ध रहे, हृदय उदार रहे, दृष्टि निर्मल और दूरदर्शी रहे, तो हमें और कुछ नहीं चाहिए। बाकी के सब साधन हम अपने ही पुरुषार्थ से इकट्ठे कर लेंगे। जहाँ हमारी नहीं चलती वहीं हम तुम से प्रार्थना करते हैं। हे हृदयस्थ परमात्मन्! हमारे हृदय को शुद्ध करो, उदार बनाओ, तेजस्वी और क्षमाशील बनाओ, जिससे हमारा उद्धार हो जाये!

जनवरी, १९४०

७२. पवित्र संकल्प

पुरानी बाइबल में एबल और केन नाम के दो भाइयों की एक कथा है। भाई होते हुए भी केन में दुश्मनी जागी और उसने एबल का खून कर दिया। दुनिया की यह पहली बन्धुहत्या थी। इन दो भाइयों का उदाहरण सामने रखकर दूसरे दुर्जन भी अपने भाइयों की हत्या करने लगे। इस्लाम में कहा गया है कि 'केन' ही बंधुहत्या का आदि प्रचारक था, इसलिए जब कोई मनुष्य अपने भाई की हत्या करता है। तब उसके पाप का थोडा भाग 'रॉयल्टी' के रूप में केन के नाम पर जमा होता है!

इसी प्रकार जब कोई मनुष्य किसी भी तरह की भलाई करता है और उसके इस सत्कृत्य का अनुसरण होने लगता है, तब इस प्रकार बढ़ने वाली उस भलाई की कुछ-न-कुछ 'रॉयल्टी' सदाचार के उस प्रवर्तक को अवश्य मिलती है।

इतना जानने के बाद भारतवर्ष निर्वैर बन्धुता का पुण्य एकत्र करने का संकल्प क्यों न करे?

सितम्बर, १९४१

७३. कौन-सा मार्ग स्वीकार करेंगे?

संस्कृत में शत्रु को 'सपत्न' कहा जाता है। एक ही पिता के पुत्र माता के अलग होने से एक-दूसरे के साथ लड़ते-झगड़ते हैं और एक दूसरे के शत्रु बन जाते हैं। उनकी इस मूर्खता को प्रकट करने के लिए हमारी सस्कारी भाषा ने शत्रु के लिए 'सपत्न' शब्द रख दिया। इसका अर्थ है 'सौतेला भाई।'

परन्तु एक ही माता के पुत्र भी शत्रु बनकर आपस में लड़ सकते हैं। एक नदी का पानी पीने वाले लोग आमने-सामने के किनारों पर रहने लगते हैं, तब अपने-अपने खेतों में नदी का पानी खींचने के लिए आपस में लड़ते-झगड़ते हैं। नदी के तीर को, किनारे को 'कूल' कहा जाता है। जो लोग सामने के किनारे पर रहते हैं वे हमारे 'प्रति-कूल' हैं और जो लोग हमारी ओर रहते है वे 'अनु-कूल' हैं। 'अनुकूल' लोग एक साथ मिलकर 'प्रतिकूलों' से हमेशा लड़ा करते हैं।

(नदी के पानी के लिए)जिस प्रतिस्पर्धी के साथ झगड़ा होता है, उसे अंग्रेजी में 'राइवल' कहा जाता है। 'राइवल' का सम्बन्ध 'रिवर' यानी नदी के साथ है।

बुद्ध भगवान के समय में एक बार अनुकूल और प्रतिकूल नदी-पुत्र आपस में लड़ने लगे। दोनों में घोर युद्ध होने वाला था, इतने में बुद्ध भगवान को पता चला तो वे युद्धस्थल पर पहुँच गए। दोनों पक्षों के नेताओं को बुलाकर उन्होंने एक सीधा-साधा प्रश्न उनसे पूछा : "पानी की कीमत ज्यादा है या मनुष्य के खून की?" दोनों के मुंह से एक ही उत्तर निकला : "बेशक, मनुष्य के खून की कीमत पानी की कीमत से कहीं ज्यादा है।"

"तो फिर पानी के लिए मनुष्य का खून बहाने में कोई बुद्धिमानी है?"

बुद्ध भगवान के इस प्रश्न से दोनों की आँखें खुल गईं और लड़ाई टल गई।

कितने भोले थे भगवान बुद्ध और कितने भोले थे उस जमाने के लोग? सीधी बात को वे तुरन्त समझ गए और उसे मान भी लिया। आज राजनीतिशास्त्र बहुत

आगे बढ़ गया है। आज यूरोप और अमेरिका के लोगों से कोई महात्मा पूछे कि "पेट्रोल की कीमत ज्यादा है या मनुष्य के खून की?" तो वे लोग कहेंगे कि "थोड़ा सोचना पड़ेगा।" आजकल मनुष्य का खून बहुत ही सस्ता हो गया है। वे लोग जनसंख्या का शास्त्र खोज निकालेंगे और तर्क करेंगे कि युद्ध के सिवा मानव का विकास ही नहीं हो सकता। इस प्रकार वे अधर्म को धर्म का रूप देंगे और जोरों से बन्धुहत्या करते रहेंगे।

आज राजनीति का दिवाला निकल चुका है। बड़े-बड़े धर्म अधार्मिक लोगों के हाथों में पड़ कर निस्तेज बन गए हैं। केवल एक हृदय-धर्म ही आज बचा है, जो हमें माता की गोद में मिलता है। वैसे सम्पत्तिशास्त्र आज अर्थशास्त्र का नाम धारण करके अनर्थ कर रहा है। अब तो जगत् का उद्धार तभी होगा जब हम हृदय-धर्म को दृढ़ता से पकड़े रहेंगे और अपनी बुद्धि को विचलित नहीं होने देंगे।

अप्रैल, १९४१

७४. 'समाना हृदयानि वः'*

परमात्मा का यह आदेश ऋग्वेद के अन्तिम मंडल के अन्त में आया है। सब तरह का आध्यात्मिक ज्ञान देने के बाद वेद भगवान ने संगठन का मंत्र बताया है। जो लोग धर्म को नहीं जानते, असंस्कारी हैं, असंयत हैं, स्वार्थी हैं, द्रोही हैं, उनका संगठन जगत के लिए विनाशक ही होता है। इसलिए धर्म-रहस्य का पूरा ज्ञान देने के बाद ही भगवान ने संगठन का उपदेश किया है।

यह वैदिक उपदेश मनुष्य-जाति के लिए अत्यन्त हितकारी है।

"हे धार्मिकों, ईश्वर पर श्रद्धा रखकर तुम सब एक ही दिशा में प्रगति करो। तुम्हारी वाणी में परस्पर सामंजस्य हो। तुम अपने मन को एक ही आदर्श के लिए संस्कारी बनाओ; और देवों में जैसे अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करने का आग्रह रहता है, उसी तरह तुम भी अपने-अपने हिस्से में आए हुए कर्तव्यों का पालन करो।

"तुम लोगों की कार्यनीति (मंत्र) एक ही प्रकार की हो। अपना हित सोचने-वाली तुम्हारी सभा भी एक ही हो। तुम्हारे मन और चित्त कभी भी परस्पर विरोधी न हों। इस संगठन को अगर दृढ़ करना है, तो तुम्हें एक ही विचार से चलना होगा; और सब प्रकार के उपभोगों में भी तुम्हारे बीच असमानता नहीं होनी चाहिए। उपभोगों में असमानता आने से वैमनस्य पैदा होता है और एक आदर्श भी नहीं बना रह

सकता। इससे संगठन टूट जाता है। इसलिए मेरा आदेश है कि अपना ध्येय तुम एक रखो और रहन-सहन का दर्जा भी एक-सा रखो।

"तुम लोगों का हेतु और ध्येय, सब एक सा ही रहना चाहिए। तुम्हारे हृदय भी एक हो जाएँ। तुम्हारे मन भी एक-से हो जाएँ। इसी मार्ग पर चलने से तुम्हारा संगठन अच्छी तरह टिक सकेगा और तुम्हारा कल्याण होगा।"

वेद के इस अन्तिम उपदेश का हार्द क्या है? जीवन एक-सा हो, उपदेश एक हो, मन्त्र एक हो, प्रगति की दिशा एक हो। यह सब तभी सिद्ध हो सकता है जब सबके हृदय एक रूप होंगे, जब सब लोग एक-दूसरे को मित्र की नजर से, भाई-भाई की नजर से देखने लगेंगे। विचारों में चाहे जितनी भिन्नता हो, लेकिन यदि हृदय एक हैं तो एक-दूसरे की बात समझने में कोई कष्ट नहीं होगा।

सबसे बड़ी शक्ति तो सत्य की ही है। यह सत्य हृदय से ही जाना जाता है।. याज्ञवल्क्य कहते हैं :

'हृदयेन हि सत्यं जानाति। हृदयं हि एव आत्मा।'

इसलिए यदि हृदय शुद्ध हों और हृदयों का परस्पर मेल हो, तो बाकी सब कुछ आप-ही-आप सिद्ध हो जाएगा। भगवान के आदेश का हार्द यह है कि तुम्हारे हृदय ऐसे शुद्ध हों, ऐसे उदार हों, कि उनमें आपसो मेल आप ही आप स्थापित हो जाए। तुम्हारे हृदय एक रूप होकर मिल जाएँ, तो वही संगठन है, वही सामर्थ्य है, वही सिद्धि है।

जुलाई, १९४१

७५. तत्त्व और व्यवहार

"आप तो आदर्श-लोक के वासी हैं। व्यवहार में ऐसे आदर्श नहीं चल सकते। मनुष्य परिस्थितियों को स्वीकार करे और व्यवहार की रक्षा करे, तो ही इस दुनिया में वह टिक सकता है।" इस तरह कहने वाले लोग कदम-कदम पर मिलते हैं। यह 'व्यवहार', 'परिस्थितियाँ' क्या चीज हैं, इसे हमें जरा देखना चाहिए।

व्यवहार एक सत्य वस्तु है, किन्तु वह हमेशा अच्छी वस्तु ही नहीं होता! बीमारी में नुकसान करने वाली चीज भी खाने का मन होता है। यह वासना सत्य तो है, परन्तु इसके वश होने में न तो मनुष्य का श्रेय है और न पुरुषार्थ है।

बहुत बार तत्त्व ऊपर उठाने वाला होता है, जबकि व्यवहार नीचे गिराने वाला सिद्ध होता है। इन दोनों के बीच सनातन संग्राम चलता आया है। इन दो के बीच

समाधान या समझौता करने के अनेक प्रयत्न दुनिया में होते आए हैं। परन्तु व्यवहार अत्यन्त दुराग्रही है। तत्त्व-पक्ष समझौते की शर्तों को स्वीकार करता है, लेकिन व्यवहार-पक्ष जैसे-जैसे सुविधाएँ मिलती जाती हैं वैसे-वैसे अधिक सुविधाएँ माँगता ही जाता है और अन्त में तत्त्व की हत्या करके ही शान्त होता है। अत: तत्त्व-पक्ष को हमेशा सतर्क और जाग्रत रहना चाहिए और व्यवहार के साथ कभी स्थायी समझौता नहीं करना चाहिए।

तत्त्व और व्यवहार के बीच चलने वाले इस सनातन युद्ध में हमें कौन-सा पक्ष स्वीकार करना चाहिए? किस पक्ष के प्रति हमें सहानुभूति रखनी चाहिए? किस झंडे के नीचे हमें भरती होना चाहिए?— यह जीवन का बडा सवाल है। जीवन में व्यवहार-पक्ष का अस्तित्व तो स्वीकार करना ही पडता है। किन्तु व्यवहार-पक्ष के अस्तित्व को स्वीकार करना एक बात है और उसमें हिमायती बनना दूसरी बात है। व्यवहार-पक्ष आरम्भ में सदा सौम्य, समझदार और सुन्दर स्वभाव वाला दिखाई देता है और यही कारण है कि हम उसके वश में हो जाते हैं। परन्तु एक बार व्यवहार-पक्ष की ओर हमने अपना मत दिया, हाथ ऊँचा किया कि उसका साम्राज्य हमारे सिर पर लदा ही समझिए। और एक बार उसका साम्राज्य स्थापित हुआ, फिर तो व्यवहार का अत्याचार हम पर जोरों से बढता ही जाएगा।

व्यवहार इतना चतुर है कि तत्त्व की हत्या करने के बाद भी वह उसके शव को सुरक्षित रखता है, ताकि तत्त्व-पक्ष के लोग इस भ्रम मे पडे रहें कि तत्त्व अभी भी जीवित है। व्यवहार हमेशा कहता है : ''नाम का राजा कोई भी हो, मुझे इसकी परवाह नहीं। सत्ता मेरी अपनी चले तो मुझे सन्तोष है।''

आज हमारे समाज मे तत्त्ववादी कितने हैं और व्यवहारवादी कितने हैं? तत्त्वनिष्ठ लोगों की संख्या राष्ट्र में बढती है तब देश ऊपर उठता है। व्यवहारवादियो से कभी किसी समाज या राष्ट्र का उद्धार नही हुआ है।

३-९-'२२

७६. यथार्थवाद बनाम ध्येयवाद

यथार्थवाद और ध्येयवाद का झगडा केवल साहित्य मे ही नहीं, परन्तु राजनीतिक क्षेत्र में भी बढ़ गया है। जहाँ दो भिन्न वस्तुएँ इकट्ठी होती हैं वहाँ दोनों में परस्पर विरोध होना ही चाहिए, यह मान लेना एक भारी भ्रम है। परिवार में सत्ता किसकी चले : पिता की या माता की? इस तरह का प्रश्न उठाकर परिवार का नाश करना

असम्भव नहीं है।

यथार्थवाद और ध्येयवाद के बीच विरोध कहाँ है? जिन लोगों को कोई पुरुषार्थ या प्रयत्न ही नहीं करना है, वे यथार्थवाद के आधार पर ध्येयवाद का विरोध करते रहते हैं। त्याग, बलिदान, आत्म-संयम, निर्भयता आदि चारित्र्य के उज्ज्वल पहलुओं को नष्ट करने के लिए ध्येयवाद का विरोध करना आसान है।

जिन लोगों को केवल कला के नाम पर विलास ही करना है और अपने जीवन में जरा भी परिवर्तन किए बिना आदर्श की बड़ी-बड़ी बातें करनी हैं, उनका ध्येयवाद नाम का ही होता है। परन्तु जिन लोगों ने न्यायदान में भाग लिया है, शिक्षण के क्षेत्र में वर्षो तक अपने जीवन का उत्तम समय बिताया है, जो लोग व्यापार-उद्योग में सफल रहे हैं और जिन लोगों ने राजनीति द्वारा देश को जाग्रत करके स्वतंत्रता का मार्ग दिखाया है, उन लोगों का ध्येयवाद आपके यथार्थवाद को नहीं पहचान सकता, यह आप कैसे कह सकते हैं?

सच बात तो यह है कि यथार्थवाद के कीचड़ से ही जीवन का कमल उत्पन्न होता है। किन्तु ध्येयरूपी सूर्य-प्रकाश की मदद से ही, उसके आकर्षण से ही, वह कमल जीवन की सतह से ऊपर उठ कर अपनी कल्याणमय प्रसन्नता को विकसित कर सकता है। यदि गन्दे लेकिन पोषण देने वाले कीचड से कमल को अलग कर दिया जाए, तो पानी में तैरते हुए भी वह मड़ जाएगा। परन्तु यदि सूर्य-प्रकाश से उसे हर तरह वंचित रखा जाए, तो कमल का अस्तित्व ही असम्भव हो जाएगा। फिर तो उसके रंग, रूप, सुगन्ध, ताजगी और कोमल प्रसन्नता का प्रश्न ही खड़ा नहीं होगा। यथार्थवाद की स्वीकृति आवश्यक है, परन्तु उसके साथ ध्येयवाद की प्रेरणा भी प्राणरूप है। जिन्हें कीड़े बन कर कीचड़ में ही रहना हो वे भले वहाँ रहें। परन्तु वहाँ पड़े-पड़े ध्येयवाद की निन्दा करके वे देश की स्वतंत्रता तथा भाषा के चैतन्य का द्रोह कभी न करें।

मार्च, १९३९

७७. बुद्धि और उसका विकास

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न— बुद्धि क्या है? वह मनुष्य में जन्म से ही कम-ज्यादा होती है या प्रयत्न से बढ़ाई जा सकती है? यदि प्रयत्न से बढ़ाई जा सकती है, तो बुद्धि को बढ़ाने के लिए क्या-क्या उपाय करने चाहिए?

उत्तर— बुद्धि क्या है इसका उत्तर देना कठिन है। परन्तु बुद्धि का अनुभव और परिचय तो सबको होता ही है।

सम्भव है, बुद्धि असल में विश्व-व्यवस्था की, मनुष्य के अन्तर में उठने वाली प्रतिध्वनि हो। ईश्वर का स्वभाव और सृष्टि की रचना, दोनों के साथ मनुष्य का सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध शायद बुद्धि के द्वारा व्यक्त होता होगा।

मनुष्य का जन्म उसकी जीवन-परम्परा का आरम्भ नहीं है। वह तो जीवन-परम्परा की एक बीच की अवधि या दशा है, दो मुकामों के बीच की एक मंजिल है। जब मनुष्य अपने पूर्वकर्मो के अनुसार नया जन्म लेता है, तब वह अपने पूर्व-जन्मानुभव का सार-सर्वस्व, उत्तम अंश, अपने साथ लाता है। इसलिए जन्म के समय ही बुद्धिधर्म में भेद होता है। दो मनुष्यों में बुद्धिधर्म का जो भेद मालूम होता है उसमें केवल मात्रा अथवा परिणाम का ही भेद नहीं होता, परन्तु प्रकार का भेद भी होता है। केवल 'degree' (मात्रा)का ही नहीं, परन्तु 'kind' (प्रकार) का भी भेद दिखाई देता है। शरीर, आहार, स्वभाव, वासना, संगति वगैरा असंख्य बातो का बुद्धि पर असर होता है।

गीता ने बुद्धि के सात्त्विक, राजसिक और तामसी तीन प्रकार के भेद तो बताए ही हैं।

शरीर को नीरोग और शुद्ध रखने से, अपच और कब्जियत को टालने से, आलस्य के बिना बुद्धि का उपयोग करने से तथा आत्म-परीक्षण द्वारा बुद्धि को शुद्ध और तेज बनाने से अवश्य ही बुद्धिशक्ति का विकास होता है।

बुद्धि का जितना विकास ज्ञानेन्द्रियों से होता है, उसकी अपेक्षा कर्मेन्द्रियो से अधिक होता है; इतना ही नहीं, कर्मेन्द्रियों की तालीम से बुद्धि का अनिश्चय दूर होता है और वह निश्चयात्मिका बनती है। 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी।'

शुद्ध हेतु से, निःस्पृह और निर्विकारी जीवन जीने से बुद्धि, तेज और दृढ होती है। हृदय-शुद्धि होने से बुद्धि में एकाग्रता भी आती है और उसकी विकिरण-शक्ति, radiating शक्ति भी विकसित होती है।

इसके सिवा, ईश्वर-कृपा से भी बुद्धि बढ सकती है। गीता में भक्त की जो व्याख्या है वही स्थितप्रज्ञ की भी है। भगवान कहते हैं : 'सच्चे भक्तों को मैं बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे परम रहस्य को भी पा सकते हैं।

यहाँ मुझे इतना स्पष्ट कर देना चाहिए कि मैं केवल तर्क चातुर्य को बुद्धि मानता ही नहीं। कभी-कभी तो वह बुद्धि का एक विकार ही होता है।

अक्तूबर, १९३९

७८. मित्रता क्या है ?

(प्रश्नचर्चा)

एक बड़े आदमी के नौकर ने अपने मालिक से एक दिन की छुट्टी माँगी। उसने मालिक से कहा : "मेरा एक मित्र मुझसे मिलने के लिए आने वाला है। इसलिए मेरा घर में रहना जरूरी है।" मालिक ने पूछा : "क्या तेरा मित्र सच्चा मित्र है?" नौकर ने उत्साह से कहा : "जी हाँ, वह मेरा बिलकुल सच्चा मित्र है।" यह सुनकर मालिक ने तुरन्त अपने कपड़े पहन लिए। फिर वह बोला : "चल, मैं भी तेरे साथ आता हूँ। अपनी जिन्दगी में मुझे पहली ही बार सच्चा मित्र देखने का सौभाग्य मिलेगा।"

बहुतेरे लोग यह मानते हैं कि सच्ची मित्रता जैसी कोई चीज दुनिया में है ही नहीं। अंग्रेजी के एक कवि ने मित्रता के बारे में बहुत की कड़वी पंक्तियाँ लिखी हैं :

"And what is friendship but a name;
A charm that lulls to sleep,
A shade that follws wealth and fame
And leaves the wretch to weep".

"मित्रता केवल एक शब्द ही है। मित्रता एक सम्मोहन मंत्र है, जो भोले-भाले लोगों को भुलावे में डाल कर सुला देता है। सच पूछा जाये तो मैत्री धनवान और कीर्तिवान लोगों की खुशामद करती है और दीन-दुखियों को एक कोने में बैठ कर रोने को छोड़ देती है।"

जो लोग स्वार्थी हैं और स्वार्थी न भी हों तो जो अहंप्रेमी हैं, स्वार्थत्याग करते समय भी अपनी इच्छा का खयाल रखते हैं, वे तो यही मानते हैं कि मित्रता में कोई सार नहीं है।

परन्तु महात्मा गांधी जैसे लोग, जिन्होंने सच्ची मित्रता का अनुभव किया है, जिन्होंने स्वयं अपने को सच्चा मित्र सिद्ध कर दिखाया है, कहते हैं: "जो लोग मोक्ष की इच्छा रखते हैं, जो लोग केवल ईश्वर-प्राप्ति के लिए अपने जीवन का बलिदान देना चाहते हैं, उनका कोई मित्र नहीं होता। दूसरे प्रकार से कहा जाए तो वे सारी दुनिया को अपना मित्र मानते हैं। उनका कोई खास मित्र नहीं हो सकता।"

मद्रास में मुझे एक अंग्रेज भक्त मिले थे। उनसे मेरा अच्छा परिचय हो गया था। उनके पास शरीर पर पहने हुए कपड़ों के सिवा एक कमीज और एक पायजामा ही था। (नहीं, एक शाल भी थी)। एक हाथ-थैली में इन चीजों को रख कर वे

कहीं भी चल देते थे। रात को समुद्र-तट पर रेत में ही सो जाते थे। उनसे बातें करते-करते मैंने मित्रता की बात छेड़ी। उन्होंने आवेश में आकर मुझे मैकटेगार्ट का यह वचन कह सुनाया : Friends! there are no friends; there are only accomplices."

" आप मित्र की बात करते हैं? इस दुनिया में कोई किसी का मित्र नहीं है जो होते हैं वे सिर्फ अपराध में एक-दूसरे की मदद करने वाले साथी, शागिर्द या यार होते हैं।

संस्कृत साहित्य में मित्रता का स्थान धोखेबाजों में नहीं आता। हमारे सुभाषितों में मित्र की परिभाषा इस प्रकार दी गई है : अच्छी या बुरी दशा में जो मनुष्य समान भाव से हमारे साथ रहता है वही मित्र है।'

मित्रता का स्थान माता-पिता, भाई-बहन, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी आदि के पवित्र और उत्कट सम्बन्ध की पंक्ति मे माना जाता है। गुरु-शिष्य का तथा मित्र-मित्र का सम्बन्ध स्वेच्छा से बँधता है। बाकी सब सम्बन्धों में नसीब का हाथ होता है इसलिए इन दो सम्बन्धों की कोई निराली विशेषता मानी जाती है। यही कारण है कि मित्र के सम्बन्ध को बनाए रखने के लिए बड़ी सावाधनी मे काम लेना पड़ता है।

ऊपर की भूमिका को ध्यान में रखकर हम नीचे के प्रश्नों की चर्चा करेंगे : "मित्र द्वारा हमारा अपमान हो तो ऐसी स्थिति मे हम क्या करें?"

इस प्रश्न का अर्थ यह होता है कि अपमान होने पर भी प्रश्न पूछने वाले भाई अपने मित्र को मित्र ही मानते हैं। ऐसी स्थिति में मित्र का व्यवहार अपमानजनक लगना ही नहीं चाहिए अथवा उसे चुपचाप सहकर मन को बड़ा रखना चाहिए। जिस प्रकार बेचारी पत्नी पति के हाथों होने वाले अपमान को चुपचाप बरदाश्त कर लेती है, उसी प्रकार मित्र के हाथों होने वाले अपमान को चुपचाप बरदाश्त कर लेना चाहिए। मैत्री दोनों पक्षों से भक्ति की अपेक्षा रखती है। प्रत्येक मित्र अपने मित्र का भक्त होना चाहिए। जब एक ऋषि ने स्वयं ब्राह्मण होने के कारण भगवान श्रीकृष्ण की छाती में लात मारी तब श्रीकृष्ण ने उस लात को बहुमूल्य अलंकार मानकर बड़े गर्व से उसका आदर किया और कहा : 'हम भक्तन के भक्त हमारे !' उसी समय से भगवान का नाम श्रीवत्सलांछन पड़ गया। जिन मित्रों में परस्पर आदर का भाव नहीं होता, उनकी मित्रता लम्बे समय तक टिकती नहीं। और जहाँ दोनों के बीच आदर का भाव होता है वहाँ अपमान होना सर्वथा असम्भव है।

*

एक यह प्रश्न पूछा गया है : "कोई व्यक्ति एक से अधिक व्यक्तियों के साथ मित्रता का सम्बन्ध बाँधे तो सब मित्रों के साथ समानता कैसे रखी जाए?"

जो लोग मित्रों के सम्बन्ध को आशिक और माशूक का सम्बन्ध मानते हैं, उन्हीं को इस कठिनाई का सामना करना पड़ता है। सच बात तो यह है कि किन्हीं भी दो मनुष्यों के बीच का सम्बन्ध किन्हीं दूसरे दो मनुष्यों के बीच के सम्बन्ध जैसा होता ही नहीं। प्रत्येक सम्बन्ध अद्वितीय अथवा अनन्य (unique) होता है। बात इतनी ही है कि ऐसे अनेक सम्बन्धों को मित्रता या दोस्ती जैसा सर्व-सामान्य नाम दिया जाता है।

"मित्रता समान कक्षा के लोगों में ही सम्भव है, इस कथन का क्या रहस्य है?"

दुनिया का यह सामान्य अनुभव है कि दो मित्रों के बीच आयु की, सामाजिक प्रतिष्ठा की तथा बौद्धिक विकास की स्थूल समानताएँ भी न हों, तो ऐसी मित्रता घनिष्ठ नहीं हो सकती। लेकिन अगर किसी का जीवन धन-दौलत, सामाजिक प्रतिष्ठा, आयु आदि की बातों से अलिप्त रह सके, तो इन बातों में अधिक-से-अधिक असमानता होने पर भी मित्रता में बाधा नहीं आती। परन्तु इस स्थिति में भी दोनों ही मित्रों में अलिप्तता होनी चाहिए। वर्ना एक का मन अधिक-से-अधिक शुद्ध या उदार होने पर भी दूसरे के दोष के कारण मित्रता टूटने की सम्भावना रहती है।

मानव-जीवन दो प्रकार का होता है : आन्तरिक और बाह्य। जो लोग बाह्य जीवन का विचार छोड़ देते हैं, वे बाह्य असमानता के होते हुए भी मित्र के रूप में रह सकते हैं। किन्तु यदि आन्तरिक जीवन में सम्पूर्ण मेल न हो, तो दोनों की मित्रता टिक नहीं सकती।

कवियों ने श्रीकृष्ण और सुदामा की मित्रता का वर्णन चाहे जितने स्वाभाविक और रोचक ढंग से किया हो, परन्तु मेरी दृष्टि से वह आदर्श मित्रता का वर्णन नहीं है।

एक और प्रश्न इस प्रकार है: "मनुष्य अपने सम्बन्धों के बारें में जब निराश हो जाए तब वह आश्वासन कैसे प्राप्त करे?"

जीवन और जीवन-व्यवहार का स्वरूप ही ऐसा है कि उसमें अनेक लोगों के साथ अनेक प्रकार के सम्बन्ध स्थापित होते रहते हैं। हर व्यक्ति के साथ हमारा सम्बन्ध अलग प्रकार का होता है। ऐसे सम्बन्धों के कारण मनुष्य में जो विश्वास उत्पन्न होता है, जो प्रेम बढ़ता है और जो आधार उसे मिलता है, उनकी मधुरता उसके लिए उच्च प्रकार का भोजन सिद्ध होती है।

प्रत्येक सम्बन्ध के साथ कोई-न-कोई आशा, अपेक्षा और अधिकार जुड़ा होता है। जब यह अपेक्षा टूट जाती है, आशा निराशा में बदल जाती है और अधिकार

मंजूर करने से इनकार किया जाता है, तब मनुष्य अस्वस्थ और अशान्त हो जाता है। उसे प्राणान्तक दुःख होता है और चारों ओर अँधेरा-ही-अँधेरा दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में उसे आश्वासन या समाधान कैसे मिल सकता है? मनुष्य अपनी सदा की स्वाभाविक स्थिति को पुनः कैसे प्राप्त कर सकता है? वह कैसे स्वस्थ और शान्त रह सकता है? यही हमारा प्रश्न है।

इतनी बात हमें स्वीकार करनी चाहिए कि मित्रता के सम्बन्ध बढ़ने पर हमारे कार्य का विस्तार बढ़ता है, हमारी शक्ति भी बढ़ती है और कभी-कभी तो हमारा कर्तव्य भी अधिक कठिन हो जाता है। हमारा आन्तरिक जीवन सदा स्वावलम्बी, स्वयंपूर्ण और स्वतन्त्र होना चाहिए। प्रेम की वजह से हमारे हृदय में असहायता, परावलम्बन और अपूर्णता की भावना नहीं बढ़नी चाहिए। जो प्रेम दूसरे से बदले की आशा रखता है वह शुद्ध प्रेम नहीं होता। प्रेम में प्रतिफल की यानी प्रत्युपकार की भावना नहीं होनी चाहिए। जहाँ आशा ही नहीं रखी जाती वहाँ निराशा कैसे पैदा हो सकती है? जहाँ देने के साथ मन में लेने की बात ही नहीं उठती वहाँ कृतज्ञता की आशा कभी पैदा ही नहीं होती; तब फिर किसी की कृतघ्नता से वेदना तो हो ही कैसे सकती है?
अप्रैल, १९३७

७९. आत्मा की कल्पना

आत्मा की कल्पना करने का मार्ग बड़ा कठिन है। कहा गया है कि योग-युक्त परिव्राजक संन्यासी और रण में विरोधी के शस्त्र से घायल हुआ निर्भय वीर—दोनों सूर्य-मंडल को भेद कर जाते हैं। तो वे कहाँ जाते होंगे? उन्हें तो आत्मा का ही दर्शन होता होगा? प्रत्येक वीरकर्म आत्मा का कुछ दर्शन—थोड़ी झाँकी—मिलने से ही सम्भव होता है; क्योंकि वह आत्मा की ही शक्ति है। प्रिय से प्रिय जीवन को स्वेच्छा से खोने की शक्ति आत्मा से ही उत्पन्न हो सकती है। केवल निराशा के कारण ही सर्वस्व का त्याग हो ही नहीं सकता। अथवा भले निराशा से, किन्तु पूर्ण त्याग हो ही नहीं सकता। अथवा भले निराशा से, किन्तु पूर्ण त्याग हुआ हो और फिर भी वह सच्चा त्याग हो, तो वह कभी विफल नहीं जाएगा; निराशा का रूपान्तर करके वह शुद्ध आस्तिकता को ही जन्म देगा। जैसे हर एक वाक्य के बाद पूर्ण-विराम आता है। वैसे प्रत्येक सत्कार्य के

फलस्वरूप आत्मा का कमोबेश दर्शन होता ही है। भोजन के बाद की तृप्ति यदि आनन्ददायक हो, तो सत्कार्य के बाद की शान्ति आत्म-दर्शन कराने वाली होनी ही चाहिए।

एक बार मुझे लगा कि सद्‌भाव ही आत्मा है, तटस्थता ही आत्मा है, परम श्रद्धा ही आत्मा है। परन्तु प्रत्येक मानव में सद्‌भाव नहीं होता, यद्यपि आत्मा तो सर्वव्यापी है, सर्वान्तर्यामी है। सद्‌भाव को ही आत्मा कैसे कहा जाय? आत्मा सर्वव्यापी है परन्तु वह सर्वत्र समान रूप में प्रकट नहीं हुई है। इसमें कोई शंका नहीं कि वह सब जगह मौजूद है। जिसे हम सद्‌भाव-शून्य मानते हैं, जो दुर्जनता में ही आनन्द मानता है, वह मनुष्य भी दुर्जनता का पूजक नहीं होता। वह दुर्जनता का दास होता है, मित्र होता है। हम सहानुभूति से जाँच करें तो मालूम होगा कि दुर्जन मनुष्य में भी दुर्जनता की मर्यादा होती है। 'इससे आगे नहीं ही जाना चाहिए', ऐसा कोई पैमाना उसके पास जरूर होता है। 'मैं जितना (दुर्जन) हूँ उससे अधिक दुर्जन नहीं हूँ', इसका आनन्द या सन्तोष हर एक मनुष्य के हृदय में रहता है। यदि वस्तुस्थिति के क्षेत्र से सम्भावना का क्षेत्र अमर्यादित रूप में बड़ा हो, तो प्रत्येक मनुष्य आत्म-कल्याण चाहने वाला ही माना जाएगा। और तब तो यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि सद्‌भाव ही आत्मा है।

शर्त इतनी ही है कि हमें सद्‌भाव का व्यापक स्वरूप जानना चाहिए।

१९३१

❐

ईशोपनिषद्

प्रकाशकीय

आचार्य काका साहेब कालेलकर की 'ईशोपनिषद्' पुस्तक की दूसरी आवृत्ति प्रकाशित करते हुए हम प्रसन्नता अनुभव कर रहे हैं। पहली आवृत्ति नवजीवन ट्रस्ट अहमदाबाद ने प्रकाशित की थी। जिसे पुनः पढ़कर काकासाहेब ने यहाँ वहाँ मामूली सुधार किये थे तथा भाषा को परिमार्जित किया था। ये सारे सुधार इस आवृत्ति में कर लिए हैं।

काका साहेब ने इस पुस्तक का परिचय कराते हुए कहा है कि "उपनिषदों में मुख्यतः इहलोक और परलोक, सृष्टि और परमात्मा, जीव और परब्रह्म इन सबका अद्वैत और ऐक्य बताया है और पापवासना पर विजय प्राप्त करने का रास्ता बताया है।"

इसलिए काका साहेब को ईशोपनिषद् बहुत पसन्द थी। उसमें से उनको बहुत प्रेरणा मिलती थी। वे उसका चिन्तन-मनन और रटन हमेशा करते रहते थे तथा दूसरों को भी उसका पाठ करने की प्रेरणा देते रहते थे। एक दफ़ा तो उन्होंने सन्निधि की प्रातः कालीन प्रार्थना के बाद उसका दस-पन्द्रह दिन तक नियमित वर्ग लिया था। हृदय में शिष्यों का हित रखकर वे प्राणपन से ईशोपनिषद् के मंत्र और उनके अर्थ सिखाते थे। तब नये-नये अद्‌भुत अर्थ सुनकर हम सहप्रार्थी प्रभु-भक्ति में और ब्रह्म-ज्ञान-सागर में निमग्न हो जाते थे और उन्नत जीवन की प्रेरणा पाकर धन्य होते थे। हमें पूरा विश्वास है, पाठक भी इसमें से वैसी ही प्रेरणा पायेंगे।

—हसमुख व्यास

१. आध्यात्मिक साधना का छोटा-सा किन्तु उत्कृष्ट ग्रन्थ

ईशोपनिषद् के बारे में इसके पहले अनेक बार मैंने लिखा है। वह प्रवृत्ति अधूरी रह गई थी। अब फिर से उसे हाथ में लेता हूँ। अबकी बार यह महत्त्व का उपनिषद् यथाक्रम लेकर पूरा ही करना है। आश्रम-जीवन में सुबह-शाम की प्रार्थना व्यवस्थित रूप से हम लोगों ने चलायी तब से ईशोपनिषद् को उसमें स्थान मिला है। पूज्य गांधीजी को यह उपनिषद् खूब भाया। खास करके उसका शान्तिपाठ और प्रथम मंत्र। इसके मनन को उन्होंने हमेशा प्रोत्साहन दिया।

मैंने लिखा ही है कि महात्मा जी ने भारत आकर अहमदाबाद में सत्याग्रहाश्रम की स्थापना की, उसके पहले दक्षिण अफ्रीका में जो एक तरह का आश्रम-जीवन चलता था उसमें केवल शाम की ही प्रार्थना थी। और उसमें गीता के दूसरे अध्याय के अन्तिम श्लोकों को (स्थितप्रज्ञदर्शन को) प्रधान स्थान था।

सन् १९१४ में जब हमेशा के लिए भारत आने का उन्होंने निश्चय किया, तब उन्होंने अपने आश्रमवासियों को प्रथम भारत भेजा और स्वयं विलायत होकर भारत आये।

उनके आश्रमवासी प्रथम थोड़े दिन गुरुकुल में रहे और बाद में एन्ड्रयूज के कारण शान्तिनिकेतन में उन्हीं के पड़ोस में आकर रहे।

तब मैं शान्तिनिकेतन पहुँचा था। मैंने सेवा शुरू की शान्तिनिकेतन की, लेकिन घुलमिल गया गांधीजी के आश्रमवासियों के साथ। वहाँ इन लोगों में मैंने सुबह की प्रार्थना शुरू की, जो असल में थी महाराष्ट्र के हमारे प्रातःस्मरण के ढंग की। उसमें मैंने अपना प्रिय ईशोपनिषद् भी थोड़ा-थोड़ा मिला दिया था। गांधीजी को सुबह की प्रार्थना अच्छी लगी, लेकिन उन्होंने मेरी सम्मति लेकर उसमें काफी काट-छाँट की और ईशोपनिषद् को प्रोत्साहन दिया।

उसके बाद गांधीजी ने अहमदाबाद में एक मकान किराये पर लेकर अपना आश्रम शुरू किया। उसमें मुझे बुलाया। मैंने कहा कि मैं बड़ौदा के मेरे साथियों से बँधा हुआ हूँ। वहाँ का काम व्यवस्थित करके तुरन्त आपके आश्रम में दाखिल होऊँगा।

इस बीच श्री विनोबा गांधीजी के आश्रम में दाखिल तो हुए लेकिन तुरन्त,

उनसे इजाजत लेकर, अपना वेदान्त का अध्ययन पूरा करने के लिए वे चले गये; और मैं अहमदाबाद के गांधीआश्रम में पहुँच गया। तब से वहाँ की सुबह-शाम की प्रार्थना मैं ही चलाता था। गांधीजी के आग्रह से ईशोपनिशद् भी हमने चालू रखा।

बाद में अपना अध्ययन पूरा करके विनोबा गांधी-आश्रम में आ गए। तब तक गांधीजी ने साबरमती के पास जमीन लेकर वहाँ सत्याग्रहाश्रम शुरू कर दिया था। उसमें विनोबा पहुँच गये। उन्होंने भी ईशोपनिषद् के अध्ययन पर जोर दिया। यह है गांधी-प्रवृत्ति में ईशोपनिषद् का प्रवेश कैसे हुआ, उसका संक्षिप्त इतिहास।

ईशोपनिषद् में सम्पूर्ण जीवन के परम विकास की आध्यात्मिक साधना बतायी गई है। भारतीय संस्कृति का सर्वोच्च आदर्श उसमें व्यक्त हुआ है। आत्मा-परमात्मा, और अनन्त रूपों से व्यक्त यह सारा विश्व दोनों का स्वरूप पहचानकर उसमें रही हुई सनातन एकता का अनुभव करना— यानी उसके साथ पूर्ण या एकरूप हो जाना, यही मानी गई है पूर्ण जीवन की सिद्धि, उसी को ब्रह्म-प्राप्ति कहा है।

इसके अंदर जीवन विमुख होने की बात है। वैराग्य के नाम से जीवन विमुख होने की साधना कई संतों ने बतायी है। वह इतनी अनिष्ट बन गई कि रविबाबू जैसे जीवनोपासक कवि को वैराग्य-साधना का ही विरोध करना पड़ा। "वैराग्य-साधने मुक्ति शे आमार नय" यह था उनका वचन। गांधीजी ने जीवन-विमुख होनेवाली इस वैराग्य-साधना को कहीं भी प्रोत्साहन नहीं दिया।

विषयसुख के मोह में फँसकर मनुष्य अपना आरोग्य खोता है। अन्य लोगों के प्रति प्रेम, सहानुभूति, आदर आदि भावों को बढ़ाने की स्फूर्ति भी खो बैठता है। सेवा के द्वारा हृदय के ऐक्य का विकास करने का कर्तव्य और आनंद भी गौण बन जाता है। यह देखकर उन्होंने स्वार्थी, विषयलोलुप हीनवृत्ति के मनुष्य के लिए वैराग्य की आवश्यकता खूब बतायी है।

उपनिषदों में मुख्य बात तो इहलोक और परलोक, सृष्टि और परमात्मा, जीव और परब्रह्म, इन सबका अद्वैत अथवा ऐक्य बताया है; और पाप-वासना पर विजय पाकर अद्वैतसिद्धि का आनन्द प्राप्त करने का रास्ता भी बताया है।

मूल वेदों में ऋषियों के दिये हुए मंत्र हैं, जिन्हें अध्यात्म का असली मसाला समझना चाहिए। उसमें से बड़े-बड़े ऋषियों ने जो आध्यात्मिक बोध एकत्र किया, उसे कहते हैं (१) उपनिषद् अथवा वेदांत। इस वेदांत का जो दार्शनिक भाग है उसे व्यवस्थित रूप दिया बादरायण व्यास मुनि ने। उसे कहते हैं (२) ब्रह्मसूत्र। और वेदान्त के इस रहस्य को जीवनोपयोगी बनाने की जीवन-कला हमें मिलती है (३) भगवद्गीता में।

उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता— तीनों को मिलाकर प्रस्थानत्रयी कहते हैं।

किसी स्थान पर पहुँचने के लिए हम जो यात्रा शुरू करते हैं उसे कहते हैं

प्रस्थान। दुनियावी व्यवहार, उसका सुख-दुःख, और उसमें से पैदा होनेवाला पाप-पुण्य, इत्यादि नीचे की भूमि को छोड़कर, जीवन के ब्रह्मप्राप्ति तक पहुँचने के रास्ते को और साधनों को भी प्रस्थान कहना योग्य है। इसके लिए ईशोपनिषद् का अध्ययन और चिन्तन अत्यन्त उपयोगी है।

असल में उपनिषद् विश्वामित्र ऋषि के द्वारा संगठित किए हुए शुक्ल यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय का एक भाग है। इसलिए इसे मंत्रोपनिषद् भी कहते हैं। यह वेद भी है, और वेदान्त भी है। उत्कृष्ट साधनाग्रन्थ तो है ही।

२. अनुभव-ज्ञान और तत्त्व-ज्ञान का विकास

शास्त्रग्रन्थ पढ़ने के बाद उनके बोध पर मनन करना स्वाभाविक है, क्योंकि शास्त्रग्रन्थ और उनकी परिभाषा अच्छी तरह समझने के बाद ही उनका रहस्य ध्यान में आ सकता है।

आद्य ऋषियों ने सबसे पहले शास्त्रीय विवेचन की परिभाषा तय की, उसके पहले क्या स्थिति थी? आद्य ऋषि चिन्तन कैसे करते थे? किस आधार पर उनका चिन्तन चलता था?

बाह्य सृष्टि का निरीक्षण और परीक्षण करना और ऐसे अनुभव पर गहरा चिन्तन चलाना यही एक मार्ग था। जब भाषा ने भी अपना रूप पकडा नहीं था, तब मनुष्य निरीक्षण, परीक्षण, प्रयोग और अनुभव के बल पर ही चिन्तन करके अनुभव के सार को स्थिर करता था। इसमें विचार-शकित के द्वारा अनुभव का पृथक्करण और स्पष्टीकरण जब चलने लगता है, तब उसी में से भाषा और परिभाषा तैयार होने लगती है।

बाह्य सृष्टि के बारे में यह जो बात कही वही बात अपना मन, अपनी बुद्धि, अपनी भावनाएँ और अपने संकल्प से ध्यान में आनेवाली अन्तःसृष्टि के बारे में सही है।

बाह्य सृष्टि के पास जाकर ऊपर निरीक्षण-परीक्षण शकित का प्रयोग करना पड़ता है। लेकिन अन्तःसृष्टि में निरीक्षण और परीक्षण भी नो चिन्तन रूप मे ही चलता है। बाह्य सृष्टि और अन्तःसृष्टि के परिचय की प्रक्रिया एक-सी होती है। दोनों में निरीक्षण, परीक्षण, प्रयोग और चिन्तन चलते ही रहते हैं। अन्तःसृष्टि के बारे में भाषा को अधिक सूक्ष्म बनना पड़ता है। उसकी परिभाषा भी धीरे-धीरे बनानी पड़ती है उसमें समय-समय पर परिवर्तन भी करना पडता है।

यह परिभाषा प्रथम स्थूल होती है। बाद में चिन्तन के स्पष्टीकरण में जब कठिनाइयाँ आने लगती हैं तब परिभाषा सूक्ष्म, मूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम बनती जाती है। भाषा का विकास इसी तरह होता आया है उसके साथ नत्त्वज्ञान का भी विकास होने लगता है।

लेकिन इसमें एक कठिनाई उत्पन्न होती है। प्रारम्भ-काल में सारा आधार

हम अपने अनुभव पर रखते हैं। अनुभव है ही ठोस चीज। चिन्तन के द्वारा अनुभव सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम होता जाता है। लेकिन उसका ठोसपन तो बना ही रहता है।

इसके बाद जब भाषा और परिभाषा कुछ हद तक स्थिर होती है और ईश्वर से प्रेरणा पानेवाले ऋषि-मुनियों के अनुभव भाषा में व्यक्त हो जाते हैं, तब प्रत्यक्ष अनुभव जिनके पास नहीं हैं किन्तु जो श्रद्धाभक्ति से परिपूर्ण हैं, ऐसे लोग शास्त्र-वचन को ही प्रधानता देते हैं।

अनेक धर्मों के ऋषि-मुनियों के अनुभव, और उनको मिली हुई ईश्वरी प्रेरणा के बीच भेद करना व्यर्थ है। दोनों को एक समझने में कोई खतरा नहीं है। खतरा खड़ा होता है दूसरे ही कारणों से।

ईश्वर जब प्रेरणा देते हैं तब वह भाषा में नहीं दी जाती। या तो अनुभव के रूप में या आदेश और सिद्धान्त के रूप में ईश्वरी प्रेरणा मिलती है। वह तो ठोस ही हो सकती है।

लेकिन उसी प्रेरणा को अनुभवी लोग जब शब्द बद्ध करते हैं तब मनुष्य की एकांगिता उस भाषा में प्रकट होती है। मनुष्य बोलता है लोगों को समझाने के लिए। इसलिए उसके मुँह से निकलने वाली भाषा आसपास के लोगों की संस्कृति के अनुरूप, अपूर्ण और सदोष भी होती है। प्रेरणा देनेवाला होता है ईश्वर, लेकिन लेनेवाला है अपूर्ण मनुष्य और उसकी स्वल्प विकसित भाषा। यह सारी अपूर्णता शास्त्र वचनों में आ ही जाती है।

सामान्य लोगों के पास अनुभव नहीं होने के कारण, वे अनुभवी लोगों से प्राप्त शास्त्र वचनों को ही सम्पूर्ण सत्य मानते हैं और उसी का अर्थ करने में अपनी सारी शक्ति लगाते हैं। फिर तो अनुभव की कसौटी बाजू पर रह जाती है और शब्दों के अर्थ कोशों से पूछे जाते हैं। शास्त्र-वचनों का अर्थ करने के लिए व्याकरण आदि की सहायता ली जाती है और मूल सत्य का स्थान मानवी वचनों को दिया जाता है। ऐसी स्थिति में केवल अपना अनुभव आगे करके समझाने वाले कोई नहीं रहते। शब्दों का अर्थ करना बाकी रह जाता है; और तर्कशास्त्र आदि साधन प्रधान बन जाते हैं।

इसी में से अनेक दर्शन पैदा हुए हैं।

अनुभवों का सम्बन्ध समस्त जीवन से रहता है, जब कि शब्दों का और वचनों का सम्बन्ध तार्किक पृथक्करण और स्पष्टी-करण से रहता है। स्वयं जीवन सर्व संग्राहक और लचीली चीज होती है। एक बार हम तर्क के जाल में फँस गये तो जीवन से कुछ दूर चले जाते हैं।

ईशोपनिषद् मंत्रोपनिषद् होने के कारण अत्यन्त पुराना है। वह उस काल का

है, जब परिभाषा धीरे-धीरे बन रही थी। मंत्र के ९, १० और ११ वें श्लोकों में विद्या और अविद्या शब्द आते हैं। इन्हें प्रथम समझते हैं। उस काल में 'विद्' धातु का अर्थ 'जानना', 'समझना' तो था ही। किन्तु ऋषियों ने 'विद्या' शब्द का अर्थ किया, 'आत्मज्ञान'। 'विद्या' का अर्थ अगर सिर्फ 'ज्ञान' है, तो 'अविद्या' का अर्थ होगा 'अज्ञान' लेकिन यहाँ जब 'विद्या' का अर्थ लिया गया 'आत्मज्ञान' तब 'अविद्या' का अर्थ हो गया 'अनात्मज्ञान' याने 'जड-सृष्टि विषयक पूरा व्यावहारिक ज्ञान'। विद्या और अविद्या दोनों शब्दों के जब ऐसे विशेष अर्थ हुए तभी ऋषि कह सके कि 'जब केवल अविद्या की यानी आत्मज्ञानरहित दुनियावी ज्ञान की उपासना होती है तब लोग अन्धता में प्रवेश करते हैं।' और दूसरे लोग 'जब केवल आत्मज्ञान को ले बैठते हैं और दुनियावी ज्ञान की उपेक्षा करते हैं, तब तो उनका अँधेरा और भी ज्यादा गहरा हो जाता हे। दुनियावी ज्ञान का रहस्य समझने के लिए है आत्मज्ञान। इस रहस्य को छोड़ दिया जाए तो मनुष्य अपने जीवन को यथार्थ रूप में नहीं समझ सकेगा। वह अँधेरे में रह जाएगा। लेकिन उसके विपरीत अगर कोई जीवन का रहस्य समझते हुए उसकी उपेक्षा करता है तब रहस्य की वाणी तो बिलकुल पोली हो जाएगी। रहस्य तो समझ लिया, लेकिन वह किसका रहस्य है? यह न समझ लिया तो दूसरा क्या हो सकता है? भाषा के बिना व्याकरण' के जैसी वह हालत हो जाएगी। दुनियावी ज्ञान और उसी का रहस्य ज्ञान एक साथ चले तभी तो उद्धार होगा।

ऋषियों ने उद्धार का थोड़ा पृथक्करण भी किया है। हम नदी को लाँघकर उस पार जाते हैं और वहाँ पहुँचने पर वहाँ के अच्छे फल खाते हैं। इसी तरह दुनियावी ज्ञान की मदद से हम मौत को लाँघ जाते हैं और वहाॅ पहुँचने पर वहाँ के अच्छे-अच्छे अनुभव फल खाते हैं। इसी दुनियावी ज्ञान की मदद से हम मौत को लाँघ जाते हैं और उस पार पहुँचने पर आत्मज्ञान और मोक्ष का फल चखते रहेंगे।

इसी तरह मंत्र १२, १३ और १४ में 'सम्भूति' और 'असम्भूति' शब्द आते हैं। वहाँ उनका अर्थ भी समझना चाहिए। ('असम्भूति' के लिए विनाश शब्द भी काम में लिया गया है। उससे डरने का कोई कारण नहीं है।)यह सारी दुनिया ईश-भगवान से ही पैदा हुई है। उस प्रक्रिया को कहा है 'सम्भूति'। आज की परिभाषा में उसे हम Evolution (विकास) कह सकते हैं। अब जिस तरह Evolution के बाद Involution आता है, उसी तरह विकास के बाद विस्तार खतम होता है और सारा विश्व ईश तत्त्व में वापस समा जाता है 'असम्भूति' अथवा Involution।

३. वेदान्त का सर्वस्व

(श्लोक-१)

हरिः ॐ

ईशावास्यमिदं सर्वम्

यत् किंच जगत्यां जगत।

तेन त्यक्तेन भुंजीथाः

मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ।।१।।

अन्वय—जगत्याम् यत, किम् च जगत (तत् सर्वम्) ईशा वास्यम्।

तेन, 'त्यक्तेन भुंजीथा:'; कस्य स्वित् धनम् मा गृधः ।।१।।

अर्थ— **जगत्याम्** = इस (जगती में यानी) विश्व में।

जगत = जानेवाला, बदलने वाला, स्थिर नहीं, क्षणभंगुर।

ईशा = ईश के द्वारा (यह ईश की तृतीया है।)

वास्यम् = भर देना चाहिए।

मा गृधः = (किसी गिद्ध की तरह) लोभ नहीं करो।

ईशोपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद के आखिरी मंत्रों को लेकन बना है, इस वास्ते इसे 'मंत्रोपनिषद्' कहते हैं। उपनिषदों में भी इसकी प्रतिष्ठा अधिक है।

इसके पहले मंत्र में वेदान्त की मुख्य सारी बातें आ जाती हैं। इस मंत्र को समझने के लिए उसमें आए हुए शब्दों का अर्थ प्रथम समझ लेना अच्छा है।

ईश का अर्थ है भगवान, मालिक अथवा समर्थ पुरुष। 'इदं सर्वं' यह सारा दृश्य और अदृश्य जगत; वास्यं= भर देना चाहिए। यह सारा विश्व ईश्वर से भर देना चाहिए, अथवा ईश्वर से यह सारा विश्व भरा हुआ है ऐसा समझना चाहिए, देखना चाहिए।

इस सारे विश्व का जिक्र करने के बाद उसी का वर्णन करते हैं, यत् किं च जगत्यां जगत। इस दुनिया को 'जगती' कहते हैं। आजकल हम जगत को 'दुनिया' भी कहते हैं। 'जगत्यां' यह रूप जगती शब्द का सप्तमी का रूप है। जगत्यां = दुनिया में। 'जगत' शब्द गम् धातु पर से आया है। गम = जाना, चलना। जगत याने

जानेवाला, स्थिर न रहनेवाला, नाशवन्त, बार-बार बदलने वाला। इस दुनिया में जो भी है, वह सारा नाशवन्त है, बदलने-वाला है यत् किं च = जो कुछ है; जो कुछ सारा दुनिया में नाशव्रन्त, बदलनेवाला, जानेवाला है, वह ईश्वर के द्वारा भर देना चाहिए। केवल ईश्वर ही न बदलनेवाला, न जानेवाला, स्थायी, सनातन स्वयं भू तत्त्व है।

इस दुनिया में जो भी सारा नाशवन्त, नित्य बदलनेवाला है उसी को अविनाशी, सनातन ऐसे आत्म तत्त्व से, परमात्म-तत्त्व से भरा हुआ देखना चाहिए। दर्शन सम्पूर्ण होगा। इस दुनिया में सब-कुछ बदलनेवाला है, केवल आत्मतत्त्व याने परमात्मा-तत्त्व ही चिरस्थायी, सनातन (और इसीलिए) चिर-महत्त्व का तत्त्व है। यह बात समझनी चाहिए। इसका अनुभव करना चाहिए। और फिर इस अनुभव को सतत जाग्रत रखना चाहिए।

सामान्य दुनिया में, जगत में रहनेवाले अधिकतर लोग जड़वादी होते हैं। आत्मतत्त्व को याद नहीं करते और दुनिया का सारा मामूली व्यवहार अच्छी तरह से चलाते हैं। ऐसे लोगों को गीता ने 'असुर' कहा है। आजकल असुर शब्द का अर्थ नहीं है। गीता ने तीन तरह की प्रकृतियाँ बतायी हैं— दैवी, आसुरी और राक्षसी। इनमें 'दैवी' प्रकृति उन्नतिगामी है, मोक्ष की तरफ ले जाती है, आत्मसाक्षात्कार में मदद करती है। 'आसुरी' प्रकृति सारी दुनिया में फैली हुई है। उसे एक तरह से जड़वादी कह सकते हैं। इसके विरुद्ध, जो नीचे गिरानेवाली है, नाश करनेवाली है वह है 'राक्षसी' प्रकृति। गीता ने दैवी और आसुरी दोनों को 'सम्पत्' कहा है। तीसरी राक्षसी प्रकृति 'सम्पत्' नहीं किन्तु 'विपत्' है।

असुर शब्द वेद में अच्छे अर्थ में भी आता है। इन्द्र, वरुण आदि देवों को भी वहाँ असुर कहा है। (असून राति इति असुरः प्राणों का जो रक्षण करता है वह असुर।) इतना अच्छा अर्थ था 'असुर' शब्द का। बाद में देव और असुर ऐसा भेद करके देव अच्छे और असुर बुरे ऐसा तय किया गया।

गीता में मोक्षगामी संस्कृति को दैवी सम्पत् कहा है और आज सामान्य दुनिया में जो संस्कृति पायी जाती है, जिसका उत्कर्ष हम यूरोप-अमेरिका में और अन्यत्र पाते हैं, वह सचमुच है आसुरी सम्पत् (सम्पत् याने संस्कृति।)

इस सारी दुनिया में आत्मतत्त्व भरा हुआ है यह पहचानने से और हमेशा याद रखने से हमारे जीवन में दैवी तत्त्व बढ़ने लगते हैं। हम अपनी सारी कमजोरियों पर विजय पाते हैं। हम किसी-का भी द्रोह नहीं करते। सबका कल्याण चाहते हैं; और यथा-शक्ति करते भी हैं। सबकी सेवा करते हैं। सबको अपनी-अपनी उन्नति करने में सहायभूत बनते हैं। फिर, 'मा गृधः कस्य स्वित् धनम्' कहा है। किसी के धन की लालसा न रख। हम किसी के भी धन का लोभ नहीं करते। इससे उल्टा गरीबों

को, गरजमन्दों को अपना सब-कुछ देने में ही अपनी सम्पत्ति का पूरा सदुपयोग हुआ, ऐसा आनन्द महसूस करते हैं।

यही कहा गया है ईशोपनिषद् के प्रथम मंत्र के द्वारा।

अब दूसरी बात। 'त्यक्तेन भुंजीथा:।' त्यक्त यानी जिसका त्याग किया हुआ है। 'भुंजीथा:' उपयोग करो, खाओ। उपनिषद् कहता है कि अपने पास जो भी चीज है— पृथ्वी, पानी, तेज, वायु, आकाश— उसके हम मालिक होने से, उसका सब तरह से उपभोग करने का हमें अधिकार है। चाहे हम उसे खा सकते हैं, याने अपने काम में ला सकते हैं; या भविष्य के लिए सँभालकर भी रख सकते हैं।

अगर मेरे पास कुछ धन है, तो उससे मैं अपने को भ्रष्ट करनेवाली, अपना नाश करनेवाली चीजें भी खरीद सकता हूँ। शराब जैसी चीजें खरीदीं, व्यसनों में डूब गया, दुराचार करने के लिए लोगों की सेवाएँ खरीद लीं, तो वह भी मैंने अपने धन का उपभोग ही किया।

इसकी जगह अगर मैंने जमीन खरीदकर खेती की, धान्य पैदा किया और अपने खानदान का भरण-पोषण किया, तो वह भी अपनी सम्पत्ति का मैंने उपयोग ही किया।

लेकिन अपनी चीज का सबसे अच्छा उपभोग इसी में है कि जिसे हम प्यार करते हैं, आत्मीय समझते हैं, उसकी भूख, उसकी गरज समझकर उसी को हम अपनी चीज दे दें और उसका दु:ख दूर हुआ इसका आनन्द ले लें। माँ स्वयं भूखी रही तो भी अपने हाथ की बनाई खाने की चीजें अपने बच्चे को देकर परम सन्तोष मानती है। और जब बच्चे को वह स्वादिष्ट पदार्थ खाते देखती है, तब उसे उस पदार्थ का पूरा उपयोग मैंने किया ऐसा ही आनन्द मिलता है। माँ कहती भी है कि मैंने अपने बच्चे-के द्वारा मिष्टान्न खाने का पूरा आनन्द पा लिया। देकर, याने देने की क्रिया के द्वारा, समाज के हित के लिए दान द्वारा उपभोग करना यही है किसी चीज के मालिक होने की कृतार्थता। इसी को वेदान्त अद्वैतानन्द कहता है। 'तेन' का अर्थ होता है 'इसलिए।'

सर्वश्रेष्ठ है 'देने का आनन्द।' इससे उलटा है दूसरे का धन अपने लिए लेने का, लोभ रखना। किसी का भी धन देखकर उसके प्रति लोभ वृत्ति बढ़ी, फिर तो उसे पाने के लिए गिद्ध के जैसी लोभी वृत्ति मन में बढ़ने ही लगती है। यह है— अध:पात। देने का आनन्द उन्नतिगामी है और लूटने का— गिद्ध का आनन्द है अधोगामी। यही भाव समाया है इस सारे मंत्र में।

इस मंत्र के दूसरे चरण का अर्थ अनेक लोगों ने अपने-अपने ढंग से किया है। लेकिन भाव तो अन्त में एक ही है जो ऊपर दिया हुआ है।

शान्तिपाठ

ॐ ! पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

अन्वय—पूर्णम् अदः, पूर्णम् इदम्, पूर्णात् पूर्णम, उदच्यते।
पूर्णस्य, पूर्णम्, आदाय, पूर्णम्, एव अवशिष्यते।

अर्थ—अद = वह (ब्रह्म)।
इदम् = यह (विश्व)।
उदच्यते = पैदा होता है।
आदाय = लेने पर भी।

वेद चार हैं— ऋक् यजु, साम और अथर्व। लेकिन ऋषि विश्वामित्र के कारण यजुर्वेद दो हुए हैं। पुराने यजुर्वेद को 'कृष्ण यजुर्वेद' कहते हैं। बाद में आ गया 'शुक्ल यजुर्वेद।' इस तरह से पाँच वेदों के पाँच शान्तिपाठ हैं।

ईशोपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद की संहिता में आखिरी चालीसवें अध्याय के रूप में आया है। इसलिए इस उपनिषद् को मंत्रोपनिषद् कहते हैं। उसका शान्तिपाठ 'पूर्णम् अदः' से शुरू होता है।

संस्कृत में 'उपनिषद्' शब्द स्त्रीलिंग है। हिन्दी में वह पुल्लिंग हुआ है।

वह पूर्ण है, यह पूर्ण है। याने (जिसे समझना अभी बाकी है ऐसा) वह ब्रह्म सम्पूर्ण है। और उस ब्रह्म से पैदा हुआ यह जगत (जिसमें हम रहते हैं, और जिसका परिचय रोज बढ़ता जाता है) भी पूर्ण है। उस पूर्ण परब्रह्म में से ही यह पूर्ण जगत पैदा हुआ है— पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते।

और खूबी यह है कि उस परब्रह्म से यह सारा अनन्त विश्व पैदा होकर भी असली परब्रह्म पूर्ण ही रहता है। (पूर्णस्य पूर्णम् आदाय, पूर्णम् एव अवशिष्यते।)

गणितशास्त्र भी कहता है कि जो पूर्ण है, सम्पूर्ण है, परिपूर्ण है, अनन्त है, उसमें चाहे जितना जोड़ दो या चाहे जितना उसमें से निकाल दो, परिपूर्ण तो परिपूर्ण ही रहेगा। बढ़ना-घटना उसे बदलता ही नहीं। Perfection का यह स्वभाव ही है अथवा गुण है।

अध्यात्म-विद्या तीन बातों का संशोधन करती है। अपना शरीर, मन, चित्त, बुद्धि, भावना आदि सब मानो एक तत्त्व, जिसे आत्मतत्त्व कह सकते हैं, जीवात्मा भी कहते हैं।

इसकी साधना अथवा विलास के लिए यह सारा, अनन्त, अखण्ड, सनातन विश्व काम में है, यह है दूसरा तत्त्व।

और जिसमें दोनों तत्त्व समाये हुए हैं वह तीसरा तत्त्व है परब्रह्म अथवा परमात्मतत्त्व। जीव, जगत और ब्रह्म— इन तीनों का ज्ञान अथवा सम्पूर्ण अनुभव होने से जीवन कृतार्थ होता है। जीवन का व्यापार अन्धा नहीं रहता।

इसी विषय को लेकर ईशोपनिषद् प्रवृत्त हुआ है। उसके लिए जरूरी वायुमण्डल तैयार करने का काम शान्तिपाठ का है।

(ईशोपनिषद् का प्रथम मंत्र हमने प्रथम प्रकरण में समझाया। उसमें सब-कुछ आ जाता है। उसे समझने के बाद ही शान्तिपाठ का मंत्र समझाना आसान होता है। इसलिए प्रथम मंत्र के बाद शान्तिपाठ को समझाने का व्युत्क्रम हमने किया। अब हम आगे बढ़ेंगे।

४. मोक्ष-समर्थ कर्मयोग का आदेश

(श्लोक-२)

कुर्वन्नेवेह कर्माणि
जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति।
न कर्म लिप्यते नरे।। २।।

अन्वय—इह कर्माणि कुर्वन् एव (नरः) शतं समाः जिजीविषेत्।
एवं त्वयि नरे कर्म न लिप्यते। इतः न अन्यथा अस्ति।। २।

अर्थ—समाः = वर्ष; शतं समाः = पूर्ण आयुष्य।

जिजीविषेत् = जीने की इच्छा करनी चाहिए।

एवं = इस तरह से।

त्वयि नरे = तुझ मनुष्य को।

इतः अन्यथा न अस्ति = इससे भिन्न कोई रास्ता है नहीं।

भारत में प्राचीन काल से जो अनेक आध्यात्मिक पन्थ चलते आए हैं, उनमें एक पन्थ शुरू से कर्मयोग का पूरा विरोध करनेवाला था। वेदकाल में धार्मिक साधना के तौर पर, देव-देवियों की पूजा-अर्चना के रूप में जो कर्म साधना चलती थी उसका विरोध करना एक बात है। (वैसे कर्मों का विरोध करने में आज हम भी शामिल होंगे।) उसकी

बात नहीं; किन्तु तमाम कर्मों को ही मोक्ष के लिए बाधक समझनेवाला एक पन्थ था, जिसका कहना था कि आत्म-साधना अथवा ब्रह्मप्राप्ति केवल ध्यान से ही हो सकती है। वेदान्त-ज्ञान की मदद से आत्मा-परमात्मा को पहचान लो, फिर तो आत्म-चिन्तन और आत्म-ध्यान ही साधना हो सकती है। खाना-पीना, सोना आदि शरीर-धारण के लिए अत्यन्त आवश्यक कर्म तो किये बिना चारा ही नहीं। ऐसे कर्म भी जितना हो सके, कम करके ज्ञानयोग के द्वारा ही मोक्ष-साधना करनी चाहिए। कर्मों को टालना, उनसे बच जाना, यही आत्म-साधना का प्रारम्भ होगा।



ऐसे पन्थ का पूर्ण रूप से विरोध करनेवाले पक्ष के सर्वोत्तम प्रेरक ग्रन्थों में आद्यग्रन्थ है ईशोपनिषद्। इसका कहना है कि जीवन है ही कर्ममय। कर्मों का त्याग न तो हो सकता है और न जरूरी है। जब तक शरीर है, तब तक जीना है, तब तक कर्म करना ही चाहिए। लेकिन कर्म करने की खूबी अगर समझ गए तो कर्म बंधक नहीं होगा। उलटा पूर्ण रूप से जीवन-सिद्धि के लिए, मोक्ष-प्राप्ति के लिए सहायक होगा।

इसलिए इस उपनिषद् ने अपने पहले ही मंत्र में अपना प्रधान सूत्र दे दिया है : 'त्यक्तेन भुंजीथा:।'

तुम्हारे जीवन में जो भी अपनी शक्ति है और जो भी तरह-तरह के साधन उपलब्ध हैं, उन सर्वस्व का उपयोग इन्द्रियों के उपभोग के लिए (सुख मिले, दु:ख टले और इन्द्रियों को पूरा पोषण और सन्तोष मिले इसलिए) न करते हुए दूसरों की सेवा के लिए, दूसरों के दु:ख-निवारण के लिए, और अज्ञान दूर करने के लिए किया जाय। त्याग ही तुम्हारा भोग बन जाय, यह है सच्ची और पूरी जीवन-साधना इस उपनिषद् की।

इसी साधना को अमल में लाते हुए उपनिषद् कहता है कि साधना के प्रारम्भ में, बीच में या अन्त में कहीं भी कर्म का त्याग जरूरी नहीं है। जीना है तो कर्म करते हुए ही जीना चाहिए। अगर सौ वर्ष की पूरी आयु मिलनेवाली है तो आखिर तक कर्म करते रहो और मजे में रहो। यह है इस उपनिषद् का आदेश। केवल सँभालने की एक ही बात है जो इस मंत्र के एवं शब्द में आती है। मंत्र कहता है 'त्वयि नरे (दोनों शब्द सप्तमी के हैं।) कर्म एवं न लिप्यते'— तुझ मनुष्य को इस रास्ते चलने से (एवं) कर्म का लेप नहीं होगा।

'एवं' यानी ''त्यक्तेन भुंजीथा:' सूत्र के अनुसार।

इस सूत्र के अनुसार चलने से कर्म का तुम्हें लेप नहीं होगा। यही बात मन पर जोरों से ठसाने के लिए कोष्ठक में कहा है 'इत: अन्यथा न अस्ति'— हमने यह जो मार्ग बताया उससे भिन्न दूसरा कोई मार्ग, दूसरी कोई सफल साधना है नहीं। कर्म करते-करते ही इस दुनिया में, इस जीवन में सौ वर्ष जीने की इच्छा

और तैयारी रखनी चाहिए।

हम नहीं मानते कि इससे बढ़कर दूसरा कोई इतना दृढ़ वचन हो सकता है। कर्म से न डरो।

शुरू में, बाद में या मोक्ष-प्राप्ति के बाद भी कर्म छोड़ नहीं सकोगे, न उसे छोड़ना जरूरी है। जीवन-साधना में (फल) त्याग की भावना रही, तो तुम पूर्ण रूप से सुरक्षित हो। कर्म का फल छोड़ दो। कर्म करनेवाला मैं हूँ, यह अहंकार भी छोड़ दो। और विश्वात्मैक्य भाव से, संयम की मदद में और सेवा की सफलता में, जो भी कर्म जरूरी हो, उपयोगी हो, उसे करते रहो। यह है इस उपनिषद् का सार्वभौम आदेश।

५. आत्मा का इनकार करनेवाले लोगों की दुर्दशा

(श्लोक-३)

असुर्या (असूर्या) नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के आत्महनो जनाः।।३।।

अन्वय— असुर्या नाम ते लोकाः (ये) अन्धेन तमसा आवृताः
ये के च आत्महनः जनाः ते प्रेत्य तान् (लोकान्)अभिगच्छन्ति।।३।।

अर्थ— **आत्माहनः** = आत्मा का द्रोह करनेवाले। (मानो आत्मा का नाश करनेवाले।)
प्रेत्य = यहाँ से जाकर (मरण के बाद)।
असुर्याः = जहाँ सूर्य-प्रकाश नहीं ऐसे लोक (स्थान)।
आवृताः = घेरे हुए लोको को (स्थानों को)।
अभिगच्छन्ति = पहुँचते हैं।

ऋषि के मन मे ईश और आत्मा एक ही हैं। वे कहते हैं, यह जो सारा विश्व अपने आसपास देखते हो और जिसमें तुम्हारा यह जीवन चलता है उसमें सर्वत्र ईश है। इस मत्य का अनुभव करो, फिर तुम्हें इन्द्रियों को विलास के पीछे ले जाने की बुद्धि नहीं रहेगी, स्वार्थ और अहंकार नहीं रहेंगे। और जो भी तुम्हारा है उसे औरों की सेवा मे, काम में, लानें के आनन्द का (त्याग के आनन्द का) ही उपभोग करो। जो तुम्हारा नहीं है, (और किमी का है,) उसका लोभ तो, किमी गीध की तरह तुम करोगे ही नहीं।

यह सब तब सिद्ध हो सकेगा, जब तुम ईश की अपने हृदय में स्थापना करोगे; ईश और आत्मा एक ही है, इसका भी अनुभव करोगे।

इतना सब कहने के बाद ऋषि कहते हैं, जो लोग आत्मा का ही इनकार करते हैं, आत्मा का राज्य तोड़ते है (ऐसों को तो आत्मघाती, आत्मा की हत्या करनेवाले, आत्महन् कहना चाहिए।)वे तो मरने के बाद ऐसी हीन अवस्था को जा पहुँचेंगे जिनको असूर्य कहा जाता है। और जो अन्धकार युक्त तमोगुण से घिरे हुए (आवृत) हैं।

जो लोग इन्द्रिय-विलास में फँसे रहते हैं, अपना स्वार्थ ही देखते हैं, अपने तुच्छ अहंकार को सन्तुष्ट करना चाहते हैं, वे अपना ही नाश करना चाहते हैं। इसलिए उन्हें आत्महन् कहा है।

चन्द पोथियों में 'असूर्य' शब्द आता है। उसका अर्थ होगा (दैवी नहीं किन्तु) आसुरी सृष्टि। अर्थ में फरक भले हो, भाव तो एक ही है। यही मंत्र अन्य उपनिषदों में जहाँ आया है वहाँ 'असूर्या:' की जगह 'अनन्दा:' शब्द आता है। वहाँ भी तो यही है कि जो लोग मानो आत्महत्या करते हैं, उनको मरने के बाद दैवी लोक नहीं मिलेंगे। आनन्दरहित तमोगुणी लोकों में वे जा पहुँचेंगे।

६. आत्मा के वर्णन में मानो वदतोव्याघात

(श्लोक-४-५)

अनेजदकं मनसो जवीयो।
नंनद् देवा आप्नुवन, पूर्वमर्षत।
तद्धावतोऽ न्यानत्येति तिष्ठत्
तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।४।।
तदेजति तन्नैजति तद्, दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्यास्य बाह्यत:।।५।।

अन्वय— अनेजत् एकम् (तत्) मनस: जवीयस्। (अत देवा:) एनत् न आप्नुवन (पूर्वम् अर्षत्)। तत् तिष्ठत् (अपि) धावत: अन्यान् अति एति। मातरिश्वा तस्मिन अप: दधाति।।४।।

अर्थ—तत् = वह आत्मतत्त्व।
अनेजत् = अचल,स्थिर।
मनस: जवीय: = मन से भी अधिक वेगवान।

न आप्नुवन् = प्राप्त न कर सके।
तिष्ठत् = स्थिर रहते हुए भी।
अति एति = पीछे डालता है।
मातरिश्वा = प्रकृति माता के अन्दर साँस लेनेवाला, प्राण।
अप: = अपनी प्रवृति।
दधाति = धारण करता है, चलाता है।

अन्वय—तद् एजति, तद् न एजति; तद् दूरे, तद् उ अन्तिके;
तद् अस्य सर्वस्य अन्तर्, तद् उ अस्य सर्वस्य बाह्यत: ।।५।।

अर्थ— **एजित** = चलता है, हिलता है।
अन्तिके = नजदीक।
अन्तरस्य = अन्दर के स्थान पर।
बाह्यत: = बाहर की ओर।

अब चौथा और पाँचवाँ ऐसे दो मंत्र साथ लेंगे। आत्मा की उपासना और ईश की उपासना एक ही है। सारे विश्व में ईश को अथवा आत्मा को अखण्ड देखते रहकर त्यागरूप भोग के सत्र के अनुसार आमरण कर्म करते रहना, यह साधना समझाते हुए आत्मा का स्वरूप और उसकी विचित्र कार्यप्रणाली यही समझाने का सफल प्रयत्न इन दो श्लोकों का है। इनकी भाषा चमत्कृति पूर्ण है। यही इनका आकर्षण है। भाव समझना कठिन नहीं है।

इन दो मत्रों में मातरिश्वा और अप इन दो शब्दों का भाव समझने से सब कुछ आसान हो जाता है।

कहते हैं कि ऋग्वेद काल में मातरिश्वा का अर्थ था अग्नि। बाद में उसका हो गया वायु। इस शब्द की व्युत्पत्ति देखनी चाहिए। 'मातरि' मातर् शब्द की सप्तमी है। माता के अंदर (आकाश के अदर) श्वा याने साँस लेनेवाला। विशाल आकाश मे वायु ही साँस लेता रहता है।

अप याना पानी, पानी का प्रवाह। इतना अर्थ करने के बाद आकाश मे वायु जो दौड धूप करता है, वह मानो वायु का प्रवाह है।

इतना समझने के बाद दोनों मंत्र आसानी से स्पष्ट होते हैं।

आत्मा सर्वव्यापी होने से मन चाहे जितना दौड सकती है। (मन तो एक क्षण मे सारी पृथ्वी घूम आयेगा। दूसरे क्षण में स्वर्ग का विस्तार देख आयेगा।) इसलिए हनुमान जैसे को मनोजव— मन की गति से दौडनेवाला कहते हैं।

अब आत्मा अपने स्थान पर स्थिर रहकर भी मन जहाँ जायेगा, उसके भी पार पहुँच जाती है। देव तो सबसे आगे जानेवाले (पूर्व अर्षत्) होते हुए भी आत्मा तक पहुँच नहीं सकते।

अब देव दो प्रकार के होते हैं। आकाश में रहनेवाले सूर्य, वरुण, इन्द्र आदि को भी देव कहते हैं; और आँख, कान नाक आदि हमारी इन्द्रियों को भी देव कहते हैं। ऋषियों का कहना दोनों के लिए लागू है कि ये देव, आत्मा की गति तक पहुँच नहीं सकते। आत्मा अपने स्थान पर रहकर (तिष्ठत्) दौड़ने वाले दूसरे सब तत्त्वों के उस पार पहुँचता है। (अति एति)

इम तरह आत्मतत्त्व जाता है और नहीं जाता। (तद्एजति, तत् न एजति) वह दूर भी है और नजदीक भी है (तत् उ अन्तिके)।

वह आत्मत्त्व इस सारे विश्व के अन्दर भी है। और वही इस सबके बाहर भी है। भाव समझना आसान है। वर्णन में वदतोव्याघात की खूबी है।

७. आत्मैक्य-भावना का फल

(श्लोक-६-७)

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।६।।
यस्मिन्, सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।।७।।

अन्वय—यः तु सर्वाणि भूतानि आत्मनि एव, सर्वभृतेषु च आत्मानम् अनुपश्यति, (सः) ततः न विजुगुप्सते।।६।।

अर्थ—यः = जो व्यक्ति।

अनुपश्यति = सतत देखता रहता है।

न विजुगगुप्सते = जुगुप्सा यानी तिरस्कार नहीं करता है।

अन्वय—यस्मिन् विजानतः (पुरुषस्य) सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूत्, तत्र एकत्वम्, (तम्य) अनुपश्यतः, पुरुषस्य कः मोहः कः शोकः? ।।७।।

अर्थ—विजानतः = जाननेवाले पुरुष के लिए।

(अनुपश्यतः और विजानतः का भाव एक ही है।)

अनुपश्यतः = सतत देखनेवाला ऐमा कर सकते हैं।

एकत्वम् = भृतमात्र और आत्मा की एकना (देखनेवाले को) ये दो श्लोक या मत्र भी साथ लेने हैं। (६ और ७)।

ईश की साधना क्या है और इससे क्या फल मिलता है, यह स्पष्ट शब्दों में इन दो मंत्रों में दिया है।

जो आदमी विश्व के सब प्राणियों को और पदार्थों को अपने अन्दर देखता है और सब प्राणियो के अन्दर अपने को देखता है, उसके द्वारा कभी भी किसी का तिरस्कार नहीं हो सकेगा, निन्दा नहीं होगी।

हम अपने माँ-बाप से जन्म लेते हैं। उनको पसंद करने की बात नहीं है। जन्म से ही वह आत्मीयता बनी है। वे ही माँ-बाप जब अन्य लड़के-लडकियों को जन्म देते हैं तब वे सब हमारे स्वजन बनते हैं। इसी तरह परमात्मा ने यह जो विश्व बनाया है उसके साथ हमारी आत्मीयता बन ही जाती है।

स्वकीयों में कोई बुरे होंगे, कोई अच्छे होंगे। बुरों को प्रेम-सेवा द्वारा हम सुधारेंगे लेकिन उनको पराये मानकर न सजा करेंगे, न उनका त्याग करेंगे। हमारी. आत्मीयता अखण्ड कायम रहेगी। किन्तु आत्मीयता के साथ अलिप्तता भी रहती है आत्मभाव की यह खूबी है। जिस तरह ईश द्वारा सिद्ध पुरुष किसी की जुगुप्सा नहीं करेंगे, उसी तरह किसी के प्रति मोह अथवा शोक भी नहीं रखेंगे। यह है आत्मैक्य-भावना का फल।

ये दो श्लोक कहते हैं: जो आदमी सब भूतों को अपने अन्दर ही देखता है और सब भूतों के अन्दर अपने को देखता है, वह किसी के प्रति जुगुप्सा, घृणा नहीं रख सकता।

यस्मिन् विजानतः— जिस ज्ञानी पुरुष के अन्दर सब प्राणी-मात्र आत्मा ही हो गये (आत्मा एवं अभूत्) वहाँ एकत्व देखने वाले को कौन-सा मोह और कौन-सा शोक हो सकता है, सता सकता है?

८. आत्मज्ञानी का अलिप्त भाव

(श्लोक-८)

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्
अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः
याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।।८।।

अन्वय— इस उपनिषद् में जगत और तिष्ठत् दो शब्द हैं। इनमें जगत यानी जानेवाला, चलनेवाला, बदलनेवाला, क्षणभंगुर (विश्व)।।८।।

और तिष्ठत् यानी जो स्थिर रूप से खडा रहता है, बदलता नहीं। (आत्मा-परमात्मा)।

तिष्ठत् है आत्मा-परमात्मा। जगत है उसका सृष्टिरूप सारा विश्व। इन दो शब्दो को समझने से इस उपनिषद् की रचना स्पष्ट हो जाती है। अब आठवाँ मंत्र लेगे।

शुक्रम् अकायम् अव्रणम् अस्नाविरम् शुद्धम् अपापविद्धम् (ऐसे तिष्ठत् को) म: परिअगात्।

(स: = आत्मा) कवि: मनीषी परिभू: स्वयभृ: (जगत:) अर्थान् शाश्वतीभ्य: समाभ्य:, याथातथ्यत: व्यद्धात्।

अकाय आदि जितने शब्द है ये शुद्ध आत्मा के विशेषण है और सारे के सारे दूसरी विभक्ति के विशेषण होने से उन्हे पर्यगात् क्रियापद के कर्म ममझने से अर्थ सीधा मग्ल हो जाता ह।

अर्थ—शुक्रम् = तेजस्वी।

अकायम् = कायारहित, निराकार, अदेही।

अव्रणम् = जिसको व्रण हो नही सकता। अक्षत, अखण्ड।

अस्नाविरम् = स्नायु इत्यादि मे विरहित। इसलिए शुद्ध निर्मल, निर्दोष।

अपापविद्धम् = पाप म जिसका वेध नही हुआ है, निष्पाप, निर्दोष। ऐसा जो तिष्ठत् है उमी का वर्णन अगले चार शब्दों मे हुआ है।

कवि = दिव्य दृष्टिवाला ज्ञाता, क्रान्तदर्शी।

मनीषी -- मन पर जो काबू रखता है। मन को प्रेरणा देनेवाला।

परिभू: = सबको घर कर बैठा हुआ। व्यापक।

स्वयंभू: = स्वतंत्र, जिसे किसी ने बनाया नही ऐमा।

याथातथ्यत: = (यह क्रियाविशेषण है।) अच्छी तरह से, शुद्ध रूप से।

अर्थान् = सब पदार्थो को, विश्व में पाए जानेवाले सब तत्त्वो को।

व्यदधात् = व्यवस्था की है।

शाश्वतोभ्य: समाभ्य: = (सम का असली अर्थ है वर्ष। यह शब्द इस उपनिषद् में दो बार आया है। ऊपर दूसरे मंत्र में और यहाँ पर। शतं समा: यानी सौ वर्ष यानी सम्पूर्ण जीवन तक।) शाश्वत काल के लिए सदा के लिए टिक सके ऐसी व्यवस्था।

ऐसे आत्मज्ञानी की अपने शरीर के प्रति कैसी दृष्टि रहती है, इस आठवें मंत्र

में बताया गया है।

इसके आखिर में 'समा' शब्द आया है। यही शब्द दूसरे मंत्र में भी आया है। 'शतं समा:' यानी पूरे सौ बरस। यहाँ सौ का अर्थ शब्दश: लेने का नहीं है। सौ बरस यानी जितना भी पूर्ण आयुष्य हो उतना। इसी तरह इस मंत्र में 'शाश्वतीभ्य: समाभ्य:' का अर्थ होता है समस्त, सनातन वर्षो तक, यानी सदा काल तक।

'याथातथ्यत:' यह शब्द स्पष्टीकरण के लिए बाद में बाजू पर लिखा गया होगा और शिष्यो ने उसी क्रम से इस श्लोक में पढ़ने का रिवाज चलाया होगा। ग्यारह अक्षरों के चार चरण थे। 'याथातथ्यत:' ये शब्द आने से वह रचना टूट गई, बिगड गई। लेकिन अब वैसा ही चलाने का रिवाज हो गया है। बोलने में 'याथातथ्यनोऽर्थान् व्यदधात्' इतना बोलकर 'शश्वतीभ्य: समाभ्य:' ऐसा कहकर मंत्र पूरा किया जाता है।

आत्मज्ञानी सारे विश्व को घेर लेता है (परिअगात्)। शरीर में रहते हुए वह मानो शरीर के बिना— अकाय है। उसे कोई व्रण कैसे हो सकता है? उसे तो स्नायु भी नहीं हो सकते। वह शुद्ध है, पाप उसे वेध नहीं सकता।

वह कवि है, यानी नित्य नये अनुभव और नयी नयी कल्पनाएँ प्रगट कर सकता है। वह अपने मन पर काबू रखता है (मनीषी)। वह परि भू भी है और स्वयं भू भी है। यानी अपने आपको जन्म देनेवाला। यानी हमेशा जीनेवाला। परि भू यानी सारे विश्व को घेर कर रहनेवाला।

ऐसा यह आत्मज्ञानी सनातन काल के लिए विश्व के सब तत्त्वों को सँभालता है (व्यदधात्)।

आत्मज्ञानी अपने शरीर पर सब तरह का काबू रखते हुए भी शरीर कैसा भी हो उससे अलिप्त रहता है सारे विश्व के साथ भी उसका वैसा ही अलिप्त ऐक्य का भाव रहता है।

९. चाहिए विद्या-अविद्या दोनों का सहयोग

(श्लोक-९-१०-११)

अन्धं तम: प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रता:।।९।।

अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे।। १०।।
विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।। ११।।

(आठ मंत्रों में ईशोपनिषद् का कहना सब-कुछ आ गया है। अब इसी बात को अगले छह मंत्रों में विशेष स्पष्ट करते हैं। तीन मंत्रों में विद्या को समझाया है और बाद के तीन मंत्रों में सम्भूति को समझाया है।)

अन्वय—ये अविद्याम् उपासते (ते) अन्धं तमः प्रविशन्ति। ये विद्यायाम् रताः ते, ततः भूयः इव तमः (प्रविशन्ति) ।।९।। (सामान्यतया विद्या यानी ज्ञान, अविद्या यानी अज्ञान ऐसा अर्थ इन शब्दों का बनता है। लेकिन यहाँ पर इन शब्दों का विशेष अर्थ किया गया है। अविद्या यानी अध्यात्म को छोड़कर केवल भौतिक सृष्टि का सम्पूर्ण ज्ञान। और विद्या यानी केवल आध्यात्मिक ज्ञान, (जिसमें भौतिक सृष्टि और उसका ज्ञान ध्यान में नहीं लिया गया है)। कहना है कि 'विद्या और अविद्या साथ लेनी चाहिए।" तभी ये तीन मंत्र अच्छी तरह समझे जाते हैं।

अर्थ—भूयः = अधिक।

इव = मान।

तमः = अन्धकार, अज्ञान।

रताः = अभिरुचि रखते हैं।

अन्वय—'विद्यया अन्यद् एव आहुः, अविद्यया अन्यद् आहुः'
इति शुश्रुम धीराणाम् येनः तद् विचचक्षिरे।। १०।।

अर्थ—धीराः = बुद्धिमान लोग।

धी याने बुद्धि, जिसके पास उत्तम बुद्धि है, उसे धीर कहते हैं।

विचचक्षिरे = विस्तारपूर्वक या विशेषतापूर्वक। उन्होंने कहा। उभयं सह।

तद् = सम्पूर्ण आत्मज्ञान।

अन्वय—यः विद्याम् च अविद्याम् च तत् उभयं सह वेद, (सः)
अविद्यया मृत्युम् तीर्त्वा, विद्यया अमृतम अश्नुते।। ११।।

अर्थ—विद्या और अविद्या को एकत्र करके (दोनों के मिलन से) जो सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है, उसे इस श्लोक में 'तद्' कहा गया है।

मृत्युं तीर्त्वा = मृत्यु को पार करके।

सामान्य ज्ञान भी जिसके पास नहीं है उसका जीवन मरण से भी बदतर रहता है। जिसने (आध्यात्म ज्ञानरहित भले हो किन्तु) सारे विश्व का उत्तम भौतिक ज्ञान पाया है, उसे अपने जीवन का सदुपयोग करने की शक्ति मिल ही जाती

है। उसका जीवन व्यर्थ नहीं होगा। (इसी को कहा गया है कि वह मृत्यु पर विजय पाएगा।)

लेकिन जब ऐसे भौतिक ज्ञान की (जिसे उपनिषद् अविद्या कहता है) पराकाष्ठा करके मृत्यु पर विजय मिली उसके साथ जब आदमी आत्मज्ञान से (विद्या) मोक्ष का मार्ग पाता है तब वह अमृत पाता है। यानी उसका सम्पूर्ण जीवन कृतार्थ होता है, जीवन-साधना सिद्ध होती है।

आत्मा जब परमात्मा के साथ एकरूप हो जाती है, तब वही स्थिति है— ब्रह्मप्राप्ति रूप अमृतत्व की।

ये तीन श्लोक साथ लेने ही चाहिए (९, १०, ११)। इसी तरह आगे के भी तीन श्लोक (१२, १३, १४) एक साथ लेने पड़ेंगे।

प्रथम श्लोक में विद्या और अविद्या इन शब्दों का हम खास अर्थ करने जा रहे हैं। बाद में सम्भूति और असम्भूति ऐसे शब्द आयेंगे। उन श्लोकों में असम्भूति की जगह विनाश शब्द भी आ गया है। उनका अर्थ वहाँ देखेंगे।

इन शब्दों का अर्थ करते हुए सब भाष्यकार परेशान हुए हैं। जीवन में अविद्या को भी स्थान हो, अविद्या साथ चले ऐसा जब उपनिषद् कहता है, तो अर्थ करने में कठिनाई उत्पन्न होगी ही। इसमें भी 'अविद्या अन्धकार की तरफ ले जाती है' ऐसा कहने के बाद जब मंत्र बोलता है कि 'अविद्या को छोड़कर जो लोग केवल विद्या के ही पीछे जाते हैं वे अधिक गहरे अन्धकार में फँसने वाले हैं' तब तो हद हो गई। विद्या यानी ज्ञान; और अविद्या यानी अज्ञान। ऐसा सामान्य अर्थ अगर करने जायें तो मंत्रों को समझना, समझाना लगभग अशक्य हो जाता है।

हमारे गांधी विचारवाले तीन-चार लोगों ने इस उपनिषद् पर लिखा है। उन्होंने अपने ढंग से समझाने की पूरी और सुन्दर कोशिश की है।

मैंने अविद्या का बिलकुल दूसरा अर्थ किया है, जो महाराष्ट्र के एक लेखक ने (सातव लेकर जी ने) भी किया है। (उस अर्थ को समझाने के पहले इतनी प्रस्तावना करनी जरूरी मालूम हुई।)

इन तीन मंत्रों में विद्या का अर्थ होता है 'दर्शनशास्त्र के अनुसार जो अध्यात्म-ज्ञान समझाया जाता है वह है विद्या।' और— अविद्या?

'आत्मा-परमात्मा को छोड़कर केवल बाह्य और आंतरिक प्रकृति का जो ज्ञान पाया जाता है (जिसे आजकल सायंस अथवा विज्ञान कहते हैं), वह है अविद्या यानी प्राकृतिक ज्ञान।'

ऐसा अर्थ करने से तीनों मंत्रों का अर्थ बिलकुल साफ और ग्राह्य बनता है।

पश्चिम के विज्ञानवादी भौतिक विज्ञान में (अविद्या में) लोकोत्तर प्रगति कर

चुके हैं। पदार्थ-विज्ञान (फीजिक्स), रसायन शास्त्र (कैमेस्ट्री) समाज-विज्ञान (सोशियोलॉजी) आदि अनेक भौतिक विज्ञान खूब आगे बढ़े हैं। इसके अलावा मनोव्यापार का भी ज्ञान बढ़ा है। यह सब आत्मज्ञान नहीं है, इस वास्ते इसे अविद्या कहा गया है।

इसी के पीछे जो जाते हैं वे दुनियावी लाभ तो खूब उठाते हैं, लेकिन उस विज्ञान से आत्मोन्नति में मदद नहीं होती। सम्पूर्ण जीवनसिद्धि में प्राकृतिक विज्ञानों से अन्तिम मदद नहीं मिलती। इसलिए कहा है : 'जो लोग अविद्या की उपासना करते हैं, वे अन्धे तमस के प्रदेश में पहुँचते हैं।'

फिर कहते हैं (और यही खास समझने की बात है) कि जो लोग जीवन की उन्नति की बात छोडकर केवल आत्मा-परमात्मा की ही दार्शनिक बातें ले बैठते हैं यानी केवल तार्किक अध्यात्म-में रममाण (रता:) होते हैं, वे अविद्या के उपासको से भी ज्यादा तामम, अन्धकार मे प्रवेश करते हैं।

(नवें मत्र का यह अर्थ हो गया। इमे समझने के बाद दसवाँ और ग्यारहवाँ मत्र बिलकुल साफ हो जाता है।)

दसवाँ मंत्र कहता है, 'विद्या के द्वारा जो फल मिलता है वह अलग है। और अविद्या के द्वारा जो फल मिलता है वह उससे भी अलग है।'

ऐमी सारी बाते (तद्) जिन लोगो ने (ये) हमको (न:) समझायी (विचर्चाक्षिरे) ऐसे बुद्धिमान धीर पुरुषो से हमने सुनी हैं। (सस्कृत में धी याने बुद्धि। उसमे जो प्रवीण है उनको धीर कहते हैं।)

(अब ग्यारह मत्र।) नवाँ मंत्र समझने के बाद इसका अर्थ बिलकुल आसान हो जाता है।)

विद्या और अविद्या की जोडी (उभय) एक साथ (सह) य: तद् वेद— जानता है। वह अविद्या के द्वारा प्राकृतिक विज्ञान के द्वारा मृत्यु सागर को तैरकर (मृत्यु तीर्त्वा) विद्या की मदद से (आत्मज्ञान की मदद से) अमृत यानी मोक्ष का (जीवन-सिद्धि का) स्वाद पाता है। अनुभव करता है (अश्नुते यानी खाता है।)

मनुष्य इस सारी सृष्टि को, समाज को और अपने मन तथा शरीर आदि को प्राकृतिक विज्ञान से अच्छी तरह से समझ ले, और बाद मे उस पर विद्या का यानी आध्यात्मिक ब्रह्मज्ञान का प्रभाव पडने दे तब उसका जीवन कृतार्थ होता है। यानी उसे ऐहिक और पारलौकिक दोनों तरह के कल्याण का अनुभवानन्द चखने को मिलता है।

१०. व्यक्ति-विकास और सामाजिकता दोनों का समन्वय इष्ट है

(श्लोक १२, १३, १४)

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ।।१२।।

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात्।
इति शुश्रुमधीराणाम् ये नस्तद् विचचक्षिरे।।१३।।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह।
विनाशेनमृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते।।१४।।

अन्वय—ये असम्भूतिम् उपासते (ते) अन्ध तमः प्रविशन्ति ये उ
संभूत्यां (एव) रताः (ते) ततः भूयः इव तमः प्रविशन्ति।। १२ ।।

"संभवात् अन्यद् एव आहुः, असंभवात् अन्यद् एव आहुः"
इति ये नः तत् विचचक्षिरे (तेषाम्) धीराणां (वयं) शुश्रुम ।। १३।।
संभूतिं च विनाशं च यः तद् उभयं सहवेद (सः) विनाशेन
मृत्युं तीर्त्वा, संभूत्या अमृतं अश्नुते ।। १४ ।।

अर्थ—विद्या अविद्यावाले ऊपर के तीन मंत्र— ९, १०, ११ समझने के बाद सम्भूति, असम्भूति के ये तीन मंत्र समझना आसान होता है।

जिस तरह भौतिक ज्ञान और अध्यात्म ज्ञान दोनो का समन्वय करना है, बुद्धि और भावना, ज्ञान और कर्म, इहलोक और परलोक आदि द्वन्द्वों की एकांगिता दूर करके समन्वय सिद्ध करते हैं और जानते हैं कि वही है जीवन-साधना की अन्तिम सिद्धि। उसी तरह से बुद्धि और हृदय को एक साथ लेने के लिए उपनिषद् कार ने ये दो त्रिक साथ-साथ रखे हैं।

अब मुख्य सवाल हैं, 'असम्भूति' और 'सम्भूति' का अर्थ क्या है? 'सम्भूति' और 'असम्भूति' के अर्थ करनेवालों में एकवाक्यता नहीं है। कोई कहते हैं 'सम्भूति' याने 'लोक संग्रह', कोई कहते हैं 'जीवन विकास', कोई कहते हैं 'संघवाद'।

फिर तो संघवाद के विरुद्ध 'व्यक्तिवाद' ही लेना पड़ता है 'असम्भूति' के अर्थ में।

दूसरे कोई कहते हैं 'सम्भूति' याने संसारी लोगों का सामान्य जीवन। फिर तो

असम्भूति का अर्थ होता है 'घर संसार की जिम्मेदारी टालकर घुमक्कड़ का जीवन जीना।'

श्री विनोबा ने 'सम्भूति' का अर्थ किया है—'विकास' और 'असम्भूति' का अर्थ किया है—'निरोध'

अर्थ चाहे सो करें। सम्भूति याने एकत्र रहना। असम्भूति याने एकत्र नहीं रहना—यह मूल धात्वर्थ को सँभालने का प्रयत्न सभी ने किया है।

आजकल के युग में हम सम्भूति का अर्थ 'सांघिक जीवन' ऐसा ही करें, तो अच्छा होगा। फिर तो असम्भूति का अर्थ करें 'व्यक्तिवाद'। असम्भूति का अर्थ 'जीवन निरोध' करें, या दूसरा चाहे सो अर्थ करें। असम्भूति का अर्थ 'मृत्यु' भी किया जाता है। वहाँ तक जाने की आवश्यकता नहीं है। असम्भूति का अर्थ 'हेतुरहित जीवन' ऐसा किया जा सकता है। किन्तु उससे 'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा' का अर्थ स्पष्ट नहीं होगा।

सबसे बड़ी कठिनाई स्वयं उपनिषद् ने ही पैदा की है। वहाँ 'असम्भूति' की जगह दो बार 'विनाश' शब्द रखा गया है। इस अर्थ के साथ 'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा' का अर्थ करना आसान नहीं है।

सच तो विद्या-अविद्या का मतलब अच्छी तरह बैठाने के बाद जो खूबी ध्यान में आती है, वही खूबी चलाकर 'असम्भूति' को कोई अनुकूल अर्थ करना चाहिए।

और 'सम्भूति' के अर्थ में थोडी एकांगिता लानी चाहिए। हम मानते हैं कि 'सम्भूति' का अर्थ 'संघवाद' करने से उस शब्द का अच्छा अर्थ भी हम लेते हैं, और संघवाद से जो एकांगिता और संकट पैदा होते हैं, उनकी ओर भी ध्यान खींचा जाता है। इसलिए वही अर्थ लेना हम पसन्द करते हैं।

इसी अर्थ को लेकर हम इन तीनो मंत्रों का अर्थ करेंगे।

विद्या अविद्या के तीन मंत्र हमने पूरे किए। अब सम्भूति असम्भूति के तीन मंत्र लेंगे। प्रथम के तीन मंत्रों में हमारे आश्रम-साथियों के अर्थ से एकदम भिन्न अर्थ हमने किए थे। आज इतना तीव्र मतभेद नहीं है, तो भी दोनों त्रिकों के बारे में साथियों को मेरा अर्थ समझाना मेरा कर्तव्य है। विनोबा ने विकास और निरोध ऐसा अर्थ किया है, जब कि जुगतराम भाई ने सम्भूति का अर्थ गृहस्थ-जीवन ऐसा किया है। मैं जो अर्थ बताता हूँ, उससे सब कठिनाइयाँ दूर होती हैं ओर व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी हमारे अर्थ आसान बनते हैं।

सम्भूति का अर्थ हम लेंगे सं यानी एकत्र। भूति यानी होना, रहना। इस तरह सम्भूति का अर्थ होता है सामाजिक जीवन। माता-पिता, बाल-बच्चे, अन्य कुटुम्बी और सारा समाज, यह है सम्भूति।

सम्भूति यानी सामाजिक जीवन।

इसके विरुद्ध असम्भूति का अर्थ होता है, सामाजिक जीवन और उसके कर्त्तव्य को टालकर व्यक्तिगत उन्नति के लिए या विकास के लिए प्रयत्न करना।'

इस तरह के जीवन के लिए इन मंत्रों में विनाश जैसा कड़ा शब्द भी रखा है; क्योंकि पुराने जमाने में एक पक्ष था, जो व्यक्तिगत मोक्ष का ही विचार करके ध्यान, चिन्तन आदि साधना चलाता था; कर्ममात्र बंधक है ऐसा मानकर यथाशक्य कर्म को टालना था और कौटुम्बिक तथा सामाजिक जीवन से विमुख होकर व्यक्तिगत मोक्ष का ही आदर्श रखता था। ऐसे लोगों ने अपने सामाजिक जीवन का विनाश ही कर डाला था।

अब ये तीन मंत्र कहते हैं कि जो लोग केवल ध्यान आदि योग-साधना करते थे और अपने कुटुम्ब की भी जरूरी सेवा छोड़ देते थे, वे अपने जीवन के पूर्ण विकास को खोते थे। उनका जीवन अंधतमस् का तो था ही।

अब जो लोग केवल सामाजिक जीवन को ही महत्त्व देते हैं और व्यक्तिगत उन्नति की साधना छोड़ देते हैं, वे तो और भी बड़े अन्धकार में फँसकर अपने जीवन का विनाश ही करते हैं।

इसका बहुत बड़ा उदाहरण आजकल हम देखते हैं एशिया जैसे साम्यवादी देशों में। वे कहते हैं समाज ही सब-कुछ है, उसी के लिए व्यक्ति को जीना है। समस्त समाज मिलकर जो कुटुम्ब-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था और आंतर-राष्ट्रीय जीवन-रचना तय करे, वही हो हर एक का सम्पूर्ण जीवन। वे आत्मा-परमात्मा को नहीं मानते।

वहाँ समस्त समाज, कम्यून ही सब-कुछ है। ऐसी सम्भूति को लेकर अगर चलें, तो आत्मिक विकास के लिए जगह ही नहीं रहेगी। यह तो घोरतम अन्धकार होगा।

इसलिए सामाजिक जीवन और व्यक्तिगत उन्नति दोनों को मान्य करके दोनों को मिलाकर एक शुद्ध सम्पूर्ण जीवन बने, यह है इस उपनिषद् का हमारा आदर्श जीवन।

विद्या और अविद्या यह ज्ञानविषयक बात थी। सम्भूति और असम्भूति आध्यात्मिक आदर्श को, सामूहिक जीवन को सर्वश्रेष्ठ मानती है। अब ये तीनों मंत्र लेंगे।

जो लोग व्यक्तिवादी बनकर सामाजिकता को छोड़ देते हैं, ऐसे असम्भूतिवाले (सम्भूत्यां रता:) अन्धकारमय तमस में प्रवेश करते हैं, और जो लोग व्यक्तिगत उन्नति की उपेक्षा करते हैं, वे तो पहले की अपेक्षा अधिक बड़े तमोमय अन्धकार में पहुँच जाते हैं। यह सारा प्रकार जिन धीर पुरुषों ने हमको समझाया और देखने की शक्ति दी (ऐसे गुरु के समान) उन धीर पुरुषों से हमने सुना है कि सामाजिकता

का फल अलग है और असामाजिकता का इससे भिन्न फल है।

(सच बात यह है कि) जो मनुष्य सामाजिकता और उसके त्यागरूपी विनाश दोनों को एक साथ जानता है, वह व्यक्तिगत उद्धार के रास्ते मृत्यु-सागर को तैर कर विश्वात्मैक्य भाववाली सामाजिकता से मोक्षरूपी अमृत का (सम्पूर्ण जीवन-विकास का) आस्वाद लेता है, अनुभव करता है।

११. सत्यस्वरूपी परमात्मा के दर्शन की धन्यता

(श्लोक-१५-१६)

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषपानवृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।१५।।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूहरश्मीन् समह।
तेजो यत् ते रूपं कल्याणतमं, तत् ते पश्यामि,
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।।१६।।

अन्वय—हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य मुखम् अपिहितम्।
हे पूषन्! तत् त्वम् सत्यधर्माय दृष्टये अपावृणु।।१५।।

अर्थ—हिरणमय पात्र = सोने का बनाया हुआ ढक्कन। (यह हो गया उसका शब्दार्थ।)

हिरण्मय का सीधा अर्थ है सोने का। कुछ लोग इस शब्द की व्युत्पत्ति बताने के लिए 'हित' और 'रमणीय' दो शब्दो को एकत्र लाते हैं। फिर उसमे बोध लेते है--सुवर्ण दीख पड़ता है हितकारी, लेकिन होता है केवल रमणीय। धन के लोभ से सत्य का दर्शन ढक जाता है और मनुष्य प्रमाद करता है।

अपिहितम् = ढक गया है।

पूषन् = पोषण देनेवाला-- सूर्य अथवा परमात्मा।

अपावृणु - आवरण दूर कर।

सत्यधर्मा - सत्य ही है धर्म जिसका ऐसा मैं। (उसकी दृष्टि की सहूलियत के लिए ढक्कन हटा दो)

अन्वय—पूषन्। एकर्षे। यम। प्राजापत्य। व्यूहरश्मीन, समूह तेजो, यत् ते कल्याणतम रूप तत् (अहम्) पश्यामि। यः असौ, असौ पुरुषः सः अहम् अस्मि।।१६।।

अर्थ—पूषन् = पोषण करनेवाला

एक ऋषि = एकमात्र पूर्ण निरीक्षण करनेवाला।

यम = नियमन करनेवाला।

सूर्य = उत्तम प्रवर्तन करनेवाला (प्रेरणा देनेवाला।)

प्राजापत्य = सारा विश्व उसकी प्रजा होने से उसका पालन करनेवाला।

व्यूह रश्मीन् = अपनी किरणें (रश्मि) फैला दे।

समूह तेजो = अपने तेज को—प्रकाश को एकत्र करो।

असौ, असौ पुरुषः = वह, वह पुरुष जिसे मैं सर्वत्र देखता हूँ, वही मैं हूँ (सः अहम् अस्मि)।

धन-सम्पत्ति के पीछे पड़नेवाले लोग सत्य को अच्छी तरह नहीं पहचान सकते; सत्य यानी जीवन का सत्य। इसलिए साधक सत्यधर्मी होने से भगवान सूर्य से प्रार्थना करता है कि हे पूषन् ! हिरण्मय पात्र से (धन-दौलत से) सत्य का मुख ढका हुआ है। हे पूषन् ! मेरे जैसे सत्यधर्मी के देखने के लिए वह ढक्कन कृपया दूर करो। कितनी सीधी, सुन्दर और निश्चित प्रार्थना है।

यही प्रार्थना इसके बाद के मंत्र में दूसरे ढंग से की गई है। और प्रार्थना सफल होने से साधक (अब वह सिद्ध हुआ है।) धन्यता से कहता है कि जो विश्व का रहस्य परमात्मा के रूप में मैंने देखा, वही पुरुष मैं हूँ।

इस उपनिषद् के मंत्र किसी-न-किसी त्रिष्टुभ छन्द के हैं। और इनमें भी मंत्रद्रष्टा बीच में कुछ डाल ही देता है। (आठवें मंत्र में 'याथातथ्य तो' डाला था।)

यह सोलहवाँ मंत्र अगर सुन्दर ढंग से बोलना है तो छंद को एक ओर रखकर उसे गद्य के जैसा बोलना चाहिए। सबसे पहले पूषन्, एकर्षे, यम, सूर्य, प्रजापत्य, ये पाँच सम्बोधन एक साथ बोलकर उसके बाद 'व्यूहरश्मीन्' और 'समूह तेजो' ये दो आज्ञार्थी प्रार्थनाएँ बोलनी चाहिए। उसके बाद चौदह अक्षरों का एक वाक्य बोल लेना चाहिए। 'यत् ते रूपं कल्याणतमं तत्पश्यामि।'

इस तरह तीन पंक्तियाँ पूरी होने के बाद धन्य होकर आखिरी शुद्ध पंक्ति बड़े वक्तृत्व के साथ, अभिनय के साथ बोलनी है : 'यो, असौ, असौ पुरुषः सो अहम् अस्मि।'

इस मंत्र में सूर्य के लिए पाँच सम्बोधन हैं। पोषण देनवाले पूषन्। प्रेरणा देनेवाले एकर्षे। इन्द्रियों को काबू में रखनेवाले यम। प्रकाश देनेवाले सूर्य। और समाज का नेतृत्व करनेवाले प्रजापत्य।

उससे प्रार्थना की गई है कि भगवान, आप अपनी किरणें (रश्मीन्) फैला दो (व्यूह)। और अपना तेज एकत्र करो (समूह) ताकि मैं तुम्हारा जो अत्यन्त कल्याणकारी

(कल्याणतम) रूप है वह देख लूँ।

विश्व कल्याणकारी परमात्मा का रूप देखते ही उत्साह में आकर भक्त कहता है: वह, वह (असौ, असौ) जो पुरुष मैं देखता हूँ, वही मैं हूँ।

इससे अधिक धन्यता क्या हो सकती है?

१२. भगवान हमें पाप से बचाकर उन्नति के रास्ते ले जाएँ

(श्लोक-१७-१८)

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर, कृतं स्मर; क्रतो स्मर, कृतं स्मर।। १७ ।।
अग्ने नयसुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउर्क्तिं विधेम।। १८।।

अन्वय—वायूर् अनिलम्। अथ इदम् अमृतं। शरीरम् भस्मान्तम्। •
ॐ क्रतो; स्मर; कृतं स्मर; क्रतो स्मर; कृतं स्मर।। १७ ।।

अर्थ—वायुः = हमारा प्राण।
अनिल = विश्वव्यापी चैतन्य।
इदं = आत्मतत्त्व।

वह तो अमृत है। मरने के बाद शरीर को जलाते हैं। उसकी भस्म ही हो जाती है। इसलिए हे क्रतो! कर्म मय जीवन का संकल्प करनेवाले हे मेरे जीव! अपना संकल्प याद कर। आज तक किया हुआ सब-कुछ (कृतं) याद कर। जो मन से किया, वाणी से किया और आचरण द्वारा किया—तीनों को अलग ढंग से याद करने की सूचना देने के लिए ऋषि यह आज्ञा तीन बार देते हैं।

अन्वय—हे अग्ने! अस्मान् राये सुपथा नय। हे देव! (त्वं)
विश्वानि वयुनानि विद्वान्। अस्मत् जुहुराणम् एनः युयोधि।
(वयं) ते भूयिष्ठां नम उक्तिं विधेम ।। १८ ।।

अर्थ—राये = कल्याण के लिए।
सुपथा = अच्छे रास्ते से।
वयुनानि = घटनाएँ।
विश्वानि = तमाम

विद्वान् = तुम जानते हो।
जुहुराणम् = टेढ़ा-मेढ़ा।
एनः = पाप।
युयोधि = लड़ लें, दूर करें, हटा लें।
नम उक्तिं = नमस्कार।
भूयिष्ठाम् = अनेकानेक, तरह-तरह की।
विधेम— बनाते हैं।

अब इस उपनिषद् के आखिरी दो मंत्र रहे। कोई कहते हैं कि १७ वें मंत्र के साथ हो यह उपनिषद् पूरा होता है। १८वाँ मंत्र वेद में से ही अन्तिम आशीर्वाद के रूप में जोड़ दिया है।

जो भी हो, ये दो मंत्र कहते हैं कि हमारा प्राणवायु सारे विश्व की वायु के साथ एकरूप हो जाए। (वायुः अनिलं) हमारा आत्मतत्त्व अमृत है। अथ इदं (आत्मतत्त्व) अमृतं।

और शरीर को तो आखिरकार मरने के बाद हम जला देते हैं। तब भस्म ही बाकी रहती है। (शरीरं भस्मान्तं)

इसलिए 'संकल्प करके उसके अनुसार कर्म करनेवाले हे पुरुषार्थी साधक' (क्रतो) भगवान की की हुई इस विश्व-रचना को (कृतं स्मर) याद रखो।

(उपनिषद् पूरा हुआ इसलिए प्रथा के अनुसार यह अन्तिम सूचना दो बार दी है।)

अब आता है अन्तिम मंत्र। इसमें आत्मतत्त्व को ही अग्नि कहा है। क्योंकि अग्नि के द्वारा हम आत्मतत्त्व को जागृत करते हैं।

यह मंत्र कहता है (दूसरी पंक्ति हम प्रथम लेंगे।) हे देव अग्ने! तुम सारी रचनाएँ (विश्वानि वयुनानि) जानते हो (विद्वान्)। इसलिए तुम हम लोगों को (अस्मान्) हमारे कल्याण के लिए (राये) अच्छे रास्ते से ले चलो। (सुपथा नय)।

अन्त में यह मंत्र अग्नि से प्रार्थना करता है कि हमारे टेढ़े-मेढ़े पाप (अस्मत् जुहुराणं एनः) से लड़कर उनका नाश करो (युयोधि) हम लोग तुम्हारे लिए (ते) अनेक तरह के नमस्कार के वचन (भूयिष्ठां नम उक्तिं) (विधेम) चलायेंगे।

इस तरह से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण यह ईश उपनिषद् पूरा होता है। इसके बाद शान्तिपाठ पूरा बोलकर उपासना पूरी की जाती है।

१३. ईशावास्य उपनिषद्

(नित्यपाठ तथा अर्थ)

ईशावास्य उपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पुर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

हरिःॐ

ईशावास्यमिदं सर्वम्,
यत्किंच जगत्यां जगत।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः
मा गृधः कस्य स्विद्धनम ।। १ ।।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि
जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोअस्ति
न कर्म लिप्यते नरे ।। २ ।।

असुर्या (असूर्या) नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।। ३ ।।

अनेजदेकं मनसो जवीयो
नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोअन्यानत्येति तिष्ठत्
तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।४।।

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरम्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।।५।।

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।। ६ ।।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ।। ७।।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्
अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः
याथातथ्यतोअर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।।८।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।। ९ ।।

अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे।। १०।।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाअमृतमश्नुते।। ११ ।।

अन्धं तमः प्रविशन्ति
येअसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो
य उ संभूत्यां रताः ।। १२ ।।

अन्य देवाहुः संभवाद
अन्यदाहुर संभवात् ।।
इति शुश्रुम धीराणाम्
ये नस्तद् विचचक्षिरे ।। १३ ।।

संभूतिं च विनाशं च
यस्तद् वेदोभयं सह।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा
संभूत्यामृतमश्नुते ।। १४ ।।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।। १५।।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य वयूहरश्मीन् समूह
तजो, यत् ते रूपं कल्याणमं, तत् ते पश्यामि,
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ।। १६ ।।

वायुरनिलममृतमथेदं
भस्मान्तं शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर, कृतं स्मर;
क्रतो स्मर, कृतं स्मर ।। १७ ।।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ।। १८ ।।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

ईशोपनिषद् का अर्थ

शान्ति पाठ

ॐ वह परब्रह्म पूर्ण है। यह मेरा आत्मतत्त्व भी पूर्ण है। उसी पूर्ण में से यह पूर्ण पैदा हुआ है। उस पूर्ण में यह पूर्ण रखें या निकाल देवें तो फलित रहेगा पूर्ण ही।

शान्तिः शान्तिः शान्तिः

(१) इस जगत में याने इस दुनिया में जो कुछ रोज बदलता हुआ तत्त्व है यह सारा ईश याने भगवान याने परब्रह्म से भरा हुआ है। (यह पहचान लेना।) फिर तो किसी के धन का गीध की तरह लोभ नहीं करना। उलटा सब कुछ दे देना। दान में देना या जगत की सेवार्थ काम में लाना, यही उपभोग करने का उत्तम प्रकार है, ऐसा समझना चाहिए।

(२) (कर्ममात्र बन्धक है, ऐसा देखकर चन्द लोग सब कर्मों का त्याग करते हैं। यह ठीक नहीं है।) इस दुनिया में, अपने जीवन में सौ वर्षों तक याने सम्पूर्ण आयु कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा करनी चाहिए। यही तेरे लिए धर्म है। बताये हुए ढंग से जीते हुए मनुष्य को कर्म का लेप नहीं होता। (चिपकाती है फलों की वासना। निष्काम कर्म चिपकते नहीं।)

(३) जो लोग आत्मतत्त्व की हत्या करते हैं याने उसका इनकार करते हैं अथवा उपेक्षा करते हैं, ऐसे लोग मृत्यु के बाद अन्धतम याने आत्मप्राणरहित अन्धी दुनिया में प्रवेश करते हैं। (जहाँ सूर्य नहीं, परमात्मत्त्व नहीं, उस परिस्थिति को असूर्य ही कहना चहिए।)

(४) यह आत्मतत्त्व है तो एक। उसे कहीं आना-जाना है नहीं। तो भी मन से वह अधिक वेगवान है। स्वर्ग के देव उसे प्राप्त नहीं कर सके। उल्टा उसी ने ही सब देवों को घेर लिया। वह आत्मतत्त्व स्वयं स्थिर रहकर दौड़नेवाले सब तत्त्वों को घेर लेता है। प्रकृति की गोद में खेलनेवाले प्राण उसी के बल पर अपनी प्रवृत्ति चलाते हैं।

(५) यह प्राणस्वरूप आत्मतत्त्व चलता है और तब भी नहीं चलता है। वह दूर है और तब भी बिल्कुल नजदीक है। वह आत्मतत्त्व इस सारे विश्व के अन्दर भी है और इस सारे विश्व के बाहर भी स्वतंत्र रूप से उपस्थित है।

(६) जो साधक सिद्ध होकर सब भूतमात्र को अपनी आत्मा के अन्दर ही देखता है और अपनी आत्मा को इन सर्व भूतों के अन्दर देखता है वह फिर किसी भी हालत में परेशान नहीं होता।

(७) जिस ज्ञानी पुरुष के अन्दर सब भूतमात्र, यानी यह विश्व आत्मरूप हो गया ऐसे सर्वत्र ऐक्य देखनेवाले आदमी के लिए मोह कहाँ होगा? और शोक भी किसका होगा?

(८) ऐसा सिद्ध पुरुष तेजस्वी, देहरहित, व्रण आदि देह-दोषों से मुक्त और स्नायु आदि अवयवों से मुक्त पूर्ण रूप से अलिप्त और पापों के घेराव से मुक्त हुआ अपने आत्मतत्त्व को पा बैठा है। वह कवि याने क्रांतदर्शी मन का स्वामी विश्वव्यापी और स्वतंत्र होकर चिरकाल के लिए (शाश्वत

वर्षो के लिए) सब प्रकार के उद्देश्यों को योग्य ढंग से प्राप्त कर बैठा है।

अब साधनासिद्धि समझाते हैं—

(९, १०, ११) 'विद्या यानी आत्मज्ञान' और 'अविद्या यानी अनात्मरूपी जड़ सृष्टि का ज्ञान।' ऐसी दो व्याख्याएँ बना कर कहते हैं, जो लोग आत्मतत्त्व को छोड़कर जड़ सृष्टि की उपासना करते हैं वे अन्ध तम में, गाढ़े अँधेरे में पहुँच जाते हैं। और जो लोग इस सारे विश्व की उपेक्षा करके केवल आत्मविद्या को ही ले बैठते हैं, वे तो उससे भी अधिक गहरे अन्धकार में प्रवेश करते हैं। इसीलिए कहा गया है कि विद्या का फल अलग है और अविद्या का फल अलग है। जिन बुद्धिमान धीर पुरुषों के पास से हमने यह दर्शन प्राप्त किया उन्हीं के मुँह से हमने ये बातें सुनी हैं। इसलिए जो आदमी विद्या और अविद्या (आत्मज्ञान और भौतिकज्ञान) दोनों एकत्र करके समझ लेते हैं वे भौतिक विज्ञान के द्वारा मृत्यु पर विजय पाकर आत्म विद्या के बल पर अमृतत्त्व पाते हैं। मोक्षसिद्धि उन्हें मिलती है।

सम्भूति याने एकत्र रहने का सामाजिक जीवन। ऐसे जीवन की उपेक्षा करके, उसका नाश करके जो लोग केवल जड़ तत्त्व को ले बैठते हैं उनके बारे में तीन श्लोकों में कहा है।

(१२) जो लोग व्यक्तिगत जीवन की उपासना करते हैं वे अन्धतम में प्रवेश करते हैं। इससे उलटा जो लोग सम्भूति याने केवल सामाजिक जीवन में ही रामायण होते हैं वे उससे भी गहरे अन्धकार मे प्रवेश करते हैं।

(१३) जिन लोगों ने यह सारा रहस्य हमें दिया ऐसे धीर यानी बुद्धिमान लोगों से हमने सुना है। सामाजिक जीवन का फल अलग है और असामाजिक जीवन का फल अलग है।

(१४) जो लोग सामाजिक जीवन और असामाजिक व्यक्तिगत जीवन दोनों को एकत्र करके समझ लेते हैं वे असम्भूति से मृत्यु पर विजय प्राप्त करके सम्भूति के द्वारा अमृत प्राप्त कर लेते हैं।

अब आखरी चार श्लोकों में सारी साधना समझाते हैं।

(१५) धनसम्पत्ति जैसे सोने के ढक्कन से सत्य का स्वरूप ढका हुआ है। हे विश्वपोषक प्रभो! कृपया वह ढक्कन मेरी दृष्टि के लिए दूर करो। क्योंकि मैं सत्यधर्मी हूँ। सत्यधर्मी को सत्य का दर्शन होना ही चाहिए। सम्पत्ति का ढक्कन दूर होना ही चाहिए।

(१६) भगवान सूर्य को पूषन् कहते हैं। उसी से प्रार्थना की है।

हे पूषन्! तुम विश्व का पोषण करनेवाले हो। सर्वश्रेष्ठ ऋषि हो। विश्व का नियमन करनेवाले यमराज हो। समस्त प्रजा के अधिपति सूर्य हो। तुम्हारी किरणें

खोल दो और तुम्हारा तेज एकत्र करो, ताकि तुम्हारा जो अत्यन्त कल्याणकारी स्वरूप है वह मैं देख सकूँ। यह जो पुरुष मैं देख रहा हूँ वही मैं हूँ।

(१७) मेरा प्राण उस चैतन्यरूपी अमृतत्व के साथ एकरूप हो जाय। फिर तो शरीर की राख ही बनाने की बात रहेगी। कर्म करनेवाले हे मेरे जीवात्मा! अपने सब कर्मों को याद करो। हे कर्मकारी जीवात्मा अपने सब कर्मों को याद करो। (कर्मों से मुक्त होकर विश्वात्मैक्य भाव को ही प्राप्त करोगे।)

इसलिए अन्तिम प्रार्थना होगी—

(१८) हे अग्ने! यानी प्रकाश देनेवाले परमात्मा, हमें कल्याण की तरफ ले चलो। टेढ़े मार्ग पर ले जानेवाले पाप तुम जानते हो। उनके साथ लड़ो। तमाम घटनाएँ तुम जानते हो। हमें अच्छे रास्ते पर ले चलो। हम बार-बार तुमसे प्रार्थना करते हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

❒

उपनिषदों का बोध

प्रकाशकीय

इस पुस्तक के विद्वान लेखक से हिन्दी के पाठक भली-भाँति परिचित हैं। उनकी कई पुस्तकें 'मण्डल' तथा अन्य प्रकाशकों द्वारा निकली हैं। सभी पुस्तकों का देश के कोने-कोने में स्वागत हुआ है और उनसे असंख्य पाठकों ने प्रेरणा प्राप्त की है। उनमें से दो पुस्तकें तो बहुत ही लोकप्रिय हुई हैं: १ 'परमसखा मृत्यु' में लेखक ने मृत्यु को देखने की नयी दृष्टि प्रदान की है और २. 'प्रकृति का संगीत' में उन्होंने प्रकृति का इतना सजीव और कलापूर्ण वर्णन किया है कि कोई कवि भी वैसा वर्णन शायद ही कर सके।

काकासाहेब का अध्ययन बड़ा विशाल और बड़ा गहन था। उनकी रुचि अत्यन्त व्यापक थी। वह मौलिक चिन्तक थे। उन्होंने जो कुछ पढ़ा उसे आत्मसात किया। यही कारण है कि वे पुस्तकों में निहित ज्ञान को जीवन के साथ जोड़ते थे और जीवन को समृद्ध बनाने के लिए उस ज्ञान का भरपूर उपयोग करते थे। इसी से उनका साहित्य जहाँ ज्ञान की दृष्टि से मूल्यवान है, वहीं वह जीवन-निर्माण की दृष्टि से भी अत्यन्त उपादेय है।

काकासाहेब ने सारे भारत का एक बार नहीं, अनेक बार भ्रमण किया। इतना ही नहीं, संसार का कोई भी देश ऐसा नहीं है, जहां काकासाहेब न गये हों। जापान तो सम्भवतः छः बार हो आये थे।

कहने की आवश्यकता नहीं कि देश-विदेश के भ्रमण में उन्हें जो अनुभव हुए, उनको उन्होंने अपने तक ही सीमित नहीं रखा। लेखों तथा पुस्तकों के द्वारा पाठकों को भी उनमें भागीदार बनाया है। उनके प्रवास-वृत्तान्त इतने रोचक और शिक्षाप्रद हैं कि उन्हें बार-बार बढ़ने को जी चाहता है।

प्रस्तुत पुस्तक में मनीषी लेखक ने उपनिषदों के कुछ चुने हुए वचनों को लेकर बड़ी ही सरल एवं सुबोध भाषा में उनका सार पाठकों को दिया है। उपनिषदों का भंडार बड़ा ही समृद्ध है। उनमें से लोकोपयोगी विचार छाँटना आसान काम नहीं है। काकासाहेब ने इस कठिन काम को बड़ी खूबी के साथ किया।

पुस्तक इतनी उद्बोधक है कि पाठक उसे एक बार पढ़कर पटक नहीं

सकेंगे। हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि इसे जो भी मनोयोगपूर्वक पढ़ेगा, उसे अवश्य लाभ होगा, वैसे भी ज्ञान के सागर में व्यक्ति जितना गहरा गोता लगाता है, उतने ही अनमोल रत्न उसके हाथ लगते हैं।

—यशपाल जैन

भूमिका

भारतीय धर्म-साहित्य का प्रारम्भ वेदों के द्वारा हुआ। आज हमें चार या पाँच वेद उपलब्ध हैं, ऋग्वेद, कृष्णयजुर्वेद, शुक्लयजुर्वेद, मामवेद और अथर्ववेद।

इन्हीं वेदों की पुष्टि के लिए आरण्यक और ब्राह्मण ग्रन्थ बनाये गये।

इस सारे साहित्य में से मनुष्य-जीवन के और उसके आसपास के विश्व के रहस्य की बात जिसमे आती है, ऐसे तात्त्विक साहित्य को उपनिषद् कहते हैं। यह माहित्य वेद साहित्य के बाद आता है और उसमें वैदिक चिन्तन की परिपूर्ति होती है। इमलिए इस अन्तिम तात्त्विक परिपूर्ति रूप साहित्य को वेदान्त कहा जाता है। इम साहित्य में भारतीय चिन्तन की पराकाष्ठा पायी जाती है।

इस साहित्य में जो तत्त्वज्ञान उपलब्ध है, उमे व्यवस्थित रूप दिया ब्रह्मसूत्रों ने। ऐसे वैदिक साहित्य की व्याख्या करनेवाले को वेदव्यास कहा जाता है। व्यास याने व्यवस्था करनेवाला।

वेदव्यास का असली नाम है कृष्ण द्वैपायन। बाद में अनेक लेखकों ने 'व्याम' नाम लेकर ही विशाल ग्रंथो की रचना की। उम पौराणिक साहित्य में एक तरह की एकता अनुस्यूत है। इमलिए एक ही व्यास की यह सागी रचनाएँ हैं, ऐमा एक भोला विचार लोगो में प्रचलित है।

पोराणिक माहित्य का प्रारम्भ रामायण-महाभारत से हुआ, जिसमें उत्तमोत्तम काव्य है, ममाज-व्यवस्था का चित्र है। लोक कथाओ का तो वह भंडार ही है ओग तत्त्वज्ञान के विकास की श्रेणियाँ भी उनमें पायी जाती हैं। हजारों वर्षो की लोककथाएँ और देव-देवियां की उपामना के प्रकार इस पौराणिक साहित्य में संग्रहीत हे। भारतीय संस्कृति के प्राचीन युग के सब अंग इन ग्रन्थो में पाये जाने है। इमीलिए एक कहावत रूढ हो गयी 'व्यासोच्छिष्टम् जगत् मर्वम्।'

व्याम के महाभारत में भगवद्गीता नाम का एक प्रकरण संवाद के रूप में पाया जाता है। एक प्राचीन श्लोक कहता है :

सर्वोपनिषदो गावो, दोग्धा गोपाल-नंदनः
पार्थो वत्सः सुधीर भोक्ता दुग्धम् गीतामृतं महत्।

गीता में सब उपनिषदो का सार तो है ही, किन्तु उपनिषद् का ज्ञान कैवल्य प्राप्ति के लिए सारा समाज कैसे काम में यह भी गीता ग्रंथ ने बताया है इसलिए उसे जीवन योग कहना होगा। व्यक्ति की, समाज की, और मोक्ष का आदर्श मान्य करने वाले 'मुमुक्षु-समाज' की जीवन-साधना कैसी होनी चाहिए, यह गीता ने बताया है।

इसलिए प्रधान दस, बारह, अठारह, बत्तीस या एक सौ आठ उपनिषदों का संग्रह, यह पहली मदद। ब्रह्मसूत्र दूसरी और भगवद्गीता तीसरी। इन तीनों को 'प्रस्थानत्रयी' कहते हैं। अपने जीवन को मोक्ष की, ब्रह्मप्राप्ति की यात्रा पर ले जाना है, इसमें मददरूप ये तीन ग्रन्थ हैं। इसलिए उन्हें प्रस्थानत्रयी कहते हैं।

उपनिषद्-साहित्य में से चुने हुए वचनों का हमने इस पुस्तक में चिन्तन किया है। इस चिन्तन में भगवद्गीता की चर्चा बार-बार आयी है। गीता ने अपना सारा दूध उपनिषदों से लिया है। अब उपनिषदों का अर्थ, उनकी प्रेरणा और उनके सिद्धांत समझने के लिए गीता ग्रंथ एक अत्यंत मूल्यवान भाष्य ही है। उपनिषदों ने जो ज्ञान दिया, उसी को जीवन मे उतारने की कला (योग) को हम जीवन-योग कहते हैं। स्वयं गीता ने ही कहा है, "योग कर्मसु कौशलम्।" इसी पर से हमने सूत्र चलाया है : "योगः जीवन-कौशलम्।"

उपनिषदों का यह सर्वोपरि माहात्म्य देखकर बाद के लोगो ने अनेक छोटे-बडे उपनिषद् तैयार किये, जिनकी कुल संख्या दो सौ से भी अधिक होगी। लेकिन तत्त्व-चिन्तन में प्रेरणा देने वाले उपनिषदों की संख्या बारह-पन्द्रह से अधिक नहीं है। इन्हीं मे से चन्द वचन हमने चुने है और उन्हीं का विवेचन-चिन्तन साधना के रूप म किया है।

इस सारे अध्ययन का सार यह है कि हमारा शरीर, उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और उनसे काम लेने वाले मन, बुद्धि और अहंकार है। इन सबमें सर्वश्रेष्ट प्रेरक तत्त्व आत्मा है।

यही आत्मा सब मनुष्यो में, सब प्राणियों में और समस्त विश्व में फैला हुआ है। इसलिए इसे परमात्मा कहते हैं और जिस विशाल सृष्टि में यह परमात्म-तत्त्व अपनी लीला अनुभव करता है, उसी को कहते हैं विश्व।

आत्मा (जीवात्मा), परमात्मा (विश्वात्मा) और यह सारा विश्व इनका आपस में सम्बन्ध कैसा है, जीवन का हेतु क्या है, इसे सिद्ध करने की साधना क्या हो सकती है, यह सब विविध रूप में समस्त उपनिषदों में दिया है। इस भूमिका को ध्यान में रखकर उपनिषदों के बोधों को हम स्वीकार करें ओर उसमें बतायी हुई आत्मसाधना (जीवन-साधना) को आजमाने का प्रयत्न करें।

—काका कालेलकर

१. औपनिषदिक शिक्षा-क्रम

छान्दोग्य उपनिषदों की सत्यकाम जाबाल की कहानी सब जानते हैं। जब वह शिक्षा प्राप्त करने के लिए गुरु के घर गया तब गुरु ने उसका गोत्र पूछा। सत्यवादी शिष्य ने सीधा जवाब दिया, "मेरा गोत्र जब मेरी माँ ही नहीं जानती तो भला मैं कैसे बताऊँ ?" "ऐसा सत्यवादी लड़का ब्राह्मण ही हो सकता है," यों कहकर गुरु ने उसको यज्ञोपवीत की दीक्षा दी और आश्रम की खेती उसको सौंप दी। सत्यकाम ने ढोर, पक्षी और अग्नि से सारा ज्ञान प्राप्त किया और गुरु ने उसके ज्ञान को कसकर उसको 'ब्रह्मवेत्ता' की उपाधि दी। बाद में सत्यकाम आचार्य हुआ।

ब्रह्मचारी कमल-पुत्र उपकोसल आचार्य सत्यकाम जाबाल के पास ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए बारह साल तक रहा। उसने गुरु के घर में अग्नि देव की सेवा की। बारह साल बीतने के बाद गुरु ने दूसरे सब विद्यार्थियों को उत्तीर्ण किया और घर वापस जाने की आज्ञा दी। केवल उपकोसल को आज्ञा नहीं मिली। वह बेचारा सिफारिश के लिए गुरु-पत्नी के पास गया। गुरु-पत्नी ने आचार्य से कहा :

"बेचारे ब्रह्मचारी ने हमारे अग्नि की बारह साल तक खूब सेवा की है। अब उसको ब्रह्मज्ञान दे दीजिये। इतनी सेवा करने के बाद भी अगर आप उसको ज्ञान नहीं देंगे तो अग्नि देव ही नाराज होंगे।"

आचार्य ने कोई जवाब नहीं दिया और वे कहीं बाहर चले गये।

इधर दुखी ब्रह्मचारी ने अनशन शुरू किया। आचार्य-पत्नी ने पूछा, "बेटा, खाना क्यों नहीं खाते ? कुछ तो खा लो !"

ब्रह्मचारी ने जवाब दिया, "मनुष्य की कई इच्छाएँ होती हैं। ऐसी ही एक इच्छा की व्याधि से मैं पीड़ित हूँ। इसलिए नहीं खाता।"

उसने फिर से दृढ़ता के साथ अग्नि की ध्यानपूर्वक सेवा की। आखिरकार अग्नि सन्तुष्ट हुए। उन्होंने सोचा, "इस ब्रह्मचारी ने हमारी उत्तम सेवा की है, तो लो, हम प्रकट होकर उसको ज्ञान दे दें।"

फिर गार्हपत्य अग्नि, अन्वाहर्यपचन अग्नि और आध्वनिक अग्नि ने प्रकट होकर

अपना व्यापक स्वरूप और इस विश्व में समाहित तत्त्व का ज्ञान कराया। दुनिया में अनन्त तत्व ही सुख है, यह बताकर कहा, "हमने यह आत्मविद्या तुम्हें बता दी। आगे का मार्ग तो गुरुगम्य है। आचार्य ही तुम्हें बतायेंगे।"

आचार्य सत्यकाम जब घर लौटे तब उपकोसल को देखते ही उसके मुखश्री पर से उन्होंने पहचान लिया कि शिष्य अब पहले के जैसा नहीं रहा है। बोले, "अरे ! तुम्हें तो ज्ञान प्राप्त हुआ मालूम होता है ! किससे प्राप्त किया ?" उपकोसल ने तीनों अग्नि के साक्षात्कार की बात कही। गुरुजी सन्तुष्ट होकर कहने लगे, "अग्नि ने तुम्हें सब लोकों का ज्ञान दे दिया है। अब मैं तुम्हें ब्रह्मज्ञान बताता हूँ।"

गुरु से ब्रह्मविद्या प्राप्त कर, कृतार्थ होकर, शिष्य ने विदाई ली।

यूनान में शिष्य को प्रथम पदार्थ विज्ञान (फ़िज़िक्स) पढ़ाकर बाद में दर्शन या तत्त्वज्ञान पढाया जाता था। सत्यकाम जाबाल और उसके शिष्य उपकोसल की कहानी से औपनिषदिक शिक्षा का भी यही क्रम मालूम होता है। पहले ढोर, पशु, पक्षी, अग्नि आदि का लौकिक ज्ञान अपने प्रयत्न से, निरीक्षण, परीक्षण से और प्रयोग के द्वारा प्राप्त करने के बाद ही गुरु औपनिषदिक विद्या यानी ब्रह्मज्ञान देते थे।

२. मेघगर्जना क्या सुनाती है ?

एक सुन्दर कथा (या गुरु-शिष्य प्रश्नोत्तरी) बृहदारण्यक के पाँचवे अध्याय के प्रारम्भ मे मिलती है।

प्रजापति सचमुच सब तरह की प्रजाओं का पिता ही होता है। देव, मनुष्य और असुर तीनो प्रकार की प्रजा उसी की सन्तति होती है।

एक दफा देव, मनुष्य और असुर मिलकर प्रजापति के पास गये। नियम के अनुसार शिष्य-धर्म का पालन करने के लिए उन्होंने ब्रह्मचर्य-व्रत को स्वीकार किया, तब सवाल पूछने का अधिकार उन्हें प्राप्त हुआ।

प्रथम देव प्रजापति के पास गये और उन्होने कहा, "आप हमें उपदेश दीजिये, यानी हमारा प्रधान जीवनधर्म क्या है, सो समझा दीजिये।"

प्रजापति ने प्रसन्न-गंभीर होकर उपदेश में एक ही अक्षर सुनाया 'द'। देव सन्तुष्ट हुए। प्रजापति ने तब पूछा, "क्या समझे हो ?" विलासी देवों ने अन्तर्मुख होकर 'द' का अर्थ समझ लिया था। उन्होंने कहा, "आपने हमें आदेश दिया है, दाम्यत यानी दमन करो। इन्द्रियों का दमन करो। वासना पर विजय पाकर मोक्ष के योग्य हो जाओ।" प्रजापति ने प्रसन्न होकर कहा, "बहुत अच्छा, तुम लोग ठीक

समझ गये। मेरा आदेश वही था।''

बाद में मनुष्य प्रजापति के सामने खड़े हुए। उन्होंने वैसी ही याचना की कि हमें हमारा जीवनधर्म समझा दीजिये। प्रजापति ने वही आदेश सुनाया 'द'। मनुष्य को सन्तोष हुआ। ''तुम क्या समझे ?'' ऐसा प्रश्न पूछने पर लोभी मनुष्य ने कहा, ''हम तो लेने के आदी हैं। जो मिला सो ले लेते हैं। संग्रह करते हैं। इसलिए आपने हमें आदेश दिया 'दत्त', यानी देते जाओ, दान करो। लेना तो हम जानते ही हैं। दे-दे करके सबकुछ दे देना और अपरिग्रही बनना, यही आपका आदेश है।'' ''बिलकुल ठीक। तुम लोग अच्छी तरह समझे हो।'' सन्तुष्ट प्रजापति ने अपनी सम्मति दे दी।

इसके बाद प्रजापति के सामने उपस्थित हुए असुर। फिर वही प्रश्नोत्तरी हुई और प्रजापति ने उनको भी उपदेश दिया 'द'। असुरों के चेहरे पर सन्तोष देखकर प्रजापति ने पूछा, ''क्या समझे ?''

क्रूर असुरों ने अन्तर्मुख होकर कहा, ''हम तो दिवस-रात्र कठोर होकर हिंसा ही करते हैं। इसलिए आपने हमें समझाया 'दयध्वं', यानी दया करो। सभी के प्रति मन में करुणा लानी चाहिए। हिंसा से हमारा उद्धार नहीं होगा। अहिंसा ही जीवन का सर्वस्व है।''

उनको भी प्रजापति ने कहा, ''ठीक है। मेरा भाव तुम ठीक समझे हो।''

आकाश की बिजली ने गुरु-शिष्यों का अद्‌भुत संवाद सुना। उसने सोचा, ''एक ही अक्षर के द्वारा त्रिविध-स्वभाव के जगत को धर्म का उपदेश मिला है, इसी का मैं जोरों से प्रचार करूं। आकाश के बादलों द्वारा उसने 'द-द-द-द' की गर्जना की और सारी सृष्टि समझ गयी कि विलासिता छोड़कर इन्द्रियदमन करना चाहिए। लोभ पर विजय पाकर दान देना चाहिए और कठोरता, क्रूरता और हिंसा का त्याग करके दया धारण करनी चाहिए।

आत्म-संयमपूर्वक जीवन-शुद्धि करके सब जीवों के प्रति दया, करुणा, प्रेम और आत्मीयता बताकर निष्काम सेवा अर्पण करते रहना चाहिए।

३. ''दुःखं जन्तोः परंधनम्''

संसार में अगर सुख नहीं होता तो करोड़ों लोग (और उनसे अनेक गुना अन्य प्राणी भी) सृष्टि के आरम्भ से आजतक जीने के लिए तैयार ही नहीं होते। नर-मादा के आनन्दमय मिलन से बच्चे पैदा होते हैं। बच्चों की परवरिश में माँ-बाप

को कितना आनन्द मिलता है। सब प्राणियों को जीवन में अधिक समय आहार ढूँढ़ने के लिए कष्ट करने पड़ते हैं। लेकिन कष्ट की सफलता का आनन्द (आलस्यमय आनन्द से) अधिक और श्रेष्ठ माना जाता है। अपने-अपने बच्चों की और अपने साथियों की रक्षा के लिए लड़ने में और अपनी जान को खतरे में डालने में जो बहादुर आनन्द मिलता है, उसकी कीमत मामूली नहीं है।

और मनुष्य तो पुश्त-दर-पुश्त प्रगति करनेवाला प्राणी है। अपने पुरखों के पुरुषार्थ का इतिहास पढ़कर वह अभिमान से फूल जाता है। "ऐसे पराक्रमी पुरुषों का वंशज (यानी उत्तराधिकारी) हूँ", ऐसा कहकर उनके सम्मिलित पुरुषार्थ को फीका करनेवाले नये-नये क्षेत्र ढूँढने में जो आनन्द है, वह तो प्रज्ञामेधा-सम्पन्न प्राणी ही समझ सकते हैं। ऐसे आनन्दमयी पुरुषार्थ करने के बाद जो साफल्य की अनुभूति और स्मृति मिलती है, उसका आनन्द पीढ़ी-दर-पीढी बढता ही जाता है। जीवन है ही आनन्दमय। लाखों लोग और करोडों प्राणी जीने के लिए उत्सुक रहते हैं, यही बडा सबूत है कि जीवन आनन्दमय है।

चन्द लोग कहते हैं, "जीवन होगा आनन्दमय, लेकिन ऐसे जीवन का अन्त मृत्यु में होता है, यह तो एक दुःख की बात है। जीवन का सब आनन्द मृत्यु के कारण दुर्दैवी प्रतीत होता है।"

होगा, लेकिन अपनी रक्षा के लिए, देश की रक्षा के लिए, ज्ञान की वृद्धि के लिए और ऐसे ही दूसरे उदात्त हेतु के लिए मरण पसन्द करने में अत्यानन्द है, इस अनुभव के साक्षी हमें प्रत्येक युग में मिलते ही रहते हैं।

और अब तो दिन के बाद रात्रि और रात्रि के बाद दिन का नियम समझने के बाद और "दिन और रात्रि दोनों आनन्दमय हैं," इसका अनुभव करने के बाद "जीवन परम्परा का आश्वासन", यह भी दैवी आनन्द का एक नूमना है।

आनन्दात् हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते।
आनन्देन जातानि जीर्वन्ति, आनन्द प्रयन्ति अभिसंविशन्ति।।

(तैत्तिरीय उपनिषद्, भृगुवल्ली)

वैदिक ऋषियों ने ही अपना यह दृढ अभिप्राय दिया है कि जीवन आनन्दमय है। आगे जाकर वे समझाते हैं कि आनन्द को ही परब्रह्म समझकर उसकी उपासना करनी चाहिए।

इतने जबरदस्त पक्ष के विरोध में उतने ही जबरदस्त दार्शनिक पैदा हुए हैं, जो कहते हैं, "सर्व दुःखं मनस्विनाम्।" वे यहाँ तक कहते हैं कि अगर आप सचमुच सोचनेवाले मनस्वी हैं तो आप देख सकेंगे कि सुख भी आखिरकार दुःख रूप ही है। अध्यात्म के जाल में न फँसे हुए बौद्धों का ही कहना है कि "जीवन सारा दुःख से भरा हुआ है। उससे बचने का एक ही उपाय है कि तृष्णा का नाश

करें।''

जब दर्शन-शास्त्र भी सहायक नहीं हो सकता, तब स्वतन्त्र रूप से सोचना चाहिए कि क्या जीवन सचमुच दुःखमय है या आनन्दमय है ? इसके साथ हमें यह भी सोचना चाहिए कि अगर जीवन का कोई हेतु है और उसमें दुःख का अंश (कम हो या ज्यादा) अपरिहार्य है, तो दुःख जीवन में है किसलिए ?

केवल व्यवहार की बात सोचनेवाले लोग कहते हैं कि आनन्द का अनुभव उत्कट करने के लिए ही कुदरत ने अथवा कुदरत के भगवान ने दुःख को विश्व में स्थान दिया है। भूख नहीं होती तो हमें अन्नानन्द अथवा स्वादानन्द पूरा-पूरा नहीं मिलता। 'सुखं हि दुःखानि अनुभूय शोभते।' अनेक दुःखों का अनुभव करने से ही सुख का सच्चा आनन्द हमें पूरी मात्रा में मिलता है।

बात सही है। दूसरे लोग कहते हैं कि स्थूल रूप से देखा जाय तो कुदरत के घर में भले आदमी को पुरस्कार के रूप में सुख दिया जाता है और बुरे आदमी को सजा के रूप में दुःख दिया जाता है। इसी में न्याय है। यह कसौटी स्थूल रूप की ही भले हो, लेकिन इस कसौटी को सब प्राणियों ने मान्य रखा है। मनुष्य प्राणी इसमें अपवाद नहीं है। वह तो चिंतन की गहरायी में उतरकर इसी सार्वभौम नियम की यथार्थता समझ सकता है।

हम कहते हैं कि ईश्वर को हम केवल जन्मदाता पिता क्यों मानें ? अथवा पुरस्कार अथवा सजा देनेवाला न्यायाधीश ही क्यों मानें ? बहुत-से धर्म भगवान को राजाओं का राजा, मालिक, ईश्वर अथवा लार्ड मानते हैं। मनुष्य को इस दुनिया में माता-पिता का, मालिक का, राजा का और न्यायाधीश का हमेशा अनुभव होता है, इसलिए हम ईश्वर को माता पिता कहते हैं, न्यायाधीश कहते हैं। 'ईश्वर' शब्द का अर्थ ही है मालिक, स्वामी अथवा राजा। हम उसे न्यायाधीश भी कह सकते हैं।

लेकिन जो न्याय करनेवाला न्यायाधीश भी नहीं है, राज्य चलानेवाला प्रभु भी नहीं है, अपना ही हुक्म सर्वत्र चलता देखनेवाला राज्यकर्ता भी नहीं है, जन्म देनेवाला वह माता या पिता है या नहीं, सो भी हम नहीं जानते। हमारा नित्य का अनुभव है, लेकिन इस अनुभव की तरफ, आज तक किसी ने ध्यान दिया नहीं है। वह अनुभव कहता है कि ईश्वर असल में ज्ञान देनेवाला, अनुभव करानेवाला उत्तम शिक्षक या आचार्य ही है।

हमारे बचपन मे हमारे शिक्षक रोज उठकर छोटी-मोटी सब बातों में हमें सजा देते थे, अथवा पुरस्कार देते थे। शिक्षक के पास पुरस्कार देने के लिए अगर कुछ भी न रहा तो वे हमें प्रसन्न होकर शाबाशी दे सकते थे और जरूरत पडने पर अक और बढ़ती भी दे सकते थे। बढ़ती के लोभ से ही सीखनेवाला

था हमारा जीवन उन दिनों।

अब वह जमाना नहीं रहा। जब शिक्षक न सजा देते हैं, न पुरस्कार। शिक्षक ज्ञान देता है। कार्य-कारण-सम्बन्ध का सार्वभौम नियम समझाता है और उस नियम का बडी खूबी से अनुभव भी कराता है।

शिक्षा पाना, अनुभव का स्वीकार करना, उस अनुभव को हजम करना परिश्रम का काम है। ऐसे परिश्रम में हम थक न जायँ, हार न जायँ, इसलिए शिक्षा शास्त्री भगवान हमें समय-समय पर थोड़ा सुख देता है, लेकिन कठिनाइयों का अनुभव कराना यही तो शिक्षा का उत्तम अंश है, इसलिए शिष्य में जितनी योग्यता अधिक होगी, शिक्षक कठिन-कठिन उदाहरण उसके सामने रखेगा।

मुझे बचपन का एक मीठा अनुभव याद है।

हम परीक्षा में बैठे थे। शिक्षक ने हमें प्रथम प्रश्नपत्र लिखवाया। दस में से आठ प्रश्नों का ही जवाब देना था। चाहे जो दो प्रश्न हम छोड सकते थे।

उस प्रश्नपत्र मे एक प्रश्न कुछ कडा था। सब विद्यार्थियो ने उस प्रश्न को छोड दिया था। मैंने देखा कि उस कठिन प्रश्न में ही मेरे गणित के ज्ञान की अच्छी कसोटी होनेवाली है। मैने वही प्रश्न प्रथम ले लिया। खूब सोचकर जवाब ढूँढ निकाला और जवाब सुन्दर ढंग से लिख डाला। उसमें काफी समय गया। बाद मे थोडे समय मे बाकी के छः प्रश्न के ही जवाब लिख सका। आठ में से सात के ही जवाब दिये। परीक्षा शनिवार के दिन थी। सोमवार के दिन परीक्षा का फल सुनने के लिए हम सब आतुर होकर कक्षा में पहुँच गये। कितना आश्चर्य! मुझे पहला स्थान मिला था और सौ में से ९५ अंक मिले थे।

परीक्षा फल प्रकट करके शिक्षक ने प्रसन्नता से कहा, "वह कठिन प्रश्न और सब विद्यार्थियों ने छोड दिया था। उसी को इस डी बी[1] ने हाथ मे लिया और जवाब भी सुन्दर ढंग से लिखा। सचमुच वह प्रश्न तुम्हारी कक्षा के लिए जरा कठिन था। औरो ने उसे छोड दिया सो ठीक ही किया। इस डी बी ने आठ में से सात का ही जवाब दिया है, तो भी मैंने उसे पूरे अंक दिये हैं। (फिर मेरी ओर देखकर) "मैंने पाँच अंक कम दिये, क्योकि तुम्हारे अक्षर खराब हैं, नही तो सौ के सौ ही दे देता। ठीक है न ?"

दूसरे दिन मुझे अकेले में देखकर शिक्षक ने कहा, "डी बी, वह कठिन प्रश्न मैंने तुम्हारी कसौटी के लिए ही प्रश्नपत्र में रखा था।"

तब से मैंने एक जीवन-सिद्धान्त बना लिया है कि भगवान दुःख भेजता है, वह 'सजा' के तौर पर नहीं, किन्तु 'कसौटी' के तौर पर, और साथ-साथ 'कदर'

1. काकासाहब का नाम दत्तात्रेय बालकृष्ण है।

करने की इच्छा से भी। उस दिन से दुःख को मैंने कभी सजा या आफत माना ही नहीं। जीवन-स्वामी (भगवान को मैं जीवन-स्वामी क्यों कहूं ?), जीवनाचार्य दुःख भेजते हैं, कठिनाई भेजते हैं, वह भी आखिरकार सफलता का आनन्द कमाने के अवसर के रूप में ही। कसौटी के द्वारा कदर करने के लिए मैंने तय किया :

"दुःखं जन्तोः परंधनम्।"

४. ब्रह्मलोक-प्राप्ति के साधन

सम्भव है कि दस उपनिषदों में प्रश्नोपनिषद् अधिक पुराना है। इसमें छः प्रश्नकर्ता, शिष्य-भाव धारण कर पिप्लाद ऋषि से प्रश्न पूछने आते हैं।

स्कन्द पुराण में लिखा है कि पिप्लाद याज्ञवल्क्य के लड़के थे, लेकिन अगर प्रश्नोपनिषद् सबसे पुराना हो तो यह कोई दूसरे पिप्लाद ऋषि होने चाहिए।

इन्होंने आये हुए शिष्यों से कहा, "एक साल ब्रह्मचारी यानी शिष्य बनकर मेरे आश्रय में रहो। बाद में जो पूछना है सो पूछ सकते हो।" उन्होंने वैसा ही किया। पिप्लाद ऋषि में नम्रता थी। साथ-साथ साधना का आग्रह भी था। उन्होंने शिष्यों से कहा, "आप सवाल पूछ सकते हैं। अगर जवाब मेरे पास है तो दूँगा। मेरे पास कितना है, कितना नहीं है, सो भी साफ-साफ कहूँगा। जो ज्ञान मेरे पास है, वह अगर मैंने नहीं दिया तो मेरा नाश होगा।" इन छः शिष्यों ने कौन-से प्रश्न पूछे और पिप्लाद ने कौन-से जवाब दिये, इसके विस्तार में हम नहीं जायेंगे। हम तो एक ही श्लोक लेंगे।

तेषां एव एष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्य
येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्
तेषां असौ विरजो ब्रह्मलोका
न येषु जिह्मं अनृतं न माया च इति।।

अर्थात यह ब्रह्मलोक (आत्मा-परमात्मा की प्राप्ति) उन्हीं को मिलती है, जिनके अन्दर तप, ब्रह्मचर्य और सत्य मजबूत अथवा स्थिर हुआ है। दुःख या रजोगुण से मुक्त ब्रह्मलोक उन्हीं को मिलता है, जिनमें जिह्म (टेढापन) नहीं है, अनृत, असत्य, अज्ञान नहीं है और माया यानी दूसरे को ठगने का कपट नहीं है।

यहां तप का अर्थ है संयम और परिश्रम। इन्द्रियों का संयम करना और निष्पाप जीवन जीने के लिए और ज्ञान-प्राप्ति के लिए शारीरिक और बौद्धिक मेहनत करते रहना, (परिश्रम करने से शरीर तपता है, गरम होता है।) वही सच्चा तप है।

ब्रह्मचर्य के दो अर्थ हैं। ब्रह्म याने वेद (यानी अध्यात्म-ज्ञान के ग्रन्थ) इन्हीं के अध्ययन के लिए अपने जीवन मे जरूरी परितर्वन करना, यही ब्रह्मचर्य है। इसलिए ब्रह्मचर्य का अर्थ हो गया वीर्यरक्षा। मनुष्य के शरीर मे जो वीर्य पैदा होता है, उसी में उसके सारे शरीर का सार एकत्र होता है। वीर्य में अद्भुत शक्ति है। उसी के द्वारा एक सम्पूर्ण जीवित शरीर पैदा होता है। इस वीर्य की शक्ति का सयम करके उसका उपयोग ब्रह्मज्ञान के लिए किया तो मनुष्य का उद्धार हो जाता है। इसलिए ब्रह्मचर्य का अर्थ होता है— कामादि विकारो पर काबू प्राप्त करके वीर्य की रक्षा करना और वीर्य-शक्ति की मदद से सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य पाना और उसी ज्ञान के अनुसार ब्रह्मरूप हो जाने के लिए जरूरी साधना करना, यह सब ब्रह्मचर्य मे आ जाता है।

सत्य का अर्थ होता है जीवन का सर्वोच्च रहस्य, और इसी को पाने के लिए समस्त जीवन का उपयोग करने का निश्चय। परमात्मा ही परम सत्य है। वही हमारे हृदय मे आत्मा के रूप मे विद्यमान है। इस आत्म-शक्ति को जागृत करके परमात्मा के साथ एकरूप हो जाना, यही है सच्चा और अन्तिम जीवन-योग।

इस श्लोक मे बताया है कि तपस, ब्रह्मचर्य और सत्य यही है साधना। इसी के द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।

साधना मे क्या टालना चाहिए सो भी बताते है, जिह्म अनृत और माया ये तीन दोष दूर करने ही होंगे।

इसमे जिह्म यानी टेढापन। जीवनयोग की साधना शुरू की तो उसके बाद इस साधना के विरुद्ध जो जो बाते है वह सारा जिह्म है। विषयानन्द अहकार लोभ आदि सब बाते जिह्म मे आ जाती हैं।

सत्याचरण को 'ऋतम्' कहते है। इसके विरुद्ध आचरण हो गया 'अनृत'। जो हम जानते है उसे न कहना और नहीं जानते है, उसे जानने का दम्भ करना, दोनो अनृत है।

और माया यानी कपट, ठगने की वृत्ति।

अध्यात्म की साधना मे आगे बढने पर कभी-कभी कुछ गूढ शक्तियाँ मनुष्य मे पैदा होती है। उनकी ओर ध्यान ही नही देना चाहिए। उन शक्तियो का उपयोग आप-ही-आप हो गया तो ठीक है लेकिन ऐसी शक्तियो का दावा करना, उनकी अतिशयोक्ति करना, उन्ही का धन्धा करना और समाज मे अपनी प्रतिष्ठा बढाने का प्रयत्न करते रहना, यह बस माया-ही-माया है। माया का एक अर्थ है शक्ति। शक्ति के दुरुपयोग को यहाँ माया कहा है। जिह्म, अनृत और माया, इन दोषो से जो मुक्त है, वही ब्रह्मलोक को प्राप्त कर सकता है, औरो को उसी साधना मे

मदद भी दे सकता है।

प्रश्नोपनिषद् में से यही एक श्लोक लेकर उसका विवेचन करना था।

प्राचीनकाल से आत्मसाधना का, ब्रह्मसाधना का जो प्रयत्न चला, उसके बारे मे थोड़ा कहना जरूरी है।

इस सारे विश्व का रहस्य समझने के लिए हमारे पास क्या साधन हैं, सो हम प्रथम देखे।

पंच ज्ञानेन्द्रिय और पचकर्मेन्द्रिय यह है हमारा प्राथमिक साधन।

इन दस इन्द्रियों से काम लेनेवाला आन्तरिक इन्द्रिय है मन। संस्कृत में इन्द्रियों को 'करण' भी कहते हैं। इन इन्द्रियों से काम लेनेवाला जो आन्तरिक इन्द्रिय है, उसका नाम हुआ अन्तःकरण। वही है मन, बुद्धि, चित्त और भावना।

इनकी शक्तियाँ बढानी चाहिए।

शरीर जीवित हैं तब तक उसमे प्राण काम करता है। प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान, प्राण के ही ये भिन्न-भिन्न स्थान और रूप है। जो प्राण मुझमें है, वही सब मे है। इसीलिए दूमरों की प्राण-शक्ति मैं जगा सकता हूँ।

यह प्राण-शक्ति आई कहाँ से ? यह आती है सूर्य से। लोग मानते हैं कि सूर्य से हमें केवल उष्णता और प्रकाश मिलते हैं, लेकिन इन दोनों की अपेक्षा कई असख्य गूढ शक्तियाँ हमे सूर्य से मिलती हैं। इसीलिए सूर्य के उगते ही ऋषि उत्साह से उस का स्वागत करते हुए कहता है, "प्राणः प्रजानां उदयति एष सूर्यः।" (जो प्राण मुझमें है, सब प्राणियों में है, उसका उगम ही सूर्य से है।) इसीलिए जब लडके को गुरु के पास भेजकर विद्यारम्भ कराते हैं तब उसे सूर्य की स्तुति पर एक वैदिक मन्त्र सिखाते हैं :

ॐ तत् सवितपुर वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमही
धियो यो नः प्रचोदयात्।।

प्राचीन काल मे लोगों ने देखा कि सूर्य की उष्णता मे खेती की जमीन का कस बढता है। जमीन मे बोये हुए धान्य उगते हैं। यह देखकर शुरू में वे सूर्य की उपासना करने लगे। ऐसी उष्णता और प्रकाश हम अन्यत्र कहाँ से पा सकते है ?

आजकल दियामलाई से हमे तुरन्त प्रकाश मिल जाता है, लेकिन इसके पीछे हजारों वर्षो की वैज्ञानिक साधना है।

लोहे के टुकडे को चकमक के पत्थर पर घिसने से अग्नि प्रकट होती है। इसका अनुभव गाँव के लोगों को है। जब दियासिलाई नहीं थी तब चकमक के पत्थर और लोहे के टुकडे से ही अग्नि प्रकट करते थे। लेकिन जब लोहे का आविष्कार नहीं हुआ था तब अग्नि (उष्णता और प्रकाश) पैदा करने का साधन

क्या था ?

बिलकुल सूखी हुई लकड़ी की एक बड़ी तख्ती जमीन पर रखते थे। उसमें एक छोटा-सा खड्डा बनाया जाता था। ऐसी लकड़ी को 'अरणी' कहते थे। एक बड़े डंडे के जैसे लकड़ी का टुकड़ा अरणी के खड्डे में खड़ा करते थे। उसे 'उत्तरारणी' कहते थे। एक रस्सी उत्तरारणी में लपेटकर मन्थन करते थे। अरणी पर उत्तरारणी का घर्षण चलने में लकड़ी में गर्मी पैदा होती थी। धीरे-धीरे उसमें से धुआँ पैदा होता है। जब मन्थन काफी समय तक जोरों से किया जाता था तब उसमें से आप-ही-आप ज्वाला पैदा हो जाती थी। यही थी मनुष्य के प्रयत्न से अग्नि पैदा करने की साधना। पुराने साहित्य में अरणी और उत्तरारणी की उपमा स्थान-स्थान पर आती है।

बड़ी मेहनत से जो अग्नि प्राप्त की, उसे सँभालना, जलते रखना और उसे पोषण देना, यही था संस्कृति का बड़ा काम। इसका नाम हुआ यज्ञ। अग्नि को जलाना, उसे घी आदि खिलाना, उस अग्नि में आहुतियाँ आदि डालना, यह हो गया सबसे श्रेष्ठ धर्मकृत्य।

सूर्य और अग्नि दोनों हो गये समस्त पुरुषार्थ के और सिद्धि के साधन।

इसलिए अध्यात्म के ग्रन्थों में प्राण, सूर्य, अग्नि, यज्ञ आदि तत्त्वों की चर्चा बार-बार आती है।

५. देव और ब्रह्म की आख्यायिका

केनोपनिषद् के चार खण्ड हैं। उनमें चौथे और पाँचवें खण्ड मे एक सुन्दर आख्यायिका दी गयी है। उसमें लिखा है :

जब देवों का और असुरों का युद्ध हुआ— ऐसा युद्ध अनेक बार होता आया है— तब परब्रह्म ने देवों के लिए विजय प्राप्त की। वह विजय सचमुच थी तो ब्रह्म की, लेकिन उससे देवों में घमंड आ गया। वे सोचने लगे कि यह हमारी ही विजय है। हमारी ही महिमा है।

ब्रह्म उनका यह अभिमान समझ गया और उसे दूर करने के लिए ब्रह्म उनके सामने प्रकट हुआ। लेकिन देव यह अद्भुत वस्तु क्या है, नहीं समझ सके।

इसलिए उन देवों ने अपने में से अग्निदेव से कहा, "हे जातवेद अग्निदेव, यह क्या यक्ष है, ढूँढ़ लो।"

अग्निदेव ने कहा, "ठीक है।"

अग्नि उस यक्ष की ओर दौड़ गये। उस यक्ष ने (ब्रह्म ने) पूछा, "तुम कौन हो ?" जवाब मिला, "मैं अग्नि हूँ। जातवेद भी मुझे कहते हैं।" ब्रह्म ने अग्नि से फिर पूछा, "तुममें कौन-सी शक्ति या बहादुरी है ?" अग्नि ने कहा, "पृथ्वी पर जो है, उस सबको मैं जला सकता हूँ।"

ब्रह्म ने उसके सामने घास का तिनका रखा और कहा, "इसे जला दो।"

अग्नि पूरे वेग से उसके ऊपर गया, लेकिन उसे जला नहीं सका। हारकर अग्नि वहाँ से लौटा और उसने कहा, "यह यक्ष क्या है, यह मैं जान नहीं सका।"

तब देवों ने वायु से कहा, "हे वायुदेव ! यह क्या यक्ष है, इसका पता लगा लीजिये।" वायु उसकी ओर वेग से बढ़ा। वायु ने भी कहा, "जी ठीक है।" फिर वायु तिनके के पास जोर से आगे बढ़ा। ब्रह्म ने उससे भी पूछा, "तुम कौन हो ?" वायु ने कहा, "मैं वायु हूँ। मुझे वातरिश्वा भी कहते हैं।" ब्रह्म ने पूछा, "तुममें कौन-सा सामर्थ्य है ?" उसने कहा, "पृथ्वी में जो कुछ है, वह उठा ले सकता हूँ। पकड़ करके ला सकता हूँ।"

ब्रह्म ने उसके सामने भी घास का तिनका रखा और कहा, "इसे उठा लो।" वायु जोर-से उसकी ओर गया, लेकिन उसे उठा नहीं सका। शर्मिंदा होकर वायु वहाँ से लौटा। उसे भी कहना पड़ा, "यह यक्ष क्या है, यह मैं नहीं समझ सका।"

तब इन्द्र से देवों ने कहा, "मघवन्, तुम जाकर पहचान लो कि यह यक्ष क्या है ?"

उसने भी कहा, "ठीक है।" इन्द्र भी तिनके के पास पहुँचे। उसके सामने यह यक्ष अदृश्य हो गया।

उसी जगह पर इन्द्र ने एक अति सुन्दर, सुवर्णमयी स्त्री उमा को देखा। इन्द्र ने उस स्त्री से पूछा कि यह यक्ष क्या था ?

उसने कहा, "वह तो ब्रह्म था। ब्रह्म की ही इस विजय मे तुम लोग अपना बड़प्पन मानते थे।"

तब उसे मालूम हुआ कि यह ब्रह्म ही है।

इस तरह से अग्नि, वायु और इन्द्र अन्य देवों से श्रेष्ठ हो गये, क्योंकि उन्होंने ब्रह्म के पास जाकर उसे स्पर्श किया और उसे ब्रह्म के रूप में पहचान लिया।

इसलिए सब देवों में इन्द्र सबसे ही बड़े साबित गये, क्योंकि उन्होंने निकट जाकर सबसे पहले जाना कि वह ब्रह्म है।

आख्यायिका यहाँ खत्म होती है।

जहाँ यह आख्यायिका पूरी होती है, उसके बाद चार मन्त्र में यह उपनिषद् पूरा होता है।

६. "एकोऽहं बहुस्याम्"

इस सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई, किस चीज से हुई, उत्पत्ति के पहले क्या था, इसका नाश कैसे होता है, नाश के मानी क्या हैं, सर्वनाश के बाद नयी उत्पत्ति कहाँ से होती है, ऐसे-ऐसे सवाल हर एक के मन में उठते हैं और चिन्तन करते-करते यकायक मनुष्य अन्तर्मुख होकर पूछता है, "यह प्रश्न जिसके मन में उठते हैं, वह कौन है ? कहाँ से आया है ? कहाँ जायेगा ?"

इन गृढ प्रश्नों का उत्तर सृष्टि से नहीं मिल सकता। कल्पना ही करनी पड़ती है। प्रश्न पूछने वाला अपने को जानने की कोशिश करता है तब उसे अपना ही साक्षात्कार करना पडता है। सृष्टि थी नहीं। ऐसी अवस्था का मैं अकेला साक्षी था। मेरी सृष्टि कहाँ से हुई ? यह प्रश्न अवश्य उठता है, लेकिन तुरन्त पता चलता है कि वह अतिप्रश्न है। जब वह कुछ नहीं था तब मैं मोचनेवाला अकेला था। ऐसा ख्याल जागृत होते ही मनुष्य घबडा जाता हैं तब तुरन्त मन ही मन अपने मे पृछता है, मैं किससे डरूँ ? जब दूसरा कोई होता है। तब डर पैदा हो सकता है। दूसरा हैं नहीं तो डर भी नहीं है। "द्वितीयात् वै भयं भवति।" डर तो बिना अर्थ का साबित हुआ। वह चला गया। लेकिन आनन्द नहीं आता। इसका क्या ? "एकाकी न रमते।" आनन्द पाने के लिए आदान-प्रदान की जरूरत होती है। उसके लिए अपने में ही दूसरा पैदा करना चाहिए।

जिस द्वितीय से भय पैदा होनेवाला था। उसी द्वितीय की इच्छा उसमें पैदा हो गयी : "स द्वितीयं एच्छेत्।" इसी में से सृष्टि पैदा हुई। एक अनेक बनेगा, तब उसमें एकत्व की भूख जागृत होगी और उस भूख के निवारण से जो एकत्व फिर से प्राप्त होगा, वही होगा आनन्दातिशय।

एकत्व में रहना और एकत्व को पा लेना, इसमें अन्तर है। पाने में आनन्द है, इसीलिए परब्रह्म ने संकल्प किया—"एकोऽहं बहुस्याम्।"

७. रूढ़ उपासना छोड़ो, सच्चा ज्ञान लो

केवल हिन्दू धर्म की बात नहीं है। सब धर्मों में मुख्य प्रेरणा देते हैं ईश्वर प्रेरित नबी, पैगम्बर, प्रोफेट, ऋषि-मुनि, अवतारी पुरुष अथवा महात्मा लोग। वे अपने आसपास के लोगों की भाषा में, वे समझ सकें ऐसे शब्दों में, अपनी नसीहत, प्रेरणा और सलाह-सूचना देते हैं। उनके उत्तमोत्तम शिष्य गुरुमहाराज का उपदेश लिख रखते हैं।

सामान्य जनता गूढ़ बातें समझने की शक्ति न होने से अपने प्रति अविश्वास बढ़ाती है कि हम ये सब बातें कहाँ से समझ सकते हैं ?

साथ-साथ सामान्य जनता इस निश्चय पर भी आती है कि, "नबीसाहेब, ऋषि-मुनि ने जो कुछ भी कहा है, अथवा उनके जो वचन उनसे प्रेरित भक्त लोगों ने लिख रखे हैं, उसके हरएक वचन, हरएक वाक्य ईश्वर-प्रेरित हैं। हमारा काम उस सारे ईश्वर-प्रेरित उपदेश का अर्थ समझने का ही है।

नतीजा यह होता है कि धर्म-ग्रंथ समझने के लिए अध्यात्म-शास्त्र में प्रगति करने की जगह ये लोग व्याकरण की और शब्दशास्त्र की मदद लेते हैं।

धर्मग्रंथों का अर्थ करनेवाले अभिमानी भाषा-पंडित व्याकरण और भाषाशास्त्र का जोर लगाकर ग्रंथों में से जो भी अर्थ निकल सकता है, वह सारा, अथवा दूसरा मनमाना अर्थ अपनी विद्वत्ता के जोर से जनता पर लादते हैं।

इसी में से सम्प्रदाय तैयार होते हैं। वेद, बाइबिल, कुरान आदि ग्रन्थों के हरएक वचन को यही आग्रह सहन करना पड़ता है। उसी से साम्प्रदायिक रूढ़ियों को धर्मग्रन्थों का समर्थन प्राप्त होता है।

जो लोग अध्यात्म में उत्तम साधना करते हैं और उस अध्यात्म का विनियोग करने का रास्ता समाज को बताते हैं और इसके लिए धर्ममान्य अथवा अध्यात्म की अनुकूल समाज-व्यवस्था बनाते हैं, उन्हें पुरानी रूढ़ियां का विरोध करना पड़ता है।

हमारे उपनिषदों में अगर कोई ऋषि वचन मिला कि "ब्रह्म के बारे में मैं जो समझ रहा हूँ, वही सही है, रूढ़िधर्म के लोग बड़ी संख्या में पुश्त-दर-पुश्त जिस ब्रह्म की मनमानी उपासना करते हैं, वह सच्चा ब्रह्म नहीं है" तब अध्यात्म की सीधी-सच्ची उपासना करनेवाले लोगों के लिए ऐसे वचन से बड़ा बल मिलता है।

केनोपनिषद् के अन्त में एक बात आती है, जिसमें ऋषि शिष्यों से कहता है, "तुमने मुझसे कहा कि गूढ़-रहस्य-उपनिषद् हमें समझा दो। तुम्हारी जिज्ञासा को तृप्त करने के लिए ब्रह्म का रहस्य समझाने वाला यह ब्राह्मी उपनिषद् मैंने तुमको

कह दिया है।" (केन, ३२)

इसके पहले ब्रह्म का सच्चा स्वरूप शुद्ध रूप में और जरूरी विस्तार से, कहकर ऋषि ने कहा है, "मैंने जैसा समझाया है, वैसे ब्रह्म को शुद्ध रूप से समझ लो। सामान्य जनता रूढिधर्म के वश होकर जिम ब्रह्म की उपासना करती है वह सच्चा ब्रह्म नहीं है।" तब हम समझ सकते हैं कि ऋषियों के दिनों में भी सामान्य जनता जिन विचारो को धर्मविचार समझकर अमल में लाती है, उनमें गलतियाँ हो सकती हैं और फिर ऋषियों को गलत विचारों का विरोध करना पडता है। यह है ऋषि का वचन :

"तत् ऐव ब्रह्म त्वं विद्धि न इदं यत् इदं उपासते।"

ऋषि ने यह वचन पाँच बार, पाँच श्लोकों के अन्त में कहा है। (केनोपनिषद् ४, ५, ६, ७, ८)

८. श्रेय और प्रेय

थोडे शब्दों में गम्भीर विचार मुन्दर ढंग मे व्यक्त करने की उपनिषद् के ऋषियो की शैली के बारे मे कहना ही क्या । पढते-पढते पता नहीं चलता कि बीच-बीच में आनेवाले ऐसे सुन्दर वचन कब और कैसे कंठ हो गये। सोच रहा हूँ कि इस तरह आप ही आप कंठ हुए औपनिषदिक वचनो का संग्रह करूँ और एक-एक वचन पर एक-एक, अथवा अधिक, प्रवचन लिखूँ। जिस वक्त जो भाव मन मे प्रधान हो जायँ, उमी को लेकर एक प्रवचन लिखूँ और उसे भूल जाऊँ। तब बिलकुल अलग दूसरे मन्दर्भ मे वही वचन नया अर्थ ओर नया मन्देश देता है। उसका पवचन अलग ही हो जाता है। पता नहीं, चन्द वचनो के इम तरह कितने अवतार हो चुके होंगे।

आज इन वचनों से प्रारम्भ नहीं करूँगा, लेकिन दो-दो शब्दों की दो-दो जोड़ियों से प्रारम्भ करने को जी चाहता है।

पहली जोडी है श्रेय और प्रेय की। यह जोडी लोकचिंतन में बार-बार आती है। इसलिए इसमें कोई नवीनता नहीं दीख पडती। लेकिन जब कठोपनिषद् के ऋषि ने श्रेयस् और प्रेयस् का भेद बताया तब सुननेवाले अन्तेवासियों को कितना हर्ष हुआ होगा। श्रेयस् और प्रेयस् के साथ ऋषि विद्या और अविद्या को भी ले आये हैं और बाद में हमें साम्पराय (मृत्यु के बाद की स्थिति) तक ले गये हैं।

(कठोपनिषद्— १अ २ वल्ली)

हर मनुष्य सुख चाहता है। दुःख को टालता है। सुख-दुःख दोनों भावनाएँ जीवन में प्रधान प्रेरक तत्त्व हैं। लेकिन तत्व-ज्ञान कहता है कि सुख और दुःख दोनों अन्धे हैं। उनका निर्णय नहीं मानना चाहिए। आज इन दोनों शब्दों का अर्थ चाहे जितना व्यापक हो, असली अर्थ तो इन्द्रियों के साथ ही सम्बन्ध रखता है। सुख और दुःख दोनों में जो ममान अक्षर है 'ख', उसका अर्थ होता है 'इन्द्रिय।' इन्द्रियों के लिए जो अनुकूल है, वह है सुख। इन्द्रियों को जो चीज प्रतिकूल है, उमे कहते हैं दुःख।

जीवन का रहस्य समझने वाले ऋषि कहते हैं, सुख इन्द्रियों के लिए अनुकूल है, इसीलिए उसके पीछे जाना बहुत बार खतरनाक होता है। इन्द्रियों के लिए जो चीज अनुकूल है, वही जीवन के लिए बाधक होती है। तब उसे छोड़ने के लिए जो भावना अन्दर से सलाह देती है, उमी को कहते हैं श्रेय।

कभी-कभी दुःख सहन करने में पीड़ा चाहे जितनी हो, हमारी उन्नति ही होती है। जीवनानुभव समृद्ध होता है। ऐसे समय इन्द्रियाँ भले कहें कि यह दुःख टालो, टालो, हमें इन्द्रियों की आवाज नहीं मुननी चाहिए और अभिनन्दन के साथ दुःख को स्वीकार करना चाहिए। जो भावना ऐसी शुभ और हितकर सलाह देती है, वही है श्रेयस्।

ऐमा अनुभव नित्य होने के बाद अनुभव के लिए यथायोग्य शब्द बनाकर देनेवाले ऋषियों ने हमें दो शब्द बना करके दे दिये। प्रेयस् और श्रेयस्। सुख-दुःख की सलाह मानकर चलता है प्रेयस् और जीवन के लिए जो अत्यन्त हितकर है, कल्याणकारी है, शुभपरिणामी है उसके लिए शब्द बनाया श्रेयस्।

और फिर अपने अनुभव के बल पर मानव-जाति को ऋषियों ने सलाह दी, "श्रेयस् अलग है, प्रेयस् अलग है। दोनों का फल अलग है। श्रेयस् के पीछे जाने से कल्याण होता है। जो प्रेय को पसन्द करता है, उमकी हानि होती है, जब श्रेय और प्रेय दोनों मनुष्य के सामने आकर खड़े होते हैं तब बुद्धिमान धीर पुरुष दोनों को पहचान लेता है।" अनुभव है कि धीर पुरुष प्रेय को एक ओर रखकर श्रेय को ही प्रसन्द करता है। जो आदमी बुद्धिमन्द है, वह तो अपनी सहूलियत देखकर प्रेय को पसन्द करता है।

बुद्धिमान जानता है कि हमारा जीवन मरण के साथ समाप्त नहीं होता। मरण के साथ शरीर समाप्त होता है। लेकिन हम तो शरीर के बिना जीवित रहकर समाज पर असर भी करते हैं। जन्म-मृत्यु के बीच का छोटा-मा जीवन पूर्णजीवन नहीं है। मृत्यु के बाद का जो जीवन है (उसके लिए ऋषियों का शब्द है साम्पराय) उसका भी विचार करना चाहिए। तब जाकर श्रेय की शुभकारिता हम समझ सकते हैं।

इहलोक और परलोक मिल करके जो जीवन बनता है, वही सच्चा और पूर्ण जीवन है। उसी का विचार जिसे है, वही धीर पुरुष है, वही जीवन-संग्राम मे विजयी बनता है।

९. मोक्ष-सिद्धि की साधना

हम लोगो का सामान्य विचार है कि वेदकाल के बाद उपनिषद् आते है। उनके बाद कौरव-पाडवो के युद्ध का इतिहास यानी महाभारत आता है। उसके बाद बाकी के पुराण उपपुराण आते हे। लेकिन ऐसी व्यवस्था नहीं है। वेदकाल और उपिनषद्काल एक-दूसरे मे ओतप्रोत है। उपनिपद्काल महाभारत के पूर्व भी है और उसके बाद भी है। बडा दीर्घकाल है वह।

उपनिपद कई बार पढ चुका हूँ। छान्दोग्य उपनिषद् पर मैंने जेल के दिनो मे लिखा भी है, लेकिन भूल गया था कि छान्दोग्य मे देवकीपुत्र श्रीकृष्ण का जिक्र आता है और वह भी वेदकालीन एक ऋषि के शिष्य के रूप मे।

वेदकाल मे सबसे पहले तो लोग यजयागादि शुभधर्मकार्य करके स्वर्गप्राप्ति की इच्छा करते थे। उन दिनो कर्म का अर्थ होता था स्वर्ग की इच्छा से किये जानेवाले यज्ञयागादि कर्म।

यज्ञ आदि कर्म करके स्वर्ग प्राप्त करने का आदर्श जब गौण हुआ तब पुरानी परिभाषा व्यापक बनाई गयी। जीवन को ही यज्ञ समझने लगे और स्वर्ग की जगह मोक्ष का आदर्श धीरे धीरे सर्वमान्य हुआ।

कालक्रम का विचार छोडकर हम कह सकते हैं कि वेदकाल स्वर्ग-परायण था। उसके बाद उपनिषद् काल आया। जब धार्मिक लोग स्वर्ग को गौण बनाकर मोक्ष की इच्छा करने लगे। भारतीय संस्कृति मे यह बडा परिवर्तन हुआ। जो हो अग्नि जलाकर उसमे आहुति डालने की यज्ञक्रिया का महत्त्व नहीं रहा और यज्ञ का अर्थ ही व्यापक बनाया गया। "जीवन ही यज्ञ है।" "यज्ञ के बिना जीवन परिपूर्ण हो नहीं सकता।" आदि वचनों के द्वारा पुराने हवन को आदरयुक्त तिलांजलि दी गयी।

वेदान्त अथवा मोक्षधर्म आया, उसके साथ जीवन ही एक बन्धन है, जब तक वासना है तब तक "जीवन जीना ही पडेगा जन्म लिया है तो उसे पूरा करना ही चाहिए। लेकिन एक बार ऐसी खूबी से जीओ कि फिर से जन्म ही लेना न पड़े।" यह हो गया नया आदर्श। जीवनानन्द की बात बेवकूफी-सी हो गयी।

इस जन्म का मुख्य उपयोग यही है कि मरण के बाद फिर जीने के झंझट में पड़ना न पड़े। यह हो गया सर्वमान्य हिन्दूधर्म का अन्तिम आदर्श। महात्मा गांधी तक इस आदर्श को माननेवाले लोग पाये जाते हैं। सन्त तुकराम जैसे भक्त, भक्ति का आनन्द व्यक्त करने के लिए, कहते हैं कि "अगर भक्ति का यह आनन्द मिलता रहे तो हम बार-बार जन्म लेने को तैयार हैं।" ("तुका म्हणे गर्भवासी। सुखे घालावें आम्हासी।")

तुकाराम जैसे अद्वैतानन्द-प्राप्त भक्त भक्ति का अनुभव करने कि लिए पुनर्जन्म को मान्य करने को तैयार हो जायँ, लेकिन पुनर्जन्म के द्वारा नया-नया जीवनानन्द प्राप्त करने का आग्रह उनके मन में भी नहीं होता। मोक्ष का आनन्द सर्वश्रेष्ठ है, जिसमें मनुष्य अपना व्यक्तित्व पूर्णतया भूल जाता है और समस्त विश्व के साथ् अपनी एकता का अनुभव करने में रममाण हो जाता है।

अद्वैत का अनुभव याने विश्वात्मैक्य का आनन्द प्राप्त करने के लिए जिन आध्यात्मिक-सांस्कृतिक-सामाजिक सद्‌गुणों की साधना करनी पड़ती है, उन्हीं को छान्दोग्य उपनिषद् में एक कथा के सन्दर्भ में बताया है।

घोर आंगीरस नाम के एक वैदिक ऋषि देवकी पुत्र कृष्ण को पंचविध यमों की साधना बताते हैं, तप, दान, आर्जव (सरलता), अहिसा और सत्यवचन, इन पाँच सद्‌गुणो की साधना वही कर सकता है, जो व्यावहारिक जीवन के विषय मे तृष्णा-हीन हो गया है। ऐसे योग्य व्यक्ति को घोर आंगीरस कहते हैं कि अन्तःकाल मे ऐसे मनुष्यों को अपने को समझना चाहिए कि तू परब्रह्म है, याने अक्षय है, अविनाशी है और सूक्ष्मप्राण है।

मोक्ष-साधना की यह विधि सब जानते हैं। इस कथा की ओर मेरा ध्यान इसलिए गया कि यहाँ पर घोर आंगीरस जैसे ऋषि के सामने हमारे श्रीकृष्ण एक शिष्य के जैसे रूप मे प्रकट हुए हैं और उनकी सांसारिक प्यास बुझी हुई देखकर ही गुरु ने उनको ब्रह्म-साधना की दीक्षा दी है।

१०. ॐ नमो नारायणाय पुरुषोत्तमाय

भगवान के नाम अनन्त हैं, लेकिन भक्तों ने अपने आनन्द के लिए दस, एक सौ आठ या हजार नाम इकट्ठा करके उनके स्तोत्र बनाकर गाया या जाप करना शुरू किया।

मैंने अपने ध्यान और जप के लिए दो नाम विशेष रूप से पसन्द किये

हैं— नारायण और पुरुषोत्तम।

इन शब्दों का धात्वर्थ देखकर, इन पर मैंने छोटे-छोटे प्रवचन लिखे होंगे, लेकिन आज फिर से कहने की इच्छा हुई है।

'नारायण' शब्द का अर्थ मैंने एक ढंग से किया है। मनु भगवान ने दूसरे व्यापक ढंग मे। दोनों अच्छे हैं और सच्चे हैं। दोनों को मिलाना चाहिए। "नराणा समूह:= नारम्"। भूतकाल, वर्तमान और भविष्य के समस्त नर-नारी के समूह को संस्कृत में 'नार' कहते हैं। नार याने सम्पूर्ण मानव-जाति। यह नार जिसका अयन याने 'रहने का स्थान' बन गया है, वह है नारायण (गॉड ऑफ ह्यूमेनिटी)।

अब मनु भगवान की व्युत्पत्ति समझाता हूँ :

पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश इन पंच महाभूतों की सृष्टि जिस मूल तत्त्व मे बनी है, उसे संस्कृत में 'आप' अथवा 'अप्' कहते हैं। संस्कृत में 'आप' का मामूली अर्थ है पानी, लेकिन समस्त सृष्टि के मूल तत्त्व को भी आप या अप् कहते हैं। परमात्मा को नर कहते है। नर में से अप तत्त्व बना, इसलिए उमे नार कहने लगे। मनु भगवान समझाते हैं, "आपो नारा इति प्रोक्ताः आपो वै नर-सूनवः।" अप् शब्द यहाँ अनेक वचन में आया है। नर में मे उत्पन्न मूल तत्त्व— नार— जिसका रहने का स्थान हुआ— नारायण। 'ताः यद् अस्य अयन जातम् इति नारायण स्मृतः।' (गॉड इज ऑफ दी यूनिवर्स)।

ये दोनों अर्थ एकत्र करके, हम नारायण का ध्यान करें और जाप भी करें।

दूसरा शब्द है पुरुषोत्तम। इसका अर्थ स्पष्ट है। सस्कृत म पुर् याने शरीर। 'पुरि शेते इति पुरुषः।' इस शरीर में सुप्त रूप में जो रहता है, वही जीवात्मा पुरुष कहा जाता है। हम सब पुरुष हैं। पुरुष में जो सुप्त तत्त्व है, उसे जाग्रत करके, सर्वगुण-सम्पन्न करने से वही उत्तम पुरुष अथवा पुरुषोत्तम बनता है। पुरुष का भाव चढ़ाते-चढ़ाते जब हम ऊपर तक पहुँच जाते हैं तब वही पुरुषोत्तम बनता है (उत् उत्तर, उत्तम)।

'नारायण' शब्द में समस्त मानव-जाति का विचार जाग्रत होता है और पुरुषोत्तम शब्द से मानवता के गुणोत्कर्ष का विचार केन्द्रित होता है, इसलिए ये दो नाम मैंने अपने ध्यान-भजन के लिए पसन्द किये हैं।

'नारायण' शब्द की एक व्याख्या महाभारत से मिली है:

समः सर्वेषु भूतेषु, ईश्वरः सुखदुःखयोः।
महान् महात्मा सर्वात्मा नारायण इति श्रुतिः।।

(शान्तिपर्व ३५५, २७)

श्लोक का अर्थ स्पष्ट है। परमात्मा सब प्राणियों में— भूतों में समान है, सब के सुख-दुःख का वह ईश्वर (मालिक) है। महान होने से उसे 'महात्मा' कहते हैं।

'सर्वात्मा' भी कहते हैं। वेद के अनुसार वही नारायण है।

'ईश्वरः सुख दुःखयोः' इसका संक्षेप में भाव यह है:

सुख-दुःख का अनुभव सबको है। इन शब्दों का अर्थ संकुचित भी है और व्यापक भी है। इन्द्रियों को अनुकूल सो सुख, और इन्द्रियों को प्रतिकूल सो दुःख— यह है उनका संकुचित अर्थ।

लेकिन केवल इन्द्रियों के नही, किन्तु सब तरह के आनन्द को हम सुख कहते हैं। दुःख का भी ऐसा ही व्यापक अर्थ है।

यह सुख और दुःख प्राणियों को अथवा मनुष्यों को कहाँ, कब, कितना मिले, यह हमारे हाथ में नहीं है। इसका कोई नियम भी हम नहीं बना सकते। सुख-दुःख का सारा तन्त्र भगवान के ही अधीन है। इसलिए ऋषि ने कहा, "नारायणः सुखदुःखयोः ईश्वरः।" परमात्मा ही सुख-दुःख का ईश्वर याने मालिक है। उसी को 'नारायण' कहते हैं।

मनुष्य के सुख-दुःख उसके अधीन नहीं हैं किन्तु सुख-दुःख का सदुपयोग कर लेना उसके हाथों मे है। सुख और दुःख से मनुष्य अगर अपना अधःपात न होने दे, अपनी साधना के द्वारा दोनों का सदुपयोग करे, और उन्नति साध ले तो एक ढंग से (अर्थात नम्र अर्थ में) वह भी सुख-दुःख का ईश्वर बन सकता है।

११. आत्मतत्त्व का साक्षात्कार और उसका फल

प्रवासियों को जब किसी नये देश का दर्शन होता है तब उस अद्‌भुत दर्शन से वह आनन्द-विभोर हो जाता है। वैज्ञानिकों का भी यही अनुभव है। कुछ नया तत्त्व, कोई नया सिद्धान्त समझ में आता है अथवा पाया जाता है, तब उनके लिए वह एक महोत्सव-सा होता है। इसी तरह जब प्राचीन ऋषियों को तत्त्व-चिन्तन करते-करते आत्मतत्त्व का आविष्कार हुआ होगा तब उनको भी कल्पनातीत आनन्द हुआ होगा। बहुत-से शोध अथवा आविष्कार इन्द्रियों के द्वारा होते हैं और बाद में बुद्धि उस चीज का ज्ञान विकसित करतीं है। आत्मतत्त्व अतीन्द्रिय है। इन्द्रियों के द्वारा वह पाया नहीं जाता, पकड़ा नहीं जाता। वह बुद्धिग्राह्य है। बुद्धि ही उसकी कल्पना कर सकती है, उसे ग्रहण कर सकती है। (बुद्धिग्राह्यम् अतीन्द्रियम्), किन्तु आत्मतत्त्व का अनुभव अथवा साक्षात्कार बुद्धि की मदद से नहीं, किन्तु आत्मा के द्वारा ही हो सकता है। यह अनुभव जब सबसे पहले हुआ होगा तब ऋषि को कितना आनन्द हुआ होगा ! पता नहीं, कितने घन्टे या कितने दिन उसी आनन्द की मस्ती में वह

रहा होगा ।

यही बात गीता ने (अ ६-२०) कही है— आत्मना आत्मानं पश्यन् आत्मनि तुष्यति। (आत्मा के द्वारा ही आत्मा को देखकर, पाकर वह आनन्द पाता है।) वह आनन्द भी आत्मा की मदद से उसे मिलता है, क्योंकि वह बाह्य आनन्द नहीं, किन्तु आन्तरिक आनन्द होता है। ('आत्मनि तुष्यति।')

आत्मा के द्वारा आत्मा का ही ज्ञान प्राप्त करके उस अद्वैत का जो आनन्द मिलता है, उसे आत्मयोग कहना चाहिए। आत्मयोग एक अद्भुत शक्ति भी है। इस शक्ति के द्वारा ही एक मनुष्य दूसरे को (सिद्ध पुरुष साधक को) आत्मज्ञान करा सकता है। फिर तो गुरु शिष्य दोनों आत्मरति बन जाते है।

जब प्राचीन ऋषि जीवन के रहस्य को समझने की कोशिश करने लगे तब जगत की असंख्य चीजों को अपनाकर उनके द्वारा ज्ञान, सामर्थ्य और आनन्द प्राप्त करने के लिए उन्हें इन्द्रियों की सहायता लेनी पडी। इसलिए उन्होने अनुभव प्राप्त करने के लिए साधन रूप इन्द्रियों को 'करण' कहा। कर्म करने के साधन को करण कहते हैं। जैसे किसान का हल है, बढई के उसके उपकरण हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ मनुष्य के करण हैं।

इन सब इन्द्रियों के बीच काम करके उनसे प्राप्त होनेवाले अनुभव को अपनाना भिन्न-भिन्न इन्द्रियों से मिलनेवाले ज्ञान के बीच समन्वय करके उनको एकरूप करना और सब अनुभवों का चितन करके उसकी गहराई मे उतरना, यह सब व्यापार मन का है। इन्द्रियाँ अगर शरीर के ओजार हैं तो इन सब औजारों के साथ सहयोग करनेवाला मन अन्दरूनी ओजार है। इसलिए उसे दार्शनिको ने अन्तःकरण कहा है। मन, बुद्धि, भावना, चित्त यह सब अन्तःकरण ही है।

इन्द्रियो के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति की और चीजे बनाने के साधन-रूप तरह-तरह के औजार मनुष्य ने बनाये। मनुष्य ही एक प्राणी है, जो अपनी इन्द्रियो की मदद के लिए औजार बना सकता है और काम मे ला सकता है।

अन्तःकरण द्वारा, बुद्धि और भावना के द्वारा, सम्पन्न ज्ञान और विज्ञान प्राप्त करने के बाद मनुष्य अधिक सोचने लगा तब उसे आत्मतत्त्व की प्रथम कल्पना हुई। वह भी कोई मामूली बात नहीं थी। यह सोचना कि मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के अन्दरूनी सहयोग के लिए एक सर्वसामान्य तत्त्व होना चाहिए और उसका स्वरूप इन सब बातों से भिन्न होना चाहिए, यह बहुत बडी बात थी। मनुष्य ने अपनी बुद्धि से सर्वप्रथम आत्मतत्त्व की कल्पना की होगी। बाद में उस वह प्राप्त करने का रास्ता ढूँढने लगा। उस रास्ते को हम मनन-चिंतन कह सकते है। उसी में उत्कटता आने पर वह ध्यान बनता है और उसीका अन्तिम स्वरूप है तदाकार बनने का। उसी को समाधि कहते हैं।

इन्द्रिय-शुद्धिरूपी तपस्या के द्वारा आत्मशुद्धि करने पर ध्यानशक्ति बढ़ती है। उसी शक्ति के द्वारा ध्यान में उत्कटता आती है और फिर धीरे-धीरे मनुष्य को आत्मा का सुख याने आनन्द मिलना शुरू होता है।

आत्मा सर्वत्र है। सब मनुष्यों में, सब तरह के लोगों में, तो है ही, लेकिन इतर प्राणियों में भी है। आत्मा का अनुभव होने पर सबके साथ हमारा आत्मिक ऐक्य हम अनुभव करने लगते हैं। कई लोग अच्छे होते हैं, कई लोग बुरे होते है। रोजमर्रा के व्यापार में उनके साथ अलग-अलग ढग से पेश आना पडता है। मनुष्य में गुण होते हैं। दोष होते हैं। कमजोरियाँ होती हैं। पवित्रता आती है। दुष्टता होती है। उसमें भी समय-समय पर परिवर्तन हो सकता है। सबके साथ हम एक तरह से पेश नहीं आ सकते। भलाइ को हम प्रोत्साहन देते हैं, उसका अभिनन्दन करते हैं। बुराई को कोसते हैं। बुरे आदमी को टालते हैं। यह सब चलेगा, लेकिन जिस किसी को आत्मा का साक्षात्कार हुआ है, वह सभी के साथ अपना एक अद्भुत, सार्वभौम स्थायी आतमीयाता का अनुभव करता रहता है।

ऐसे लोगों को बुराई देखकर जहाँ पहले चिढ़ आती थी, उसके बारे मे मन मे द्वेष होता था, अब द्वेप नहीं होगा, किन्तु उत्कट दुःख होगा। करुणा जागेगी, उसके दोप अन्त मे जाकर मेरे ही दोप हैं, यह पहचानकर मैं अपने दोष दूर करने के लिए जैसे तरह-तरह की कोशिशें करूँगा, वैसे ही उस दुष्ट या पापी मनुष्य के दोष अगर मुझसे दूर हो सकते हैं तो उस दिशा मे मैं कुछ-न कुछ करूँगा ही। हाँ, अगर मै अच्छा साधक हूँ तो अपने दोषो का गुण समझने की गलती नही करूँगा। कोई भोली बेवकूफ माँ अपने बच्चो के प्रति प्रेम होने के कारण मोह मे आती है और बच्चे के दोष भी गुण समझने लगती है। इसीलिए बच्चों के दोष वह बरदाश्त तो करती ही है।

मुझसे वैसा नहीं होगा। मुझ में मोह न होने से मैं अपने या दूसरों के दोष मोह के कारण बरदाश्त नहीं करूँगा। लेकिन धैर्य के साथ अपने और दूसरो के दोप दूर नहीं कर सका तो सहन करूँगा। और हो सके, इतने सुधार की जबरदस्त कोशिशें करूँगा। जिस तरह मैं अपने दोष देख और समझकर भी अपना त्याग नहीं करता, उसी तरह कोई दोषी है, इसलिए उसका त्याग नहीं करूँगा। अगर करना ही पडे तो वह भी लाचारी के कारण, अथवा मदद के रूप में उस आदमी को सुधारने के लिए, उसका त्याग करूँगा, न कि द्वेष से या क्रोध से या तिरस्कार से।

उपनिषद् कहता है कि आत्मतत्त्व हरएक में है, यह पहचानने के बाद सब प्राणी मेरे आत्मीय बनते हैं। सब भूतों को अपने मे और अपने को सब भूतों में

देखने पर अपने में जुगुप्सा नहीं रहती। जुगुप्सा का अर्थ है तिरस्कार। (अलग करने की और अलग बनने की इच्छा) ऐसी इच्छा खड़ी न होगी जब मेरे हृदय में विश्वात्मैक्यभाव (सबके प्रति पूरी आत्मीयता) सिद्ध हुआ होगा। उपनिषद् कहता है, 'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वं अनुपश्यतः।'

वैज्ञानिक लोग कोई महत्त्व का शोध होने पर बडा उत्सव करते हैं, क्योंकि उससे मनुष्य-जाति की बहुत बडी प्रगति होगी। यह हो गयी भौतिक विज्ञान की बात। लेकिन जब आध्यात्मिक विज्ञान में ऋषियों को आत्म-तत्त्व का सबसे प्रथम आविष्कार हुआ तब इससे बढकर मानवता के हित के लिए अधिक श्रेष्ठ कोई आविष्कार है नहीं। इतना सार्वभौम आविष्कार होते ही ऋषियों के आनन्द का पार नहीं रहा होगा। उन्होंने कितना बडा उत्सव किया होगा।

आज हम आत्मा शब्द से चिरपरिचित हो गये हैं। हमारे लिए उनमें नवीनता नहीं है। लेकिन जब आत्मा का साक्षात्कार होता है, तब तो लोकोत्तर आनन्द होता ही है और जीवन में स्थायी परिवर्तन भी होता है।

दुनियावी व्यवहार में आत्मीयजनों को हम प्यार करते हैं, अच्छी अच्छी चीजें उनको भेंट में देते हैं, उनकी स्तुति करते हैं। अगर हमारा अधिकार है तो हम उन्हें अच्छी उपाधि देंगे। जमीन या धन देंगे, उच्च पद देंगे और संकट से बचायेंगे।

लेकिन दो आत्मज्ञानियों में मैत्री का सम्बन्ध हो, साथी का हो अथवा गुरु-शिष्य का हो, वह तो आत्मीय सम्बन्ध ही रहा।

जैसा मेरे शरीर के साथ मेरा आत्मीयता का सम्बन्ध है, इसलिए मैं उसे खिलाता हूँ, पिलाता हूँ, जरूरत पडने पर भूखा रखता हूँ, दवाइयाँ देता हूँ, उसी तरह आत्मोत्सर्ग याने बलिदान करने का मौका आने पर उसी उत्कट आत्मीयता के कारण शरीर का बलिदान भी देता हूँ और बलिदान देते समय कभी मन में यह भाव नहीं आता कि शरीर के प्रति मैं कठोर हुआ हूँ। स्वार्थवश होकर, कठोर होकर, शरीर का नाश होने दे रहा हूँ। हम अपने मन में कहते हैं कि शरीर, मन, प्राण, और आत्मा सब एक ही है। बलिदान में ही शरीर की कृतार्थता है और इसी में मेरी और मेरे शरीर की आत्मीयता, अद्वैतता सिद्ध होती है।

उसी तरह का एक प्रसंग आज याद आता है।

हम आश्रमवासी, गांधीजी के साथ रहनेवाले, सब-के-सब सेवाभाव से एकत्र हुए। हमारी परस्पर आत्मीयता सर्वमान्य थी ही।

तो भी जिन लोगों की साधना उत्कट थी, जो लोग आश्रम-जीवन के आदर्श को पूर्ण रूप से समझने की और अमल में लाने की कोशिशें नित्य करते थे, उनमें आत्मीयता विशेष रूप से व्यक्त होती ही थी। एक बार कहीं दंगा हुआ था और बढ़ने की संभावना थी। गांधीजी से हो सकता तो स्वयं वे वहाँ जाते। उनका

स्वभाव ही वैसा था, लेकिन परिस्थितिवश वे वैसा नहीं कर सके थे। उन्होंने मुझसे कहा, "देखो, फ़लानी जगह पर जाकर लोगो को समझाना है। फिर भी अगर दंगा चालू रहा तो वहाँ अपना बलिदान देना है। आज की हालत मे ज्यादा सम्भव यह है कि दंगा टल नहीं सकेगा। तब तो अपना बलिदान देना अपरिहार्य है। मैं स्वयं ही जाता, लेकिन वह शक्य नहीं है। इसलिए तुम्हे भेजता हूँ। मुझे विश्वास है कि आश्रमधर्म के अनुमार ही तुम वहाँ पेश आओगे। इसलिए तुम्हे भेजते हुए मुझे सकोच नहीं है।"

बस इतनी ही बात हुई। मैं स्थान पर पहुँच गया। यह कहने की जरूरत नहीं कि मुझे अपना बलिदान देने की नोबत नही आयी।

लेकिन उस दिन की मेरी धन्यता की क्या कहूँ ? पूज्य बापूजी ने मुझे अपनी जगह भेज दिया और इस तरह मेरे माथ की जो आत्मीयता थी, उसका मबूत दे दिया, इममे अधिक क्या चाहिए ? पूज्य बापूजी मे मैंने अनेक चीजे पायी हैं, लेकिन उस दिन गाधीजी की आत्मीयता का जो अनुभव मुझे मिला, वह तो धन्यता की भी परमावधि थी।

और दीक्षा तो थी ही।

१२. उत्तम आत्म-साधना

हमारी भाषाओं में 'आत्मा' शब्द के दो भिन्न अर्थ होते है। परमात्मा के अशस्वरूप हरएक व्यक्ति मे जो मर्वश्रेष्ठ तत्त्व रहता है, उसे तो आत्मा कहते ही हैं और मामान्य तौर पर हरएक के व्यक्तित्व के लिए, अपनेपन के लिए, भी आत्मा शब्द का व्यवहार होता है। कोई आदमी अपनी ही स्तुति करे तो उम दोष को कहते हैं 'आत्मश्लाघा' और कोई व्यक्ति वेदान्त-साधना के लिए अन्तर्मुख होकर अपने जीवन के सर्वोच्च और सर्वव्यापी तत्त्व का चिंतन करे तो उसको कहते है 'आत्मचिन्तन।' 'आत्म-श्लाघा' और 'आत्म-चिन्तन' दो शब्दों मे आत्मा के अर्थ बिलकुल भिन्न होते हैं। अब एक तीसरा शब्द हम लें, आत्मोन्नति। इसमे हरएक व्यक्ति की अपनी शक्ति बढे, अपना प्रभाव बढे, इसके लिए अगर हर व्यक्ति प्रयत्न करे तो उसको भी हम आत्मोन्नति कहते हैं, और मन, बुद्धि और भावना आदि पर विजय पाकर, तपस्या के द्वारा अपने जीवन पर अगर कोई शुद्ध आत्मा का प्रभाव डाले तो उसे भी आत्मनोन्नति कहते हैं।

वेदान्त की अन्तिम साधना में हम क्या कहते हैं ? उस साधना में हम आत्मा-

परमात्मा के शुद्ध स्वरूप का चिन्तन करके आत्म-शक्ति बढ़ाकर परमात्मा तक पहुँचने की साधना करें तो उसे आत्म-साधना कह सकते हैं।

भले-बुरे हर तरह के व्यक्ति समाज में रहते हैं। वे अपने शरीर को, मन को और भावना को सुख देना चाहते हैं। मनुष्य समाज-सेवा करे, परोपकार करे, स्वार्थत्याग करे तो भी सामान्य व्यक्ति का अन्तिम हेतु आत्मसन्तोष का ही होता है। आत्म-सुख, आत्म-सन्तोष, आत्म-प्रतिष्ठा के लिए हरएक व्यक्ति जीवित रहता है और कार्य करता है। परोपकार, समाज-सेवा, प्रेम, त्याग आदि सुन्दर तत्त्वों के पीछे भी सामान्यतया अपने को ही केन्द्र में रखकर उसी की प्रतिष्ठा बढ़े, उसी को सन्तोष मिले और सुख प्राप्त हो, यही होता है अन्तिम उद्देश्य। मनुष्य कहता है कि मैं प्रेम के लिए जी रहा हूँ। बात सही भी होती है लेकिन मनुष्य कभी प्रेम करता है, कभी द्वेष करता है, कभी बिगड बैठता है। हर समय अपने को ही केन्द्र में रखकर उसी का सुख और उसी की प्रतिष्ठा, यह मुख्य प्रेरणा होती है।

जा व्यक्ति उस अन्तिम आत्म-भकित पर विजय पाने के लिए साधना करता है, उसी की सच्ची मोक्ष-साधना है। मोक्ष में स्वार्थत्याग प्राथमिक वस्तु है। परोपकार, इन्द्रिय-संयम, तपस्या इन सबके पीछे जब 'अपने व्यक्तित्व को मारकर, उसे शून्य बनाने की तैयारी' होती है तभी वह सच्ची मोक्ष साधना है। अपने को नष्ट करके तपस्या द्वारा इन्द्रिय-सुख पर जब मनुष्य विजय पाता है और 'पक्षपात-रहित सर्व को' अपने प्रेम का अन्तिम लक्ष्य बनाकर अपने को पूर्ण रूप से मानो मार डालता है, तभी वह उसको सच्ची मोक्ष-साधना है। उसके द्वारा ही (परमात्मा के साथ जिसका अन्तिम अभेद है ऐसे) आत्म-तत्त्व की प्राप्ति होती है। इसी साधना को विभिन्न शब्दों में हम व्यक्त कर सकते हैं।

''जब हम आत्मा को पूर्ण रूप से मार डालते हैं तभी पूर्णरूप से आत्मा की सच्ची प्राप्ति होती है।''

ऐसी साधना करनेवाले लोगों को देखकर उनकी सेवा और उनकी भक्ति करने से, आत्म-साधना का सच्चा स्वरूप ध्यान में आता है। इसलिए कहा है कि अत्यन्त आदर के साथ सत्-पुरुष की सेवा करने के लिए आत्म-विलोपन की आदत रखनी चाहिए। निष्काम अनन्य सेवा ही उत्तम आत्म-साधना है।

१३. सर्वव्यापी प्रभु का सतत स्मरण

कहाँ भगवान और कहाँ हम ? एक ओर कल्पनातीत विश्व के निर्माता, विश्वस्वामी, सर्वसमर्थ, भगवान, और दूसरी ओर हम ! हम तो उनकी कृति हैं, इस विश्व के एक कण के भी छोटे कण के बराबर नहीं। अपने को भगवान के दास कहना भी हास्यास्पद होगा। कोई छोटा कृमि-कीटक अपने को मनुष्य का दास कहे, नौकर कहे तो जैसा हास्यास्पद होगा, वैसा ही हम अपने को भगवान का दास कहें तो हास्यास्पद होगा। हमारे रक्त में जो लाल और सफेद कॉरपसकल् होते हैं, उन्हें हम अपनी आँखो से देख भी नहीं सकते। भगवान के सामने हमारी ऐसी ही तुच्छतम स्थिति है।

तो भी हम जानते है कि हम केवल शरीर नहीं हैं। शरीर से काम लेनेवाली आत्मा है और हमारी जीवात्मा चाहे जितनी अल्पतम क्यों न हो, परमात्मा का ही वह एक अश है। दोनो में तात्त्विक अन्तर नहीं है।

इसीलिए हम कभी कभी ज्यादातर अपने को भगवान का दास कहते हैं, भगवान की कृति कहते हैं। ज्यादातर अपने को भगवान का अंश ही कहते हैं। लेकिन अद्वैत सिद्धान्त का साक्षात्कार होने पर हमसे रहा नहीं जाता। हम बोल उठते हैं, "अहं ब्रह्मास्मि।"

इस तरह भिन्न भिन्न दृष्टि के अनुसार हम भले, भिन्न-भिन्न ढंग से, भगवान का चिन्तन करे, किन्तु भगवान को भूलना (जो पाप हम नित्य करते रहते हैं) हमारे लिए सबसे बडा अधःपात है।

हम अपना जीवन जीते जाएँ, उसके विकास की साधना असंख्य जन्म करते चले, किन्तु भगवान को हम कभी भूलें नहीं। उसका चिन्तन अखण्ड चलता रहे। वह चिंतन दास के रूप मे हो, अश के रूप मे हो अथवा अद्वैत के रूप में हो, चलना अखंड चाहिए।

हम न मानें कि दास कहने से हम पूरे-पूरे नम्र हो गये। तब भगवान के साथ के हमारे ऐक्य की बात हम कहें तो उसमें अभिमान कहाँ आयेगा ? दास कहने में पूरी नम्रता नहीं आती और 'अहं ब्रह्मास्मि' कहने में अहंकार, अभिमान को अवकाश नहीं है। सम्बन्ध कैसा भी हो, कैसा भी मानें, भगवान को हम भूलें नहीं। किसी भी रूप में हो, हम उसे नमस्कार करते जाएँ।

हम रहते हैं इस विश्व के एक कण के जैसी हमारी पृथ्वी पर। हमारी पृथ्वी सूर्य की अनुचर है। हमें अपने अन्न से लेकर ज्ञान के साक्षात्कार तक सबकुछ सूर्य से मिलता है। हमारे छोटे से जीवन में सूर्य का प्रतिनिधि है अग्नि। इसलिए ऋषियों ने

अग्नि से प्रारम्भ करके अपने जीवन के सब तत्त्वों के द्वारा भगवान की स्मृति और नति चलायी है।

यह है ऋषियों का दिया हुआ प्रार्थना मंत्र :

यो देवोऽ (अ) ग्नौ योऽ (अ) प्सु, यो विश्वं भुवनं आविवेश।
य ओषधिषु, यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः।।

(श्वेताश्वतर उपनिषद् २।१६)

जो भगवान अग्नि में, जो पानी में, जो इस सारे विशाल अनन्त भुवन में, व्याप्त हैं, और छोटी-छोटी घास आदि ओषधियों में, और छोटी-बड़ी वनस्पतियों में व्याप्त दीख पड़ते हैं, उन भगवान को हम पूर्ण हृदय से बार-बार नमस्कार करते हैं।

१४. प्राणी और वनस्पति-सृष्टि के समन्वयकारी ऋषि गृत्समद

हमारे जीवन-चिन्तन में 'प्राण' शब्द अत्यन्त महत्त्व का है। प्राण-शक्ति शरीर में पाँच जगह पर काम करती है। इन पाँच प्रकारों को 'पचप्राण' कहते हैं।

प्राण, अपान, व्यान, उदान, और समान, ये पच प्राण हैं। प्राण हृदय में काम करता है। अपान शौच के गुदाद्वार में काम करता है। समान नाभिमंडल में है। उदान कंठ-प्रदेश में बोलने में मदद करता है और व्यान सारे शरीर मे फैला हुआ रहता है।

इस वक्त हम प्राण और अपान दोनों का ही विचार करते हैं। हमारे आस-पास सर्वत्र हवा फैली हुई है। हम सब साँस लेते हैं, तब हवा में से प्राणवायु पेट में लेते हैं, उसमें ऑक्सीजन की प्रधानता होती है। पेट में से जो हवा बाहर छोडते हैं, उसे अपान कहते हैं। उसमें कार्बन डायोक्साइड होती है।

प्राणियों के लिए प्राण जीवनपोषक होता है। अपान जीवन-नाशक होता है।

विश्वस्वामी ने सृष्टि की रचना ही ऐसी की है कि हमारे आसपास जो वनस्पति है, इसके लिए अपान वायु पोषक है। हम जो अपान वायु छोडते हैं, वह वनस्पति खा जाती है और वह जो छोड़ देती है, वह है प्राणवायु ऑक्सीजन। इस तरह प्राणी और वनस्पति परस्पर सहायक हैं। इस तरह प्राण और अपान मिलकर विशाल सृष्टि को चलाते हैं।

वेदकाल के ऋषियों में से एक खानदान ऐसा निकला, जिसने प्राण और अपान दोनों का अध्ययन चलाया होगा। उस सारे खानदान को उसके मुख्य ऋषि का नाम मिला गृत्समद। 'गृत्समद' शब्द में गृत्स का अर्थ है प्राण और मद का अर्थ है

अपान।

यह गृत्समद-खानदान प्राण और अपान दोनों वायुओं का अध्ययन करते होंगे और दोनों परस्पर सहयोगी हैं, यह देखकर सारे समाज को यह सुन्दर सृष्टि-व्यवस्था समझाते होंगे, ऐसी कल्पना हम कर सकते हैं। इस गृत्समद-ऋषि की जीवनकथा हम सुन लें। बड़े महत्त्व की है। आज हम जातिभेद तोड़कर भिन्न जातियों के बीच और वर्णो के बीच विवाह पसन्द करने की बात समाज को समझाते हैं। इस प्रवृत्ति के लिए भी गृत्समद ऋषि का जीवन अच्छी तरह से प्रेरक और पोषक है।

गृत्समद अंगिरस कुल के थे। बाद में भार्गव हो गये। देखने में गृत्समद इन्द्र के जैसे दीख पड़ते थे। उनको बार-बार कहना पड़ा कि मैं इन्द्र नहीं हूँ, इन्द्र का भक्त हूँ।

कहा जाता है कि इनके पिता रुक्मांगद कहीं बाहर गये थे और उनकी पत्नी मुकुन्दा पर इन्द्र स्वयं मुग्ध हो गये। इन्द्र ने रुक्मांगद का रूप धारण किया। इन दोनों के सहयोग से गृत्समद पैदा हुए। आगे जाकर गृत्समद बड़े विद्वान और तपस्वी बने। इन्होंने गणपति की उपासना की और उनको ब्राह्मण्य गणपति से ही मिला। ''गणानां त्वा गणपतिरं हवामह'' यह मन्त्र गृत्समद ने ही हमें दिया है, जो आज हम बोलते हैं।

इन पौराणिक कथाओं में कुछ गड़बड़ी रहती थी। शायद गृत्समद नाम के दो अलग-अलग पुरुष होंगे। ऋग्वेद के दस मंडलों में से दूसरा मंडल गृत्समद का अथवा उनके खानदान का है। ऋग्वेद के दस मंडलों के मत्र सवा दस हजार या साढे दस हजार हैं। इनमें से दूसरे मंडल के मंत्र ४२९ हैं। ये ऋषि विदर्भ के रहनेवाले थे। उन्होंने वहाँ कपास की खेती करवायी और धागा बनाकर कपड़ा बुनने की कला का भी विकास करवाया। श्री विनोबा का कहना है कि गृत्समद गणित का पंडित था। कृषि और बुनाई दोनों कलाओं में प्रवीण था। ज्ञानी, भक्त और कवि तो था ही। अपने ही श्रम पर जीने का उसका आग्रह था। वेदकाल के श्रेष्ठ दस-बीस ऋषियों में भी गृत्समद का स्थान ऊँचा था।

१५. सर्वोच्च साधना

'हृदयेन हि सत्यम् जानाति।''

सचमुच मनुष्य सत्य को जानता है, पहचानता है, हृदय के द्वारा।

हृदय के मानी हैं भावना। भावना का विकास, भावना का असर, सबसे पहले

सीने के अन्दर लहू का जो खजाना होता है, उस पर प्रतीत होता है। इसलिए लोग मानते हैं कि भावना का उद्‌गम वहीं से है, जहाँ से विचार और बुद्धि का व्यापार चलता है, यानी मस्तिष्क में; लेकिन चूँकि भावना का असर सीने पर होता है, इसीलिए उसी का नाम लिया जाता है।

ऋषि का कहना है कि सत्य का ज्ञान बुद्धि के द्वारा नहीं होता, बल्कि भावना के द्वारा होता है।

जब कोई विज्ञान-शास्त्री प्रयोगशाला में बैठकर ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रयोग करता है, तब उसे बुद्धि के द्वारा ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। वह ज्ञान केवल जानकारी है।

सत्य उससे बढ़-चढ़कर है। सत्य है जीवन का रहस्य। उसकी प्राप्ति हृदय के विकास के बिना, भावना की शुद्धि और उत्कटता के बिना, हो नहीं सकती।

लोग भावना का स्वरूप सोचते नहीं। भावना और वासना का भेद ध्यान में नहीं लेते। जब कोई मित्र अपने दोस्त से कहता है, ''भावनावश होकर बातें मत करो,'' तब सचमुच उसका कहना होता है, ''वासनावश होकर बातें मत करो।''

जब इन्द्रियाँ अपने विषय की ओर दौड़ती हैं और मनुष्य प्रेरणा के वश होता है तब उसको न विशुद्ध ज्ञान होता है, न उसका निर्णय शुद्ध रहता है।

अहं और मम की एकांगिता जब मनुष्य पर सवार होती है तब भी उसे शुद्ध ज्ञान नहीं होता। जब मनुष्य अपने विचार में अपने को ही केन्द्र में रखता है, अपनी लाभ-हानि, अपना स्वार्थ, अपनी प्रतिष्ठा को ही प्रधानता देता है, तब उसके अनुमान शुद्ध नहीं होते। यह भी वासनावशता ही है।

जब ज्योतिषी मानते थे कि पृथ्वी के इर्दगिर्द सूरज घूमता है तब उनका गणित और उनके अनुमान सब गलत होते थे। जब उन्होंने पाया कि सूरज ही केन्द्र है, जिसके इर्दगिर्द पृथ्वी आदि सब ग्रह घूमते हैं तब सारा ज्योतिषशास्त्र सही और सरल हो गया। वाल्ट विटमैन कवि के बारे में किसी ने जो कुछ कहा है, उसे तो जाने दीजिये, एक मिशनरी ने कहा कि पृथ्वी ही इस विश्व का केन्द्र हो सकती है। इसका कारण उसने बातया कि भगवान का पुत्र ईसामसीह का जन्म जहाँ हुआ, वही भूगोल विश्व का केन्द्र हो सकता है। उसी तरह से सोचनेवाले को लोग कहते हैं कि वह भावनावश होकर सोच रहा है। सच देखा जाय तो यह भावानवशता नहीं है, यह है वासनावशता या अहंकार-मूलक एकांगिता।

भावना तो जीवन का सार-सर्वस्व है। भावना का रूप समझना चाहिए।

विश्वात्मैक्य, सत्यनिष्ठा, आत्मपरायणता, श्रद्धा, मांगल्य के ऊपर विश्वास, अमृत-तत्त्वों के ऊपर विश्वास, ये सब भावना के प्रकार हैं। इन्हीं के द्वारा जीवन

का रहस्य पाया जाता है। इसलिए ऋषि कहते हैं, "हृदयेन हि सत्यम् जानाति।" आगे जाकर ऋषि कहते हैं, "हृदय ही आत्मा है, हृदय परब्रह्म है।"

इसीलिए मनुष्य को चाहिए कि जीवन द्वारा वह हृदय-सिद्धि के लिए कोशिश करे। यही सर्वोच्च साधना है।

१६. भूमा का साक्षात्कार

यो वै भूमा तत्सुखम् नाल्पे सुखमस्ति।
यो वै भूमा तत् अमृतं, अथ यत् अल्पं तद् मर्त्यम्।

(छन्दोग्य ७, २३)

सर्व, विराट, विशाल, भूमा, ब्रह्म, अमृत, अनन्त, विभु, सनातन (सदातन), ये सब संस्कृत भाषा के प्रिय शब्द हैं। इनके अर्थ का ध्यान करते हुए भारतीय मानस मस्त हो जाता है। आदमी कैसा भी क्यों न हो, इन शब्दो का नाम लेकर जब उसको आह्वान किया जाता है, पाचारण किया जाता है, इनकी प्रेरणा जब उनको मिलती है, तब वह उनको इनकार नहीं कर सकता।

जो भूमा है, सर्वव्यापी है, सर्वग्राही है, वही सुख है, उसमें भमरता है। जो अल्प है, वह तुच्छ है, उसमें सुख नहीं। वह क्षणजीवी मृत्यु से घिरा हुआ है। जो भूमा हे, वह अपनी ही प्रतिष्ठा में स्थित है, स्थिर है।

जब हम सकुचित भाव छोडने को कहते हैं, तब भारतीय मनुष्य माने या न माने, लेकिन उसका हृदय कहता है कि यह अपील सही है, उसके मानने से हमारा कल्याण ही होगा। यही कारण है कि विविधता को हर तरह का प्रश्रय देते हुए भी हम एकता को भूल नहीं सकते। हमने एकता में ही सुरक्षितता देखी है। जहाँ दो आये, वहीं झगडा जरूर होगा, वहाँ भय पैदा होगा। इसलिए भेद को मिटा दो, कम-से-कम उसे गौण करो। भेद में भी अभेद के तत्त्व ढूँढ लो और उसी को महत्त्व दो। यह है भारतीय हृदय की सीख।

चिरन्तन काल तक ध्यान करते भारतीय बुद्धि और हृदय ने पाया कि भेद के जो भी तत्त्व हैं, सब छिछले हैं, अल्पजीवी हैं और परम कल्याण की दृष्टि से सोचें तो निःसार हैं। उनकी संख्या भी, सोचा जाये तो, बहुत कम है। इसके विपरीत जो अभेद के तत्त्व हैं, वे हैं गहरे, सुगम्भीर, दीर्घजीवी या स्थायी। वे हैं भी विपुल और सारपूर्ण। इसलिए भेद को समझना है, उन्हें गौण करने के लिए, उन पर विजय पाने के लिए और अभय की छत्रछाया में उनमें परस्पर अविरोधी व्यवस्था स्थापित

करने के लिए। हमारे हृदय की निष्ठा तो अभेद को ही मिलेगी, उसी की स्थापना हम सर्वत्र करेंगे। उसी से हम कृतार्थ होगे। जहाँ भेद है, वहाँ विग्रह है। जहाँ अभेद आया, वहाँ शान्ति, सुख और प्रगति का वायुमंडल पैदा हो गया।

इस अभेद के द्वारा हम धीरे-धीरे भूमा का साक्षात्कार कर लेते है। वही है परमकल्याण, वही है सच्चा सुख और वही है परम आनन्द।

हमारी साधना व्यक्तिगत हो या सामाजिक हो, हर तरह की साधना मे हम इसी कसौटी को लेकर चले कि क्या हम अल्प की ओर जा रहे हैं या भूमा की ओर, और अगर भूमा की ओर ही जा रहे हैं तो क्या हमने अपनी साधना का मार्ग दृढ बनाया है या उसे पोला रहने दिया है ? हमारा आकाश भी पोला नहीं है। वह है भूमा, वह है ब्रह्म। 'ब्रह्म' याने सबसे बडा, बृहत्तम—जो सबसे बडा है, सनातन विभु है, सर्वसमर्थ है और नित्यतृप्त है। उसी की उपासना करनी है, उसी से शान्ति मिलेगी ओर उसी के द्वारा हम शान्ति प्रदान भी कर सकेगे। सचमुच जो अल्प है, उसमे सुख नही। वह मर्त्य है। जो भूमा है, वही सुख है, वही अमृत है।

१७. प्राणोपासना

"जीवापेतम् वांव किलेदम् म्रियते, न जीवो म्रियते।"

(छन्दोग्य ६-११'३)

जब जीव यानी प्राणी इस शरीर को छोड़ देता है, तब शरीर मरता है, जीव नही मरता।

प्राण और जीव भी एक नहीं है। सॉस लेनेवाला प्राणी या सत्त्व प्राण के द्वारा जीते है। ऐसे भी मत्त्व है, जिनको जीने के लिए प्राण की जरूरत नहीं है। जीव का अनुवाद अग्रेजी मे 'लाइफ' से होगा। यह जीव जीना और मरना दोनो मिलाकर जो सातत्य है, उसका बोधक है। मरने से जीव का न अन्त होता है, न नाश।

आजकल के ज्योतर्विद कहते हैं कि चन्द्र के ऊपर जीवन नहीं है बुध के ऊपर भी नही है, क्योकि दोनो के ऊपर वायुमडल नहीं है। वायुमडल अपने इर्दगिर्द खींचकर रखने की शक्ति उन दोनो गोलो मे नहीं है। अगर इन दोनो के यहॉ हमने यहॉ से कुछ वातावरण भेज भी दिया तो वह वहाँ टिकेगा नहीं, उड जायेगा, क्योंकि ये दोनों गोले इतने छोटे हैं कि उनका आकर्षण (ग्रेवीटेशन)

वायुमंडल को पकड़ रखने में समर्थ नहीं है। जहाँ पर वायुमंडल है और कुछ पानी है और आवश्यक उष्णता भी है वहीं पर जीवन सम्भव है। इस वास्ते सूर्य और चन्द्र दोनों पर जीवोत्पत्ति हो नहीं सकती, ऐसा ज्योतिर्विदों का कहना है। इनमें से जो सूक्ष्म बुद्धिवाले हैं, वे कहते हैं, "जीवन, जैसा कि हम जानते हैं, सूर्य या चन्द्रमा पर सम्भव नहीं है।"

सच बात यह है कि जीवन या जीव के अनेक प्रकार हैं। सूर्य के ऊपर प्रचंड उष्णता है। हम बरदाश्त कर सकते हैं, उससे लाख गुनी होगी। लेकिन इतनी उष्णता ही कम-से-कम जिसे चाहिए, ऐसा जीवन सूर्य पर हो सकता है। उसका रूप भिन्न-भिन्न होगा, लेकिन वह चैतन्य की ही एक विभूति होगी।

जीव की व्याख्या हमारे लोगों ने की है— अस्ति, जायते, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, मृत्यते। ये छः गुण जीव में पाये जाते है। जो होता है, जन्मता है, बढ़ता है, बदलता है, क्षीण होता है और मरता है, वह है जीव। इसमें मरने की बात सचमुच शरीर के लिए है, जीव के लिए नहीं है, उपनिषद् के ऋषि ने यही बताया है। जीव के शरीर में रहना स्वीकार किया तो जन्म लेना, बढना, क्षीण होना, मरना, ये झंझट उसके पीछे लग जाते हैं। इसे चाहे उसका झंझट कहें या विशेष शक्ति कहे, अस्ति यानी 'सतत होना' के साथ ही सोचना चाहिए।

जहाँ-जहाँ चैतन्य प्रकट होता है, वहाँ जीव अपना कार्य करने लगता है और शरीर धारण करके सब तरह के अनुभव लेता है। शरीर के धर्म अलग और चैतन्य के धर्म अलग, इन दोनों का साथ रहना मुश्किल है, तो भी साथ रहने का प्रयोग अखंड चलता ही है। आत्मा इस जीव से भी सूक्ष्म है। किसी मनुष्य के मरने पर हम कहते हैं कि उसका प्राण निकल गया, जीव ने उसके शरीर को छोड़ा; पर हम यह नहीं कह सकते कि उस मृत शरीर में आत्मा नहीं है। आत्मा विभु है, सदा-सर्वत्र है ही। आत्मा चैतन्य नहीं है, ऐसा हम नहीं कह सकते; लेकिन प्राण के अभाव में वह व्यक्त नहीं हो सकती।

अगर इस दृष्टि से सोचा जाये तो आत्मा को पहचानना ही हमारा कर्तव्य रह जाता है। आत्म-प्राप्ति की साधना के कोई माने नहीं रहते। जो आत्मा सर्वत्र-सर्वदा है ही, उसकी प्राप्ति के कोई माने ही नहीं। अगर कोई साधना करनी है, उपासना करनी है तो वह है प्राण की। इसलिए उपनिषद् के ऋषियों ने प्राणोपासना का बड़ा महत्त्व बताया है। प्राणोपासना सिद्ध होने पर जो सर्वत्र-सर्वदा है ही, उस आत्मा का साक्षात्कार होता है। आत्मा का साक्षात्कार करना, उसका सतत स्मरण रखना, उसी को साररूप समझाना, यही है हमारा कर्तव्य।

लेकिन हमारा धर्म है जीव को, 'लाइफ' को पहचानना और उसके स्वभाव के अनुरूप हो जाना।

जितने भी धर्म हैं, संस्कृतियाँ हैं, ये सब जीव के विकास के लिए हैं। जीव एक कहें या अनेक, सर्वत्र हैं और उनमें एकता है। उनका सातत्य अखंड, अबाधित है। जीव के परिचय के द्वारा विश्वात्मैक्य का अनुभव करना, यही है परमपुरुषार्थ। जीव-जीव के बीच जो आत्मीयता है, उसे पहचानना और उस आत्मीयता के साथ वफादारी या निष्ठा कायम रखना, यही है धर्म का स्वरूप।

सब जीवों के साथ हमारा ऐक्य स्थापित होने पर स्वार्थ, अभिमान, मत्सर, क्रोध आदि सब विकार अपने आप नष्ट हो जाते हैं। 'तत्र को मोह: क: शौक: एकत्वम् अनुपश्यत: द्वितीयात् वै भयं भवति।' जहाँ एकता का अनुभव किया, वहाँ सिर्फ प्रेमानन्द ही रहता है, उसी को आत्मानन्द भी कहते हैं। उसे प्राप्त करना, यही है जीवन-साधना। निष्काम सेवा और बलिदान से ही यह साधना सिद्ध होती है।

१८. धर्म

'धर्मात् परम् नास्ति, अतो अबलीयान् बलीयांसम् आशंसते धर्मेण यथा राज्ञा।''

(बृहद् आरण्यक १-४-१४)

धर्म से बढ़कर या श्रेष्ठ कोई तत्त्व नहीं है। धर्म के द्वारा कमजोर भी बलवान को काबू में रखता है, जैसे कि राजा।

यहाँ पर ऋषि कहते हैं, जो सत्य है, वही धर्म है। जो धर्म है, वही सत्य है।

मुझसे एक बार पूछा गया कि एशिया की संस्कृति की बुनियाद क्या है ? मैंने नि:शंक होकर जवाब दिया, ''धर्म।'' हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, इस्लाम धर्म ईसाई धर्म आदि अनेक धर्मों की जो बात चलती है, उसका जिक्र मैंने नहीं किया था। ये धर्म आपस मे लड़ते भी हैं। इनके सिद्धान्तों में परस्पर विरोध भी है। इस्लाम ईश्वर को मानता है, जोरों से मानता है। ईश्वर को जो नहीं मानते हैं, उनके साथ उसका झगड़ा है। लोकारूढ़ इस्लाम मानता है कि ईश्वर और मनुष्य के बीच किसी भी प्रकार की समानता नहीं है। इस्लाम का रहस्य जिसमें पाया जाता है, वह सूफी मत अलग है, उसका जिक्र यहाँ नहीं कर रहे हैं। इस्लाम कहता है कि ईश्वर शादी नहीं करता, इसलिए न वह किसी का पिता है, न उसका कोई पुत्र है।

ईसाई कहते हैं कि ईसामसीह ईश्वर का पुत्र है।

जैन धर्म ईश्वर को नहीं मानता लेकिन आत्मा के अस्तित्व में उसका विश्वास

है। आत्मा अनेक हैं, और उनकी संख्या परिमित है, ऐसा भी कहा जाता है।

बौद्ध धर्म न ईश्वर को मानता है, न आत्मा को। बौद्धों का कहना है कि आत्मा कोई चीज नहीं है, एक धर्म मात्र है।

और हिन्दू धर्म में क्या-क्या माना जाता है और क्या-क्या नहीं माना जाता है, उसका पता चलाना आसान नहीं है। हम कहने हैं कि आत्मा और परमात्मा एक ही है। हम कहते हैं कि सब प्राणी ईश्वर के पुत्र-पुत्रियाँ हैं। हम कहते हैं कि ये सब ईश्वर के अंश हैं। हम कहते हैं ईश्वर एक है, किन्तु उसकी विभूतियाँ अनन्त हैं। हम मानते हैं कि जन्म-परम्परा अखण्ड चलती है। जन्म के बाद मृत्यु, मृत्यु के बाद जन्म, ऐसा ताँता चलता ही है। हम मानते हैं कि पशु भी मनुष्य का जन्म ले सकते हैं और मनुष्य पशु का। पशु यानी मनुष्येतर सब प्राणी।

स्वर्ग-नरक की कल्पना धर्मो में है, लेकिन उसमें भी एकता नहीं है।

ऐसी अनवस्था होते हुए भी इन सब धर्मो मे एक आध्यात्मिक कानून पर विश्वास पाया जाता है। इस कानून को धर्म या 'धम्म' कहते हैं। अगर आत्मा है तो उसका कर्म और उसका स्वभाव धर्म है। अगर आत्मा नहीं है और केवल सस्कार-ही-संस्कार जीवन का सत्य है तो वह संस्कार भी किसी एक कानून के वश रहता है। ऐसा जो सर्वश्रेष्ठ, सार्वभौम कानून है, उसी को कहते हैं धर्म। ईसाइयों का ईसाई धर्म, मुसलमानों का इस्लाम, यहूदियों का कगर, सब कोई इस सनातन, सार्वभौम कानून को मानते हैं और उसकी सर्वोपरिता, सार्वभौम अधिकार मानते हैं। बोद्धों का धर्म वही है और हिन्दुओं का दशविध धर्म भी वही है।

आजकल हम जब मौगन्ध खाते हैं तो भगवान के नाम मे. एक-दूसरे के नाम मे या अपने सिर से सौगन्ध खाते हैं। सारी रामायण में किसी ने भी भगवान के नाम से कसम नहीं खाई है। वहाँ कसम खाते हैं धर्म के नाम से— धर्मेण शपे— "धर्म की सोगन्ध खाकर कहता हूँ," यही वचन वाल्मीकि के आदि-काव्य मे पाया जाता है। धर्म मे बढकर कोई चीज है नहीं। अगर ईश्वर है तो भले हो, आत्मा है तो बहुत अच्छा न है तो न सही, लेकिन मनुष्य के जीवन का प्रत्यक्ष और अखंड सम्बन्ध आता है धर्म के साथ। जीवन का विकास होता है धर्म के पालन मे। जीवन का संकोच या अध:पात होता है धर्म का द्रोह करने से। यह पृथ्वी चलती है धर्म को लेकर ही। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारे सब कोई धर्म का ही पालन करते हैं और मृत्यु भी सारे विश्व पर अपना राज्य चलाती है धर्म के वश होकर। सबका नियमन करना, सबका नियंत्रण करना मृत्यु का काम है। इसलिए मृत्यु को यम-धर्म भी कहते हैं। इस सारे विश्व में अगर कोई परम आर्य है, अर्हत् है तो वह यमधर्म मृत्यु ही है। औरों के हाथों अन्याय हो सकता है, मृत्यु स्वयं न्यायमूर्ति है। वरुण और यमधर्म सारे विश्व में धर्म का राज्य चलाते हैं। इसलिए सब देव-देवियों के ऊपर

भी इनका राज्य चलता है।

यह यम या यमधर्म बाहर से मनुष्य का नियमन करते हैं। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य आन्तरिक यम हैं। ये ही मनुष्य के व्यक्तिगत एवं सामाजिक परमधर्म हैं। इस आन्तरिक यमधर्म का जो पालन करते हैं, उन पर बाहरी यमराज या मृत्यु का कुछ भी अधिकार नहीं चलता। "यमः संयमितो येन, यमः तस्य करोति किम्।" सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि यमों का जिसने अनुशीलन किया, यम जिसने यमा, संयमा, उसका यमराज क्या कर सकते हैं ?

यहाँ राज्य नहीं है, अराजक है, कानून नहीं चलता, वहाँ पर जबरदस्त का मनमाना कारोबार चलता है। लेकिन जहाँ समाज ने धर्म को माना, वहाँ कमजोर आदमी भी जबरदस्त को काबू में रख सकता है। सामाजिक जीवन में जो समाज-निष्ठा रहती है, वही है धर्म। न्यायनिष्ठा अथवा 'सर्वभूतहिते रतत्व', यही है धर्म। इसी को आज हम कहते हैं सर्वोदय।

इस धर्म का स्वीकार करने मे मनुष्य में मनुष्यत्व आता है और उसका विकास होता है। धर्म मे बढ़कर कुछ भी नहीं है। धर्म के कारण ही समाज की व्यवस्था और विश्व की व्यवस्था चलती आई है। यह धर्म सृष्टि के पहले भी था, आज भी है और मृष्टि को चलाता है और सृष्टि नहीं होगी, नब भी धर्म तो चलेगा ही। धर्म ही सनातन है, धर्म ही सार्वभौम है, और धर्म ही जीवन का सार है।

१९. विश्वात्मैक्य का आनन्द

उपनिषदों में शुरू से आखिर तक आत्मा और ब्रह्म की खोज है। किसी इतालवी विद्वान ने कहा है कि वेद में जो 'तन्‌र्मयि' जैसे शब्द आते हैं, उन्हीं पर से आत्मा शब्द आया है। वह जो मुझमें है, वह है आत्मा। उपनिषदों में आत्मा की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से दी है।

आप्नोति पाता है, आदत्ते लेता है, अन्ति खाता है सब कुछ वह है आत्मा। सब कुछ पाता है, सब कुछ ग्रहण करता है, सब कुछ खा जाता है, वह है आत्मा। आत्मा की दूसरी व्याख्या "अत्" धातु से की है (अत् सातत्य गमने)। अखंड चलते रहना, जीते रहना, सतत होना, सतत कार्य करना, यह है आत्मा का स्वरूप। "यदाप्नोति-यदादत्ते यच्चात्ति विषयान् इह, यच्चास्य सन्ततो भावः तस्मात् आत्मेति कीरत्यते," अगर जीवन में किसी चीज की खोज करनी है, किसी चीज को पाना

है, किसी के द्वारा सब कुछ प्राप्त करना है तो वह आत्मा है। वही है देखने योग्य, सुनने योग्य, मनन करने योग्य, और निदिध्यास करने योग्य। उस आत्मा के दर्शन से, श्रवण से, मनन से और विज्ञान से सारे विश्व का रहस्य पाया जाता है। यह आत्मा हमारे अन्दर है, हमारे जीवन का सार है। पंचभूतात्मक सृष्टि उसी के अन्दर फँसी हुई है।

मनुष्य ने जब अपनी खोज की तब इन्द्रियों के साथ, 'करण' के साथ, सहयोग करनेवाला एक अन्दरूनी करण भी उसने पाया। उसने उसे 'अन्तःकरण' कहा। इस अन्तःकरण को समझने की कोशिश करते चित्त, चित्तवृत्ति, मन, बुद्धि, अहंकार आदि उत्तरोत्तर और सूक्ष्म तत्त्वों को उसने पहचान लिया और बाद में इन सबके परे जो है अथवा अन्दर जो है, उसे उसने 'अन्तरतर' कहा। वही थी आत्मा।

जिस तरह मनुष्य ने अपने अन्दर खोज आरम्भ की, उसी तरह और शायद उसके पहले उसने बाह्य सृष्टि का रहस्य समझने की कोशिश की। सबसे पहले उसका ध्यान गया पृथ्वी-तत्त्व पर। उसी पर हम खड़े रहते हैं। वही हमारा आधार है। पृथ्वी के बाद उसने देखा पानी। उसका कार्य देखते हुए मनुष्य ने उसी को 'जीवन' कहा। पानी के बिना हम जी नहीं सकते है। पानी समस्त जीव-सृष्टि का आधार है। यह जो बाह्य सृष्टि में पानी दीख पड़ता है, इससे भी सूक्ष्म पानी उसने देख लिया, जिसमें पंचमहाभूतात्मक सारी सृष्टि पैदा हुई है।

पानी की उपासना के बाद उसने तेज को लिया। सूर्य, चन्द्र, विद्युत और अग्नि चारों में उसने तेज को देखा (सोने की चमक देखकर अथवा दूसरे किसी कारण, उसको उसने पृथ्वी में से उठाकर तेज-तत्त्व में डाल दिया।'

तेज की उपासना मनुष्य को बहुत ही आकर्षक हुई। लकड़ी के दो टुकड़े और एक दूसरे के साथ घिसने से धुआँ निकलता है, बाद में चिनगारियाँ निकलती हैं और अग्नि प्रकट होती है। यह देखकर उसने अरणि का मन्थन चलाया और उसमें पैदा हुई अग्नि को वह आहुति देने लगा। यह था सबसे पहले का धर्म। वैदिक धर्म की बुनियाद ही यज्ञ पर है। इसी यज्ञ के द्वारा तप, त्याग, बलिदान और सेवा के सामाजिक सद्‌गुणों को उसने पाया। यज्ञ और तप, दान और सेवा, यही है मनुष्य का प्रधान धर्म। तप और यज्ञ के द्वारा तेज-तत्त्व की उपासना करने के बाद वायु की बारी आयी। वायु तो हमारा श्वास है, प्राण है। इस प्राण की उपासना करते-करते पूर्वज योग-साधना तक पहुँचे। प्राणोपासना हमारे पूर्वजों की बहुत बड़ी साधना थी। प्राणोपासक तेजस्वी था। वह कभी दीन होकर याचना नहीं करता था। प्राणोपासक कभी परास्त नहीं हुआ। आजकल हम शक्ति बढ़ाने के लिए पौष्टिक आहार लेते हैं, विटामिन खाते हैं, वर्जिश या व्यायाम करते हैं, स्नायु को मजबूत

करते हैं, शुद्ध वायुसेवन के द्वारा अपने शरीर को और खून को शुद्ध करते हैं। लेकिन मज्जा-तन्तु की शक्ति बढ़ाने की साधना हम भूल गये हैं। मनुष्य का असली सामर्थ्य उसके स्नायुओं पर निर्भर है। वह शक्ति अगर क्षीण हुई तो उसे वापस कैसे लाना, यह लोग अब भूल गये हैं। हमारे पूर्वजों ने ब्रह्मचर्य और प्राणोपासना के द्वारा वह शक्ति बढ़ायी थी और उन्होंने अपनी आयु की मर्यादा में भी वृद्धि की थी। यह प्राणोपासना हमें फिर से ढूँढ़ निकालनी होगी और उसका अनुशीलन बडे पैमाने पर करना होगा। संध्या-वन्दन में जो सूर्योपासना आती है, वह भी प्राणोपासना ही है।

इसके बाद मनुष्य ने देखा कि सारे विश्व को घेरे हुए है आकाश। वह हमारे हृदय में भी है और सारे विश्व में भी फैला हुआ है। आकाश को देखकर आर्य-मानस स्तम्भित हो गया और उसने आकाश की उपासना जोरों से की। यह पचभृतात्मक विश्व आकाश में ओतप्रोत है। इसकी उपासना करने से स्थैर्य और आनन्दैक्य मिलेगा। यह देखकर उसने आकाश को ही अनन्त का नाम दे दिया।

जिस तरह अन्दरूनी उपासना में अहंकार के बाद आत्मा की प्राप्ति हुई, उसी तरह बाह्य उपासना में आकाश के बाद अक्षर-ब्रह्म की प्राप्ति हुई। जो बडा है, बृहत् है, बृहत्तर, बृहत्तम है, वही है ब्रह्म। ब्रह्म से बढकर कुछ है ही नहीं।

जब मनुष्य की साधना अत्यन्त उत्कट हुई तब उसने पाया कि अंतरतर और अंतरतम जो आत्मा उसने पाया और बृहत्तम ब्रह्म को पाया, ये दोनो एक हैं। तब उसने चिल्लाकर कहा, "अय, आत्मा ब्रह्म।" यह हमारे उपनिषदों का प्रथम महावाक्य है। मनुष्य ने और भी एक चीज पाया। आत्मा को सचमुच पाते ही उसे परम आनन्द प्राप्त होता है। इसी तरह परब्रह्म को पाते ही वैसा ही एक परम् आनन्द जिसने जान लिया, वह कभी भी और किसी से भी डरता नहीं, "आनन्द ब्राह्मणो विद्वान न बिभेति कदाचन।"

और जब उसने आत्मानन्द और ब्रह्मानन्द को पाया और दोनों की एकता अनुभव हुई तब उसे इस अद्भुत अद्वैत का ज्ञानानन्द प्राप्त हुआ। अगर कोई परम आनन्द है तो वह अद्वैतानन्द ही है। इस अद्वैत ही को कहते हैं विश्वात्मैक्य। सारे विश्व के साथ अपना अभेद, अपना ऐक्य सब तरह से पाना, यही है सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष से असली पुरुषार्थ नहीं है। पुरुषार्थ के उत्तम साधन होने के कारण उन्हें पुरुषार्थ कहते है। असली एकमात्र पुरुषार्थ तो विश्वात्मैक्य का आनन्द पाना ही है।

यह जिसने पाया, उसका हृदय, उसका आशय बडा हो गया। वह हुआ ब्राह्मण। असली ब्राह्मण तो वही है, बाकी के सारे नामधारी ब्राह्मण हैं।

यह सर्वश्रेष्ठ और एकमात्र पुरुषार्थ जिसने नहीं पाया, उसकी दीनता, उसका दारिद्र्य कभी दूर नहीं होता। वह हमारी दया का पात्र है, कृपा का पात्र है। कृपा का पात्र होने से उसे कृपण कहा है। कृपण देता नहीं, याचना करता है। प्रतिग्रह की खोज में रहता है, इसीलिए वह कृपण है। दान की खोज में दौड़ने वाले और दान का माहात्म्य गानेवाले ब्राह्मण उपनिषदों की भाषा में सचमुच कृपण हैं। मनुष्य-जाति की इन दो जातियों में भी उपनिषदों ने भेद बताया है— कृपण और ब्राह्मण। हर एक कृपण को ब्राह्मण बनाना, यही है सर्वोत्तम समाज-सेवा और विश्वपूजा।

२०. पुरुष की अन्तिम गति

"पुरुषात् न परम् किंचित्।"

(कठ १-३-११)

विश्व का रहस्य क्या है, सो हम कैसे जानें ? इस सारे विश्व का जो अध्यक्ष है, वही शायद जानता होगा।

वैदिक ऋषि कहते हैं, "हम कैसे कहें कि वह भी जानता है। शायद वह भी नहीं जानता।"

लेकिन इस विश्व में जो हम हैं, हमारे लिए इस विश्व का रहस्य जरूर कुछ हो सकता है, जो हमसे अज्ञात नहीं हो सकता। हमारी दुनिया का, हमारे विश्व का, रहस्य हम न जानें, यह हो नहीं सकता। जो विश्व हमारी बुद्धि से गोचर है, उसका रहस्य पाने की मनुष्य-जाति ने चेष्टा की। विज्ञानशास्त्र ने मानसशास्त्र ने और समाजशास्त्र ने अपने-अपने ढंग से परम रहस्य को पाने की कोशिश की। इसमें अध्यात्मशास्त्र की मदद से ही हमने वह रहस्य पाया। वह है 'पुरुष'। पुरुष के मानी हैं पर्सनैलिटी (व्यक्तित्व), ह्यूमन पर्सनैलिटी (मानवीय व्यक्तित्व) एण्ड (और)सुपर ह्यूमन पर्सनैलिटी (दैवी व्यक्तित्व)।

"पुरि शेते इति पुरुषः— " पुर् यानी यह शरीर। इसके अन्दर जो सोया हुआ है, जागृत हो सकता है, वह है पुरुष। दर्शनशास्त्री इसे कहते हैं आत्मा या अन्तरात्मा। जो हमारे अन्दर है वह है आत्मा। जीवन-शास्त्री कहते हैं, वह है पुरुष, वही हमारे सारे विश्व का केन्द्र है। वही उसका प्रेरक और नियामक है। उसके लिए यह सारा विश्व है। उसी का यह क्षेत्र है अथवा उसकी यह सब लीला है। इससे बढ़कर कुछ है नहीं। सारे विश्व की और विश्व-जीवन की पराकाष्ठा इस पुरुष में पहुँच

गयी है। यही पुरुष हमारे हृदय में बैठा हुआ है। यही पुरुष हमारे हृदय में पाया जाता है। सब प्रजाओं में प्राण का स्फुरण करनेवाला यह जो सूर्य हमारे सामने उगता है, उसमें भी वही पुरुष है। सूर्य के तेजस्वी बिम्ब के अन्दर वह पुरुष विराजमान है, उसे हम कहते हैं— सूर्यनारायण। नारायण शब्द की व्याख्या फिर से ध्यान में लानी चाहिए।

भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों के नर-नारियों के समूह को शास्त्रकारों ने 'नार' कहा है। "नराणां समूहः नारम्।" यह 'नार' जिसका रहने का स्थान 'अयन' है, वह है 'नारायण।' वही हमारे हरएक व्यक्ति के हृदय मे रहता है। वही पाया जाता है, समस्त मानव-जाति के हृदय मे। उसे हम समाज-पुरुष कहते हैं और वही पाया जाता है सूर्यबिम्ब में, जिसकी हम सब मानव रोज उपासना करते है। उसका उदय देखते ही हम गा उठते हैं— 'प्राणः प्रजानाम् उदयति एष सूर्यः।''

यह जो सर्वव्यापी, अन्तरबाह्य पुरुष है, वही हमारे जीवन का और विश्व जीवन का परम रहस्य है। वही हमारा प्रेरक है, उसी की उपपासना मे हमारी सब शक्तियाँ जागृत होती है और उसी के द्वारा हमारी साधना सिद्ध होती है। पुरुष से बढ़कर कुछ है नहीं। आजकल हम अंग्रेजी के आदी हो गये हैं। पुरुष कहने से जो बोध नही होता, वह हमें पर्सनॅलिटी (व्यक्तित्व) कहने मे अधिक ध्यान में आता है। आत्मा तो निराकार, निर्गुण सर्वव्यापी तत्त्व है। उसके स्मरण से भावनाएँ आज उमड नहीं आती। 'पर्सनॅलिटी' कहने से आत्मा के इर्द गिर्द जो भी संस्कार और गुण-धर्म इकट्ठा हुए है, उन सबका बोध होता है। 'पर्सनैलिटी' शब्द कुछ जीवित-सा लगता है। अपने जीवन का प्रतिबिम्ब उसमे हम पाते है, वही हमारे जीवन का यथार्थ सत्य है। 'पर्सनैलिटी' का बोध होने के बाद पुरुष शब्द का पूरा अर्थ हम फिर से पाते है।

यह पुरुष हरएक के हृदय में बसा हुआ है, लेकिन सर्वत्र एक ही पुरुष अपनी भिन्न-भिन्न साधना करके आत्मपरिचय पाता है। अनन्त रूपों में अनन्त व्यक्तियों के द्वारा अपनी साधना करने की लीला उसे पसन्द है और इतनी विविधता में उसकी एकता टूटती नहीं। यही है उसका अन्तरतम अनुभव और उसी अद्वैत के द्वारा जो आनन्द मिलता है, वही है परम आनन्द।

हाथों में रबड़ का एक टुकड़ा आते ही हम खींचने लगते हैं। अधिकाधिक खींचकर हम अनुभव करना चाहते हैं कि कहाँ तक खींचने से वह टूटता नहीं। हम तनाव बढाते हैं और अनुभव करते हैं कि इतना तनाव भी यह रबड़ सहन कर सकता है। उसी का एक आनन्द होता है। इसी तरह का आनन्द है एक ही पुरुष आनन्दरूप धारण करके तरह-तरह की साधना करते हुए, विविध अनुभव

लेते हुए, अपनी एकता को नहीं खोने का नहीं। इसी एकता के कारण हम औरों के अनुभव को अपना सकते हैं और अपना अनुभव औरों पर प्रकट कर सकते हैं।

ऐसी साधना के फलस्वरूप हम पाते हैं कि यह सारा विश्व सचमुच हमारे हृदयस्थ पुरुष का ब्रह्म मन्दिर है। सारा विश्व मिलकर एक ही हस्ती होती है। समस्त जीवन भी एक है। इसमें रहनेवाला और साधना द्वारा जीवन का विकास पानेवाला पुरुष भी एक है और यह एकता कभी टूटती नहीं। यह पुरुष की अन्तिम गति है।

२१. मूर्ति-पूजा

"न तस्य प्रसतिमा अस्ति यस्य नामः महद्यशः।"

(श्वेताश्वर ४-१९)

ऋषि कहते हैं, जिसका नाम हमने रखा है 'महद् यश' उसकी कोई प्रतिमा नहीं है। जो अरूप है, उसकी प्रतिमा कैसे हो सकती है ? इसी चीज को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने आगे कहा है:

"न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनं एवं विदुर अमृतास्ते भवन्ति।।"

इस भगवान का स्वरूप आँख के लिए नहीं ठहरता। कोई भी उसे आँखों से नहीं देख सकता। जो उपासक इस हृदय मे स्थित भगवान को हृदय से और मन से इस तरह पहचानते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं।

कुछ लोग इस श्लोक पर से घटाते हैं कि उपनिषद्कारों को मूर्तिपूजा मान्य नहीं है।

इसमें कोई शक नहीं कि भगवान का दर्शन आँखो का विषय नहीं है। मूर्ति कोई भगवान नहीं है लेकिन अपनी उपासना के लिए अगर कोई अपने सामने भगवान का प्रतीक रखे तो उसका इस वचन में निषेध नहीं पाया जाता। हमारे लोगों ने मूर्ति-पूजा की स्थूल कल्पना की ही नहीं थी। ऊपर का वचन पुराने उपनिषदों में होने से इसका महत्त्व ज्यादा है। तेरह उपनिषद् सबसे पुराने माने जाते हैं। सनातनियों की दृष्टि से सबके-सब उपनिषद् एक-से महत्त्व के हैं। उसमें तर-तम हो नहीं सकता। लेकिन सनातनी भी उन उपनिषदों को ज्यादा महत्त्व देते हैं, जिन पर प्राचीन आचार्यों ने भाष्य लिखे हैं। ऐसे तो दस ही उपनिषद् हैं, लेकिन इनके अलावा

श्वेताश्वर और कौषीतकी दो उपनिषद् ही आचार्यो ने महत्त्व के माने हैं और इन दोनों के साथ मैत्रायणी उपनिषद् का महत्त्व भी माना जाता है।

इनके अलावा दूसरे जो उपनिषद् हैं, उनमें मैत्रेयी उपनिषद् में मूर्तिपूजा का स्पष्ट निषेध पाया जाता है और निषेध का कारण भी और धर्मो के कारण से भिन्न है।

इसके अलावा श्री जाबाल दर्शनोपनिषद मे भी मूर्तिपूजा का स्पष्ट शब्दों मे निषेध किया है, लेकिन वहाँ वह निपेध शायद योगियों तक ही मर्यादित है।

मूर्निपूजा का जोरों का निषेध पाया जाता है इस्लाम में। प्रोटेस्टेट ईसाई भी मूर्तिपूजा का निषेध करते है। जैनियों मे भी एक पन्थ है स्थानकवासी, जो मूर्तिपूजा को नहीं मानता। प्रार्थना समाज और ब्रह्मसमाज मूर्तिपूजा को बुरा समझते हैं और आर्यसमाजी तो बडी ही कट्टरता मे मूर्तिपूजा का निषेध करते है।

इनमें इस्लाम मानता ह कि ईश्वर की मूर्ति बनाना ईश्वर का बडा अपमान है। सब गुनाहों की तोबा कबूल हो सकती है, लेकिन ईश्वर के साथ और किसी को या किसी चीज को लाकर बिठाना--यह है शिर्क या शिर्कत का गुनाह। इसकी क्षमा नहीं हो सकती। मनुष्य, पशु और पक्षी आदि जानवर प्राणियों की छवि खींचना या मूर्ति बनाना, इसमें भी शरियत परस्त मुसलमानो को चिढ है। कहते हैं कि जिसमे तुम जान नही डाल सकते उसे तुम बनाते ही क्यो हो ?

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने बचपन मे देखा कि शिवलिग पर जो चावल पूजा मे चढाये गये थे, उन्हे खाने के लिए चूहे शिवलिग पर सवार हुए और भगवान उन्हें हटा नही सके। इससे उनको मूर्तिपूजा क प्रति अरुचि हो गई।

यूरोप मे मूर्तिपूजा का निषेध चला, उसका कारण कुछ और था। ईसाई धर्म का प्रचलन हुआ, उसक पहले चन्द देशो मे लोग मूर्ति को ही भगवान मानते थे। मूर्ति का मुँह खुला रखते थे। भगवान को अगर अपना लडका अर्पण करना है तो लडके को मारकर उसके शरीर के टुकडे करते थे और वे टुकडे मूर्ति के हाथ में रख देते थे और पुजारी मूर्नि के पीछे मे एक रस्सी खींचकर मूर्ति का हाथ मूर्ति के मुँह की ओर ले जाता था, जिससे वे सारे टुकडे मूर्ति के मुँह से पेट तक की ओर चले जाते थे। भोले भक्त मानते थे कि उनके दिये हुए बलिदान को भगवान ने खा लिया।

यूरोप में मूर्ति के मन्दिरो मे देवदासी की जैसी प्रथा भी थी, जिससे अनाचार फैलता था। इसलिए समाज-हितैषी लोगों ने मूर्तिपूजा का ही निषेध किया। इस तरह मूर्तिपृजा-निषेध के दो-तीन कारण हमारे समाने आते है। १. भगवान अरूप है, उसका रूप बनाना गलत है, यह आक्षेप मौलिक और तात्त्विक है। २. भगवान की मूर्ति बनाना भगवान का अपमान करना है। यह आक्षेप भावना-प्रधान है।

३. मूर्तिपूजा के साथ तरह-तरह के भ्रम और अनाचार फैलते हैं। इसलिए मूर्तिपूजा अच्छी नहीं। यह आक्षेप हुआ सामाजिक दृष्टि का।

हमारे यहाँ के धर्मोपदेशक कहते हैं कि मूर्तिपूजा बाल स्वभाव के लोगों के लिए ठीक है। छोटी लड़कियाँ जिस तरह गुड़िया लेकर खेलती हैं, उसी तरह प्राकृत लोग मूर्ति अपने सामने रखकर उसको नहलाते हैं, खिलाते-पिलाते हैं, उसको अच्छे कपड़े पहनाते हैं और अपनी कलात्मक वृत्ति तृप्त करते हैं। उसमें कुछ सेवा-भाव भी है। गर्मी के दिनों में मूर्ति को पंखा करना, जाड़े के दिनों में गर्म कपड़े पहनाना और गरम मसाले का भोजन देना, जुकाम होने की कल्पना करके भगवान को दवाई देना, ये सब बच्चों के खेल हैं।

आदमी बडा होने पर मूर्ति छोड़कर भगवान की मानस-पूजा करता है।

मानस-पूजा में भी केवल बुद्धि से अथवा कल्पना-मात्र से भगवान की मूर्ति मन के सामने रखी जाती है। कल्पना से ही भगवान को स्नान कराया जाता है। खान-पान आदि सब विधियाँ पार्थिव वस्तुओं के बिना सम्पन्न की जाती हैं। इसमें वस्तुओं का व्यवहार भले न हो, किन्तु भगवान को मनुष्य के जैसा साकार तो माना ही जाता है और पसीना दूर करने के लिए स्नान, भूख-प्यास दूर करने के लिए भोजन और पानी— सबकी जरूरत तो मानी ही जाती है।

जैन मन्दिरों में यह सब झंझट नहीं है। वहाँ केवल मूर्ति की स्वच्छता और शोभा का ही विचार रहता है।

अब हम मैत्रेयी उपनिषद् का वचन जरा देख लें।

"पाषाणलोहमणिमृण्मय विग्रहेषु पूजा पुनर्जननभोगकरी मुमुक्षोः। तस्माद्यतिः स्वहृदयारचनमेव कुर्यादबाह्यारचनं परिहरेदपुनरभवाय।"

(मैत्रेयी-२६)

अर्थात पत्थर, लोहा, काँच या रत्न और मिट्टी की बनी हुई मूर्तियों की पूजा करने से मनुष्य को मोक्ष नहीं मिलता। ऐसी पूजा मनुष्य को भोगविलास की ओर ले जाती है। और पुनर्जन्म लेना उसके लिए अपरिहार्य होता है। इसलिए सच्चे यती को चाहिए कि वह भगवान को अपने हृदय में ही पूजे। अगर मोक्ष चाहिए तो बाह्यार्चन, बाह्यपूजा प्रयत्न पूर्वक छोड़ देना चाहिए।

"तीर्थानि तोयपूर्णानि देवान्काष्ठादि निर्मितान्। योगिनो न प्रपूज्यन्ते स्वात्मप्रत्यय कारणात्।"

(मैत्रेयी ४-५२)

पानी से भरे हुए तीर्थ और लकड़ी आदि वस्तुओं से बनी हुई मूर्तियाँ, इनके द्वारा योगी भगवान की पूजा नहीं करते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि भगवान तो आत्मा के रूप में उनके हृदय में ही विराजमान हैं। आत्मा का साक्षात्कार होने पर

बाह्य वस्तु की पूजा निरर्थक होती है।

हम राजा की, प्रभु की, पिता-माता की और दूसरे पूज्य बड़ों की सेवा करते हैं, वे थक जाने पर उनकी मालिश करते हैं, उनको स्नान कराते हैं। मनुष्य के लिए जिन-जिन भोगों की आवश्कता हो, वे सब भोग उन्हें प्राप्त कराते हैं, अर्पण करते हैं। इस तरह से अगर भगवान की भी पूजा करें तो भगवान के प्रति आदर व्यक्त होगा सही, किन्तु उसमें जो भोग अर्पण करने की बात आती है, उसके द्वारा भोगों का ही ध्यान किया जाता है। भोगों का महत्त्व ध्यान में आता है। प्रसाद के रूप में इन सब भोगों का हम स्वयं कम या ज्यादा उपभोग भी करते हैं। मूर्ति को भोग चढ़ाने पर वही सारा मिष्ठान्न हम प्रसाद कहकर खाते हैं। मन्दिर में मूर्ति के सामने जो संगीत और नृत्य चलता है, उसका उपभोग हम भी लेते हैं। देवदासी प्रथा की बात हम यहाँ छोड़ दे, लेकिन मूर्तिपूजा हमें भोग की तरफ ले जाती है। इसलिए वह पुर्नजन्म की तैयारी करती ही है, इसमें कोई शक नहीं।

जो मनुष्य भगवान को अपने मे बाहर देखता है, उसके लिए मोक्ष है नहीं। इस महत्त्व के सिद्धान्त के कारण उपनिषदों ने मूर्तिपूजा का निषेध किया है।

वेदकालीन यज्ञ-धर्म में मूर्तिपूजा थी नहीं। बाद में मूर्तिपूजा हमारे धर्म में घुस गयी। कोई कहते हैं कि वह अरबस्तान मे आयी और इसलिए उसके पीछे-पीछे मूर्तिपूजा का निषेध करनेवाला इस्लाम भी हमारे यहाँ आया। अगर एक बला आई तो उसका इलाज भी आ जायेगा।

जो लोग मूर्ति की पूजा नही करते, केवल ध्यान के लिए आलबन के रूप में मूर्ति को अपनी नजर के सामने रखते हैं, उनको भी समझना चाहिए कि निरालम्ब की उपासना निरालम्ब पद्धति से ही होनी चाहिए।

२२. आत्मा की शक्ति

तत् एतत् पदनीयम् अस्य सर्वस्य यत् अयम् आत्मा।
अनेन हि एतत् सर्वं वेद।। (बृहदारण्यक १-४-७)

जब आत्मा साँस लेती है तब उसे प्राण के नाम से पहचानते हैं। जब वह बालती है तब उसे हम वाणी कहते हैं। देखती है, तब चक्षु कहते हैं। सुनती है तब श्रोत्र कहते हैं। सोचती है तब मन कहते हैं। ये सब आत्मा के कर्म-नाम हैं (कर्म-नाम:)।

प्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत, मन आदि एक-एक भाग ही जो जानता है, वह आत्मा

को पूर्णतया नहीं जानता। उसका ज्ञान अधूरा होता है। जब इनको एकत्र करके आत्मा के नाम से और रूप में उसे हम पहचानते हैं। तब हमारा एकांगी ज्ञान सर्वांगीण होता है। और सब तरह की शक्ति हमारे अन्दर प्रकट होती है।

हमारे अन्दर यह जो आत्मा रहती है, वही बाहरी दुनिया में ब्रह्म का रूप धारण करती है। इसलिए आत्मा को पहचानने से सारा विश्व पहचाना जाता है। आत्मा का स्वरूप, आत्मा की शक्ति और आत्मा का सार्वभौमत्व समझने से सारे विश्व की शक्ति और उसका विस्तार असल रूप में हम समझ सकते हैं।

आजकल पश्चिम में भौतिक शास्त्र की खोज हो रही है, वह आत्मज्ञान द्वारा नही, बल्कि बाह्य प्रयोगों के द्वारा होती है। इसलिए वह ज्ञान शुद्ध नहीं हो सकता।

किसी के मन की बात, अन्तर की बात जाननी हो तो उसके दो उपाय हैं। पुलिस के लोग किसी तोहमतदार के पास से सब जानकारी हासिल करना चाहते है तब वे उससे चालबाजी से प्रश्न पूछते हैं, बाद मे उसे धमकाते हैं, पीटते हैं, भूखा रखते है, पानी नहीं पीने देते, सोने नहीं देते। इस तरह से परेशान हुआ वह आदमी अपने ऊपर काबू खो बैठता है और डर के मारे या निद्रानाश से मन का काबू खोने के कारण बहुत-सी बाते कहने लगता है। शराबी आदमी भी न कहने की बाते बक जाता है किसी गुनहगार से उसकी गुप्त बाते निकालने के लिए पुलिस के लोग उसे पीडा देते हैं, या धोखा देते हें।

इसके विपरीत जब कभी कोई माँ अपनी बच्चे का हृदय जानना चाहती है, तब वह अपने बच्चे के साथ प्यार से पेश आती है। उसके सुख-दुःख के साथ समरस होती है। और फिर बच्चा आप-ही-आप हृदय की सब बातें कहने लगता है। उसे विश्वास होता है कि माता सब तरह से हितकर्ता है। अपना भला ही चाहती है। हृदय की बात माता को कहने से लाभ है, डर, नुकसान या खतरा तनिक भी नहीं है।

और जब माता का प्रेम बढकर उच्चकोटि तक, दैवी कोटि तक, पहुँचता है तब बच्चे के कहे बिना ही माता बच्चे के भाव समझ जाती है। हृदय के साथ हृदय का मिलान होने पर एक हृदय की बातें दूसरे हृदय मे आप-ही-आप उठने लगती है। यह है प्रेम का तरीका।

आज दुनिया-भर में विज्ञान की जो खोज चलती है, वह पुलिस के ढंग की है। विज्ञान-शास्त्री या रसायन-शास्त्री चीज को लेकर पीटता है, तपाता है, उस पर तेजाब डालता है, पदार्थ को परेशान करने के सब प्रकार आजमाता है और वह पदार्थ घबराकर, लाचार होकर, अपना सारा रहस्य बोल देता है। जब गाय दूध नहीं देती तब गौ-वाले कभी-कभी उसे ऐसे पीटते हैं कि डर के मारे गाय दूध भी देती है और पेशाब भी करती है। कुदरत के साथ घातक दृष्टि से पेश आना,

यह है आज का विज्ञान। वैज्ञानिक उसे प्रयोग कहते हैं। इस प्रयोग-पद्धति के विपरीत योग पद्धति है, जिसके द्वारा हम आत्म-शक्ति से अपना सम्बन्ध औरों से और बाह्य सृष्टि से जोड़ देते हैं, दोनों का योग करते हैं। तब हर चीज का रहस्य जितना भी हम चाहें, हमारे सामने प्रकट होता है, होना ही चाहिए। यह योग-पद्धति आदि-काल के सब देशों के ऋषि-मुनियों ने कुछ-कुछ पायी थी। अब उसे हम बहुत-कुछ भूल गये हैं, खो बैठे है। आत्मा का ध्यान करके वह शक्ति फिर से लानी पड़ेगी।

जिस तरह कोई जांगलिक जंगल में किसी जानवर का पदचिह्न देखकर उसे पहचानता है, आगे बढ़ता है और जानवरों को पा लेता है, उसी तरह अगर हम आत्मा को पहचानें तो सारे विश्व को पहचानने का वह एक साधन, पदनीय बनता है।

प्राचीनकाल के लोगों को इस बात पर इतनी श्रद्धा थी कि वे मानते थे कि अगर योगी ध्यान करने बैठ जाए तो दुनिया की सब बातें उसकी समझ में आ जाती हैं। किसी राज्य का राजा गुप्त साधना के लिए प्रासाद से भाग गया। रानी ने कर्मचारियों को सब दिशाओं में दौड़ाया, कहीं भी पता नहीं चला। रानी योगिनी थी। उसने सोचा कि यह सारा परिश्रम व्यर्थ ही था। अगर पिन्ड-ब्रह्माण्ड-न्याय सही है, यानी जो पिन्ड मे है वही ब्रह्माण्ड में है, जो ब्रह्माण्ड में है वही पिन्ड मे है, यह बात अगर सही है, तो मैं ध्यान में बैठकर अपने ही मन मे राजा को क्या न ढूँढ़ूँ ? मन मे उसका पता लगते ही ब्रह्माण्ड में वह कहीं भी गया हो, उसका ठीक पता मिलना ही चाहिए। उसने वैसा ही किया और उसे सफलता मिली। ऐसी-ऐसी कथाएँ हमारे पुराणों में और अन्य साहित्य में पायी जाती हैं। इस पर से हम समझ सकते हैं कि हमारे पूर्वजों की इस पद्धति पर कितनी श्रद्धा थी। उन्हें कितनी सिद्धि मिली थी, सो तो हम नहीं कह सकते, किन्तु उस जमाने का चन्द लोगो का सूक्ष्म ज्ञान देखकर आश्चर्य होता है और मन कहता है कि यह सब उन लोगों ने प्रयोग के द्वारा नही पाया होगा।

कुछ भी हो, आत्मा की शक्ति का पूरा पता अभी तक हमें नहीं लगा है। अणु (एटम)को मुक्त करने से उसका कुछ प्रभाव तो हम जानने लगे हैं। आत्मा के प्रभाव की तो मर्यादा ही नहीं। आत्मा को समझने का और उसे मुक्त करने का तरीका हाथ में आना चाहिए।

२३. आहार-शुद्धि का अर्थ

आहार-शुद्धौ सत्त्व-शुद्धिः, सत्त्व शुद्धौ धरुवा स्मृतिः
स्मृतिलाभे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।

(छान्दोग्य ७ २६-२)

सनातनी लोग इस वचन का उपयोग बहुत करते हैं। आहार शुद्ध रहने से मनुष्य का चारित्र्य, उसका शरीर, मन और उसके भाव शुद्ध होते हैं, सत्त्वशुद्धि होने से स्मृति ध्रुव होती है, इत्यादि।

इस वचन का कुछ गहराई में जाकर विचार करना चाहिए। मामूली अर्थ स्पष्ट है। अगर हम मांसाहार नहीं करेंगे, प्याज, लहसुन आदि तमोगुणी अथवा विकारोत्तेजक चीजें नहीं खायेंगे, बासी या सड़ी हुई चीजें भी नहीं खायेंगे, तो हमारा शरीर, मन सब पवित्र रहेंगे। आहार-शुद्धि का अर्थ इतना ही किया जाता है कि शास्त्रों में जिन चीजों का खाना मना है, हम न खायें।

यहूदियों में भी ऐसे बहुत से नियम थे और आज भी हैं। ऐसे नियमों से ऊबकर ईसामसीह ने अपना एक सूत्र लोगों के सामने रख दिया: "मनुष्य के शरीर में, पेट में जानेवाली चीजें उसे अपवित्र नहीं बनाती हैं। उसके शरीर से, उसके मुख से जो चीजें बाहर निकलती हैं, उमसे वह अपवित्र होता है।" उनका मतलब यह था कि मनुष्य आहार के तौर पर कुछ भी खाये सेबथ[1] के दिन भी खाये तो वह अपवित्र होनेवाला नहीं है। उसके मुँह से अगर गालियाँ निकलीं, क्रोध के वचन निकले, उसने किसी को शाप दिया, तो उससे वह आदमी जरूर भ्रष्ट हो जायेगा। यहूदियों की धार्मिक रूढ़ि के जवाब के तौर पर यह वचन ठीक है। लेकिन लोग धर्म वचनों का कानूनों के वचनों के जैसा अक्षरार्थ करने बैठते हैं और असली उद्देश्य को नष्ट करते हैं।

ईसामसीह का वचन शास्त्रीय सिद्धान्त के तौर पर हम न लें। सड़ी हुई चीज मनुष्य खा जाय तो उसका आध्यात्मिक असर शायद तुरन्त कुछ न हो, पर उसका शरीर तो भ्रष्ट होगा ही। नरमांस-भक्षकों को उस मांस से शरीरिक हानि भले ही कुछ न होती हो, लेकिन भावना की दृष्टि से देखा जाय तो आहार के लिए मनुष्य-प्राणी को मारकर उसका मांस खानेवाला पतित है ही।

जो चीज मनुष्य के अन्दर जाती है, उसका असर उसके शरीर पर और मन पर होता ही है।

---

1 विश्राम-दिवस

और मनुष्य के मुँह से या उसके शरीर से जो चीजें निकलती है, वे अगर दुर्गन्धयुक्त हुईं, रोगयुक्त हुईं, तो सारे वायुमन्डल को और समाज को उनसे हानि जरूर पहुँचेगी। जो चीज अन्दर जाती है और जो चीज बाहर निकलती है, ऐसा भेद करने से कोई लाभ नहीं है। हम नहीं मानते कि ईसामसीह ने कोई सनातन, शास्त्रीय, त्रिकालाबाधित सिद्धान्त के तौर पर वह वचन कहा था। उन्होंने चिढ़कर इतना ही कहा था कि मनुष्य क्या खाता है, इसकी चिकित्सा करने क्यों बैठते हो ? वह अपने भाइयों से, सारे समाज से कैसे पेश आता है, यही महत्त्व की चीज है।

किसी एक ऋषि को बदहजमी हुई थी या ऐसा ही कुछ दूसरा रोग हुआ था। उसके मुँह से जो श्वासोच्छ्वास निकलता था, वह दुर्गन्धयुक्त था और उससे आसपास के लोगों का नुकसान होने की सम्भावना थी। इसलिए वह किसी को अपने नजदीक बैठने नहीं देता था। लेकिन उसका प्रवचन धर्म-तेज से भरा हुआ रहता था। जो सैकड़ो और हजारों लोग उसका प्रवचन सुनने को आते थे, उनके मन पर और चारित्र्य पर अच्छे-से-अच्छा धार्मिक असर होता था।

अगर कोई कवि चारित्र्य-भ्रष्ट है तो उसका और उसके वचनों का असर समाज पर होगा ही। उसके अच्छे-से-अच्छे वचनों का भी समाज पर पूरा असर नहीं होगा, लेकिन उसके चारित्र्य के बारे में जो लोग कुछ भी नहीं जानते, वे तो उसके वचनों का सीधा अर्थ लेकर लाभ उठा सकते हैं।

मनुष्य के स्वभाव की कमजोरी अलग चीज है, दुष्टता अलग चीज है। किसी के बारे में सोचते समय यह फर्क हम भूल नहीं सकते।

अब हम उपनिषद् के मूल वचन के बारे में जरा गहराई से सोचें। आहार का अर्थ केवल खाने-पीने की चीजों तक हम मर्यादित न करें। हमारी सब इन्द्रियाँ जो-जो चीजें लेती हैं, पुष्टि के तौर पर या सुख-प्राप्ति की दृष्टि से जिन-जिन चीजों को स्वीकार करती हैं, वे सब आहार है। हम आँखों से जो कुछ भी देखते हैं, कानों से सुनते हैं, वह भी आहार ही है। खानपान की चीजो के बारे में जो सावधानता आवश्यक है वही सब इन्द्रियों के व्यापार के बारे मे भी आवश्यक है, सावधानी ही अमृतत्व ला देती है— 'अप्पमादो अमृतपदम्'। गफलत में न रहना, सावधानी से चलना, भूलें नहीं करना— यही है अमृतत्व का मार्ग। 'पमादो मच्चुनो पदम्' प्रमाद ही गफलत, असावधानी, बेदरकारी, अन्धापा ही मृत्यु का मार्ग है।

अब हम सोंचे कि आहार-शुद्धि के मानी क्या हैं ? अगर हम रजोगुण और तमोगुण बढ़ाने वाले आहार का सेवन करें तो सत्त्वशुद्धि पर उसका बुरा असर अवश्य होगा। शास्त्रों में ऐसी चीजो का वर्णन किया है। उस जमाने की धारणा के अनुसार वह फेहरिस्त बनी हुई है। आज हम नहीं मानते कि प्याज और लहसुन

योग्य प्रमाण में लेने से सात्त्विकता को कुछ भी हानि है। टमाटर जैसे पदार्थ पुराने लोगों ने निषिद्ध माने। आज हम वैसा नहीं मानते। अनुभव और ज्ञान की वृद्धि से पुराने वचनों में परिवर्तन करना पड़ेगा, लेकिन यह सिद्धान्त तो त्रिकाल के लिए सही है ही कि आहार का असर चारित्र्य पर होता है।

लेकिन आहार-शुद्धि का एक दूसरा और महत्त्व का पहलू है, जिसकी ओर विशेष ध्यान देना अत्यन्त जरूरी है। शुद्ध आहार वही है, जो हमने ईमानदारी से पाया है। अगर सात्त्विक पदार्थ हम कहीं से चोरी करके ले आयें तो उनके सेवन मे हमारी सत्त्वशुद्धि खतरे में आये बिना नहीं रहेगी। अन्याय से, गरीबों को लूटकर या निचोड़कर जो भी आमदनी हम पाते हैं, वह पापमूलक है। उसके सेवन से हमारा चारित्र्य भ्रष्ट होता है। आहार-शुद्धि का यह महत्त्व का अर्थ शुद्ध भोजन ही नहीं, बल्कि ईमानदारी की जिन्दगी भी है। कहीं भी किसी के अज्ञान से, उसकी दुर्दशा से हमने नाजायज लाभ उठाया तो हमारी आहार-शुद्धि टूट गयी।

प्रामाणिक आहार भी अगर हमने कुटुम्ब के सब लोगों में बाँटकर नहीं खाया, हमारे आहार पर जिन-जिन लोगों का न्याय्य अधिकार है, उनको उनका विभाग दिये बिना खाया, उपभोग किया, तो वह भी आहार-शुद्धि के कर्तव्य मे च्युत ही है।

आहार और शुद्धि दोनों शब्दों का व्यापक अर्थ करने से ही हमें उपनिषद् के इस वचन का पूरा अर्थ मिलता है और सत्त्व-शुद्धि क्या है, वह भी हम ठीक समझ सकते हैं।

सत्त्व के मानी हैं हमारे शरीर, मन, चित्त, अहंकार आदि का महत्त्व का यानी सार रूप भाग। जिन-जिन बातों में हमारा व्यक्तित्व बना हुआ है, वे सब बातें सत्त्व में आ जाती हैं। सत्त्व के मानी चारित्र्य तो है ही।

ईशोपनिषद् में कहा है—'मा गृधः कस्यस्विद धनम्।' किसी के धन को गीधना नहीं। किसी के धन के प्रति गीध की जैसी लोभी दृष्टि नहीं रखनी चाहिए। समाज के पुरुषार्थ से जो धन संग्रह होता है, वह समाज का है। जो चीज समाज की ओर से पारितोषिक के रूप में मिलती है, वही हमारी है। जो हमें नहीं दिया गया, वही अगर हमने लिया तो वह हुआ 'अदत्तादान'। वह अगर हमने लिया तो वह चोरी ही है। रास्ते पर पड़ी हुई चीज हमने ले ली या किसी पेड़ का फल हमने खा लिया, तो उसमें 'अदत्त आदान' का दोष आ गया और हमारी आहार-शुद्धि टूट गयी।

शंकराचार्य ने अपने स्तोत्र में थोड़े शब्दों में सब बात स्पष्ट की है। 'यल्लभ से निज-कर्मोपात्तं वित्तं तेन बिनोदय चित्तम्।'

अपनी निजी मेहनत से जो कुछ भी धन पाओ, उसी से अपने मन को, चित्त को सन्तोष दे दो, अपनी मेहनत की चीज से जो कुछ भी आहार या आराम मिलता है, उसी से सन्तोष मानो और अपनी प्रसन्नता बनाये रखो— यह है आचार्य का उपदेश। आहार-शुद्धि का यह सबसे बडा भाग है।

इन्द्रियो द्वारा जो भी विषयो का सेवन किया जाता है, उसकी शुद्धि होने म मनुष्य का मारा व्यकितत्व सत्त्व-शुद्ध होता है। उसके विचार, उसकी दृष्टि उसके हेतु सब शुद्ध होने से उसमे एक प्रकार की जागरूकता आती है। "म कौन हूँ ? मेरा जीवनोद्देश्य क्या है ? कौन से आदर्शो को लेकर मैं जीता हूँ ?" इसकी जागरूकता को स्मृति कहते हैं। स्मृति का नाश होने से मनुष्य का सर्वनाश होता है। भगवद्गीता मे स्थितप्रज्ञ का वर्णन करते हुए जिस वृत्ति की चर्चा आयी है, वह यही स्मृति हे। जब मनुष्य वासना के काबू मे जाकर सम्मोहवश होता है, तब समृति खो बेठता है। समोह के सब कारण दूर होने पर मनुष्य स्मृतिमान होता है। ऐसा स्मृतिमान आदमी ही आत्मा का साक्षात्कार कर सकता है। स्मृतिलाभ से बुद्धि ऐसी शुद्ध जागरूक और तेजस्वी होती है कि मन मे तनिक भी सन्देह नही रहता इसी को कहा है ग्रन्थियो का छूट जाना। मोक्ष का ही यह वर्णन है।

इसलिए मनुष्य का वही साधना करनी है। जो मुख्यत: प्राणायाम आदि की नही, किन्तु यम नियम आदि की है। यम शम, दम ये सब आहार-शुद्धि के ही फल हैं।

भगवद्गीता म दवी सम्पद् का जो वर्णन किया है उसम अभय के बाद सत्त्व-मशुद्धि का जिक्र आता है। वही हे मुख्य साधना।

२४. 'कल्याणो धम्मो'

"धर्म शास्त्र महर्षीणा अन्त: करणसंभृतम्।" (सीतोपनिषद्)

व्यकित और समाज के आचरण के नियम जिसमे दिये जाते हैं वह हे धर्मशास्त्र। धर्म, अथ, काम मोक्ष इन चार पुरुषार्थो के प्रारम्भ मे ही धर्म की स्थापना है। धम के द्वारा ही सब व्यक्ति, सब कुटम्ब मब जाति और सब वर्ग अविरोधी वृत्ति म कर परस्पर महयोग के द्वारा चरम उत्कर्ष प्राप्त कर सकते हैं।

धम रहित जीवन मे द्रोह और परस्पर विरोध स्वाभाविक होता हे ओर फलत. सर्वनाश की तैयारी होती हे।

इस विश्व मे हर एक को जीने का अधिकार है। परमात्मा के कुछ-न-कुछ

प्रयोजन से ही हरएक जीव यहाँ आया है। और जब सबको यहाँ जीना है तब हर एक को दूसरों के अधिकार को सँभालते हुए अपना जीवन-यापन करना है। सबके उदय में अपना उदय देख पाने के लिए जो सर्वकल्याणमयी व्यवस्था बतायी गयी है वही है धर्म।

प्रत्येक मनुष्य का, प्रत्येक प्राणी का, प्रत्येक सत्त्व का जीवन मृत्यु से मर्यादित नहीं है। मृत्यु के बाद भी हर एक सत्त्व को रूपान्तर से जीने का अवकाश है।

पुनर्जन्म की बात मैं यहाँ नहीं कर रहा हूँ। एक शरीर छोड़ने के बाद जीव दूसरा शरीर धारण करता है और उस शरीर के द्वारा नया जीवन चलता है, यह है पुनर्जन्म की कल्पना। इस पुनर्जन्म का विचार किये बिना हम मनुष्य की मृत्यु के बाद भी उसका वही जीवन जो आगे चल सकता है, उस पर यहाँ विचार कर रहे है। मनुष्य कहता है कि मैं अगर अपना कर्जा अदा किये बिना चला जाऊँ, मेरी मृत्यु के पीछे अगर लोग कहें कि यह आदमी कर्ज़-मुक्त हुए बिना चला गया तो ऐसी मरणोत्तर अपकीर्ति मुझे सहन नहीं होगी।

दूसरा आदमी कहता है कि मेरे मरण के बाद मेरे पुत्र-पौत्र अगर दुखी रहें, आपद्ग्रस्त रहे, तो मेरे लिए यह शोभादायक नहीं होगा। इससे बेहतर है कि मै आमरण कष्ट में रहूँ और पैसा बचाकर अपने वंशजों के लिए छोड़ जाऊँ। यह मनुष्य भी अपने मरणोत्तर जीवन का समाधान चाहता है।

धर्म जब मनुष्य-जीवन की व्यवस्था बताता है, तब उसके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का विचार तो करता ही है, साथ-साथ उसके मरणोत्तर जीवन के कल्याण का भी विचार करता है। धर्म की दृष्टि ह्रस्व नहीं होती, दीर्घ होती है। इसलिए बुद्ध भगवान ने कहा, ''कल्याणो धम्मो''। धर्म सबका, सब तरह का, सार्वकालिक कल्याण चाहता है और उसी की सिद्धि के लिए यत्नवान रहता है।

ऐसे सर्वोदयकारी , सर्वकल्याणी, सनातन धर्म का शास्त्र जिन्होंने बनाया,उनको ऋषि कहते हैं, महर्षि कहते है। वे अपना स्वार्थ छोड़कर 'सर्वभूत हिते रता:' रहते है। न उनमें स्वार्थ होता है, न पक्षपात, न आसक्ति। पूर्ण हृदय-शुद्धि के बाद ज्ञान-नेत्र को जाग्रत करके और सर्वविद् होकर वे धर्मशास्त्र का विचार करते हैं।

उनके सर्वकल्याण के विचार में धैर्य और क्षमा दोनों को स्थान होता है। वे केवल तर्क से काम नहीं लेते, केवल युक्ति और न्याय के आधार पर नहीं सोचते। सर्व कल्याण का विचार करते हुए वे परम कारुणिक अन्त:करण से सोचते हैं।

उनकी दृष्टि समझने के लिए केवल कुशाग्र बुद्धि पर्याप्त नहीं है। उनके जैसा विशाल हृदय जिसका है, वही उनकी बातें समझ सकेगा।

ऋषि कहता है कि जिसे हम धर्मशास्त्र कहते हैं, वह ऋषियों के अन्तःकरण में इकट्ठा होता है।

जिस तरह बाँस बड़ा और परिपक्व होने के बाद उसके पेट में वंशलोचन इकट्ठा होता है (वंशलोचन बड़े काम की दवा है। सफेद-सफेद गोली के रूप में पाया जाता है), उसी तरह महर्षियों के अन्तःकरण में धर्मशास्त्र के वचन बनते जाते हैं।

२५. ज्ञानोपासना की अदम्य प्रेरणा

कस्मिन्, नु भगवो विज्ञाते सर्वम् इदं विज्ञातम्, भवति।

(मुण्डक १.१.३)

जिज्ञासा मनुष्य का प्रधान धर्म है। वह उसकी एक अदम्य प्रेरणा है। मनुष्य सब कुछ जानना चाहता है। बाह्य जगत् और अन्तर जगत्, दोनों उसकी जिज्ञासा के विषय हैं।

एक ऋषि से पूछा गया, "ज्ञान की उपासना कब तक करोगे ? तुम्हारे बाल सफेद हो गये । शरीर की चमडी पर झुर्रियाँ आ गयीं। कमर झुक गयी। सिर में कम्प आ गया है। दाँत कब के चले गये। आँखों का तेज भी क्षीण हो गया। " उसने कहा, "जब तक जीवित हूँ, वेद पढता ही रहूँगा। मेरी ज्ञान की उपासना चलती ही रहेगी।"

"तो क्या जीवन के अनेक रसों का अनुभव अगले जन्मों में करोगे ?"

"ज्ञान की खोज करना यह जीवन का सबसे बडा रस— रसतम है। जितने जन्म मुझे मिलेंगे, ज्ञान की खोज में ही व्यतीत करूँगा।"

"भगवान तुम्हारा भला करे । लेकिन समझ लो कि ज्ञान अनन्त है। 'अनन्ता: वेदा:।'

इस तरह अनन्त ज्ञान की खोज करते-करते मनुष्य ने सोचा कि इस खोज का अन्त-पार नहीं है। लेकिन ज्ञान की प्राप्ति तो होनी ही चाहिए। ऐसी कुछ चीज होनी चाहिए, जिसके जानने से सब कुछ जाना जा सकता है। अगर सुवर्ण का रहस्य समझ में आ गया तो सुवर्ण से बनने वाले सब अलंकारों का रहस्य पाया जा सकता है। नगाड़े से तो तरह-तरह की आवाजें निकलती हैं, उन सबको पकडना नामुमकिन है। नगाड़े को ही पकड़ने से सब आवाजें हाथ में आ जाती हैं, या बजने वाले शंख या बीणा को पकड़ने से। उसी तरह किसी मध्यस्थ, या किसी मूल चीज को पकड़ने से सारे विस्तार को हम समझ सकते हैं। 'मन समझ' लिया तो सब संकल्पों का

ज्ञान हो गया। हृदय का रहस्य पाने पर सर्व विद्या-कला का रहस्य पाया जाता है।

इस निश्चय पर आने के बाद ऋषियों ने सारे विश्व के रहस्य को ढूँढ़ना चाहा और वे आत्मा-परमात्मा को पा सके। पिण्ड-ब्रह्माण्ड न्याय पर हमारे लोगों का विश्वास इतना दृढ़ हो गया कि पुराणकार कहने लगे कि जब अपने दूतों को और चोरों को ढूँढ़ने के लिए चारों दिशाओं में भेजकर राजा असफल हुआ तब उसने एकान्त में बैठकर उसी चोर पर ध्यान लगाया। ब्रह्माण्ड में अगर चोर कहीं है तो मुझे अपने पिण्ड में उसका पता लगना ही चाहिए। ऐसे ध्यान से राजा को चोर का पता मिल गया और वह उसे पकड़ सका।

गृहस्थाश्रमी शौनक और ब्रह्मविद्, अंगिरा, ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी और योगीश्वर याज्ञवल्क्य, इसी की खोज में पड़े थे कि किसी चीज के जानने से सारे विश्व का रहस्य हाथ आ जायेगा, समझ में आ जायेगा। ब्रह्माण्ड का रहस्य पाने के प्रयत्न में ऋषियों ने परा और अपरा विद्या पाई और उनका जीवन धन्य हो गया।

जिज्ञासा इतनी अदम्य क्यों होती है ? और ज्ञान-प्राप्ति में इतना आनन्द क्यों मिलता है ? ज्ञान प्राप्त होने के बाद उसके उपयोग से हम तरह-तरह के लाभ उठा सकते हैं सही। ज्ञान के द्वारा हमारा सामर्थ्य बढ़ता है, यह तो विश्वजनीन अनुभव है। सामर्थ्य प्रदान करने वाली सबसे प्रधान वस्तु है तपस्या। तपस्या के द्वारा सब पाप और सब कमजोरियाँ नष्ट हो जाती हैं। क्षीणता का अन्त हो जाता है। तपस्या के द्वारा शुद्धि, शक्ति और समृद्धि प्राप्त होती है। तपस्या ही पौरुष है, पराक्रम, प्रभुत्व है। ज्ञान सचमुच एक तपस्या ही है। 'बहवो ज्ञानतपसा पूताः मद्भावम् आश्रिताः। तस्य ज्ञानमयं तपः।''

लेकिन जिज्ञासा की अदम्य प्रेरणा विश्वात्मैक्य की साधना में से उत्पन्न होती है। जिस चीज का ज्ञान हुआ, उसके साथ हमारा ऐक्य स्थापित हो ही जाता है, यहाँ तक कि अगर हम किसी पापी को यथार्थरूप में पहचानें और उसके पाप का स्वरूप समझ लें तो उसके प्रति घृणा और तिरस्कार कम होते हैं और कुछ-न-कुछ सहानुभूति की उत्पत्ति होती है। यह सहानुभूति ही पापी के उद्धार का रास्ता बताती है और पापी के उद्धार के लिए जो प्रयत्न किया जाता है और प्रसंगवश आत्म-बलिदान भी दिया जाता है, उसमें प्रेरक शक्ति विश्वात्मैक्य ही है और उस बलिदान की फलश्रुति या अन्तिम लाभ भी अद्वैतानन्द है।

ज्ञानोपासना की अदम्य प्रेरणा मनुष्य को आत्म-बलिदान तक, जीवन-समर्पण तक ले जाती है— यह करामात भी अद्वैतानन्द की ही है। उस बलिदान का थोड़ा-सा मनन करते ही हम उसमें विश्वात्मैक्य ही पाते हैं।

२६. महामना

"महामनाः स्यात् तद् व्रतम्।"

(छान्दोग्य, २-११-२)

उपनिषद् में आत्मचिन्तन और ब्रह्म की उपासना इन दोनो का जितना महत्त्व है, उतना ही प्राणोपासना को महत्त्व दिया है। साधना के लिए आवश्यक सब तरह का वीर्य और चारित्र्य-तेज प्राणोपासना से ही प्राप्त होता है। प्राणोपासक कभी कृपण नहीं होता, हीन दीन होकर याचना नही करता। उसके लिए व्रत बताया गया है, 'महामना' बनने का।

प्राणोपासक को 'महामना' यानी उदारचेता बनना चाहिए, यही है उसका व्रत।

महाभारत में धर्मराज ने भी अपना अन्तिम सन्देश देते हुए, "आप अपनी बुद्धि धर्म मे स्थिर करें और इससे भी विशेष आप का मन महान रहे। 'मनस्तु महत अस्तु च।' "

यह बडा मन क्या वस्तु है, सोचना चाहिए। एक ही परिस्थिति मे दो व्यक्तियो मे पूरी-पूरी तटस्थता और न्यायबुद्धि होते हुए भी एक आदमी एक ढग से पेश आयेगा, दूसरा दूसरे ढग से। एक कहेगा, "मै इन्साफ का कायल हूँ प्रामाणिकता से चलना चाहता हूँ, मेरे पास तनिक भी पक्षपात नही है जो योग्य होगा, वही करूँगा।"

दूसरा कहेगा, "आपने जितना कुछ कहा है, सही है। जो योग्य होगा, वही करना है, लेकिन योग्य क्या है, उसे समझने के लिए केवल न्याय का तराजू काम का नही, मानवता का, प्रेम का आत्मीयता का, सर्वोदय का तराजू हाथ मे लेना चाहिए।" वह न्याय को समझता है अन्याय कभी भी नही करेगा। लेकिन न्याय से भी परे दूसरे उच्च तत्त्व है, उन तत्त्वो को समझकर, उनका सहारा लेकर न्याय करेगा।

एक गडरिया एक से दूसरे गाँव को जा रहा था। रास्ते मे उसकी भेडो ने किसी किसान के खेत मे जाकर उसका सारा खेत नष्ट भ्रष्ट कर दिया। किसान ने सुलेमान के पास जाकर शिकायत की। सुलेमान न्यायी राजा था। उसने कहा, "किसान को कितना नुकसान हुआ है, इसका हिसाब करो। उस कीमत की भेडे किसान को दी जाएँ।" राज कर्मचारियो ने हिसाब लगाया। इतना कुछ नुकसान हुआ था कि गड़रिये को अपनी सब-की-सब भेड़ें देनी पडीं। बेचारा गड़रिया रोता रोता न्याय-मन्दिर से बाहर चला। राजपुत्र वहीं से जा रहा था। उसने सारा हाल• पूछा। सुनने के बाद उसने पिता के पास जाकर कहा, "इस मामले मे न्याय नही

हो रहा है। क्या कभी न्याय किसी का सर्वनाश कर सकता है ?"

न्यायपूर्ण सुलेमान को आश्चर्य हुआ कि मेरी न्यायप्रियता में भी नुक्स निकालनेवाला कोई निकला । राजपुत्र ने कहा, "न्याय तो करना ही है, लेकिन सर्वनाश के बिना करना चाहिए।" उसने सुझाया "गडरिया अपनी सारी भेडें लेकर किसान के यहाँ जाकर रहे। भेडे खेत में बैठकर खेत को कीमती खाद देगी। गड़रिया किसान के घर पर मजदूरी करके कुछ पैसा चुकायेगा। भेडो के बच्चे होगे। वे भी किसान को दिये जायेंगे। इस तरह से किसान की नुकसान-भरपाई होने पर गडरिया अपनी भेडे लेकर अपने रास्ते जा सकता है।"

राजपुत्र ने भी न्याय ही किया, किन्तु वह महामना था। उसके मन में सबके प्रति प्रेमभाव था। वह सबका कल्याण चाहता था।

इसलिए पुराण मे भी कहा है, "हर एक मनुष्य न्याय पाने का हकदार है, लेकिन न्याय से भी बढकर है सबूरी और क्षमा।" भगवान न्याय को अपनी मंजूरी देता है, लेकिन भगवान को सबूरी और क्षमा ज्यादा प्यारी है।

महामना आदमी बुद्धिमान तो होता ही है, लेकिन साथ-साथ हृदयवान भी होता है। बुद्धि और हृदय मनुष्य-जीवन के दो पंख हैं। पक्षी एक पख से नहीं उड सकता, दोनो पंखो की आवश्कता है।

हृदय का बडप्पन तभी मनुष्य को प्राप्त होता है, जब वह दिन-पर दिन अद्वैत की ओर बढता है। अगर दो भाई लडते है तो बडे हृदय का आदमी एक का पक्षपात नही करेगा— न्याय किस पक्ष मे है यह जानते हुए भी दोनो को सँभालने की कोशिश करेगा।

हमारे शास्त्रो मे इस तत्त्व को 'सम' कहा है। उपनिषदो मे ब्रह्मोपासक के बारे मे कहा है कि वह "सर्वदा समः, सर्वेण समः" होता है।

२७. "महामनाः स्यात् तद्व्रतम्"

छान्दोग्य उपनिषद् में 'महामना' शब्द दो-तीन बार आया है। एक जगह उसका अर्थ अच्छा है। वहाँ बताया है कि मनुष्य को महामना बनना चाहिए। यही उसका व्रत बने।

दूसरी जगह श्वेतकेतु की बात आती है। वह अच्छे गुरु के पास बारह वर्ष रहकर सब विद्या प्राप्त कर महामना बना है। अपने को बडा पंडित समझकर स्तब्ध याने अभिमानी बना है।

यहाँ महामना का अर्थ अच्छा नहीं है। अपने को बड़ा समझनेवाला गर्विष्ठ, ऐसा ही अर्थ वहाँ अभिप्रेत है।

इस एक ही उपनिषद् मे यह शब्द आया है। एक जगह अच्छे अर्थ में , और दूसरी जगह कुछ विकृत अर्थ मे। 'महामना' किसी का नाम भी होता होगा। आगे जाकर इसी शब्द की प्रेरणा मे 'महात्मा' शब्द बनाया होगा। केवल मन से बड़ा नहीं, इसकी सम्पूर्ण आत्मा महान है, उसी को हम महात्मा कहते हैं।

यह हो गया शब्द का अर्थ। उपनिषद् ने इसके आगे जाकर आदर्श बताते हुए सूचना दी है—"महामनाः स्यात् तद्व्रतम्।" मनुष्य महामना बनना चाहिए। यह उसका जीवन-व्रत ही बने।

हम समझते हैं कि धर्म के सब आदेशों में यह सबसे व्यापक आदेश है, दुनिया में भली-बुरी घटनाएँ घटती हैं। असंख्य लोगों से सम्बन्ध आता है। सुख-दुःख के प्रसंग उपस्थित होते हैं। दूसरों के वचनो का अर्थ करके उसका भाग स्वीकार करने की नौबत आती है ऐसे सब प्रसंगों में ऋषिवचन कहता है, "मन बड़ा बनाओ। जो भी अर्थ उत्तम हो, उसी को ले लो। त्याग करने का प्रसग आ जाए तो कंजूस मत बनो। अगर तुमने कहीं भी अपेक्षा उत्पन्न की है और उस उपेक्षा के अनुसार चलना तुम्हारे लिए शक्य हो, योग्य हो, तो कभी मत कहो कि 'ऐसी अपेक्षा के लिए मैं जिम्मेदार नहीं हूँ। मेरा आशय वैसा नहीं था।' तुम्हारा आशय कुछ भी हो, जो अपेक्षा तुमने उत्पन्न की और जो शुभ है, उसका पालन चाहे जितना कठिन हो, अपना मन उदार करके उस अपेक्षा का स्वीकार ही करो। और उसकी पूरी ऊँचाई तक पहुँचने का सम्पूर्ण प्रयत्न करो।" यह है इस व्रत का भाव और यही है उसकी प्रेरणा।

हम अपने को आर्य जाति का कहते हैं। आर्य होने का दावा करना और अभिमान रखना आसान है, लेकिन आर्यता के व्रत का पालन करना मामूली आदमी के लिए टेढ़ी खीर है। कठिन समय पर ही सच्चे और पूरे आर्यत्व की कसौटी होता है। ऋषि ने कहा, "महामनाः स्यात्" और इतना कहने के बाद उसी पवित्र आदेश को मजबूत करने के लिए भारपूर्वक कहा, "तद् व्रतम्।" इसको अपना व्रत समझकर पूरे अर्थ में इसका पालन करो। "तद् व्रतम्" शब्द में कितनी उत्कटता है, दृढ़ता है और ऊँचे चढ़ने की प्रेरणा है !

२८. आत्म-नाशक त्रिपुटी

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।
एतं ह वाव न तपति 'किमहं साधु नाकरवम्।
किमहं पापमकरवमिति।

(तैत्तिरीय उपनिषद् २.९)

आश्रम के प्रारम्भ के दिनों में मैंने अपने एक प्रवचन में कहा था कि दुनिया मे तीन बड़े महत्त्व के प्रश्न हैं। एक आया है भगवद्गीता में :

"अथ केन प्रयुक्तोऽयम्
पापं चरति पुरुषः ?
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय
बलादिव नियोजितः।"

अर्जुन पूछता है कि इच्छा न होते हुए भी मनुष्य जो पाप का आचरण करता है, उसे मानो जबरदस्ती मे ले जाने वाला प्रेरक तत्त्व कौन-सा है, जिमकी प्रेरणा से लाचार होकर मनुष्य पाप की ओर प्रवृत्त होता है ?

दूसरा प्रश्न उसी मतलब का है, जो उपनिषद् में आया है— " किमहं साधु नाकरवम् किमहं पापं अकरवम्"— मेरे हाथों पाप क्यों होता है, मेरे हाथों सत्कर्म क्यों नहीं होता ?

और तीसरा महान प्रश्न है, जो नचिकेता ने यमराज से पूछा था, "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद् विधा मनुशिष्टस्त्वयाहं।" नचिकेता यमराम से पूछता है कि मनुष्यों के बीच मरे हुए आदमी के बारे में जो चर्चा होती है और कुछ लोग कहते हैं कि मरण के बाद भी मनुष्य का, उसके व्यक्तित्व का, अस्तित्व कायम रहता है और दूसरे कहते हैं कि नहीं रहता है, इसके बारे में क्या सत्य है ? सो आपसे समझना चाहता हूँ।

मृत्यु देहलीज-दीप की भाँति इहलोक और परलोक के बीच खड़ी है। ऐहिक जीवन और पारलौकिक जीवन दोनों की ओर उसकी दृष्टि है, उसकी पहुँच है। इस वास्ते उसीसे पूछना चाहिए कि मरण के बाद मनुष्य की क्या अवस्था होती है ? मरण के बाद की अवस्था को या स्थिति को साम्पराय कहते हैं। उसके बारे में अगर कोई जानता है तो यह मृत्यु का स्वामी यमराज ही है। पहले दो सवाल हमारे जीवन के बारे में हैं और आखिरी सवाल जीवन के परे क्या है, उसके बारे में है।

अर्जुन के सवाल के जवाब में भगवान ने कहा, "मनुष्य को पाप की तरफ

खींचने वाला जो महाशत्रु है, महापापी है और जो बड़ा ही पेटू है, वह रजोगुण से पैदा हुआ है। उसके दो रूप और दो नाम हैं। जब आता है तब कामवासना के रूप में आता है, जब बिगडता है तब क्रोध का रूप धारण करता है। उसी की प्रेरणा से मनुष्य मब पापों की ओर प्रवृत्त है।''

और पाप करके क्षीण-सत्त्व होते ही मनुष्य को अनुताप होता है कि मेरे हाथों पाप ही क्यों होता है, मैं पुण्य क्यों नहीं करता ? यह अनुताप, यह पश्चात्ताप मनुष्य के हृदय को कुरेदकर खा जाता है।

इम काम-क्रोधरूपी शत्रु पर विजय पाने की शक्ति मनुष्य में तब तक जाग्रत नहीं होती, जब तक वह आत्मा का साक्षात्कार नहीं करता। जब मनुष्य आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है और उससे मिलने वाले आनन्द को जानता है, उमका अनुभव करता है, तब वह निर्भय होता है। उसे कहीं से भी भय नहीं रहता। काम-क्रोध उसे परास्त नही कर सकते और फिर उसके हृदय का विषाद और अनुताप होता है कि मैं पुण्य क्यों नही करता और पाप ही क्यों करता हूँ।

उन दिनों महात्माजी के पाम काफी समय था। मेरे प्रवचन के बाद उन्होने मुझमे कहा कि ये तीन प्रश्न फिर से कहो और कहाँ कहाँ है, यह भी बताओ। महात्मा जी के इस प्रश्न के लिए मैं उनका एक बहुत बडा अनुग्रह मानता हूँ। उनके पूछने से मेरा ध्यान इन प्रश्नों की ओर अधिक गया और गहराई से मै उनका चिन्तन करने लगा।

क्यों मेरी पाप की तरफ आवृत्ति आसानी से होती हे और साधुकम— पुण्यकम की ओर इतना आलस्य, इतनी शिथिलता क्यो होती ह, यह अनुताप या विषाद हर एक मनुष्य के मन मे उठता है।

उसका पृथक्करण मिलने के बाद मनुष्य काम-क्रोध और उसके तीसरे साथी लोभ को पहचानने लगता हे। वह जानता है कि यह तीन पहलू का दरवाजा है, जो इतना आकर्षक है कि मनुष्य लाचार होकर उसकी ओर दौडता ही जाता है और एक बार उसमे प्रवेश किया तो मनुष्य चला नरक की ओर, आत्मनाश की ओर :

> ''त्रिविधं नरकस्येदं द्वारम् नाशनम् आत्मनः।
> कामः क्रोधः तथा लोभः तस्मात् एतत्त्रयं त्यजेत्।''

आत्मा का नाश करनेवाली इस त्रिपुटी को टालना ही चाहिए। लेकिन वह कैसे हो ?

उपनिषद्कार कहते हैं कि आत्मशक्ति को पाने से ही सूरज उगा तो अंधकार आप-ही-आप नष्ट हुआ। आत्मसाक्षात्कार हुआ, उसका आनन्द हमने चखा, तो तुरन्त काम-क्रोध, लोभ आदि सब शत्रुओं का भय दूर हो गया।

२९. शांडिल्य विद्या

अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः। यथा क्रतुः अस्मिन् लोकेपुरुषो भवति तथा इतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत।''

(छान्दोग्य ३-१४-१)

उपनिषदों में शांडिल्य विद्या महत्त्व को है। उसी में से यह वचन है। यह सारा विश्व, ब्रह्म ही है। उसकी उपासना करते हुए शान्त होकर सोचना चाहिए कि इस ब्रह्म से ही सब कुछ पैदा होता है। अन्त में सब कुछ उसी में विलीन होता है। मनुष्य जब तक जीता है, उसी के द्वारा साँस लेता है, ऐसा समझकर मनुष्य को संकल्प करना चाहिए कि यह पुरुष, आत्मा या व्यक्ति क्रतुमय है, संकल्पमय है। इस जन्म में जैसा वह संकल्प करता है, वैसा ही जन्म मृत्यु के बाद उसे मिलता है। इसलिए सोच-समझकर शान्त मन से मनुष्य को संकल्प करना चाहिए।

संकल्प बड़ी तेज वस्तु है। बड़ी खतरनाक हो सकती है, और उद्धारक भी हो सकती है। मनुष्य का संकल्प सर्व-समर्थ वस्तु है। अगर उससे हल नहीं निकलता तो उसका मुख्य कारण यही है कि मनुष्य अपने संकल्प में एकाग्र नहीं होता। उसके दूसरे-दूसरे संकल्प मुख्य संकल्प को कमजोर करते हैं। अगर एकाग्र होकर, अपनी पूरी शक्ति लगा कर, मनुष्य संकल्प करे तो उससे ऐसा कुछ तेज आन्दोलन शुरू होता है कि जिसके कारण संकटों के पहाड़ भी टूट जाते हैं।

हमारे यहाँ ऐसे तत्त्व-चिन्तक हुए हैं, जो कहते हैं कि कर्म ही आत्मा है। कर्म करने के संकल्प को 'क्रतु' कहते हैं। 'क्रतु' शब्द ग्रीक 'क्रेटोस' से मिलता-जुलता है। ग्रीक भाषा में क्रेटोस के मानी होते हैं शक्ति, पावर। 'कृतु' है कर्म करने की शक्ति यानी संकल्प-शक्ति। इस संकल्प-शक्ति से मनुष्य का व्यक्तित्व, उसकी पर्सनैलिटी तनिक भी भिन्न नहीं है। मनुष्य ने इस लोक में जैसा संकल्प किया, वैसा ही रूप, वैसा ही जन्म, उसे मरने के बाद मिलता है।

कठोपनिषद् में जब नचिकेता यमराज से पूछता है कि मरने के बाद आत्मा का क्या होता है, मरणोत्तर स्थिति कैसी होती है तब यमराज कहते हैं, "मृत्यु के बाद मनुष्य को नया जन्म मिलता है, उसका स्वरूप यथाश्रुतम् होता है। जैसा कर्म इहलोक में आदमी करे, इस जन्म में करे और जैसा उसका ज्ञान-संचय हो, श्रुतम, हो, वैसा जन्म उसे मिलेगा।"

उपनिषदों में दूसरी जगहों पर यथाक्रम यथाश्रुतम् के साथ यथाप्रज्ञम्, का भी उल्लेख है। जैसी मनुष्य की प्रज्ञा, जैसी उसकी ज्ञानराशि, श्रुतम्, और जैसा उसका क्रम, वैसा उसको नया जन्म मिलता है। वही चीज इस शांडिल्य-विद्या में बताई है

कि मनुष्य क्रतुमय है। यथाक्रतु उसे नया जन्म मिलता है। इसलिए संकल्प करते चित्तवृत्ति को शान्त करना चाहिए और बाद में शुभवृत्ति को लेकर प्राणवान संकल्प करना चाहिए, ताकि वह अविद्या को पार करके अधिक ताजा और अधिक कल्याणकारी रूप प्राप्त करे।

"अविद्यां गमयित्वा अन्यत् नवतरम कल्याणतरम् रूपम् कुरुते।"

३०. साधना : प्राथमिक और अन्तिम

शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित्।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि।।

(मुक्तिकोपनिषत् अ० २।५-६)

आत्मा-परमात्मा का ब्रह्मज्ञान मोक्ष के लिए आवश्यक है, लेकिन साधना का प्रारम्भ तो नैतिक क्षेत्र से ही होना चाहिए। मनुष्य के शरीर में इन्द्रियाँ हैं। उनकी भूख हमेशा जागृत रहती है। उसी को वासना कहते हैं। वासना अच्छे रास्ते भी जा सकती है और बुरे रास्ते भी जा सकती है। 'साधना का प्रारम्भ' इस बात में है कि हम वासना को बुरे रास्ते न जाने दें। उसे अच्छे रास्ते जाने के लिए ही प्रोत्साहन दें।

यह काम केवल इच्छा से अथवा केवल प्रार्थना से नहीं हो सकता। इसके लिए तो बड़े पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। मन को काबू में लाना, उस पर विजय पाना, बच्चों का खेल नहीं है। दुनिया के साथ लड़ना आसान नहीं है, तो भी थोड़े से प्रयत्न से दुनिया के विरुद्ध लड़कर विजय पा सकते हैं, लेकिन अपने ही मन के साथ लड़ना लोकोत्तर पुरुषार्थ का काम है।

इसलिए ऋषि कहते हैं :

"मनुष्य की वासना मानो एक नदी है (सरित्)। वह शुभ रास्ते भी जा सकती है। अथवा अशुभ मार्ग भी ले जा सकती है। यह स्थिति पहचान कर अपने पुरुषार्थ से (पौरुषेण प्रयत्नेन) उस नदी को शुभ प्रवाह में बहाना चाहिए।"

यह है प्राथमिक साधना । आगे जाकर मोक्ष की अन्तिम साधना का वक़्त जब आता है तब वासना के प्रवाह को ही रोकना पड़ता है। शुभ और अशुभ, दोनों प्रवाह छोड़कर मन को वासनाशून्य बनाना पड़ता है। वह है आगे की साधना। प्रारम्भिक अवस्था के लिए भगवान रामचन्द्र अपने भक्त मारुति से कहते हैं :

"शभायां वासना वृद्धौ न दोषाय, मरुत्सुत !"

(अ. २।९)

सारी शक्ति अपने को काबू में लाने के लिए ही खर्च करनी चाहिए। इसमें कितना और कैसा प्रयत्न करना चाहिए इसकी कल्पना देने के लिए अपने साथ कैमे लड़ना इसका वर्णन एक सुन्दर श्लोक में दिया है:

हस्तं हस्तेन संपीड्य, दन्तैः दन्तान् विचूर्ण्य च।
अंगान्यङ्गैः समाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः ।।

(अ. २।४२)

लेकिन यह काम जबरदस्ती नहीं हो सकता। बड़ी खूबी से करना पड़ता है।

इसमें सफलता प्राप्त होने के बाद ऋषि कहते हैं कि वासना का प्रवाह (ओघ)शुभ रास्ते जाता हो तो भी उसको काबू में लाकर रोकना ही चाहिए। शुभ है, इस वास्ते वह पाप की ओर नहीं जायेगा, इतना लाभ जरूर है, लेकिन शुभवासना भी बन्धन तो है ही। इसलिए उसे छोड देना चाहिए।

"शुभोऽप्यसौ त्वया त्याज्यो वासनौघो निराधिना।"

(अ. २।३२)

इसका अर्थ यह नहीं कि सत् कर्म करना भी छोड़ देना चाहिए। सत्कर्म करें जरूर, लेकिन केवल कर्तव्य-बुद्धि से करें, वासना की प्रेरणा से नहीं। तब सारा कर्म मोक्ष की साधना बनता है। चित्तनाश होने के बाद मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा, इन शुभवृत्तियों से सत्कर्म करते ही रहना चाहिए। शुद्ध मनन चिन्तन करने पर वासना का आत्यन्तिक लय होता है।

"सम्यक् आलोचनात् सत्यात् वासना प्रविलीयते।"

(अ. २।१७)

सम्यक् आलोचना याने 'शुद्ध-चिन्तन' इसको ऋषि ने सत्य कहा है। सत्य के अनेक अर्थों में एक यह अर्थ भी ध्यान में रखना चाहिए।

३१. एक प्राचीन संकल्प

इह चेद् अवेदीत् अथ सत्यं अस्ति, न चेद, इह अवेदीत् महती बिनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्य अस्मात् लोकात् अमृताः भवन्ति।।

(केनोपनिषद् मंत्र-१३)

सागर वेष्टित भूमि पर हम रहते हैं। हमारे इर्द-गिर्द पंच-महाभूत फैले हुए हैं।

पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश से बनी हुई यह सृष्टि हम देखते हैं, इसका रहस्य समझना चाहते हैं।

आकाश में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे विराजमान हैं। इनका रहस्य ढूँढ़ते ज्योतिषशास्त्र ने इसकी विशालता समझायी है। यह सब सुनकर हम चकित हो जाते हैं। हम कह नहीं सकते कि यह अद्भुत विश्व सान्त है या अनन्त है।

अब हम दूसरी दृष्टि से सोचें।

हम इस शरीर मे रहते हैं। हमारे जैसे असंख्य मानव और मानवेतर प्राणियो को हम देखते हैं, उसका अनुभव करते हैं। क्या ये सब प्राणी इस विश्व के रहस्य को समझना चाहते होंगे ?

हमारा शरीर अपनी इन्द्रियो के द्वारा इस सृष्टि का अनुभव करता है। इन इन्द्रियों की मदद से वह सोचने लगता है। सोचने के लिए उसके पास मन है, बुद्धि है, भावनाएँ है, रसिकता है, नीति नियमन का विचार उसके चित्त मे जागृत होता है। यह सारी अन्त:सृष्टि क्या है ? मन, बुद्धि, भावना आदि चित्त की शक्तियाँ मर्यादित हैं या अमर्याद हैं ? इस अन्त:सृष्टि का रहस्य क्या है ?

जब ऐसे गूढ प्रश्न मन मे उठते है। तब विश्वास होता है, जब प्रश्न उठते हैं तब उन प्रश्नों का जबाब ढूँढने की शक्ति भी हमारे अन्दर होनी ही चाहिए।"

फिर हृदय के अन्दर काम करने वाली श्रद्धा कहती है कि बाह्य सृष्टि का रहस्य जिन साधनों के द्वारा हम ढूँढ रहे हैं, उन्हीं साधनों के द्वारा हम अन्त: सृष्टि का रहस्य भी ढूँढ सकेगे।

हमारे चित ने पूरा प्रयत्न करके आंतर बाह्य दोनो सृष्टियो का रहस्य ढूँढने का संकल्प किया।

तब ऋषि का मन उसे समझाता है कि सब प्राणियो मे क्या-क्या शक्ति है, हम नहीं जानते। पता नहीं, कितने जन्म के बाद सोचने की शक्तिवाला यह मनुष्य जन्म हमे मिला है। यह स्पष्ट लगता है कि अगर इस जन्म में हमने उभयसृष्टि का रहस्य जान लिया, अनुभव कर लिया, तो हम जीते, हम कृतार्थ हुए। हमारा जीना सत्य हो गया। लेकिन अगर इस जन्म मे हमने अपने जीवन का रहस्य नहीं मालूम किया तो वह एक 'महान विनाश' ही होगा।

कितनी बडी आशा से और कितने जोरों से ऋषि ने यह संकल्प किया है और इसी को सिद्ध करने के लिए अपने को समझाया है। उपनिषद् के ऋषि ने अपने जैसे तत्त्व-जिज्ञासु समस्त मानवों के लिए यह संकल्प किया है। यही है इसका महत्त्व ।

३२. ॐ तत् सत्

उपनिषदों के चिन्तन से जो बोध अथवा सिद्धान्त फलित होते हैं, उनको जिन थोड़े शब्दों में याद रखा जाता है, उन शब्दों को महावाक्य कहते हैं (जिस तरह विशाल धन, छोटे-छोटे रत्नों मे संग्रहीत हो सकता है, इसी तरह उपनिषद् का सारा चिन्तन, उसके सिद्धान्त और उसकी साधनाएँ महावाकयरूपी शब्द-रत्नों मे संग्रहीत हो सकी हैं।

ऐसा एक महावाक्य छान्दोग्य उपनिषद् में पाया जाता है 'ॐ तत् सत्' (ऐसे महावाक्यों का संग्रह करके अगर उन पर नये ढंग से विवेचन लिखा जाए तो उसमें सारी उपनिषदविधा व्यवस्थित रूप में आ जायेगी।)

ऐसा ही एक महावाक्य हमें केनोपनिषद् में मिला था। 'तद्वनम्,' जो कहता है कि ब्रह्म के शुद्ध, सर्वसंग्राहक रूप को पूर्णतया पहचानने के बाद 'उसी के प्राप्ति की, साक्षात्कार की, अनुभव की इच्छा रखनी चाहिए।'

उस महावाक्य का चिन्तन करते हुए हमने दूसरे दो महावाक्य भी लिये थे। एक था 'तद् जलान' (तत् ज, तत्ल, तत् इन) इन तीनो को एकत्र करके तद् जलान सूत्र बनाया गया।

ऐसा ही दूसरा वाक्य है 'तत्त्वमसि'। वह परब्रह्म तत् तुम त्वम् ही हो असि।

छान्दोग्य उपनिषद् ने प्रारम्भ ही किया है ॐकार अथवा प्रणव से (वहाँ ओकार को उद्गीथ कहा है)।

ओंकार ही सब वेदों का रस अथवा सार है। इसलिए उसे 'रसानाम रसतम:' कहा है।

ॐ का समान्य अर्थ होता है 'जीहाँ।' किसी ने पूछा "क्या आपका नाम राम है ?" तो वह कहेगा, "ॐ" (याने आप की बात सही है। लोग मुझे राम ही कहते है।) किसी ने पूछा, "आपने हमारी यात्रा मे साथ आने का निश्चय किया है ?" तो वह कहेगा, "ॐ"। इस तरह से मतैक्य, अनुकूलता बताने के लिए ॐ शब्द का व्यवहार होता था। इसके विरुद्ध शब्द था 'न', याने 'नहीं जी।'

इस तरह सत्यता, अनुकूलता, मतैकय आदि सारे शुभभाव ॐ शब्द के द्वारा व्यकत होते थे। बाद में ॐ शब्द में ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों का अंतरभाव होने लगा। ॐ में सब चीजें आ जाती हैं।

उपनिषदों में पुराना 'माण्डयुकोपनिषद्,' ओंकार के लिए ही दिया गया है। "ॐ इति इदं सर्व, भूतं, भवत्, भविष्यत्, इति सर्वम् ओंकार एव। यत् च अन्यत् त्रिकालातीतम, तद् अपि ओंकार एव।"

साधना चलाते हम देख सकें कि "इस सारे विश्व का आकलन करने वाले हम हैं। इस दृष्टि से सारे अनुभव की समस्त सृष्टि का केन्द्र हम ही हैं। इसलिए हमें इस हम को शुद्ध रूप से पहचानना चाहिए। हम नहीं होते तो हमारे लिए यह सृष्टि भी नहीं होती।

इस 'हम' को पहचानने की साधना करते हमने पा लिया कि, "यह कहते-कहते हम अपने अहंकार बढाते हैं, स्वार्थ बढाते हैं, एकांगी बनते हैं और फिर सारी सृष्टि का लोभ करते हैं।" सचमुच तो हमारा हम, हमारे शरीर से, शरीर की इन्द्रियों से, मन और बुद्धि से परे है। इतना ही नहीं, हम अहंकार से भी परे हैं। इस तरह से हम आत्मा तक पहुँच गये और हमने देखा कि आत्मतत्त्व कालातीत है। उसे जन्म-मरण नहीं है। इतना ही नहीं, किन्तु भले ही उसका केन्द्र हमारे मन-बुद्धि में हो, हमारा सच्चा आत्मतत्त्व विश्वव्यापी है और वह तो सर्वव्यापी, सार्वभौम ब्रह्म ही हो सकता है। इस तरह आत्मा और परमात्मा एक हो गये।

फिर तो अहंकार के लिए जगह ही न रही। साधक सिद्ध हुआ, और गाने लगा, "'अहं ब्रह्मास्मि' सर्वोह।"

तब उसने परब्रह्म को भी ॐ नाम दे दिया, और अहं ब्रह्मास्मि का अनुभव करते हुए बोल उठा कि कितना आसान है। हम अपने को अहम् कहते थे। अब अपने को 'ॐ' कहेंगे। अहम् थे, 'ॐ' बन गये। अहम् का नाश हो गया और वह ॐ मे विलीन हो गया। हमने अपने को समझाया, "हे मेरी आत्मा! इस सारे विश्व में तुम परमात्मा को, परब्रह्म को देख सके, वही तत्त्व तुम्हारे अन्दर भी है। वही तत्त्व तुम भी हो।"

हमने अपने को जो परमतत्त्व समझाया, वही तीन शब्दों में ग्रथित हो गया, 'तत् त्व असि' वह तुम ही हो। तुम ही परब्रह्म हो।

इस तरह उपनिषदो के चिन्तनो का सार ही ऋषियो ने पाया।

बाद मे ऋषियों ने 'ॐ' ध्वनि का पृथक्करण करके उसके तीन विभाग किये अ, उ, और म। अ याने ब्रह्मा। उ याने विष्णु और म याने शिव। इस तरह जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्था भी ओंकार से व्यक्त होने लगी। यह सारा विस्तार माण्डूक्य उपनिषद् में पाया जाता है।

आज हम इतना ही याद रखें कि हम अहम्, थे, सो ॐ बन गये। और दोनो के ऐक्य का हमें साक्षात्कार हो गया है। जीव असल में शिव ही है, सो भूल गया था, वह अज्ञान दूर हो गया और उसे विश्वात्मैक्य भाव से सम्पूर्ण आनन्द मिल गया।

३३. अस् पर से असत् यानी आदिम सत्य

कहते हैं, 'सत्' शब्द अस् धातु पर से आया है। अस् याने होना। मराठी में भी अस् अथवा असणे धातु है, जिसका अर्थ है होना। इस अस् धातु मे से 'अ' कैसे निकल गया और 'त्' कैसे आया, सो ढूँढना पडेगा। लेकिन जो हमेशा के लिए है, वही है सत् इस वास्ते अस् और सत् के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध हो ही सकता है, इसमें कोई शक नहीं।

इस सत् को य प्रत्यय लगाने मे सत्य शब्द बनता है। (य प्रत्यय स्वार्थी है।)

अब सत्य शब्द का अर्थ बताते हुए चन्द लोगों ने सत्य के तीन अक्षर स् त् और य के तीन अर्थ बताये है। 'स' याने अमृत, जिम चीज का कभी नाश होता नहीं। 'त् याने जो मरणशील है, बदल जाती है। इसलिए जो 'नही' है, उसे त् कहा जाए और 'य' याने जो 'स' और 'त' दोनो पर अपना काबू रखता है।

इस तरह से सत्य शब्द का पूरा भाव बताने के लिए कृत्रिम अर्थ बताया है। इसे केवल समझकर हम एक ओर रख दे।

अब सत् अथवा सत्य को अ उपसर्ग लगाकर 'असत्,' अथवा 'असत्य' बनाया गया। जिसमे सत् अथवा सत्य का अभाव है उसे असत्य कहते हैं। 'अ' का अर्थ 'अभाव' है। इस उपसर्ग को लगाकर 'अभाव' बताने वाले असंख्य शब्द बनाये जाते है।

तैत्तरीय उपनिषद् मे एक वचन आता है असतो मत् जायत, अथवा, असद् व इदमग्र आसीत् ततो वे सत् आजायत। इमका मीधा अर्थ होता है, सबसे पहले सचमुच यह असद् ही था। इस अमद् मे से सत् पैदा हुआ। ऐमा मीधा अर्थ मान्य करते बडा मकोच होता ह। असद् याने शून्य। शून्य मे से सत् पैदा हुआ। ऐसा अर्थ हम कैसे मान्य करे ? दार्शनिको ने कहा है कि जिसे हम मत् कहते हैं, वह तो हमारी चेतना मे (समझ मे), आ मकता है, लेकिन इसके भी पहले एक अस्तित्व है, जिसके लिए न रूप है, न गुण, न क्रिया। इसलिए उसके होते हुए भी वह ध्यान मे नहीं आ सकती। गाढ़ निद्रा में हमें भान नहीं होता कि हम सोये हुए हैं। वह तो केवल गाढ़ निद्रा ही है। इसी तरह आत्मा भी है, किन्तु ध्यान में नहीं आ सकती। सत्य के पहले रूपगुण क्रियारहित जो परम और आदिम सत्य है, उसी को उपनिषदों में असद् कहा है।

अब मेरा कहना है कि उपनिषद् में सद् के पहले का असद् बताया है, वह स्वतन्त्र स्वयंभू शब्द है सद् को अ उपसर्ग लगाकर। असत् नहीं बनाया गया है। किन्तु जब अस् धातु में से सद् बनाया गया तब उसमें मे अ न हटाकर असद् शब्द

बनाया गया। इस तरह परम, आदिम सद् का अपना नाम असद् पर से आया हुआ यह शब्द है इस असद् में से अपना अ निकालकर सद् बनाया गया, जो हमारी चेतना का विषय है।

ऊपर दिए हुए उपनिषद्-वचन में जो असद् वचन दिया है, वह सद् को अ का उपसर्ग लगाकर नहीं, किन्तु इस धातु का 'अ' अक्षर कायम रखकर, जो मूल में असद् शब्द बन गया, वही यहाँ पर उपनिषद्कार ने दिया है। यह है मेरा मौलिक सुझाव। इस दृष्टि से सब कुछ सीधा बन जाता है।

३४. सार्वभौम एकाक्षरी मंत्र ॐ

भारतीय संस्कृति में 'ॐ' शब्द और ध्वनि अत्यन्त पवित्र माना गया है। प्रारम्भ में इसका उपयोग अनुकूलता बताने के लिए होता होगा। "क्या आपका नाम यही है ?" क्या आप हमारे साथ आयेंगे ?" ऐसे सवालों में अनुकूलता दिखाने के लिए 'ॐ' ऐसा ही जवाब दिया जाता था। 'ॐ' याने "हाँ" "जी हाँ"।" कितना मीठा और प्रसन्न करने वाली ध्वनि है यह। एकदम दोनो में अनुकूलता पैदा करती है। प्रतिकूलता नहीं। अनास्था नहीं। पूरी-पूरी अनुकूलता दिखाने वाली यह ध्वनि सर्वप्रिय बन जाए तो आश्चर्य ही क्या ?

आगे जाकर हमारी संस्कृति के निर्माणकर्ताओं ने अपने नित्य के ध्यान में देखा कि जिस सविता या सूर्य को हम भगवान का प्रतीक मानते हैं, वह सूर्य जब अपने ही आस-पास घूमता है और आकाश में दौडता है। तब उसमें से 'ओऽऽऽऽम,' ऐसा ध्वनि निकलती है।

यह ध्वनि सुनकर योगियों को प्रसन्नता हुई और वे भगवान को प्रणाम करते समय भी 'ॐ' कहने लगे। 'ॐ' के द्वारा ही स्तुति व्यक्त होने लगी। सुबह या किसी भी समय प्रकाश देने वाले, उष्णता देने वाले और सब तरह का प्राण देने वाले भगवान सूर्य का दर्शन होते ही भक्त लोग अपने सिर झुकाकर 'ॐ' कहने लगे।

रात को अनन्त तारे देखकर भी आप-ही-आप मुँह से 'ॐ' के द्वारा भक्ति का आनन्द प्रकट होने लगा।

फिर तो आत्मा के लिए भी सन्त लोग 'ॐ' कहने लगे। परमात्मा का नाम भी 'ॐ' हो गया।

अब इस 'ॐ' ध्वनि के लिए कुछ नाम तो देना चाहिए। तो भक्त लोगों ने

'ॐ' ध्वनि को ही 'प्रणव' नाम दे दिया। भक्ति का प्रकर्ष दिखानेवाले नमस्कार को व्यक्त करने वाली ध्वनि का 'प्रणव' नाम कितना अच्छा है।

ऐसे नमस्कार का जब पूरे उत्साह से गाये जाने वाला गीत बना तब भक्तों ने प्रणव का 'उद्गीथ' कहना शुरू किया। उत्साह से, उच्च आवाज से जो गाया जाता है, उसको हम उद्गीथ ही कहेंगे ?

यह प्रणव अथवा उद्गीथ हमारे मंत्र-शास्त्र में सबसे श्रेष्ठ और सब भाव व्यक्त करने वाला मंत्र होने से, सब मंत्रों के प्रारम्भ में ॐ बोला जाता है। बौद्धों ने और जैनों ने भी इस ॐ को स्वीकार किया। (बौद्धों का मंत्र 'ॐ' मणि पद्मे हुम्' सब जानते ही हैं।

"जी हाँ", इतनी अनुकूलता दिखाने के लिए जैसे हम 'ॐ' बोलते थे, वैसे ही तमिल बोलने वाले लोग "जी हाँ" कहने के लिए आमा कहते हैं। 'आमा' ॐ का ही एक रूप है।

'ॐ' में अ उ और म् ये तीन ध्वनि हैं। उनका महत्त्व समझना पड़ा तो अ ब्रह्मा के लिए। उ विष्णु के लिए और म महेश्वर शिव जी के लिए पसन्द किये गये। त्रिलोक, विद्यात्रयी, आदि जहाँ-जहाँ तीन चीजें एकत्र होने लगीं, वहाँ पर 'ॐ' की ही मदद लेना शुरू हो गया। इस तरह 'ॐ' में सारा विश्व और उसकी व्यवस्था समा गयी।

अब 'ॐ' कहते ही हमारे अध्यात्म के, हमारी पूजा के और हमारी संस्कृति के सब तत्त्व उसमे व्यक्त होते हैं। कितना भाग्य है, इस ध्वनि, और एकाक्षरी मंत्र का कि वह अपने द्वारा हमारी मस्कृति के उत्तमोत्तम पवित्रतम तत्त्व को व्यक्त करने का सामर्थ्य धारण करता है।

३५. महर्षियों द्वारा प्रदत्त समाज-व्यवस्था

उपनिषद् मे दस, ग्यारह, तेरह या अठारह उपनिषद् मुख्य हैं। शेष गौण गिने जाते हैं इन गौण उपनिषदों में भी तीस कुछ महत्त्व के हैं।

सीतोपनिषद् इन तीस में भी नहीं आता। लेकिन उसमें एक वचन मुझे अत्यंत महत्त्व का लगा।

"धर्मशास्त्रं महर्षिणां अंतःकरण-संभृतम,।"

अर्थात्, जिसे धर्मशास्त्र कहते हैं, वह तो महर्षियो के अन्तःकरण में इकट्ठा होता है।

उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र दोनों दर्शनशास्त्र माने जाते हैं। इनमें आत्मा, परमात्मा, मन, इन्द्रियाँ और यह सारा विश्व, इनका परस्पर सम्बन्ध और हरएक का रहस्य बताया जाता है। इसी को ब्रह्मज्ञान अथवा आत्मविज्ञान भी कहते हैं।

इस तरह, दर्शनशास्त्र मे तत्त्वज्ञान आता है। धर्मशास्त्र में प्रधानतया समाज-व्यवस्था पायी जाती है। कुल-धर्म, जाति-धर्म, वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, अनुलोम-प्रतिलोम-जातियाँ इत्यादि सारी-की-सारी समाज-व्यवस्था धर्मशास्त्र मे पायी जाती है।

धर्मशास्त्र का प्रारम्भ होता है गृह्यसूत्रो से, लेकिन उसका प्रधान ग्रन्थ है मनुस्मृति। उसके बाद आती है याज्ञवल्क्यस्मृति। ऐसी स्मृतियाँ भी अनेक हैं।

माना जाता है कि वेद, उपनिषद्, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, स्मृतियाँ आदि सब ग्रन्थ ईश्वर प्रणीत है। लेकिन वेद और उपनिषद् ही प्रधानतया ईश्वर की वाणी गिनी जाती है।

तब ये धर्मशास्त्र के अनेकानेक ग्रन्थ आये कहाँ से ? सीतोपनिषद् कहता है कि अध्यात्म का चिन्तन करते-करते मन बुद्धि का, सारे विश्व का, आत्मा-परमात्मा का, सारा रहस्य जिन्होने पाया है, तपस्या और ध्यान धारणा के द्वारा, इस रहस्य के साथ जो लोग एकरूप हो गये, उनको 'महर्षि' कहते है।

ऐसे महर्षि समाज मे प्रचलित कुलधर्म, जातिधर्म आदि देखकर उन पर अपने अध्यात्म का—ज्ञान का प्रभाव डालना चाहते है।

लोगो मे परम्परागत जो रूढियाँ चलती हैं उन्हीं मे जरूरी परिवर्तन करके ये महर्षि धर्मशास्त्र बना देते है। अध्यात्म-परायण समाज की रचना आखिरकार कैसी होनी चाहिए, इसका विचार करके परम्परागत रूढियो मे आहिस्ता आहिस्ता परिवर्तन करने का उन्हे सूझ आता है। वही बनता है हमारा धर्मशास्त्र।

अब सवाल उठता है, धर्म किसे कहे ? धर्म की व्याख्या कहती है·

"धारणात् धर्मम् इति आहु:
धर्मो धारयते प्रजा:।"

सारे समाज को जो एकत्र रखता है, प्रजा को जो धारण करता है वही है धर्म याने समाज व्यवस्था।

"यत् स्यात् धारणसंयुक्तम्
स धर्म इति निश्चय:।"

समाज का धारण, भरण, पोषण और उत्कर्ष जिसके द्वारा होता है, वही है धर्म।

ऐसी समाज-व्यवस्था भगवान की प्रेरणा से नहीं, किन्तु प्रजाजीवन की परम्परा मे से शुरू होती है। उसे देखकर महर्षि उसे व्यवस्थित करते हैं और मानते है कि धर्म का आदर्श अगर तत्वत: समाज-मान्य हुआ तो समाज-व्यवस्था उस आदर्श

के अनुसार धीरे-धीरे सुधरती जाएगी।

इतना ध्यान में रखना चाहिए कि हमारी समाज-व्यवस्था शुरू से ऋषियो ने नहीं बनायी है। भिन्न-भिन्न जमातें एकत्र आयीं, तब उन्होने अपनी-अपनी अलग जाति-व्यवस्था बनायी। एकत्र आने के बाद कितना अलग रहना और कितना ओत-प्रोत हो जाना, इसका निर्णय उस-उस समय के जाति के नेताओं ने किया होगा। इस निर्णय मे हरएक जाति के धर्म-विचार का ख्याल नेताओं ने किया ही होगा। मैं नहीं मानता कि भिन्न-भिन्न जाति-धर्म ऋषियों ने बनाये थे। जैसे मिले, वैसे ऋषियों ने चलाये।

ऋषियों के धर्म-विचार मे अध्यात्म की प्रधानता थी; लेकिन वह अध्यात्म विचार सामाजिक बनाने की उत्कंठा ऋषियों में दीख नहीं पड़ती। ऋषियों ने जातियों के बीच प्रचलित उच्च-नीच-भाव मान्य रखा। भिन्न जातियों के बीच रोटी-व्यवहार ओर बेटी-व्यवहार की मर्यादा भी मान्य कर ली।

ये जातियाँ कहीं एक-दूसरे मे मिल गई, कहीं थोडी मिलीं, थोड़ी अलग रही।

सबके-सब समाज सगठन वेदान्त की दृप्टि से बन जाते तो अच्छा होता। अलगाव एक सामाजिक कमजोरी है, इस ओर ऋपियो ने ध्यान दिया, नहीं दीख पडता। विश्वात्मैक्यभाव केवल ध्यान चिन्तन में रहा। विश्वात्मैक्यभाव अगर समाज-व्यवस्था मे और राजनीतिक संगठन में दाखिल न हो सका तो वह बडी कमजोरी है। इस ओर भी ऋषियों ने ध्यान नहीं दिया। माना जाता है कि छोटे बडे राजाओं का, आपस मे युद्ध करते रहना अनिप्ट है, इतना तो ऋषियो ने देख लिया। इसके इलाज के रूप मे उन्होने राजाओ को साम्राज्यवाद सुझाया। सेना-बल के द्वारा जो सबसे ज्यादा ताकतवाला हो, वह सम्राट बने। बाकी के सब-के-सब जितराजे सम्राट के इर्दगिर्द मण्डल मे बैठ जाएँ। (याने माण्डलिक बने), और सब मिलकर, साम्राज्य की व्यवस्था चलावें । यह रचना शान्ति के लिए अच्छी थी, किन्तु आदर्श की दृप्टि से वह अत्यन्त सदोष थी।

जो हो, ऋषियों ने उनको जैसा सूझा, समाज को सुझाया। उनकी व्यवस्था मे जो दोष थे, उनके कारण समाज कमजोर बने और आजादी खो बैठे। यह सब बाद की बात है।

३६. मानव-जाति के लिए हमारी सर्वोच्च प्रार्थना

ॐ असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर् मा (अ) मृतंगमय।

(बृ० १-३-२९)

इस मंत्र का अर्थ बिलकुल स्पष्ट है। "हे भगवान ! मुझे असत् से सत्य की ओर ले चलो। तमस याने अन्धकार (अज्ञान) से ज्योति याने प्रकाश की ओर ले चलो और मृत्यु से बचाकर मुझे अमृत की ओर ले चलो।"

असत् अन्धकार और मृत्यु ये तीनों हमारे जीवन को घेरे हुए अशुभ तत्त्व है इनसे हमें बचाने में (याने इनको टालने के लिए जबरदस्त साधना चलाने मे) भगवान ! मुझे मदद दे दो। यही है हमारी सनातन प्रार्थना।

इसमें तीसरी प्रार्थना समझने से तीनों का भाव स्पष्ट होता है।

मृत्यु तो जीवन के साथ जुड़ी हुई है ही। पुराणो में जिनको चिरजीवी कहा है वे भी मर गये। जिसने जन्म लिया, उसे मरना ही है, और अगर हम जीवन का रहस्य बराबर समझें तो जीवन को ताजा रखने के लिए और जीवन को सनातन प्रयोगशील बनाने के लिए मृत्यु अत्यन्त आवश्यक है। मृत्यु एक आशीर्वाद है।

तब मृत्यु से बचाकर अमृतत्व की ओर ले जाने के लिए यह प्रार्थना क्यो की है ?

और जीवन का असत्य क्या है, जिससे बचकर हम सत्य की ओर सदा के लिए जा सकें ?

ऋषियों के अनुभव से कहा है कि जीवात्मा की साधना के द्वारा परमात्मा के पास पहुँचने के लिए ही हमें जीवन मिला है, और जीवन की साधना चलाने के लिए शरीर, मन, बुद्धि आदि साधन मिले हैं इन साधनों का सदुपयोग करना जीवन का सत्य है। इनका दुरुपयोग करना (जो हम हमेशा करते रहते है) असत्य है। ऐसे असत्य से बचकर (याने मुक्त होकर) सत्य का साक्षात्कार करना है।

शरीर, मन, बुद्धि भावना आदि साधनों का दुरुपयोग करना यही है हमारे लिए मृत्यु। ऐसी मृत्यु से बचने के लिए हम जीवन-साधना चलावें, मन को शुद्ध करें, बुद्धि को परमात्मगामी बनावें; और आत्मा को परमात्मा तत्त्व के साथ एकरूप बनने की साधना करें। यही है मृत्यु से बचने का सच्चा उपाय।

ऋषियों ने वेदान्त के द्वारा (याने अध्यात्म-विद्या के द्वारा) यह रास्ता बताया है। वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषियो ने इस रास्ते जाकर यह साधना आजमाकर

सिद्धि प्राप्त करने के बाद ही अपना यह अनुभवसिद्ध मार्ग प्रार्थना के रूप मे मानव-जाति के सामने रखा है।

जो यह निश्चित और सफल रास्ता हमने पाया, उसी का हम भी अनुभव करें और दुनिया के मामने इसे रखे, यह हमारा प्रधान कर्तव्य है। इसी को धर्म कहते हैं।

आज के युग में समस्त मानव जाति के साथ हमारा सहयोग बढ रहा है। काले, गोरे, पीले, गेहूँवर्णी सब वंशों के और सब धार्मो के मानवो के साथ सहयोग करते हुए हमारे बीच आदान-प्रदान बढ़ता जा रहा है। पश्चिम के लोगों से, उनके पुरुषार्थ से, उनकी संस्कृति से हम भौतिक विज्ञान के नये नये प्रयोग सीख रहे है। भौतिक विज्ञान ने, जीवन को नीरोगी, समर्थ और प्रसन्न बनाने के रास्ते ढूँढे है। पश्चिम के लोगो के पास से यह सारा विज्ञान हम मीखें। विज्ञान मे स्वतत्र प्रगति करने की हम भी कोशिशें करें। साथ-साथ हमारे पास अध्यात्म का जो सर्वोच्च विज्ञान है, और उमका अनुभव भी है, उसका लाभ हम पूर्व और पश्चिम दोनो सस्कृतियों को देते जाएँ। ऐसा करते हुए हम अपने इस युग के सर्वोच्च पुरुषार्थ में सफल बनने के लिए भगवान से प्रार्थना करें :

ॐ असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिगर्मय।
मृत्योर् मा (अ)मृतंगमय।

यह प्रार्थना रोज सुबह करने की है। ओर जीवन-भर याद रखने की है।

३७. वेदान्त के महावाक्य

१ उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के नियम से बँधी हुई या विशाल सनातन सृष्टि। २ उमे देखकर उमका रहस्य समझने की कोशिश करनेवाला व्यक्ति (जीवात्मा) और ३. इन दोनों के रहस्यरूप परमात्मा। ये तीनों वेदान्त के अथवा दर्शनशास्त्र के महत्त्व के विषय हैं। आत्मा-परमात्मा और सृष्टि का परस्पर सम्बन्ध और आन्तरिक रहस्य समझाने वाली सनातन अध्यात्म-विद्या का आदिम विवरण उपनिषदों में पाया जाता है। वहाँ वैदिक ऋषियों ने एक ही बात अनेक ढग मे मोची है और समझाई है।

उपनिषद्-चिन्तन में जो मूलभूत सिद्धान्त पाये गये, उन वचनों को एकत्र करके उनको कण्ठ करना, उनका विवरण चलाना, उन पर भाष्य लिखना, यह मानो भारतीय विद्वानो का, साधकों का और योगियों का अत्यन्त प्रिय व्यवसाय बन गया।

इन जिज्ञासु साधकों ने उपनिषदों के इन तमाम वचनों में से अत्यन्त महत्त्व के चार वाक्य चुने। ये वाक्य हैं तो बिलकुल छोटे, सादे से भी सादे। शब्दार्थ समझने में तनिक भी कठिनाई नहीं, तो भी समस्त वेदान्त-विद्या इन चार वचनों में समायी है। वेदान्त-विद्या का अध्ययन, मनन और चिन्तन करने के बाद इन चार वाक्यों का स्मरण करना, रटन करना और उनके रहस्य का चिन्तन चलाना समस्त विद्याओं का सार पाने के जैसा है। इसीलिए वेदान्त-विद्या के भक्त इन चार महावाक्यों को कण्ठ करते हैं, इनका जाप चलाते और एकान्त में बैठकर उन पर, भिन्न-भिन्न दृष्टि से चिन्तन करते हैं। शुक-रहस्य उपनिषद् में एकत्र पाये जाते हैं ये चार महावाक्य :

१. अहं ब्रह्मास्मि २. अयं आत्मा ब्रह्म ३. प्रज्ञानम् ब्रह्म, ४. तत्त्वमसि।

अर्थात्, १ अहं यानी मैं जीवात्मा अथवा आत्मा स्वयं ब्रह्म हूँ। २ यह आत्मा ही परब्रह्म है। ३ मब तरह का अनुभव-ज्ञान कुल मिलाकर प्रज्ञान बनता है। वही ब्रह्म है। ४ ए माधक ! जीवात्मा तुम हो वह परमात्मा परब्रह्म है।

इन चार महावाक्यों में वेदान्त का तत्त्वज्ञान पूरा आ जाता है।

३८. "ऋतं च सत्यं च"

उपनिषदों में ये दो शब्द साथ आते हैं सत्य और ऋत। इममें सत्य का अर्थ मब जानते हैं। जो है, मदा के लिए है, उसी को सत्य कहते हैं। सत् और मत्य एक ही है। मृष्टि चलाने मे प्रकृति-माता जिन नियमो के अनुसार काम करती है, उन सिद्धान्तो को सत्य कहते हैं। सत्य के पेट में ऋतु आ ही जाता है।

मत्य तो बाह्य सृष्टि का या अन्तःसृष्टि का नियम, कानून अथवा धर्म है। सत्य शब्द स्थितिसूचक हो सकता है।

ऋत भी है तो सत्य ही, लेकिन यह शब्द ऋ धातु पर से आया है। 'ऋ' का अर्थ है चलना। क्रिया होना अथवा करना। 'सत्य' अगर स्थिति-सूचक है तो 'ऋत' शब्द गतिसूचक है। 'ऋत 'और 'सत्य' मिल करके अन्तर-बाह्यसृष्टि का सम्पूर्ण कानून बनता है।

इमलिए उपनिषद्-साहित्य मे और बाद में भी 'सत्य' और 'ऋत' दो शब्द साथ-साथ आते हैं।

हमारे लोग ज्यादातर तन्वचिन्तक रहे। आत्मा का दर्शन करना, उसके बारे में सुनना, उसका मनन करना और एकाग्र चित्त से उसका ध्यान अथवा निदिध्यास

करना, यही है ऋषियों का आदेश। इसमें सबसे पहले आता है दर्शन करना। इस पर से तत्त्वज्ञान को दर्शनशास्त्र कहते हैं।

हमारे पुरुखों का स्वभाव ही दार्शनिक चिन्तन का रहा। इसलिए हम लोगों ने हजारों वर्ष हुए, सत्य की उपासना चलायी है। हम स्वभाव से ही सत्यधर्मा अथवा सत्योपासक हैं। हम अपने को सत्यधर्मा अथवा सत्यार्थी कह सकते हैं।

लेकिन हमें सृष्टि को चलाने वाले परमात्मा के क्रियात्मक सत्य का चिन्तन भी करना है। उसका संशोधन भी करना है। तरह-तरह के प्रयोग करके 'ऋत' को पूर्ण रूप से पहचानना है। हम जैसे सत्यार्थी हैं, वैसे ऋतार्थी भी बने, यह जरूरी है।

ऋतार्थी शब्द उपनिषद् में पाया जाता है, लेकिन हमारे पूर्वजो ने जैसी सत्य की उपासना की, वैसी 'ऋत' की उपासना नहीं की इस वास्ते 'ऋत' शब्द और ऋतार्थी' शब्द भाषा में से करीब-करीब लुप्त हो गये।

हमारी सस्कृति की यह बडी खामी है कि हम ऋतु के उपासक न बने। ऋतार्थी न बनें।

लेकिन अनन्त काल में हमारा भूतकाल एक छोटा-सा हिस्सा ही है। आज तक हम केवल सत्यार्थी बनें। अब पश्चिम के वैज्ञानिको का अनुकरण करके हम ऋतार्थी भी बने। तब हमारी सम्कृति एकांगी न रहकर सर्वांगी बनेगी।

ऋतम् का विपरीत शब्द है अनृत माने असत्य।

३९. केनोपनिषद् के शान्तिपाठ की विशेषता

मैंने कहा था, "चार वेदो के उपनिषदो के चार शान्तिपाठ होने चाहिए, लेकिन यजुर्वेद के कृष्ण और शुक्ल ऐसें दो रूप होने से पाँच शान्तिपाठ हे।" लेकिन देखता हूँ कि शान्ति पाठ छः माने जाते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् का जो पहला मत्र है, उसको भी शान्तिपाठ मानने का रिवाज चला है इसलिए शान्तिपाठ छः हैं।

अब ईशोपनिषद् शुक्ल यजुर्वेदी होने से उसका शान्तिपाठ है 'पूर्णअदः' इत्यादि। आज हम केनोपनिषद् ले रहे हैं, वह है सामवेद का उपनिषद्। उसका शान्तिपाठ है 'आप्यायन्तु ममांगानि', इत्यादि।

जिस तरह ईशोपनिषद् का नाम उसके पहले शब्द मे पड़ा है, इसी तरह 'केनोपनिषद्' यह नाम भी उसके पहले शब्द से पडा है। इसे 'तलबकार उपनिषद्' भी कहते हैं। 'तलब' शब्द का अर्थ होता है गानेवाला। तलबकार नाम का सामवेद

का एक 'ब्राह्मण' है। उस ब्राह्मण ग्रन्थ में यह उपनिषद् आया है।

केनोपनिषद् के ऋषि ने अपने इस उपनिषद् को 'ब्राह्मी उपनिषद्' कहा है। क्योंकि उसमें ब्रह्म के सच्चे स्वरूप की चर्चा है। ब्राह्मी उपनिषद् नाम सुन्दर है, अन्वर्थक तो है ही।

इसमें विशेषता यह है कि आत्मा की साधना करके ब्रह्म-प्राप्ति का उपाय बताने वाला यह उपनिषद्, मनुष्य के शरीर, उसकी इन्द्रियाँ, उसका मन-बुद्धि, आदि अनात्म बातों की उपेक्षा नहीं करता। किन्तु शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि सब नीरोगी और परिपुष्ट हों, ताकि उनकी मदद आत्मप्राप्ति के लिए पूरी-पूरी लेनी है। शरीर, इन्द्रियाँ और मन को नीरोगी और परिपुष्ट करेंगे। लेकिन उनका उपयोग ब्रह्मप्राप्ति के लिए ही करेंगे। हम शरीरवादी बनकर आत्मा का और परमात्मा का इनकार नहीं करेंगे। उनकी अवगणना नहीं होने देंगे। और हमारी प्रार्थना रहेगी कि "वह परब्रह्म भी हमारी उपेक्षा न करे।" इसलिए जो-जो सद्गुण (धर्म) 'उपनिषदो' में बताये गये हैं, उनका हम विकास करेगे। यहाँ जिन सद्गुणों को 'उपनिषदों' के धर्म के रूप में बताया है, वे ही सद्गुण भगवद्गीता में 'देवीसम्पत,' के नाम से दिये हैं। वहाँ उनकी संख्या बाईस है। इम उपनिषद् में तप, दम, सत्य, वेदोपासना आदि बातें बतायी हैं। गीता के तेरहवे अध्याय में ज्ञान की व्याख्या मे, ये ही 'उपनिषदों के धर्म' बताये हैं।

शान्ति पाठ का सीधा अर्थ यह है :

"मेरे मब अंग, वाणी, प्राण, नाक, आँख, कान, उनका बल और उनके साथ दूसरी भी सब इन्द्रियाँ परिपुष्ट हो जाएँ। मेरी साधना के लिए वे मब नीरोगी, परिपुष्ट, समर्थ, बलवान बने और उनका विकास हो।

"यह मारा (विश्व) सचमुच ब्रह्म ही है, जिसे उपनिषदो ने समझाया है।

"मैं इस ब्रह्म का इनकार (निराकरण) न करूँ, वह ब्रह्म भी मेरी उपेक्षा न करे। दोनो ओर से तनिक भी निराकरण न हो। पूरा-पूरा 'अनिराकरण' हो। सब उपनिपदो मे जो साधनारूप, कर्तव्य, गुण अथवा धर्म बताये हैं, वे सब मुझमें विकसित हों, क्योंकि मैं आत्मा मे ही निरत हूँ। मैं आत्मपरायण ही हूँ।"

४०. शान्तिपाठों का सम्पूर्ण पंचक

कृष्ण और शुक्ल ऐसे दो यजुर्वेद मानने से कुल पाँच वेद होते हैं। इन पाँच वेदों के तमाम उपनिषदों के लिए पाँच शान्ति पाठ माने गये हैं।

ऋक्, यजुर्, साम और अथर्वण के रिवाजी क्रम के अनुसार ये शान्तिपाठ न लेते हुए, उपनिषदों का अध्ययन करने वाले साधकों की और उन्हें मदद करने वाले गुरुओं की सहूलियत के अनुसार इन पाँच शान्तिपाठों का क्रम यहाँ तय किया है। हर एक उपनिषद् के पहले उसका शान्तिपाठ दिया होता है। सो देख लेना। जिनके लिए ये पाठ हैं, उनकी सहूलियत इस क्रम से सिद्ध होगी, ऐसी आशा है।

प्रथम शान्तिपाठ बहुवचनी पसन्द किया है। क्योंकि गुरु-शिष्य आदि अध्ययन करने वाले और सुनने वाले सब मिलकर यह बोलेंगे।

उसके बाद गुरु-शिष्य दोनों की सहूलियत के लिए द्विवचनी शान्तिपाठ लिया है। संस्कृत भाषा में द्विवचनी रूपों की सुविधा है, इससे लाभ उठाया है।

इसके बाद दो शान्तिपाठ चिन्तनशील विद्यार्थी-शिष्यों के लिए खास एकवचनी बनाये गये हैं।

और पाँचवाँ— अन्तिम सर्वोच्च ओर सबसे छोटा शांति पाठ उपनिषद् विद्या का वर्णनात्मक है। इससे सब भक्तों को त्रिविध शान्ति मिल सकती है।

अब ये शान्तिपाठ शुरू करते हैं।

१. ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः।
भद्रं पश्येमाक्षभिर् यजत्राः
स्थिरैरंगैस् तुष्टुवांसस् तनूभिः।
व्यशेम देवहितं यदायुः।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

'अर्थात्, हे देव, हम अपने कानों मे अध्यात्मविद्या जैसे कल्याणकारी भद्र वचन ही सुनें। यज्ञो के द्वारा आदरणीय बने हुए हे ऋषिगण, हम अपनी आँखों से भद्र यानी शुभ तत्त्वों का ही दर्शन करें और आपकी स्तुति करते करते हम लोग अपने स्थिर अंगो वाले मजबूत शरीरों द्वारा देवो के दिए हुए आयुष्य का सदुपयोग करें।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

२. ॐ सह नाववतु।
सह नौ भुनक्तु।
सहवीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नौ अधीतम् अस्तु।
मा विद्विषाव है।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति।।

ॐ भगवान परमात्मा हम दोनों का (गुरु-शिष्यों का) एकत्र रक्षण करें। हम दोनों को एकत्र पोषण दे दें।

हम दोनों मिलकर (ज्ञान-प्राप्ति और ज्ञान-प्रचार के जैसा) पराक्रम करते रहे। इस तरह हम दोनों का अध्ययन सामर्थ्य देने वाला तेजस्वी बने। और, हे भगवान! हम गुरु-शिष्य दोनों में किसी प्रकार की ईर्ष्या-द्वेष पैदा न हो जाय।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

३. ॐ आप्यायन्तु मम अंगानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं अथो
बलं इंद्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्म औपनिषदम्।
माहं ब्रह्म निराकुर्याम्। मा मा ब्रह्म निराकरोत्।
अनिराकरणं अस्तु। अनिराकरणं मे ऽस्तु
तदात्मनि निरते ये उपनिषत्सु धर्माः ते मयि सन्तु।
ते मयि सन्तु।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

अर्थात्, ॐ हाथ, पाँव आदि मेरे अग और मेरी वाणी, मेरे प्राण, आँखे, कान सब पुष्ट हो जाएँ। सब इन्द्रियो मे बल आ जाय। उपनिषद् ने जिसका वर्णन किया है, वह सर्व ब्रह्म ही है। मेरी तरफ से उस ब्रह्म का निराकरण कभी न हो। ब्रह्म मेरा निराकरण याने उपेक्षा न करे। उपनिषदों मे जो धर्म व्यक्त हुए है, वे सब आत्मपरायण मुझमें जाग्रत (विकसित) हो जाएँ। मुझमें प्रकट हो जाएँ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति।।

*

४. ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता। मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम् आविराविर् म ऐधि। वेदस्य म आणी स्थः। श्रुतं मे मा प्रहासीः अनेन अधीतेन अहोरात्रान् संदधामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन् मां अवतु। तद् वक्तारं अवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। अवतु वक्तारम्।।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

मेरी वाणी मेरे मन मे प्रतिष्ठित हुई है स्थिर हुई है। मेरा मन मेरी वाणी मे प्रतिष्ठित हुआ है। हे प्रकाशरूप आत्मन्! मेरे लिए मुझमें प्रकट हो जाओ।

हे मेरे मन और वाणी! मेरे लिए, वेद प्राप्त करने के लिए तैयार हो जाओ। मेरा अध्ययन मेरा त्याग न करे। मेरे अध्ययन द्वारा मैं दिन और रात एक कर दूँगा।

मै ऋतं याने धर्मवचन बोलूँगा। मैं सत्य बोलूँगा। (मैं ऋत और सत्य का प्रचार करूँगा।) सत्यनारायण ऋत मेरा रक्षण करें। सत्य प्रचारकों का रक्षण करे। मेरा रक्षण करे। प्रचारको का रक्षण करे। प्रचारकों का रक्षण करे।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ पूर्ण अदः पूर्ण इदम्
पूर्णात् पूर्णं उदच्यते
पूर्णस्य पूर्णं आदाय
पूर्ण एव अवशिष्यते।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

अर्थात वह (परब्रह्म) पूर्ण है, यह (आत्मतत्त्व) पूर्ण है। उस पूर्ण में से ही यह पूर्ण प्रकट हुआ है। उस पूर्ण मे से इस पूर्ण को यदि ले लिया, तो पूर्ण में (बढना-घटना) कम-ज्यादा कुछ होता नहीं, पूर्ण ही रहता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति।।

हमारा उपनिषदों का अध्ययन भी पूर्ण हो जाय। पूर्ण परमात्मा हमारी साधना को पूर्णतया मफल बनावे।

भजनांजलि

(आश्रम भजनावलि के कुछ भजनों का रसग्रहण)

गुजराती से हिंदी अनुवाद

यशोधरा द्विवेदी

विश्व-समन्वय का प्रारम्भ

भारतमाता का मिशन

(गुजराती आवृत्ति की प्रस्तावना)

दक्षिण अफ्रीका जैसे अत्यन्त प्रतिकूल प्रदेश में सेवा का प्रारम्भ करके गांधीजी ने जो अनुभव किया और आदर्श अपनाया, उसका लाभ भारत द्वारा मानवजाति को देने के लिए वे सन् १९१५ में हमेशा के लिए स्वदेश आये; और उन्होंने गुजरात के द्वारा प्रारम्भ करने का तय किया। अहमदाबाद, साबरमती में सत्याग्रहाश्रम की स्थापना की। और मिले वैसे साथियों को लेकर जीवन साधना के द्वारा सुबह-शाम संस्कृति सेवा का प्रारम्भ किया। उस आश्रम में प्रार्थना में बोलने के लिए पसन्द किये हुए भजन 'आश्रम भजनावलि' नाम की छोटी सी किताब में संग्रहीत है।

अनेक वंशी, अनेक धर्मी और अनेक भाषी इस देश की प्रजा को संगठित कर मानव-जाति की सेवा करने के जिस आदर्श का उन्होंने स्वीकार किया वह उनके आश्रम के कार्यक्रमो में और वहाँ की दो समय की प्रार्थनाओं में दृष्टिगोचर होगा।

इस देश को विदेशी प्रजा की गुलामी से मुक्त किये बिना राष्ट्रीय सामर्थ्य साधा नहीं जा सकेगा और भारतमाता का जागतिक मिशन शुरू नहीं किया जा सकेगा, यह जानकर उन्होंने प्रजाजागृति के और राष्ट्रीय संगठन के एक जबरदस्त कार्यक्रम पर अमल करना शुरू किया। लगभग तीस वर्ष के अन्दर हम स्वतन्त्र हो सके। लेकिन साथ-साथ हमने महात्माजी की सेवा भी गंवाई। भारतमाता की उत्कृष्ट सेवा उन्होंने अपने तेजस्वी जीवन द्वारा और अन्त में अपने बलिदान द्वारा भी की। उनकी उस प्रेरणा का बीज हमें उनकी आश्रम प्रवृत्तियों में मिलता है। यहाँ की संस्कृति की अद्भुत तेजस्विता का विकास उन्होंने सत्याग्रह जैसी सात्त्विक युद्धनीति के द्वारा करके दिखाया। सारी मानवजाति के लिए उनकी यह अद्वितीय सेवा मानी जाएगी।

जैसे महात्माजी के आश्रम में चलती प्रार्थनाओं में नित्य गाये जाने वाले भजनों का भाव, गांधी दृष्टि मे समझाने का प्रयत्न उस समय के इन बयालीस प्रवचनों में किया है।

स्वतन्त्र होने के बाद भारतमाता का मुख्य मिशन सारी दुनिया में 'सत्य और अहिंसा, मंयम और मेवा द्वारा' विश्व समन्वय की स्थापना करना है। यह देश अनेक वंशी, अनेक भाषी और सर्वधर्मी है। इसीलिए इस देश में ममस्त मानवजाति की, और समस्त विश्व की सेवा करने की उत्तम संभावना भी है।

उमके लिए आवश्यक प्रेरणा गांधीजी के जीवनकार्य के द्वारा और विशेषत: आश्रमसेवा द्वारा प्राप्त हो सकेगी। अलग-अलग धर्म के और भाषा के अनेक सेवक जैसे-जैसे आश्रम में इकट्ठे होते गये वैमे-वैसे जीवनसमृद्धि का हमारा आदर्श उदार, तेजस्वी और सर्वकल्याणकारी बनता गया।

इस पूरी प्रवृत्ति का प्रारम्भ गुजरात में हुआ। गुजरात ने ही इस प्रवृत्ति के लिए बड़ी संख्या मे सेवक प्रदान किये। यहाँ गुजरात के बाहर से जो लोग आये, वे भी गुजरातियों की प्रेम भरी उदारता के फलस्वरूप गुजराती बन गये। अनेक भाषा के भजनों का भाव और उनमें से गाधी दृष्टि मे लेने का बोध यहाँ गुजराती मे ही दिया गया है।

करीब चालीस प्रवचनों को एकत्रित करके यह भजनांजलि तैयार की गयी है। प्रवचन चाहे मैंने दिये हों, लेकिन इन प्रवचनो के बारे मे चिंतन महात्माजी का और आश्रम के ममग्र साथियो का है। इन प्रवचनो को एकत्रित करने का काम भी आश्रम के साथियों ने ही किया है। उसमें चालीस वर्ष के मेरे साथी श्री अमृतलाल नाणावटी का हाथ तो है ही। उन्होंने मुश्किल शब्दों के अर्थ भी योग्य स्थान पर देकर इस संग्रह की उपयोगिता बढायी है।

अभी-अभी समाचार प्राप्त हुए कि कुछ आश्रमवासियों ने पू. बापू जी के कुछ भजन-प्रवचन लिखकर रखे हैं। इसमें श्री प्रभुदास गाधी ने विशेष मेहनत की है। उस पूरी सामग्री को एकत्रित करके एक स्वतन्त्र पुस्तक प्रकाशित करना सम्भव होगा ऐसा लगता है।

भारतमाता के आनेवाले जागतिक मिशन को पोषक जितने प्राप्त हो सके, इतने प्रवचन एकत्रित करके भिन्न-भिन्न भाषाओं में जनता तक पहुँचाने का विचार है। आजाद होने के बाद हमारे राष्ट्रीय पुरुषार्थ में जो दोष और उलझनें पायी गयी हैं उन्हें दूर करने में भी उसका उपयोग हो सकेगा।

भारतमाता के आज के युग के मिशन का सन्देश शहर और गाँव की जनता तक पहुँचाना ही चाहिए। और इस प्रकार घर पर जीवनशुद्धि और जीवन-समृद्धि

साधने के साथ हमें समस्त विश्व-सेवा के लिए भी योग्य सेवक तैयार करने चाहिएँ। उसमे 'सर्व धर्म के भगवान' की सहायता हमे प्राप्त हो। यह हम सबकी हार्दिक प्रार्थना होनी चाहिए।

महाशिवरात्रि —काका कालेलकर

२१ २ १९७४

पू कस्तूरबा की पुण्यतिथि

वर्धा

१. जतन से ओढ़ी चदरिया

(राग : भैरवी— तीन ताल)

झीनी झीनी बिनी चदरिया।— ध्रु.
काहे कै ताना, काहै कै भरनी
कौन तार से बिनी चदरिया।
इंगला-पिंगला ताना भरनी
सुषमन तार से बिनी चदरिया।
आठ कंवल दल चरखा डोलै
पाँच तत्त, गुन तिनी चदरिया।
सांई को सीयत मास दस लागै
ठोक ठोक के बिनी चदरिया।
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी
ओढ़ी के मैली कीनी चदरिया।।
दास कबीर जतन से ओढ़ी
ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया।

*

कबीर के इस प्रख्यात भजन के एक दो अनुकरण भी हुए हैं। जो महाकवि हैं या लोककवि हैं वे पेचीदी उपमा या रूपकों का उपयोग जहाँ तक हो सके नहीं करते। विशाल लोकजीवन के सामान्य अनुभव से ही वे अपनी कविता के लिए सामग्री पा लेते हैं। धम्मपद, सुन्तनियाल आदि ग्रंथों में भी वैसा ही है। राजा भर्तृहरि के सुभाषितों में भी करोड़ों लोगों के अनुभवों की और कल्पनाओं की सामग्री का ही उपयोग हुआ है। कबीर जाति मे जुलाहा था। इमीलिए चदरिया और बुनाई की उपमा उसके मन में आये उसमें आश्चर्य क्या ?

ताने की तैयारी करके जिस प्रकार उसमें बाना बुना जाता है, उसी प्रकार पूर्वजन्म के संस्कार, माता-पिता से पाई गयी विरासत, कुलधर्म की टेक, अपने ज़माने की लोकस्थिति और जन्म-जन्मांतर के साथ संलग्न हुई स्वधर्म जैसी श्रद्धा, ये सब

हमारे जीवन का ताना है। उस ताने का योग साधकर उसके अन्दर दैनन्दिन जीवन उसमे पाये जानवाले अनुभव, उसके द्वारा विकसित कल्पनाएँ और महत्त्वाकाक्षाएँ, उससे फलीभूत होने सुख दुःख और लाभ-हानि, ये सब हमारा जीवन का बाना है।

जिनका जीवन उत्कट है उनके जीवन का यह बाना गफ होता है। जिनका जीवन छिछला होता है उनका बाना स्वाभाविकतया पतला और कच्चा होता है। श्रद्धा और अनुभव, पूर्व सस्कार और नये पुरुषार्थ जब आते प्राप्त होते है तब उसमे भिन्न भिन्न व्यक्तित्व प्रगट होता रहता है, और वही जीवन का सही उपयोग और आनन्द है।

इस प्रकार की बनी हुई चदरिया हमारा यह शरीर है।

मनुष्य को जिस प्रकार कुशलता से बुनना आना चाहिए उसी प्रकार बुनी हुई चदरिया का कुशलता से उपयोग करना आना चाहिए। शरीर अगर स्वच्छ हो और पूरे दिन की प्रवृत्ति भी अगर निर्मल हो तो सुबह ओढे गये कपडे शाम तक मैले क्यो होने चाहिएँ? अच्छे ढग से स्नान करने के बाद शरीर पोछने के लिए जिस तौलिये का उपयोग करते है वह अगर मैला हो जाय तो उसका अर्थ यही कि हमने अच्छे ढग से स्नान नही किया।

शरीर रूपी चदरिया हम नही बुनते लेकिन भगवान बुनकर हमे सौप देते है। फिर अगर हम चाहे तो इस शरीर को मैला भी बना सकते है और चाहे तो त्रिलोक के पार भी जा सकते है। जो उत्तम साधक है वे इस शरीर को मोक्ष का साधन बनाने का ओर प्रयत्न करते है। लेकिन विकार से मुक्त रहे हो वैसे बहुत ही कम लोग होगे।

लेकिन उसमे आश्चर्य क्या? हमारा शरीर विकार से ही उत्पन्न होता है। माता पिता ने विकार के वश होकर ही हमे जन्म दिया। विकार ही जिसकी उत्पत्ति है उस शरीर मे विकार उत्पन्न हो तो उसमे आश्चर्य नही है।

लेकिन इस शरीर मे रहनेवाला किरायेदार स्वभाव से विकारी नही है। वह अगर चाहे तो शरीर मे रहने पर भी, और शरीरोचित व्यापार चलाने पर भी स्वय अलिप्त और निर्विकारी रह सकता है।

रामकृष्ण परमहस ने एक सुन्दर उदाहरण दिया है। कटहल को काटो तो अन्दर की चिकनाई से हाथ गन्दे हुए बिना रहेगे ही नही, यह अनुभव की बात है लेकिन कटहल को स्पर्श करने से पहले दोनो हाथ और छुरी को नारियल का तेल ढग से लगा दो तो कटहल काटने की वही क्रिया आप अलिप्त रह कर कर सकते है। आपके हाथ गदे नही होगे, इतना ही नही लेकिन आपका काम अधिक सफाई से होगा।

स्वर्ग के देव पृथ्वी पर के मनुष्य और इन दोनो से परे ऐसे ऋषि-मुनि सभी

ने शरीर का उपयोग करके अनुभव किया है, सबने अपनी-अपनी चदरिया ओढ़ी है, और प्रत्येक की चदरिया कहीं-न-कहीं मैली हुई ही है। एक कबीर ऐसा पक्का निकला कि जिसने सारी ज़िंदगी इस चदरिया का उपयोग इतनी कुशलता से किया (जतन से ओढ़ी) कि उससे सारी जिंदगी का काम निकाल लिया। फिर भी अन्त मे जैसी मिली थी वैसी ही वापस लौटा दी। (ज्यों की त्यों धर दीनी।)

पूरा जीवन निर्विकार स्थिति मे बिताने के कारण अपना शरीर कहीं से मैला नहीं हुआ ऐसा कबीर का दावा है, आत्मविश्वास है।

शरीर मैला हुआ कब माना जाये ? निद्रा, आराम व्यायाम, आहार और विहार ये सब शरीर के व्यापार हैं। आराम-प्रियता और आलस्य बढ़े तथा शरीर मैला हुआ माना जाये, खाने में अगर पेटूपन या स्वाद लोलुपता कहीं दिखाई दे तभी शरीर मैला हुआ माना जाये। शास्त्रीय प्रयोग करते समय जब वैज्ञानिक जीभ मे किसी पदार्थ का स्वाद चखते हैं, तब निश्चित स्वाद पहचानने के लिए स्वादेन्द्रिय की, रसना की, उस शक्ति को पराकाष्ठा तक पहुँचा देते हैं। अनेक आसवों को रख जाने और क्रमशः चखकर उनके अलग अलग स्वाद परखने की शक्ति कई लोगो मे होती है। स्वादशक्ति इतनी बढाने पर भी, उसके कारण वे स्वादलोलुप होते है ऐसा नहीं है, स्वाद क्षमता अलग वस्तु है और स्वाद लोलुपता दूसरी वस्तु है। कलाधर या कलारसिक जो कलानन्द या काव्यानन्द मनाते हैं, और योगभ्रष्ट हुए नीची कक्षा के लोग उसी वस्तु से जो विषयानन्द मनाते है, ये दोनों वस्तुएँ भिन्न हैं। एक मे निर्विकारी स्थिति बनी रहती है और उससे कौशल्य की परिसीमा साधी जाती है; दूसरे मे— विषयानन्द मे — सारा शरीर और मन विकारी बन जाता है और स्वाद-क्षमता, अमुक मर्यादा के बाद, भावरहित हो जाती है।

निर्विकारी मनुष्य जब भोजन करता है तब केवल शरीर के पोषण के लिए ही करता है। खाते समय प्रत्येक वस्तु के स्वाद का वह अच्छे ढग से और विशेष सूक्ष्मता से अनुभव भी कर सकता है। अच्छा स्वाद कौन सा और बुरा कौन-सा उसका विवेक भी उसके पास उत्तम होता है, लेकिन उस स्वाद की ओर वह एक क्षण के लिए भी आकर्षित नहीं होता। केवल स्वाद के लिए वह किसी वस्तु को पसन्द नहीं करेगा ? अधिक खायेगा नहीं या केवल स्वाद को बनाये रखने के लिए उसे चुभलाने के लिए मुँह में रखेगा नहीं।

कबीर ने शादी की थी। गृहस्थाश्रमी था। कमाल नाम का उसका एक बेटा था यह हकीकत हम जानते हैं। जिस प्रकार स्वाद-लोलुप हुए बिना शरीर-पोषण के लिए भोजन हो सकता है। उसी प्रकार अपत्य-प्राप्ति के लिए संग किया जा सकता है, और फिर भी मनुष्य चाहे तो विकार पर काबू पाकर उसे बनाये रख सकता है, ऐसा अभी तक के सन्त मानते आये हैं।

स्वादिष्ट वस्तु देखकर मनुष्य के मुँह में पानी आता है। विषयसेवन के समय सारा शरीर और मन विकारों से उत्तेजित हो जाता है, उसे निर्विकार स्थिति कैसे कहा जाये ? खायी हुई खुराक के साथ मुखरस मिले नहीं तो खुराक हजम न हो। विषयसेवन में अगर शरीर उत्तेजित न हो तो विषयसेवन भी न हो ऐसी कुदरती रचना होने पर भी, क्या हम कह सकते हैं कि हम निर्विकारी रहे हैं ?

इतना अवश्य कह सकते हैं कि जिह्वा के स्वाद को, और शरीर की उत्तेजना को, हमने प्रधानपद नहीं दिया है, उसके वश होकर व्यवहार नहीं किया।

जो विकार का सर्वथा त्याग चाहते हैं उनका आदर्श अलग है। वे कहते है कि खाये-पिये बिना हम जी ही नहीं सकते हैं। खुराक बन्द करने से स्वादेन्द्रिय वश में होने के बदले उत्तेजित होती है; लेकिन विषयसेवन का ऐसा नहीं है। अगर मन से और शरीर से विषयों को भूल सकें तो विषयों के बिना जी सकते हैं; इतना ही नहीं लेकिन अधिक अच्छे ढंग से दीर्घकाल तक जी सकते हैं।

मुझे लगता है कि ब्रह्मचर्य के आदर्श के बारे में अधिक छानबीन की आवश्यकता है। सन्तों ने पूर्ण विचार या आदर्श प्रयोग किये हों वैसा नहीं लगता।

स्त्री का स्मरण या दर्शन भी न किया जाये यह आदर्श भी गलत है। विकार मात्र से मन बिगड़ता है इतनी बात सही। विकार से दूर रहकर सामान्य व्यवहार कब तक चल सके उसका निर्णय करना चाहिए।

शरीर-रचना के बारे में हठयोग में जो कल्पना की गयी है उसके अनुसार मनुष्य के शरीर में नीचे से सिर तक आठ चक्र हैं, उसके आधार पर दस इन्द्रियाँ, पंचमहाभूत के साथ गतिशील होती हैं। इसमें सत्त्व, रज, तम ये तीन धागे (त्रिकोण) बुने जाते हैं और इस प्रकार माता के उदर में नौ या दस महीने पर शरीर तैयार होता है। वही है हमारी यह चदरिया।

बिनी = बुनी गयी

भरनी = बाना

इंगला = इडा और पिंगला कमर से ऊपर सिर तक जाती दाईं और बाईं ओर की नाड़ियाँ हैं और सुषुम्णा दोनों के बीच की नाड़ी है।

सुषमन = सुषम्णा, सुषुमना

कँवल = कमल

तत्त = तत्त्व

गुन = सत्त्व, रज और तम तीन गुण

सांई को = विधाता को

जतन से = खूबी से संभालकर

२. वृक्षन से मत ले*

(राग : बिहाग— ताल : दीपचंदी)

वृक्षन से मत ले, मन तू वृक्षन से मत ले।
काटो वाको क्रोध न करहीं,
सिंचत न करहिं नेह। मन तू......

धूप सहत अपने सिर ऊपर,
और को छांह करे,
जो वाही को पथर चलावे,
ताही को फल दे। मन तू......

धन्य-धन्य ये पर-उपकारी,
वृथा मनुज की देह।
सूरदास प्रभु कहं लगि बरनौं
हरिजन की मत ले। मन तू......

* * *

भगवान सर्वज्ञ होने के कारण साधु लोगों का परित्राण करते हैं और जो दुर्जन हैं, जिनका आचार खराब है उनका नाश करते हैं। इसीलिए ही तो भगवान अवतार धारण करते हैं,

परित्राणाय साधूनाम्, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे।।

भगवान के अवतार यही काम करते हैं।

सामान्यतया न्यायाधीश भी गुनाहगार को सजा का हुकम करता है। राजा लोग भी जब न्यायी होते हैं तब सज्जनों की कद्र करते हैं, दुर्जनों और गुनाहगारों को सजा का हुकम देते हैं।

सन्तों का ऐसा नहीं है। सन्त सज्जनता और दुर्जनता का भेद जानते हैं, सज्जनता पसन्द करते हैं। दुर्जनता उन्हें नापसन्द होती है। लेकिन वे दुर्जनों को दंड नहीं देते। वे कहते हैं, हम न राज्यकर्ता हैं न न्यायाधीश। हम तो ईश्वर की दुनिया के सेवक हैं। इसलिए अपने जीवन का उद्धार हो उस प्रकार की उत्कट साधना करनी इतना ही जानते हैं।

* गाधीजी के प्रिय भजनो में से एक।

सन्तों की इस श्रेष्ठ वृत्ति को सब स्वीकार करते हैं। लेकिन हम सामान्यतया शिक्षक और विद्यार्थी के सम्बन्ध का ही विचार करें। शिक्षक शरारती विद्यार्थियो को दंड देते हैं हम यह जानते हैं। लेकिन वे आदर्श शिक्षक नहीं हैं। शिक्षक कहता है, मेरे पास आये हुए अच्छे-बुरे सभी विद्यार्थियों की सेवा करना ही मेरा धर्म है। जो जानते नहीं हैं उन्हें ज्ञान देना, जिनमें कौशल्य नहीं है उन्हें योग्य बनाना, जो बिगडे हुए हैं उन्हें अच्छा बनाने का काम मेरा। बिगड़े हुए विद्यार्थियों को अच्छा बनाते समय मुझे कड़ा बनना पडे तो कड़ा बनूँगा। लेकिन दंड देने का और न्याय का अमल करने का काम मेरा नहीं है। मैं तो बिगड़े हुए विद्यार्थियों को भी अज्ञानी ही मानता हूँ। जो चारित्र्य के कच्चे हैं, वे भी मेरी दृष्टि से अज्ञानी और दुर्बल ही हैं। जो लोग अच्छा क्या है यह जानते हुए भी खराब मार्ग पर चले जाते हैं, उनमे अपने मन पर काबू पाने की शक्ति नहीं है यह उनकी दुर्बलता है। ऐसी दुर्बलता को दूर करना वह शिक्षक का काम। इसके लिए शिक्षक के पास अपार धैर्य होना चाहिए। और उससे भी बढकर मेरा यह विद्यार्थी आज चाहे चारित्र्य से दुर्बल हो दुर्जन की तरह चलता हो, फिर भी उसमें भलाई के तत्त्व सुप्तस्थ हैं ही। उसके बारे में मुझे शक नहीं। वे अच्छे तत्त्व अभी सोये हुए हैं, उन्हें जाग्रत करना वह मेरा कार्य हैं। दंड देना वह आसान कार्य है। मेरा जीवनकार्य उससे ऊँचा है। प्रत्येक में छिपी छुई भलाई और सज्जनता पर विश्वास रखने योग्य आस्तिकता मुझमें होनी चाहिए। और उस भलाई को जागृत करने के लिए मैं मेरे प्रयत्न की पराकाष्ठा तक पहुँचूँ। शिक्षक की हैसियत से वही मेरी जीवन-साधना है। (शिक्षक अर्थात शिक्षा शास्त्री शिक्षा अर्थात दंड देने वाला नहीं।)

यहाँ तक अगर हम आ गये तो सूरदास का यह भजन हम पूर्णतया समझ पायेंगे। सूरदास अपने आप सन्त होने के नाते समाज के प्रत्येक मनुष्य को सन्त-वृत्ति अपनाने की सीख देते हैं। और इसलिए कहते हैं, "हे भले मनुष्य, जीवन कैसे जीना, दुनिया में कैसे रहना यह अगर तुम्हें जानना हो तो दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। चारों ओर वनस्पति फैली हुई है। कितने सारे पेड़ चारों ओर फलदायी हुए हैं। उनका जीवनधर्म देख-समझ कर उनके पास से तू 'मत' अर्थात सीख ग्रहण कर। (सन्त हमेशा अपने मन को ही सीख देते हैं।) सूरदास अपने मन को ही सीख देते हैं।— देखो ये वृक्ष। जो कोई उन्हें काट देते हैं उन पर वे क्रुद्ध नहीं होते। और जो कोई उन्हें पानी पिलाते हैं, उन्हें अपने हितैशी समझकर उनके प्रति विशेष प्यार नहीं दिखाते। वे सभी के प्रति समान ही रहते हैं।

ये देखो कितनी तेज धूप है ! उस धूप में वह वृक्ष सूरज की गर्मी अपने सिर पर झेल लेता है, सह लेता है और अपने पास आये हुए सभी को छाया देता है।

पेड पर लगे अच्छे फल देखकर लोभी मनुष्य वह फल तोडता है। ऊपर चढ़ना सभव न हो या इतना परिश्रम भी करना न हो, तो फल की ओर निशाना लगाकर लोभी मनुष्य पत्थर फेकता है। वृक्ष ऐसे मनुष्य पर भी क्रुद्ध हुए बिना उसे अपना फल दे देता है।

जरूर, ये वृक्ष ही पूर्ण परोपकारी हैं। उन्हे धन्य है। हे मेरे मन ! तुझे मनुष्य देह मिली, वह व्यर्थ है। वृक्ष के जितनी भलाई भी तू दिखाता नहीं है। सूरदास कहते है, इन वृक्षो की प्रशसा कहाँ तक करूँ ? ये वृक्ष ही सच्चे हरिजन है, भगवान के प्राणी हैं। उनसे ही तुझे बोध प्राप्त करना चाहिए।

इस भजन को आश्रम भजनावलि मे लेने की सिफारिश स्वय गाधी जो ने ही की थी। उसका भी थोडा आनन्ददायी इतिहास है।

गुजरात के सुविख्यात वनस्पतिशास्त्र-विशारद जयकृष्ण इन्द्र जी ने अपनी पुस्तक के प्रारम्भ मे यह भजन रखा हे। उसे उनके शिष्य से मौखिक हमारे अमृतलाल नाणावटी ने सीख लिया और वे सेवाग्राम आश्रम मे प्रार्थना मे गाते थे। वह बापूजी को बहुत अच्छा लगा।

३. सबसे ऊँची प्रेम-सगाई

(राग : भीमपलामी— तीन ताल)

सबसे ऊँची प्रेमसगाई।
दुर्योधन को मेवा त्यागो; साग विदुर घर पाई।— ध्रुव.
जूठे ,फल शबरी के खाये, बहु विधि प्रेम लगाई,
प्रेम के बस नृप-सेवा कीन्हीं, आप बने हरि नाई। १
राजसुयज्ञ युधिष्ठिर कीनो, तामें जूठ उठाई,
प्रेम के बस अर्जुन-रथ हाँक्यो भूल गये ठकुरायी। २
ऐसी प्रीति बढ़ी वृन्दावन गोपिन नाच नचाई,
सूर क्रूर इस लायक नाहीं कहँ लगि करौं बड़ाई। ३

* * *

सूरदास और तुलसीदास हिन्दी के वैष्णव कवियों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। सूरदास तो अष्ट छाप कवियों मे भी सर्वश्रेष्ठ थे। श्रीमदभागवत उनके मन सर्वश्रेष्ठ ग्रथ था। और प्रेमभक्ति को ही उन्होने साधना का सर्वस्व माना।

जो प्रेमभक्ति के गीत सारी जिन्दगी वे गाते थे, वह प्रेमभकित श्रीकृष्ण के प्रति

थी। और इसलिए श्रीकृष्ण स्वयं कैसे प्रेममूर्ति थे, यही उन्होंने इस भजन में गाया है। *बड़े-बड़े राजा-महाराजा, धर्माचार्य, मठपति, वीर पुरुष समाज में प्रतिष्ठित होते हैं।* ऐसे सारे सम्बन्धों को गौण मानकर श्रीकृष्ण ने स्वयं प्रेम की सगाई को सबसे ऊँची माना।

इस एक ही वस्तु को अनेक उदाहरण देकर सूरदास ने इस भजन में सिद्ध किया है।

श्रीकृष्ण जब कौरवों को मिलने गये तब कौरेश्वर दुर्योधन का आतिथ्य गौण मानकर, प्रतिष्ठा रहित विदुर के घर के आतिथ्य को उन्होंने स्वीकार किया। दुर्योधन के दिये हुए फलफलारी (मेवा) का त्याग करके विदुर के घर साग खाने में उन्होंने आनन्द माना। बेचारी शबरी जाति से आदिवासी होगी। वह क्या जाने कि अपना जूठा किसी को खाने के लिए न दिया जाये। उसने सोचा कि भगवान रामचन्द्र को जो फल अर्पण करूँगी वे फल अगर स्वादिष्ट न हों तो ? मैं चखकर निश्चय कर लूँ कि फल खट्टे हैं या कसैले ! अधपके या अतिपके तो नहीं हैं ? भगवान रामचन्द्र ने उसकी ऐसी भोली भक्ति की कद्र की और शबरी के दिये हुए जूठे फल प्रशंसा कर-करके खाये। भक्त सेना नायी एक राजा के वहाँ नौकर था। एक बार भगवान ने सेना नायी का रूप लेकर राजा की सेवा की। बाद में सेना को पता चला कि भगवान ने मेरा काम किया। धर्मराज युधिष्ठर ने युद्ध में विजय मिलने के बाद बड़े राजसूय-यज्ञ का प्रबन्ध किया। घर के और साथ-साथ बाहर के अनेक राजाओं को यज्ञ की व्यवस्था का काम सौंपा। उसमें श्रीकृष्ण ने अपने लिए काम पसन्द किया। कौन-सा ? भोजन के बाद जूठन उठाने का ।

उसके पहले, युद्ध में भी श्रीकृष्ण भूल गये कि खुद राजवंशी हैं। उन्होंने शस्त्र धारण नहीं करने का निश्चय किया। लेकिन अर्जुन के सारथि बने। ऐसा था उनका प्रेम। ऐसे प्रेम का विकास बड़ी उम्र में उन्होंने किया वैसा नहीं। छोटे थे तब भी वृन्दावन की गोपियाँ उस बालकृष्ण को जैसा नाच नचाये वैसा वे नाचने को तैयार ।

भगवान के हृदय में प्रेम का सम्बन्ध कितना ऊँचा है उसका वर्णन करते-करते अपनी काव्यशक्ति कितनी निर्बल है उसका अनुभव करके सूरदास मानते हैं कि कृष्ण के प्रेम के आगे वे निष्प्रेम हैं (क्रूर हैं)। और कहते हैं— कृष्ण की बड़ाई का वर्णन करने की योग्यता मुझमें है ही नहीं।

कहँ लगि = कहाँ तक

४. राम कहो रहमान कहो

(राग : केदार— तीन ताल)

राम कहो, रहमान कहो कोऊ, कान्ह कहो महादेव री
पारसनाथ कहो, कोऊ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री।।— ध्रुव.

भाजन-भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री
तैसे खंड कल्पनारोपित, आप अखंड सरूप री।। १

निज पद रमे राम सो कहिये, रहीम करे रहिमान री
कर्षे करम कान्ह सो कहिये, महादेव निर्वाण री।। २

परसे रूप पारस सो कहिये, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्म री
इह विधि साधो आप आनन्दघन, चेतनमय निकर्म री।। ३

* * *

ऋग्वेद में एक ऋषि ने एक बड़ी घोषणा करके कहा कि एक सत्: विप्राः बहुधा वदन्ति। सत् तत्त्व तो एक ही है। सयाने लोग (विप्राः) उसे भिन्न-भिन्न रूप मे पहचानते हैं। "एक और अनेक के बीच का यह अभेद सम्बन्ध" वही दुनिया का परम रहस्य है।

भरतखंड में तत्त्वज्ञान के अनेक दर्शन फूले फले। और उनके बीच सूक्ष्म से सूक्ष्म फर्क कौन-कौन से हैं उसकी छानबीन सूक्ष्मता से की गयी है। शास्त्री आज भी उमकी अखण्ड चर्चा चलाते हैं। फिर भी जनता की "मोटी बुद्धि" कहो, या "तत्त्वग्राही बुद्धि" कहो, अभेद को ही अधिक पहचानते हैं।

इसी से ही सर्वधर्म समभाव प्रस्फुट हुआ। "साधनानां अनेकता" और "उपास्यानां अनियमः" यह विशेषता भी व्यक्त हुई। उसी वृत्ति से यह भजन लिखा गया है। मनातनी और जैन उपास्य तो एक हैं ही। लेकिन हिन्दू और मुसलमान ये भिन्न धर्मों के आदर्श भी अन्त में एक ही हैं। यह तत्त्व कवि आनन्दघन की समझ में आया है और इसीलिए आनन्द में आकर वे उत्साह से गाते हैं— "राम कहो रहमान कहो"। कवि जैन होने पर भी "स्वयमेव सकल ब्रह्म" को वे मानते हैं। पूरा भजन वेदान्ती वृत्ति से सभर है। अनेक घट में आधार रूपी मिट्टी एक ही है। उसी प्रकार आत्मा अखण्ड एकरूप है। लेकिन उसका निवास जिसमें है वह पुद्गल खंडित और कल्पनारूपी है। कवियों को नाम की निरुक्ति देने का उत्साह होता

है। खेलता है वह राम, कर्म का नाश करे वह कान्ह, पारसमणि जिस प्रकार स्पर्श करके अपने रूप जैसा बना दे वह पार्श्वनाथ, ब्रह्म को पहचाने वह ब्रह्म, कृपा कर वह रहमान।

अन्त मे "जो चेतनमय है, वह निष्कर्म है," यह सत्य जोडना कवि भूले नहा हैं।

कर्षे बाहर निकाल दे, अत कर दे
चिन्हे – पहचाने

५. घूँघट का पट खोल रे

(राग : दरबारी कानडा— तीन ताल)

घूँघट का पट खोल रे तोको पीव मिलेंगे,
घट-घट में वह साँई रमता कटुक वचन मत बोल रे।

धन-जौबन को गरब न कीजै झूठा पचरंग चोल रे,
सुन्न महल में दियरा बारिले आसनसों मत डोल रे।

जाग जुगुतसों रग-महल में पिय पायो अनमोल रे,
कहै कबीर आनन्द भयो है, बाजत अनहद ढोल रे।

परमात्मा, साँई या मालिक भी है और पीव अथात प्रियकर भी ह।

हमने आँख पर घूँघट या नक़ाब ओढ़ लिया है और जान बूझकर अन्धे बने है। सर्वत्र एकता होने पर भी हम सकुचितता धारण करके दुनिया से अलग होते ह और अपना शरीर और व्यक्तिगत जीवन ही हमारा सर्वस्व है, ऐसा मानकर बैठे ह। जब तक इन सबमे हमने परिवर्तन नही किया, गलत मार्ग छोड कर, सीधे मार्ग पर आये नही है, तब तक हमारी हैरानी है।

"आसान मार्ग पर क्या-क्या करना पडेगा, और क्या-क्या पाया जा सकेगा।" यह बताता हुआ यह भजन भक्तो और साधको का प्रिय बन जाये उसमे कोई नयी बात नही है। जहाँ अँधेरा है वहाँ दीपक जलाना, निद्रा का त्याग करके युक्तिपूर्वक जागते रहना आँख पर बँधी हुई पट्टी हटा देना, सर्वत्र ईश्वर है यह जानकर किसी के साथ कटु व्यवहार रखना नही और धन-यौवन माया रूप है

ऐसा जानकर उसके अभिमान का त्याग करना और अपने निष्ठारूपी आसन से विचलित न होना।

इतनी साधना सिद्ध कर ली फिर तो जीवन में आनन्द ही आनन्द भरा हुआ है उसका अनुभव होगा। और फिर अनहद या अनाहत नगाडे का विजय घोष अखंड सुनने को मिलेगा।

यही भाव श्री हरिदास के भजन मे "अब हौ कासो बैर करौं" अलग ढंग से मिलता है। जब भगवान अपने आप स्वमुख मे कहते हैं कि मैं प्रत्येक घट मे — अर्थात प्रत्येक के हृदय मे विचरण करता हूँ तब मैं किसके साथ वैर कर सकूँ ? और किससे डर कर चलूँ ?

हठयोगी आँख, कान, नाक और मुँह बन्द कर के खेचरी मुद्रा में ध्यान करने बैठते है, तब उन्हें बिना की हुई आवाज़ सिर मे सुनाई देती है। योगविद्या में उसे अनाहत ध्वनि कहते हैं। वह ध्यान आगे बढे तब अँधेरा प्राप्त करने के बाद (तमसः परस्त्रात्) एक प्रकाश दिखाई देता है ओर सुगन्ध के अनुभव भी होते हैं। यह सुगन्ध, यह प्रकाश और ध्वनि गृढ होने के कारण योगविद्या में प्रगति की निशानी मानी जाती है। वही योगविद्या मे प्रगति की निशानी मानी जाती है। वही योगविद्या की परिभाषा का उपयोग करने का उत्साह हमारे कई पुराने कवियों का है।

पचरग अर्थात पचमहाभूतात्मक या विविधता मे भरा चोल या चोला अर्थात हमारा शरीर। पचमहाभूतात्मक सृष्टि को भी परमात्मा का शरीर समझकर यहाँ चोला कहा है। ध्यानयोग और प्रेमयोग म भेद नही है, वह आत्मा परमात्मा का प्रेम प्रसग है और उसी मे ही अद्वैतानन्द की अखण्ड अनुभूति प्राप्त होती है। ऐसा कबीर का कहना है।

पीव	पिया, प्रेमी	दियना	दीपक
चोल	शरीर	वारिले	जले
पचरग	पचमहाभूतात्मक	जाग	जागरण, यज्ञ
सुन्नमहल	हृदयाकाश	जुगत	युक्ति

सुन्न=निश्चेष्ट, निःस्तब्ध, शान्त

६. तू दयालू, दीन हौं

(राग : देस— ताल : दादरा)

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी,
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुन्न-हारी (१)

नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो ?
मो समान आरत नहीं, आरत-हर तोसो। (२)

ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो,
तात, मात गुरु, सखा तू सब विधि हितु मेरो। (३)

तोहिं-मोहिं नाते अनेक, मानियै जो भावै,
ज्यों-त्यों तुलसी कृपालु चरन-सरन पावै। (४)

*　　　*　　　*

मौलाना साहेब कहते थे कि "मनुष्य में और भगवान में एक बड़ा भेद है। मनुष्य को अपने पास से कोई कुछ माँगे वह अच्छा नहीं लगता। मनुष्य माँगे वह भगवान को अच्छा लगता है।"

वह है ही ऐसा बादशाह।

मनुष्य को मनुष्य के साथ के व्यवहार में स्वाभिमान बनाए रखना चाहिए, जबकि भगवान के सामने स्वाभिमान की वृत्ति भारी बाधारूप मानी जाती है। जैसे हो वैसे वहाँ दिखाई दे । भगवान के सामने अपनी शक्ति का विचार भी करना नहीं चाहिए। जो मिले वह लेना, जो चाहिए वह माँग लेना। सारा बोझ उसी पर डाल देना और वह जैसा रखे वैसा रहना।

हममें जो कुछ अच्छाई हो, शक्ति हो वह सब भगवान की है। इसीलिए उनकी शक्ति पर हम अभिमान न करें। इससे विपरीत जो कुछ अशक्ति है, हीनता है, दीनता है, वह सब हमारी है। उसे बिना किसी संकोच के, भगवान के चरणों पर अर्पण कर देना चाहिए।

ईश्वर के साथ का हमारा वही सम्बन्ध स्वाभाविक है। और जीवन में अगर कुछ पाने जैसा हो तो वह केवल भगवान के चरण हैं। उसे पाने के लिए जो कुछ करना पड़े वह करना। ईश्वर प्राप्ति के लिए जो कुछ करें वह धर्म्य है।

दूसरे एक भक्त ने कहा है, "सुतर आवे त्यम तुं रहे, जेम तेम करीने हरिने

लहे।''

तुलसीदास कहते हैं, हे भगवान तू दयालु है, मैं दीन हूँ (मेरे बिना तेरा चलेगा नहीं। कृपालायक कोई दीन हो ही नहीं सकता। तो भगवान की कृपा व्यर्थ जाए। तू दानी है, मैं याचक हूँ। मैं माँगूँ नहीं, लूँ नहीं, तो तेरा उदार हृदय अतृप्त ही रहेगा। मैं बड़ा पापी हूँ और तू है समस्त पापों को जलाने वाली अग्नि। तू अनाथों का नाथ है, तुझे मुझसे बढ़कर अनाथ कहाँ से मिलनेवाला था ? मैं दुःखार्त हूँ और तेरे जैसा दुःख भन्जन कोई नहीं है।

भिन्न-भिन्न भक्त एक या भिन्न-भिन्न भाव से तुझे भजते हैं। मैं ऐसा लोभी हूँ कि उन सभी भावों से मै तुझे भजना चाहता हूँ। तू ब्रह्म है और मैं तेरा अंशरूप जीव हूँ। तू मुर्शिद है, मैं तेरा मुरीद-शिष्य हूँ। पिता, माता, गुरु, सखा सब तू ही है। और सभी प्रकार से हितकर्ता है। एक भी नाता सम्बन्ध मैं छोड़ना नहीं चाहता। जो भाव तुझे अच्छा लगता हो— पसन्द हो उसी ढंग से मेरा स्वीकार कर। अर्थात् किसी भी प्रकार मुझे तेरे चरणों में स्थान मिले।

बिना माँगे अपना हृदय देने वाले भक्त का ऊपर का भजन स्वीकार करने में भगवान को कितनी देर ?

हौं = हूँ

आरत = दुखी

हितु = हितकर, कल्याण करने वाला

७. जो देखौं सो राम सरीखा

(राग : पीलु— ताल : दीपचन्दी)

गुरु कृपांजन पायो मेरे भाई
राम बिना कछु जानत नाहीं।— ध्रुव.
अन्तर रामहि बाहिर रामहि
जहँ देखौं तहँ राम ही रामहि। (१)
जागत रामहि सोवत रामहि
सपने में देखौं राजा रामहि। (२)
एका जनार्दनीं भाव ही नीका
जो देखौं सो राम सरीखा। (३)

महाराष्ट्र के सन्तों में ज्ञानेश्वर ज्येष्ठ और श्रेष्ठ माने जाते हैं। सन्त तुकाराम तो सन्त-मन्दिर के कलश हैं, ऐसा सारे महाराष्ट्र का निर्णय है लेकिन धर्म-समाज का हृदय जीतकर लोक रूढि तोड़ने की और अध्यात्म के वातावरण के लिए विजय पाने की हिम्मत तो एकनाथ की ही है। उसका समय ज्ञानेश्वर और तुकाराम के बीच का है।

एकनाथ के गुरु जनार्दन स्वामी देवगढ़ के एक मुसलमान किलेदार के दीवान थे। सम्भव है कि गुरु-गृह के वातावरण के कारण एकनाथ को हिन्दी में भजन लिखने की इच्छा हुई होगी।

(इस भजन में भगवान के लिए राम शब्द का उपयोग किया है। छन्द में वह शब्द छोटा पडता है इसलिए अन्तर रामा बाहिर रामा ऐसा ही गाने का हमारे यहाँ कुछ लोगों का रिवाज है उसकी अपेक्षा प्रत्येक स्थान पर राम ही रखना पसन्द किया है।)

गुरुकृपा रूपी अंजन प्राप्त हुआ। इसलिए मुझे दिव्य दृष्टि मिली। इसलिए मैं मेरे हृदय के अन्दर या बाहर दुनिया में जहाँ देखूँ वहाँ राम ही राम दिखाई देते हैं। राम के बिना मैं कुछ नहीं जानता। जागता हूँ, तो भी राम, गहरी निद्रा में हूँ तो वहाँ राम। सपना आया हो तो वहाँ भी वही राजा राम ही दिखाई दे। जनार्दन स्वामी का सेवक "एको" कहता है कि भाव या विश्वास वही उत्तम साधना है। इसीलिए मैं जिसे देखूँ वह मुझे राम जैसा ही दिखाई देता है। मेरे लिए सारा जगत राममय बना है।

इस एकनाथ (सन १५३० से १५८८) की जीवनी जानने योग्य है।

गुरु एक बार ध्यान में बैठे थे। उसी समय शत्रु उस किले पर हमला करने आये। तब एकनाथ गुरु के घोड़े पर सवार होकर बाहर निकले और गुरु के स्थान पर आक्रमण का विरोध किया और शत्रुओ को हराया।

एक बार पितों के श्राद्ध के समय उन्हें रास्ते पर से जाने वाले भूखे महार हरिजनों को भोजन करवाने की इच्क्षा हुई। और वैसा उन्होंने किया। दूसरे एक प्रसंग पर हरिजनों के वहाँ वे भोजन के लिए तैयार हुए। बडी मुश्किल से लाया हुआ गंगाजल एक प्यासे गधे को पिलाते उन्हें संकोच न हुआ। सदाचारी-दुराचारी सभी लोगों के प्रति उनकी संतवृत्ति समान रहती थी। भागवत के एकादश स्कन्ध पर की उनकी टीका सर्वोत्तम है; महाराष्ट्र में घर-घर पढी जाती है। ज्ञानदेव की ज्ञानेश्वरी की शुद्ध आवृत्ति मिलती नहीं थी। यह देखकर एकनाथ ने बडे यत्न से शुद्ध ज्ञानेश्वरी हमें दी। यह उनका महद् उपकार है।

नीका अच्छा, सुन्दर

८. सन्त परम हितकारी

(राग : भैरवी— तीन ताल)

सन्त परम हितकारी, जगत माँही।— ध्रुव.
प्रभुपद प्रगट करावत प्रीति, भरम मिटावत भारी (१)
परम कृपालु सकल जीवन पर, हरि सम सब दुःखहारी (२)
त्रिगुणातीत फिरत तन त्यागी, रीत जगत से न्यारी। (३)
ब्रह्मानन्द संतन की सोबत, मिलत है प्रगट मुरारी। (४)

* * *

कुछ साधु खुद परमेश्वर के अवतार हैं ऐसा जाहिर करके भक्तों को अपनी जूठन खाने को देते हैं, अपने चरण पक्षालन करवाकर वह पानी भी पीने को देते है। एक व्यक्ति ने गुरु के चरण पर की धूल इकट्ठी करके, रेशम की थैली में भर रखी थी, और उसकी ही वह पूजा करता था।

जहाँ सरल प्रेम है, वहाँ ऐसे प्रकार चलेंगे ही। लेकिन इन सब वृत्तियो की आध्यात्मिक कीमत कितनी !

अपने शिष्य और भक्तो के अन्दर जो ईश्वर को देखता है वह सच्चा गुरु है। सच्चे सन्त अपनी पूजा करवाते नहीं हैं। लेकिन अपने शिष्य में प्रभुपद प्रगट करवाते हैं। अगर शिष्य माने कि वह पामर है, हीन है, दास है, तो वे इस प्रकार के शिष्यो के भ्रम को मिटाते हैं।

जो शक्ति हरि की है। वही शक्ति सन्त की भी है। फर्क इतना ही है कि हरि की कृपा का हमेशा भरोसा नहीं रहता। हरि कब कठोर बनेगा वह कहा नहीं जा सकता। जबकि सन्तों की मृदुता का हमेशा विश्वास रखा जा सकता है। भगवान भक्तो के प्रति दयालु, और दुर्जनों का नाश करने वाले हैं, ऐसा पुराणों में वर्णन है। सन्त सभी के प्रति समभावी, कारुणिक और हितकर होते हैं। सन्तों का संग करें तो जीतेजी भगवान—'प्रगट मुरारि'— निश्चित मिल जाते हैं।

ऐसे सन्त अपनी देह की तनिक भी चिन्ता या आसक्ति रखे बिना तीन गुणों मे बेफिक्र होकर त्रिगुणातीत होकर, सेवा के लिए जगत में घूमते हैं, और फिर भी जगत मे अलिप्त रहते हैं।

९. मेरे तो गिरधर गोपाल

(राग : खमाज— ताल : दादरा)

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरा न कोई,
दूसरा न कोई, साधो, सकल लोक जोई।— ध्रु.

भाई छोड्या बन्धु छोड्या, छोड्या सगा सोई,
साधु संग बैठ-बैठ लोक-लाज खोई। (१)

भगत देख राजी हुई, जगत देख रोई,
अंसुवन जल सींच सींच प्रेम-बेलि बोई (२)

दधि मथ घृत काढ़ि लियो, डार दई छोई,
राणा विष को प्यालो भेज्यो, पीय मगन होई। (३)

अब तो बात फैल पड़ी, जाणे सब कोई
मीराँ एम लगन लागी, होनी होय सो होई। (४)

*　　　　*　　　　*

मीराँ हिन्दुस्तान की महान से महान शहीद है। स्त्री-जाति की स्वाभाविक नम्रता, उत्कटता, दृढ़ता और सत्याग्रह उसमें थे।

यूरोप में जितने शहीद हुए हैं। वे सब सिद्धान्त-भेद की मान्यता के कारण हुए हैं। हमारे यहाँ मान्यता-भेद की स्वतंत्रता पहले से है। कोई मनुष्य द्वैतवादी हो और उसका पुत्र या पत्नी अद्वैतवादी हो तो उससे झगड़ा नहीं होता। बौद्धिक स्वातंत्र्य हमारे देश की आबोहवा में ही है।

लेकिन व्यवहार में ऐसा स्वातंत्र्य रखा नहीं गया। मान्यता मानसिक व्यापार होने के कारण वह व्यक्ति का सवाल है। उसमें समाज को कुछ कहने का न हो। व्यवहार ऐसा नहीं है। व्यवहार के साथ सामाजिक सहकार आ जाता है। इसीलिए उस पर अनादिकाल से समाज अंकुश रखता आया है। सामाजिक अंकुश है, इसीलिए समाज बँधा रहता है और विकास भी होता रहा है। सामाजिक अंकुश मानवी-संस्कृति और प्रगति की बड़ी धरोहर है। व्यक्ति की दुर्बलता के सामने अगर कोई मजबूत ढाल हो तो वह सामाजिक अंकुश ही है। ऐसी कितनी वस्तुएँ हैं कि जो खराब हैं, हीन हैं, नुकसान पहुँचाने वाली हैं, इतना जानते हुए भी मनुष्य

उसकी ओर आकर्षित होता है। ऐसे समय पर समाज में कैसा दिखाई देगा उस ख्याल से ही मनुष्य अपने को बचा सकता है। कानून के दंड के डर से समाज के अभिप्राय का डर अधिक असर करने वाला होता है, व्यक्ति को ऊपर उठाने वाला होता है। इसीलिए ही सारी दुनिया के सज्जनो ने समाज के अभिप्राय को ईश्वर का अभिप्राय मानकर उसकी कद्र की है।

स्वच्छन्दी लोग सामाजिक अभिप्राय का सामना करने मे बहादुरी मानते हैं और सामाजिक अभिप्राय की मर्यादा की निन्दा करते हैं। लेकिन ऐसे लोगों के दंगे-फसाद के पीछे कोई महान सुधारक तत्त्व नही होता। केवल शरीरधर्म की ही हिमायत होती है। इसीलिए देखते-ही-देखते ऐसे दंगे-फसाद का विकृत स्वरूप प्रगट होता है। और सामाजिक रक्षा जान-बूझकर छोड दन से ऐसे लोग अप्रतिष्ठित हो जाते हैं।

लेकिन जो स्वच्छन्दी नहीं हैं, वे समाज के अभिप्राय के सामान्यतया अधीन रहते है, आर्यता को पहचानते हैं और अपने पर काबू पाना सीखे हैं। ऐसे लोग कभी-कभी सामाजिक रूढि की सकुचितता, नास्तिकता या कालग्रस्तता को पहचानते हैं। तब सुधारक की हैसियत से वे रूढि के सामने खुलेआम अपना अभिप्राय व्यक्त करते हैं और वक्त आने पर उसके विरुद्ध सत्याग्रह करके जिहाद छेड़ते हैं।

ऐसे लोगो में भी मीरा का स्थान अनोखा है। हिन्दुस्तान में अपनी तेजस्विता से लोकमान्य हुई स्त्रियों में द्रौपदी, विदुला, सावित्री, लक्ष्मीबाई, जीजाबाई की तरह मीरा भी हमेशा आदर्श व्यक्ति बन कर रहेगी।

उसे स्त्री जाति के पामर जीवन पर तिरस्कार उत्पन्न हुआ। स्त्री-स्वातंत्र्य के लिए जिस समाज के दरवाजे खुले नहीं होते उस समाज में स्त्री स्वातंत्र्य पर दो रूप में अधिकार पाया जा सकता है . एक तो वारांगना बनकर गणिका की स्थिति का स्वीकार करना या इहलोक के प्रति तिरस्कार दिखाकर आध्यात्मिक जीवन बिताने के लिए वैराग्य का सहारा लेना।

तेजस्वी मीरा ने यह दूसरा मार्ग अपनाया। उसने भगवान के साथ ही ब्याह करके पामर मनुष्य के प्रति असहयोग साधा।

अब एक ही प्रश्न उठता है कि साधु के साथ रहने की, उनके साथ भजन करने की, उसने जो प्रणाली अपनायी उसमें उसे सच्चे साधु ही मिले थे या साधु नामक सारे वर्ग के साथ उसने अपना जीवन जोड़ दिया था ? मीरा के बारे में जो किंवदन्ति प्रचलित हैं उस पर से लगता है कि उसने श्रीकृष्ण की भक्तियाँ पूजा, सेवा चलायी और उसमें जो कोई साधु आकर जुड़ सके उन सबको अपनाया। उसमें अधिकतर तो अच्छे ही होंगे। और कुछ बिलकुल हीन लोग भी होंगे। एक

पूरे संघ का स्वीकार किया तो उसमें अच्छे-बुरे आयेंगे ही।

मीरा को श्रीकृष्ण के दर्शन हुए थे ? उसे अन्तरात्मा का साक्षात्कार हुआ था ? उसे मोक्ष मिला था। श्रीकृष्ण की मूर्ति के हृदय में वह घुस गयी और श्रीकृष्ण के साथ एकरूप हो गयी ऐसी कहानी का अर्थ शब्दशः लेने का नहीं है। वह तो काव्य है।

सद्गुरु-प्राप्ति वही कृष्णदर्शन, ऐसा माना जाता है। मन की अखूट शान्ति वही अन्तरात्मा का साक्षात्कार माना जाता है। काम-क्रोधादि षड्रिपु दूर हुए वही मोक्ष है। उसी अर्थ में मीरा को सब कुछ प्राप्त हुआ होगा। भक्ति की उत्कटता के बल पर श्रीकृष्ण के भी दर्शन हुए होंगे।

मीरा की सीख क्या थी ? सगे-सम्बन्धी दुन्यवी हित बनाए रखने वाले हैं। उनका लोभ-मोह न रखना। दुन्यवी सुख तुच्छ है, उसके मोह में न फँसना। हीर और चीर कुछ काम के नहीं हैं। दुन्यवी साधन-सम्पत्ति बोझरूप हैं। इसीलिए उन सबका त्याग करके ईश्वर की शरण में जाना— अपना शरीर, अपना मन और अपना सर्वस्व भगवान को अर्पण करना वही उसकी एकमात्र सीख हो ऐसा लगता है। एकाग्र भक्ति और सर्वार्पण अर्थात मीरा।

अब ऐसे एकाग्र समर्पित जीवन में उसने सारे जीवन भर क्या क्या भरा होगा ? ज्ञान प्राप्त किया, भक्ति विकसित की, एकाग्रता साधी, संशय मिटा, दृढता प्राप्त हुई। सब कुछ हुआ। लेकिन फिर जीवन में क्या भरने का ? दिन कैसे व्यतीत करना ? नित्यकर्म के बिना जीवन खोखला ही रहेगा। भजन एक उत्तम साधना है। वह पूरी होने के बाद भजन ही चलाते रहना वह तो केवल नशा ही सिद्ध होता है। साधना के समय जो आवश्यक था वह सिद्धि के समय जडता में ही गिना जाएगा। नशे के रूप में सिद्ध होगा।

मीरा ने दूसरे लोगों को अपने आनन्द का आस्वाद दिया होगा, और किसी को उपदेश दिया होगा, कई स्त्रियों को स्वतन्त्रता दिलाई होगी। समाज की ऐसी कई सेवाएँ की ही होंगी।

प्रत्येक साधु का विशेष उपदेश होता ही है। उस उपदेश के द्वारा वह अपने आप को व्याप्त करता है और इस प्रकार दीर्घजीवी बनता है। मीरा का उपदेश भी पक्का है। उस उपदेश का समाज पर क्या असर हुआ है ? जीवन का त्याग करके शून्य बनना वैसा वैराग्य काम का नहीं, वह अब हम समझ सकते हैं। मरीज को मारकर रोग मिटाने जैसा यह हाल है।

मीरा के प्रताप से स्त्री-जाति स्वतन्त्र हुई ? समाज में रहने पर भी उसे स्वातन्त्र्य मिला ? इन प्रश्नों का निश्चित उत्तर नहीं मिलता। मीरा का उदाहरण लेकर पारिवारिक-जीवन का त्याग करने वाली बहनें भी कितनी निकली हैं ? मीरा का नाम धारण

करने वाली बहनों की संख्या बहुत बढ़ी और हमारी भाषा में फ़ारसी भाषा के नाम की एक वृद्धि हुई उसमें सन्देह नहीं।

हमारे साधुसन्तों का उपदेश व्यक्तिगत ही रहा। उन्होंने समाज-व्यवस्था में, उसकी रचना मे या आदर्श में विशेष परिवर्तन किया ही नहीं।

ऐसे वातावरण की भूमिका ध्यान मे लेकर आज का भजन देखें।

मीरा ने ईश्वर के साथ शादी की। इसके बाद जो विषय-सुख उसे मिला वह इन्द्रियों का नहीं लेकिन चैतन्य के साक्षात्कार का सुख मिला। उसने जीवन मे एकाग्रता को स्थान दिया। उस एक निष्ठा में भाई, बन्धु, सगे-सम्बन्धी सबको छोड दिया। वैरागियों के साथ भजन-मंडलियों में बैठकर उसने सामाजिक प्रतिष्ठा को तिलांजलि दी। जगत का रास्ता और भक्तों का रास्ता परस्पर भिन्न है यह देखकर उसने भक्तिमार्ग अपनाया। विरह-भक्ति मे आँसू बहा बहाकर उसने प्रेमभक्ति साधी। जीवन का नवनीत पाया। विष मे भी अमृत बाहर निकाला । और भगवान के साथ एकाग्रता साधी। अब उसे क्या चिन्ता ? अब उसे लाज कौन सी ? अब तो वह प्रेममय बन गयी है। जब तक साधना अपरिपक्व थी तब तक उसमें अपना यह परिवर्तन प्रगट करने की शायद हिम्मत नहीं थी। सारे जीवन ने अब एक निश्चितरूप धारण किया है और सारी दुनिया समझ गयी कि मीरा पुरानी मीरा रही नही है। अब दुनिया यह जाने उसमें ही सलामती है। आन्तर-बाह्य कृष्णमय हुई मीरा के अन्तिम दिन कैसे थे। वह हम जान सकते तो कितना अच्छा होता।

छोई फुजला, नि·सन्ववस्तु

१०. मेरे राजाजी, मैं गोविन्द-गुण गाना

(राग : झिंझोटी— ताल : खमाज-धुमाली)

मेरे राजाजी, मैं गोविन्द-गुण गाना— ध्रुव.
राजा रूठे नगरी रखे अपनी, मैं हर रूठ्या कहाँ जाना।। १
राणे भेज्या जहर पियाला, मैं अमृत कर पी जाना। २
डबिया में काला नाग भेजा, मैं शालग्राम कर जाना। ३
मीराबाई प्रेम-दिवानी, मैं साँवलिया वर पाना। ४

* * *

मीरा बाई के जीवन का मुख्य भाग इस भजन में आ जाता है। मीराबाई का सही इतिहास अभी निर्णीत नही है। पहले माना जाता था कि उसके भजनों में राणा

का उल्लेख आता है यह उसके पति का नाम होगा। बाद में कहने लगे कि ऐसा नहीं है। पति के स्वर्ग सिधारने के बाद ससुरजी ने उसे परेशान किया। उस ससुर राणा को सम्बोधित करके मीराबाई ने तेज वचन निकाले हैं। कई कहते हैं वह राणा मीरा का जेठ-देवर था। उसने लोकापावद से दूर रहने के लिए मीरा को प्रथम नज़रबन्द रखा और बाद मे उसे ज़हर पिलाने का प्रयत्न किया।

हमारे इतिहास में अप्रिय सत्य बदल डालने की आदत हमारे लोगों में है। हरिश्चन्द्र शिवि आदि लोगों की सही कथा कुछ भिन्न ही होने की सम्भावना है। धर्म के कारण कोई तबाह हो जाए तो मनुष्य हृदय का वह परम उत्कर्ष है। लेकिन अगर धर्म का पालन करते हुए मनुष्य का विनाश ही होता हो तो धर्म की महत्ता क्या रही ? ईश्वर का सामर्थ्य क्या रहा ? ऐसे विचार से ऐसे प्रसंग पर अन्त में भगवान प्रकट हुए, आकाश मे हवाई जहाज आया, विष्णु भगवान ने तलवार वाला हाथ थाम लिया, ऐसा कुछ वर्णन आयेगा ही और लोक कथा के अन्त में होता है वैसा, सब कुछ अच्छा चगा होगा ही।

मीरा मेडता (राजस्थान से) भागकर गुजरात आई। साधुओं के साथ रहने लगी और अन्त में परेशान करने वाले लोगों से बचने के लिए द्वारिका जाकर द्वारिकाधीश की मूर्ति के साथ एकरूप हो गयी। ऐसा इतिहास हमें मिलता है।

यह भजन हिन्दुस्तान में सर्वत्र गाया जाता है, सर्वत्र लोकप्रिय है। १९२१ में जब बापूजी ने सत्याग्रह का ऐलान किया तब कांग्रेस वालो की जबान पर नीचे की पंक्ति रहती थी।

"राजा रूठे नगरी रक्खे अपनी
मैं हर रूठया कहाँ जाना ?"

अन्तरात्मा की आज्ञा को पालने के लिए राजा के कानून तोडे जाएँ, उसे सीख के समर्थन में बापू जी ने इन पंक्तियों का उपयोग किया था।

सभी सन्त कहते हैं कि चित्त शुद्धि होगी तो शत्रु भी मित्र बनेगा। कुदरत अपने नियम में परिवर्तन लायेगी लेकिन अध्यात्मशास्त्र को नुकसान नहीं होगा। उस श्रद्धा-विश्वास से ही सारे चमत्कार का स्वीकार किया जाता है। अगर शत्रु मित्र बन सकता है तो शेर गाय के जैसा क्यों न हो ? काला, काजल, जैसा नाग गले का हार क्यों न हो ? प्रह्लाद के लिए अग्नि शीतल हुई कि नहीं ? फिर मीरा को दिया गया ज़हर अमृत बन जाए। उसमें आश्चर्य क्या ?

केवल एक बदला नहीं मीरा का राणा। उसने अन्त तक मीरा की कसौटी जारी रखी थी। हिरण्यकश्यप का अवतार होगा। और क्या ?

इस बात से इनकार न किया जा सकेगा कि आत्मिक और आध्यात्मिक शक्ति का प्रभाव अद्भुत है। भौतिक शक्तियाँ इतनी गहरी हैं तो आध्यात्मिक शक्तियाँ

उससे भी गहरी होनी ही चाहिए। उन शक्तियों का आर-पार अभी तक किसी ने देखा ही नहीं। ईश्वर की इस अद्भुत सृष्टि में अशक्य जैसा कुछ नहीं है। मानसिक और आत्मिक शक्ति का असर भौतिक क्षेत्र मे भारी से भारी होना है। प्रेम शक्ति के आगे मनुष्य तो क्या पशु-पक्षी भी अपना स्वभाव बदलकर वशीभूत होते हैं। मनुष्य और पशु-पक्षी के बीच के सम्बन्ध का तागा अति सूक्ष्म है। हम एक-दूसरे के साथ बोल नहीं सकते, एक दूसरे के भाव का समझ नहीं सकते। पशु-पक्षी की भूमिका भी बहुत भिन्न होती है। उसमें परिवर्तन लाने के साधन हमारे पास नहीं हैं।

और जड़ वस्तुएँ तो तमोनिद्रा में पडी हुई। उन पर आत्मा का असर आसानी मे होगा ही नहीं। लेकिन हो ही न सके, ऐसा कहना भी मुश्किल है। अस्पृश्यता के पाप के कारण बिहार का भूचाल आया होगा। ऐसा जब गांधी जी ने कहा तब लोगो को आश्चर्य हुआ और रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने तो ऐसे भोलेपन का खुला विरोध भी किया। लेकिन जब बापू जी ने पूछा कि नैतिक घटनाओ का असर भौतिक जगत पर हो मकता है या नहीं ? तब कोई उसका इनकार न कर सका। बापूजी ने कहा कि "दुनिया मे अकस्मात् जैसा कुछ है ही नहीं। भौतिक और आत्मिक दोनों शक्तियाँ एक दूसरे पर असर करती ही हैं। क्योंकि तत्वत: दोनों एक हैं। अगर मुझमें प्रेमशक्ति का उत्कर्ष हुआ हो तो मेरे साथ सम्बन्ध में मारी सृष्टि का वैरभाव फीका पड़ना ही चाहिए। योगसूत्र की भी वही श्रद्धा है—"अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्‌ सन्निधौ वैरत्यागः"।

अगर प्रेममूर्ति साधुओं के चारों ओर शेर और बकरी एक माथ पानी पी सके ता प्रेममय भगवान का अस्तित्व सर्वत्र होने पर भी शेर बकरी को खा न जाए उसकी शंका मन में आये बिना नहीं रहती। और अगर भगवान के होने पर भी भक्ष-भक्षक का दुन्यवी व्यवहार चल मकता है तो दिलीप की उपस्थिति में सिंह नन्दिनी को क्यों न खाये ? हम इतना ही कह मकते हैं कि अगर साधु प्रेम शक्ति से चाहे कि फलानी गाय या बकरी को फलाना शेर न खाये तो उसका असर होने का सम्भव अधिक।

इसी प्रकार विष को अमृत समझें तो वह अमृत बन जाए। काले नाग को शालिग्राम मान लें तो वह शालिग्राम बन जाए। और प्रेम से किसी को नहलाएँ तो उसके स्वभाव में भी ज़रूर परिवर्तन होगा।

केवल हम चाहें तब, और उतना असर होगा ही ऐसा आग्रह रखने का मनुष्य को अधिकार नहीं है। सब कुछ ईश्वराधीन रखना चाहिए। दियासलाई या बिजली की टॉर्च का उपयोग करते समय हम ऐसा नहीं कहते कि प्रकाश होगा या नहीं। वह ईश्वराधीन है। क्योंकि भौतिक क्षेत्र में इतनी हद तक हम आगे बढे हैं।

११. सुनी मैं हरि आवन की आवाज़

(राग : मांड— ताल : दीपचन्दी)

सुनी मैं हरि आवन की आवाज़
महल चढ़ी जोऊँ मेरी सजनी
कब आवे महाराज···सुनी···
दादुर मोर बपैया बोले कोयल मधुरे साज
उमग्यो चन्द्र चहु दिशि चमके दामिनि छोड़े लाज···सुनी···
धरती रूप नवाँ-नवाँ धरियाँ इन्द्र मिलन के काज
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर बेग मिलो महाराज···सुनी···

* * *

इस भजन के साथ अत्यन्त मीठे संस्मरण जुडे हुए हैं। अमृतलाल नाणावटी विद्यापीठ में अभ्यास करके स्नातक बने और मेरी निजी प्रार्थना मे सुबह शाम नियम से सम्मिलित होते थे। मैने उनसे पूछा कि आप आगे क्या करने वाले है। उन्होंने कुछ उत्तर दिया, "जो आज याद नहीं है। कहा होगा कि अभी सोचा नही है। या ऐसा भी कहा हो कि आप ही कुछ सूचित कीजिए।" मैंने पूछा मेरे साथ जुड कर विद्यापीठ का काम करोगे ?, उन्होंने उत्तर दिया, "आपके साथ जुड जाऊँगा फिर कौन-सा काम करना वह मेरा प्रश्न नही है। आप कहेगे वह काम आप का मान कर करूँगा। लेकिन एक ही सकट है। विद्यापीठ ने मेरे पास से पढाने की फीस नहीं ली वह मुझ पर धर्मऋण है। उसे चुका कर ही मै आपका बन सकूँगा। मने उन्हें विश्वास दिलाया कि आप सार्वजनिक सेवा मे ही लग जाते है। फिर आपके सिर पर ऋण रहता ही नही है। विद्यापीठ से वेतन लेकर विद्यापीठ का ऋण अदा करें उसका कोई अर्थ नही है। मै विद्यापीठ की ओर से कहता हूँ कि आप ऋणमुक्त हैं। तब से वे मेरे साथ जुड गए है। बारह साल हुए होंगे।

जिस दिन वे मेरे साथ जुड गए उस दिन उन्होने प्रार्थना मे यह भजन बुलन्द आवाज़ मे गाया था।

इस भजन में नारी-हृदय की प्रतिनिधि भक्त मीरा कृष्ण के आगमन की सूचना सुनकर अस्वस्थ हो गयी है। और अपनी उत्कटता गाती है। टेनिसन की अेलेन जिस प्रकार लान्सलोट को देखने के लिए घन्टाघर पर चढकर देखती है। उसी प्रकार मीरा कृष्णचन्द्र के आगमन की उत्सुकता मे अपने महल पर चढकर देखती है। वहाँ तो "सारी सृष्टि ही हरि आने वाले हैं" उस भाव मे अधीर दिखाई दी। वर्षा के दिन हैं। मेंढक आनन्द से गाते हैं। मोर कुहू की ध्वनि करके नाचते

हैं। कोयल और पपीहा आमने-सामने प्रेम गीत गाते हैं। चन्द्रमा— (प्रेमी-जनों को प्रेम की दीक्षा देने वाला चन्द्रमा) उगा है, बिजली बिना संकोच के नृत्य करती है और इन्द्र देवता का स्वागत करती है। इस प्रकार सभी कृष्णचन्द्र के स्वागत में मस्त बने हैं। मीरा भी समग्र सृष्टि के साथ समरस बन कर कृष्णचन्द्र के दर्शन का इन्तज़ार करती है।

मनुष्य की भावना को कुदरत के साथ लगा देना यह कवियों के लिए आसान है। लेकिन भक्त तो केवल कल्पना नहीं करते लेकिन अपने हृदय में साथ-साथ विश्व के हृदय में चैतन्य का, भगवान श्रीकृष्ण का सीधा साक्षात्कार करते हैं। चित्तवृत्ति की सर्वोच्च मीनार पर चढकर वहाँ, भगवान का इन्तज़ार करते हैं।

मनुष्य की शक्ति नहीं है कि अपनी साधना द्वारा भगवान के चरण तक पहुँच जाए। पृथ्वी की बिजली जिस प्रकार मीनार की चोटी पर चढ़कर बैठती है, और अपनी उत्कटता के बल पर आकाश की बिजली को नीचे खींचती है, उसी प्रकार भक्त-हृदय अपना सर्वोच्च भूमिका पर पहुँच जाता है। और जब उस प्रकार भक्ति का चरम उत्कर्ष होता है तब भगवान स्वयं बेबस बनकर उस हृदय में अवतरित होते हैं।

१२. अब तो प्रगट भई जग जानी

(राग : खमाज विलंबित - तीन ताल : पंजाबी ठेका)

अब तो प्रगट भई जग जानी
वा मोहनसों प्रीति निरन्तर
नाहिं रहेगी छानी — ध्रुव.
कहा करौं सुन्दर मूरत इन
नयनन माँझ समानी
निकसत नाहिं बहुत पचिहारी
रोम रोम उरझानी (१) अब तो.
अब कैसे निर्वार जात है,
मिले दूध ज्यों पानी
सूरदास प्रभु अन्तर्यामी
ग्वालिन मन की जानी। (२) अब तो.

*   *   *

गुलामी के दिनों में एक सरकारी नौकर के बेटे के हृदय में स्वराज्य भावना का उदय हुआ। उसे अपने पिता के प्रति सद्भाव तो था। पिता उलझन में पड़े, पिता संकट में आ जायें, सरकार-दरबार में और नौकरों की जाति में पिता की प्रतिष्ठा कम हो तो उसे अपार दुःख होगा। उसने अपनी स्वराज्य भावना दबाए रखी, स्वदेशी की भक्ति को अंकुरित होने नहीं दिया, लेकिन हृदय तो स्वराज्य-मय हो गया था। उसने अपना जीवन स्वदेश के चरणों में अर्पित कर दिया था। अब ये सब उसे कैसे सुख से सोने दे ? और उसका यह निष्ठान्तर कब तक छिपा रहे ? सरकारी नौकरों के बेटों की गम्भीरता उसे अप्रिय लगने लगी। वह सबसे दूर होकर अकेले-अकेले घूमने लगा। उसे दीक्षा देने वाले गुरु से मिलने के प्रसंग अधिक उपस्थित होने लगे। और वह भी अब तो खुलेआम। उसके नए मित्र उसके वहाँ आने से कतराते थे, क्योंकि उन्हें भी उसका हाल अजीब लगता था। लेकिन काम तो करना ही चाहिए। मिले बिना कैसे चले ? बात सब जगह फैल गयी और उसका जो असर होने वाला था सो हुआ। अपना यह युवान नायक इतने में दृढ भी बन गया। मन की माथापच्ची चले-चले भी तो कितनी चले ?

एक मांसाहारी स्त्री के हृदय में जीवदया प्रज्ज्वलित हुई, उसका स्वाद बदल गया। वह खुद मांस खाये नहीं लेकिन घर के लोगो को पका कर खिलाये। वह भी कब तक चले ? चौबीस घंटे मुर्गे के बच्चों की और भेड के बच्चों की करुण आँखें गिडगिडाने लगी और तिर्यक योनि के बच्चो की माँ का प्यार भी उसका तिरस्कार करने लगा। स्वभाव से कोमल और नम्र बहू अन्त में दृढ बनी और हिम्मत से कहने लगी कि मुझे घर से निकाल दो लेकिन मुझसे यह क्रूर कर्म नही होगा।

बौद्ध ग्रन्थों मे कुछ उदाहरण हैं कि महेरी जैसी नरम, कमल जैसी कोमल और नीर जैसी सौम्य मूर्ति कोई कन्या बुद्ध भगवान के प्रति भक्ति जाग्रत होने मे उनकी ही उपासना शुरू करती है। और उसे दृढ़ता से चिपके रहने के लिए जो कुछ सामने आये उसे धर्मवीर की दृढ़ता से सह लेती है।

मीराबाई का दृष्टान्त ऐसे ... दृष्टान्तों का शिरोमणि है। उसी वृत्ति से सूरदास ने यह भजन गाया है।

बंगाल की बहनों ने शरद बाबू को खिताब दिया। "नारी हृदयेर ज्ञाता"। शरद बाबू ने नारी हृदय को पहचाना। वास्तव में सूरसागर वह नारी-हृदय का हृदय-सागर है। प्रस्तुत भजन हृदय-सागर का ही एक मोती है।

एक गोपी श्रीकृष्ण के सम्पर्क में आयी। गाँव की वह ग्वालन, उसे गाँव के युवकों की वाचालता का अनुभव नहीं था वैसा नहीं। उनका सामना करने की,

और युवकों को शर्मिन्दा बनाकर उन्हें दूर रखने की तेजस्विता उसमें थी। वह केवल भीरु या मुग्धा नहीं थी। कोई थोड़ा-सा भी अयोग्य व्यवहार करे तो उसे सुना ही दे। लेकिन श्रीकृष्ण में उसने भिन्न तत्त्व के दर्शन किए। श्रीकृष्ण प्रेममूर्ति था, काममूर्ति नहीं। उसके मन में प्रेम, कारुण्य और आदर तीनों समान रूप में थे। वह ग्वालन के पीछे नहीं लगा था। वह मबकी उदात्त भूख को जानता था। उस भूख को स्वयं ही दूर कर सकता है। ऐसा उसे आत्मविश्वास भी था। दूसरे प्रेम से मोहित होते हैं क्योंकि प्रेम में चढने की उनकी शक्ति ही नहीं, पूर्णकाम परमात्मा, कृष्ण जैसा मनुष्य रूप धारण करने पर भी अपना स्वरूप भूले नहीं थे। उनका प्रेम यानी विश्वप्रेम; वासना को जलाकर उसमे ही शुद्ध प्रेम की ज्योति कैसे प्रज्ज्वलित करनी उसकी कला को जानने वाले श्रीकृष्ण का साक्षात्कार हुआ, और गोपी-हृदय पलट गया। पानी जब दूध मे मिल जाता है तब दूध भी खराब होता है और पानी भी बिगड़ता है। लेकिन श्रीकृष्ण के दुग्धामृत में चाहे जितना पानी आकर मिले तो भी वह थोड़े ही पतला होने वाला था ? जो पानी आया वह दुग्धामृत ही बन गया। श्रीकृष्ण की मूर्ति गोपी की आँखों में उतर गयी और तुरन्त आर-पार हृदय में पहुँच गयी और वहाँ भी वह थोडे ही चैन मे बैठने वाली थी। वह अनेक गोपियो के रोम रोम में पहुॅच गयी। अन्तर्यामी प्रभु गोपियो की वह भक्ति समझ गए और गोपीमय बन गए। गोपियाँ भी कृष्णमय बन गईं। अब कृष्ण कौन सा और गोपी कौन-सी उसका ही जहाँ पता नहीं वहाँ कृष्णभक्ति कैसे छिपी हुई रखी जाए ?

जो लोग कृष्ण-गोपी के इस प्रेम की निन्दा करना चाहते हैं। उन्हे दुन्यवी स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में इतना अभेद पहले दिखाना चाहिए। कृष्ण का दृष्टान्त लेकर अपूर्ण मानवी के सदोष सम्बन्ध की निर्दोषता सिद्ध करने के लिए सफाई देने पर भी सफाई होती ही नहीं, लेकिन कृष्ण भक्ति पहचानने का केवल एक ही मौका मनुष्य खो बैठता है।

कहा करौं = क्या करूँ
पचिहारी = थक गया, पटक कर
उरझानी = लिपटगयी, उलझ गयी
निर्वार = निर्वाह

१३. ऊधो; कर्मन की गति न्यारी

(राग : काफी या माँड— तीन ताल)

ऊधो, कर्मन की गति न्यारी— ऊधो.
सब नदियाँ जल भरि-भरि रहियाँ
सागर केहि बिध खारी— ऊधो.
उज्ज्वल पंख दिए बगुला को
कोयल केहि गुन कारी;
सुन्दर नयन मृगा को दीन्हें,
बन बन फिरत उजारी— ऊधो.
मूरख मूरख राजे कीन्हे,
पंडित फिरत भिखारी;
सूर श्याम मिलने की आशा,
छिन-छिन बीतत भारी— ऊधो.

हमारे आश्रम के पंडित जी (खरे) से यह भजन हमेशा काफी राग में ही सुना था। और इसीलिए इसका अर्थ भी मैंने काफी गग के भाव में ही लिया। आज अमृतलाल ने इसे माँड या जोगी के मिश्रण से गाया। इसलिए राग सुन्दर होने पर भी भाव की दृष्टि से प्रथम भद्दासा लगने लगा। भजन की गहराई तक पहुँचा तब विश्वास हुआ कि इसका भाव जोगी माँड के ही अधिक अनुकूल है।

वास्तव में अभी तक इस सारे भजन का सम्बन्ध आखिरी दो पंक्तियों से मैंने जोडा ही नहीं था। इसीलिए अर्थान्तर न्यास पूग नहीं हुआ था। मैंने तो "ऊधो, कर्मन की गति न्यारी" इस पंक्ति को ही प्रधानता देकर, अर्थान्तर न्यास पूग किया था। और वहाँ तक वह ठीक भी था। लेकिन वह सारा भजन अपनी निराशा तक पहुँचने के लिए सूरदास ने रचा है। इस ओर मेरा ध्यान जाना आवश्यक था।

इस भजन में कवि का कहना है कि साधन-सम्पत्ति सब कुछ विद्यमान होने पर भी अगर मनुष्य का नसीब या कर्म उल्टा हो तो फल मिलने वाला नहीं है और इसीलिए सूरश्याम को निराशा होती है कि श्रीकृष्ण की कृपा होगी फिर भी नसीब सामने आकर मिलन नहीं होने देगा। सूरदास कहते हैं कि जैसे-जैसे ये उलटे कर्म-गति के दृष्टान्त एक के बाद एक याद करता हूँ वैसे वैसे मिलने की आशा क्षण-क्षण पर कम होती जाती है। एक-एक क्षण भारी जाता है अर्थात बीजरूप

लगता है, ऐसा अर्थ सीधा ज़रूर है। लेकिन आशा टूटती जाती है यह भाव मुख्य है।

या आखिरी पंक्ति का ऐसा भी अर्थ किया जाए कि श्याम से मिलने के बारे में जैसे सोचता हूँ वैसे-वैसे एक-एक क्षण-क्षण भारी बोझरूप बनकर भारी कदम से चलने लगता है।

अमृत जल लेकर सारी नदियाँ सागर को भरती जाती है। फिर भी सागर कैसे नमकीन ही रहा है ? उस नालायक ठग बगुले को कुदरत ने सफेद उज्ज्वल पंख दिये हैं और बसन्त गाने वाली कोयल को क्यों काली बनाया ? मृग को ऐसे सुन्दर नयन दिये हैं कि वह सारे विश्व को वश में कर सके, फिर भी बेचारे को बचने के लिए जंगल-जंगल भटकना पडता है। मूर्ख लोग राजा बनते हैं जबकि पण्डित भिखारी बनकर (और कभी मूर्ख राजा के द्वार पर) घूमते हैं।

ऐसी यह निराशा जोगी मांड में ही उत्तम ढग से व्यक्त हो। शाम से सूर्योदय का ध्यान करने वाले को सारी रात के जागरण के बाद रात को साढ़े तीन बजे जो काली निराशा व्याप्त होती है उसका ही प्रतीक यह भजन है।

ऊजारी उजाड

१४. है बहारे बाग दुनिया चन्द रोज !

(राग : गज़ल)

है बहारे बाग दुनिया चन्द रोज़ !
देख लो इसका तमाशा चन्द रोज़।
ऐ मुसाफिर ! कूच का सामान कर,
इस जहाँ में है बसेरा चन्द रोज।
पूछा लुकमाँ से, जिया तू कितने रोज़ ?
दस्ते हसरत मलके बोला 'चन्द रोज़'।
बाद मदफन क़ब्र में बोली क़ज़ा,
अब यहाँ पे सोते रहना चन्द रोज़।
फिर तुम कहाँ औ' मैं कहाँ, ऐ दोस्तो,
साथ है मेरा तुम्हारा चन्द रोज़।
क्यों सताते हो दिले बेजुर्म को,
जालिम, है ये ज़माना चन्द रोज़।

याद कर तू ऐ नज़ीर कबरों के रोज़
जिन्दगी का है भरोसा चन्द रोज़।

आश्रम में पंडित नारायण खरे के आने के बाद 'आश्रम भजनावली' की रचना हुई और धीरे-धीरे वह बढती गयी। इसके पहले दक्षिण अफ्रीका में जब फिनिक्स आश्रम था तब सुबह प्रार्थना नहीं होती थी शाम क्रो होती थी; और भजन गाये जाते थे। इन भजनों का संग्रह "नीति के काव्य" इस नाम से छपा था। नीति के काव्य इसे "आश्रम भजनावली" का पूर्वावतार माना जाए। इस नीति के काव्य में कुछ बहुत अच्छे भजन थे। जो "आश्रम भजनावली में रहे नहीं है। "मुने व्हाळुं व्हाळुं बाबा रामजीनुं नाम" नामक एक भजन था। वह अब नदारद हो गया है। "साँझ सबेरे चिड़ियाँ मिलकर चूँ, चूँ, चूँ, चूँ करती हैं, यह भजन बच्चों को बहुत प्यारा था। लेकिन इसके चले जाने का मुझे दुःख नहीं है।

"है बहारे बाग दुनिया चन्द रोज़" इन नीति काव्यों में मे बचा हुआ भजन है। इसकी भाषा हिन्दी या हिन्दुस्तानी कही जाये। नजीर के काव्यों में यह अच्छा माना जाता है।

यह भजन अनेक बार सुना है और प्रत्येक बार भिन्न भिन्न विचार मन में आये हैं।

हम मानते हैं कि एक जीवन पूरा हुआ कि मृत्यु का द्वार पार करके हम दूसरे जन्म में प्रवेश करते हैं। और इस प्रकार पुनर्जन्म का चक्र चलता रहता है। अमावस्या चाहे कृष्णपक्ष में चन्द्र की मृत्यु हो, लेकिन उसी मे ही शुकल-पक्ष का बालचन्द्र जन्म लेता है।

यहूदी, ईसाई और मुसलमान मानते हैं कि मृत्यु के बाद कयामत के दिन तक कब्र के नीचे सोते ही रहने का होता है।

इन दोनों कल्पनाओं ने मनुष्य समाज पर, मनुष्य के मानस पर भारी असर किया है। प्रत्येक की मृत्यु के बारे मे कल्पना भिन्न। और मृत्यु के बाद के जीवन की कल्पना भी भिन्न।

मैं मर जाऊँगा बाद में कौन से लोक में जाऊँगा, कौन-सा रूप धारण करूँगा और वहाँ मुझे कैसा अनुभव होगा, यह सवाल भिन्न, उस सवाल का उत्तर शायद कोई निश्चित न द्रे सकेगा। लेकिन दूसरा प्रश्न उससे भी गहरा और अधिक उपयोगी है। जिसका उत्तर हमें मिल सके वैसा है। लेकिन उसके बारे में हमने बहुत कम सोचा है। वह प्रश्न इस प्रकार पूछा जा सकेगा।

मेरी मृत्यु के बाद भी अशरीरी इस दुनिया में ही मेरा जीवन जारी रहता है या नहीं ? मृत्यु के बाद मेरे इस दुन्यवी जीवन का आगे क्या होता है ? धनुष से तीर

छूट जाने के बाद धनुष बिना तीर का रह जाता है जरूर, लेकिन इससे तीर का या उसके कार्य का नाश नहीं होता। वास्तव में धनुष छोड़ने के बाद ही तीर का कार्य शुरू होता है। तीर अपनी शक्ति पाने के लिए ही धनुष में रहा। इतनी साधना पूरी हुई कि तुरन्त वह धनुष को छोडकर अपने मिशन पर चल पड़ा। इसी प्रकार मेरा जीवन अमुक साल तक मेरे शरीर में रह कर साधना करता रहा; और साधना पूरी होने के साथ ही "शरीर को पीछे छोडकर, विदेह बनकर वही जीवन सामाजिक जीवन में अपनी आगे की यात्रा पर निकल पड़ा" ऐसा क्यो न हो ? हम इसका विचार क्यों न करें ?

इस जिस्म में मेरा बसेरा चन्द रोज भले हो लेकिन हमारे व्यापक 'जहाँ' में मेरा बसेरा शायद दीर्घकाल तक चलने वाला है।

मनुष्य को इस शरीर मे सौ-पचास साल ही रहना होता है। लेकिन शरीर छोड़ने के बाद, वह स्वयं अपने समाज मे, और अपनी दुनिया में, दीर्घकाल तक बेशरीरी होने पर भी असर करता ही रहता है। अँगीठी जलकर बुझ गयी तो क्या उसकी दी हुई उष्णता का नाश तुरन्त होता है ? नहीं, उस अँगीठी की उष्णता सारे कमरे में फैलकर लम्बे अरसे तक उष्मा देती ही रहती है।

उष्णता का अँगीठी के साथ का जीवन चाहे कम हो लेकिन जाड़े की उष्मा की गर्मी पहुँचानेवाले कमरे के साथ का उसका जीवन तुलना में बहुत लम्बा और और अधिक उपयोगी होता है। जीते जी भी मनुष्य केवल अपने शरीर में नहीं रहता लेकिन अपने रिश्तेदार, इष्ट मित्र, पुत्र-पोते, गुरुजन और शिष्य, गुरु-भाई और विरोधी, सभी के साथ ही थोड़ा बहुत जीता है। अपने कार्य द्वारा तो जरूर। केवल शरीर गिरने से उसके उस व्यापक जीवन का अन्त नहीं होता।

जिस प्रकार अंगीठी की उष्मा कमरे में फैलती है और कमरे की उष्मा अन्त में हवा में विलीन होती है। इसी प्रकार मनुष्य जीवन का भी होना चाहिए।

शरीरगत जीवन इतना कम होता है और इतना संकुचित, कि उसके सुख और मोह के वश होकर हमारे समाज में रहा हुआ अपना जीवन और हमारे समाज में फैले हुए उस जीवन को हम बरबाद न होने दें। शरीरगत जीवन चन्द रोज रहता है। इतना बड़ा प्रवीण वैद्य लुकमान ! वह भी अन्त में मर गया। इस जिन्दगी में अगर कुछ विशेष करने जैसा हो तो वह मृत्यु के बाद की हमारी यात्रा के लिए पाथेय तैयार करना है। इस शारीरिक जीवन की दोस्ती छोटी है लेकिन सामाजिक जीवन की हस्ती दीर्घकालीन होती है।

मर जाने के बाद मनुष्य का 'जीव' पशु-पक्षी का रूप धारण करे तो भी क्या या कब्र के नीचे सो जाये तो भी क्या ? उस जीव की तुलना में उसकी 'दुन्यवी' जीवन की हस्ती हमारे लिए अधिक महत्त्व की है। वह जीवन तो प्रवाह की तरह

जारी ही है। उस जीवन की दृष्टि से ही सारी साधना करनी रही। शरीरगत जीवन में जिसे संयम का पालन करना है वह भी शरीर गिरने के बाद का जीवन समृद्ध बने इसलिए ही। पेड़ से पत्ते तोड़ते हैं, पेड़ की अधिक बढ़ी हुई डालियाँ काट डालते हैं, इसलिए कि फल अच्छे, बड़े औग अधिक मात्रा में मिलें। और वह भी दीर्घकाल तक मिलते रहें।

नजीर की इस गज़ल का भाव भिन्न है। इसे लोगों से कहना है कि भले लोग. ! हम थोड़े दिन साथ रहने वाले हैं तो फिर झगड़ा क्यों करते हैं और एक-दूसरे को परेशान क्यों करते हैं, रेलगाड़ी के यात्री जिस प्रकार कहते हैं कि चार घण्टे साथ रहना है वहाँ प्रेम से क्यों न बैठें ? मैं अपको पसन्द न हूँ तो भी क्या ? न आप लम्बे अरसे तक यहाँ रहने वाले हैं और मैं भी यहाँ अमरता का वरदान लेकर नहीं आया। फिर कहाँ आप और कहाँ मैं ? इस ज़िन्दगी का जहाँ भरोसा नहीं वहाँ झगड़े का अर्थ क्या ? मनु महाराज ने भी कहा है कि ऐसे क्षणभंगुर मृत्युशील शरीर में रहकर किमी के माथ वैर रखना नहीं चाहिए।

न चैनं देहं आश्रित्य वैरं कुर्वीत केन चित्

दस्त-हाथ, क़जा=मौत, बेजुर्म-निरपराध

१५. पायो जी मैंने राम-रतन धन पायो

(राग : तिलक कामोद— तीन ताल)

पायो जी मैंने राम-रतन धन पायो। टेक
वस्तु अमोलिक दी मेरे सतगुरु,
किरपा कर अपनायो। १
जनम जनम की पूँजी पायी,
जग में सभी खोवायो। २
खरचै न खूटै, वाको चोर न लूटै,
दिन-दिन बढ़त सवायो। ३
सत की नाव, खेवटिया सतगुरु,
भवसागर तर आयो। ४
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर
हरख-हरख जस गायो। ५

जगत मे दो प्रकार के धन हैं। व्यवहार में फँसी हुई अधिकांश दुनिया जो धन के पीछे पडती है वह तो सब जानती ही है। उस धन से अधिक महत्त्व का और अनेक जन्म तक काम में आने वाला ऐसा भी एक धन है। लेकिन वह धन केवल माँगने से नहीं मिलता। सद्‌गुरु की कृपा हो और उसके लिए दुनिया की अन्य वस्तुएँ छोडने की तैयारी हो तब ही प्राप्त होगा।

सन्त मीरा इस भजन में अपना वह आनन्द गाती है।

भजन है तो बहुत सरल: मेरे सदगुरु ने कृपा करके मुझे अपना लिया और अमूल्य वस्तु मुझे दी। इस प्रकार मैंने राम-रतन रूपी धन प्राप्त किया।

उस धन के द्वारा अनेक जन्म पार कर सकूँ, इतनी पूँजी प्राप्त हुई। लेकिन उसके साथ दुनिया की सामान्य सारी वस्तुएँ मैंने गँवाई।

उस धन का चाहे जितना खर्च हो तो भी अभाव न हो, कम न हो। चोर उसे लूट नहीं सकता। उल्टा दिन ब दिन वह बढता ही जाए। सेर का सवा सेर बनना यह उसका स्वभाव ही है।

धन की उपमा छोडकर, गुरु से प्राप्त हुए सत्य को मीरा एक नौका (नाव) कहती है और सद्‌गुरु उस नाव को चलाने वाला मल्लाह है। उसकी मदद से मीरा भवसागर पार कर सकी, इसलिए वह कहती है, 'प्रभु गिरधर नागर की दासी' मीरा अपना आनन्द व्यक्त कर के अब उसका यश हरख हरख कर गाती है।

खेवटिया - खलासी, नाव चलाने वाला।

१६. नरहरि, चंचल है मति मेरी

(राग : भैरवी— तीन ताल)

नर हरि ! चंचल है मति मेरी; कैसे भगति करूँ मैं तेरी ?
तू मोहिं देखै, हौं तोहिं देखूँ, प्रीति परस्पर होई,
तू मोहिं देखै तोहिं न देखूँ, यह मति सब बुधि खोयी।
सब घट अन्तर रमसि निरन्तर, मैं देखन नहीं जाना,
गुन सब तोर, मोर सब औगुन, कृत उपकार न माना।
मैं तैं तोरि मोरि असमझि सों कैसे करि निस्तारा ?
कह रैदास कृष्ण करुणामय जै-जै जगत-अधारा।

* * *

रैदास का यह भजन एक मध्यकालीन सन्त का होने पर भी आधुनिक वृत्ति से भरा हुआ है। और इसीलिए वह इतना आकर्षक लगता है।

भगवान को नरहरि के नाम से सम्बोधित करने वाले भजन बहुत कम हैं। अगर तुलसीदास ऐसा भजन लिखते तो हम मान सकते कि अपने गुरु का नाम आगे रखा है। रैदास के गुरु कौन थे, कौन जाने। इस भजन में नरहरि नाम केवल छन्द की अनुकूलता के लिए ही पसन्द किया हो तो उसमें कोई नयी बात नहीं है।

ईश्वर क्या है यह मनुष्य ठीक ढंग से नहीं जानता। वह एक शकित है, अज्ञेय व्यक्ति है, इतना ही मनुष्य जानता है। लेकिन इतने से उसे सन्तोष नहीं होता। परिणामस्वरूप वह ईश्वर को आदर्श मनुष्य जैसा आकार, मनुष्य जैसे गुण और स्वभाव दे देता है। और ईश्वर साकार और सगुण है ऐसा कहने भी लगता है। फिर तो जितने प्रकार के मनुष्य इतने प्रकार के देव-देवियाँ मानना ही पड़ेगा। देवों में भी नर और नारी जाति होती है। कुछ देव प्रभावशाली व्यक्ति होते हैं, कइयों का समूह ही होता है।•आये तो सारा समूह आये, उस समूह के व्यक्तियों के नाम हों या न भी हों। समूह के देव जाति से वैश्य माने जाते हैं।

ईश्वर को मनुष्य का आकार और गुण देना, यह एक प्रकार हुआ, दूसरी ओर किसी प्रभावशाली मनुष्य को ही ईश्वर की कल्पना करके, उसके जीते-जी उसकी पूजा करना, और मृत्यु के पश्चात् उसे idealise करके— उसकी कल्पना-सुन्दर और परिपूर्ण आवृत्ति तैयार करना, और बाद में उसका आदर्श रूप में पूजन करने के लिए उसकी मूर्ति स्थापित करना यह दूसरा प्रकार हुआ। दोनों प्रकार मनुष्य-स्वभाव में हैं। इन्द्र, रुद्र शिव, विष्णु कृष्ण, राम, दत्तात्रेय आदि देव इस प्रकार ही तैयार हुए होंगे।

अब मनुष्य को भक्ति करने के लिए प्रत्यक्ष सगुण साकार अवतारी पुरुष मिल जाए तो बहुत ही अच्छा। वरना एक मूर्ति से काम चल जाए। लेकिन ईश्वर निराकार है ऐसा विश्वास होने के बाद, मनुष्य दुविधा में पड़ता है। यह दुविधा दो प्रकार होती है। व्यक्ति के न होने पर अपनी भक्ति कहाँ अर्पित करना ? यह एक दुविधा, और भक्ति के लिए सगुण साकार लक्ष्य न हो तो मन एकाग्र, निश्चल और दृढ़ किस प्रकार बनाना यह दूसरी दुविधा।

मनुष्य को आदर्श के प्रति आकर्षण होता है। आदर्श पुरुष में श्रेष्ठ सद्गुण और असाधारण शक्ति चाहे हो लेकिन अन्त में वह मनुष्य तो होना ही चाहिए। मनुष्य-सहज भूख, प्यास, निद्रा, थकान हर्ष-विषाद रुचि-अरुचि ये सब जिसमें हैं

वही हमें समझ सके, सम्भावपूर्ण मार्गदर्शन कर सके वही हमारे प्रेम का अधिकारी बन सकता है, ऐसा मनुष्य को लगता है। उसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। लेकिन आदर्श निराकार ईश्वर की कल्पना करने के बाद, अपने सामने अपने जैसे शरीर-धारी मनुष्य में सभी अवगुण दिखाइ देते है और ईश्वर के पास केवल सद्गुण ही भरे होते हैं। ऐसी स्थिति में जो अन्तर उत्पन्न होता है वह प्रेम-भक्ति का पोषक नहीं बनता। केवल कृतज्ञता, शरणागति और आत्मा विलोपन, वही वहाँ सम्भाव्य होता है।

जिस प्रकार मनुष्य डरके मारे आत्म हत्या करता है उसी प्रकार ईश्वर के बीच और अपने बीच अमर्याद अन्तर है और वह किसी समय दूर होने वाला नहीं है ऐसा ख्याल पक्का हो जाय तब मनुष्य दबकर आत्म-विलोपन का आधार ढूँढता है। अच्छे अर्थ मे वह एक आध्यात्मिक आत्महत्या है। द्वैतवादी ईसाई, मुसलमान और वैष्णव इस बात मे खुश होते है। ब्राह्मसमाजी भी द्वैतवादी ही कहे जाएँगे। आर्यसमाजी द्वैतवादी जरूर है लेकिन वे आत्मा विलोपन तक नहीं जाते।

अद्वैतवादी (और विशिष्ट द्वैतवादी) ईश्वर और मनुष्य के बीच तात्त्विक अन्तर नहीं देखते इसीलिए वे डरते नहीं और सुन्दर ढंग से अभेद भक्ति बना सकते हैं।

सूरदास को श्रीकृष्ण का निराकार स्वरूप ध्यान में आ गया है लेकिन अभेद भक्ति में वह सफल नहीं हुआ। इसीलिए अपने लिए पार हो जाने का रास्ता उसे मिलता नहीं है। लेकिन उसे विश्वास है कि श्रीकृष्ण करुणामय है, जगत का आधार है मार्ग निकाल देगा और अन्त में अपना उद्धार होने वाला है।

हे भगवान, अगर हम एक दूसरे को देख सकते तो परस्पर प्रीति होना आसान था लेकिन यहाँ तो तू मुझे देख सकता है। और मैं तुझे देख नहीं सकता यह असमानता होने से "भक्ति कैसे की जाए" यह मुझे सूझता नहीं और इसलिए मेरी मति चंचल ही रहती है। (चंचल अर्थात अस्थिर) तू सर्वत्र है सबके हृदय में तेरा वास है फिर भी मैं तुझे देख नहीं सकता। तुम गुणराशि हो, मैं अवगुण का भन्डार हूँ, इसीलिए भगवान का उपकार मानने की वृत्ति मन में उठती नहीं है; मैं-तू-मेरा-तेरा इस प्रकार का अज्ञान हो तो निस्तार किस प्रकार हो ? आशा इतनी ही है कि भगवान करुणामय है और जगत का आधार है। उसके हाथ में हम सुरक्षित हैं। उसके ध्यान में जो आयेगा। वह करेगा ही।

असमंझ - नासमझ-अज्ञान

१७. मो सम कौन कुटिल खलकामी

(राग : केदार—तीन ताल)

मो सम कौन कुटिल खलकामी,
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो
ऐसो निमक हरामी।— ध्रुव.
भरि-भरि उदर विषय को धावौं,
जैसे सूकर ग्रामी,
हरिजन छाँड हरी-बिमुखन की
निसिदिन करत गुलामी। १
पापी कौन बड़ो है मोतें,
सब पतितन में नामी,
सुर पतित को ठौर कहा है,
सुनिये श्रीपति स्वामी। २

*　　　　*

इस भजन की चर्चा बहुत हो गयी है. ''मै कुटिल हूँ, खल हूँ, कामी हूँ, नमकहराम हूँ। सब पतितो मे नामी हूँ'' ऐसा हमेशा उठकर गाने से मनुष्य सुधरेगा या बिगडेगा ? क्या गीता मे नही कहा कि मनुष्य की जैसी श्रद्धा वैसा वह बन जाता है। (यो यत् श्रद्धाः स एव सः।) चोर चोर कहने से मनुष्य चोर बन जाता है इससे विपरीत ''मैं भूतसघ नहीं हूँ, चिदानन्दरूपी शिव मै हूँ'' ऐसा कहना अधिक लाभदायी भी है। और अधिक सत्य भी है।

अपने पापो का मनुष्य जैसे स्मरण करता जाए। वैसे उसके पाप दृढ होते जाते हैं, ऐसा भी तर्क कई करते है।

उसका विरोध करके कुछ कहते है कि ''पापी मनुष्य को अपने पाप का कुछ तो होश रहे'' यह सभी तरह मे ईष्ट है। पापी मनुष्य कहा करे कि मै परब्रह्म हूँ तो क्या इससे उसका उद्धार होने वाला था ? अगर ऐसा है तो भूखा मनुष्य अपनी आजीविका प्राप्त करने का प्रयास छोडकर मैं तृप्त हूँ, मैंने भरपेट खाया है, मैं समर्थ हूँ ऐसा क्यों नहीं कहता ? अध्यात्मशास्त्र को मेस्मेरिझम का स्वरूप देने मे जीवन का मजाक ही होता है। हम जैसे हैं वैसे अपने को पहचाने, यह क्या उन्नति की प्रथम सीढ़ी नही है।

भगवान बुद्ध के उपदेश का प्रारम्भ ही वही मे है। वे कहते हैं, धर्म का उदय उसी मे छिपा है कि मनुष्य जाने कि यह जगत दुःख से भरा है, और उसका कारण

हमारी तृष्णा और वासना है"। स्वयं बीमार भी जो यह जानता भी नहीं कि वह बीमार है या उसको स्वीकार नहीं करता वह इलाज क्या करेगा ?

यह चर्चा सनातन है। विख्यात अमेरिकन मानसशास्त्री विलियम जेम्स ने अपने "धर्मानुभवनी विविधता" नामक ग्रन्थ में इस विषय पर दो प्रकरण लिखे हैं। एक प्रकरण का नाम है "The religion of healthy mindedness " और दूसरे प्रकरण का नाम है "The sick soul" दोनो वृत्तियाँ सही हैं, इसीलिए दोनों का जीवन में स्थान है। दोनों उन्नतिकर हैं। (दोनों का दुरुपयोग हो सकता है) एक से दम्भ और उन्माद उत्पन्न हो सकता है, दूसरे से निराशा और अवसाद उत्पन्न हो सकता है। इन दो में से अमुक मार्ग पसन्द करने जैसा मनुष्य के लिए नहीं होता। वह तो प्रत्येक के स्वभावानुसार और अवस्थानुसार मनुष्य से चिपकता ही है।

या एक वृत्ति के खर्च हो जाने के बाद दूसरे का नशा मनुष्य को लगता ही है।

इन दो वृत्तियों में अमुक प्राथमिक है, और अन्य उसके बाद की है ऐसा भी नही है। इसीलिए तात्त्विक चर्चा करके दूसरी की निन्दा करना व्यर्थ है।

(२)

यह तो ठीक, लेकिन सूरदास जैसा सन्त पुरुष अपने को कुटिल, खल, कामी के रूप में बताये वह कहाँ तक योग्य है ? अतिशयोक्ति की भी कुछ मर्यादा हो या नहीं ? सतपुरुष ही अगर अपने को कुटिल, खल, कामी बताये तो सामान्य मनुष्य अपने बारे में क्या आशा रख सकता है ?

सत् पुरुष अपने सामने असाधारण कठिन आदर्श रखकर उसकी तुलना में अपने को कुटिल, खल, कामी मानते हैं, ऐसा कहा जा सकता है। ऐसा हो तो हम झगड़ा नहीं कर सकते। खान अब्दुल गफ्फारखान भी, अपने आप आठ फुट ऊँचे नहीं हैं। इसलिए अपने को बटुवामन जी के रूप में बताये वह हमें पसन्द आये या न आये लेकिन हम वह समझ सकते हैं। लेकिन ये सत् पुरुष जब कहने लगे कि सब पापियों में मैं श्रेष्ठ हूँ। मुझसे बड़ा दूसरा पापी कौन है— ऐसा जब वे कहने लगते हैं, तब "उनकी कविता में निखालिसता है या केवल काव्य है ? ऐसी आशंका मन में उठे बिना नहीं रहती है। क्या दूसरों के बीच और अपने बीच की योग्य तुलना करना भी उन्हें नहीं आता है।

या ये सत्पुरुषों की महत्त्वाकांक्षा अमर्याद होने के कारण पापियों की पंक्ति में भी अपने आप तो अगुवा ही होने चाहिए" ऐसा उनका आग्रह रहता होगा ? "पापियों में भी मुझसे कोई आगे बढ़े और बढ़िया बने ! अपने लिए 'नामी' शब्द का उपयोग करने में पछतावे की वृत्ति से काव्यमय उन्माद ही नजर आता

"पतित लोगो को पछतावा कैमे करना ?" उमका दृष्टान्त बताने के लिए सन्त कवि ऐसे काव्य लिखते है ऐसा कुछ लोग कहते हैं। लेकिन यहाँ तो सूरदास ने या उनकी ही भाषा मे कहे तो सुरपति ने अपनी ही बात छेडी है। सन्तो के वचन अधिकतर स्वलक्षी ही होते है। केवल परलक्षी कुछ लिखते नही है।

'सत्य के प्रयोग' के विषय मे लिखते हुए गाधीजी ने "मो, सम कौन कुटिल खलकामी" इन वचनो का प्रयोग किया है, और वहाँ तुरन्त ही उसका अर्थ भी किया है कि "अपने जीवन का और प्रत्येक साँस का मालिक और परमात्मा को भूल जाना, उससे बढकर पाप कौन सा ?" तो क्या परमात्मा को भूल जाने के दोष म उनके समान कोई नही, ऐसा वे मानते है।

उनकी आत्मकथा पर से हम जानते है कि उनमे काम विकार की मात्रा ठीक ठीक थी। अभी वे इस विकार मे नि:शेष मुक्त नही हुए ऐसा वे कहे तो हम विरोध खडा नही कर सकते। लेकिन उनके विविध और समृद्ध जीवन मे कुटिलता और खलता तो कही दिखाई नही देती। उन्होने स्वय तो कही कहा नही कि अपने भीतर छिपी कुटिलता और खलता के साथ उन्हे लडना पडा है।

तब अपने शब्दो का तोल-तोलकर उपयोग करने वाले महात्मा सन्त वचनो का उपयोग करते समय भाषा की शिथिलता और अतिशयोक्ति क्या होने देते होगे ?

शायद वे मन मे कहते होगे कि "जो कम जानते है जिनकी धर्मबुद्धि मन्द या मोटी है उनकी कसौटी स्थूलतया ही होती है। जिनकी धर्मबुद्धि सूक्ष्मवेदी होती है जिनका ज्ञान गहरा होता है उनकी कसौटी भी बहुत कठिन होती है। प्रत्येक मनुष्य के लिए उसकी धर्मबुद्धि और प्रत्यक्ष जीवनसिद्धि के प्रमाण के अनुसार अनुमान लगाया जाता है।

मनुष्य का व्यक्तित्व जीवन सिद्धि, जीवन का आदर्श

इस हिसाब से सूरदास और मोहनदास कह सकते है कि पाप मे हम सभी से बढकर हैं। दूसरे लोगो की जीवनसिद्धि से हमारी जीवनसिद्धि हजार गुना बडी हो फिर भी दूसरे लोगों के प्राकृत आदर्श से हमारा जीवन आदर्श लाख गुना बड़ा है। इसलिए उनकी तुलना में हमारा अधूरापन अधिक व्याकुलता पैदा करने वाला है ही।

(३)

प्रार्थना चलती थी और ऊपर बताये हैं वैसे विचार मन में बार-बार उठते थे। इतने मे मन को एक धक्का लगा कि, "क्या यह तेरी प्रार्थना चल रही है ?

बौद्धिक पंडितोंवाली चिकित्सा में लगकर जीवन का सार खो बैठता है ? जिस समय हृदय अर्पण करने का होता है, आत्मपरीक्षण करने का होता है, अन्तःशुद्धि की शास्त्रक्रिया करने की होती है, ऐसे समय पर सयानापन चलाकर ऐसी "औचित्य-विचार-चर्चा चलानी, उसमें लाभ क्या ? किसलिए इतना स्वार्थ त्याग ? अगर भजन के 'मूड' में एक रूप हुआ जाता हो तो वैसा करने का यह अवसर है।"

सूकर सूअर

१८. ऐसो को उदार जग माहीं ?

(राग : आसावरी या तोड़ी— तीन ताल)

ऐसो को उदार जग माहीं,
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर, राम सरिस कोउ नाहीं।
जो गति योग विराग जतन करि, नहिं पावत मुनि ग्यानी,
सो गति देत गीध सबरी कहँ, प्रभु न बहुत जिय जानी।
जो सम्पत्ति दस सीस अरपिकरी रावन सिव पहँ लीन्ही
सो सम्पदा विभीषन कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्ही।
तुलसीदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो,
तौ भजु राम काम सब पूरन करहि कृपानिधि तेरो।

* * *

यह एक भोला भजन है। दरियाव दिल के भोले या दयावन दानी लोगों का स्वभाव हमें अच्छा लगता है हमें अच्छा लगे या न लगे। लेकिन जो दरिद्री हैं, विपत्ति में फँसे हुए हैं और जो आजीविका के लिए मिथ्या प्रयत्न करते हैं ऐसे लोगों को (और सारी दुनिया करीब ऐसे लोगों से ही भरी हुई है।) तो दानी मनुष्य ही सबसे अधिक शूर लगता है। याचकों की दीनता देखकर राजा भर्तृहरि इतने व्याकुल हो गए थे कि उन्होंने कहा है कि "जीने के लिए छटपटाते लोगों को आजीविका देने वाले लोग, ऐसे लोगों की स्वार्थी चापलूसी से क्यों खुश होते होंगे यही मेरी समझ में नहीं आता।"

तुलसीदास कहते हैं कि दुनिया के सामान्य लोग "लेते हैं तब ही बदला चुकाते हैं।" केवल राम ही ऐसा दाता है कि जो बिना सेवा लिये भी खुले हाथ दे देते हैं।" बड़े-बड़े ज्ञानी मौन धारण करके, वैराग्य अपना कर योग साधकर, अनेक प्रयत्न करने पर भी जो गति प्राप्त नहीं कर सकते, वह गति श्रीरामचन्द्र ने जटायु

जैसे गिद्ध और शबरी जैसी अबोध अबला को आसानी से दे दी। अपने दस सिरकमल महादेव को चढ़ाकर जो वैभव सम्पत्ति रावण ने पायी थी, वह सब रावण को जीतने के बाद विभीषण को "इतने मेरे परम भक्त को इतनी तुच्छ वस्तु कैसे दूँ ?" ऐसे संकोच के साथ श्रीरामचन्द्र ने दे दी।

ऐसे सब दृष्टान्तों पर से तुलसीदास अपने मन को कहते हैं कि अगर तुझे सब प्रकार से सुखी बनना हो, सब सुविधा पानी हो तो, हे मन, राम की ही भक्ति कर। वह कृपानिधि तेरी सारी कामनाएँ तृप्त करेंगे।

ये पुराने समय के सन्त मनुष्यो को भक्तिमार्ग की ओर खिंचने के लिए किसी भी प्रकार का लालच दिखाते, किसी भी प्रकार के तर्क करते दिखाई देते हैं। उनके पक्ष में इतनी बात जरूर है कि जैसा वे कहते थे वैसा ही उनका विश्वास भी रहता था।

राम की भक्ति करने पर अपने आप खाना मिलेगा, रोग अपने आप भाग जाएगा, पाप तो न जाने कहाँ भाग जायेंगे, कर्ज़ा होगा तो निपट जाएगा, सफर में रास्ता भूल गए हो तो राम अपने आप आकर सही मार्ग बता देंगे आदि लालच वे देते, और अपने आप भी उस पर विश्वास करते थे।

ईसाई लोग भी ईश्वर की ऐसी कृपा का दृष्टान्त देते हैं। लेकिन साथ-साथ ऐसा भी कहते हैं कि ईश्वर का ऐसा स्वभाव है ज़रूर, लेकिन उसकी कसौटी करने का हमें अधिकार नहीं है। "Thou shalt not tempt god" हमारे भक्त भी कहते हैं कि भगवान हमें जैसा रखे वैसा सन्तोष से रहना चाहिए। विपत्ति आए तो जान लेना कि भगवान हमारे प्रति खुश हैं। क्योंकि विपत्ति में ही हम भगवान को भूलते नहीं हैं। भगवान की इच्छा के अधीन रहने का व्रत चलाने पर भी वे लोगो को समझायेंगे कि भगवान दयालु हैं, दरिया दिल है, कुछ बदला लिये बिना भक्तो को कृतार्थ करते हैं।

अब इस वस्तु को जरा अलग ढंग मे देखे। वेदान्त कहता है कि हम आत्मा हैं, परमात्मा से भिन्न नहीं हैं, आत्मा वास्तव मे शुद्ध, बुद्ध, नित्य, मुक्त है। माया के बल से वह गिरा, बद्ध हुआ, शरीर रूपी पिजरे में फँसा, अपना स्वरूप भूलकर शरीर के साथ एक रूप हुआ, अब उसे पुरुषार्थ करके साधना द्वारा फिर मे मुक्त होना चाहिए।

इस पर ऐसी शंका उठती है कि जो शुद्ध बुद्ध, नित्य और मुक्त था वह इतनी अच्छी स्थिति में भी अगर अपनी स्थिति सम्भाल न सका और गिरने जैसा पामर सिद्ध हुआ, तो गिरने के बाद उस पतित की शक्ति कितनी कि वह फिर से ऊपर उठ सकेगा ? उसका उत्तर यह है कि वास्तव में गिर कर जीवात्मा होने के बाद उस बद्ध अवस्था में मनुष्य अपने बल पर साधना नहीं कर सकता। अपनी वास्तविक

स्थिति का स्मरण जागृत रखकर उसकी ही रट लगाये रखना उसके हाथ में है। लेकिन उसकी रट सच्ची और उत्कट हो गयी तो भगवान जो किसी समय गिरे नहीं है, गिरने वाले नहीं हैं वे ही स्वयं मनुष्य की ओर से ऊपर उठने की साधना भी उसके हृदय में बैठकर करते है। और इस प्रकार मदद करने हैं। बिल्ली के बच्चे आँखे बन्द करके माँ पर सम्पूर्ण विश्वास से आधार रखते है, और फिर ऐसे बच्चों को उठाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने का काम बिल्ली माँ स्वयं ही करती है। उसी प्रकार भगवान पर विश्वास रखकर शरणागति स्वीकार करने के बाद हमें कुछ भी करने का बाकी नही रहता। बाकी का सब भगवान स्वयं करते है।

उसी वस्तु को लौकिक भाषा मे तुलसीदास बताते हैं कि भक्त की ओर से किसी प्रकार की सेवा मिले बिना भी श्री राम उदार बनकर मनुष्य को सब कुछ देते है। इतना औदार्य एक राम को छोंडकर अन्य किसी मे नहीं है।

१९. रे मन ! मूरख जनम गँवायो

(राग : काफी— तीन ताल)

रे मन ! मूरख जनम गँवायो,
करि अभिमान विषय-रस राच्यो, स्याम-सरन नहिं आयो।
यह ससार फूल सेमर को सुन्दर देखि भुलायो,
चाखन लाग्यो रूई गयी उड़ि, हाथ कछु नहीं आयो।
कहा भयो अबके मन सोचे, पहिले नाहि कमायो,
कहत सूर भगवन्त भजन बिनु सिर धुनि-धुनि पछितायो।

* * *

इस भजन का शीर्षक रखना चाहिए "फूल सेमर को"।

हमारे सन्त कहते हुए थकते ही नही कि यह दुनिया मिथ्या है, विषयसुख खोखला है और दुन्यवी सम्बन्ध सच्चे नहीं है, भ्रामक हैं। उन्होंने किसी भी समय ऐसा नही कहा कि यह जन्म व्यर्थ है, निःसार है। जन्म तो सच्चा है, महत्त्व का है, मनुष्य का वह एक ही अमूल्य धन है, उसे नष्ट न किया जाये, जन्म छोटा है और बहुत ही महत्त्व का है इसका अगर दुरुपयोग किया, तो आगे जाकर पछताना ही होगा।

कैदियों को जेल में छः महीने में एक बार रिश्तेदारों से मिलने का समय होता है, वह भी केवल २० मिनट के लिए। अब अगर वह कैदी रिश्तेदारों के साथ अर्थहीन बातों में या अकारण विवेक मे बिता दे, तो उसे कोई सयाना या रसिक न कहे। वह बीस मिनट गँवाने के बाद मुँह मे भी मीठा स्वाद कहाँ से रहे ?

अमूल्य जीवन का इस प्रकार तुच्छ उपयोग करने वाले विषयी वीरों को अगर सन्त चेतावनी दें तो हम उन्हें किस प्रकार आनन्दशत्रु, सूत की या उतरा हुआ कहें ? वे कहते हैं कि "आरोग्य बना रहे, इज्जत बढे और हृदय तृप्त या परिपुष्ट हो ऐसा आनन्द तुम्हारे पास होने पर भी, तुम केवल भ्रामक सुख के पीछे क्यो भागते हो ? विषयसुख में अगर चिर आनन्द होता, खोखली व्यर्थता का विषाद न होता तो हमने उसका विरोध न किया होता। आनन्द के लिए तुम्हारी खोज योग्य है लेकिन इलाज गलत है, उलटा है, उस मार्ग पर आनन्द मिलने के बदले, जलन, क्षीणता और असमाधान ही तुम्हें मिलनेवाला है। अनेक बार अनुभव करोगे फिर भी परिणाम तो वही आनेवाला है। इसीलिए सही मार्ग पर चलो तुम्हें अत्यधिक आनन्द दिलवायेंगे। यही सन्तो की पुकार है।

लहू बिगडा हो और परिणामस्वरूप खुजली हुई हो तब मनुष्य को खुजलाने में बहुत आनन्द मिलता है, (वह आनन्द मामूली नहीं होता। लेकिन ऐसा करते नाखून द्वारा वह खुजली फैलती है, आनन्द के बाद अधिक जलन सहनी पड़ती है खून बिगडता है और शरीर से दुर्गन्ध फैलती है। इसीलिए ही वह पराक्रमानन्द हीन माना गया है।

अब जो मनुष्य निरोगी है। तन्दरुस्त है। जिसके शरीर मे शुद्ध खून बहता है वह सुबह उठकर व्यायाम करके गरम बार और उसके बाद ठन्डे पानी में तरने का आनन्द लेकर गाजर के जैसा लाल बन जाए तो उसे आरोग्यानन्द प्राप्त होता है। शरीर की सारी चमड़ी में आनन्द प्रगट होता है। यह आनन्द अच्छा या उस खुजली का आनन्द ?

सन्त इसके सिवा और कुछ नही कहते। प्रेम सेवा स्वार्थत्याग आत्मौपम्य आत्मैक्य, अभेद, ये आनन्द के सही स्थान है। उनसे विरोधी ऐसा शरीर सुख मिलता हो तो उसे त्याज्य समझना चाहिए। श्रेष्ठ आनन्द छोडकर विषयरस मे रत रहना वह तो आम्रफल या अमृतफल छोडकर सेमर का फूल चखने के बराबर है। सेमर के फूल मे आकर्षित होकर उसे दाँतो मे काटते हे तो अन्दर की रूई उड जाती है और हाथ में कुछ नहीं आता। इस प्रकार अगर जीवन नष्ट कर दे तो अन्त मे 'सिर धुनी धुनी पछताना ही रहेगा। विश्वात्मा के साथ एकरूप होना वही सच्चा आनन्द है। उसे छोडकर व्यक्तिगत देहगत क्षणिक सुख के पीछे जाना घाटे का सौदा है।

शरीर को-शरीर सुख को- केन्द्र मे रखकर की हुई प्रेम की उपासना शब्दों मे

चाहे जितनी सुन्दर हो फिर भी, अन्त मे उससे विषाद ही बढने वाला है। दुन्यवी माधन और शरीर सुख जैमे बढायें वैसे अस्वस्थता बढती ही है और शराब की तरह अधिक-से-अधिक डोज़ माँगा करती है।

सन्त जिसे भजन का लाभ कहते हैं वह मँजीरे लेकर भगवान के नाम की धुन चलाने से सिद्ध नही होता। शंकराचार्य ने कहा है—

मोक्ष-कारण मामग्या भक्तिरग्न गरीयसी।
स्वम्वरूपा नु मंधान भक्तिारत्याभधीयते।।

मोक्ष प्राप्त करने के माधनो मे भक्ति ही मर्वश्रेष्ठ है। आत्मा के म्वरूप का अनुसन्धान बनाये रखना, ध्यान करना उमे ही भक्ति कहते हैं।

सेमर एक प्रकार का फल जिमम रूई होती है, शाल्मलि।

२०. यह बिनती रघुवीर गुसाईं

(राग : परज— तीन ताल)

यह विनती रघुवीर गुसाई,
और आस बिश्वास भरोसो, हरु जियकी जड़ताई।
चहौं न सुगति, सुमति. सम्पति कछु, रिधि सिधि विपुल बड़ाई,
हेतु-रहित अनुराग रामपद बढ़ै अनुदिन अधिकाई।
कुटिल करम लै जाई मोहि जहँ-जहँ अपनी बरिआई।
तहँ-तहँ जनि छिन छोह छाँडिये कमठ-अण्ड की नाईं।
या जग में जहँ लगि या तनु की, प्रीति प्रतीति सगाई,
ते सब तुलसीदास प्रभु ही सों होहि सिमिटि इक ठाँई।

*　　　*　　　*

आज सुबह श्री धर्मदेव नारायण ने यह भजन गाया। धर्मदेव नारायण को संगीत का स्पर्श नही हुआ, फिर भी उनके गाने म माधुर्य है। वह ममझकर गाते है भावपूर्ण गाते हैं। इसीलिए उनका गीत कही अखरता नही है। भाव को पोषक सिद्ध होता है।

यह भजन मैने अनेक बार सुना है लेकिन ध्यान तो हमेशा उसकी लय की ओर गया था। आज भजन के भाव की ओर सारा चित्त बहा सका, और देखा कि हमारी भाषा म जो अच्छे से अच्छे भजन हैं उनके सिरमौर यह भजन रखने लायक है। इसमे तुलसीदास ने अपना हृदय, अपनी भक्ति, अपनी आर्तता सब कुछ रखा

है। और काव्यशैली इतने मज़े की है कि साहित्यकारों को द्राक्षापाक सम्पूर्णतया चखने को मिलता है।

तुलसीदास अपने मालिक प्रभु रामचन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि "तुम्हारे चरण छोडकर अन्य किमी का विश्वास मेरे हृदय में न बसे। किसी की मैं आशा न रखूँ, और केवल जडता की भी मैं शरण न लूँ।

छोटी-मोटी वस्तुओ की मैं किसलिए आशा करूँ ? पुण्य करके मुगति प्राप्त करूँ, शास्त्र पढ़कर सुमति अपनाऊँ, धन का पीछा करके ढेर सारा धन कमा लूँ, तन्त्र-मन्त्र की साधना करके हठयोग से रिद्धि-सिद्धि का स्वामी बनूँ, और लोगो पर अधिकार जमाकर अपनी बडाई सिद्ध करूँ, इनमे से मुझे कुछ नहीं चाहिए। मुझे सकाम भक्ति करनी ही नहीं है। मै तो एक ही माँगूँ, निरहेतुक-निष्काम भक्ति रामचरण में दिन ब दिन बढती जाये," इतना ही मुझे चाहिए ।

कछुए के बच्चे जब बेवकूफ बनकर माँ से अलग होते हैं तब दूर से भी उनकी भूख को पहचान कर माँ उनकी ओर एक दृष्टि फेकती है, ओर उस दृष्टि मे ही बच्चों को तुरन्त पोषण मिलता है। उनकी भूख और थकान दूर होती है। और बच्चो की शक्ति बढती है। उसी प्रकार हे प्रभु । मेरे कुटिल कर्म जबरदस्ती से मुझे जब गलत मार्ग पर ले जाते हैं, तब एक क्षण भी अपनी कृपा वापम नहीं लेना, कूर्म-दृष्टि से मुझे सम्भालना। इस दुनिया मे अपनी काया, अपनी कान्ता और अपने सभी रिश्तेदारो के प्रति जो प्रेम और आकर्षण होता है वह सब एक जगह इकट्ठा होकर भगवान के चरणो मे लग जाये अर्पण हो जाय उतनी ही एक मेरी विनती है।

जिस प्रकार सूर्यकान्तमणि सूर्य की किरणो को इकट्ठा करता है उसी प्रकार हृदय की सारी भावनाएँ राम भक्ति से एकत्र हो और रामकार्य को अर्पण हो जब जब मन अपने स्वभाव के कारण उन्मार्ग पर, उलटे मार्ग पर जाये तब भगवान की कृपा अपना उद्धार करे इससे बढकर मनुष्य क्या अधिक माँग सकता है। एकाग्रता ही जीवन की उत्कटता है। यह एकाग्रता अगर भगवान के चरणो म स्थिर हो जाये तो मनुष्य का वही उद्धार है।

हरु हरो, दूर करो
(कमठ-अण्ड की नाई = कछुए के बच्चे की तरह)
छोह मेहरबानी, कृपा
हेतु रहित निष्काम
सिमिटि इकट्ठा करके
(अनुदिन दिन प्रतिदिन)
जनि - नही

बरियायी = स्थान पर
ठाई = स्थान पर

२१. जाके प्रिय न राम वैदेही

(राग : खमाज— तीन ताल)

जाके प्रिय न राम वैदेही,
सो छाँड़िये कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।
तज्यो पिता प्रह्लाद, विभीषण बन्धु, भरत महतारी,
बलि गुरु तज्यो, कन्त ब्रजबनितनि, भये मुद-मंगलकारी।
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं,
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं।
तुलसी सो सब भाँति परमहित पूज्य प्रान ते प्यारो,
जासों होय सनेह रामपद, एतो मतो हमारो।

* * *

कहते हैं कि अपनी हैरानी भक्त शिरोमणि तुलसीदास को बताकर मीरा ने उनसे राय माँगी तो तुलसीदास ने "जाके प्रिय न राम वैदेही सो छाँडिये कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही" ऐसी सीख दी और प्रह्लाद, विभीषण, भरत, बलि आदि भक्तों के दृष्टान्त दिए। उन उदाहरणों में व्रज वनिता गोपियों का उदाहरण मीरा को विशेष आधार देनेवाला सिद्ध हुआ होगा।

भगवद्भक्ति में जो मदद करे वही रिश्तेदार है। आँखों में लगाने के साथ ही आँखें फोड दे, उसे हम अंजन (सुरमा) कैसे कह सकते हैं ? राम चरण में जिसे स्नेह है, वही हमारा हितकर्ता, और प्राणप्रिय बुजुर्ग कहे जाये, ऐसा मेरा स्पष्ट अभिप्राय है, ऐसा तुलसीदास ने बताया।

इस भजन की शैली देखते हुए, तुलसीदास ने किसी व्याकुल को सीख देने के लिए लिखा हो वैसा स्पष्ट दिखाई देता है। या किसी रिश्तेदार का तुलसीदास ने त्याग किया हो और उसके लिए अपनी उलाहना का हो तेसे किसी मित्र को स्पष्ट अन्तर सुना देते हो ऐसी इस भजन की शैली है।

लेकिन तुलसीदास और मीरा समकालीन भी न थे उसका क्या ? ऐसी किवदन्ती की रचना करने वाले को कालक्रम के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। मीरा की कथा वे जानते हैं। मीरा जैसी भगवत भक्त राय माँगे तो जैसे तैसे से न माँगे।

पारिवारिक आसक्ति से मुक्त और ज्ञान-भक्ति-सदाचार के प्रचार में व्यास-वाल्मीकि के समान तुलसीदास से ही वह पृछ सकती है और मीरा जैसी को तुलसीदास अन्य क्या सीख दे सकते हैं मीरा को सताने वाले लोग बिलकुल दुष्ट नहीं थे। व्यवहार छोड़कर बैरागी गोसाई जैसों के साथ मिलने का अगर मीरा छोड दे, तो उसे फूल की तरह रखने को वे तैयार थे। हीर और चीर देकर उसका वैभव बढ़ाने में वे निछावर हो जाते। वे सब दुन्यवी जीवन मे परम सनेही थे। उसमे शक नहीं लेकिन मीरा को तो जगत को देखकर रोने का मन होता था, उसमें वे क्या करें ? ऐसे समय पर ही उलझन पैदा होती है कि क्या करना ? ऐसी निर्णायक कसौटी रखी है। अमुक मनुष्य में रामभक्ति है ? अगर है तो वह हमारा रिश्तेदार है। लेकिन जो कोई राम से विमुख है वह चाहे जितना निकट और प्रेम से भरा रिश्तदार हो फिर भी वह पराया मनुष्य है।

लोगों ने इतना सुन्दर भजन और इतनी निस्सन्दिग्ध सीख हाथ में आने के बाद मीरा के जीवन के साथ उसे बुन लिया तो उसमें आश्चर्य क्या ? और गलत भी क्या ? व्यवहार के जगत में वह चाहे ठीक न बैठे लेकिन काव्य जगत मे वह सम्पूर्ण तथा योग्य सिद्ध होता है। लोकमानस के लिए उतना काफी है।

वेदेही	सीता	महतारी	माता
नेह	स्नेह	कन्त	पति
मानियत	मानते है		

२२. शूर संग्राम को देख भागै नहीं

(राग : मालकस— झपताल)

शूर संग्राम को देख भागै नहीं,
देख भागै सोई शूर नाहीं।
काम औ' क्रोध, मद लोभ से जूझना,
मन्डा घमसान तहँ खेत माँहीं।
शील औ' शौच, सन्तोष साही भये,
नाम समसेर तहँ खूब बाजै।
कहै कबीर कोई जूझी है शूरमा
कायरा भीड़ तहँ तुरन्त भाजै।

कबीर का यह भजन हमारी सत्याग्रह की लड़ाई में बहुत लोकप्रिय हुआ था।

शान्तिवादी साधु भी लड़ाई की भाषा और परिभाषा का रसपूर्ण उपयोग करते हैं। (Salvation army वालों ने इस दिशा में कमाल किया है। "पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस" में भी युद्ध की भाषा का सुन्दर ढंग से उपयोग हुआ है। बुद्ध भगवान ने ४८ दिन तक मार के साथ युद्ध किया उसका व्याख्या करते कवि थकते ही नहीं।

इस भजन की भाषा सरल और भेदक है। "शूर संग्राम को देख भागे नही" इतना कहने के बाद उसी बात के शब्दों को उलटाकर "देख भागै सोई शूर नाहीं" ऐसा न कहा होता तो चलता। पुनरुक्ति से भाव परिपुष्ट नहीं होता है।

फिर भी पूरे भजन की शैली जोरदार है। मनुष्य को ऊपर उठाने वाली है और जोश तो उसके प्रत्येक शब्द में भरा हुआ है। काम, क्रोध, मद और लोभ ये चार शत्रु इकट्ठे होकर अपनी अपनी फौज के साथ सामने खड़े हैं। उनके साथ जान पर खेलकर लड़ना है। रणभूमि पर धमासान युद्ध मचा। शील, सदाचार, पवित्रता, और निर्लोभ सन्तोष— सब सहाय करते है और भगवान की नामरूपी तलवार बिजली की तरह ऐसी चलती है कि शत्रु की सेना कट जाने में देर नही लगती। जो शूर होगा वह ऐसे युद्ध को महोत्सव समझकर, मनुष्य जियाफत समझकर उसमें तुरन्त कूद पड़ेगा। जो कायर होगा वह तो एक क्षण के लिए वहाँ टिकेगा नहीं, तुरन्त भाग ही जाएगा।

किसी भी देश पर जब शत्रु का आक्रमण होता है तब देश के तेजस्वी लोग शत्रु का सामना करने के तैयार रहते हैं और कायर देशद्रोही बहादुरी छोड़कर शत्रु के साथ समझौता करके, अपनी जान और मिल्कियत सुरक्षित रखने की राय देते हैं। देशभक्त के सामने ऐसे लोग देशद्रोही माने जाते हैं। अन्त में समाज में वे बदनाम होंगे ही।

लेकिन अगर युद्ध में देशभक्त हारे, शत्रु का घेरा लम्बे अरसे तक चला, शहर के लोगों का जोश भारी हो गया तब ऐसे कायर तुरन्त सामने आकर लोगों के सामने अपना प्रस्ताव फिर से पेश करते हैं और कहते हैं कि हम कहते ही थे, कि आज की परिस्थिति में लड़ना हितावह नहीं। वह तो तबाह होने का रास्ता था। अगर समय पर समझौता कर लिया होता तो हमारा लाभ ही था। अब तक हमने बहुत-सी उन्नति की होती। ऐसे समय पर, थकी हुई प्रजा को भी होता है कि बात सही है।

विजयी शत्रु जब शहर में प्रवेश करता है तब हारे हुए लोग इन सब कायरों को "सयाने, दूरदेशी और उदार समाज नायकों का इलकाब देकर अपनाते हैं। और उन्हें ही अपने समाज की अगवानी लेने का सूचन करते हैं। थके, हारे लोग भी उनकी मनोनुकूल सीख पसन्द करते हैं। और शत्रु का राज्य दृढ़ बनाने में मदद

करते हैं। फिर तो यह आक्रामक शत्रु, अपने आप ही देश के उद्धारक होने का दावा शुरू कर देते हैं।

प्रजा जब स्थिर-स्थावर बन जाती है तब उसे ऐसी अधोगति की फिर से घृणा होती है। फिर वह अपने सही नेताओं को पहचानती है, और स्वतंत्र होने का फिर मे प्रयत्न कग्ती है।

मध्ययुग के मन्तों ने आत्मा को गिराने वाले शत्रुओं के साथ युद्ध किया था। उस समय उन्होंने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद मत्सर आदि कायर वृत्तियो के अधीन न होने के लिए प्रजा को चेतावनी दी थी। लेकिन ऐसी चेतावनी मे प्रजा ऊब गयी। आध्यात्मिक जीवन की कठिनता प्रजा को अच्छी नहीं लगी। वे हारे तो जडवादी लोगों ने कामवृत्ति कितनी स्वाभाविक है और आत्मविकास (Self expression) में सहायक है, क्रोध के बिना तेजस्विता सम्भव ही नहीं है, लोभ ही साम्राज्य का भूषण है, मत्सर के बिना राष्ट्रीयता बन ही नहीं सकती, असूया के बिना वर्ग संगठन हो नहीं सकता, आदि बातें समझा दी हैं और अब तो मनुष्य का हृदय और मनुष्य का समाज काम-क्रोधादि समूह के हाथ में चला गया है। साधना, संयम, त्याग, तपस्या— ये सब सद्‌गुण समाज मे अप्रतिष्ठित हुए हैं, अपमानित हुए हैं, जीवन विकास के लिए इन्द्रिय तृप्ति आवश्यक है ऐसा माना जाने लगा है। विजयी राष्ट्रों की इस दृष्टि को पराजित कायर लोग भी स्वीकार करने लगे हैं।

ऐसे वातावरण के खिलाफ लडकर आत्मा का राज्य, परमात्मा का राज्य फिर से स्थापित होगा। शील, शौच, संयम और सन्तोष-इन सब शीतल सद्‌गुणो की तेजस्विता सेवा के द्वारा सिद्ध करने के दिन फिर से आ गये हैं। इस्पात ठन्डा हो तभी आबाद घाव लगाता है। गरम हुआ कि नरम हुआ ही है।

खेत - रणक्षेत्र   शूरमा शूरवीर
साही = साथी, सहायक   भाजै = भागे

२३. वैष्णव जन तो तेने कहीए

(राग : खमाज— ताल : धुमाली)

वैष्णव जन तो तेने कहीये, जे पीड परायी जाणेरे;
पर दुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणेरे— ध्रु.
सकळ लोकमां सहुने वंदे, निन्दा न करे केनी रे;

वाच काछ मन निश्चल राखे, धन-धन जननी तेनी रे। १.
समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, परस्त्री जेने मात रे;
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे। २.
मोह माया व्यापे नहीं जेने, दृढ़ वैराग्य जेना मनमाँ रे;
राम नाम शुं ताळी लागी, सकळ तीरथ तेना तनमां रे। ३.
वणलोभी ने कपटरहित छे, काम क्रोध निवार्या रे;
भणे नरसैंयो तेनुं दर्शन करतां, कुळ एकोतेर तार्या रे। ४.

* * *

इस भजन का नाम सुनते ही भक्त नरसैंया से अधिक गांधी जी ही पहले ध्यान में आते हैं। इतना सुन्दर भजन लिखने का श्रेय तो नरसैंया को ही है। लेकिन इस भजन को अपना जीवनमन्त्र बनाकर गांधी जी ने इसे लोकप्रिय बनाया। और इसीलिए वह विशेषतया गांधीभजन बन गया है। इसलिए इसकी खूबी क्या है, युगपुरुष महात्मा को यह इतना प्रिय क्यों हो गया है उसका चिन्तन करने के लिए हम प्रेरित हों तो उसमें आश्चर्य नहीं।

अब हमारी संस्कृति में भक्ति के अनेक प्रकार हैं। मेरे जैसे "शुद्ध अद्वैत वेदान्ती" जीवात्मा और परमात्मा के बीच के पूर्ण अभेद को मानते हैं। वे भक्ति किस प्रकार करें ऐसा कई लोग पूछते हैं। उसके उत्तर में हमारे दो प्रिय वचन उद्धृत करते हैं— मोक्ष कारण-सामग्र्या भक्तिरेव गरीयसी।

अद्वैत वेदान्ती भी मानते हैं कि मोक्ष प्राप्त करने की साधना में भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। केवल हमारी भक्ति की व्याख्या थोडी समझने की होती है— स्व स्वरूपानु सन्धानं भक्तिर् इति अभिधीयते।

अपने आत्मस्वरूप का अनुसन्धान, अर्थात चिन्तन जाग्रत रखना ही वास्तविक भक्ति है। ऐसी भक्ति मन्दिर में जाकर, या मूर्ति के सामने बैठकर नहीं होती, उसका अखण्ड चिन्तन चालू रहना चाहिए। आत्मा अपना अमल स्वरूप पहचान कर अपने ईश्वरी तत्त्व के साथ मिला दे और वह मिलन अखण्ड स्थिर रहे, वही उत्तम भक्ति है। (संस्कृत में भज और युज दो धातु हैं। दोनों हैं तो भिन्न-भिन्न। लेकिन "मिलन साधना" यह अर्थ दोनों में समान है। इसीलिए भक्ति और योग एक ही बन जाते हैं। सचमुच भक्ति ही योग होने के कारण भक्तियोग ऐसा भिन्न शब्द प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए।

लेकिन लोकव्यवहार में और साधकों की सामान्य भाषा में भक्ति तो द्वैत-मूलक ही होती है। "भगवान परमात्मा अपने स्थान पर विराजमान है। उसके साथ अपना ऐक्य है ऐसा कहना धृष्टता की परमावधि है। सचमुच वह स्वामी है। हम उसके दास हैं। उसके चरणों में बैठकर उसकी पूजा करें, अर्चना करें और यह भक्तिभाव उत्कृष्ट

हो जाये तब अपना सर्वस्व उसके चरणों में अर्पण करें यही सही भक्ति है। यह हुइ द्वैतसम्प्रदाय की भक्ति। समाज में रहने वाले सन्त अपने आप अद्वैतवादी हों या द्वैतवादी अपने चारों ओर अपने भजन में द्वैत का वातावरण ही रखना चाहते हैं। वे कहते हैं, अद्वैतवाद भले सही हो लेकिन उसकी ज्ञानभक्ति तो एक नशा बनता है। उस नशे की दीक्षा समाज को नहीं दी जा सकती । उस ढंग से समाज का अध:पात होने की सम्भावना रहती है। इसीलिए हमारे भजनों मे स्वामी और सेवक का भेद स्थिर रख कर पूजा अर्चना का विस्तार करते हैं।

जो लोग विशिष्ट अद्वैत को मानते हैं उनका मार्ग आसान है। उन्हे मायावाद का आश्रय नहीं लेना पड़ता। वे कहते हैं कि हम द्वैत को वस्तुस्थिति के रूप म स्वीकार करते हैं। और अद्वैत हमारा अन्तिम आदर्श है। द्वैत भक्ति साधना है। अद्वैतभक्ति सिद्धि है। दोनों में हम प्रसन्न रह सकते हैं और प्रसन्न रहते भी हैं।

अब भक्ति अर्थात पूजा, अर्चना, स्तुति, नामस्मरण और गुणगान यही मुख्य भाव जिनके मन मे होता है वे चारों ओर की दुनिया की उपेक्षा कर सकते हैं।

जगत म हम घिरे हुए हैं। जगत का मार्ग निराला है। जगत को भगवान की परवाह नहीं होती, तब हमे जगत की क्यो परवाह होनी चाहिए ? जगत जाये अपने मार्ग पर। हम हमारी भक्ति में लीन रहें। हमारे लिए हमारा मन्दिर, उसके अन्दर की मूर्ति, उस मूर्ति की पूजा और हमारे जैसे भगवद् भक्तो का संग यही हमारी सम्पूर्ण दुनिया। बहुत बहुत तो भक्ति भाव के विशेष सन्तोष के लिए विख्यात तीर्थस्थानों की यात्रा करे। पंढरपुर, द्वारका, मथुरा, बदरी नारायण जगन्नाथपुरी कितने सारे विख्यात स्थान भक्तों ने मशहूर किये हैं। उनकी यात्रा के लिए जायें। रास्ते में जितने मन्दिर मिले उन सभी में पूजा करें रात बिताये और दूसरे भक्तों के संग का आनन्द प्राप्त करें। वही हमारी भक्ति का परम आनन्द है।

ऐसी तीन प्रकार की भक्ति मे बिलकुल भिन्न भक्ति कुछ सन्तो ने अपने लिए पसन्द की है और दुनिया के सामने रखी है।

वे कहते हैं—"द्वैतवाद, विशिष्ट अद्वैतवाद, और अद्वैतवाद तीनों हमे समान रूप मे मान्य हैं। हम जगदीश भक्ति करने के लिए जगत की उपेक्षा करने में नहीं मानते हैं। हमारे चारों ओर यह जो दुनिया फैली हुई है। यह भी भगवान का ही अवतार है। बाकी के अवतार उसके बाद प्रगट हुए होंगे। जगत ही भगवान का आद्य अवतार है। इस जगत की यथाशक्ति यथामति नि:स्वार्थ भाव से शुद्ध सेवा करें।" वही हमारी भक्ति है।

हमारे चारों ओर केवल मनुष्य नहीं पशुपक्षी आदि प्राणी भी हैं। वे सब ईश्वर सृष्टि के अंश होने के कारण हमारे मन ईश्वर ही हैं। उनका दुःख दूर करें। उनकी

उन्नति के लिए सेवा करके उन्हे सन्तोष दे। वही हमारी भगवद्-भक्ति।

समाजसेवा, राष्ट्र सेवा, अकाल आदि सकट दूर करने, स्वराज्य प्राप्त करने के लिए और चलाने के लिए अत्यधिक परिश्रम करना, प्राणिमात्र के प्रति लोगों के मन मे प्रेम जागृत करना, सकटग्रस्तो को बचाना यही मुख्य भक्ति है।

जो सर्वव्यापी ह सबके हृदय मे बैठा हुआ है उसे ही हम विष्णु कहते हैं। (विश अर्थात प्रवेश करना, अन्दर घुसना उस धातु पर से ही विष्णु शब्द बना हुआ है।) ऐसे सर्वव्यापी विष्णु की सही भक्ति तो "पक्षपात रहित सर्वसेवा द्वारा ही हो सकती है।"

गाधी जी जैसे राष्ट्रसेवक विदेश मे जाएँ और वहाँ स्वजनो की सेवा करने के कर्तव्य का अनुभव करे तब वे उस सेवा को छोडकर भगवान की भक्ति करने बैठे तो वह कैसे सम्भव होगा। ? ऐसो के लिए स्वजनो की निःस्वार्थ शुद्ध सेवा ही वैष्णव भक्ति है। ऐसी सेवा करते करते स्व जन और परजन ऐसा भेद मिट जाता है। स्वार्थ, अभिमान भिन्न-भिन्न विकार इन सब दोषों को मिटाये बिना सेवामय जीवन कृतार्थ नही होता। सेवा के आदर्श को स्वीकार करने के बाद उस सेवा के योग्य अपना जीवन बनाते जीवन-शुद्धि का संयम-प्रधान आदर्श अपने आप विकसित होता है।

सेवा के आदर्श को स्वीकार करन के बाद मनुष्य कह नहीं सकता कि. मै सज्जनो की ही सेवा करूँगा। दुर्जनो की सेवा नही करूँगा। वह तो कहेगा कि दुर्जन भी भगवान की कृति है। उनकी दुजनता उनकी कमजोरी है, उनका अज्ञान है। उसे दूर करने की प्रेरणा ही सच्चा भक्तिभाव है।

इस प्रकार निष्काम सेवा, निरपवाद सर्वसेवा करते-करते आत्मशुद्धि अपने आप विकसित होती ह। सदाचारी बने बिना सेवक बना नहीं जाता चारित्र्य ऊँचा न हो तो सेवा करते हुए असेवा हो जाती ह।

इस प्रकार का जीवनचिन्तन चलता हो और उस प्रकार जीवन सेवा-परायण बना हो तभी भक्ति मन में जागृत होती है। वही भक्ति इस भजन में पूर्णतया व्यक्त हुई है। और उसी भक्ति को गांधी जी ने अपनी जीवन-साधना के रूप में स्वीकार किया है।

अन्य लोग भक्ति पर प्रबन्ध लिखें, भक्तिसूत्रों पर भाष्य लिखें; गांधीजी ने नरसैया के इस भजन का स्वीकार करके अपने सेवामय जीवन को ही इस भजन पर का भाष्य बना दिया।

और इसीलिए समाज से मिले इतने साथियो को लेकर समाजसेवा का बड़ा कार्यक्रम जब-जब वे शुरू करते थे। तब सबको साथ लेकर अत्यन्त नम्र बन कर लोकोत्तर उत्साह से यही भजन वे गाते थे और सबको गाने के लिए प्रोत्साहित

करते थे।

इस भजन को अगर सचमुच सम्पूर्ण अर्थ मे समझना हो तो ऐसा विवेचन पढने के बजाय गाधीजी का जीवन-चरित्र ही पढना चाहिए। उससे जो प्रेरणा मिले वही इस भजन का सही और सम्पूर्ण अर्थ है।

फिर भी कुछ लोग गुजराती भाषा जानते हों, सन्त साहित्य के साथ उनका परिचय न हो ऐसे लोगो के लिए इस भजन का अर्थ समझाने का थोडा प्रयत्न करें। (भजन के अर्थ का वितरण करना भी भक्ति का ही एक प्रकार है। वह आनन्द लेना और दिलाने का ही यहाँ उद्देश्य है।) हमारा विश्वास है कि नरसैया भक्त हमारे इस प्रयास को अपने हार्दिक आशीर्वाद देगे।

(२)

विष्णुभक्त उसी को कहा जाये जिसका हृदय इतना कोमल और दयालु हो कि दूसरो का, विशेष करके अनाथ दीन, पिछडे हुए दबे हुए लोगो का दुःख स्वय जाने और अनुभव करे। कुछ लोगो मे ऐसी दयाबुद्धि होती है, प्रेम होता है लेकिन किसी की सेवा करने जाएँ तो तुरन्त "मै कितना बड़ा परोपकारी हूँ ऐसा अभिमान उसके हृदय मे उठे बिना नहीं रहता।) इसीलिए भक्त नरसैया कहता है दूसरो का दुःख देखकर उसे दूर करे फिर भी स्वय ने बडा उपकार किया है ऐसा अभिमान मन मे न लाये।

समाज मे अच्छे बुरे दोनो प्रकार के लोग होते है। उन्हें पहचानना मुश्किल काम नही है। फिर भी सज्जनो की मै स्तुति करूँ और दुर्जनो की निन्दा करूँ ऐसा भेद मन मे न लाकर 'सबको भगवत्प्रत्यय के हृदय मे बसने वाले परमात्मा को पहचानकर उन सभी को नमस्कार करता है।' केवल अपने चारित्र्य मे हीनता या दुर्बलता आने न दे। वाणी शुद्ध रखे। स्त्री पुरुष के विषय मे मन को विकारी न होने दे। इतनी दृढता जिसमे दिखाई दे उसकी जननी— माता सचमुच धन्य है।

सबके प्रति समान दृष्टि रखे धन की तृष्णा प्रतिष्ठा की तृष्णा और स्त्री की तृष्णा तीनो का वह त्याग करे। और परस्त्री के प्रति मन विकारी न हो इसलिए उसे माता समान जाने। व्यवहार मे असत्य न बोले। पराया धन अपना बनाने के लिए हाथ मे उठाये ही नहीं। थोडे मे कहा जाये तो जिस मनुष्य मोह या लोभ से घिर न जाए चारित्र्य जिसके मन मे वैराग्य दृढ है जिस मनुष्य की समस्त भावनाओ मे ईश्वर-भक्ति हमेशा जागृत है और रामनाम ने जिसके हृदय मे स्थान पा लिया है। ऐसे मनुष्य को तीर्थयात्रा पर जाना नही पडता। सारे पुण्यतीर्थ उसके शरीर मे ही बसे हुए होते हैं।

भक्त नरसैंया सक्षिप्त में कहता है, जो मनुष्य लोभरहित है, जिसमें जरा भी कपट नही, और जिसने ह्रदय से काम और क्रोध को दूर किया है। ऐसे भक्त का दर्शन हो तो भी हमारे इकहत्तर कुलो का उद्धार हो जाता है।

(पुराने कवि अपने समाज मे और भाषा मे जो रिवाज चलता हो उसका उपयोग करके ही अपनी बात समझायेगे।

जिस मनुष्य का मन विकारी है, कामवासना पर जिसका सयम नही ऐसे मनुष्य के बारे मे बोलते हुए लोग कहते हैं कि उसका कछोटा ढीला है। काछ अर्थात कछोनी या कछोटा। धोती का वह हिस्सा, जो दो पैरो के बीच से होकर पीछे कमर पर खोस दिया जाता है।

कोई भी मनुष्य चारित्र्य का दृढ सिद्ध हुआ तो लोग कहेगे, "उसके माता-पिता धन्य हो। उमके इकहत्तर कुलो का उद्धार हो गया।"

२४. अखिल ब्रह्मांडमां एक तुं श्री हरि

(राग : आसामाड— झपताल)

अखिल ब्रह्मांडमां एक तुं श्री हरि,
जूजवे रूपे अनन्त भासे,
देहमां देव तुं, तेजमा तत्त्व तुं,
शून्यमा शब्द थई वेद वासे। १
पवन तु, पाणी तु, भूमि तु, भूधग,
वृक्ष थई फूल रह्यो आकाशे,
विविध रचना करी अनेक रस लेवाने,
शिव थकी जीव थयो एज आशे। २
वेद तो एम वदे, श्रुतिस्मृति माख दे--
कनक कुन्डल विशे भेद न्होये;
घाट घडिया पछी नामरूप जूजवाँ,
अन्ते तो हेमनुं हेम होये।
वृक्षमां बीज तुं, बीज मा वृक्ष तुं,
जोऊँ पटतरो, अेज पासे,
भणे नरसैंयों ए मन तणी शोधना,
प्रीत करूँ प्रेमथी प्रगट थाशे।४

*   *   *

इस भजन में उपनिषद् की सुवास है। "सर्वखलु इदं ब्रह्म" यह उपनिषद् की भावना है। उसे ही दुन्यवी वातावरण में भिगोकर यह काव्य बनाया गया है। ईशावास्यं इदम् सर्वम् का वैदिक आदर्श इस भजन में चरितार्थ हुआ है। शून्य से शब्द होता है ऐसा पंचीकरण कहता है। लेकिन कवि उसमें सहज वृद्धि करके कितने सरस काव्य का सर्जन करते हैं। "शून्यमां शब्द थयी वेद वासे।"

ईश्वर तत्त्व एक है, और दुनिया में वह अनेक रूप से प्रगट होता है। पामर लोग उस अनेक के चक्कर में पडकर एक को भूल जाते हैं और इसीलिए जन्म-मृत्यु के चक्कर में फँसते हैं। घाट घडिया पछी नामरूप जूजवाँ, अन्ते तो हेमनुं हेम होयो" सभी साधु सन्त और तत्त्वज्ञ ऐसा ही कहते हैं। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि महत्त्व हेम का अधिक है या हेम के गहनों का ? सोने का केवल टुकडा ही हो तो उसका उपयोग केवल खरीदने-बेचने तक ही होता है। आकार देने के बाद उसी सोने की कीमत दुगुनी या तीन गुना हो सकती है। जैसा आकार।

अगर अनेक में कोई अर्थ ही न होता तो एक ब्रह्म जान बूझकर अनेक क्यों बनता ? कवि खुद ही कहता है, "विविध रचना करी अनेक रस लेवाने, शिव थकी जीव थयो अेज आशे।"

अर्थात एकता में सन्तोष प्राप्त न हो, परिपूर्ण की तृप्ति में रस न उत्पन्न हो इसलिए— पूर्णता की यह अपूर्णता मिटाने के लिए एक को अनेक बनने की इच्छा हुई। अनन्त रूप में अनेक होने पर भी एकता मिटती नहीं है। उसका प्रत्यक्ष अनुभव करने में ही सर्वोत्तम आनन्द छिपा है। इसीलिए एक और अनेक दोनों को समान ही महत्त्व देना चाहिए। अनेक की ओर ध्यान सहसे ही जाता है, और इसीलिए एक का अस्तित्व भूला जाता है। उस दोष को मिटाने के लिए एक मनसा बुद्धि सामने रखें वह महत्त्वपूर्ण है। लेकिन अनेक का इनकार करना, उसका तिरस्कार करना वह योग्य नहीं है। एक भूल को मिटाने के लिए सामने वाली भूल में जा गिरना वह कुछ तत्त्वनिष्ठा का मार्ग नहीं है। कुण्डल कनक का है वह भूल न जाये लेकिन कुण्डल के आकार को तोड डालने की भूल तो करें ही नहीं। कुण्डल के रूप में ही कनक का उपयोग है।

जिस प्रकार कुदरत में वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष ऐसी लीला चलती है, उसी प्रकार एक से अनेक और अनेक में फिर एक ऐसे परिवर्तन और विपरिणाम चलने ही चाहिए, और दोनों तत्त्वों को समान रूप से पहचानना और चाहना चाहिए। बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है। उसके पीछे जो तत्त्व छिपा हुआ है, उसी तत्त्व के कारण उस वृक्ष पर अनेक बीज लगते हैं। इस तत्त्व को प्रेमतत्त्व कहते हैं।

एक और अनेक के बीच का जो सनातन सम्बन्ध है उसी का नाम प्रेम है। उसी प्रेम के कारण ही एक के अनेक होते हैं, और उस प्रेम की साधना मे ही अनेक में पिरोया हुआ एक का तत्त्व प्रतीत होता है। । "प्रीत करूँ प्रेम थी प्रगट थाशे।" प्रीत की प्रतीति वही साधना का सही फल है।

जूजवे - भिन्न भिन्न

कनक हेम, सोना

भूधर - पहाड

२५. नारायणनुं नाम ज लेतां वारे तेने तजीए रे

(राग : खमाज— ताल : धुमाली)

नारायणनु नाम ज लेतां वारे तेने तजीए रे;
मनसा वाचा कर्मणा करीने लक्ष्मीवरने भजीए रे।— ध्रु.
कुलने तजीए, कुटुम्बने तजीए, तजीए मा ने बाप रे;
भगिनी सुत दारने तजीए, जेम तजे कंचुकी साँप रे। १
प्रथम पिता प्रह्लादे तजियो, नव तजियुं हरिनुं नाम रे,
भरत शत्रुघ्नं तजी जनेता, नव तजिया श्री राम रे। २
ऋषि-पत्नीए श्री हरिकाजे,तजिया निज भरथार रे;
तेमां तेनुं कंईये न गयुं, पानी पदारथ चार रे। ३
व्रज-वनिता विठ्ठलने काजे, सर्व तजीने चाली रे;
भणे नरसैंयो वृन्दावनमाँ, मोहन साथे महाली रे। ४

* * *

कहा जाता है कि मीरा ने तुलसीदास से पूछा कि "रिश्तेदार ईश्वरभक्ति करने मे बाधारूप हैं, क्या करना ?" तुलसीदास ने एक अच्छा भजन लिखकर उत्तर दिया— जाके प्रिय न राम वैदेही, सो छाँडिये कोटि वैरी सम, यद्यपि परम्-सनेही"— वही भाव नरसिंह महेता ने इस भजन में व्यक्त किया है। मानो कि एक भजन दूसरे भजन की अनुकृति या रूपान्तर (paraphrase)है।

त्याग-वैराग्य की बातें एक ओर रखें फिर भी कुटुम्बधर्म और समाज-धर्म का विचार करते हुए एक बड़ा प्रश्न मुलझाव के लिए मनुष्य को परेशान करता है।

खून के रिश्ते को पहचानना या आत्मिक सम्बन्ध को ? एक ओर भाई है,

दूसरी ओर मित्र है। ऐसे प्रसंग पर मित्र के प्रति का सम्बन्ध आध्यात्मिक होता ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता और भावना और आकर्षण जब एक ओर खिंचते हैं तब खून का रिश्ता और कर्तव्य-सम्बन्ध कई बार फीका पडता है। लेकिन जब मनुष्य को अपना मिशन मिलता है तब-तब राष्ट्रसेवा प्रधान गिनी जाए या पारिवारिक फर्ज़ प्रधान माना जाये'' यह प्रश्न मनुष्य को खूब परेशान करता है। जो प्राकृत मनुष्य है, इसके सामने व्यापक धर्म का प्रश्न नहीं है वह स्वाभाविक भावना से पारिवारिक धर्म के पक्ष मे बह जायगा। लेकिन ईश्वर ने जिसे हृदय की प्रधानता प्रदान की है, बुद्धि की व्यापकता जिसे प्राप्त हुई हे और जिसे अपने समस्त जीवन के कर्तव्य का ख्याल हुआ है, अर्थात जिसे व्यापक मिशन मिला है वह पारिवारिक धर्म को अमुक मर्यादा तक ही मान सकता है और सम्भाल सकता है। व्यक्तिगत स्वार्थ के वश होकर अगर वह मनुष्य बडे कुटुम्बधर्म का त्याग करे तो वह पतित माना जायेगा। लेकिन अगर समाज के लिए, धर्म के लिए या किसी सर्वोच्च आदर्श के लिए वह कुटुम्ब धर्म को गौण माने तो वह योग्य ही है। लेकिन वहाँ भी वह स्वैर आचार नहीं कर सकता। नयी भूमिका अपनायी इसलिए उसके साथ नया धर्म भी आया ही। नये धर्म का नया व्यापक परिवार होता है। उस परिवार के प्रति उसका नया कर्तव्य खडा होगा। उसका वह त्याग नही कर सकता।

जिस प्रकार लडकी शादी करके मायके के साथ सम्बन्ध से मुक्त होती है लेकिन उसके साथ पति, ससुर, सास, देवर, ननद इत्यादि लोगों के साथ उसका सम्बन्ध बँध जाता है, उसी प्रकार कुटुम्ब धर्म को जिसने शिथिल बनाया उस पर अपने आदर्शानुसार अमुक आध्यात्मिक जिम्मेवारी आती ही है और नये लोगो के प्रति नये श्रेष्ठधर्म की भावना भी उत्पन्न होती है। उसका व्यापक कुटुम्ब धर्म बँधता है। इस प्रकार का कर्तव्यक्षेत्र व्यापक गहरा और आध्यात्मिक बनता है।

भगवान विष्णु को मनसा, वाचा, कर्मणा जिसने आत्मार्पण किया है उसे कुल, माता पिता भगिनी सुत दारा सब छोडने का अधिकार है। जिसे अन्दर से नई चमडी मिली उसे पुरानी कचुली का त्याग करना ही पडता है। वह सर्प न्याय यहाँ लागू होता है।

ये सब सन्त पुराणो मे दृष्टान्त उद्धृत करते है। प्रह्लाद भरत, शत्रुघ्न, ऋषिपत्नी, ऐसे दृष्टान्त तो हैं ही। तुलसीदास ने प्रह्लाद विभीषण, भरत, बलि इत्यादि दृष्टान्त उद्धृत किये है। लेकिन दोनो मे उद्धृत किया गोपियो का दृष्टान्त सबसे महान माना जाता है। आत्मसमर्पण अगर गोपियो के जैसा हो तभी वह आदर्श माना जाता है। भक्ति सूत्र मे भी परपुरुष के साथ तदाकार होने के दृष्टान्त को ही आदर्श माना गया है। सामान्य स्थिति में मनुष्य दुनिया के साथ परिणीत होता है, उस सम्बन्ध

का इनकार करके आदर्श के साथ, परात्पर-पुरुष-परब्रह्म के साथ सम्बन्ध जोडना ही जीवन का सार्थक्य माना जाता है।

जर्मन कवि गेटे ने एक स्थान पर कहा है कि विभूतिमान पुरुष किसी का मित्र नही बन सकता। उनके साथ जिनका सम्बन्ध जुडा हो वे लोग विभूतिमान पुरुष के प्रति स्वामी भक्ति अवश्य बनाये, लेकिन वे लोग उस स्वामीभक्ति के बदले मे सामने से स्नेह की वफादारी माँगे तो भूल करते है।

गेटे ने मामान्य वस्तुस्थिति ही बताई है। उसे धर्म नहीं कहा जा सकता।

पूज्य बापूजी कहते है कि सच्चा मोक्षार्थी मनुष्य किसी का भी मित्र नहीं बन मकता या सारे जगल के साथ ही उसकी मैत्री होती है।

मद्रास में जेक टेगटि का एक शिष्य मिला था। वह कहता था, "There are no friends but accomplices "

मनुष्य सम्बन्ध जोडे नही, लेकिन अपने आप ही बँध जाये उसके प्रति वफादार रहना ही मानवी धर्म है।

२६. हरिनो मारग छे शूरानो

(राग : छाया खमाज— तीन ताल)

हरिनो मारग छे शूरानो, नहि कायरनुं काम जोने,
परथम पहेलुं मस्तक मूकी, वळती लेवुं नाम जोने। ध्रु.
सुत वित दारा शीश समरपे, ते पामे रस पीवा जोने;
सिन्धु मध्ये मोती लेवा माहीं पड्या मरजीवा जोने। १
मरण आंगणे ते भरे मूठी, दिलनी दुग्धा वामे जोने;
तीरे ऊभा जुए तमासो, ते कोड़ी नव पामे जोने। २
प्रेमपन्थ पावकनी ज्वाळा, भाळी पाछा भागे जोने;
मांही पड्या ते महासुख माणे, देखनारा दाझे जोने। ३
माथा साटे मोंघी वस्तु, सांपडवी नहीं सहेल जोने;
महापद पाम्या ते मरजीवा, मूकी मननो मेल जोने। ४
राम-अमलमां राता माता, पूरा प्रेमी परखे जोने,
प्रीतमना स्वामीनी लीला, ते रजनीदन नरखे जोने। ५

*　　　*　　　*

गुजराती सन्त कविया मे वेदान्ती भक्त के रूप मे प्रीतम का स्थान है।

कवि प्रीतम कहता है कि हरि भक्त बनना, सन्त बनना, वह कुछ आसान काम नहीं है। कविता लिखने आइ और भजन गाने आये उसमे किसी सन्त-मन्डली में प्रवेश नहीं पा सकते। अध्यात्ममार्ग मे प्रवेश करने के बाद ही जो कोई सर्वस्व त्याग देने को तैयार है वही सन्त बन सकता है।

इसीलिए ही कवि ने इस भजन मे "मरजिया" शब्द का दो दफा प्रयोग किया है। "कदम-कदम पर" मृत्यु का जोखिम जो झेलने को तैयार है जोखिम जिसके लिए हमेशा का खेल है। ऐसे लोगो का ही यह मार्ग है ऐसा वह कहता है। समुद्र म गोते मारकर, हर प्रकार का जोखिम झेलकर, जो मनुष्य मोती ले आता है उसे ही सामान्यतया मरजिया कहते है। मृत्यु का जोखिम निरन्तर झेलते हुए जिसको जीवन मे रस मिलता है। वह "मरजिया" ऐसा कह सकते हैं।

भजन का अर्थ सरल है। भगवान की भक्ति करने का मार्ग या जीवनक्रम शूर क लिए हो सकता है। कायर वहाँ टिक नहीं सकता। क्योंकि यहाँ पहले अपना मस्तक अर्पण करने का होता है। उसक बाद ही भगवान का नाम लेने का अधिकार प्राप्त होता है। अपने पुत्र सम्पत्ति, पत्नी और। अपना सिर भी जो समर्पण करे वही शूर, हरिसेवा का रस पा सकता है। मानो समुद्र से मोती पाने के लिए मरजिया ही कूद पडे हैं। उसके दिल मे हॉ, ना, ऐसी शका रहती ही नही है। जोखिम उठाकर समुद्र मे कूद पडे उसे ही मोती मिलते है। किनारे पर खडे रहकर जो केवल तमाशा देखता है उसे मोती तो क्या एक कोडी भी मिलने वाली नहा है।

प्रेमपन्थ (भक्ति का मार्ग) वह सचमुच अग्नि की ज्वाला है। कायर उसे देखते ही वापस लौट आता है। उस ज्वाला मे जो समा गया है वह तो उसमे महासुख पाता है। दूर खडे रहकर देखने वाले को ही वह ज्वाला जलाती है।

अत्यन्त मूल्यवान वस्तु जो जीवन को जोखिम मे डालकर ही (मस्तक देने पर ही) मिल सकती है। उसे आसानी से पाया नही जा सकता। मन की सारी दुर्बलता और सारी हीनता जिसने दूर की और जो किसी भी क्षण पर मृत्यु का जोखिम उठाने को तैयार है उसे ही महापद प्राप्त होने वाला है। भक्त प्रीतम कहता है कि जो साधक रामनाम के नशे मे अलमस्त बना है उसे ही सचमुच पूर्णप्रेमी के रूप में पहचानना चाहिए। वह मनुष्य दिन रात भगवान की लीला देखता रहता है। सामान्य मनुष्य वह हिम्मत नहीं कर सकता।

२७. एक ज ए अभिलाष

(राग : भैरवी या आसावरी— ताल : दीपचन्दी)

एक ज ए अभिलाष
मम हृदये तव वास।— एक ज.
ना चाहुं जग कीर्ति मेवा, न वैकुण्ठे वास
सिद्धि मळो, जीवन बलि होवा, ए अन्तरनी आश।— एक ज.
सफळ विफळनी ना मुज परवा, परवा हरि-जन-सेवा,
महा आंधीमां रहो निरन्तर तुज चरणे विश्वास।— एक ज.

* * *

इस छोटे से मौलिक भजन में कविवर रवीन्द्रनाथ का वातावरण स्पष्ट दिखाई देता है। पुराने सन्तों की शैली का अनुकरण है । लेकिन कवि आधुनिक है इतनी तो ''हरि-जन-सेवा'' इन शब्दों पर से कल्पना की जा सकती है।

भजन की रचना की है हमारे अमृतलाल नाणावटी ने।

कवि में श्रद्धा है। सेवा में सिद्धि प्राप्त हो ही नहीं उसका डर उसे नहीं। सिद्धि मिले तो वाह वाह ! वरना जीवन का बलिदान देने की तैयारी है ही। दोनों में श्रद्धा समान है। कवि स्वर्गवास तो चाहे ही नहीं। वैष्णवों को मिलते -वैकुन्ठवास'' की भी उसे इच्छा नहीं है। दुनिया में कीर्ति हो वह तो बालकों के लिए मिठाई जैसी वस्तु है। ऐसे मेवे की चाह कवि को जरा भी नहीं। हाथ से हरि-जन-सेवा हो उतनी ही परवाह उसे है और अगर भाग्य मे विफलता आनेवाली हो तो बड़ी-से-बड़ी आँधी में भी भगवान के चरणों में विश्वास सदा रहे, वह विभक्त न हो। इतनी एक ही अभिलाषा वह व्यक्त करता है।

भगवान से वह कुछ नहीं माँगता। केवल अपनी अभिलाषा उसे सुनाता है। और वह भी अभिलाषा किसकी ? ''मम हृदये तव (भगवान का) वास'' रहे और महासंकट के समय भी ''तुज चरणे विश्वास'' अटल रहे।

सारे भजन में वेदान्ती आस्तिकता है और निष्कामभाव की साधना है।

भजन का राग हर समय गाने योग्य है।

२८. एक ज दे चिनगारी

(राग : भैरवी-- ताल : दीपचन्दी)

एक ज दे चिनगारी महानल !
एक ज दे चिनगारी। १— ध्रुव.
चकमक लोढूं घसतां घसतां
खरची जिन्दगी सारी,
जामगरीमां तणखो न पड्यो,
न फळी मेहनत मारी। २
चाँदो सळग्यो, सूरज सळग्यो,
सळगी आभ-अटारी;
ना सळगी एक सगड़ी मारी,
वात विपतनी भारी। ३
ठन्डी मां मुज काया थथरे
खूटी धीरज मारी;
विश्वानल हुं अधिक न मागुं,
मागुँ एक चिनगारी। ४

* * *

सत्याग्रह आश्रमवाले हरिहर भाई भट्ट की यह कृति है। एक ही कृति से गुजरात में वे कवि के रूप में अचानक प्रसिद्ध हुए। "The hound of heabere" अंग्रेजी मे कविता का इतिहास भी कुछ ऐसा ही है।

मुझे कुछ ख्याल रह गया है कि उनकी यह कविता लिखने के बाद करीबन ऐसे ही भाव की एक अंग्रेजी कविता हरिहर भाई के देखने में आई और उन्हें यह कविता मिलने के साथ एक ही विचार भिन्न देश के और भिन्न काल के कवियों को स्वतंत्रतया आ सकते हैं। उसके उदाहरणरूप किसी गुजराती मासिक में वह प्रगट की थी।

इस कविता के बारे में इसके पहले मैंने कहीं लिखा भी है। यह कविता उत्तम है, सुन्दर है।

जीना अर्थात गरमी नित्य बनाये रखना, वह महान भौतिक सत्य है। भोजन लेते हैं, कपडे पहनते हैं, गुफा या महल के अन्दर रहते हैं, शरीरश्रम करते हैं। ये सारी प्रवृत्ति शरीर की उष्णता बनाये रखने के लिए ही है। सूरज की धूप कम मिले तो तेल, घी, जैसी चरबी खाकर मनुष्य अपनी उष्णता बनाये रखता है। कपडों के अभाव में ठण्ड सही न जाती हो तो वैरागी शरीर पर भस्म मलते हैं और विलायत

के भिखारी सारी रात चलकर अपनी उष्णता बनाये रखते हैं। भौतिक क्षेत्र मे ऊष्मा के बिना मनुष्य चलता नहीं है। इम ऊष्मा के आदि-दाता अधिष्ठाता श्री सूर्यनारायण है। इमीलिए ही वैदिक ऋषिने कहा- "सूर्य आत्मा जगत: तस्थुशश्च" चराचर सृष्टि की आत्मा सूर्य है।"

दूसर एक कवि ने सूर्योदय के दर्शन के साथ ही उद्गार निकाले: "प्राण: प्रजानम् उदयंति एष सूर्य:।"

प्रेम के क्षेत्रमें भी उष्णता की उतनी ही आवश्यकता है। जुदाई वह ठण्ड है। मृत्यु का मार्ग है। उससे दूर रहने के लिए प्रेम द्वारा मनुष्य एक-दूसरे मे ओतप्रोत होते हैं। जिस प्रकार भौतिक क्षेत्र मे शरीरश्रम से उष्णता बनाई रखी जा सकती है। उसी प्रकार यहाँ त्याग, सेवा, आत्मार्पण और बलिदान से प्रेम की उष्मा बढाई जा सकती है। इस प्रेम की विश्वमूर्ति प्रत्यक्ष भगवान है। उस प्रेमसूर्य को कवि ने महानल के नाम मे मम्बोधित किया है। क्योंकि सूर्य भी उसकी एक विभूति ही है। उस प्रेम की एक चिनगारी भी अगर मनुष्य जीवन की जायगी मे पडे तो जीवनरूपी बन्दूक लोकोत्तर कार्य करने को समर्थ बन जाये। वह चिनगारी मिल जाये तो मनुष्यजीवन कृतार्थ हो गया। प्रार्थना करनी हो तो धन, दौलत, पुत्र, पौत्र, सामर्थ्य, प्रतिष्ठा, कीर्ति या राजमिहासन ऐमी कोई भी दुन्यवी मुविधाएँ या न्यामतो के लिए क्यों करें ? वह एक चिनगारी मिली, जीवन मे प्रेम का प्रादुर्भाव हुआ तो जीवन कृतार्थ हुआ ही।

२९. हरिने भजताँ हजी कोईनी लाज जती नथी जाणी रे

(राग : आमा)

हरिने भजतां हजी कोईनी लाज जती नथी जाणी रे।
जेमी सुरता शामलिया साथ, वदे वेद वाणी रे। टेक
व्हाले उगार्यो प्रह्लाद, हरणाकंस मार्यो रे;
विभीषण ने आप्युं राज्य, रावण संहार्यो रे। १
व्हाले नरसिंह मेहताने हार, हाथोहाथ आप्यो रे;
ध्रुवने आप्युं अविचळ राज, पोतानो करी थाप्यो रे। २
व्हाले मीरां ते बाईनां झेर, हळाहळ पीधां रे;
पांचाळीनां पूर्यां चीर, पांडव काम कीधां रे। ३
आवो हरि भजवानो लहावो, भजन कोई करशे रे,
कर जोड़ी कहे प्रेमळदास, भक्तोनां दु:ख हरशे रे। ४

*　　　*　　　*

कल शाम को यह भजन गाया गया तब से उसके असर के नीचे ही हूँ। भाषा और भाव दोनों दृष्टि से ये मेरे प्रिय भजनों में मे एक ही है। इसका भाव सीधा-सीधा बालबोध है। इसकी श्रद्धा भी बालबोध भोली ही है। पुराण के प्रसंगों को छाँटकर इसमे सिद्ध किया है कि वेदकाल से मीरा और नरसिंह के समय तक भगवान ने स्वय आकर भक्तो के दु:ख दूर किये हैं। भगवान भक्त के दु:ख हरते हैं। उनके काम अपने आप करते हैं, और प्रत्येक समय पर उन्हें बचा लेते हैं। ऐसी श्रद्धा से यह भजन लिखा गया है। फिर भी सीधा अर्थ लेकर न चलें।

हरि को भजते हए किसी की लाज अभी तक नहीं गयी इसका अगर सही अर्थ हो तो वह इतना ही है कि जो मनुष्य दृढता से ईश्वर पर निष्ठा रखता है, वह मनुष्य चाहे जितने भारी संकट आये तो भी चारित्र्य भ्रष्ट नही करता। दु:ख मे बचाने के लिए अन्तिम पल तक भगवान दौड कर आते ही हैं, यह केवल कवि की भावना है। लोगों को भक्ति के मार्ग पर खींचने के लिए लोगो के सामने रखा गया प्रलोभन "रोचनार्था फलश्रुति:" है। उसके पीछे निरपवाद सत्य है ही, अनुभव है ऐमा मानने का कारण नहीं है।

मीरा ने जहर पिया लेकिन उमका असर न हुआ इसलिए मीरा भक्त, और सोक्रेटीम ने जहर पिया और वह मर गया। इसलिए वह कम धर्मनिष्ठ या वह भक्त ही नही, ऐसा कोई कह सकता है ? हिरण्यकश्यप ने मारने के अनेक प्रयत्न किये फिर भी प्रह्लाद मरा नही वह भक्ति की महिमा, और ईमामसीह क्रूस पर मर गये वह क्या भक्ति की विफलता ?

सच्चे भक्तवीरो के लिए काव्यमय आश्वासन की आवश्यकता नही रहती है। वे भगवान के साथ शर्त लगाते ही नही। महाभारत मे धर्मराज ने कहा हे कि सदाचार और ईश्वरनिष्ठा के बदले मे मुझे सुख मिले— राज्य मिले— ऐसा कुछ भी मैं माँगता नहीं हूँ, ऐसी अपेक्षा भी नहीं। मेरा स्वभाव है, मेरे हृदय में सन्तोष है, इसलिए ही में भगवान की भक्ति करता हूँ ओर सदाचार से चिपका रहता हूँ।

ऐसे भजनों से भोले लोगो को लगता है कि भगवान की भक्ति करेंगे तो सारे संकट दूर होंगे, लेकिन अनुभव तो हमेशा ऐसा नहीं होता। फिर तो केवल आदत के मारे श्रद्धा बनी रहती है या मिट जाती है।

मनुष्य को लगना चाहिए कि भक्ति में आनन्द है, हृदय का ममाधान है। चारित्र्य की दृढ़ता है और वातावरण पवित्र बनता है। भक्ति के बल पर मनुष्य इन्द्रियों पर विजय पा सकता है और इससे चारित्र्य की दृढता बढती है। भक्ति का फल सत्त्वरक्षा और आत्मनिष्ठा ही है। दूसरे फल मिले या न मिले वह केवल अकस्मात् है।

सुरता = लगन, ध्यान
हरणाकस = हिरण्यकश्यप या हिरण्यकशिपु

३०. जीवन जव सुकाई जाय

जीवन जव सुकाई जाय
करुणा वर्षन्ता आवो ।
माधुरी मात्र छुपाई जाय
गीत-सुधा झरन्ता आवो ।
कर्मनाँ ज्यारे काळाँ वादळ
गरजी गगडी ढाँके सहु स्थल
हृदय-आंगणे, हे नीरव नाथ ।
प्रशान्त पगले आवो ।
मोटुँ मन ज्यारे नानुँ थई
खूणे भराये ताळुं दई,
ताळुं तोड़ी, हे उदारनाथ ।
वाजन्ता गाजन्ता आवो ।
काम क्रोधना आकरां तूफान
आंधळां करी भुलावे भान
हे सदा जागन्त । पाप धुवत ।
वीजळी चमकता आवो ।

* * *

कविवर रवीन्द्रनाथ का यह भजन मूल बंगाली मे और उसके गुजराती भाषांतर मे दोनो रूप से आया है। जो भजन केवल गुरु पर या भगवान पर सब कुछ छोड़कर अकर्मण्यता को प्रोत्साहन देते है वे हमे पसंद नही। क्योंकि विशुद्ध भक्ति-भाव को वे प्रोत्साहन नहीं देते। उसके पीछे की श्रद्धा या निष्ठा आलस्य से भी उठी हुई हो, लेकिन रविबाबू के इस भजन में ऐसा नहीं है।

हम जीवन शुद्ध, समृद्ध और समर्थ बनाने का अखन्ड प्रयत्न करते हैं। लेकिन कई बार उसमें हार जाते हैं। ऐसे समय ऐसी भक्ति भगवान के चरण पर नम्र बनकर प्रार्थना जरूर करें, कि हे भगवान । जब मेरा जीवन सूख जायेगा। और आशा निराशा को अवकाश भी न रहे। ऐसे समय भगवान, तुम्हारी दया, तुम्हारी

करुणा की वर्षा करती हुई मेरे हृदय में पहुँच जाये। हृदय में जब सूखा अकाल फले तब भक्त का हृदय प्रेम-वर्षा की ही याचना करे न ? उस प्रकार यह याचना है।

हमारे जीवन मे भलाई-बुराई दोनों होती हैं। ऐसा सब कुछ मिलकर जीवन बनता है। वह तो चलेगा ही लेकिन कभी तो जीवन की मधुरता ही गायब हो जाती है। ऐमे समय उस सूखेपन को दूर करने का कोई भी साधन हमारे पास नहीं रहता। एसे समय "भगवान ! भावना और संगीत से सभर ऐमा गीत-सुधारस बनकर आओ।"

सारा भजन इसी भाव को प्रगट करता है।

जीवन अर्थात केवल चिन्तन या कल्पना नहीं। जीवन अर्थात कृति। जीवन अर्थात कर्म। वह कर्म जब प्रचण्ड बनकर हृदय के सारे प्रान्त को ढक देता है, तब उस कर्म को भी परास्त करने के लिए हे जीवननाथ ! अपने शान्त कदम बढ़ाकर मेरे हृदय पर अधिकार पा लेना।

मन जब कृपण बनकर एक कोने में पडा रहा है तब हे उदारनाथ ! मेरे हृदय का दरवाज़ा खोलकर (या तोडकर) राजा जिम प्रकार अपने राज्य पर अधिकार पाकर विराजे, उसी प्रकार हे भगवान ! राजसमारोह मे तुम प्रवेश करना।

और तूफानी वासनाएँ धूल उडाएँ और उम धूल मे मन को अन्धा बना दे, तब हे अखण्ड जागरूक पवित्र भगवान ! होश खोये हुए मेरे मन मे बिजली का रुद्र प्रकाश फैलाते हुए आ जाओ।

थोडे मे हे भगवान ! मै जब मेरी साधना मे हार जाऊँ, मेरे हृदय मे मूरखापन और दारिद्र्य फैल जाये और दुन्यवी कर्म ही मेरे पर अधिकार पाले तब मेरे हृदय का राज्य तुम्हारा ही है। यह जानकर अधिकार पाने के लिए तुम्हारी पूर्णशक्ति के साथ आ जाओ।

नव जन्म

३१. प्रेमळ ज्योति तारो दाखवी*

(राग : मांड— ताल : दादरा)

प्रेमळ ज्योति तारो दाखवी, मुज जीवन-पन्थ उजाळ।— ध्रुव.

* Lead Kindly Light का भावानुवाद।

दूर पड्यो निज धामथी हुँ ने घेरे घन अंधार,
मार्ग सूझे नव घोर रजनीमां, निज शिशुने सम्भाळ,
मारो जीवन पन्थ उजाळ। १
डगमगतो पग राख तुं स्थिर मुज; दूर नजर छो न जाय,
दूर मार्ग जोवा लोभ लगीर न, एक डगलुं बस थाय,
मारे एक डगलुं बस थाय। २
आज लगी रह्यो गर्वमां हुँ ने मागी मदद न लगार,
आप-बळे मार्ग जोई ने चालवा हाम धरी मूढ बाळ,
हवे माँगुँ तुज आधार। ३
भभक भर्या तेजथी हुँ लोभायो, ने भय छतां धर्यो गर्व,
वीत्यां वर्षोने लोप स्मरणथी स्खलन थयां जे सर्व,
मारे आज थकी नवुं पर्व। ४
तारा प्रभावे निभाव्यो मने प्रभु आज लगी प्रेम भेर,
निश्चे मने ते स्थिर पगलेथी चलवी पहोंचाडशे घेर,
दाखवी प्रेमल ज्योतिनी सेर। ५
कर्दमभूमि कळण भरेली, ने गिरिवर केरी कराड,
धसमसता जळ केरा प्रवाहो, सर्व वटावी कृपाळ,
मने पहोंचाडशे निजद्वार। ६
रजनी जशे ने प्रभात ऊजळशे, ने स्मित करशे प्रेमाळ,
दिव्यगणोनां वदन मनोहर मारे हृदये वस्यां चिरकाळ,
जे में खोयो हतां क्षणवार। ७

* * *

"प्रेमल ज्योति तारा दाखवी" इस भजन के बारे में आश्रम भजनावलि में मैंने लिखा ही है कि इसाई अंग्रेजी भजन Lead kindly light का यह अनुवाद श्री नरसिंहराव दिवेटिया ने किया है।

गाधीजी ने जब दक्षिण अफ्रीका में सामूहिक जीवन जीने का प्रारम्भ किया तब रोज शाम को प्रार्थना चलती थी। उसमें उनके प्रिय अंग्रेजी भजन भी गाये जाते थे। उनमें से उन्हें जो भजन अत्यन्त प्रिय था उसका गुजराती अनुवाद हमेशा के लिए भारत लौटने के बाद गांधी जी ने अनेक कवियों से मँगवाये। उसमें यह अनुवाद उन्हे सबसे अच्छा लगा।

और सचमुच भाव, भाषा और राग सभी दृष्टियों से यह भजन इतना सुन्दर बना है कि अनुवाद जैसा तो लगता ही नही। और गांधीजी का मँगवाया हुआ और पसन्द किया हुआ यह एक केवल अनुवाद ही है। यह जानने के बाद भी इस

गुजराती भजन की मौलिकता हमारे मन में जरा भी कम नहीं होती। ऐसा लगता है कि नरसिहंराव अपने ही हृदय के उत्कट भाव इसमें खाली कर रहे हैं। केवल अनुवादक गा ही नहीं सकते कि "मुज जीवन पन्थ ऊजाळ" और "मारे आज थकी नवुं पर्व"। साधक के सन्तोष के ये अधिक स्वतन्त्र वचन केवल अनुवाद की कलम से उतरे ही नहीं होते।

गांधीजी के कारण मैं गुजरात में रहने आया, तब आश्रम और विद्यापीठ के काम में मेरा इतना सारा समय चला जाता था कि श्री नरसिंहराव भाई से मिलना अधिक न बना। फिर भी उनका साहित्य मैंने पढ़ा था। उनकी विद्वत्ता, साहित्य भक्ति और चारित्र्य के लिए मेरे मन में आदर था ही । लेकिन "Lead kindly light" का यह अनुवाद पढ़ा और सुना तब भक्त नरसिंहराव को मैं पहली बार ही पहचान सका ! और प्रथम प्रत्यक्ष परिचय के समय जब मैंने उनसे कहा कि "हम हृदय से अधिक निकट आये हैं।" तब उसका एक विशेष कारण यह भजन ही था।

महाराष्ट्र की सन्त परम्परा के साहित्य से, वहाँ की सारी प्रजा फायदा उठा रही है। उसमें न्याय मूर्ति रानडे और पन्डितवर भाण्डारकर जैसे थोड़े लोग प्रार्थना समाजी उनकी धार्मिक भावना के लिए आज के सन्त सम्प्रदाय में विशेप आदर नहीं है। विलायत के सनातनी ईसाइयों मे अलग हुए, युनिटेरियन चर्च के लोगों के जैसे ही ये सुधारक भक्त। उन्हें हमारे सन्तों की वाणी का उपयोग करने का क्या अधिकार ? ऐमा कहने'वाले लोग भी बचपन में मैंने देखे थे।

बंगाल मे ब्रह्मसमाज, और पश्चिम भारत में प्रार्थनासमाज, ये हमारी सन्त मण्डली के नये सुधारक। हमारे सनातनी के मन में उनके लिए आदर नहीं है। लेकिन मेरे मन मे बचपन से ही इन लोगो के प्रति आदर के साथ भक्तिभाव पैदा हुआ था। परिणामस्वरूप जब-जब बम्बई जाता तब, वहाँ के प्रार्थना समाज में साप्ताहिक प्रवचन सुनना छोडता नहीं था। नरसिहराव भाई "गुजरात के प्रार्थना समाजी और ब्रह्मसमाजी" जरूर। इसलिए उनके लिए आत्मीयता जाग्रत होते देखने लगी। हम जब जब मिलते तब आत्मीयता का वातावरण तुरन्त जाग उठता। पू बापू जी को ये भजन पसन्द आया उसकी भी धन्यता का मैंने अनुभव किया। और मुझे तो इस भजन में हमारे तुकाराम का हृदय मिला। वह तो विशेष।

प्रत्येक साधक अपने जीवन के उत्कर्ष के लिए दिन-रात जागरूक रहकर प्रयत्न करता रहेगा ही। जीवन का अनुभव जैसे-जैसे गहरा होता जाये वैसे आदर्श भी ऊँचा होता जाता है। और उसके अनुसार अपनी साधना अधूरी है। उसका अनुभव होने से मनुष्य नम्र बनता जाता है। प्रारम्भ के दिनों का "आत्मविश्वास" वह केवल गर्व ही था। ऐसा लगने से साधक पछताता है और शरण जाने में ही अच्छाई है। यह वृत्ति उसमें उत्कट होती जाती है।

"आज लगी रह्यो गर्वमाँ हुँ, ने मागी मदद न लगार,
आप-बळे मार्ग जोई ने चालवा हाम धरी मूढ बाळ
हवे मागुं तुज आधार।

यही भाव मूल भजन मे मुख्य है। और वह सुन्दर ढग से गुजराती मे उतर आया है। "भय छना धर्यो गर्व" इसलिए ओर सर्व स्खलनो के लिए साधक पछता ा है। वही उसके लिए नया पर्व है। अब सारा आधार भगवान की प्रेमल ज्योत पर है। "उस ज्योति के प्रभाव ने ही आज तक मुझे निभाया। बच गया उसमे मेरी बहादुरी नही थी। अब पूर्ण शरण जाग्रत हुआ है। अहकार "नष्ट हुआ है और ईश्वर कृपा पर का विश्वास दृढ हुआ है। अब भगवान स्थिर कदम से घर पहुँचायेगा" उसका निश्चय हुआ है। यही इस प्रार्थना भजन का आस्तिक सुर है। प्रेमल ज्योत प्रत्यक्ष 'माँ' ही है। निज शिशु को सम्भालेगी वही विश्वास सारे भजन मे भरा हुआ है। ऐसे विश्वास के साथ चली हुई साधना मे आगे का एक कदम देखने को मिले तो काफी है।

मूल भजन मे (और अनुवाद मे भी) कवि भले कहे "आज लगी रह्यो गर्वमाँ हु और थोडी-सी भी मदद माँगी नही उसमे बचपन की मूढता ही थी लेकिन सच बात तो यह है कि ऐसे उत्कट स्वप्रयत्न के छिछलपन का अनुभव करने के बाद ही आत्मसमर्पण उत्कट होता है। भगवान तो उस समय भी मार्ग दिखाने की कृपा करता ही था। और आज भी उस मार्गदर्शन का काम करता ही होगा। उस समय का भक्तिभाव छिछला था। अब उतना ही कि उसमे स्वार्पण की गहराई आ सकी है।

अब दृढ विश्वास है कि तुम्हारी प्रेमल ज्योति सारे सकट मे मुझे पार उतारेगी, और मुझे सुख रूप मेरे द्वार पर पहुँचायगी। अब विश्वास है कि रात्रि का अन्त आयगा प्रभात स्वच्छ होगा और भगवान सस्मित वदन से अपना दर्शन देगा। वहाँ भक्तो के दिव्यगण भी प्रसन्न खडे होगे जो तुम्हारा दर्शन एक क्षण के लिए गँवाया था। वह मेरे हृदय मे हमेशा विराजमान होगा।

३२. मंगल मन्दिर खोलो

(राग · भैरवी– तीन ताल)

मंगल मन्दिर खोलो
दयामय ! मंगल मन्दिर खोलो।— ध्रु.

जीवन-वन अति वेगे वटाव्युं,
द्वार ऊभो शिशु भोळो,
तिमिर गयुं ने ज्योति प्रकाश्यो,
शिशुने उरमां लो लो। १
नाम मधुर तम रट्यो निरन्तर,
शिशु सह प्रेमे बोलो,
दिव्य तृषातुर आव्यो बालक,
प्रेम-अमीरस ढोळो। २

जीवन और मृत्यु भगवान के ही दो रूप हैं परमात्मा की विभूतियाँ है। उसमें जीवन मनुष्य की कठिन साधना और कठोर कसौटी है, मृत्यु क्षमावान और परम कारुणिक दया है। मृत्यु के समय मनुष्य को जो वेदना होती है, वह मृत्यु के कारण नहीं, मृत्यु में तो निद्रा के जितना माधुर्य है। जो वेदना होती है वह जीवन के कारण होती है। जीवन अपना अधिकार छोडना नही चाहता और उस लोभ की खींचातानी से वेदना उठती है। मृत्यु के पास धैर्य है। इसलिए वह जीवन को अपने से हो सके उतना करने देता है। जब जीवन हारता है और अपना आग्रह छोडता है। तभी मृत्यु अपना पंख फैलाकर अपनी छत्रछाया के नीचे प्राणी को ले लेता है।

लोग जीवन को सुख स्वरूप मानते हैं, और मृत्यु को महासकट के रूप मे देखते हैं। लेकिन दिन के बाद जैसे रात्रि का स्थान है उसकी उपयोगिता और सौन्दर्य है, इतना ही नही लेकिन वैभव भी है उसी प्रकार मृत्यु मे भी उपयोगिता सौन्दर्य और वैभव है। शायद उसकी उपयोगिता हम तुरन्त न समझ सकते हो। लेकिन मृत्यु की भव्यता और उसकी तृप्ति कर सुन्दरता तो ज़रूर ध्यान मे आनी चाहिए। अधीर मनुष्य उसका अन्दाजा नही लगा सकता वह कुछ मृत्यु का दोष नही है।

थका हुआ मज़दूर विश्राम चाहता है नाच-कूदकर थका हुआ बालक गहरी निद्रा मे सो जाये। पका हुआ फल जमीन मे [illegible]कर नयी यात्रा शुरू करने के लिए वृक्ष माता का सम्बन्ध छोड दे, उसी प्रकार ही मनुष्य का जीवन पूरा करके आसक्त भाव से उसका त्याग करना सीखना चाहिए और नया मौका पाने के अधिकार पत्र रूप मृत्यु का स्वागत करना चाहिए।

अगर मनुष्य के पास धैर्य और प्रसन्नता हो तो उसे इस प्रकार जीना आये, शान्ति और शोभा के साथ जीवन पूरा करना आये और बहादुरी के अन्त में मनुष्य को जिस प्रकार बहुमान का इलकाब या चन्द्रक मिलता है उसी प्रकार मृत्यु की कृतार्थता पाने के लिए वह तैयार रहे।

इस भजन के पीछे उसका इतिहास है। कवि नरसिंहराव दिवेटिया ने अपने बेटे के स्वर्गवास का समाचार सुना तब पिता के हृदय को ठेस पहुँची ही होगी।

लेकिन जीवन-मृत्यु का रहस्य जानने वाला भक्त हृदय दुःख में डूब जाने के बदले गम्भीर बनता है। जीवन और मृत्यु के दयामयी स्वामी भगवान का चिन्तन करते हुए उसका दर्शन पाता है। और फिर अन्धकार के स्थान पर प्रकाश और वेदना के स्थान पर गम्भीर-प्रसन्न संगीत सुनने लगता है। और जीवन-मृत्यु के स्वामी के पास से भक्ति का अमृत माँग लेता है।

जीवन सुखमय हो या संकटमय हो, मृत्यु तो विश्राम देने वाला दयामय दर्शन ही होता है। ऐसी गम्भीर भक्ति के वातावारण में भक्त कवि को यह भजन उदित हुआ है। उसमें दुःख, निराशा, वेदना का लवलेश नहीं है। लेकिन मृत्यु के दर्शन के बाद भगवान के दर्शन की, और चिरशान्ति की प्रसन्नता है। मध्यरात्रि के अन्धेरे के बाद ऊषा का प्रगट किया हुआ प्रकाश है।

ऐसे प्रसन्न गम्भीर वातावरण में भक्त भगवान के हृदय में प्रवेश करना चाहता है।

३३. हेंची दान देगा देवा

हेंची दान देगा देवा, तुझा विचार न व्हावा
गुण गाईन आवड़ी, हेचि माझी सर्व जोड़ी
नळिगे मुक्ति धन सम्पदा, सतसंग देई;
तुका म्हणे गर्भवासी, सुखें घालावें आम्हांसी,

* * *

महाराष्ट्र की यह धार्मिक राष्ट्रीय प्रार्थना है। जिस प्रकार सारे हिन्दुस्तान में ब्राह्मण-संस्कृति मे पूजा के अन्त में "मन्त्र-पुष्प" बोला जाता है, आज की सभाओ के अन्त में वन्देमातरम् बोला जाता है। उसी प्रकार महाराष्ट्र मे कथा-कीर्तन के अन्त में हरिदास और पौराणिक साष्टांग नमस्कार करते "हें चीं दान देगा" यह अभंग बोला जायेगा। यह अभंग न आवे ऐसा महाराष्ट्री शायद ही मिले। (शायद ही मिले तो वह उसका दुर्भाग्य।) अभंग की रचना जरा भी अटपटी नहीं है। अभंग में आये हुए सभी अक्षर दीर्घ माने जायेंगें। और दो-दो अक्षरों के जोड़ के अन्त में यति है ऐसा मान लेना चाहिए। जिस गण में तीन अक्षर हों उसमें का एकाध ह्रस्व अक्षर हलन्त बनाकर उसके बाद के अक्षर के साथ उसका सयुंक्ताक्षर बना दिया तो दो का नियम बना रहा !

सुशिक्षित महाराष्ट्री अभिमान से कहते हैं कि महाराष्ट्र प्रदेश स्वभाव से ही

राजद्वारी मनोवृत्ति का है, लेकिन सही बात तो महाराष्ट्र की सामान्य जनता प्रामाणिक भोले भक्तों की बनी हुई है।

जीवन में इच्छा करने योग्य वस्तुएँ कौन-सी ? रजोगुणी लोग "भोग और ऐश्वर्य के लिए बार-बार इच्छा करते हैं, और फलस्वरूप जलन ही मोल लेते हैं। धन-सम्पत्ति, ऐशो, आराम, आज्ञा, (प्रभुत्त्व), कीर्ति, रिश्तेदारों का पालन-पोषण ये सभी वस्तुएँ मनुष्य को आकर्षित करती हैं; लेकिन उसमे सच्चा जीवन-साफल्य नही ह। वेदान्ती-वैरागी की बातें सुनकर कुछ लोग मुक्ति के लिए प्रयत्न करते हैं। मुक्ति का स्वरूप नहीं जानने से ये लोग जीवन को शून्यमय बना देते हैं, और ऐसे खोखलेपन को ही जीवन साफल्य मानते हैं। भक्त कहता है मुझे वह मुक्ति ही नहीं चाहिए, और धन सम्पत्ति भी नहीं चाहिए। मैं तो भगवान का अखण्ड स्मरण करूँ, उसके गुण गाकर वाणी और हृदय पवित्र करूँ, और (यह सब निर्विघ्न चले इसलिए) सत्सग मिले तो बस।

पुराणकार और वेदान्ती जब कभी गर्भवास की पीडा का डर बताते हैं, "जन्ममृत्यु के चक्र से मुक्त हुए तो जीत गये" ऐसा ही वे सब कहते हैं, लेकिन भक्तों को गर्भवास का डर नहीं है। जहाँ भगवान का स्मरण है, वहाँ सब प्रकार से सुख ही है। ईश्वर के स्मरण के साथ भगवान की दुनिया की सेवा करना, उससे बढकर आनन्द कौन-सा हो सकता है ?

बौद्धों ने निर्वाण का महत्त्व लोगो को समझाया, लेकिन उन बौद्धो के अन्दर ही महायान पन्थ जागा और उन्होंने निर्वाण से भी सत्य-सेवा का आदर्श श्रेष्ठ ठहराया। "मेरी मदद से सत्त्व मुक्त होते हो, तब उनकी प्रमुदिता से जो आनन्द की लहरे उठती है, उसका अनुभव छोडकर तुम्हारे अरसिक मोक्ष को लेकर मै क्या करूँ ?

मुच्यमानेषु सत्येषु, ये ते प्रामोद्य-सागरः।
तैर एव ननु पर्याप्तम् मोक्षेण अरसिकेन किम् ?

ऐसा शान्ति वेदाचार्य ने उद्घोष करके पूछा है। उसी वृत्ति से वैष्णव भक्तो ने कहा है, भगवान की भक्ति करने का मौका मिले, सत्पुरुषों का सत्सग मिले तो और क्या चाहिए ? अनन्त जन्मो तक वह प्रिय व्यवसाय करते रहे, अनेक लोगों का उद्धार करने का अवसर जान देकर, मोक्ष के नाम पर केवल मिट जाने में स्वाद क्या ? ऐसा कहकर भक्तों ने धर्म को उल्टे रास्ते पर चलते हुए बचाया।

आवडी = उत्साह से न लगे = नहीं चाहिए
जोडी = लाभ

३४. पापा ची वासना नको दावूँ डोळां

(राग : केदार— ताल : केरवा अगर धुमाली)

पापा ची वासना नको दावूँ डोळां,
त्याहुनी अंधळा बराच भी।
निन्देचें श्रवण नको माझे कानीं,
बधिर करोनि ठेवीं देवा।
अपवित्र वाणी नको माझ्या मुखा,
त्याजहुनि मूका बराच मी।
नको मज कन्धी परस्त्री संगति,
जनांतूनि माती उठतां भली।
तुका म्हणें मज अवध्याचा कंटाळा,
तूँ एक गोपाळा आवडसी।

* * *

एक आदमी ने अपना अनुभव कहा था कि जब-जब उसके मन में किसी प्रकार की पाप बुद्धि आती थी तब उसके एक मुरब्बी मित्र बिना चूके उसे मिलने आते। ऐसा प्रसग क्यो होता था। उसका उसके मन में हमेशा आश्चर्य होता था। दूसरा एक का कहना है कि उसे कही गिरने का प्रसग आये कि रात को स्वप्न मे उसकी माँ उसे जरूर दर्शन देगी। माँ का स्वप्न आये कि तुरन्त उठकर आत्म निरीक्षण करने लगता। माँ ने क्यो दर्शन दिये होंगे। उसकी खोज करते करते अपनी दुर्बलता नजर आते ही उसे शान्ति मिलती है और शक्ति भी मिलती है। इस शक्ति मे वह अध:पतन के प्रसंग मे दूर रह सकता था। दोनो का कहना है कि ईश्वर की वह कृपा है जो उसे इस प्रकार बचा लेती है।

कुछ भजन भी इसी प्रकार मित्र की पूरी मदद करते है। तुकाराम के तुलसीदास के, मोहिराबा के और कबीर के कितने ही भजन है जो मनुष्य के लिए अँधेरे में दीपक प्रज्ज्वलित करते हैं और गिरने पर हाथ थामकर बचा लेते है।

मेरे एक मित्र हैं, जिन्हे यह भजन उसी प्रकार अनेक बार सहायक सिद्ध हुआ है।

ईश्वर ने मनुष्य को स्वतंत्रता दी है। वह मुँह से सत्य भी बोल सकता है। और इसीलिए उसके सत्यपालन की कीमत है। गाय सत्य भी बोल नही सकती और असत्य भी बोल नही सकती, उसके पास वाचा ही नहीं है। इसीलिए गाय झूठ नहीं बोलती है। उसकी किसी ने प्रशसा नहीं की है। मनुष्य के सामने दोनो मार्ग हैं।

दोनों मार्ग पर जाने का उसे स्वातंत्र्य है। वह अपना अधःपतन भी कर सकता है और उद्धार भी कर सकता है। इसीलिए उसका कर्म-स्वातंत्र्य मनुष्य की वह विशेषता मानी जाती है। पशु की तरह वह भी इन्द्रियों के वश हो सकता है लेकिन इन्द्रियो का खिंचाव इतना जबरदस्त हो फिर भी उम खिचाव की अवहेलना करके वह चाहे तो संयम के मार्ग पर चल मकता है यह उमकी विशेषता है। भूख न हो तब जानवर खा नहीं सकते। मनुष्यों का ऐसा नहीं है। उसे बदहजमी हुई हो फिर भी केवल जिह्वालौल्य के वश होकर तरह-तरह के व्यंजन वह खा मकता है। शायद जानवर कह मकते हैं कि मुनष्य से हम श्रेष्ठ हैं।

मनुष्य ने अपनी युक्ति का प्रयोग करके ऐसे चक्र ढूँढ निकाले हैं, जो एक ओर आसानी मे खींचे जा सकते हैं, घुमाये जा सकते हैं, उलटी ओर घूमने के साथ ही एक रुकावट उन्हें रोकती है। वे चक्र चढने के लिए स्वतन्त्र और गिरने के लिए असमर्थ बने हुए होते हैं। उसी युक्ति का उपयोग अपने मन के माथ करें तो उमका आसानी से उद्धार होगा। जिम प्रकार उसके हृदय में 'वाल्व' (Valves) जो पम्प करके खून को शरीर में घुमा देता है। लेकिन उम खून को उसी रास्ते से हृदय मे वापम आने नही देता। उसी प्रकार सच बोलते समय जीभ चले ओर झूठ बोलने की इच्छा होने के साथ ही तुरन्त रुक जाये, ठिठक जाये वेसी व्यवस्था अगर उसे मिल जाये तो कितना अच्छा। वह युक्ति ईश्वर ने मनुष्य को दी है, लेकिन उसका उपयोग करना या न करना उसकी मुनसफी भगवान ने उसे दे रखी है। हमारी वृत्तियो को हम अगर कमरे मैं कैद कर रखे और उस कमरे को खोलने की चाभी भी हमारे ही हाथ मे हो तो वृत्तियाँ हमारे अकुश मे हे ऐसा कहा जाये या नही ? अगर हम जान बूझकर ताला खोलकर दरवाज़े खुले रख दे ओर वृत्तियाँ बलवान हे ऐसा एतराज करके रोने बेठे तो हम पर दया कोन करेगा ?

तुकाराम अपने प्रिय भगवान से इतना माँग लेते है कि खराब प्रसंग उतपन्न होने ही न दें। कसौटी पार करने की, उत्तीर्ण होने की विजय चाहे मुझे मिले लेकिन तुम्हारी कृपा से मै सलामत रहूँ वही भाग्य मुझे चाहिए।

उसका निश्चय तो हुआ है कि इन्द्रियसुख उसे नहीं चाहिए। इन सब वस्तुओ से वह ऊब गया है। केवल गोपाल ही उसे प्रिय है। तब उसके सामने अप्रिय प्रसंग आये ही क्यों ? व्यर्थ विक्षेप उत्पन्न करे ही क्यों ? तुकाराम कहते है "हे इन्द्रिय-रक्षक भगवान (गो इन्द्रिय, पाल-पालक) पाप की वासना मेरे सामने आने नहीं देना। उससे तो मैं अन्धा हो जाऊँ वह अच्छा है। मेरे सामने परस्त्री संग का प्रसंग ही किसी समय न आये। ऐसे सकट मे गिरने से इस दुनिया से मैं उठ जाऊँ नष्ट हो जाऊँ वही उत्तम। तुकाराम कहते हैं, इन सब अधःपात के प्रसंगों से मुझे नफरत है। हे भगवान, गोपाल, तू ही अकेला मुझे प्रिय है।

कांग्रेस के प्रारम्भ के दिनों में श्री गोखले ने अपने गुरु न्यायमूर्ति रानडे से पूछा था कि सरकार तो हमारे प्रस्ताव सुनती भी नहीं। क्यों हम सरकार को सम्बोधित करके प्रति वर्ष ऐसे वही के वही प्रस्ताव पास करते हैं ? रानडे ने कहा हमारे प्रस्ताव चाहे सरकार को सम्बोधित करके बनाये हुए हों, लेकिन वे हैं, तो प्रजा के काम के लिए। इन प्रस्तावों के द्वारा लोकमत बनता है और उसके द्वारा प्रजा की शक्ति संगठित होती जाती है। सही लाभ वही है। प्रजा की शक्ति योग्य मात्रा में बढ़ी तो सरकार को इच्छा-अनिच्छा से उन प्रस्तावों का अमल करना ही पड़ेगा।

भगवान को सम्बोधित करके की गयी हमारी प्रार्थनाओं का भी क्या वही हाल नहीं ? फर्क इतना ही है कि भगवान हमारा उद्धार करने के लिए उत्सुकता से खड़ा ही है। हम मुँह से प्रार्थना करते हैं लेकिन हृदय से उलटा ही चाहते हैं। इसीलिए हमारे स्वातंत्र्य के प्रति आदर रखने वाला भगवान हमारा उद्धार करने के लिए असमर्थ बनता है। हाथ फैलाकर वह खड़ा ही है। हमारी प्रार्थना हृदय से निकली, एकाग्र हुई सही सिद्ध हुई कि तुरन्त हमें वह उठा ही लेती है।

श्री तुकाराम ने सच्ची प्रार्थना की, उसका उद्धार हो गया। हम उसके शब्दों का उपयोग करते हैं। तुकाराम का हृदय धारण करे उतनी ही देरी।

दावुँ	दिखाइये	मातो	शरीर
बराच	भला, अच्छा	अवघ्याचा	सबका
त्याजहुनि	उससे	आवडसी	अच्छा लगता है

३५. हरिभजनावीण काळ घालवूँ नको रे

(राग : झिंझोटी। ताल : दादरा।)

हरिभजनावीण काळ घालवूँ नको रे
दोरिच्या सापा भिउनी भवा, भेटि नाहिं जिवा शिवा
अन्तरींचा ज्ञानदिवा, मालवूँ नको रे।
विवेकाची ठरेल ओल, ऐसे बोलावे कीं बोल,
आपुलें मतें उगिच चिखल, कालवूँ नको रे।
सन्तसंगतीनें उमज, आणुनिं मनीं पुरतें समज,
अनुभवावीण मान हालवूँ नको रे।
सोहिरा म्हणे ज्ञानज्योति तेथें कैचि दिवस राती,
तयाविणं नेत्रपाती, हालवूँ नको रे।

*　　*　　*

सोहिरोबा का यह भजन महाराष्ट्र में मशहूर है। ये कवि सावंतवाडी राज्य में पटवारी का काम करते थे। नाथ सम्प्रदाय के गहिनीनाथ से दीक्षा लेकर निवृत्त हुए। (अपनी कलम राजा के चरणों में रखकर वापस आ गये।) ये कवि ज्ञानमार्गी और योगमार्गी थे। यात्रा पर गये तब सिन्धिया के दरबार में पहुँचे थे। ऐसा कहा जाता है कि सिन्धिया ने स्वयं कविता बनाई होगी, उसके बारे में सोहिरोबा का अभिप्राय उसने पूछा। सोहिरोबा ने उत्तर दिया कि "जिसमे भगवद्भक्ति नही है वह कविता ही नहीं है, इसलिए तुम्हारी इस कविता मे मुझे रुचि नहीं है। महादजी शिन्दे खफा हुए तो सोहिरोबा ने एक पद्य में अपनी निःस्पृहता प्रगट की और दरबार से चले आये। सोहिरोबा ने "सिद्धान्त-संहिता" करके एक ग्रन्थ लिखा है। अपने आप में भारी संगीतज्ञ और अप्रतिम गायक थे। उनकी मिली-जुली कविताओ के अनेक ग्रन्थ बने हैं हमारी और उससे अधिक कविताएँ नष्ट हुई है।

कवि स्वय कविता बनाते जाते थे और उनकी बहिन पन्नो पर लिखती जाती थी। और घर की वृद्ध माँ चूल्हा जलाने के लिए कभी उन पन्नो का उपयोग करती ।। इर्द गिर्द प्रदेश की गाने वाली वेश्या होशियारी से सोहिरोबा की कविता प्राप्त करके ले जाती थी और कण्ठस्थ करके गाती थी। इस प्रकार सोहिरोबा की कई कविताएँ बच गयी थीं।

लोकगीतो की तर्ज और मतलब लेकर उन्होने कई आध्यात्मिक रूपक लिखे है। ज्ञानमार्गी और योगमार्गी सन्त के वचन अधिकतर नीरस माने जाते है। फिर भी उस योगानुभव को भी अच्छी कविता का विषय बनाने वाले कवि सोहिरोबा ही थे। उनकी कविता मे कोकणी शब्द आते हैं इसमे आश्चर्य नहीं है। उससे विपरीत आश्चर्य यह है कि कोकण मे रहने वाला वह कवि इतनी अच्छी मराठी लिख सके।

कबीर, नानक, आदि साधु, ज्ञानमार्गी थे- - ध्यानमार्गी थे। उनमे से कुछ की कविताओ मे हठयोग और राजयोग को मानने वाले होने के कारण योग की क्रिया का उल्लेख अनेक बार आता है।

जीवन शुद्धि और जीवन- समृद्धि यही साधुता का अन्तिम लक्षण होना चाहिए। उसके बजाय कुछ कवि ध्यान और योग के द्वारा आत्मा को पहचान कर परमात्मा में लीन होना और, इस दुन्यवी जीवन के बारे में बिलकुल उदासीन रहना ही सिखाते हैं। जो असत्य है ऐसे जीवन की भिन्न समृद्धि क्या ? मनुष्य को आत्मार्थी बनना, ईश्वरचिन्तन में जीवन बिताना और इस जिन्दगी के प्रति कारावास की दृष्टि रखकर उससे जितना हो सके उतना जल्दी मुक्त हो जाना इतना ही जिन्दगी के साथ का हमारा सम्बन्ध है। परोपकार, करुणा, उपदेश आदि सत्-प्रवृत्ति से जिन्दगी भर दी जाये लेकिन चिन्तन तो केवल परमात्मा का ही हो। ईश्वर का एक क्षण के लिए

विस्मरण हो तो वह मृत्यु से भी बड़ा नुकसान है।

आत्मा और परमात्मा, जीव और शिव अन्त में एक ही हैं। लेकिन इस दुनिया का परदा इन दोनों के बीच आता है। इसलिए जीव और शिव का प्रेमैक्य मिलन हो नहीं सकता। दुनिया का यह अन्तराय ही मायारूप है। उसे जान लिया कि उसका विनाश हुआ ही। इससे डरने का क्या ?

ज्ञानदीप अपने हृदय में जलते रखा तो फिर कोई चिन्ता नहीं।

ज़िन्दगी का कल्याण किसमें है उसके बारे में अनेक लोग अनेक ढंग से बोलते हैं। ऐसा कीचड़ मसलने से कोई लाभ नहीं। आत्मनात्मा विवेक— आत्मा भिन्न और अनात्मा भिन्न-—जो अनात्मा है उसे अनात्मा के रूप में पहचानना और आत्मा से उसे अलग करना-वही मुख्य वस्तु है। उसे मान्य हो वैसी ही बातें करनी चाहिए। मन में तरंग उठी कि कीचड़ मसलने बैठ गये, ऐसा नहीं करना चाहिए। साधु-सन्त जो समझायें उसे बराबर समझ लेना। मन में उस पर चिन्तन करना और उसके अनुसार अनुभव हो तभी बोलना। बिना अनुभव के सिर हिलाना नहीं। कवि सोहिरोबा कहते हैं कि ज्ञानज्योति प्रगट हुई फिर प्रकाश और अन्धकार ऐसा भेद रहेगा ही नहीं। अज्ञान फिर से दिखाई नहीं देगा। उस ज्ञानज्योति का ही ध्यान करना चाहिए। उसके बिना आँख की पलकें हिलानी नहीं चाहिए। हरि भजन के बिना एक क्षण भी व्यर्थ बिताना नहीं चाहिए।

सोहिरा म्हणे ज्ञान ज्योति, तेथें कैंचि दिवसराती।
तथापिणे नेत्रपाती, हालवूँ नको रे।।
हरिभजनावीण काल घालवूँ नको रे

मालवूँ नको	बुझाना नहीं	चिखल	कीचड़
आल	गीलापन	पाती	पलकें
उगाच	व्यर्थ, नाटक	कालवूँ नको -	मसलना नहीं
उमज - जान लो।			

३६. सन्त-पदाची जोड, देरे हरि !

(राग : घनाश्री-—तीन ताल)

सन्त-पदाची जोड, देरे हरि !— सन्त-पदाची.
सन्त-समागमे आत्मसुखाचा सुन्दर उगवे मोड।

सुफलित करुनी पूर्ण मनोरथ, पुरविसि जीविचे कोड।
अमृत म्हणे रे हरिभक्तां चा, शेवट करिसी गोड।

*　　　*　　　*

अनुभवी भक्तों का एक सूत्र है—"भक्ति करनी भगवान की । लेकिन विश्वास और आधार रखना सन्त सत्पुरुषो का"। अगर हमारे भाग्य में भगवान के दर्शन होने वाले होंगे तो वह सन्त द्वारा ही हो सकते हैं। हमारे लिए सन्त वही परमेश्वर।

इतना विश्वास दृढ न होता हो फिर भी हमारे लिए परमात्मा के जीवित प्रतिनिधि तो सन्त ही हैं। क्या उसके बारे में कोई शंका हो सकती है ?

महाराष्ट्र मे सन्त-परम्परा का जो साहित्य है उसमें अत्यन्त सरल भाषा और रागदारी (गेयता) में गाया जा सके वैसे भजन अमृतराय के हैं। यह कवि इ स १८०० के आस पास के हैं। वे अपने आपको मध्वमुनीश्वर के शिष्य कहलाते हैं।

अमृतराय के भजनो में यहाँ पसन्द किया हुआ यह भजन सबसे अधिक लोकप्रिय है : सन्त-पदाची जोड देरे हरि ।

जोड शब्द विशेष समझने जैसा है। जोड अर्थात साथ और जोड अर्थात लाभ। इस भजन मे जोड का दोनों अर्थ में उपयोग हुआ है। कवि भगवान मे मुक्ति नही माँगता, भगवान के दर्शन हो उसकी भी बात नहीं करता। वह जानता है कि अगर सन्त-समागम मिला तो बाकी सब मिलनेवाला ही है।

सन्तो का सहवास हुआ तो मनुष्य का अहकार पिघल कर उसे अपनी "आत्मस्थिति" का परिचय होता है। वह सुख का अंकुर फूटा तो भक्त के सारे मनोरथ पूर्ण होने लगते हैं। मन में जो-जो उमंग (मनोभाव) उठे वे तृप्त होंगे ही।

इसीलिए अमृतराय कहते हैं कि हे भगवान ! हे हरि ! मुझे सन्तों का साथ देना। सन्त ही सच्चे हरिभक्त होते हैं, और वे ही मुझे हरिभक्त बनायेंगे। फिर हे हरि ! भक्तो को जीवन कृतार्थ किये बिना तुमसे रहा ही कैसे जायेगा ? इसीलिए मुझे और कुछ भोगना नहीं है । सन्तो का सहवास देना, इसमे सब कुछ मिल जायेगा।

३७. न कळतां काय करावा उपाय

(राग : भैरवी— ताल : कव्वाली)

न कळतां काय करावा उपाय
जेणें राहे भाव तुझ्या पायीं ?
येउनियाँ वास करिसी हृदयीं
ऐसें घडे कइ कासयानें ?
साच भावें तुझे चिन्तन मानसीं
राहे हें करिसी कैं गा देवा ?
लटिकें हें माझें करूनियाँ दूरी
साच तूं अन्तरीं येउनी राहें,
तुका म्हणे मज गखावें पतिता
आपुलिया सत्ता पांडुरंगा।

* * *

किसी भी समाज की सन्त परम्परा अनादि और अनन्त ही हो सकती है। जहाँ आत्मा है वहाँ जीवन साधना रहेगी ही। और जहाँ उत्कटता आई वहाँ सन्त परम्परा शुरू होगी ही, फिर वह भाषा में व्यक्त हो या न हो। काव्यवृत्ति जब अध्यात्म सेवा में उतरती है, तभी वह अपने को कृतार्थ मानती है। फिर वही कृतार्थता भजन का रूप लेगी।

सर्वानुमत से महाराष्ट्र की सन्त परम्परा ज्ञानोबा (ज्ञानेश्वर) से शुरू होती है। और उसका पूर्ण विकास तुकोबा (तुकाराम) में होता है। सभी महाराष्ट्री एक मत से स्वीकार करते हैं "तुका झाला से कळस" सन्त परम्परा अगर मन्दिर हो तो उसकी नींव है ज्ञानदेव और उस मन्दिर के सिर पर जो कळश होता है, वह है हमारे तुकाराम।

तुकाराम ने सन्त साहित्य काफी पढ़ा था। समकालीन सन्तों के साथ दोस्ती भी की थी। जीवन की गहराई में उतरने की उनकी शक्ति असाधारण है। और फिर भी उनके अभंग में एक प्रकार की मुग्धता भी है। परिणामस्वरूप सामान्यजनों का हृदय तुकाराम को ही अपना प्रतिनिधि मानता है। तुकाराम की जीवन साधना जितनी उत्कट, इतना ही जीवन चिन्तन विविध। प्रत्येक साधक तुकाराम की वाणी में अपना हृदय देख सकता है, और आश्वासन पा सकता है। तुकाराम की भक्ति पन्ढरपुर के विठ्ठल पांडुरंग के प्रति ही है। स्नेही के पास जिस प्रकार हम हमारा हृदय खोलते हैं, उसी प्रकार की तुकाराम की स्नेहभक्ति उनके अभंग में दिखाई देती है। आज

के इस भजन में, अनेक प्रकार की साधना आज़माई। उसने अनुभव किया कि अब तो अपना कुछ नहीं चलेगा। भगवान ही कृपा करे तो उद्धार है। इसलिए तुकाराम पांडुरंग से कहते हैं : "पांडुरगा, समझ में नहीं आता कि क्या उपाय करूँ कि जिससे तेरे चरणों में मेरा भक्तिभाव स्थिर हो जाये। क्या करूँ तो तू मेरे हृदय में आकर हमेशा के लिए निवास कर सकेगा ?

मै चिन्तन तो रोज करता हूँ। लेकिन वह छिछला लगता है और वह भी टिकता नहीं। पांडुरंगा ! ऐसा कब करेगा कि सचमुच पूर्ण भक्ति से तेरा चिन्तन मेरे मन में स्थिर हो जाये ?

मेरे मन मे जो भरा हुआ है वह सच है ऐसा मुझे लगता नहीं है। मेरा यह (लटिकें) झूठ दूर करके मचमुच तू ही मेरे हृदय में आकर हमेशा के लिए रह।

तुका कहता हे कि सचमुच, मैं तो पतित हूँ। अब तू ही अपनी सत्ता का उपयोग करके मुझे बचा लेना। मुझे पता नहीं चलता कि क्या करना ? इसलिए तू ही दया करके मुझे तैयार करना और मेरा उद्धार करना।

कइं का सयाने - किस प्रकार — लटिके = जो सत्य न हो
कैं — कब — राखावे — रक्षा करना, बचा लेना
मत्ता - सत्ता मे

३८. जे कां रंजले गांजले

(राग . जोगीमाड— ताल . कव्वाली)

जे का रजले गाँजले, त्यांसि म्हणे जो आपुले,
तोचि साधु ओळखावा, देव तथेंची जाणावा।
मृदु सबाह्य नवनीत, तैसें सज्जनाचें चित्त,
ज्यासि आपंगिता नाहीं त्यासि धरी जो हृदयीं
दया करणें जे पुत्रासी, तेचि दास आणि दासी,
तुका म्हणे सांगों किती, तोचि भगवन्ताची मूर्ति।

* * *

सन्त शिरोमणि तुकाराम का यह प्रख्यात भजन गाते हम महाराष्ट्री कभी थके नहीं।

सच्चा सन्त-साधू किसे कहा जाये, उसके लक्षण कैसे, उसे अत्यन्त मरल भाषा मे स्पष्ट करके, जरा भी सकोच रखे बिना तुकाराम ने अपना आदर्श यहाँ

रखा है। भाषा इतनी सीधी-सादी और स्पष्ट है कि मनुष्य शहर का हो या गाँव का हो, उसके मुँह में यह अभंग चलता ही रहेगा।

जो लोग व्याकुल हुए हैं, जिन्हें सामाजिक अन्याय सहना पड़ता है और इससे, जो निराश होने की तैयारी पर हैं ऐसे लोगों को जो अपनाये वही सच्चा साधू है, ऐसा जान लेना। और विश्वास रखना कि ऐसों के हृदय में ही भगवान बसते हैं। मक्खन जिस प्रकार सभी प्रकार से नरम और मुँह में डालने के साथ ही हृदय तक पहुँच जाता है उसी प्रकार सज्जन साधुओं का चित्त आन्तर-बाह्य कोमल होता है। जिस गरीब को अन्य कोई अपनाये नहीं ऐसे मनुष्य को दया और प्रेम से अपने हृदय से लगाकर अपनाये वही सच्चा साधू।

इस प्रकार स्पष्ट करने के बाद एक अन्तिम कसौटी तुकाराम रख देते हैं। "सामान्य मनुष्य अपने बेटे के प्रति जो प्रेम, आत्मीयता, उदारता और क्षमा दिखाता है, वही "केवल मजदूर गिने जाते दास और दासियों के प्रति" भी दिखाये वही सच्चा साधू या स्पष्ट कहूँ तो वही मनुष्य भगवान की मूर्ति है।

हमें नहीं लगता कि सन्त-साधू की इतनी स्पष्ट शंका-रहित व्याख्या अन्य किसी ने दी हो। तुकागम अपने आप वैसे थे। इसीलिए आज भी तुकाराम करोड़ों के हृदय में विराजते हैं।

गांजले   दुखी, पीड़ित
आपंगिता   अपना कहने वाला
साँगों - कहूँ

३९. शेवटींची विनवणी

(राग : भैरवी— ताल : कव्वाली)

शेवटींची विनवणी सन्तजनीं परिसावी।
विसर तो न पडावा माझा, देवा तुम्हांसी।
आतां फार बोलों काई अवघें पायां विदीत।
तुका म्हणे पडिलों पायीं, करा छाया कृपेची।

* * *

सन्त तुकाराम के अपने भाव-भक्ति अनेक प्रकार मे गाकर थकने के बाद, जोड के रूप मे निकाले हुए ये वचन हैं। जहाँ बोलने की भी इच्छा बाकी रही नहीं वहाँ जैसे-तैसे इन वचनों को जोड़कर पूरा किया है।

तुकाराम ने आत्मनिवेदन किया। विठोबा के सामने हृदय खाली किया। जिस समय जो वृत्ति उठी वह पान्डुरंग को अर्पण की। कभी भगवान के सामने बालक बने, कभी पिता बने, विरहिणी के रूप में भी भगवान को बुलाया, और चिढ़ कर गालियाँ भी दीं। क्षण में अद्वैत की मस्ती में आये; और कभी अद्वैत में मुझे समाधान नहीं है। ऐसा कहकर दासभाव से भक्ति करना ही पसन्द किया।

भगवान को उसका धर्म समझने की भी त्रुटि न रखी और गिड़गिडा कर अपना हाल भी प्रगट किया।

इस प्रकार अनेक ढंग से भगवान का ध्यान दृढ़ करके, भगवान के साथ ओत-प्रोत होने का आनन्द भी लिया।

दुन्यवी सम्बन्ध तोड़कर तुकाराम ने नये आध्यात्मिक सम्बन्ध जोड़े और सन्त लोगों को अपना मानकर उसने मदद माँगी।

स्वयं और भगवान एक ही हैं यह एक प्रकार का अद्वैत, यह सृष्टि और उसका सर्जनहार एक ही है। यह दूसरे प्रकार का अद्वैत; पापी और पुण्यवान, अपने और पराये, सब एक ही हैं। यह तीसरे प्रकार का अद्वैत— ये सभी प्रकार के अद्वैत का अनुभव आवश्यक है ही, लेकिन साधक लोगों के लिए अभी एक नए प्रकार का अद्वैत है जिसकी उपयोगिता और सुन्दरता असाधारण है। वे कहते हैं कि अगर आस पास के भक्त और उनके भगवान उन दोनों के बीच अभेद के दर्शन कर सके तभी 'प्रगट मुरारि' मिलेंगे।

ऐसे अभेद का विकास करके ही तुकाराम ने यह भजन गाया है। सन्त लोग पाण्डुरंग के प्रतिनिधि। उनसे की गई विनती भगवान को पहुँचेगी ही, ऐसे विश्वास से तुकाराम कहते हैं–– यह मेरी आखिरी गिड़गिड़ाहट, सन्त लोगों को सुनना ही चाहिए। भगवान जैसे सन्त, तुम मुझे भूल नहीं जाना। अधिक बोलने की आवश्यकता क्या ? तुम सब जानते हो। तुम्हारे चरणों को सब पता है। उन चरणों का मैंने आश्रय लिया है। अब मेरे पर कृपा की छाया फैलाओ और दुःख से मुझे बचाओ। मुझे अपना गिनो और हृदय से लगा लो, तो मैं कृतार्थ हुआ। उसमें सब कुछ आ गया। तुम सब जानते हो, तुम्हें कुछ भी कहना अनावश्यक है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के एक भजन में ऐसा ही भाव है।

एकटी नमस्कारे प्रभु, एकटि नमस्कारे।
सकल देह लुटिये पडुक तोमार ए संसारे।

शेवटींची = आखिरी	काई - क्या
परिसावी - सुनना	अवधे - सब
आतां = अब	पाया - चरणों को
पायीं = चरणों में	

४०. अन्तर मम विकसित करो अन्तरतर हे !

(राग : भैरवी— ताल दादरा आसावगी— द्रुत एक ताल)

अन्तर मम विकसित करो, अन्तरतर हे !
निर्मल करो, उज्ज्वल करो, सुन्दर करो हे— अन्तर.
जाग्रत करो, उद्यत करो, निर्भय करो हे,
मंगल करो, निरलस निःसंशय करो हे— अन्तर.
युक्त करो हे सबार संगे, मुक्त करो हे बन्ध,
संचार करो सकल कर्मे शान्त तोमार छन्द— अन्तर.
चरण-पद्मे मम चित्त निस्पंदित करो हे,
नन्दित करो, नन्दित करो, नन्दित करो हे— अन्तर.

* * *

जब कोई मराठी भजन सुनता हूँ या पढता हूँ तब बचपन के दिन और महाराष्ट्र मे की हुई बैलगाडी की तीर्थयात्रा याद आती है। रोज शाम को जल्दी जल्दी भोजन करके धर्मशाला मे सोने की तैयारी करते, इतने म काई देहाती भक्त तुकाराम या नामदेव का अभग शुरू करे, तब हृदय मे जो उल्लास उठना था या भक्ति भाव में भावनाएँ द्रवित होती थी वह सब याद आता है।

गुजराती भजन सुनता हूँ तब बडोदा के दिन या सत्याग्रह आश्रम मे बिताये हुए जीवन के सर्वोत्तम दिन याद आते हैं और एकाध भजन सुनने पर उसी भजन के बारे मे बापूजी कभी बोले थे। उसे याद करके तल्लीन हो जाता है।

उसी प्रकार जब कोई बगाली भजन सुनता हूँ तब रामकृष्णमिशन के किसी बगाली साधु ने हिमालय मे हमारे साथ सफर किया हो और शाम को या सुबह सब साथ मिलकर प्रार्थना की हो, वे पवित्र दिन याद आते है।

लेकिन ऐसे प्रसग कम। बगाली भजन सुनूँ तो भारत के रवीन्द्रनाथ और उनकी हस्ती का दिन-रात जहाँ हम अनुभव करते थे वे शान्ति निकेतन के दिन अचानक जीवित होते हैं। मैं शान्तिनिकेतन गया और वहाँ के विद्यार्थियो के साथ देखते-ही देखते उत्तम ढंग से मिल गया। बगाली पढ़ना मुझे अच्छा आता था। लेकिन सुना हुआ बंगाली समझने में देर लगती। लेकिन मैं विद्यार्थी प्रेमी । उनके साथ उनके काम में पूरा मिल जाऊँ। इसलिए मेरा भाव वे बराबर समझते, उनका भाव मैं पूरा समझूँ । फिर भाषा समझने में घोटाला हो तो भी मुश्किल नहीं ।

फिर तो विद्यार्थी मेरी असाधारण रवीन्द्रभक्ति पहचान गये। और इसी कारण हम एकहृदय बनने लगे।

अध्यापकों के साथ मैं मिलता जरूर। लेकिन दो-तीन के साथ ही हृदय खोलकर बातें होती थीं

एक बार गुरुदेव ने मुझसे कहा कि, "मुझे महाराष्ट्र से कोई अच्छा संगीत-शिक्षक चाहिए। मैंने देखा है कि वहाँ के संगीत उपासक चारित्र्य के निर्मल होते हैं। इसीलिए मेरे विद्यार्थियों के साथ वे मिले तो कोई मुश्किल नहीं। ऊपर से मैं खुश होऊँगा।" हम एक संस्कृत के उत्तम विद्वान् हिन्दुस्तानी संगीत में पूरा प्रवीण और विद्यार्थी प्रेमी शिक्षक को ले आये। उन्होंने बंगाली संगीत भी सीख लिया। फिर तो बंगाली संगीत और हिन्दुस्तानी संगीत ऐसा फूला-फला कि गुरुदेव ने अनेक बार अपना सन्तोष मुक्त कंठ से व्यक्त किया।

गुरुदेव स्वयं अनेक बार अपने गीत गाकर सुनाते, उनकी चर्चा भी करते। इसलिए एकाध बंगाली भजन सुनूँ तो मानो शान्तिनिकेतन में पहुँच गया हूँ और गुरुदेव के दिंन सजीवन हुए हैं ऐसा ही लगने लगता है।

आश्रम भजनावलि के भजनों के बारे में थोडा लिखना शुरू किया है। उसमे बंगाली भजन हाथ में आने के साथ ही जो भावना उठी उसे यहाँ नोट किये बिना चले ही कैसे ?

भारत के किसी प्रान्त का, कोई भी सामान्य मनुष्य सुने तो उसे भाषा या भाव की कोई मुश्किल लगे नहीं, ऐसे एक सुन्दर संगीतवाला भजन लेकर प्रारम्भ करता हूँ।

यह भजन नहीं है, लेकिन मानो कवीन्द्र की सुबह की हुई एक प्रार्थना ही है। और प्रार्थना भी कैसी, "भगवान, मुझे फलाना दो, ढीमका दो, बेटे दो, नौकरी में बढती दो या मेरे सारे पाप मिटा दो" ऐसा कुछ यहाँ माँगा नही है। "भगवान की प्रार्थना करने के लिए हृदय जागे, भगवान की इस मंगल सृष्टि के साथ हृदय एकरूप हो जाये और समस्त जीवन प्रार्थनामय बने" वही यह प्रार्थना है।

और यहाँ भगवान के लिए उपयोग में लिया एकमात्र नाम भी कैसा है । "मेरे अन्तर की गहराई में बसने वाले मेरे स्वामी, मेरे गुरु और मेरा सर्वस्व ऐसा कहकर प्रार्थना शुरू होती है। इसमें भगवान के लिए एक ही नाम है, 'अन्तर तर' अन्तर अर्थात हृदय। उसकी गहराई में जो अखण्ड बसता है, और उसका मालिक बनकर उसे गढता जाता है। ऐसा वह भगवान। कवि कहते हैं, "मेरे अन्तर में जागृत हुए हो, तो मेरा हृदय-पुष्प एकदम खिल उठे वैसा करो। मेरे अन्तर को विकसित करो, निर्मल करो, उज्ज्वल करो और उसे सुन्दर करो।" बस यही है कवि की प्रार्थना। उसमे न है किसी पौराणिक प्रसंग का उल्लेख और न ही किसी आध्यात्मिक या वेदान्त की छानबीन।

कवि कहते हैं मेरे हृदय को जागृत करो। निर्भय बनाकर पुरुषार्थ के लिए

तैयार करो। पुरुषार्थ करते हुए न मन मे कोई शंका उठे, न उत्साह मन्द पड़े। हृदय की सारी मंगल भावनाएँ जागृत हो जायें।

और करना भी क्या है ? दुनिया के प्रति असन्तोष या अविश्वास पैदा करके अलग होने की बात थोडी-सी भी नहीं है। जीवन जीते हैं तो उसके द्वारा सबके साथ आत्मीयता बढ़ती जाये। आप पर भाव का बन्धन उत्पन्न हो ही नहीं। मानो भगवान के कार्य में ही हम मिल गये हैं। जीवन वही एक बडा संगीत है। उस संगीत द्वारा भगवान के शांत, पवित्र और उत्साहपूर्ण काम करते हुए इस संगीत-मूर्ति विश्वकवि का प्रेम-भक्ति-राग ही जीवन में प्रगट होता रहे।

और भगवान, मेरा चित्त तुम्हारे चरण कमल में स्थिर होकर भक्ति का आनन्द मनाता जाये इतना ही चाहता हूँ।

यह भजन भैरवी राग में गाओ या आसावरी में। सारा दिन पवित्र और उल्लासयुक्त करने की ताकत इसमें है। भाषा इतनी सरल है कि संस्कारी बालक भी समझ सकता है और विचार इतने सरल और उन्नत, कि किसी भी धर्म के वातावरण में यह भजन सुख से गाया जा सकता है। भजन सुनने के साथ ही समग्र चित्त तुरन्त नन्दित हो जाता है।

४१. जनगणमन-अधिनायक जय हे

(राग : कौरस— ताल : धमाळी)

जनगणमन-अधिनायक जय हे भारत-भाग्यविधाता !
पंजाब, सिन्धु, गुजरात, मराठा, द्राविड, उत्कल, बंग,
विन्ध्य, हिमाचल, यमुना, गंगा, उच्छल-जलधितरंग,
तव शुभ नामे जागे, तव शुभ आशिष माँगे,
गाहे तव जय गाथा।
जनगण-मंगलदायक जय हे भारत-भाग्यविधाता !
जय हे ! जय हे ! जय हे ! जय जय जय जय हे !
अहरह तव आह्वान प्रचारित शुनि तव उदार वाणी,
हिन्दू-बौद्ध-सिख-जैन-पारसिक-मुसलमान-खिस्तानी
पूरब पश्चिम आसे, तव सिंहासन पाशे,
प्रेमहार हयगाथा।
जन-गण-ऐक्यविधायक जय हे, भारत-भाग्यविधाता !

जय हे ! जय हे ! जय जय जय जय हे !
पतन-अभ्युदय-बंधुर पन्था युग-युग-धावित यात्री;
हे चिर सारथि ! तव रथचक्रे मुखरित पथ दिन रात्रि !
दारुण विप्लव माझे, तव शंखध्वनि बाजे।
संकट दुःख त्राता।
जनगण-पथपरिचायक जय हे भारत-भाग्यविधाता,
जय हे ! जय हे ! जय हे ! जय जय जय जय हे !
घोर तिमिरघन निबिड निशीथे पीडित मूर्छित देशे,
जाग्रत छिल तव अविचल मंगल नतनयने अनिमेष,
दुःस्वप्ने आतंके, रक्षा करिले अंके,
स्नेहमयी तुमि माता।
जनगण-दुःखत्रायक जय हे भारत-भाग्य विधाता !
जय हे ! जय हे ! जय हे ! जय जय जय जय हे !
रात्रि प्रभातिल उदिल रविंच्छवि पूर्व उदयगिरि-भाले
गाहे विहंगम, पुण्य समीरण नव जीवन रस ढाले,
तव करुणारूण रागे, निद्रित भारत जागे,
तव चरणे नत माथा।
जय जय जय हे जय राजेश्वर ! भारत-भाग्यविधाता !
जय हे ! जय हे ! जय हे ! जय जय जय जय हे !

* * *

भारत की जनता की भारतभक्ति प्राचीन है।

("दुर्लभ भारते जन्म" यह वचन प्रत्येक भारतीय के हृदय मे मानो अंकित है।) वह भक्ति सांस्कृतिक होती है, जिसे धार्मिक भी कहा जा सकता है। इस भूमि में पवित्र तीर्थ स्थान हैं। नदियाँ पवित्र, पहाड़ पवित्र सरोवर और अरण्य पवित्र। पुराने कविओं ने गाया—"दुर्लभ भारते जन्म," नये कवि गायेंगे—"सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ता हमारा"।

ऐसे भारत की पवित्रता मे बढोतरी की सन्तो ने और वीरपुरुषो ने। ऐसी पवित्र भूमि में हमें जन्म मिला है वह हमारे जीवन की धन्यता, यह भाव पुराने गीतो मे जरूर मिलेगा।

लेकिन आज जिसे देश भक्ति—(Patriotism) कहते है ऐसी रजोगुणी देशभक्ति—अंग्रेजो के सहवास के कारण हम समझ सके उनके राष्ट्रगीत में देश के प्रतिनिधिस्वरूप राजा की भी भक्ति होती है। उसकी दीर्घायु के लिए और विजय के लिए प्रार्थना होती है। उनका ऐसा राष्ट्रगीत हम बचपन में सीखे थे।

हमारे बचपन में भारत पर इंग्लैण्ड का राज्य था। इंग्लैण्ड की गद्दी पर एक स्त्री विराजमान थी, क्वीन विक्टोरिया, इसलिए उन लोगों को कहना पड़ता था God save the queen उस राष्ट्रगीत को वे national anthem कहते हैं। बचपन में हमने वह गीत एक मजे के रूप में कण्ठस्थ किया था।

फिर जब स्वदेशभक्ति और स्वराज्य की बेचैनी देश में जाग्रत हुई तब हमारा अपना एक भारतीय राष्ट्रगीत होना चाहिए ऐसी इच्छा जागी।

इस प्रकार 'वन्देमातरम्' गीत को भारत के राष्ट्रगीत के रूप में स्वीकार किया गया। अब इसका विरोध करे ? और क्यों करें ?

उसके बाद बंकिम के बाद जो जमाना आया उसमें बंगाल ने हमें एक भारी विश्वकवि दिया, रवीन्द्रनाथ ठाकुर। उसने भारतीय-संस्कृति का उत्तमोत्तम आदर्श जिसमें व्यक्त हो सके ऐसा एक ईश-गीत तैयार करके दिया। वह सभी प्रकार से राष्ट्रगीत बनने योग्य बना। रवीन्द्रनाथ ने स्वय 'वन्देमातरम्' गीत का विरोध नहीं किया। केवल अपना "जन गण मन-अधिनायक" गीत अपनी संस्था मे चलाया।

उस गीत का राग भी 'बडा समाज, बडी आवाज़ के साथ गा सके ऐसा गम्भीर और उत्साहप्रेरक' था। वह गीत राष्ट्रगीत के रूप में सब प्रकार से अनुकूल होने से धीरे-धीरे सब जगह चलने लगा।

पुराने का विरोध न करना, लेकिन अधिक अच्छी वस्तु का उत्साह के साथ सब जगह प्रचार करना उस सात्विक नीति का सारे देश ने स्वीकार किया। अब कई जगह सभा होती है तब प्रारम्भ मे या अन्त मे राष्ट्रगीत के रूप में 'जन गण मन' गाया जाता है।

भगवान के नाम असख्य हैं लेकिन हमारे लिए समस्त प्रजा के मन पर जिसका अधिकार है और "भारत का भाग्य जो गढ़ता आया है" उस अर्थ के नामो का ही जय जयकार हम पसन्द करके बोलेगे। इसीलिए कवि ने प्रारम्भ किया है "जन गण मन-अधिनायक" से और "भारत भाग्य-विधाता तुम्हारी जय हो-" से।

भारत अर्थात भिन्न-भिन्न भाषा बोलने वाले, भिन्न-भिन्न वंश के लोग। उन सबके नाम गिनना वह भी पुण्यकर्म है। इसीलिए कवि ने पंजाब से लेकर बंग तक अनेक नाम एकत्र करने का प्रयत्न किया है। उसी प्रकार विन्ध्य और हिमाचल ये दो नाम सारे पहाड़ के प्रतिनिधि हैं। यमुना, गंगा, छोटी-मोटी समस्त नदियों की प्रतिनिधि हैं। और "उच्छल जलधितरंग" वाला सागर तो भारत के तीन ओर फैला हुआ है ही। ये सब प्रदेश, सब पहाड़, नदियाँ और समुद्र और उनके आधार पर जीने वाले म[illegible] तुम्हारी जयगाथा गाते हैं। सभी मंगल वस्तुएँ हमारे इस जनगण को तू ही देता है। हमारे हृदय में, साथ-साथ सारे देश में, और सारी दुनिया में, हे भगवान तुम्हारी जय हो !

एक बार भगवान को 'जन गण मन-अधिनायक' कहा और वही 'मंगलदायक'

भी है। वही 'ऐक्य विधायक' है। मार्ग दिखानेवाला 'पथ परिचायक' भी है। और 'दुःखत्रायक' तो है ही।

हे भगवान ! हिन्दू, बौद्ध आदि सभी धर्मो के लोग तुम्हारे आकर्षण से एकत्र आये। उनके द्वारा तुम्हारा उदार सन्देश सुनते हैं। पूर्व और पश्चिम, यूरोप-अमरीका, और एशिया प्रेम की माला तैयार करके तुम्हारे सिहासन के पास आये है। ऐसे ऐक्य विधायक भगवान, तुम्हारी जय हो।

हमारा चित्र-विचित्र इतिहास कैसा विविध है। कभी पतन हो, कभी अभ्युदय हो। ऐसे ऊबड-खाबड (बन्धुर) पथ पर हम यात्रा करते आये हैं। हमारे हे चिर-सारथि ! तुम्हारे ही रथचक्र की आवाज़ दिन-रात सुनाई देती है। सारे संकट से और दुःख से चाहे जितना सकट हो, तुम्हारी विजय का शंखनाद सुनाई देता है। तुमने ही हमे बचाया है। विजय का मार्ग कितना अटपटा होता है उसका तुमने हमे हमेशा परिचय करवाया है।

घोर अन्धकार से भरी रात्रि के समय जब सारा देश हैरान था, मूर्छा में पडा हुआ था। तब भी तुम्हारी मगल आँखे अनिमेष, अविचल जागती थीं। समस्त संकटो से हमे गोदी मे लेकर तुमने हमारी रक्षा की है। सचमुच तुम स्नेहमयी माता हो। सब प्रकार से तुम्हारी विजय हो।

अब रात्रि मिट गई है, प्रभात हुआ है। पूर्व के उदय पर्वत के शिखर पर रवि-बिम्ब का उदय हुआ है। पक्षी गाने लगे हैं। पुण्यदायी पवन नवजीवन रस फैलाता है। तुम्हारी करुणा, वही हमारी सुबह। उस सुबह की अरुणप्रभा देखकर भारत अब जागा है और उसने नम्र बनकर अपना मस्तक तुम्हारे चरणो में रखा है। हे राजेश्वर ! हमारे पुरुषार्थ द्वारा तुम्हारी जय हो ! जय हो !

४२. वन्दे मातरम्

(राष्ट्रगीत— राग : काफी— ताल : दीपचन्दी)

सुजलां सुफलां मलयजशीतलां शस्य श्यामलां मातरम्
शुभ्र ज्योत्सना पुलकितयामिनीं फुल्लकुसुमित द्रुमदलशोभिनीम्
सुहासिनीं सुमधुरभाषिणीं सुखदां वरदां मातरम्— वन्दे.
त्रिंशत्कोटि-कंठ-कलकल-निनाद-कराले
द्वित्रिंशत्कोटि भुजैधृत-खर-करवाले
के बोले मातुमि अबले ?

बहुबलधारिणी नमामी तारिणीं रिपुदलवारिणीं मातरम्-वन्दे,
तुमि विद्या, तुमि धर्म, तुमि ह्रदि, तुमि मर्म,
त्वंहि प्राणाः शरीरे
बाहु ते तुमि मा शक्ति, ह्रदये तुमि मा शक्ति
तोमारई प्रतिमा गडी मन्दिरे-मन्दिरे
त्वंहि दुर्गा दश प्रहरणधारिणी, कमला कमलदल विहारिणी,
वाणीं विद्यादायिनी, नमामी त्वम्
नमामि कमलां अमलां अतुलां सुजलां सुफलां मातरम्-वन्दे,
श्यामलां सरलं सुस्मिलां भूषितां धरणीं भरणीं मातरम्-वन्दे मातरम्

* * *

राष्ट्रगीत के बारे में 'जन गण मन' में लिखा ही है।

हमारी भारत-भक्ति प्राचीन काल से उत्कट और उज्ज्वल है। लेकिन अंग्रेजो के सहवास के बाद ही और national anthem गाने का उनका रिवाज देखने के बाद ही हमारा अपना राष्ट्रगीत होना चाहिए, और महत्त्व के प्रसंग पर सबको मिलकर गाना चाहिए। उस प्रकार का आग्रह सर्वत्र चला। उसमे भी पहल बंगाल ने की होगी। वह वस्तु महाराष्ट्र ने उठा ली, और देखते-ही-देखते सारे देश में फैल गई।

उस समय बंगाली साहित्य-स्वामी बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय करके एक प्रसिद्ध लेखक थे। उन्होंने 'आनन्दम ' करके मुस्लिमकाल का एक उपन्यास लिखा। उस उपन्यास में कुछ देशभक्त साधु काली माता के मन्दिर में इकट्ठे होकर एक गीत गाते थे। वह माता का स्तोत्र भी था। ैर उस समय का भारतमाता का राष्ट्रगान भी गिना जा सकता है।

हमारे ज़माने के बंगाल के लोगों ने उसी गीत को राष्ट्रगीत के रूप में चलाया। १९०८-९ के वे दिन होंगे। उस गीत में "वन्देमातरम्" ये शब्द बार-बार आता है और ललकारने का होता है। (वास्तव में वह मूल गीत देवी उपासना के धार्मिक गीत के रूप में भी चले, और भारतमाता क गीत भी माना जाये उस ढंग से लिखा था। मुसलमान, ईसाई आदि भिन्नधर्मी लोग उसको राष्ट्रगीत के रूप में किस प्रकार स्वीकार कर सकते थे। ?

अन्त में राष्ट्रहृदय ने निश्चित किया कि उस गीत की पहली पंक्ति को ही राष्ट्रगीत मानना। त्वं हि दुर्गा दश-प्रहरण-धारिणी आदि हिस्सा तो छोड़ ही दिया।

सारे हिन्दुस्तान में जब उसका स्वीकार हुआ तब सप्तकोटि कण्ठ के बदले 'त्रिंशत्, कोटि कण्ठ' और 'द्विसप्तकोटि भुजैर,' आदि शब्द रखे गये।

सारे राष्ट्र का वह गीत होने से उसके अन्तिम हिस्से में दुर्गा और कमला आदि

का उल्लेख आया था। वह हिस्सा भी निकाल देना पड़ा।

राष्ट्रगीत के रूप में 'वन्देमातरम्' गाया जाता था। उसके स्थान पर 'जन गण मन' गीत जैसे-जैसे अधिक लोकप्रिय बनने लगा वैसे-वैसे इस राष्ट्रगीत का महत्त्व कम हुआ। और अपनी भजनावली में हमने पहली तीन पंक्तियों की ही एक कड़ी रखी थी।

अब हम भारतमाता को विश्वशान्ति की और समस्त मानव-जाति की सेवा और उन्नति का प्रतिनिधि मानने लगे हैं। इसलिए अब 'सशस्त्र' का उल्लेख और 'रिपुदल के साथ लड़ने का हिस्सा' निकाल ही दें। लेकिन बाकी का हिस्सा जितना रख सकें उतना रखना चाहिए।

'वन्देमातरम्' उस गीत को हमने स्वीकार किया था, चलाया था और आज भी इसे राष्ट्रगीत के रूप में कोई गाये तो उसे मान्य रखें। इसलिए 'वन्देमातरम्' गीत के दो खण्ड हम लें।

अर्थात तुमि विद्या तुमि धर्म से लेकर मन्दिरे-मन्दिरे तक तीनों पक्तियाँ लें।

और सबसे आखिरी पंक्ति श्यामलां सरलां सुस्मितां वह भी पूरी पंक्ति अन्त में जरूर आये।

अब बीच के खण्ड की अन्तिम पंक्ति का विचार करना पड़ेगा।

'तोमारई प्रतिमा गडी मन्दिरे मन्दिरे' अर्थात प्रत्येक मन्दिर में तुम्हारी मूर्ति बनायेंगे, स्थापना करेंगे। ऐसा अर्थ लें तो 'मूर्तिपूजा के विरोधी लोग' आपत्ति उठायेंगे। लेकिन अगर उसके बदले हम रखेंगे कि 'तोमारई प्रतिमा गडी हृदय मन्दिरे' तो फिर मूर्तिपूजा का भाव उसमें आता नहीं है, भारतमाता की मानसिक मूर्ति प्रत्येक हृदय-मन्दिर में स्थापित हो वह पवित्र भावना सभी को ही मान्य हो सकती है।

समन्वय-संस्कृति की ओर

प्रकाशकीय

सर्व सेवा संघ की ओर से प्रकाशित होने वाली काकामाहब की यह तीसरी पुम्तक है। इसके पूर्व काकामाहब की दो पुस्तकें—'सत्याग्रह-विचार और युद्ध-नीति' तथा 'शान्ति सेना और विश्व शान्ति'— प्रकाशित हो चुकी है।

'समन्वय संम्कृति की ओर' में काकासाहब के मर्व-धर्म समन्वय, सर्व धर्म ममभाव विषयक विचारो का सकलन है। भाषण, लेख, मन्देश, चिन्तन आदि विविध रूपो मे काकासाहब ने 'विश्व के ममस्त धर्म पन्थो के सह-जीवन, सह अस्तित्व पर) अपने विचार व्यक्त किये हैं। और अन तो मर्व धर्म समन्वय को काकामाहब ने अपने शेष जीवन का सर्वोपरि मिशन ही बना लिया है। उनका यह संकल्प विज्ञान-युग की मॉग तो है ही, श्रद्धा और मानवीय निष्ठा की भी माँग है।

धर्मो की विविधता से जहाँ वैचारिक स्वतन्त्रता का विकास होना चाहिए, वहाँ देखा गया है कि लोग धर्मो की परिमीमाओ, ग्रन्थों, परम्पराओ और शब्दो मे ऐसे चिपट जाते हैं, जैसे भयभीत बालक माँ मे चिपट जाता है। जरूरत चिपटने की नही, भय मे मुक्त होने की है और विचार की सडक बनाकर उम पर चल पडने की है। धर्मो ने मूलत: मनुष्य को अभय, म्वतन्त्र और हल्का होने का ही पाठ दिया है लेकिन हुआ कुछ विपरीत ही।

यह विज्ञान का युग है। विज्ञान और धर्म एक दूमरे के पूरक हैं। एक मे चलना शुरू करके दूमरे तक पहुँचा जा मकता है। लेकिन आबद्ध व्यक्तित्व दोनो मे विरोध देख लेता है और दोनों मिरे के व्यक्तित्व एक दूमरे को मिथ्या समझ बैठते है। विज्ञान और धर्म का ही नहीं धर्मो धर्मों के बीच भी कम संहार लीला नहीं हुई है।

काकामाहब की यह रचना हमें धर्मो की एकता समता की ऐमी मंजिल पर पहुँचने मे मदद करती है जहाँ भेद तिरोहित हो जाता है और शुद्ध मानव-धर्म स्फटिक की तरह चमकने लगता है।

स्वतन्त्र भारत का सर्वोपरि मिशन

मैं आजकल की राजनीतिक परिस्थिति का या राष्ट्र के पाँच-दस वर्ष के जीवन-क्रम का विचार नहीं कर रहा हूँ। भारतीय जनता की युगानुयुग से चलती आयी जीवन-यात्रा का विचार करते हुए मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि अगर भारत के पिछले दो-तीन हजार वर्ष के इतिहास का कोई अर्थ है और भारत-भाग्य-विधाता ने इस राष्ट्र के हाथों साधना चलाकर हमें किसी मिशन के लिए तैयार किया है तो सैकड़ों वर्षों की यातना और यन्त्रणा के बाद भारत को जो आजादी मिली है, वह कोई गम्भीर और विशाल युग-कार्य करने के लिए ही है।

हमारे देश में परदेशी लोगों के आने के पहले की भारत की जीवन-साधना अलग ढंग की थी। उसके चिन्तन की महत्त्वाकांक्षा तो लोकोत्तर थी, किन्तु उसके अनुसार हमारा जीवन-क्रम, जितना चाहिए था, उतना सर्व-संग्राहक और सर्वोन्नतिकारक साबित नहीं हुआ।

हमने अत्यन्त सन्तोष से और पूरी-पूरी भक्ति से भारत-भूमि की उपासना की और बाहर की दुनिया का सम्बन्ध तो क्या, चिन्तन भी नहीं के बराबर चलाया। हम भारत के बाहर नहीं गये। तब मानव-संस्कृति के अधिष्ठाता नारायण ने बाहर के लोगों को इस देश में लाकर उनको हमारे राज्यकर्ता का स्थान दे दिया। तब से हमें चिन्तन के द्वारा नहीं, परास्त जीवन के द्वारा संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन करना पड़ा।

दुनिया के सब मानव-वंश प्रतिस्पर्धा, संघर्ष और युद्ध के द्वारा जीवन का पाठ सीखते हैं और जीवन-संघर्ष में जो विजयी होते हैं, वे विकास और विस्तार की साधना करते हैं। हमें भी ऐसे संघर्ष का थोड़ा-बहुत परिचय भगवान ने कराया, लेकिन हमारी जीवन-साधना संघर्ष के लिए इतनी अनुकूल नहीं थी, जितनी सह-अस्तित्व के लिए थी। हम लोगों ने विविधता को केवल प्रश्रय ही नहीं दिया, उसका मानो एक महोत्सव चलाया। असंख्य जातियाँ, अनेकानेक उपास्य दैवत, अनेकविध भली-बुरी जीवन-साधना, वर्ण-आश्रम, अनुलोम-प्रतिलोम विवाह, तरह-तरह के उद्योग-हुनर, सब तरह की विविधता को हमने परिपुष्ट किया। इसी की

पूर्ति के लिए अनेक वंश के लोग इस देश में आ बसे। अपने-अपने धर्म वे ले आये। उनकी और हमारी, इच्छा हो या न हो, सबको सह-अस्तित्व की भूमिका मंजूर करनी पड़ी। और आज भारत बहु-वशी, बहु-धर्मी, बहु-भाषी और बहु-पक्षीय समाज और राष्ट्र बन गया है।

मानव के हृदय मे बैठकर उसे गति देनेवाला नारायण भारतीय प्रजा से अब कहता है कि तुम लोगो ने आज तक सह-अस्तित्व की काफी साधना की है। बाकी की दुनिया सह-अस्तित्व का प्राथमिक पाठ ही सीख रही है। तुम लोग सह-अस्तित्व के माहिर और प्रवीण बन गये हो। किन्तु परस्पर सहयोग के बिना, घनिष्ठ सम्पर्क के बिना और ओत-प्रोत हुए बिना मानव-जाति का जीवनोद्देश्य कृतार्थ नहीं हो सकता। संघर्ष की अपेक्षा मह-जीवन निस्सन्देह श्रेष्ठ है, किन्तु सहयोग के बिना सह अस्तित्व केवल वन्ध्य ही नहीं, विकृत और जहरीला हो जाता है। जहाँ सह-अस्तित्व शुरू हुआ, वहाँ क्रमश: परस्पर परिचय, परस्पर सद्भाव और एक-दूसरे को ओत-प्रोत करनेवाला महयोग स्थापित होना ही चाहिए।

ऐसे सहयोग में नीचे मे ऊपर तक और छोटे से बडे ममाज तक पूर्ण स्वतन्त्रता, स्वावलम्बन और परस्पगवलम्बन की सामर्थ्ययुक्त प्रतिष्ठा की समानता और हार्दिक ऐक्य की स्थापना होनो ही चाहिए। जीवन-विकास और जीवन-उत्कर्ष के लिए भेद और अभेद दोनो की आवश्यकता है। और दोनों का सामजस्य ही जीवन को उत्कर्ष का रास्ता बताता है। इमी को समन्वय कहा जाता है। समन्वय मे ही जीवन सिद्धि है।

भगवान कहते हैं कि बाकी की दुनिया को मघर्ष छोडकर सह-अस्तित्व स्वीकार करना मैं अपने ढंग मे सिखा रहा हूँ। भारत के लिए मेरी माधना दूसरी है। मानव जाति के लिए संघर्ष की साधना अब कालग्रस्त हो गयी है। अब संघर्ष नही, किन्तु खास ढंग का सह अस्तित्व चलेगा। परस्पर आदर-प्रेरित समानता के वायुमण्डल में सह-अस्तित्व चलेगा। आगे जाकर ऐसे मह-अस्तित्व मे मे एक-दूसरे को ओत प्रोत करनेवाला जीवन-महयोग फलित होना चाहिए।

सह अस्तित्व का आदर्श हमारा भारत इस सहयोग की साधना के लिए यदि समन्वय-वृत्ति का विकास करेगा, तो भारत ही दुनिया के अन्य वशों को, राष्ट्रो को, राष्ट्र-संघों को और संस्कृतियों को विकास का रास्ता बता सकेगा।

इसके लिए भारत को दुनिया से बहुत कुछ सीखना है। आज तक भारत जो कुछ सीखा, दास्य की हालत में लाचारी मे सीखा। अब स्वतन्त्र भारत को दुनिया के साथ सहयोग और पुरुषार्थ करते हुए स्वेच्छा से बहुत कुछ सीखना है, ताकि वह सब वशों के साथ राष्ट्रो के साथ आदान-प्रदान कर सके।

भारत के लिए अब संघर्ष की साधना है नहीं। वह तो अब पुरानी, कालग्रस्त

और नि:सत्त्व हो गयी है। दुनिया के इतिहास का अनुभव है कि अब सघर्ष का मतलब है सर्वनाश। जिस राष्ट्र ने सघर्ष को टालकर सह-अस्तित्व को अपनाया, उसी को अब समन्वय के द्वारा स्वतन्त्र सहयोग का रास्ता साफ करना है। इसके लिए भारत को प्रथम आन्तरिक परिवर्तन करना होगा आन्तरिक क्रान्ति करनी होगी। सह-अस्तित्व से एक कदम आगे बढकर सब घटको को ताने-बाने के रूप मे ओतप्रोत होना होगा। ताने बाने के धागे अपना व्यक्तित्व कायम रखकर बुने जाते हैं और जीवन-पट तैयार करते हैं। उसी तरह समन्वय के पथ पर चलकर सब धर्मो को, सब वशो को, सब जातियो को और सब जीवन-प्रयोगो को समृद्ध बनना है।

भारत के लिए बचने का, उद्धार का, विकास का, समृद्धि का और विश्व-सेवा का यही एकमात्र रास्ता है, जिसे दुनिया विश्व-समन्वय के नाम से पहचानेगी।

सघर्ष का आकर्षण छोडकर, सह-अस्तित्व से ऊपर उठकर, भारत को अब समन्वय के पथ पर आगे बढना है।

पिछले सौ सवा सौ वर्षो से भारत के सब मनीषी कमोबेश इसी समन्वय की उपासना करते आय हैं। हमारे जमाने म राजा राममोहन राय, न्यायमूर्ति रानडे, स्वामी विवेकानन्द, श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, योगी अरविन्द आदि लोगो ने जो तेजस्वी साधना की उसी को एकत्र करके महात्माजी ने सर्व-समन्वय के द्वारा भारत को पूर्ण-स्वराज्य का दर्शन कराया। अब भारतीय संस्कृति की समन्वित एकता सिद्ध करने का प्रयास जो लोग कर रहे हैं, उनकी दो दिशाएँ हो गयी हैं। बीज जब उगता है, तब उसमें से दो अंकुर निकलते है। एक अकुर जमीन मे घुसकर जडो का विस्तार करता है। दूसरा अकुर जमीन से बाहर उठकर वृक्ष का तना बनता है, जिसमें से दो शाखाएँ फैलती है। इस बाहरी जीवन के प्रति निधि रूप काग्रेस का नेतृत्व जवाहरलालजी ने किया। अन्दरूनी जडो को मजबूत करनेवाली रचनात्मक प्रवृत्तियो के प्रतिनिधि विनोबाजी हैं। इन दो प्रवृत्तियो का सामजस्य और समन्वय होगा, तभी भारत-वृक्ष का उत्कर्ष होगा और तब उत्कृष्ट भारत दुनिया की सेवा कर सकेगा। अन्ततः दुनिया को समन्वय की ओर ही जाना है। भारत ने अगर समन्वय-सिद्धि पायी, तो भारत विश्व की सेवा सफलतापूर्वक कर सकेगा।

मानव-प्रयत्नों मे मनुष्य की अपूर्णता और एकागिता प्रकट होती ही है। आजकल की इस द्विविध प्रवृत्ति में भी एकांगिता पायी जाती है। मनुष्य अपनी मर्यादा के अन्दर रहकर ही काम कर सकता है। इसलिए असख्य लोगों को अपनी अपनी साधना का परस्पर पूरक कर-भार देना पडता है। सबके सहयोग से ही मंगल घट भर सकता है।

हमारे सारे प्रयत्न विश्व-साधना के अंशमात्र हैं। विश्व-साधना के अन्तिम

स्वामी स्वयं नारायण पुरुषोत्तम ही हैं। हमारे द्वारा उनकी साधना अपना काम करती है। हमारा काम उस विश्व-साधना में श्रद्धा-भक्ति से शरीक होना ही है। विश्वरूप से अपनी लीला चलाने वाले विश्व-स्वामी ही जानता है कि हमारी साधना कैसा रूप लेगी और किस ढग से उसे सफलता प्राप्त होगी।

(२)

समन्वय साधना का चिन्तन करते-करते जो कुछ साहित्य समय-समय पर समाज के सामने रखना पडा, उसी का यह मर्यादित और अपूर्ण संग्रह है। समाज की सेवा करते जिस समय, जिस विचार को प्रधानता देनी पडी, उस विचार को आगे करके ये लेख लिखे गये हैं। इनमें पुनरुक्ति तो है, जो सामान्य तौर पर दोषरूप मानी जायेगी, किन्तु मैं नही मानता कि यहाँ पर पुनरुक्ति दोषरूप है। यो देखा जाय तो भगवान के नाम सकीर्तन मे पुनरुक्ति के अलावा दूसरा है क्या ? महात्मा जी ने सत्य, अहिसा, संयम, सेवा खादी, ग्रामोद्योग, अस्पृश्यता-निवारण और राष्ट्रीय एकता जैसे तत्त्वों का रटन क्या कम किया ? एक ही बात भिन्न-भिन्न सन्दर्भ मे ताजगी के साथ सुनने से मन में दृढ़ होती है और मनुष्य को कार्य प्रौढ बनाती है।

इतिहास, धर्म, साहित्य, कला, जीवन-साधना, क्रान्ति, सुधार और नवसर्जन आदि मानव-प्रेरणाओ का चिन्तन करते हुए जो भी हित का और उन्नति का रास्ता दीख पड़ा, उसी का दर्शन पवित्र भाव से यहाँ कराया है। मै आशा करता हूँ कि पाठक को यहाँ भागत भाग्य विधाता का युगानुकूल सन्देश मिलेगा।

जब मेरी जीवन-यात्रा पूरी होने का समय आया है, तब देश के अनेक तरुण-तरुणियो की जीवन यात्रा का पुरुषार्थी प्रारम्भ होनेवाला होगा। उनके लिए अगर यहाँ थोडा भी पाथेय मिला, तो मुझे सन्तोष होगा। लेखक मेरा है, लेकिन इसके पीछे की प्रेरणा विश्व-स्वामी की है। इसलिए उसी का स्मरण करके उसके सेवको के हाथो से यह पाथेय अर्पण करता हूँ। पाठक अपने हृदय मे सर्वान्तर्यामी जगन्नाथ का अधिष्ठान महसूस करे।

—काका कालेलकर

सन्निधि
राजघाट, नयी दिल्ली
१५ ४-६७

१. समन्वय की साधना

१. भारतीय संस्कृति की सर्वोच्च साधना : मानव-समन्वय

भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ प्रतिनिधि कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारत को मानव-संस्कृतियों का सागर कहा और उस पुण्यतीर्थ में माता के मंगल घट को भर देने के लिए सब लोगों को आमंत्रित किया। भारत का समग्र इतिहास देखने से एक बात स्पष्ट होती है कि इतिहास-विधाता ने भारत के लिए एक सर्वोच्च साधना मुकर्रर कर रखी है। साधना जितनी श्रेष्ठ, उतनी ही उसकी यंत्रणा दुःसह होती है। भारत ने श्रद्धा के साथ आज तक अपनी साधना चलायी है और उसे उसकी कीमत भी चुकानी पडी है। महात्माजी का बलिदान भी उसी कीमत का एक मुश्त (एक अंश) था।

पृथ्वी के बाल्यकाल में भारत का जन्म हुआ। तब उसे भौगोलिक क्रान्तियाँ सहनी पडीं। जहाँ एक बहुत बडा सागर था, वहाँ बडी उथल-पुथल हो गयी और हिमालय जैसा अद्वितीय पहाड ऊपर आया। हिन्द और अफ्रीका के बीच जो बड़ा भूमि-भाग था, वह दब गया और वहाँ पश्चिम सागर तैयार हुआ। उस भौगोलिक क्रान्ति का अनुभव जिन लोगों ने किया होगा, उनमें कितनी बडी जीवन-सिद्धि विकसित हुई होगी ।

सिन्धु, गंगा, ब्रह्मपुत्र आदि नदियों का जन्म और विस्तार जिन लोगों ने देखा होगा, उनके हृदय पर उसका क्या असर हुआ होगा ? मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा आदि स्थानों में जिस प्रगल्भ संस्कृति के अवशेष पाये जाते हैं, उसका इतिहास आज कौन कहे ? उनका पशु-पालन, उनका धान्य-संग्रह, उनके गहने, उनकी पूजा-अर्चा, उनका स्नानानन्द, उनकी स्थापत्यकला, उनके औजार और उनकी चित्र-लिपि— सब कुछ अद्भुत है। वह संस्कृति पश्चिम एशिया में दूर तक फैली थी। हम नहीं जानते कि उसका और दक्षिण की द्राविड संस्कृति का क्या और कैसा सम्बन्ध था।

अपने सामने एक उदात्त आदर्श रखनेवाले आर्य जब इस देश में आये, तब

वे कितनी जीवन-समृद्धि अपने साथ लाये होंगे ! वे आये कहाँ से ? पहले वे कहाँ थे ? उत्तर ध्रुव के पास ? स्विट्जरलैण्ड की झीलों के इर्द-गिर्द या जहाँ आज भूमध्य सागर है, वहाँ के किसी जलमग्न खण्ड पर ? कोई कहते हैं, हम लोग कश्यप-समुद्र से यहाँ आये। कोई कहते हैं, मध्य एशिया से। कुछ भी हो, हमारे पुरखों के स्मृति-साहित्य में इन सब स्थानों के जिक्र का अनुमान है।

दानशील दास और विजिगीषु आर्य दोनों का बडा संघर्ष भारत-भूमि पर हुआ। और छोटे-छोटे गोत्र एकत्र होकर विशाल समाज की स्थापना हुई और उसने चार वर्णों की व्यवस्था सोची।

जहाँ दृष्टिभेद है, जीवनभेद है, हित-सम्बन्धों का विरोध है, वहाँ संघर्ष अनिवार्य है। हमारे पुरखों ने सैंकड़ों और हजारों वर्षो तक ऐसा संघर्ष चलाया होगा। अन्त में उनकी जीवन-श्रद्धा ने निर्णय दिया कि संघर्ष नहीं, किन्तु समन्वय ही मानव-जीवन का आदर्श हो सकता है। जहाँ भेद है तनाजा है और खोज है, वहाँ समन्वयकारी नूतन दृष्टि और नूतन सृष्टि का जन्म अनिवार्य है।

दक्षिण के लोग हृदय के कोमल थे, इसलिए उनको 'द्रविड' कहते थे। उन्होंने बड़े-बड़े शहरों की स्थापना की, स्थापत्यकला का विकास किया। तालाब और नहर के पानी के उनके नियम देखकर भी उनकी संस्कृति की गहराई का अच्छा खयाल आ सकता है।

आर्यों और अनार्यों के संघर्ष का कुछ-न-कुछ खयाल हमें मिल सकता है, किन्तु आर्यों के और द्रविडों के बीच कोई विशेष संघर्ष हुआ हो तो उसका इतिहास हमारे पास नहीं है। इन दोनों के सहयोग से जो एक भव्य संस्कृति का जन्म हुआ, उसी को हिन्दू-संस्कृति कहते हैं।

इस सस्कृति के मुख्य दो विभाग थे : एक थी 'पौर' यानी शहरों की संस्कृति और दूसरी 'जनपद' यानी गाँवों की संस्कृति। सम्भव है, उन दिनों इन दोनो के बीच अच्छा समन्वय रहा हो। बड़े-बड़े विचारशील और कर्तृत्वशील व्यक्ति शहरों में भी पाये जाते थे और गाँवों में भी।

इसके अलावा एक 'आरण्यक' संस्कृति थी, जिसमें ऋषि-मुनि रहते थे और तत्त्वचिंतन के नये-नये क्षेत्र खोलते थे।

इतना तो कबूल करना चाहिए कि छोटे-बड़े नगर, किसानों के और ग्वालों के गाँव और ऋषि-मुनियों के आश्रमों को छोड़कर बाकी का जो प्रदेश था, उसमें राज्य-सत्ता का अंकुश नहीं के जैसा था। चोर-लुटेरे और ठगों से बचने के लिए मुसाफिरों को बड़ी ही सावधानी बरतनी पड़ती थी। कहीं-कहीं नरभक्षी राक्षस भी रहते, जिनके कारण जगह-जगह पर आबादी नष्ट हो जाती।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ठीक ही कहा है कि भारतीय संस्कृति बड़े-बड़े शहरों

की नहीं, किन्तु गाँवों और वृक्ष-वनस्पति की आरण्यक संस्कृति थी। कहीं-कहीं जंगल तोड़-तोड़कर आबादी बसानी पड़ी थी। अगस्ति जैसे ऋषियों का ही काम था कि जंगल काट-काटकर आश्रम की स्थापना करें और वहाँ आबादी बढ़ने पर पहाड़ों में नये रास्ते बनाकर और आगे बढ़ते जाएँ।

वृक्ष, वनस्पति के परिचय के साथ वनस्पति का विज्ञान बढ़ा, वनस्पति के गुण-धर्म मालूम होने से आहार-शास्त्र और आरोग्य-शास्त्र मे खुराक के तौर पर और दवा के तौर पर उनका उपयोग बढा। चन्द्र-किरणों का वनस्पति पर होनेवाले असरों का सूक्ष्म अध्ययन बढा और वनस्पति, जानवर और मनुष्यों के बीच जो मूलगत एकता है, उसकी ओर ध्यान गया। सर्वत्र एक ही चेतन्य का विलास देखकर सारी जाति को अहिंसा का साक्षात्कार हुआ। और वही हो गयी हमारी संस्कृति की विशेषता।

इसका अर्थ यह नहीं कि सबके सब लोगो ने मांसाहार का त्याग किया। यह भी नहीं कि जाति-जाति के बीच विग्रह का वायुमण्डल टल गया। हम यह भी नहीं कह सकते कि एक वर्ग ने दूसरे वर्ग का शोषण बन्द किया। सबके सब क्षत्रिय और अक्सर ब्राह्मण भी युद्ध की तैयारी करते और ईर्ष्या असूया के शिकार बनकर मनुष्य के खून की नदियाँ बहाते थे। पशुओं को मारकर बडे-बडे यज्ञ सम्पन्न करना धर्म-श्रद्धा की निशानी मानी जाती थी। लेकिन यह सब होते हुए भी लोगों का सामान्य स्वभाव प्रेम, सहयोग, अद्रोह और क्षमा का ही रहा था।

समन्वय की सूक्ष्म कला तक लोग नहीं पहुँचे थे, लेकिन परस्पर सहिष्णुता इतनी बढ़ी थी कि सारी जाति की सब शक्ति विग्रह टालने पर ही आजमायी जाती थी। आज भी हमारा वह स्वभाव जैसा का तैसा मौजूद है। हमारे शास्त्रों ने भी साम, दाम, भेद और उपेक्षा चारों प्रकार पूरी तरह से आजमाने के बाद ही दण्ड का प्रयोग आजमाने की इजाजत दी है।

यही कारण है कि हमारे देश ने और किसी भी देश के साथ आज तक युद्ध नहीं किया। हमारे जितने भी युद्ध हुए, देश के अन्दर-अन्दर ही हुए और उसमें भी अक्सर सिर्फ एक क्षत्रिय जाति ही लड़ लेती थी। युद्ध भी ऐसी जगह पसन्द करके किये जाते, जिससे खेती और मनुष्य की आबादी को नुकसान न पहुँचे। कभी-कभी बड़ी-बड़ी सेनाओं के युद्ध को छोडकर दो प्रधान वीरों के द्वन्द्व-युद्ध से ही निपटारा हो जाता। मनुष्य-हित को समझनेवाले राजा लोग सोचने लगे कि संघर्ष है हम राजाओं के ईर्ष्या-द्वेष के बीच, लोभ और महत्त्वाकांक्षा के बीच, तो हम ही एक-दूसरे से लडकर फैसला क्यों न करे ? दोनों तरफ की बेचारी सेना ने क्या गुनाह किया है कि हमारे कारण वह लड़ मरे ? जरासंध ने कई बार यादवों पर हमला किया था। यादवों ने हर समय जरासंध का पराभव किया और

उसे वापस भगाया। लेकिन यादव कहने लगे कि मगध के लोगो की हम यादवो से तनिक भी दुश्मनी नहीं है। इस कृष्ण के ही कारण जरासंध हमें परेशान करता है। हम विजय तो पाते हैं, लेकिन हमारा कितना नुकसान होता है। यह कहाँ तक चलेगा ? श्रीकृष्ण को भी बात जँची और उन्होंने देशान्तर किया। लेकिन जब देखा कि जरासंध का आतंक बढता ही जाता है, तब श्रीकृष्ण ने भीम और जरासंध के बीच द्वन्द्व-युद्ध करवाया और लोक-संहार को टाला।

इस तरह हमारी संस्कृति ने विग्रह को गौण किया और समन्वय को मानवीय जीवन का अन्तिम आदर्श माना।

समन्वय तब हो सकता है, जब भेद के तत्त्व गौण समझे जाते हैं। हम लोगो ने दार्शनिक क्षेत्र मे अद्वैत को स्वीकार किया और भेद को भ्रमजाल कहा, लेकिन जीवन में हम भेदवादी ही रहे। नतीजा यह हुआ कि हमारे पास उच्च-से-उच्च तत्त्वज्ञान रहते हुए भी हमारी जीवन-दृष्टि सकुचित और धुँधली ही रही।

अद्वैत तक ले जानेवाले समन्वय से हम डरे और अधिकार-भेद की बात बीच मे लाकर तत्त्व और व्यवहार का द्वैत ले बैठे। परिणाम क्या हुआ, सो भारत का इतिहास जानता है— बताता है।

मई, १९५०

२. अगला कदम—नया समन्वय

अद्वैत वेदान्त के आद्य आचार्य आर आदि शकराचार्य क परात्पर गुरु श्री गौडपादाचार्य अपनी एक कारिका मे कहते हैं कि दूसरे दर्शन आपस मे भले विवाद करते रहे, अद्वैत-दर्शन समन्वयवादी होने के कारण उसका किसी के भी साथ झगड़ा नहीं है।

जैनो के स्याद्वाद या एकान्तवाद के अनुसार सत्य एक ही है फिर भी देखनेवाले की दृष्टि एकागी होने के कारण सत्य का उसे आंशिक साक्षात्कार होता है। एक मनुष्य एक तरफ से देखकर सत्य का एक तरह से वर्णन करता है, दूसरा मनुष्य दूसरी तरफ से देखकर उसी सत्य का बिलकुल विपरीत शब्दो मे निरूपण करता है। साँवला मनुष्य बिलकुल काले मनुष्य के मुकाबले मे गोरा साबित होता है और गोरे के साथ तुलना करने पर काला ठहराया जाता है। दिल्ली की दृष्टि से नागपुर शहर दक्षिण की ओर है। पूना के लोग उसे उत्तर की तरफ मानते हैं। नागपुर से अगर पूछा जाय तो वह कहेगा, 'मैं अपने विश्व के केन्द्रस्थान मे हूँ। औदीच्य या दक्षिणात्य जैसे विशेषण मैं अपने-आपको क्यो लगाऊँ ? हाँ, इसमे कोई शक नही कि पूना मेरे दक्षिण की ओर है और दिल्ली उत्तर की ओर।'

स्याद्वाद ध्यान मे आने के बाद बुद्धि और हृदय दोनों समन्वय की दृष्टि स्वीकार

करने को तैयार हो जाते हैं।

स्याद्वाद की दृष्टि कहती है : भाइयो, अपने-अपने अनुभव दुनिया के सामने रखो, लेकिन दूसरे के अनुभव को सही या गलत कहने का आपको कोई अधिकार नहीं है। आपके अनुभव के मूल मे आपकी दृष्टि या भूमिका होगी। दूसरे की दृष्टि उससे भिन्न हो सकती है। अपनी निजी भूमिका पर से उसको जो अनुभव हुआ, वह आपसे भिन्न होगा ही। फिर भी वह आपसे कम सच्चा हो, इसका कोई कारण नहीं है। आपको जिस तरह अपने अनुभव का विश्वास होता है और आप उसका आदर भी करते हैं, उसी तरह दूसरा भी अपने अनुभव के बारे में करेगा ही। भले आप दूसरे के अनुभव को स्वीकार न करें, उसके बारे में तटस्थ रहिये। लेकिन दूसरे की दृष्टि के लिए आपके मन में आदर अवश्य होना चाहिए। भिन्न-भिन्न दृष्टियों के बारे में आदर होना समझदारी का और संस्कारिता का लक्षण है।

पुराने जमाने में लोग वाद-विवाद करते और कहते कि जो हार जाय, वह दूसरे का शिष्य बने। कई लोग अपना सिर देने को तैयार हो जाते थे। आज का मनुष्य अपने प्रतिपक्षी से कहेगा, देखो भाई, मेरी बात मैं तुम्हारे गले नहीं उतार सकता, इतनी मेरी हार तो मुझे कबूल करनी ही होगी। लेकिन तुम्हारी बात मुझे जँचती नहीं, उसका क्या ? इसलिए उचित यही है कि हम अपने परस्पर मतभेद स्वीकार करने को तैयार हो जायें। इस तरह की समझदारी से ही शान्तिमय सहचार मनुष्य-जाति को मान्य होने लगा है। आपका कहना आपको मुबारक, मेरा मुझे। अब हम समझदारी से तय करें कि कोई भी किसी का रास्ता न रोके। चिन्तन करते-करते एक ही दृष्टि दूसरे को मान्य होगी, तब होगी। सत्य एक ही होने के कारण कभी-न-कभी एक-दूसरे का कहना एक-दूसरे को मान्य होना ही चाहिए। तब तक धैर्य रखने की और राह देखने की दोनों ओर से तैयारी होनी चाहिए। कभी-कभी उच्च भूमिका पर पहुँचने के बाद ही भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ एक साथ सहज मान्य होती हैं।

हमारे देश में बौद्ध, जैन और वेदान्त, ऐसी तीन विचार-धाराएँ चलती आयी हैं। वेदान्त हमें आत्मौपम्य की साधना बनाता है और आत्मैक्य का सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ हमारे सामने रखता है। जीव और जगत एक ही हैं, आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं, सर्वत्र एक ही अद्वैत का अखण्ड स्फुरण हो रहा है— यह बात ध्यान में आने के बाद कौन किसकी हिंसा करेगा ? हर एक हिंसा तत्त्वतः आत्म-हत्या ही है। इतना समझने के बाद हर एक के लिए अहिंसा स्वाभाविक ही बन जाती है।

समं पश्यन् हि सर्वत्र, समवस्थितम् ईश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानम्, ततो याति परां गतिम्।।

इस एक श्लोक में वेदान्त का रहस्य आ जाता है और वेदान्तमूलक आचार की नीति भी आ जाती है।

जैन-दर्शन अनेकान्त की भूमिका पर से 'केवल ज्ञान' की कल्पना करा देता है। ईश्वर है या नहीं, इस चर्चा मे वह नहीं उतरता। जीवन-साधना को ईश्वर मे क्या लेना-देना है ? तपस्या द्वारा सब दोषों को जला दिया, स्याद्वाद से दृष्टि को निर्मल किया कि फिर आत्मसाक्षात्कार होगा ही और जीवन भी सार्थक होगा।

बौद्ध दर्शन कहता है : आत्मा और परमात्मा, जीव और ईश्वर की झझट मे आप पडे ही क्यों ? हमारा सम्बन्ध आता है जीवन के साथ। हमारा ध्येय जीवन की उन्नति करना है। हमारा नित्य का अनुभव है कि जीवन दुःखमय है। वह दुःख वासना के कारण पैदा होता है। वासना-विजय से दुःख दूर होकर जीवन शुद्ध होता है। ऐसी जीवन-सिद्धि का मार्ग है— शुद्ध जीवन-दृष्टि, शुद्ध सकल्प, शुद्ध प्रवृत्ति, शुद्ध जीविका आदि आठ प्रकार की साधना। हमारा कर्तव्य है जीवन के प्रति। एक बार जीवन शुद्ध हो गया और अहकार का नाश हुआ तो फिर जो स्थिति होगी, उसी को निर्वाण कहते हैं।

'निर्वाणपरमा शान्ति' प्राप्त करने के लिए मनुष्य को धर्माचरण करना चाहिए। हम आज जिसे धर्म कहते हैं, वह वस्तु बहुत जटिल बन गयी है। शास्त्र, पुराण, तरह-तरह के पन्थ, त्योहार, व्रत-वैकल्य, श्राद्धादि संस्कार, भूत प्रेतो की पूजा, दानधर्म, सदाव्रत— कौन सी बात का धर्म मे समावेश नहीं होता ? भगवान बुद्ध अपने उपदेश मे जिस धर्म का उल्लेख करते थे, उसी को हम 'धम्म' कहे। सब पाप-कर्मों का त्याग करना, कुशल कर्म करते रहना, चित्त शुद्धि के लिए प्रयत्न करना, संयमपूर्वक जीवन व्यतीत करना और अहकार छोडकर अन्तिम शान्ति तक पहुँचने की तैयारी करना, इसको भगवान 'धम्म' कहते है। 'कल्याणो धम्मो'। धर्म का पालन करने से, अनुशीलन करने से ही व्यक्ति का, समाज का और विश्व का कल्याण होता है।

१५-२-'५७

३. विश्व-शान्ति के लिए समन्वय

दुनिया के प्रधान धर्म छह हैं। इन धर्मो के अनुसार चलनेवालों की संख्या का खयाल तो होना ही चाहिए। लेकिन ऐसा खयाल न करते हुए केवल स्वतन्त्र असर करनेवाले प्रधान धर्मो का ही खयाल करना अच्छा होगा। इन छह धर्मो में सबसे पुराना है वैदिक धर्म, जिसको आगे जाकर हम कहने लगे 'सनातन धर्म';

और परदेशी लोगों ने इसको नाम दिया 'हिन्दू-धर्म।'

इस धर्म जितना ही प्राचीन, किन्तु एक ही ऋषि अथवा संस्थापक द्वारा चलाया हुआ धर्म है ईरान की गाथाओं का, जिसे जरतुश्त ने चलाया। पारसी लोग इसी धर्म के अनुयायी हैं। ईरान पर इस्लामियो का आक्रमण होने पर ये लोग अपना धर्म और संस्कृति बचाने के लिए ईसवी सन् ७०० के करीब इस देश मे आये। यहाँ उनको पूरी-पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता मिली। यहाँ के समाज में आराम मे रह सकें, इसलिए उन्होंने यहाँ के दो-तीन रिवाज अपनाये जिनसे उनके धर्म या संस्कृति को तनिक भी बाधा नहीं पहुँचती थी। पारसी लोगों की तादाद इस देश में लगभग एक लाख बीस हजार है। इन्ही के जो धर्मबन्धु ईरान में रहे और किसी तरह अपने धर्म को बचा सके, उनकी संख्या आज बीस हजार होगी। वेद का धर्म और जरतुश्ती गाथा का धर्म ये दोनों सबसे प्राचीन हैं।

इसके बाद आता है तौरात का यहूदी धर्म। वह भी काफी प्राचीन है। इस यहूदी धर्म पर श्री जरतुश्त के गाथाधर्म का काफी असर हुआ होगा।

वैदिक धर्म उत्तर भारत में पनपा। जरतुश्त ने अपना गाथाधर्म ईरान मे चलाया और हजरत मूसा का तौराती धर्म जोर्डन नदी के किनारे इजराइल देश मे चला।

ये तीनों धर्म एक तरह से सनातनी धर्म हैं। तीनों जीवनव्यापी धर्म हैं। तीनों में धर्म पालन का आग्रह है। धर्म प्रचार और संख्या बढ़ाने का आग्रह इनमें नहीं के बराबर है।

यहूदी लोग मानते हैं कि उनका धर्म सिर्फ यहूदियों के लिए ही है। वे अपनी जाति को भगवान की पसन्द की हुई जाति मानते हैं।

इसी तौराती यहूदी धर्म से एक नया धर्म अथवा पन्थ निकला, जिसे इन्जिल का धर्म कहना चाहिए। लेकिन आज इसे विश्वासी अथवा ईसाई धर्म कहते हैं। हजरत ईसा अथवा ईशु का उपदेश जिन्हें पसन्द था, वे ईसाई बन गये। इन्हीं को आज सारी दुनिया क्रिश्चियन कहती है।

जिस तरह यहूदी धर्म से ईसाई---क्रिश्चियन धर्म निकला, उसी तरह वैदिक— सनातनी हिन्दू-धर्म में से दो धर्म निकले, जिन्हें बौद्ध और जैन कहते हैं। वैदिक धर्म की चन्द बातें पसन्द न होने और दूसरी अच्छी अच्छी बातें पसन्द आने से बौद्ध और जैन दोनों प्रवृत्त हुए।

इधर हजरत मूसा की तरह हजरत इब्राहीम ने जो धर्म चलाया, उसी में से कुरानशरीफ का मोहम्मदी धर्म निकला। इसे दुनिया इस्लाम के नाम से पहचानती है।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, सनातनी हिन्दू धर्म, पारसियों का जरतुश्ती धर्म और यहूदियों का तौराती धर्म प्रचार-परायण नहीं है, सभी अपनी-अपनी जमात

के साथ सन्तुष्ट हैं। लेकिन बौद्ध धर्म, विश्वासी ख्रिस्ती धर्म और मुसलमानों का इस्लाम, तीनों ने अपने-अपने विश्वास का विश्वास कर अपनी संख्या बढ़ाने का और विश्वधर्म बनाने का बीड़ा उठाया। पहले तीन धर्मों को हम 'आत्मनि सन्तुष्ट' धर्म कह सकते हैं। जैन धर्म भी इसी कोटि का है। इसके विपरीत बौद्ध, ईसाई और इस्लामी धर्म प्रचार-परायण, महत्त्वाकांक्षी बने, इसलिए उन्हें 'स्पर्धालु धर्म' कह सकते हैं।

दूसरे ढंग से सोचने पर हिन्दू, बौद्ध, जैन और उनके साथ सिख, लिंगायत, ब्राह्म, प्रार्थना-समाज आदि धर्मों का एक कुटुम्ब या परिवार माना जा सकता है। आर्यसमाज तो पूरी तरह इसी परिवार में है। इस परिवार को हम 'पूर्वी परिवार' कह सकते हैं।

इस परिवार के पश्चिम में जरतुश्ती, यहूदी, ईसाई और इस्लामी, इन चार धर्मों का एक अलग परिवार हम सोच सकते हैं।

अगर व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो वैदिक हिन्दू-धर्म और गाथिक पारसी धर्म दोनों एक ही परिवार की शाखाएँ हैं। इस तरह दुनिया के सब धर्मों का मिलकर एक विशाल परिवार बनता है, जिनको अन्दर-अन्दर लड़ने का कोई अधिकार नहीं है। जागतिक दृष्टि से अब हम कह सकते हैं कि जिसे इन सब धर्मों का सामान्य ज्ञान नहीं है और जिसके मन में इन सबके प्रति आदर नहीं है, वह सच्चे अर्थ में 'धार्मिक' ही नहीं है।

हम जानते हैं कि आज की दुनिया में धार्मिकता की चाह बहुत कम है। सदाचार का आग्रह भी धीरे-धीरे शिथिल होता जा रहा है। धर्मो का विचार मनुष्य के उद्धार की दृष्टि से नहीं होता, किन्तु संख्या पर से ही धर्मो का बलाबल नापा जाता है। यानी धर्मों की चर्चा राजनीतिक दृष्टि से ही की जाती है।

संख्या की, बलाबल की और राजनैतिक दृष्टि से भी सोचते हुए हमें सब धर्मो का स्वरूप, उनकी संख्या और हर एक धर्मावलम्बी जमात की राजनैतिक दोस्ती कहाँ है, कैसी है, इसका खयाल तो होना ही चाहिए।

यह मानना गलत होगा कि सब मुसलमान राष्ट्र एक-दूसरे के दोस्त हैं अथवा पाकिस्तान के कहने से सबके सब मुसलमान राष्ट्र हमारे दुश्मन बननेवाले हैं। मुसलमान होने के कारण उन सबको हिन्दुस्तान का दुश्मन मानना पेन-इस्लामीजम को खड़ा करना है।

जो लोग, देश अथवा राष्ट्र हमारे दुश्मन नहीं हैं, उनको दुश्मन कहना दुश्मन बनाने के समान है। जो दुश्मन नहीं हैं, उनको दुश्मन बनाने में कौन-सी बुद्धिमानी है ?

आज की दुनिया में कोई भी अलग, अलिप्त, अकेला रह नहीं सकता।

किसी की दोस्ती करना अथवा दुश्मनी करना खतरे से बाहर नहीं है। इसलिए सँभल-सँभलकर ही चलना पड़ता है। जहाँ तक हो सके, सबके साथ दोस्ताना सरोकार रखना ही उचित है।

अब दूसरी बात ! किसी जमात की हम उपेक्षा नहीं कर सकते, यह सोचकर कि वह छोटी है। जमात छोटी हो या बड़ी, और लोगों की मदद वह ले ही सकती है। सीलोन, नेपाल, भूटान, सिक्किम सब छोटे देश हैं। लेकिन वे अनेक राष्ट्रों से दोस्ती रख सकते हैं; मदद पा सकते हैं और संकट आने पर किसी भी बड़े राष्ट्र की आसानी से मदद ले सकते हैं। कुछ बड़े राष्ट्र तो ऐसे आमन्त्रण की राह देखकर बैठे रहते हैं। हम उनका भी दोष क्या देखें ? वे कहते हैं कि हम मदद न दें तो हमारे दुश्मन मदद देने को तैयार हैं ही। पाकिस्तान इंग्लैण्ड, अमेरिका आदि से भी मदद पाता है और दोनों के दुश्मन चीन से दोस्ती कायम कर सकता है।

ऐसी हालत में बहुत सोचकर चलना जरूरी होता है। दुनिया दिन-पर-दिन शतरंज का खेल बनती जाती है।

फिर, अब तो किसी देश की नीति केवल नेताओं की बुद्धिमत्ता पर निर्भर नहीं होती। कल तक ऐमी स्थिति नहीं थी। राज्यकर्ता सत्ता के बल पर राज्य करते थे। फौज, पुलिस और सरकारी कर्मचारी निष्ठावान रहे तो चल सकता था। अब तो सामान्य जनता भी एक नया बल बन गयी है। इसका निर्णय कब कैमा होगा, इसका हिसाब लगाना मुश्किल हो गया है। सारी दुनिया का विरोध होते हुए भी रूम के नेताओं ने माम्यवाद की म्थापना की। बड़े-बड़े राष्ट्र भी उसका कुछ न ही कर सके। रशिया का जार और उसके परिवार के लोग कुत्ते की मौत मर गये तो भी पश्चिम के बड़े-बड़े राष्ट्र कुछ न ही कर सके। इसका कारण यही था कि साम्यवादी नेताओं के पीछे जनता का बल था, जो बल दुनिया की सब सरकारों को रूस में हस्तक्षेप करने से रोक सका। वह आन्तरिक स्थितियों को भी काबू में रख सका, इसीलिए कि आन्तरिक एकता निष्ठावान थी, मजबूत थी। लेनिन, स्टालिन, ट्रॉट्स्की, बुल्गानिन और ख्रुश्चोव की शक्ति-अशक्ति को देखते हुए कहना पड़ता है कि जनता का नया बल अगर संगठित रहा तो वह चाहे सो कर सकता है और संगठित न रहा तो देश को खतरे में डाल देता है। रूस की प्रजा ने पिछले सौ-दो सौ बरस इतना महन किया है, वहाँ की जनता को इतना बलिदान देना पड़ा है कि उसमें एक तरह से बहादुरी आयी है, और दूसरी तरह से राजनैतिक बुद्धिमत्ता भी आयी है। (इसमें और भी एक कारण है। वहाँ की जनता एकजिन्सी है और साम्यवादी नेताओं ने सब धर्मों की निन्दा करके धर्मों का असर ही मिटा दिया है।)

पाकिस्तान में अयूबखान सैनिक क्रान्ति कर सके, क्योंकि वहाँ पर फौज एक-जिन्सी है।

जापान केवल सौ बरस के अन्दर एक महान राष्ट्र बन सका और पिछले महायुद्ध में सख्त-से-सख्त हार खाकर भी जी सका और सिर ऊँचा कर सका, इसका कारण वहाँ की जनता एक-जिन्सी है और तन्त्रनिष्ठ है।

हमारे यहाँ हिन्दू-समाज भी एकजिन्सी समाज नही है। गाँवों में जाकर देखिये। लोगों के मन से हरिजनो का अछूतपन अभी भी पूरा नहीं गया है। हरिजनो के नेता भी अन्दर-अन्दर का जातिभेद भूल नहीं सकते; मिटाने की बात दरकिनार।

हमारी जातियाँ मध्यकाल में इतनी बाधक नहीं थीं, जितनी आज हैं। जातियो का भेद रोटी-बेटी व्यवहार के लिए था, रस्म-रिवाज सँभालने की सहूलियत के लिए था। देशी राजाओ की राज्य-व्यवस्था में जातिभेद का असर पूरा-पूरा था। लेकिन सारे भारत के मब ब्राह्मण संगठित नही हुए थे। (आज भी नही हुए हैं।) लेकिन आजकल के प्रजा-युग मे सारे कायस्थ अपने को एक समझने लगे हैं। सबके सब ईसाई, सबके सब मुसलमान जैसे राजनैतिक दृष्टि मे एक जमात हैं, वैमे ही हमारी भिन्न-भिन्न जातियाँ एक होने की कोशिश कर रही हैं। बिहार मे भूमिहार का सवाल होगा, तो मैसूर में लिंगायतों का। तमिलनाडु में ब्राह्मण-ब्राह्मणेतरवाद है, तो आन्ध्र मे कामारेड्डी का सवाल है। पंजाब में सिख और आर्यसमाजी एक दृष्टि मे नहीं देख सकते तो आसाम मे बंगाली और अममिया एकराय नहीं हो सकते।

यह हुई धार्मिक जातिभेद की मुसीबत। अब इसके साथ भाषाभेद और पक्षभेद भी आकर हमारी एकता को कमजोर कर रहे हैं। हमारा समाज एकजिन्मी नही है। हमारी फौज भी एकजिन्मी नहीं है। इसलिए हम रूम जापान या पाकिम्तान का अनुकरण नहीं कर सकते। देश के अन्दर और देश के बाहर भी सबको सँभालकर आगे बढ़ने की नीति हमे रखनी चाहिए।

मैं इसे लाचारी की नीति नहीं मानता। सारी दुनिया एकजिन्सी एकधर्मी एकवंशी या एकभाषी नहीं है, न कभी हो सकती है। ऐसी हालत मे जो भी देश या राष्ट्र सबको सँभालकर आगे बढ़ने की कला हासिल करेगा, उसी के हाथ मे दुनिया का नेतृत्व आनेवाला है।

कितना अच्छा है कि संख्या-बल से हम मस्त नहीं बन सकते। जो मस्त बनते हैं, देखते-देखते अन्धे हो जाते हैं और शाक्त होते हुए भी उनका नाश होता है। सब तरह की सहूलियतें होते हुए भी केवल मस्ती के कारण हिटलर ने अन्धी नीति चलायी और उसका नाश हुआ। जर्मन युवकों को हिटलर बहका सका, लेकिन जर्मनी का कल्याण नहीं कर सका। बहके लोग गिरने पर पछताते हैं, लेकिन फिर से मौका मिलने पर दुबारा अन्धे बनते हैं और दुनिया को परेशान

करते हैं और फिर से गिरते हैं। बहकाने वाला और बहक जानेवाला दोनों दुनिया के लिए शापरूप होते हैं, दुनिया का नाश करते हैं और अपना भी नाश कर लेते हैं।

इतिहास-विधाता की इस दुनिया में अब किसी एक शक्ति का साम्राज्य होने वाला नहीं है। सबके साथ अगर हम दुश्मनी करने गये अथवा सबको अपना दुश्मन मान लिया तो दुश्मन ही संगठित होते हैं। किसी भी जाति को यह शक्ति भगवान ने नहीं दी कि सबके साथ दुश्मनी करके भी वह जी सके।

जिन धर्मो ने प्रचार-कार्य जोरों से चलाया और चाहा कि बाकी के सब धर्म मर जायें और एक ही धर्म सारी दुनिया पर फैल जाय, उन्होंने सैकडों बरस तक धर्मयुद्ध चलाये। असल मे वे सब धर्म के नाम से किये हुए अधर्म युद्ध ही थे। इन युद्धों के द्वारा धर्म-अभिमान बढा, धार्मिकता का विकास न हुआ। धर्म का नाम लेकर क्रूरता, अनाचार और अधार्मिक कृत्य करने मे मनुष्य को लज्जा भी नहीं आई। क्योंकि उसकी बुद्धि ही भ्रष्ट हो गयी थी।

सब धर्मों के बीच शस्त्र युद्ध नही होते, किन्तु शीत युद्ध चलते हैं। इन शीत युद्धो से किसी का भी भला नहीं हुआ। बहुत से धर्म अपनी भलाई खो बैठे हैं।

अब तो सब धर्मो की शुद्धि करने के दिन आ गये हैं। सब धर्मों की शुद्धि होगी और उनमे सस्कारिता आएगी, तब वे आपस मे सहयोग कर सकेंगे। सहयोग करते हुए समन्वय सूझ आयेगा। फलत: मनुष्य मनुष्य के बीच के झगड़ो के थोडे महत्त्व के कारण दूर होंगे और विश्व शान्ति की आशा जगेगी।

१५-११ ६४

४. समन्वय के लिए आध्यात्मिक क्रान्ति

गांधीजी ने भारत की आत्मा जगायी, सारे राष्ट्र को सजीवन किया और सर्व धर्म-समभाव का सन्देश तो सारे जगत को दिया। अहिंसा की शक्ति का नया परिचय दुनिया को कराकर विश्व-शान्ति की नींव भी उन्होंने डाली।

जवाहरलालजी ने भारत को जगत की परिस्थिति का परिचय कराया और भारत का परिचय जगत को कराया। औद्योगिक प्रगति के बिना आर्थिक, सामरिक और राजनीतिक सामर्थ्य पैदा ही नहीं हो सकता, यह भी महत्त्व की बात राष्ट्र के सामने रखकर उन्होंने भारत की महत्त्वाकांक्षा जाग्रत की।

यह सब बुनियादी काम हुआ। अब भारत को नवजीवन प्राप्त करने के लिए अपनी पुरानी केंचुल उतारने का महान् कार्य करना है। एक देह छोडकर नयी देह धारण करने जैसा यह कठिन और वेदनापूर्ण काम है। पुरानी देह की आसक्ति जब तक ढीली नहीं हुई है, तब तक पुरानी देह केंचुल नहीं बनती और अलग नहीं हो सकती।

जिस संस्कृति को 'भारतीय संस्कृति' कहकर हम इज्जत की निगाह से देखते हैं, जिसके दोष भी हमें गुण जैसे दीख पड़ते हैं, वह एक बूढ़ी और क्षीणप्राण संस्कृति बनी है। काया-कल्प किये बिना उसमें न आनेवाला है तारुण्य और न प्रकट होनेवाला है नया प्राण।

पिछले सौ बरस से हम लोगों ने भारत के इतिहास का बहुत अच्छा अध्ययन किया, अध्यात्म का भी नये सिरे से अध्ययन किया। जगत का भी हमें पहली ही दफा इतना अच्छा परिचय हुआ है। विज्ञान और यंत्र-विद्या में अभी-अभी हम प्रवेश पा रहे हैं और जागतिक सवालों का हल भी स्वतन्त्र रूप से ढूँढ़ रहे हैं।

इतनी सारी तैयारी के बल पर हम जगत की सेवा करने की योग्यता प्राप्त कर रहे हैं और एक नयी विश्व-कल्याणकारी जागतिक संस्कृति के निर्माण के स्वप्न भी देख रहे हैं। गांधीजी ने हमारे प्राण को जगाया और जवाहरलालजी ने हमारी महत्त्वाकांक्षा को। लेकिन हम देखते हैं कि विश्व-सेवा करने के लिए जो नयी जीवन-दृष्टि और नया सामाजिक बल चाहिए, वह हमारे पास नहीं है। 'शरीर बुढापे का और महत्त्वाकांक्षा नवतारुण्य की, ऐसी हमारी हालत हो गयी है। अब इसका इलाज एक ही है कि हम आन्तरिक क्रान्ति करके काया-कल्प करें। भारतीय संस्कृति की जड़ें तो भूतकाल में ही हैं। लेकिन उसके वृक्ष को वर्तमानकाल में जीना है और उज्ज्वल भविष्यकाल बनाने के लिए तपस्यापूर्वक पुरुषार्थ करना है।

इस महान पुरुषार्थ का नेतृत्व कौन करेगा ? अब का नेतृत्व एक व्यक्ति का नहीं, एक मण्डल का भी नहीं, किन्तु एक-दूसरे के कार्य को पहचाननेवाले और एक दूसरे को बल पहुँचानेवाले अनेक समुदायों का होगा। इन समुदायों के कार्य में एकता की जरूरत नहीं होगी। सब एक ही भाषा बोलें, ऐसी एकवाक्यता की भी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है, 'ऊपर-ऊपर से परस्पर विरोधी तत्त्वों के अन्दर भी परस्पर पोषक समन्वय देखने की ओर साधने की वृत्ति की।'

शास्त्रार्थ करनेवाले पंडित लोग जब भिन्न-भिन्न वचनों में एकवाक्यता दिखाते हैं, तब बहुत बार उसमें शाब्दिक कसरत ही होती है। कभी-कभी शब्दछल होता है और ऐसी एकवाक्यता भ्रामक और निष्फल साबित होती है। सच्ची समन्वय-वृत्ति भेद को छिपाती नहीं। उसका इनकार भी नहीं करती। मायावाद का सहारा लेकर अपने को बचाती भी नहीं। समन्वय-वृत्ति जीवन का रहस्य समझने से ही उत्पन्न होती है। समन्वय-वृत्ति कहती है कि विरोधी विचार एक-दूसरे के विरुद्ध काम भी करेंगे। लेकिन उनका फल इष्ट स्वरूप का ही होगा।

ऐसी समन्वय-वृत्ति से प्रेरित अनेक दल जब सहयोग करेंगे, तब मानव-जाति विश्व-शान्ति और विश्वोत्कर्ष की ओर प्रस्थान करेगी।

भारत में प्रचण्ड बहुमत है हिन्दू-समाज और हिन्दू संस्कृति का। इसमें आन्तरिक

मतभेद असंख्य हैं। कमजोरी और दोष भी कम नहीं हैं। इन सबके बावजूद, इस संस्कृति में जो परस्पर सहिष्णुता, समझौता और सहयोग है, वह सचमुच अद्‌भुत है। दुनिया के लिए यह एक अच्छा बोधपाठ भी है। हिन्दू-समाज में उच्च-नीच भाव है, जो दूर होना चाहिए। भिन्न-भिन्न सामाजिक स्तरों के बीच शोषक-शोषित का सम्बन्ध भी है, जो तुरन्त बन्द होना चाहिए। भिन्न-भिन्न जातियों के बीच सामाजिक मेलजोल बहुत कम है, वह दोष भी दूर करना चाहिए। लेकिन इन सब खामियों के और कमियों के बावजूद सारे हिन्दू-समाज में जो आत्मीयता है, एक-दूसरे के प्रति अनुकूलता है, उसकी कदर करके उसे बढ़ाना चाहिए। फिर भी वह राजकीय संगठन के रूप में नहीं, जो हिन्दू महासभा कर रही है, किन्तु नित्य वर्धमान और व्यापक जीवनकला के रूप में। क्योंकि—

जिस तरह हिन्दुओं के अनेक कुनबों, अनेक वर्णों, अनेक वंशों के बीच हम· सांस्कृतिक अनुकूलता और एकता ला सके, उसी तरह अब हमें भारत में बसे और बने भिन्न-भिन्न धर्म-समाजों के बीच भी परस्पर विश्वास, एक-दूसरे के प्रति प्रेम और सेवा के द्वारा जीवन-सहयोग और भावनात्मक एकता चालू करनी है।

आज की स्थिति क्या है ? आज मुसलमान, ईसाई आदि अहिन्दू धर्मसमाज संगठित होकर, हिन्दू समाज के प्रति— कहिये सारे राष्ट्र के प्रति नालिश कर रहे हैं कि हमें हमारी हक की चीजें नही मिल रही हैं। ये सब छोटे-मोटे अहिन्दू समाज हिन्दू-समाज को और भारत राष्ट्र को गुनाहगार, तोहमतदार या देनदार समझकर इसके खिलाफ अपनी माँगे पेश करते जाते हैं। भाव यह रहता है कि 'जो हम माँगते हैं, सो न्याय है' अगर मिला, तो हम भारत के प्रति राष्ट्रनिष्ठ रहेंगे। एकता की गरज आपको है, हमें नहीं। एकता स्थापित होने पर हमारा कोई महत्त्व ही नहीं रहेगा। एकता की कीमत के तौर पर जो कुछ भी मिलेगा, हम लेंगे। लेकिन ज्यादा माँगते रहेंगे, ताकि हम हमेशा लेनदार रह सकेंगे।'

इसी वृत्ति के कारण मुसलमानों को आसानी से पाकिस्तान मिला। इस वृत्ति को वे अब क्यों छोड़ेंगे ?

ईसाइयों ने मुसलमानों का पूरा अनुकरण नहीं किया है। तो भी जिनके मन में हिन्दू महासभा की वृत्ति है, व अभी से ईसाइयों को मुसलमान के जैसे ही समझने को तैयार हैं। यह एक बड़ा खतरा है।

रूस का साम्यवाद कहता है : "जब तक आप धर्म को मान्यता देते हैं, ये झगड़े रहेंगे ही। ये सब धर्म नाम लेते हैं आध्यात्मिकता का, जो उनमें से कब की गायब हो चुकी है। उनमें रही है केवल संकुचित और असहिष्णु संगठन-वृत्ति। इसलिए हमने तो आध्यात्मिकता का ही इनकार किया है और धर्ममात्र को मानवता का शत्रु जाहिर किया।

"हमारे (रूस) देश में कहीं-कहीं धर्म अभी भी जीवित है। हम उनकी उपेक्षा करते हैं। उन्हें तनिक भी प्रतिष्ठा नहीं देते। जानते हैं कि थोडे धर्मप्रेमी बूढ़े लोग जब तक जीवित हैं, धर्म का नाम रहेगा। उनके लड़के तो हमारे ही मत के हैं। इन धर्मों को नेस्तनाबूद किये बिना मानवीय एकता स्थापित होनेवाली नहीं।

"ममाज में जो वर्गभेद है, उसका तो कोई अर्थ भी है। उसे तो हम नष्ट करेंगे ही। लेकिन धर्मभेद तो निरर्थक है। उन भेदों का कोई जीवन-मूल्य ही नहीं। इन पुराने ढकोमलों को मान्यता देकर जिलाना बुद्धिमानों का काम नहीं है। भारत मे जब तक धर्मभेद को मान्यता मिलती है, भारत कमजोर राष्ट्र ही रहेगा।"

उनकी बात बहुत हद तक सही है। हम वही बात दूसरे शब्दों में और दूसरे ढंग से कह रहे हैं। हम कहते हैं, "राजनीति के दिन अब नहीं रहे। अब तो लोकनीति के दिन आ गये हैं।" इसका अर्थ हमें समझना चाहिए। राजनीति के मानी हैं, राष्ट्रनीति। और लोकनीति के मानी हैं, मानवता की नीति। जब हम कहते हैं 'जय हिन्द', तब उसका राजनैतिक अर्थ होता है—'जय भारत राष्ट्र' और जब हम कहते हैं 'जय जगत' तब उसका अर्थ होता है— राष्ट्रभेद से ऊँचा उठकर समस्त मानव-जाति का हित सोचनेवाली, सर्वोदयकारी मानवता की जय हो।

'जय हिन्द' का एक दूसरा अर्थ है। वह राजनैतिक नहीं, किन्तु सांस्कृतिक और आध्यात्मिक है। भारत में राष्ट्रवाद कभी था ही नहीं। यूरोप मे भी पहले राष्ट्रवाद नहीं था। यूरोप में और भारत में राजा लोग थे, बादशाह और सम्राट थे। हरएक का अपना अपना राज्य और साम्राज्य था, जो उन-उन राजाओं की और बादशाहो की मिल्कियत थी। राष्ट्रवाद शायद शुरू हुआ मैजिनी के दिनो में। एक-एक देश की जनता कहने लगी कि देश राजा का नहीं, जनता का है। जनता ही देश की मालिक है। लोकमत ही सच्चा सम्राट है। तब से राष्ट्रवाद शुरू हुआ। पहले बादशाह आपस मे लडते थे और लोग उनकी फौज मे भरती होकर मरते थे। अब राष्ट्र-राष्ट्र आपस मे लडने लगे हैं और मामला पहले से ज्यादा गम्भीर होता जा रहा है। पुराने जमाने में रूस के बादशाह और फ्रांस के बादशाह आपस में लडते थे। अब अमेरिका का प्रेसिडेण्ट और रूस का प्रेसिडेण्ट अपने-अपने राष्ट्र का नाम लेकर एक-दूसरे से ईर्ष्या करते हैं। इनके हाथ में सर्वनाशकारी, अन्धे और भयानक स्फोटक शस्त्र नहीं आते, तो इनकी ईर्ष्या हजारों बरस तक चलती और समय-समय पर महायुद्ध होते रहते । जैसे संगीत में सम या ठेका जल्दी या देर से आता है, लेकिन आता है जरूर, वैसे ही ये महायुद्ध आते ही रहते।

लेकिन स्फोटक शस्त्रों के कारण सर्वनाश ही मनुष्य-जाति के सामने हो गया है। उसके डर से अब लोग सोचने लगे हैं। Fear of total destruction is the beginning of Prudence and Wisdom. यह सार्वभौम भय भी ईश्वर का ही एक

अवतार है। इस भय के कारण बडे-बड़े राष्ट्रो के राष्ट्रवाद का लोप हो रहा है। लेकिन पाकिस्तान, कांगो, साइप्रस, क्यूबा, वियतनाम आदि राष्ट्रों का राष्ट्रवाद मजूबत हो रहा है। सम्भव है, ये सारे छोटे-छोटे अदूरदर्शी क्षुद्र और अन्धे राष्ट्रवाद एक जागतिक युद्ध सुलगायेंगे और पुरानी भली-बुरी सब सम्स्कृतियों का नाश करके ही मानवता के लिए और सर्वोदय के लिए एक स्वच्छ क्षेत्र बना देंगे। अमेरिका, रूस, ब्रिटेन, फ्रास आदि बडे राष्ट्र जो टालना चाहते है, वही शायद ये छोटे-छोटे राष्ट्र उन बडे राष्ट्रों पर लाद देंगे।

गांधीजी ने माना, और जवाहरलालजी ने सोचा, कि शायद सत्य और अहिंसा का उपासक भारत विश्व-शान्ति की तैयारी करेगा और जागतिक युद्ध के बिना सर्वोदय की स्थापना होगी। दोनों के ये मीठे ख्वाब थे — स्वप्न थे। पाकिस्तान और चीन ने भारत को समझाया कि यह स्वप्न स्वप्न ही है। आन्तरिक आत्मतेज के बिना न विश्व शन्ति हो सकती है, न सर्वोदय सिद्ध हो सकता है।

रूस ने युरोपीय संस्कृति को दफनाकर साम्यवाद की स्थापना की। भारत का एशियाई धर्मों की (दुनिया के सब धर्म एशिया मे ही पैदा हुए हैं।) उपेक्षा करके, उनको तिलाजलि देकर आध्यात्मिक साम्ययोग की स्थापना करनी होगी। रूस के साम्यवाद मे डरकर उसका विरोध सब धर्मो ने किया। भारत के आध्यात्मिक साम्ययोग की ओर सब धर्मो का क्या रुख होगा ? हम मानते है कि धर्मो की अंधता और संकुचितता देखते हुए वे आध्यात्मिक साम्ययोग का भी विरोध ही करेंगे। लेकिन हम आशा करे कि इन धर्मो मे आध्यात्मिकता का जो प्राण छिपा है, जो समय पर जाग्रत होगा और हरएक धर्म अपना काया-कल्प करके अध्यात्मवाद को मंजूर करेगा और मजबूत करेगा।

यह तब हो सकेगा, जब हिन्दू संस्कृति और भारत की राष्ट्रीयता अपने पुराने सब रूप और आग्रह छोडकर नवचेतन्य धारण करेगी।

इसके लिए एक ऐसा वैचारिक विप्लव करना पड़ेगा, जो भयानक भूचाल मे भी सामर्थ्यवान और क्रान्तिकारी होगा। इसमें असंख्य बुरी बाते तो जल ही जायेंगी, लेकिन अन्तिम कल्याण के लिए कई अच्छी बाते भी कुछ काल के लिए छोड़ देनी पड़ेंगी। बीमारों की और पागलों की सेवा करते समय जो करुणा और उदारता हम काम में लाते हैं और कुछ समय के लिए अच्छी बातें भी छोड़ देते हैं, वैसा हमें करना पड़ेगा।

जीवन की बुनियादी बातें कौन-सी हैं ?

बुनियादी बातें हैं आहार, आजीविका, ब्याह-शादी, कौटुम्बिक जीवन, अर्थ-व्यवहार, जान-माल की रक्षा, सामाजिक संगठन, शिक्षा का प्रबन्ध और सांस्कृतिक परिपोष। इन सब बातों में नवीनता लाते हुए पुराने आदर्शों के प्रति तनिक भी दया

या पक्षपात रखे बिना नये सिरे से सोचना होगा। केवल अकेली शुद्ध आध्यात्मिकता का ही नेतृत्व मंजूर रखकर नवजीवन का, नवसृष्टि का निर्माण करना होगा।

साम्यवाद ने केवल अपने विचारबल से और संकल्पबल से असंख्य कठिनाइयाँ तोड़ डालीं। हमें भी आध्यात्मिक साम्ययोग के बल पर अनेकानेक धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक मान्यताएँ तोड़नी पड़ेंगी और एक सार्वभौम क्रान्ति के द्वारा सर्वोदयी संस्कृति की स्थापना करनी होगी। इसके लिए चाहिए प्राण, विशुद्ध दृष्टि और वज्र-संकल्प। मानवमात्र के हृदय में अपना स्थान रखे हुए नारायण से ही यह प्राप्त होगा और नयी मानवता में पुरुषोत्तम प्रतिष्ठित होगा।

१-१०-६४

२. समन्वय-दृष्टि

१. नयी दृष्टि

जब सारी दुनिया मे धर्म के नाम पर झगडे चलते थे, तब वह धर्म-युग कहा जाता था । धर्म-युग के मानी यह नहीं कि उस युग में अधिकांश लोग धर्म के अनुसार ही चलते थे। धर्म-युग का अर्थ इतना ही था कि हर चीज को धर्म के चौखटे में बैठाया जाता था।

अब अर्थ-युग आ गया है। हर सवाल के आर्थिक पहलू सोचे जाते हैं। हर कठिनाई का इलाज भी अर्थ-तंत्र के द्वारा ही किया जाता है। अर्थ-चर्चा इतनी बढ़ गयी है कि लोगो के दिमाग का अचार हो गया है। जो कुछ भी सवाल उठता है, अर्थशास्त्र की परिभाषा में ही उसकी चर्चा होती है और सब इलाज अर्थ के द्वारा ही किये जाते हैं। इस सारी अनर्थ-परम्परा को व्यक्त करने के लिए इस जमाने को अर्थ-युग कहा है।

चन्द लोग आज के युग को संघर्ष-युग भी कहते थे। जमींदार और किसान, मिल-मालिक और मजदूर, राज्यकर्ता और प्रजाजन, धनवान और धनहीन— गाँववाले और शहरवाले, शिक्षक और विद्यार्थी, पति और पत्नी— जहाँ दो वर्ग की बात आयी, वर्ग-कलह, वर्ग-विद्वेष और वर्ग-संघर्ष के बिना सोचा ही नहीं जाता था। यह मर्ज अभी तक नष्ट नहीं हुआ है। लेकिन चूँकि सारी मानव-जाति के नाश की ही नौबत आ पहुँची है, इसलिए अब संघर्ष की बात पहले जैसी जोश से नहीं छिड़ती, अब तो सह-स्थिति (co-existence) सह-हस्ती या सह-चार की बात

सोची जा रही है। सरकस के पिंजरे में जिस तरह अनेक हिंस्र जानवर अलग-अलग रखे जाते हैं और उन्हें एक-दूसरे से घृणा करने की इजाज़त है, उनकी प्रत्यक्ष मुठभेड़ नहीं होने दी जाती, उसी तरह दुनिया के सब विरोधी तत्त्वों को एक ही दुनिया में सलामत रखने का आदर्श आज सोचा जा रहा है।

अब आशा की जाती है समन्वय-युग के आने की।

समन्वय-युग मे संघर्ष को जीवन की आवश्यक प्रक्रिया नहीं माना जाता। होड़ से नहीं, किन्तु सहयोग से मानव की प्रगति हो सकती है। अर्थ-परायण बनने से नहीं, किन्तु जीवन-परायण बनने से मनुष्य को सुख-शान्ति मिल सकती है। धर्मान्धता से नहीं, किन्तु न्यायनिष्ठा से, प्रेम-भाव से और अनेकान्त दर्शन से मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है।

दृष्टि-परिवर्तन, हृदय-परिवर्तन और जीवन-परिवर्तन समन्वय-युग की प्रधान निशानी है। समन्वय ही जीवन का सच्चा दर्शन और अन्तिम साधना है। समन्वय की पारस-मणि का स्पर्श होते ही तर्क और संघर्ष के तीक्ष्ण शस्त्र फूलों के समान मुलायम हो जाते हैं।

अप्रैल, १९५६

जब साम्यवादी कहते हैं, कि मजहब तो आदमी को पीनक में रखनेवाली अफीम है, तब उनके मन में सब धर्मो क लिए एक-सी नफरत होती है। जब भारत सरकार कहती है कि हम किसी मजहब या फिरके के कायल नहीं, तब उसके मन में सब मजहबों के लिए एक-सा अच्छा भाव या आदर होता है।

गांधीजी ने अपने आश्रम के व्रतों में एक व्रत शामिल किया—'सर्व-धर्म-समभाव'— सब धर्मो के लिए एक-सा आदर। इसके मुताबिक हरएक आदमी अपने धर्म पर मुस्तैद रहता हुआ दूसरों के धर्म की तरफ इज्जत की निगाह से देखेगा। वह कहेगा : 'जिस धर्म में मै पैदा हुआ हूँ या पला उसे तो मैं नहीं छोड़ता, मगर अपने धर्म में रहता हुआ दूसरे सब धर्मों को अपनाने के लिए तैयार हूँ। सब धर्म मेरे हैं, मैं सब धर्मों का हूँ और मेरा पड़ोसी या दूर का आदमी किसी भी धर्म का हो, मैं उसे अपना भाई समझता हूँ।

यह खयाल तभी सही हो सकता है, जब आदमी अपने-आपको किसी भी धर्म की धर्म-पुस्तकों या उसके तमाम रस्म-रिवाजों मे बाँध न ले। हर धर्म में अच्छी बातें होती हैं, हर धर्म के बुनियादी उसूल ऊपर चढ़ानेवाले होते हैं। ऐसे उसूलों में अगर थोड़ा-बहुत फर्क भी हो, तो भी उनको मंजूर करना मन को मुश्किल नहीं मालूम होता, दिल को अफसोस नहीं होता। उलटे कई रूपों में जाहिर होनेवाली भलमनसाहत और तरक्की के आदर्शों की खूबियाँ समझ कर दिल को बड़ी खुशहाली महसूस होती है।

लेकिन हर धर्म के साथ कुछ ऐसे रस्म-रिवाज भी जुड़े होते हैं। जो किसी जमाने में लोगों को अच्छे लगे, और आज अच्छे नहीं लगते। उन्हें छोड़ देने को जी चाहता है; कम-से-कम उन्हें अहम तो माना नहीं जाता।

जिन लोगों के दिल इतने बड़े और विचार इतने वसीअ होते हैं कि वे अपने धर्मों के रस्म-रिवाजों में मे ऐसी दोयम चीजों को दरगुजर कर सकें, वे ही दूसरों के धर्मों की अच्छी चीजों की कद्र कर सकते हैं।

जो लोग मानते और कहते हैं कि हमारे धर्म की हर चीज अच्छी-ही-अच्छी है, वे दूसरे धर्मों की अच्छी चीजों की कद्र करने की ताकत नहीं रखते। बड़ा दिल और श्रद्धा-भक्तिमय स्वतन्त्रता के बिना 'सर्व-धर्म-समभाव' हजम नहीं होता। जानकारों का कहना है कि जब नजर उदार नहीं होती, तब अपने धर्म का अभिमान रखता हुआ आदमी उसके राज को नहीं समझ सकता।

मई, १९५६

२. धर्मों से श्रेष्ठ धार्मिकता

"केवल नीति का उपदेश करने से दुनिया मदाचारी नहीं बनती। धर्म-तेज प्राप्त करना केवल बुद्धि का प्रयोग नहीं है। उसके लिए श्रद्धा, निष्ठा तो चाहिए ही। उसके सिवा जिन्हें अतीन्द्रिय ज्ञान है, ऐसे किसी ऋषि-मुनि, गुरु, पैगम्बर के वचन पर, उसके लिखे ग्रन्थ पर अनन्य निष्ठा चाहिए। अपनी बुद्धि का प्रामाण्य चलाने में खतरा है, इसलिए शास्त्र का प्रामाण्य कबूल करना चाहिए। शास्त्र-वचन पर श्रद्धा-निष्ठा रखकर ही मनुष्य आध्यात्मिक मार्ग में प्रगति कर मकता है और साक्षात्कार तक पहुँच सकता है।"

यह है भूमिका धर्मनिष्ठ लोगों की। श्री राजगोपालाचारी कहते हैं कि ऐसी धर्मनिष्ठा के साथ अगर संकुचितता और एकांगिता आती हो, तो उसे बरदाश्त करके भी धर्मनिष्ठा का पक्ष मजबूत करना चाहिए।

सच्ची धर्मनिष्ठा के साथ संकुचितता और एकांगता रह तो सकती है, लेकिन कभी भी वह जोर नहीं पकड़ती। अनुभव बढ़ने पर एकांगिता और संकुचितता आप ही आप गल जाती हैं, क्योंकि असल में वे अधार्मिक चीजें हैं। धर्मनिष्ठा के साथ उनका कायम का मेल बैठ नहीं सकता।

आज की दुनिया में धर्मनिष्ठा कम पायी जाती है। काफी मात्रा में पाये जाते हैं— धर्माभिमान और धर्मान्धता। अथवा यह कहना ठीक होगा कि असल में लोगों में होती है एकांगिता, संकुचितता, दुराभिमान और असहिष्णुता। ये चारों चाण्डाल अपना राज्य मजबूत करने के लिए जिन-जिन चीजों का सहारा लेते हैं, उनमें मुख्य चीज है धर्माभिमान। धर्मान्धता की मदद से असहिष्णुता और द्वेष-बुद्धि जोर पकड़ती

हे। जिस जमाने में जीवन-शुद्धि कम होती है, उस जमाने मे प्रेम, सेवा, सहयोग, तथा समन्वय वाला सद्गुण-चतुष्टय क्षीण हो जाता है। अभिमान, मत्सर, अविश्वास और शत्रुत्व जैसे दोषों को प्रश्रय मिलता है और मनुष्य मानता है कि यही है उनकी धर्म-सेवा की पूँजी।

सवाल उठता है कि क्या शास्त्रनिष्ठा ग्रन्थ प्रामाण्य, गुरुवचन के प्रति अन्धश्रद्धा और सनातन रूढि के प्रति पक्षपात, ये सब धर्मवृद्धि के लिए सचमुच आवश्यक है ?

जिस देश में एक ही धर्म चलता है, जहाँ का समाज एकजिन्सी है, वहाँ ऐसी संकुचित श्रद्धा और निष्ठा शायद खतरनाक न भी हो। लेकिन जिस देश में (और जिस दुनिया में) अनेक धर्मो का साहचर्य है, वहाँ या तो हर मनुष्य अपने-अपने धर्म का अभिमान के साथ पालन करे और समय-समय पर और धर्मों के साथ झगडा चलाने की तैयारी रखे अथवा सब धर्मो के प्रति सद्भाव रखकर अपने अपने धर्म का पालन करे।

धर्माभिमानी लोगो के लिए यह दूसरी बात कठिन होती है। अपने विचारों से या रिवाजो से जिनका मेल नही बैठता, उनके बारे में सहानुभूति रखना उनके लिए कठिन होता है। पूरी शक्ति लगाकर कोशिश करे तो वे सहिष्णुता तक जा सकते हैं। जो चीज नापसन्द होते हुए भी जिसका नाश करना मुनासिब नहीं है, उसी को हम सहन करते हैं। जिसे सहन करते हैं, उसे मन में बुरा तो मानते ही हैं। ऐसी हालत में मेलजोल होना, प्रेम-सम्बन्ध बढाना तभी शक्य होता है, जब हम भेद के तत्त्वों को गौण मान सके, उसका महत्त्व कम करे।

यह तभी बनेगा, जब हम अपने धर्म की छोटी छोटी बातों का महत्त्व कम करते है और मानवीय सम्बन्ध के महत्त्व को बढाते हैं। धर्माभिमान यह कैसे सहन करेगा ? अभिमान चीज ही कृत्रिम है। इसलिए इसके खजाने में कृत्रिम चीजें बहुत रहती हैं।

सच्चा रास्ता यह है कि जब ईश्वर की दुनिया में अनेक धर्म हैं और उनके अनुयायी हमारे जैसे होते हुए भी भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर, परस्पर विरोधी वस्तुओं पर कम या अधिक श्रद्धा रखते हैं, तब हमें उन सब बातों को सहानुभूति के साथ समझने की कोशिश करनी चाहिए।

पशु के बलिदान जैसा रिवाज हमें पापमूलक और घृणित लगे तो उसके प्रति आदर नहीं हो सकता। लेकिन बलिदान के पीछे जो अर्पण-भावना है, ईश्वर-भक्ति है, त्याग-वृत्ति है, उसकी ओर ध्यान देने की और उसका आदर करने की शक्ति तो हमारे पास होनी ही चाहिए।

और जो लोग श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पशु को बलिदान में चढ़ाते हैं, उनको पशु-हत्या का तनिक भी बुरा न लगता हो तो भी जिनको बुरा लगता है, उनका भाव

समझने की और उनके हृदय की वेदना की कद्र करने की शक्ति होनी चाहिए।

इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य को भिन्न-भिन्न विचार और परस्पर विरोधी भावनाएँ समझने की और उनके साथ सहानुभूति रखने की शक्ति होनी ही चाहिए। यह तभी हो सकता है, जब मनुष्य सभी धर्मग्रन्थ और सभी धर्म-संस्थापको के प्रति आदर रखे। यह भी तभी बन सकता है, जब हर धर्म की छोटी-छोटी और गौण वस्तु के प्रति आदमी उदासीन बने। सर्वधर्म-समभाव के साथ अपने धर्म की खामियाँ और कमजोरियाँ समझने की और उनको स्वीकार करने की शक्ति भी होनी चाहिए।

अनेक देशों के कानूनों का तुलनात्मक अध्ययन करनेवाले के पास एक सार्वभौम, सर्वसामान्य कानूनी दृष्टि खडी होती है। फिर वह उसी सार्वभौम न्याय-दृष्टि (Jurisprudence) को ही प्रधानता देने लगता है और सब देशो के कानूनो की कद्र करते हुए और उस-उस देश में वहाँ के कानूनों का पालन करते हुए वह अपनी भूमिका उच्च रख सकता है। ऐसे मनुष्य की श्रद्धा-भक्ति कुछ हद तक— काफी हद तक— बुद्धिप्रधान ही होती है। नीति और सदाचार के कानून कभी-कभी सापेक्ष (Relative) और सांकेतिक (Conventional) होते है। यह समझकर उनसे ऊपर उठने का कर्तव्य वह स्वीकारता है। ऐसे उदार व्यक्ति की धर्मनिष्ठा अन्धी न होने के कारण एकांगी लोग उसे शिथिल भी कह सकते हैं। लेकिन सत्य-प्राप्ति का और आध्यात्मिकता बढाने का वही तरीका है। सर्व धर्म-समभाव के साथ पक्षपात-राहित्य आ ही जाता है क्योकि मनुष्य धर्मों को पहचानकर उनमें रही हुई धार्मिकता पाता है। और इस चीज का साक्षात्कार करता है कि सार्वभौम धार्मिकता धर्मो से भी श्रेष्ठ है।

२८-५-'५७

३. सर्व-त्याग या सर्व-स्वीकार ?

धर्म का आविष्कार किसने किया ? मनुष्य-हृदय ने ? मनुष्य की बुद्धि सामान्यत: जितनी दूर तक देख सकती है, उससे भी दूर देखनेवाले क्रान्तदर्शी ऋषि-मुनियों और नबी पैगम्बरों ने या प्रत्यक्ष जन-गण-मन-अधिनायक स्वयं परमात्मा ने ?

धर्म शब्द के अर्थ अनेक हैं। लेकिन इनमें भी दो अर्थ प्रधान हैं। धर्म का एक अर्थ होता है स्वभाव या प्रकृति। जलाना अग्नि का धर्म है। गीला करना पानी का धर्म है। मौका मिलते ही बहते रहना हवा का धर्म है। इसी अर्थ में हम कहते हैं कि तनिक भी दु:ख होते ही रोना बच्चों का धर्म है। तेज भूख लगने पर जो मिले सो खाना, यह प्राणिमात्र का और मनुष्य का भी धर्म है। यहाँ धर्म का केवल अर्थ है

प्रकृति या स्वभाव।

धर्म का जो दूसरा अर्थ है, वह एक ही वाक्य में स्पष्ट होगा— चाहे कितनी ही तीव्र भूख लगे, प्राण कण्ठ में आ जायँ तो भी चोरी करके नहीं खाना, दूसरे को मारकर नहीं खाना, अयोग्य वस्तु नहीं खाना, दूसरे को भूखे रखकर स्वयं नहीं खाना ! यह है मनुष्य का धर्म ।

प्रथम अर्थ का धर्म स्वभावगत या प्राकृतिक धर्म केवल समझने की वस्तु है। उसमें भले-बुरे का भाव नहीं आता। जब हम कहते हैं, देखना आँखों का धर्म है, तब हम इतना ही कहना चाहते हैं कि आँखों में देखने की शक्ति है। अधिक-से-अधिक हम यह कह सकते हैं कि आँखें देखने को उत्सुक होती हैं। सामान्य तौर पर आँखों से देखे बिना नहीं रहा जाता। लेकिन जब हम कहते हैं कि अश्लील चीजें आँखो से नहीं देखनी चाहिए, तब हम आँखों के प्राकृतिक धर्म से ऊँचा उठना चाहते हैं। प्रकृति को रोककर, स्वभाव को दबाकर किसी उच्च आदर्श को सिद्ध करना चाहते हैं। आँखों का जीवन कृतार्थ करना चाहते हैं। भूख लगे तब खाना, जो मिले सो खाना पशुओं के साथ मनुष्य का भी स्वभाव-धर्म है। किन्तु खाने की वासना के वश होने के पहले सोचना और खाने की क्रिया की योग्यता और अयोग्यता का खयाल करना मनुष्य का धर्म है। जैसा कि ऊपर कहा है, भूख चाहे जितनी तेज हो, जब खाना हराम मालूम हो, तब खाने से परहेज रखना मनुष्य का धर्म है।

संकट देखते ही जान बचाने के लिए भाग जाना प्राणिमात्र का स्वभाव-धर्म है। लेकिन किसी को संकट से बचाने के लिए अपने प्राण खतरे में डालना, प्राणों की परवाह न करना— यह है मनुष्य का कर्तव्य धर्म।

ऐसे धर्म का आविष्कार किसने किया ? गीता कहेगी कि प्रजापति भगवान ने स्वयं प्रजा के साथ-साथ ही उसके कर्तव्य-धर्म का भी सर्जन किया है। स्वभाव-धर्म मनुष्य को प्रकृति ने दिया और जीवन को कृतार्थ करने वाला कर्तव्य-धर्म भगवान ने मनुष्य के हृदय में जाग्रत किया। (प्राणियो में भी अपने बच्चे की या अपने समूह की रक्षा का भाव भगवान ने इतना उत्कट किया है कि नर-मादा अपने बच्चे की या समुदाय की रक्षा के लिए अपने प्राण भी दे देते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्राणियों में भी कुछ हद तक मनुष्य के जैसा धर्मोदय जरूर हुआ है।)

ऐसा धर्मोदय भगवान की प्रेरणा से ऋषि-मुनियों, साधु-सन्तों समाज-नेता, धर्म संस्थापकों के हृदय में होता है। ऐसा धर्म धीरे-धीरे मनुष्य-हृदय में विकसित होता जाता है। लेकिन किसी भी देश, किसी भी जमात या किसी भी जमाने में देखिये, धर्मभेद होते हुए भी धर्म-विकास की दिशा एक ही होती है।



अपनी वासनाओं पर विजय पाना, उचित ही काम करना, अनुचित न करना अपने हृदय का विकास करते-करते दूसरों के साथ एकता का अनुभव करना, यह है धर्म का व्यापक स्वरूप। ऐसे धर्म का स्पष्ट उपदेश सुनते ही हृदय धीरे-धीरे उसके अनुकूल होने लगता है। ऐसे धर्म के पालन के लिए शक्ति इकट्ठा करना ही मनुष्य की साधना है।

मनुष्य-स्वभाव में और एक बात भरी पड़ी है कि जो कोई सच्चे धर्म का बोध कराता या धर्म-पालन के लिए जरूरी शक्ति कमाने में मदद करता है, उसके प्रति कृतज्ञ बनना, उसके कहे अनुसार चलना, उसके हाथ मे अपना जीवन अर्पण करना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। जब ऐसी अर्पण-बुद्धि बढती है तब मनुष्य लोकोत्तर त्याग और पराक्रम कर सकता है। इसीलिए कहते हैं कि धर्म का प्रचार, धर्मप्राण तेजस्वी मनुष्य की प्रेरणा के बिना नहीं होता।

बड़े बड़े समाजो के लिए व्यापक सामाजिक धर्म का जिन्होंने विस्तार से चिन्तन किया और लोगों को रास्ता दिखाया, उनको हम धर्मकार कहते है। वैदिक ऋषि, मनु याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकार गौतम बुद्ध, महावीर आदि पथप्रदर्शक हजरत मूसा, हजरत ईसा, हजरत मोहम्मद, हजरत कन्फ्यूशियस आदि पैगम्बर, ये सब मनुष्य-जाति के प्रधान नेता हैं। इन्होने अपने-अपने वंश के लोगों को रास्ता दिखाया। उनके बाद भी उनके अनुयायियों ने देश और काल की मर्यादा लाँघकर इन धर्म संस्थापकों के उपदेश का फैलाव किया।

अब धर्म की मूल प्रेरणा कहाँ से आयी, यह सवाल गौण हो गया। अब तो धर्म-संस्थापक, उनके वचनों का संग्रह करनेवाले धर्म-ग्रन्थ, उनकी गद्दी पर बैठनेवाले उनके शिष्य और उनके द्वारा स्थापित परम्परा ही धर्म का मूल उद्गम या स्रोत हो गया। आज जो धर्म के नाम पर झगड़े होते हैं, अनाचार, अत्याचार होते हैं, वे सब इसी तन्त्रनिष्ठा के कारण होते हैं। धर्मनिष्ठा की जगह तन्त्रनिष्ठा आ गयी। 'हमारा धर्म सच्चा, तुम्हारा धर्म झूठा या कच्चा। अपने धर्म का हम फैलाव करेंगे। दूसरे धर्मो को खच्ची करेंगे', यही संघर्षात्मक प्रवृत्ति चली, फैल गयी। धर्म के अनुसार जीवन-परिवर्तन करने की बात गौण हो गयी। अपने धर्म का अभिमान रखना, दूसरों के धर्मों के प्रति अनादर या तिरस्कार रखना, दूसरे के धर्म की नुक्ताचीनी करते रहना और धर्म के नाम पर संघर्ष बढ़ाना ही एक बड़ी प्रवृत्ति हो गयी।

इस विषम और भयानक परिस्थिति से बचने के लिए मानव-कल्याणकारी दीर्घदृष्टि उदार महात्माओं ने सर्वधर्म-सहिष्णुता, सर्वधर्म-समभाव का सार्वभौम युग-धर्म बताया।

हमारा धर्म पर विश्वास है। हम मानते हैं कि सर्वधर्म-समभाव वाला सार्वभौम

धर्म अन्यान्य सब धर्मों में सामंजस्य स्थापित करेगा।

लेकिन जिनके प्रति हमारे मन मे गहरा आदर है ऐसे लोकहित चिन्तक हमें कहते हैं धर्ममात्र के प्रति जिनके मन में कोई विशेष आदर, आस्था या निष्ठा नहीं रही ऐसे लोग आपकी बात मानेंगे जरूर लेकिन क्या किसी भी धर्म के निष्ठावान अनुयायी ने आपकी बात मानी है ? सर्वधर्म समभाव की ही बात लीजिये। क्या कोई कट्टर रोमन कैथलिक, कट्टर मुसलमान या कोई कट्टर बौद्ध भी आपकी बात मानने को तैयार है ? ऐसा एक भी उदाहरण दिखाइये और बाद मे सर्वधर्म समभाव की अथवा सर्वधर्म-समभाव की बाते कीजिये। कट्टर लोगों की धर्मनिष्ठा इसी में है कि वे अपना धर्म छोड़कर और किसी धर्म को धर्म मानने के लिए तैयार नहीं।

सर्वधर्म-समभाव या सर्वधर्म-समन्वय तक पहुँचने के लिए इतनी तो हृदय की उदारता आवश्यक है ही कि हर धर्म की खूबियों को हम पहचाने। धर्म के विधि-निषेधों के पीछे की केवल धार्मिकता का ही हम पुरस्कार करें और कालग्रस्त या गौण बातों की उपेक्षा करें।

इस पर नये लोग कहते हैं कि कालग्रस्त धर्मों के झंझट मे हम पड़ें ही क्यों ? सब धर्मों की बलाएँ दूर रखकर हम लोगों से क्यों न कहें: "भले आदमी अपने-अपने हृदय की प्रेरणा को ही मान लो। संगठित धर्मों की बातें छोड़ दो।"

वासना-परतन्त्र मनुष्य को बचाने के लिए धर्म पैदा हुआ। उसी के पीछे वासनाएँ संगठित हुई और उन्होंने मनुष्य का पन्थ-परतन्त्र फिरकाभिमानी बनाया। आप धर्मों को गौण करके धार्मिकता को बढ़ावा देना चाहते हैं। लेकिन धार्मिकता तो कब की निष्प्राण हो चुकी है। परतन्त्र मनुष्य को धर्म परतन्त्र बनाने की अपेक्षा स्वतन्त्र ही क्यों नहीं करते ?

इन लोगों की बात सही है। लेकिन हम उनसे पूछते हैं : "इस रास्ते पर भी आपको सच्चे और पक्के कितने अनुयायी मिले ?" आप जवाब देंगे कि अनुयायी तो सबसे बड़ी बला है। कोई किसी का अनुयायी न रहे, इसी बात का हम पुरस्कार करें।

बात फिर से यहीं आकर खड़ी होती है कि जिन लोगों में धर्म का आग्रह नहीं होता, जिनकी धर्म-निष्ठा शिथिल होती है, वे ही सर्वधर्म-समभाव की बात मानते हैं और वे ही धर्मों को गौण बनाकर हृदय की स्वतन्त्रता कबूल करते हैं।

ऐसी हालत में हृदय की स्वतन्त्रता स्थापित करने के लिए सब धर्मों का विरोध करने की अपेक्षा सब धर्मों के उत्तम तत्त्वों को स्वीकार करना ही अच्छा रास्ता है। हम संघर्ष में न उतरें। हृदय से सब धर्मों के प्रति आत्मीयता धारण करें और धार्मिकता की शक्ति पर विश्वास रखें, यही सच्चा मार्ग है। तत्त्वनिष्ठा और व्यवहार दोनों

की दृष्टि से यही मार्ग ठीक है।
१५-३-'६१

४. तारक शक्ति—सहयोग

न्याय, नीति, करुणा, सदाचार का तनिक भी खयाल किये बिना केवल अपने स्वार्थ का ही खयाल करना; स्वार्थ, लोभ, अभिमान, द्वेष, मत्सर, ईर्ष्या आदि प्रबल भावनाएँ जो रास्ता बतायें, उसी रास्ते चलना मनुष्य के लिए आसान है। मनुष्य के हृदय में करुणा तो होती है, किन्तु ऊपर बतायी हुई प्रबल वासनाओ के सामने वह दब जाती है। लेकिन करुणा, उदारता, त्याग, ये सब प्रेम के ही भिन्न-भिन्न रूप होने के कारण ये दैवी सद्गुण दब जाने पर भी मरते नहीं। मनुष्य-जाति का इतिहास बताता है कि अगर इस दुनिया में सामान्य मनुष्य के लिए महात्मा बनना कठिन है, तो निरा दुरात्मा बनना उससे भी कठिन है। बड़े-बड़े खूनी, डाकू और दगाबाज लोगों में भी धर्मबुद्धि एकाएक प्रकट होती है और मनुष्य को दुराचार के रास्ते जाने से रोकती है। इसीलिए तो गीता ने कहा है कि मनुष्य-जीवन सत् और असत्, भला और बुरा दोना के मिश्रण से बना है। दुराचारी लोग धर्मबुद्धि की दरमियानगिरी से ऊबकर कहते हैं कि "क्या करे, इस Conscience को, धर्मबुद्धि को !—जब हम उसका मुँह देखना नही चाहते, तब एकदम आकर घेर लेती है और हमें कायर बना देती है। Conscience Makes us Coward उसके सामने दुराचार का हमारा दृढ संकल्प भी कमजोर हो जाता है और लाचारी से हमें दुर्जनता का रास्ता छोड़कर सज्जनता के अधीन बनना पड़ता है।"

जब हम कहतें हैं कि मनुष्य-हृदय में आत्मा विराजमान है, तब दार्शनिक परिभाषा में हम इतना ही कहते हैं कि प्रेमवृत्ति अपना काम करती है और हमें न्याय, दया, करुणा, उदारता की ओर घसीट ले जाती है। इतना ही नहीं, किन्तु सर्वस्वत्याग को प्राणार्पण तक ले जाती है।

ऐसी उच्च भावनाओं को स्वीकार कर अपना जीवन कृतार्थ करने का जो मार्ग है, उसे धर्म कहते हैं। जीवन-व्यवहार में जिसे सफलता कहते हैं, उसका मार्ग यह नहीं है। धर्म के रास्ते चलते हुए कभी सफलता मिलेगी, तो कभी नहीं भी मिलेगी। तो भी मनुष्य की श्रद्धा मानने की कोशिश करती है कि धर्म द्वारा सफलता मिलनी ही चाहिए। ऐसी श्रद्धा के ही कारण मनुष्य ने कहा : '**धर्मो रक्षति रक्षितः।**' अगर हम धर्म की रक्षा करते हैं तो धर्म हमारी रक्षा करेगा ही। भारतीय जनता ने अपने हजारों बरस के अनुभव के अन्त में इसी श्रद्धा को दोहराया : '**यतो धर्मस्ततो जयः।**' धर्म और सत्य में अभेद मानकर ऋषियों ने कहा : '**सत्यमेव जयते नाऽनृतम्।**' लेकिन अनुभव तो निरपवाद नहीं है। इसलिए सत्यपरायण और

धर्मपरायण लोगों ने जय की, सफलता की व्याख्या ही बदल दी और कहा कि ''निष्ठापूर्वक और दृढ़तापूर्वक सत्य का और धर्म का पालन करने से जो कुछ भी फल मिलता है, उसी को हम जय कहें।'' पहले कहा कि हिंसा किये बिना, द्रोह किये बिना और अपनी तेजस्विता खोये बिना सज्जनों की राह पर चलते हुए थोड़ा फल मिला तो वही बहुत है, उसी में कल्याण है : **'यदल्पम् अपि: तद् बहु।'** जय और सफलता की अपनी ही व्याख्या को पकड़कर कहा कि थोड़ा भी फल न मिले , तो भी परवाह नहीं करनी चाहिए। धर्माचरण का सन्तोष ही उसका पर्याप्त फल है। दृढता के साथ हम सत्यधर्म से चिपके रह सकें, यह दृढ़ता ही सबसे बड़ी जीवन-सिद्धि है। **'निश्चयाचे बल तुका म्हणें तेंचि फल।'** तुकाराम का यह वचन बताता है कि सत्य की सिद्धि, धर्मनिष्ठा की सिद्धि हम बाहर ढूँढ़ने न जायँ। निश्चय अटल रहे, इसके लिए जो आत्मिक बल चाहिए, वह अगर मिला तो इससे बढ़कर कौन-सी चीज है, जिसे पाकर हम फल-प्राप्ति का उत्सव मनायें।

धर्मपरायण लोगों ने अपना रास्ता और अपना सन्तोष इस तरह हासिल किया। इसी निष्ठा को एक जैन-वचन व्यक्त करता है : **'सच्चं हि सारभूयं लोकम्हि।'** इस दुनिया में यानी मनुष्य-जीवन में सत्य ही साररूप है। बाह्य सफलता-निष्फलता को एक ओर रखकर हम यही सोचें कि अपने जीवन की कृतार्थता किसमें है। उसी को जीवन का सार समझें। उसे पाकर हम सचमुच हृदय से धन्य हो जायँ। इसमें न कोई अपवाद के लिए अवकाश है, न पश्चात्ताप के लिए कोई कारण है। सत्य को सार मानने पर उसी के द्वारा हमें परमानन्द मिलना चाहिए।

अब रही रोजमर्रा के जीवन की बात। यह जीवन ही अधिकांश लोगों के लिए परम सत्य है। इसमे बाह्य सफलता और आन्तरिक समाधान, दोनों के समन्वय की अपेक्षा रहती है। सारी दुनिया इसी रास्ते जा रही है। लेकिन इसमें दो चीजों का मिलान होने के कारण मिश्रण का परिमाण या अनुपात हर एक के मन पर अलग-अलग रहेगा ही। आखिरकार है तो समझौते की बात ! इसमें शुद्ध सुवर्ण, गिनी या पौन का सुवर्ण और अब १४ कॅरट का सुवर्ण सब अपना-अपना पक्ष लेकर खड़े होंगे ही। कभी सोने में मिलावट होगी चाँदी की, कभी होगी ताँबे की, कभी तीनों का भी मिश्रण हो सकता है। लेकिन सब इस बात पर सहमत हैं कि जो भी मिश्रण हो, उसमें प्रधानता होनी चाहिए सुवर्ण की। पौन यानी गिनीगोल्ड के बारे में कहा जाता है कि शुद्ध सुवर्ण से पौन में चार गुण अधिक होते हैं। उसका रंग और उसकी चमक शुद्ध सोने से अधिक आकर्षक होती है। दूसरा गुण उसकी आवाज ज्यादा मधुर होती है। तीसरा गुण सख्त होने से घिसाव या छीजन कम होती है। इसी पर से चौथा गुण यह पाया जाता है कि कला के महीन, सूक्ष्म गहने बनाने के लिए जहाँ सुवर्ण काम का नहीं, वहाँ पौन उत्तम काम देता है आदर्श को मानने

वाला पक्ष कहेगा कि पौन में चार तो क्या, चार लाख गुण हों, तो भी हम उसकी कद्र नहीं करेंगे, क्योंकि वह मिश्र चीज है। मिश्रण का होना ही सबसे बड़ा दोष है। सुवर्ण तो सुवर्ण ही रहेगा, इसीलिए वह सर्वोपरि है। चतुर व्यवहार आदर्श के साथ शास्त्रार्थ करने नहीं बैठता। वह कहता है कि सुवर्ण और उसे श्रेष्ठ मानने वाले पक्ष को हमारे हजार-हजार वन्दन है। उनकी श्रेष्ठता स्वीकार करके ही, उसे नमस्कार करके ही हम अपने व्यवहार में प्रवृत्त होते है। नम्रता के साथ हम कहते हैं कि हम दुन्यवी जीव हैं, दुन्यवी रहना चाहते हैं। जितना हो सकता है, हम धर्म का पालन करेंगे ही। लेकिन **'सर्वनाशे समुत्पन्ने धर्मं त्यजति पण्डितः।'** उत्तम रास्ते पर जाते हुए अगर सर्वनाश ही होता हो तो उस रास्ते से जाने वालों की हम वैसी ही पूजा करेंगे, जैसी पति के साथ सहगमन करने वाली (भस्म होने वाली) सती की करते हैं। किन्तु हम उस रास्ते नहीं जायँगे। हमारी अन्तरात्मा कहती है कि जीवन की दृष्टि से वह सर्वोच्च मार्ग नही है। सर्वोच्च मार्ग वही है, जो हमे जिलाता है। समर्थों के लिए जो आचरण योग्य है, दुर्बलो के लिए भी उसे योग्य मानना गलत है। **'समर्थो धर्मम, आचरेत्।'** उतनी सामर्थ्य न होने पर धर्म के साथ व्यावहारिक सफलता का कुछ-न कुछ खयाल रखना ही चाहिए। कोई कम रखेगा कोई ज्यादा। यह तरतम भाव दुनिया में रहने वाला है ही। इसमें और किसका दोष निकाले या कौन किस पर हँसे ?

हमारा सनातन धर्म सब धर्मो में पुराना है बूढ़ा, अनुभवी है, धार्मिक उत्साह के ज्वार भी उसने देखे और कटु अनुभव के भाटे भी। इसलिए उसने हमेशा समन्वय और समझौते को स्थान दिया है। शास्त्र-कार कहते है कि अपनी आजीविका अद्रोह से, पूर्ण अहिसा से प्राप्त करो। अद्रोह का आदर्श छोड़कर द्रोहवादी मत बनो। अगर यह अशक्य हुआ, द्रोह करना ही पड़े तो 'कम-से कम द्रोह करने की नीयत रखो : **'अल्पद्रोहेण वा पुनः।'** जब आदमी तिजारत करने जाता है, तब मुनाफा पाने के लिए ही सब कुछ करता है। लेकिन आदमी जानता है कि तिजारत में कभी कभी नुकसान भी भुगतना पड़ता है। इसके लिए मन को तैयारी रखनी चाहिए। लेकिन कोई भी सौदागर यह नहीं कहेगा कि तिजारत में अमुक परिणाम में नुकसान होना ही चाहिए। नुकसान बिलकुल न हो, यही हमारी कोशिश रहेगी। लेकिन ४९ प्रतिशत तक नुकसान भुगतना पड़े तो भी कहेगे कि हम लाभ में है। नुकसान बिलकुल न हो, यह होगा अन्तिम आदर्श और कुल मिलाकर ५० प्रतिशत से अधिक नुकसान न होने देना, यही होगी बुद्धिमानी।

सारे चिन्तन का सार यही है कि हम आदर्श के पालन की पूरी-पूरी कोशिश करते रहे। लेकिन जो कम पालन करते हैं उनकी न निन्दा करें, न उनके साथ पूरा-पूरा असहयोग करें।

असहयोग एक दुःखद और अन्तिम इलाज है। वह किसी को सजा देने का शस्त्र नहीं। वह है अपनी वेदना व्यक्त करने का तरीका। अगर मेरा भाई शराब पीने लगा तो मैं दुःखी हो जाऊँगा, उसे निवृत्त करने की कोशिश करूँगा, उसके साथ लड़ूँगा, लेकिन यह कभी नहीं कहूँगा कि वह मेरा भाई नहीं है। यह भी नहीं कहूँगा कि शराब पीना है तो घर से निकल जाओ। इसके खिलाफ सत्याग्रह करने के लिए फाका रखूँगा, अपना सिर पीटूँगा, लेकिन उसका साथ नहीं छोड़ूँगा। यह करते हुए अगर वह शराब की दूकान में जाता ही है तो उसके साथ शराब की दूकान तक जाता हुआ उसे समझाने की पराकाष्ठा करूँगा और वहाँ मेरे सहयोग का अन्त होगा। जिस क्षण वह शराब की दुकान में पाँव रखता है, उसी क्षण मेरा उसका साथ छूट जायगा। मैं दुःखी हृदय से बाहर रहूँगा और उसके बाहर आने की राह देखूँगा। वह पीकर, तर होकर जब बाहर निकलेगा, तब उसे गले लगाऊँगा। उसके मुँह की दुर्गन्ध बरदाश्त करूँगा, गटर में गिरने से बचाकर, उसे घर लाकर बिस्तार पर सुलाऊँगा। यह है असहयोग। जिसके हृदय में बन्धु प्रेम है, प्रेम के कारण अधिक-से-अधिक सहयोग करने की उत्कंठा है तत्परता है। उसी को असहयोग करने का अधिकार है। असहयोग का सच्चा बल उत्कट सहयोग में से पैदा होता है। यह प्रेम, यह आत्मीयता और यह सहयोग परायणता सहजीवन परायणता ही जीवन धर्म है और है आज का युग धर्म।

इस चिन्तन में हमारे देश के सामने जो छोटे बड़े बहुत से सवाल खड़े हैं उनका जान बूझकर जिक्र नहीं किया। इस उद्देश्य से कि हम आज के सर्वश्रेष्ठ युग धर्म को स्वतन्त्र रूप से पहचाने।

२५-३-'६३

५. धर्मों का सवाल—गांधीजी का हल

दुनिया के छोटे बड़े नये-पुराने सभी धर्मों ने मनुष्य जाति के कल्याण के लिए अधिक से-अधिक चिन्तन किया है। ईश्वर की योजना के अनुसार दुनिया के सबके सब धर्म भारत में आकर बसे हैं। एक भी धर्म ऐसा नहीं, जिसके मानने वाले भारत में न पाये जायें। जिस तरह सब लड़कियाँ आराम के लिए मायके आती हैं, उसी तरह दुनिया के भी धर्म इस अद्भुत देश में आकर बसे हैं। भारतीयो का मानस भी ऐसा है कि हर एक धर्म के बारे में उसमें दिलचस्पी पायी जाती है। धर्म से नफरत रखने वाले, धर्म का विरोध करने वाले नास्तिक भी जैसे हमारे देश में पनपे, वैसे शायद ही अन्य देशों में पनपे हों।

ईश्वर नहीं है, आत्मा भी सचमुच नहीं है। वह केवल एक वहम है, ऐसा कहनेवाला भी एक धर्म इस देश में पैदा हुआ और यहाँ से दूर-दूर तक पहुँच

गया। हमारे देश के भक्तों ने उनके बारे में इतना ही कहा कि "स्वयं भगवान ने ही उनको ऐसी मति दी, बेचारे क्या करें ? उनको भगवान को इनकार करने से तसल्ली मिलती हो तो भले उस खयाल को वे ले बैठें, भगवान ऐसों का भी भला ही चाहता है। भले ही वे भगवान को अपने दिल और दिमाग से दूर रखें, भगवान उनको थोड़े ही दूर रखने-वाले हैं ?" हमारे देश मे नास्तिकों को भी मन्दिर में जाकर ईश्वर के खिलाफ बोलने की इजाजत थी। फिर क्या आश्चर्य कि ऐसे देश में सब धर्मों को मानने वाले लोग हमेशा आते रहें और यहाँ बस जायँ ?

सारी दुनिया में जहाँ-जहाँ एक से अधिक मजहब एकत्र पाये जाते हैं, उनके बीच कुछ-न-कुछ विरोध रहता ही है। आज पहले के जैसे धर्म-युद्ध नहीं होते, लेकिन धर्म-धर्म के बीच शीत-युद्ध (ठण्डा युद्ध) चलता ही रहता है। इस्लाम और ईसाई-धर्म के बीच बरसों युद्ध चला। इस युद्ध का बयान हमनें अंग्रेजी में पढ़ा है, जिसमें ईसाइयों की बाजू अच्छी तरह से सजायी है। दूसरी बाजू का भी इतिहास होगा, जो हमारे सामने अभी तक नहीं आया। लेकिन इस युद्ध का नतीजा क्या हुआ ? दोनों ओर के हजारों लोग मारे गये, लेकिन एक भी धर्म का नाश नहीं हुआ। ईसाई कहते हैं, हमारा ही धर्म सच्चा है। मुसलमान कहते हैं, हमारा ही धर्म सच्चा है। दोनों की श्रद्धा देखें तो दोनों के प्रति हमारे मन मे आदर ही पैदा होता है। जिस निष्ठा और जिस भक्ति से मुसलमान कुरानशरीफ पढ़ते हैं, उसे देखने के बाद कौन कुरान के प्रति इज्जत की निगाह से नहीं देखेगा ? जब हम यहूदियो की तौरात के प्रति और ईसाइयों की तौरात तथा इञ्जिल, दोनों के प्रति श्रद्धा-भक्ति देखते हैं, तो हमारे मन मे उन दो धर्म-ग्रन्थों के प्रति भी आदरभाव पैदा होता है।

अगर कोई विशिष्टि-धर्मी कहे कि अपने धर्म को छोडकर बाकी धर्मों की पुस्तको को हम बुद्धि की कसौटी पर कसेंगे तो हम कहेंगे कि फिर बुद्धि की यह कसौटी पक्षपातरहित, अपवादरहित सब धर्म-ग्रन्थों को लगानी चाहिए। अगर बाइबिल को बुद्धि की कसौटी पर कसना हो तो हम अपनी ही बुद्धि को आगे क्यो करें ? ईसाइयों मे भी तो बुद्धि है। उनकी बुद्धि की कसौटी पर बाइबिल को कसने के लिए हम क्यों एतराज करें ?

बाइबिल को मानने वाले लोग भी कहते हैं कि हम बाइबिल को मानते तो हैं, किन्तु उसमें लिखी महत्त्व की बातें ही लेकर चलते हैं। बाकी बात हम आदर के साथ एक ओर रखते हैं। कुरानशरीफ के प्रति श्रद्धा रखनेवाले मुसलमान भी ऐसा ही कहते हैं। हर एक धर्म में अपने-अपने धर्म-ग्रन्थ के अलावा दूसरी भी बहुत-सी बातें आती हैं, जिनको उस धर्म के माननेवाले आदर से देखते हैं। और दूसरे धर्म के लोग उन्हें नहीं मानते। ईसाई कहेंगे कि 'भगवान सबके परमपिता

हैं।' मुसलमान कहेंगे कि 'भगवान न किसी का लड़का है न किसी का बाप। वह तो सबका मालिक है। रामकृष्ण परमहंस कहते थे कि 'मैं तो भगवान को माँ समझकर ही उसकी भक्ति करता हूँ। माता से बातें करता हूँ, माता मुझे आशीर्वाद देती है।' जब गांधीजी से किसी ने पूछा, तो उन्होंने कहा कि 'भगवान तो भगवान ही हैं, वे न किसी की माता हैं, न पिता। लेकिन वे दयालु हैं। हमें माता या पिता के रूप में अपनी भक्ति करने देते हैं।' गीता का वचन आगे करके गांधीजी कहते थे : 'आदमी भगवान की जिस रूप से भक्ति करता है, उसी रूप से भगवान उसके सामने आकर उसका उद्धार करते हैं।'

जो लोग पापी और दुराचारी हैं, वे अपने को पूरा-पूरा नहीं समझ सकते। भगवान जानते हैं कि वे भी आखिरकार पाप और दुराचार छोड़ देनेवाले हैं। उनके बारे में भगवान थोड़े ही हारनेवाले हैं ?

सब धर्मों के धर्म-ग्रन्थ पढ़ने और उनकी जानकारी हासिल करने के बाद हमने देखा कि उनमें अच्छी-से-अच्छी बातें भी ऐसी ही भाषा में लिखी हैं कि लोग समझ सकें। देने वाला भगवान है, लेने वाला तो अल्प शक्तिवाला आदमी ही है। जिस समाज और जिस जमाने में जो भाषा चलती थी, उसी भाषा में धर्म-ग्रन्थ प्रकट हुए हैं। धर्म की नसीहत पानेवाले समाज और जमाने की ताकत देखकर ही उसे नसीहत दी गयी है।

जिस तरह बच्चे की बुद्धि धीरे-धीरे खिलती, विकसित होती है, उसी तरह मनुष्य-जाति की समझ-शक्ति, सूझ और धर्म-बुद्धि भी धीरे-धीरे खिलती है। हजार-दो हजार बरस पहले के, भारत के, ईरान के, अरबस्तान के, फिलस्तीन के, चीन के या यूनान के लोग जैसा सोच सकते थे, वैसे ही धर्म-ग्रन्थ उनके बीच चले। उस जमाने के लोगों ने अपनी बुद्धि के अनुसार धर्म-वचनों का अनुवाद किया। उसके बाद अच्छे-अच्छे लोगों ने, जैसा उनका धर्मानुभव बढ़ता गया, उन्हीं वचनों का व्यापक और सन्तोषकारक अर्थ किया।

भक्त कहते हैं कि जब-जब धर्म की बातें समझने में मनुष्य-समाज गड़बड़ी करता है और धर्म में विकृति आती है, तब भगवान हर एक देश के लिए और हर एक जमाने के लिए अपना नया नबी भेजता ही है। यह वचन हमेशा के लिए है; पुराने जमाने के लिए है और आइन्दा के लिए भी है।

जिस तरह आसमान से शुद्ध पानी बारिश के रूप में गिरता है, उसी तरह धर्म की शुद्ध बातें भगवान की ओर से हमें मिलती हैं। बारिश का पानी नीचे उतरते समय हवा की धूलि को लेकर कुछ गन्दा होता है। हवा में जो गर्दा, धुआँ और बदबू होती है, उसे लेकर ही वह नीचे आता है। जमीन पर पहुँचते ही मिट्टी का रंग, उसका स्वाद और उसके गुण-दोष वह पानी अपना लेता है और जमीन पर

बहने लगता है। इसी तरह भगवान के दिये शुद्ध धर्म को मनुष्य ही अपने स्वभाव और भाषा की त्रुटि के अनुसार अशुद्ध कर देता है। इसीलिए पवित्र लोगों को बार-बार धर्म-संस्करण करना पड़ता है।

दुनिया के सब धर्मों का आदर के साथ परिचय पाने के बाद गाँधी जी ने कहा कि मनुष्य के मन में सब धर्मों के प्रति आदर-भाव होना चाहिए। सब धर्म सच्चे और अच्छे हैं। सब धर्मों में उन्नति का माद्दा है। जो बात हमें जँच जाय, उसे हम स्वीकार करें और जो न जँचे, उसके बारे में किसी से झगड़ा न करें। हम धैर्य के साथ राह देखें।

अगर हमारे धर्म में कुछ कमी है तो जहाँ से अच्छी चीज मिले, उसे लेने को कौन मना करता है ? अपने-अपने धर्म को सुधार कर समृद्ध करने का अधिकार हर एक को है। दुनिया की चीजें किसी के यहाँ से लेते समय झगड़ा होता है। लेकिन धर्म की बातें हमने कहीं से भी लीं तो झगड़ा होने का कारण नहीं। इसीलिए किसी इस्लामी सन्त या धर्मकार ने कहा है : 'अच्छी चीज कहीं से भी मिले, अपनी ही गँवायी हुई चीज समझकर ले लेनी चाहिए।' बौद्ध भी कहते हैं : 'दुनिया में जितने अच्छे वचन हैं, वे सब बुद्ध के ही वचन हैं।'

इसी चीज को गांधीजी ने सर्व-धर्म-समभाव (Equality of all Religions) कहा है। जब हम सब धर्मों के प्रति मन में सच्चा आदर रखते हैं, तो कमोबेश सभी हमारे ही हो जाते हैं। अपने धर्म में अगर कोई चीज़ हमें पसन्द न आये तो उसे सुधारने का हमारा कर्तव्य है ही। वह चीज हमारे धर्म में सचमुच शुरू से ही थी या नहीं या बाद में घुस गयी, इसकी तलाश जिसे करनी है, वह करे। हम तो जो भी चीज बुरी साबित हुई, उसे छोड़ देंगे। जिस घर में हम रहते हैं, उसे साफ रखना हमारा प्रथम कर्तव्य है। जिस घर में हमेशा रहना है, उसमें अगर कोई सहूलियत नहीं तो उसे पैदा करना भी हमारा कर्तव्य है!

आजकल लोग अपने धर्म का भक्ति से अध्ययन और पालन कम करते हैं। अभिमान को ही भक्ति मानकर चलते हैं। दूसरों का धर्म खराब या गलत और अपना धर्म श्रेष्ठ, यह कहने में ही धर्मनिष्ठा मानी जाती है और इसी से झगड़े होते आये हैं।

एक अमेरिकन कवि के बारे में कहा गया है : He Regarded America as a great country, because he was living in it. इसी तरह हर एक आदमी अपने धर्म को सबसे श्रेष्ठ मानता है, क्योंकि उसने उसे पसन्द किया है अथवा उसका जन्म उस धर्म में हुआ है।

आज दुनिया में जहाँ देखें, धर्मों-धर्मों के बीच शीतयुद्ध चलता है। खास करके अफ्रीका में इस्लाम और ईसाई-धर्म के बीच छिपा तनाजा (झगड़ा)पाया

जाता है। जो लोग धार्मिकता के कायल हैं, वे कहते हैं कि जब अलग-अलग धर्म आपस में झगड़ा करने में अपनी ताकत बरबाद करते हैं तो अधर्म खुश होता और जोरों से फैलता है। इसलिए धर्मों को चाहिए कि वे अपने अन्दर के झगड़े छोड़ अधर्म का सामना करने के लिए, आपस में सहयोग करने के लिए तैयार हो जाएँ।

छोटी-मोटी बातों में सिद्धान्तों का ऐक्य न कभी हुआ है, न आगे होगा। मतभेद, दृष्टिभेद और अभिरुचि का भेद मनुष्य स्वभाव में ही है। जीवन में वह प्रकट होकर रहेगा। आदर दिखाने के लिए कोई अपने सिर पर पगड़ी रखेगा तो कोई अपने सिर पर की टोपी उतार कर ही आदर दिखायेगा। सिर ढँकना या खुला करना गौण चीज है। मुख्य बात है आदर दिखाने की।

उपनिषत्कालीन ऋषि याज्ञवल्क्य ने साफ शब्दों में कहा है कि सत्य तो तर्कबुद्धि से नहीं, किन्तु हृदय से ही जाना जाता है। धर्म चीज ही हृदय की है, दिमागी चर्चा की नहीं।

फिर एक एक धर्म में भी अन्दरूनी एकता कहाँ है ? हर धर्म में अनेक पन्थ, फिरके और Denominations पाये जाते हैं। वैदिक धर्म में तो अनेक मार्ग, पन्थ और उपासनाएँ हैं ही। ईसाई धर्म में भी कई पन्थ और फिरके हैं, जिनकी आपस में बनती नहीं। हर धर्म की यही हालत है। तो भी दूसरे धर्म के साथ झगड़े करने के लिए ये सब पन्थ इकट्ठे होते हैं और एक एक धर्मावलम्बियों की संख्या की जब गणना होती है, तब भी ये सब एक होते हैं।

अब सवाल यह है कि जब भारत में दुनिया के सब धर्म आकर बसे हैं, तब उनका आपस में सलूक कैसा हो ?

भारत की अपनी एक संस्कृति है, जो प्राचीनकाल से आज तक चलती आयी है और बढ़ती आयी है। इस संस्कृति पर सब धर्मों का कमोबेश असर हुआ है और सब धर्मों पर भी इस संस्कृति का काफी असर होने लगा है। सब धर्मों के प्रति जिस तरह भारत आत्मीयता की नजर से देखता है,उसी तरह इन सब धर्मों को चाहिए कि वे भारत के प्रति आत्मीयता की नजर से देखें, भारत में बसे सब धर्मों के प्रति पारिवारिक धर्म की दृष्टि से देखें। कोई धर्म दूसरे किसी भी धर्म के साथ दुश्मनी न करे। किसी का भी बुरा न चाहे।

सब धर्मों के अन्दर जो धार्मिकता पायी जाती है, उसमें सबका कल्याण करके, सबकी उन्नति के लिए प्रयत्न करने की भावना रही है। उसी का विकास करते जायँ और विशाल धर्म-कुटुम्ब के द्वारा विश्व की और विश्वपति की सेवा करने में कृतार्थता और धन्यता अनुभव करें।

जो लोग कम समझ के कारण या बुरे अनुभव के कारण धर्ममात्र का विरोध करते और धर्म की निन्दा करते हैं, उनके प्रति भी उदारतापूर्वक सहानुभूति रखकर

उनसे आदर पाने की आशा रखें।

जहाँ सर्व-धर्म-समभाव आया, परस्पर सहानुभूति बढ़ी, वहाँ हर धर्म महत्त्व की बातों को ही महत्त्व देगा, गौण बातों को गौण समझेगा। अभिमान, एकांगिता और अज्ञान के कारण भेदों के जो झगड़े होते हैं, उन्हें छोड़ देगा, मतभेदों को आगे करके धार्मिकतामूलक एकता को कमजोर नहीं करेगा और धर्मों को विश्व के लिए आशीर्वादरूप बनायेगा।*

३. समन्वय की बुनियाद : सर्व-धर्म-समभाव

१. सर्व-धर्म-समभाव

विभिन्न धर्मों के बीच होने वाले अधार्मिक युद्ध, जिनको 'धर्मयुद्ध' कहा जाता है, हमारे देश में भी कम नहीं हुए। हमने यह कहीं नहीं पढ़ा कि हिन्दू-धर्म और इस्लाम के बीच हिन्दुस्तान में कभी युद्ध हुए। हाँ, मुसलमानों ने राज जीतने के लिए इस देश में जरूर कई युद्ध किए। यह भी सही है कि हिन्दुओं ने अपनी रक्षा के लिए उनके खिलाफ आखिरी दम तक मोर्चा लिया। राज जीतने के लिए लड़ते समय मुसलमानों ने यहाँ के मन्दिर भी लूटे या गिरा दिये होंगे। लेकिन उसमें धर्म-प्रचार की अपेक्षा लूट-खसोट का ही उद्देश्य अधिक रहा है, इसमें सन्देह नहीं। विजित लोगों की ओर नफरत की निगाह से देखकर उन्हे अपमानित करने के लिए मुसलमानों ने बहुत-सी बाते की होंगी। धर्म का नाम लेकर औरंगजेब ने जजिया कर लगाया था, यह भी सब कोई जानते हैं। लेकिन हिन्दू-धर्म का नाश करने और सब हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के लिए यहाँ मुसलमानों ने युद्ध किये, ऐसा कहीं भी लिखा नहीं है।

हिन्दुओं ने भी इस्लाम को झूठा बताकर उसे संसार में से निकाल फेंकने की दृष्टि से कहीं युद्ध नहीं किये। हाँ, उन्होंने अपने देश और राज का संगठन अवश्य किया। किन्तु वह इसी डर से कि मुसलमानों के हाथ में राज जाने से हिन्दू-धर्म का राजाश्रय नष्ट हो जायेगा और धर्माचरण के लिए भी अनेक प्रकार की तकलीफें सहनी पडेंगी। इन संगठनों के पीछे आत्मारक्षा का ही भाव अधिक रहा है। पोर्तुगीजों के समय में धर्म-प्रचार को राजकीय महत्त्व दिया गया था। उनके राज की जड़ में यही हेतु था कि राज जीतना या चलाना है सिर्फ स्वधर्म के प्रचार के लिए, दूसरों

*जम्मू कश्मीर विश्वविद्यालय ता० ८-१०-'६३ को दिया हुआ व्याख्यान।

का धर्मान्तर करने के लिए।

लेकिन आज हमें इन युद्धों के बारे में नहीं लिखना है। बल्कि शैव और शाक्त, जैन और वैष्णव, वैष्णव और शैव इनके बीच जो टन्टे या युद्ध हुए और जो एक-दूसरे पर अत्याचार किए गये, उन्हीं के बारे में कुछ लिखना है। एक-दूसरे के शिलालेखों को नष्ट करना, एक-दूसरे की उपासना में विघ्न डालना और उपासकों पर जुल्म ढाना आदि बातें हमारे देश में नहीं हुई, ऐसी यदि किसी की राय हो तो वह गलत है। शैव और वैष्णव आपस में ऐसे लड़े, मानो भिन्नधर्मी ही हों, इसी प्रकार बौद्ध और सनातनियों ने भी टन्टे किये और शैवों और शाक्तों ने भी।

आगे चलकर विचारवानों ने प्रचार शुरू किया कि हरएक के लिए अपना-अपना धर्म अच्छा है। कोई किसी का धर्मान्तर न करे। हरएक को अपनी मर्जी के अनुसार उपासना करने दी जाय। सहिष्णुता की बुनियाद पर शान्ति की स्थापना करने का यह पहला प्रयत्न था।

लेकिन इतना प्रयत्न काफी नहीं है। एक-दूसरे की उपासना को सह कर काम नहीं चलेगा। बल्कि सद्भावना से एक-दूसरे को स्वीकार करना होगा। तभी जनता और उसकी धार्मिकता अबाधित रह सकेगी— यह सोचकर श्री आद्य शंकराचार्य ने ममाज में पचायतन पूजा का आदर्श रूढ किया। शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य और देवी इन पाँचों में भारतवर्ष के सब देवी-देवताओं का अन्तर्भाव हो जाता है। इन पाँचा में से किसी भी एक की उपासना की, तो उसके साथ दूसरे चार देवताओं की उपासना— चाहे गौणरूप से क्यों न हो— अपरिहार्य है, ऐसा उन्होंने तय किया। पूजा पाँचों देवताओं की करनी चाहिए। अन्यथा पूजा देवता तक नहीं पहुँचती, ऐसा विश्वास उन्होंने दृढ़ किया।

पाँचों देवताओं की एकत्र पूजा करने से इनमें से एक की भी निन्दा या विरोध करना असम्भव था। इस प्रकार विग्रह की जगह सुलह के वायुमण्डल की स्थापना की गयी। आगे चलकर यह उदारता, स्वतत्रता या आत्मनिर्णय इतना बढ़ गया कि पिता की उपासना अलग, पुत्र की अलग, गुरु की अलग, शिष्य की अलग, ऐसे भी प्रकार देखने को मिले।

भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय प्रथम पूजा के लिए एकत्र हुए। किन्तु उनमें रोटी-बेटी व्यवहार मान्य नहीं हुआ। बाद में वह भी शिथिल हुआ और अब विवाह में उपामना भेद या कोई तात्त्विक भेद आड़े नहीं आता। यह भिन्न-भिन्न उपासनाएँ या सम्प्रदाय एक ही धर्म की शाखाएँ हैं, यह बात पूर्ण रूप से जाँचने के लिए पंचायतन-पूजा का बड़ा ही उपयोग हुआ।

गुजरात में शाक्त और जैनों के बीच बहुत दिनों तक झगड़ा चला। आखिर जैन-मन्दिर के अहाते में अम्बिका का भी एक मन्दिर बनाने की बात जैनों ने

कबूल की और इस प्रकार वह झगडा खतम हुआ। अलबत्ता जैन-मन्दिर के अहाते में अम्बा की पूजा में पशु की बलि देना असम्भव था। इस तरह शाक्त-पूजा में भी सुधार हुआ।

मालूम होता है कि जब तक एक-दूसरे के बीच विरोध चलता है, तब तक एक दूसरे के सद्गुण लेने के प्रति प्रवृत्ति नहीं होती। इसके विपरीत चाहे इच्छा हो, चाहे न हो, एक-दूसरे के दुर्गुण तो तेजी से अपनाये जाते हैं। आगे चलकर जब समन्वय-दृष्टि उत्पन्न होती है, तो संकीर्णता और अभिमान नष्ट होते हैं, गुणग्राहकता का उदय होता है। दोनों तरफ के सत्तत्त्वों की, निष्ठा की कसौटी होती है और समन्वय द्वारा संस्कृति का भूमिका ऊपर चढ़ती है।

आज भारत में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी आदि भिन्न-भिन्न धर्मों के बीच मेलजोल, समन्वय और एकता उत्पन्न करने के दिन आये हैं। (इस फेहरिस्त में हमने बौद्ध, जैन, सिख, ब्राह्मो आदि नाम जान-बूझकर नहीं गिनाये हैं। क्योंकि यद्यपि ये धर्म अपने को सनातन धर्म से भिन्न मानते हैं, फिर भी उनका वायुमण्डल और खून हिन्दू ही है। इनका सवाल हमें कहीं नहीं रोकेगा।)

समन्वय का यह प्रयत्न हिन्दू-संस्कृति की ओर से होना स्वाभाविक और अपरिहार्य है। अगर दूसरी संस्कृतियों में हीनभाव अल्पभाव या दुर्बलभाव न होता, तो वह प्रयत्नपूर्वक इतना बड़ा श्रेष्ठ भाव या भिन्न भाव न पकड़ती और न बढ़ाती । जब तक इनमें यह भाव मौजूद है, तब तक उनकी ओर से एकरस बनने का प्रयत्न सम्भव नहीं। इतना ही नहीं, उनकी ओर से शायद जोरों का विरोध भी हो। इस विरोध की परवाह किये बिना अगर हिन्दू-संस्कृति अविरोध का तत्त्व और नीति कायम रखे तो सारा विरोध अपने-आप गल जायगा।

सच्चे धर्म सच्चे हैं, सभी ईश्वर-परायण हैं, सदाचार-प्रेरक हैं, उत्पथगामी न होकर उन्नतिशील हैं— यह तत्त्वतः स्वीकार करना ही पहला कदम है।

इसके बाद सबकी उपासना के महत्त्व के हिस्से एकत्र करके पंचायतन पूजा की तरह अगर सम्मिश्र उपासना चालू की जाय और वह अगर सभी सम्प्रदायों में रूढ हो जाय, तो बहुत-सा कार्य सिद्ध हुआ, ऐसा माना जा सकता है। व्यापक रूप में रूढ़ न होकर महज हर सम्प्रदाय में महत्त्व की जगह पर सम्मिश्र उपासना का प्रवेश हुआ, तो भी काफी है।

इसके बाद सामाजिक रिवाज में से कुछ जटिल प्रश्नों को हल करना होगा। मांसाहार और अन्नाहार का भेद बहुत ही महत्त्व का और कठिन है। हिन्दू-समाज में स्वाभाविक सहिष्णुता और उदारता है, इसलिए मांसाहारी और अन्नाहारी जैसे भिन्न-भिन्न कुटुम्बों में भी विवाह हो सकते हैं और रोज के व्यवहार में भी तरकीब निकाली जा सकती है। भिन्न धर्मी विवाहों में भी इस प्रकार का वायुमण्डल पैदा

करना होगा।

जायदाद के बँटवारे के बारे में भी सिविल मैरेज ऐक्ट की तरह कुछ रास्ता निकाला जा सकता है।

सामाजिक बहिष्कार का तत्त्व शिथिल होना ही चाहिए। मिश्र उपासना से वह जल्दी होगा।

उच्च-नीच भाव सबसे बड़ा रोड़ा है। राजनीतिक हाड़ की वजह से उसकी अड़चन काफी कम हुई है। इसमें थोड़ी-सी अधिक प्रगति होने से यह तकलीफ़ पूरी तौर से दूर होगी।

मूर्ति पूजा के बारे में कुछ सार्वत्रिक प्रचार की जरूरत है। मूर्ति पूजा किसी भी धर्म का आवश्यक अंग नहीं है, इस बात का एक तरफ से प्रचार होना चाहिए, तो दूसरी तरफ से इस बात का भी प्रचार होना जरूरी है कि हिन्दुस्तान में जिस तात्त्विक भूमिका पर मूर्ति पूजा की जाती है, वह बुतपरस्ती या आयडोलेट्री नहीं है, पाप तो हरगिज नहीं है। सुना है कि इस तरह का प्रयत्न इस्लामी समाज की ओर से हुआ था और इस आशय की एक किताब भी एक प्राचीन श्रेष्ठ आदमी ने लिखी थी।

इतनी तीव्र तैयारी होने के बाद हिन्दू, पारसी ईसाई, मुसलमान आदि धर्म परस्पर विरोधी धर्म हैं, यह भावना ही नष्ट हो जायगी। इनका एक-दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, यह वृत्ति भी गल जायगी। तब जिस प्रकार शैव, वैष्णव आदि हिन्दू-धर्म की भिन्न-भिन्न शाखाएँ मानी जाती हैं, उसी प्रकार ये सब धर्म भी एक ही सार्वभौम धर्मवृक्ष की शाखाएँ हैं, इसका विश्वास होगा।

लोगों का इस बात पर थोड़ा सा विश्वास बैठा है, ऐसा मालूम होते ही भिन्न भिन्न माने जाने वाले धर्मसमाजों के बीच परस्पर अनुकूलता का विश्वास कराकर विवाह होने चाहिएँ।

ऐसे विवाह होने के बाद धर्मान्तर का प्रश्न ही बाकी नहीं रहेगा। उसमें से जो धर्मभावना उत्पन्न होगी, वह इतनी व्यापक और उदार होगी कि उसकी लहरें दुनिया के सब देशों में पहुँचे बिना नहीं रहेंगी।

आजकल के महायुद्धों की जड़ में आर्थिक अदावत होती है। अब राजकीय आदर्श और आइडियालॉजी का ही भेद तीव्र होने लगा है। किन्तु श्रीमती पर्ल बक कहती हैं कि आइन्दा युद्ध वंशयुद्धों (रेशल वॉर) का रूप धारण करेंगे। अगर यह सही हुआ तो जनमेजय के सर्पसत्र की तरह 'वॉर ऑफ अॅक्सटर्पेशन' ही शुरू होंगे। इनसे प्रथम संस्कृति का नाश, बाद में सभ्यता का नाश और आखिर मनुष्य-जाति का ही नाश, ये ही फल निष्पन्न होने वाले हैं।

ऊपर जो सर्व-धर्म-समन्वय, सम्मिश्र उपासना और आन्तरधर्मीय या आन्तरवंशीय

विवाह का त्रिविध कार्यक्रम बताया गया है, वह अगर अमल में लाया जाय और मानव एक-दूसरे से पराये रहने के बदले एक-दूसरे के करीब आयें और एक-दूसरे को पहचानें और एक-दूसरे से सहयोग करे, तो उसमें से मनुष्य-जाति के श्रेय की साधना करना असम्भव नहीं है।

प्रभावशाली लोगों को यह जँचे, तो उसका अमल करना आज के जमाने मे असम्भव भी नहीं है। किन्तु इसी कार्य के लिए जीने वाले और मरने वाले कुछ लोग तैयार होने चाहिएँ।

जेल-डायरी से, १९४३

२. मानव-धर्म

मानव-जाति के हित के लिए जो धर्म भगवान मनु ने अपने शिष्यों को बताया और जो धर्म उन शिष्यो ने अपनी-अपनी मति और स्मृति के अनुसार लिख रखा, उसे मानव-धर्म या 'मानव-धर्म-शास्त्र' कहते हैं। लेकिन मनु के इस धर्म की बात हमे यहाँ नहीं करनी है। बल्कि मनु की औलाद माने जाने वाली मनुष्य-जाति का आज का युग-धर्म क्या हो सकता है, इस पर भिन्न-भिन्न पहलुओ से और टुकडों-टुकडों मे हमें सोचना है।

हिन्दुओ के आचार-विचार और रस्म-रिवाज की सकुचितता चाहे जितनी हो फिर भी उनकी धर्म-कल्पना बडी विशाल और उदार है। संसार मे कई ऐसे धर्म हैं, जिनके प्रचारक मानते है कि "सच्चा धर्म तो हमारा ही है, बाकी सारे झूठे हैं। उनमे भ्रम है, मायाजाल है। इसलिए वे धर्म आपका उद्धार करने वाले नहीं है। अपने सच्चे उद्धार के लिए आपको हमारा ही धर्म अपनाना पडेगा। इतना ही नहीं, हमारे धर्म का सिर्फ उपदेश अपनाने से ही काम नहीं चलेगा, आपको हमारे धर्म-संस्थापको की शरण मे जाना पडेगा, हमारे समाज में मिल-जुल जाना पडेगा और हमारे 'लेबुल' को स्वीकार करना पडेगा। तभी आपका उद्धार होगा।"

हिन्दू-धर्म में भी ऐसी भाषा बोलने वाले कुछ लोग कहीं-कही दिखाई देगे। लेकिन हिन्दू-धर्म को यह सकुचित वृत्ति कभी भी ग्राह्य नहीं हुई है। हिन्दू-धर्म ने तो हमेशा यही कहा है कि ईश्वर एक है। किन्तु उसके पास पहुँचने की इच्छा रखने वाले लोग अनेक हैं। उनके जीवन के आदर्श तरह-तरह के हैं। जीवन के अच्छे-बुरे अनुभव भी अनेक प्रकार के हैं। इसलिए सभी लोगों का मुकाम भले एक ही हो, किन्तु रास्ते तो अलग-अलग ही रहनेवाले हैं।

जिस प्रकार हर मरीज को अलग-अलग प्रकार की दवाइयाँ दी जाती हैं, उसी प्रकार हर साधक की साधना अलग-अलग किस्म की होगी। रामकृष्ण परमहंस के ३० या ३५ शिष्य थे। उन्होंने हरएक के स्वभाव को पहचानकर और

कभी-कभी उनके पूर्व-जन्म की कमाई भी जानकर हर एक को अलग-अलग साधना बतायी थी।

हिन्दू धर्म पुरातन काल का सनातन धर्म है। उसमें अनुभव की इतनी समृद्धि है कि इस धर्म में कोई किसी को यह नहीं कहेगा कि मेरा ही रास्ता सच्चा है और आपका गलत।

यों तो कुरान में भी कहा है कि सभी नबी सच्चे हैं, सभी का उपदेश कल्याणकारी होता है। वहाँ यह भी कहा है कि संसार में एक भी देश ऐसा नहीं, एक भी कौम ऐसी नहीं, एक भी जमाना ऐसा नहीं, जब खुदा ने किसी खास पैगम्बर को न भेजा हो।

ईसाइयों की धर्म-पुस्तक बाइबिल में भी मूसा और इब्राहिम से लेकर ईसा तक के सभी पैगम्बरों का स्वीकार किया गया है और उनकी बोधबानी का संग्रह है।

सिख लोगों के ग्रन्थसाहब में भी गुरुओं ने उनके समय तक के हिन्दुस्तान में पैदा हुए अनेक साधुओं के वचन और भजनों को स्वीकार करके उनका संग्रह किया है।

किन्तु हिन्दू-धर्म ने इस बात पर खास जोर दिया है कि सभी धर्म सच्चे हैं, सभी धर्म एक या दूसरे ढंग से सत्यनारायण का साक्षात्कार कराते हैं। सभी धर्मों में सदाचार की ही सीख है, मनुष्यता की प्रतिष्ठा है। इसलिए धर्म धर्म के बीच झगड़ा नहीं हो सकता। सचमुच सभी धर्मों को अपने शत्रु अधर्म के खिलाफ लड़ना चाहिए था। हिन्दू-धर्म ने किसी भी सन्त पुरुष, धर्माचार्य या समाज सुधारक का बहिष्कार नहीं किया है।

हरएक के कथन में फर्क तो रहने ही वाला है। ऊपर-ऊपर से देखने पर विरोध भी दिखाई देगा। यह विरोध यह फर्क, यह भिन्नता होते हुए भी उसमें छिपकर जो सर्वसामान्य धर्म- रहस्य रहा है, उसे ढूंढ निकालने के शास्त्र या अद्भुत कला की हिन्दुस्तान के लोगों ने खोज की है। इसलिए हिन्दू मानव बौद्धिक और आध्यत्मिक क्षेत्र में झगड़े चलाने के बदले समन्वय खोज निकालता है।

हिन्दुस्तान के सन्तों के वचनों में यह समन्वय-दृष्टि कदम-कदम पर दिखाई देती है। ठेठ वेदों में भी यह समन्वय दृष्टि दिखती है। दर्शन के क्षेत्र में गौडपादाचार्य ने इस समन्वय-दृष्टि पर खास जोर डाला और सन्तों ने यह दृष्टि घर-घर पहुँचायी। इतना ही नहीं, आध्यात्मिक खुराक के साथ उन्होंने इस देश के लोगों को यह समन्वय-दृष्टि ऐसी खिलायी है कि अब वह हमारी जनता के खून में समा गयी है।

इस समन्वय-दृष्टि को लेकर ही हमारे देश में बसने वाले तमाम धर्मों के

विशाल धर्म-कुटुम्ब का जीवन-शास्त्र कैसा होना चाहिए, यह जैसा सूझे और जैसे-जैसे सवाल सामने आयें, वैसा हमें देखना है। अगर सभी धर्मों के एक विशाल धर्म-कुटुम्ब की स्थापना इस देश में हो सकती है, तो सारी मानवता का और सब मानव-समाजों का जिसमें अन्तर्भाव हो सके, ऐसा एक कुटुम्ब-धर्म भी हमारे लिए होना ही चाहिए। उस कुटुम्ब धर्म का मूल सूत्र है : "उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।"

किसी ने मुझसे पूछा : "गांधीजी ने आश्रम के नियमों में सर्व-धर्म-समभाव व्रत दाखिल किया और कहा कि आश्रमवासी सभी धर्मों की ओर आदरभाव से देखेंगे। सभी धर्म सच्चे हैं, सभी के प्रति आदरभाव रखना चाहिए और जिस प्रकार मनुष्य-मनुष्य के बीच का ऊँच-नीच भाव हम निकाल देते हैं, उसी प्रकार धर्म-धर्म के बीच का ऊँच-नीच भाव हटाकर सभी धर्म समान हैं, ऐसी मानने की बात सुझायी है। लेकिन आप तो उससे भी आगे जाकर सर्व-धर्म मम-भाव की बात सुझाते हैं। यह क्या चीज है, यह हमें समझाइये।"

मेरा जवाब यह था : सर्व-धर्म-मम-भाव कोई नया सिद्धान्त नहीं है। एक सिद्धान्त स्थापित करने के बाद उसी में से उत्पन्न होनेवाले सिद्धान्त को अंग्रेजी में 'करोलरी' कहते हैं। हम उसे 'फलित सिद्धान्त' कहें। एक सिद्धान्त में से फलित होने वाले सभी उपसिद्धान्त मूल सिद्धान्त की चिनगारियाँ होती हैं। एक सिद्धान्त का मनन करने पर उसमें से फलित होने वाले अनेक छोटे-बड़े सिद्धान्तों का वंश-विस्तार हम पाते हैं। मनन या ध्यान जितना उत्कट होगा, उतना ही वह विस्तार बढ़ता जायेगा। गांधीजी का काम तो ऋषि का है। ऋषि बीज बो देते हैं। सच्चा किसान जिस प्रकार बीज से धान की राशि पाता है, उसी प्रकार गांधीजी के बताये सिद्धान्तों में से हमें अपना पूरा जीवनशास्त्र और समाजशास्त्र पाना है। जिस प्रकार हर साल खेती की फसल बढ़ती ही जाती है, उसी प्रकार हर जमाने को अपने सवाल जैसे ऊपर आते जायेंगे, वैसे अपना जीवनशास्त्र बनाना चाहिए।

सब धर्म अच्छे हैं, इस बात का विश्वास हो जाने के बाद 'सभी धर्म मेरे हैं; यह कहने में क्या हर्ज है ? अच्छे का जो द्वेष करता है, उसे तो अधर्मी ही कहते हैं और धर्म कोई धन-सम्पत्ति नहीं या उपभोग की वस्तु नहीं कि कोई उसे ले ले तो दूसरे की हानि हो। इसी वृत्ति से इस्लाम में ज्ञान के बारे में कहा है कि सत्य ज्ञान चाहे कहीं पर भी पड़ा हो, मुसलमानों को चाहिए कि वे उसे अपनी ही खोयी हुई चीज मानें और उठा लें।

इस प्रकार सभी धर्म सच्चे और अच्छे हैं, इस बात का विश्वास हो जाने के बाद धर्म के सम्बन्ध में स्व-पर-भाव अपने-आप गल जाता है।

हमारे देश में तो एक ही कुटुम्ब में अनेकधर्मी लोग भी हो सकते हैं। वैष्णव

और जैन जब एक-दूसरे से शादी करते हैं, तब दोनों एक-दूसरे के रिवाजों के प्रति आदर रखते हैं। आचार्य कृपलानी के एक भाई वेदान्ती संन्यासी हैं। उनके पिताजी वैष्णव भक्त थे। दूसरे एक भाई मुसलमान हैं। अब यह बताइये कि सयानापन किसमें है ? धर्म के लिए कुटुम्ब तोडने में ? या सभी धर्मों का एक कुटुम्ब बनाने में ?

हमारे पुराने धर्म ग्रन्थों में कहीं कहीं भगवान को 'असुर' कहा है। पारसी-धर्म में तो भगवान को कहा है 'अहुर' और शैतान को कहा है 'देव'। परिभाषा का इतना बडा भेद होते हुए भी पारसी धर्म का और हिन्दू-धर्म की सीख तो एक ही है : 'न्याय से पेश आओ, महब्बत से पेश आओ, दुराचार छोड दो और सदाचार को अपनाओ।'

संकुचित वृत्तिवाले लोग कहते थे कि विवाह करना ही हो तो दोनों में से एक को अपना धर्म छोडकर दूसरे का धर्म स्वीकार कर लेना चाहिए। इन लोगों का आग्रह था कि विवाह के बाद फौरन ही औरत जिस प्रकार अपने पति की अटक, उसका गोत्र और उसका दिया हुआ नाम धारण करती है, उसी प्रकार धर्म के बारे में भी होना चाहिए। ईसाइयों में रोमन कैथलिक लोगों का तो अलग ही ढंग है। रोमन कैथलिक स्त्री या पुरुष किसी भी धर्म के व्यक्ति के साथ विवाह कर सकता है। उसे अपना धर्म छोडने की जरूरत नहीं। लेकिन विवाह के समय दोनों को कबूल करना पडता है कि उनके बच्चे तो कैथलिक धर्म का ही पालन करेंगे।

सरकारी कानून ने तो एक नयी ही बात पेश की। उसने कहा कि भिन्नधर्मी लोगों का विवाह करना हो तो दोनों को चाहिए कि वे अपने अपने धर्म का ही त्याग करें और जाहिर करें कि वे अब किसी धर्म के नहीं रहे हैं। तभी वे व्यवहार में विवाह कर सकते हैं। पहले यह नियम सबके लिए था। किन्तु बौद्ध, सिख, जैन, ब्राह्मो, आर्यसमाजी आदि सम्प्रदायों के लोगों ने इसका सख्त विरोध किया। अब इन सम्प्रदायों के लोग भिन्नधर्मी होते हुए भी धर्म का इनकार किये बगैर व्यवहारू लग्न कर सकते हैं।

इस प्रकार इस देश में जन्मे धर्मों ने अन्दर अन्दर जो उदारता बतायी है, वही उदारता अगर दुनिया के सभी धर्म हमसे सीख लें तो उनकी कुछ भी हानि होने वाली नहीं है। अगर शैव और शाक्त एक-दूसरे से विवाह कर सकते हैं, जैन और वैष्णव एक-दूसरे से विवाह-बद्ध हो सकते हैं, द्वैतवादी और अद्वैतवादी के बीच विवाह हो तो कोई हर्ज नहीं मालूम होता, तो उसी प्रकार सभी धर्म सच्चे हैं, यह मानने के बाद उनमें अगर आहार-विहार, रहनी करनी और विचार-सरणी में परस्पर अनुकूलता हो तो विवाह करने में क्या हर्ज है ?

फिर ऐसे भिन्नधर्मी विवाह हमारे देश में कभी हुए ही नहीं, ऐसी बात भी नहीं।

आर्यों ने नागकन्याओं के साथ विवाह किये थे। चीन देश की राजकन्या हमारे देश के राजपुत्र के साथ विवाह करे तो किसी को हर्ज नहीं मालूम होता था। प्रभु रामचन्द्र जी की माता कैकेयी अफगानिस्तान से आयी थीं और गान्धारी भी कन्दहार की राजकन्या थी, यह भला हम कैसे भूल सकते हैं ?

लेकिन ऐतिहासिक खोज मे गहरे पठने की कोई आवश्यकता नहीं है। वैसे तो इतिहास संशोधक चाहे जितना मसाला दे सकते हैं। चार वर्णो के लोग एक-दूसरे से विवाह करते थे, इसकी मिसालें तो हमारे यहाँ असंख्य पडी हैं। किन्तु ऐसे मिश्रविवाह के नियम भी हमारे स्मृतिकारों नें विस्तार से बनाये हैं। इसलिए हमारे देश की आज की स्थिति को देख कर हर-एक को यह साफ मालूम होना चाहिए कि सर्व धर्म-समभाव से सहजता मे निकलनेवाला 'सर्व-धर्म-मम-भाव' स्वीकार करने में कोई हर्ज नहीं है।

आज इस हद तक जाने की जिनकी हिम्मत नहीं है, वे कम-से-कम हिन्दू-समाज के अन्दर जो जातिभेद और वर्णभेद हैं, उनको एक ओर रखकर मिश्रविवाह करने-कराने के लिए तैयार हो जायँ, तो भी बहुत कुछ काम हो जायगा। छुआछूत के कारण और रोटी बेटी व्यवहार का संकरी दृष्टि के कारण हिन्दू-समाज के तो हमने टुकडे टुकडे कर ही डाले हैं। इन टुकडों को मिलाकर सच्चे मानव-धर्म का प्राण हम इस हिन्दू कलेवर में फूँकने में कामयाब हो जायें तो हिन्दू-समाज समर्थ होकर आत्मरक्षा की और दुनिया की सेवा के लिए तैयार हो जायगा।

मार्च, १९५४

३. सर्व-धर्म-ममभाव

प्रकृति ने हमें अनेक इन्द्रियाँ दी हैं। उनके द्वारा हम तरह-तरह के आनन्द ले सकते हैं। मिष्टान्न भोजन मे षड्रस की अभिरुचि तो हम पाते ही हैं। लेकिन खाते समय थाली के इर्द गिर्द रंगबिरंगी रगवल्ली खींचते हैं, फूलदानी में फूलो के गुच्छे रखते हैं, अगरबत्ती की सुगन्धि का भी उसी समय सेवन करते है। महाराष्ट्र का तो रिवाज है कि बड़े-बडे भोज में अच्छे-अच्छे गायक गान-तान भी चलाते हैं। एक ही साथ अनेक प्रकार के आनन्द लेना मनुष्य को भाता है। ऐसे आनन्द में सम्मिलित होने के लिए अनेक इष्टमित्रों को बुलाकर हम अपना आनन्द अनेक गुना बढ़ाते हैं।

इस आनन्दोत्सव में जो परस्पर भिन्न आनन्द हम लेते हैं, वे परस्पर मारक नहीं, पोषक होते हैं।

एक ही आदमी को किसी का पुत्र, किसी का पिता, किसी का पति और किसी का सखा किसी का साथी तो किसी का प्रतिस्पर्धी, ऐसी अनेक भूमिकाएँ

लेनी पड़ती हैं। इन सब भूमिकाओं के होने से ही जीवन समृद्ध होता है। हम नहीं कहते हैं कि एक आदमी एक ही भूमिका ले। एक आदमी की अनेक भूमिकाएँ हो सकती हैं। आयु के बढ़ते ही भूमिकाएँ बदलती हैं। खूबी यह कि प्रौढ़ावस्था में प्रौढ भूमिका का आस्वाद लेते हुए बचपन की बाल्योचित भूमिका को भी याद रखतें हैं और कभी कभी उसका भी लुत्फ लेते हैं। विविधता हमारे जीवन का सार-सर्वस्व है।

श्रीकृष्ण को भगवान या परब्रह्म जानते हुए अर्जुन उन्हे सखा मानते थे और उनका उपहास भी करते थे। दास्य भक्ति का आनन्द लेते हुए हनुमान श्री रामचन्द्र से कहते हैं : जैसी मेरी भूमिका बदलती है, वैसा मेरा-आपका सम्बन्ध भी बदलता है। देह-बुद्धि प्रधान होने पर मैं आपका दास हूँ। जीव-बुद्धि जब जाग्रत होती है, तब मैं आपका एक अंश हूँ, मानो अग्नि का स्फुलिंग। लेकिन जब मैं आत्मबुद्धि पर आरूढ होता हूँ, तब मैं स्वय रामचन्द्र ही हूँ, क्योंकि उस समय अभेद-बुद्धि ही रहती है।

रूढ इस्लाम कहता है कि भगवान मालिक है। हम उनके गुलाम, सेवक हैं भगवान को पिता बनाना गलत है। विश्वासी ईसाइ-धर्म कहता है कि भगवान हमारे पिता हैं, हम उनके पुत्र हैं। रामकृष्ण परमहंस जैसे परमभक्त भगवान को माता कहते हैं। गोपियाँ कृष्ण भगवान को अपना प्रियकार मानती थीं, जब कि सूफी तत्त्वज्ञानी भगवान को अपनी प्रिया या कातिल माशूक मानते हैं। तुलसीदास ने भगवान से विनय करते हुए कहा : "तोहि मोहि नाते अनेक, मानिए जो भावै, ज्यों-त्यों तुलसी कृपालु चरण-शरण पावै।" पख्र अद्वैतवादी शंकराचार्य ने गाया : "सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रो हिमा तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः।।" सूर्यबिम्ब में परमात्मा का दर्शन करते हुए उपासक ऋषि कहते हैं : "यो असौ पुरुषः सोऽहम् अस्मि।" फिर भी वह उसी भगवान की प्रार्थना करता है : "पूषन् एकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह तेजो। यत् ते रूपं कल्याणतमाम् तत् ते पश्यामि।"

भारतवर्ष ने शुरू से "साधनानाम् अनेकता" का सिद्धान्त मान्य किया है। हर एक साधक अपना स्वभाव, अपनी दृष्टि और अपनी अभिरुचि के अनुसार अपना उपासना-क्रम पसन्द करता है। दूसरे कोई उसमे बाधा नहीं डालते।

यह भी नहीं कि जो पिता की उपासना हो, वही उसका पुत्र चलाये। ऐसा भी पाया गया है कि गुरु की उपासना अलग और शिष्य की अलग। जनार्दन स्वामी दत्तात्रेय की उपासना करते थे। उनके शिष्य एकनाथ कृष्ण के भक्त थे। शंकराचार्य शिवभक्त थे। उनकी माता का आराध्य देवता श्रीकृष्ण या विष्णु था।

हमारे जमाने में रामकृष्ण परमहंस ने क्रमशः सब धर्मों की उपासना आजमाकर

देखी और उसके आधार पर कहने लगे कि सब धर्म सही हैं, क्योंकि मैंने सबका जाति तजुर्बा किया है।

ऐसा है भारतवर्ष का समझदार उदार वायुमण्डल। उधर दुनिया में इससे विपरीत परिस्थिति पायी जाती है। कई धर्मों के आग्रही उपासक कहते हैं: हमारा ही धर्म सही है, बाकी के सब धर्म झूठ हैं, पाप की तरफ ले जाने वाले हैं।

भिन्न-भिन्न धर्मों के लोग आपस में झगड़ा करें और खून बहायें, यह तो दर्दनाक बात है ही। लेकिन एक ही धर्म की भिन्न-भिन्न शाखाएँ आपस में लड़ती रही हैं। हम जो अर्थ करते हैं, वही सही है, ऐसा कहकर वे सन्तोष नहीं मानते। यह भी कहते हैं कि जो भिन्न अर्थ करते हैं, वे महापाप करते हैं, वे ऐसे पाप को छोड़ने को तैयार न हों तो उनको मार डालना चाहिए। क्योंकि वे जितने क्षण जीते हैं, पाप की जिन्दगी बसर करते हैं। ऐसे पाप से उन्हें मुक्त करने का एक ही तरीका है कि उन्हें जीवन से ही मुक्त किया जाय।

ईसाई लोगों ने अपने ही धर्म के भिन्न मतावलम्बियों को इन्क्वीजिशन के धर्म-न्यायासन के सामने खड़ा कर जिन्दा जला देने की सजा की है। मुसलमानों ने कई सूफियों को संगसार करके यानी पत्थर मार-मारकर खत्म किया है। हमारे यहाँ भी कभी-कभी शैव, वैष्णव इसी तरह लड़े हैं। गोआ में ईसाइयों ने धर्म के नाम पर जो अत्याचार किये हैं, उसे पढ़कर रोंगटे खड़े होते हैं और लज्जा से सिर झुक जाता है।

आदमी ने इस तरह मतभेद के कारण सदियों तक खूँरेजी चलाने के बाद सहिष्णुता को स्वीकार किया।

यह सहिष्णुता क्या चीज है ? जिस चीज को हम बुरा मानते हैं, अधर्म मानते हैं, उसे मिटाने का, दबाने का हमें कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि दूसरे लोग उसे बुरा नहीं मानते। उनको भी वैसा मानने का अधिकार है। इसलिए हम जिसे पाप समझते हैं, गुनाह समझते हैं, उसे भी बरदाश्त करें। (इसी सहिष्णुता के कल के सिद्धान्त का आज का नाम है— (Co-existance.)

अगर आज की दुनिया इस co-existance-सहिष्णुता-तक आये तो गनीमत है। लेकिन इतना बस नहीं है। हम सहानुभूति और हार्दिक उदारता से औरों के दृष्टिकोण को क्यों न समझें और उसकी खूबी की तरफ भी क्यों न ध्यान दें ? किसी को दोष देना और उसकी हस्ती बरदाश्त करना आज की दुनिया के लिए भले ही बड़ी बात हो, लेकिन जिसके पास बुद्धि है, हृदय है, हर बात के अलग-अलग पहलू समझने की शक्ति है, वह एक साथ अनेक दृष्टियाँ क्यों न समझ ले ?

अनुभव कहता है कि हरएक धर्म के पीछे दैवी उदात्त प्रेरणा है। वह यह भी

कहता है कि हरएक धर्म के विकास मे मनुष्य ने अपनी ओर से अपनी मर्यादाएँ, अपनी एकांगिता और वहम भी बढा दिये हैं। व्यक्ति-प्रामाण्य, ग्रन्थ-प्रामाण्य और परम्परा-प्रामाण्य के बन्धनों में फँसकर मनुष्य ने बुद्धि-प्रामाण्य और अनुभव-प्रामाण्य को भी गौण किया। धर्मशास्त्र को कानूनी रूप दे दिया, धर्माचार्य गुरु का पवित्र स्थान छाडकर न्यायाधीश का बाजारू स्थान ले बैठे और सकुचितता को ही धर्मनिष्ठता मानने लगे।

ऐसी दुनिया मे धार्मिक वायुमण्डल को बचाने के दिन आये हैं। जब सब-के-सब धर्म— ऋषि-मुनियो, सन्त-महन्तो और पेगम्बरों से आये हुए धर्म— सच्चे है, अच्छे हे ओर साथ-साथ जब धर्मो मे अपूर्णता और एकांगिता भी पायी जाती है, तब क्यो न कहे कि स्वधर्म के प्रति पूरी निष्ठा रखते हुए हम सब धर्मों को एक से सही मानते हैं।

मैं अपने पिता के प्रति चाहे जितना आदर रखूँ और उनकी निष्ठा से सेवा करूँ, तो भी इलेक्शन के दिनो मे, चुनाव के दिना मे अपने पिता को दूसरे नागरिको के समान ही मान सकता हूँ। जिस तरह चुनाव के वायुमण्डल मे सब प्रजाजनो की हैसियत एक-सी ह, उसी तरह सब धर्मो का हमे एक-सा आदरणीय समझना चाहिए। यही हे गांधीजी का सर्व-धर्म समभाव। जैसा कि ऊपर कहा हे, अपने-अपने धर्म के प्रति अनन्य भक्ति रखते हुए सब धर्मो का समान भाव मान्य रखना, यह है सर्व धर्म-समभाव।

इससे एक कदम बढता है, सर्व-धर्म ममभाव।

अगर मैं हिन्दू हूँ और कोइ मुसलमान या ईसाई पवित्र पुरुष मेरे पास आकर मुझे अपने धर्म की खूबियाँ समझाता है और प्रेम से कहता है कि ऐसे मेरे सुन्दर धर्म को स्वीकार क्यो न करो, तो मैं कह सकता हूँ कि "मेरा धर्म भी मुझे सुन्दर, कल्याणकारी ओर मोक्षगामी मालूम होता हे। उसे मै कैसे छोड सकता हूँ ? उसको पूर्ण स्वीकार करते हुए मै आप दोनो के धर्म को भी स्वीकार करता हूँ। अर्थात जैसा मैं आपके धर्म को समझता हूँ वैसे, न कि जैसा आप बताते हैं और चाहते हैं। भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ समझने की और धारण करने की शक्ति मुझमें है। जब तक वह दृष्टि और वह शक्ति आप में पैदा नही हुई है। तब तक आप मुझे illogical तर्कभ्रष्ट— कहेंगे, या जडबुद्धि कहेंगे, या मक्कार। आपकी चिढ़ मैं समझ सकता हूँ। उसके प्रति दयाभाव रखूँगा। लेकिन अब अनेक धर्मों की खूबियाँ जब मैं अपने हृदय मे समझ चुका हूँ, तो उनसे लाभ क्यो न उठाऊँ ? आपके धर्म का ठेका किसी ने आपको दे नहीं रखा है। मैं आपके धर्म की आपके द्वारा दीक्षा नहीं माँग रहा हूँ। मैं स्वंय उसे अपनाता हूँ, क्योंकि जिन-जिन अच्छाइयों से मैं प्रभावित हुआ हूँ, उनका साधक और उपासक मैं बन चुका। मेरी भूमिका किसी-न-किसी दिन

आप समझ सकेंगे। आज आप नहीं समझ सकते, इसका कोई इलाज नहीं है। समय इसका इलाज है। अगर मेरे जीवन में उत्कटता आ गयी तो मेरा जीवन भी आपको समझा सकेगा।

मुझे आप अपना हम-मजहबी मानें, ऐसी मैं ज़िद नहीं करूँगा। मैं आपको अपना हम-मजहबी मानूँ, इतना मेरे लिए बस है।"

यह है सर्व-धर्म-समभाव की भूमिका।

जो लोग जैनियों का स्याद्वाद और सप्तभंगी न्याय जानते हैं और जो वेदान्त की समन्वय-दृष्टि पा चुके हैं, उनके लिए तो सर्व-धर्म-समभाव बिलकुल स्वाभाविक होना चाहिए। भविष्य उन्हीं का है। वे ही गा सकते हैं— बिसर गयी सब तात परायी, जब ते साध संगत मोंहि पायी। न कोई बैरी नाहि बिगाना सकल संग हमको बनि आयी ।

नवम्बर, १९५५

४. सर्व-धर्म-सद्भावी हिन्दू-धर्म

१. हिन्दू-धर्म की विशेषता

हिन्दू-धर्म की विशेषता क्या है ? इस सवाल का जवाब देते समय हम पूछ सकते हैं कि हर धर्म की कोई विशेषता होनी ही चाहिए, यह आग्रह क्यों ? क्या हिन्दू-धर्म में जो अच्छी अच्छी चीजें है, उन्हें दूसरे धर्मवाले अपना लें तो हिन्दू धर्म को बुरा लगने वाला है ? हर अच्छी चीज— फिर वह चाहे कहीं की भी हो— अपने अच्छेपन की वजह से, आज नहीं तो कल, सभी जगहों पर आकर्षक होने वाली है। इसलिए संसार के धर्म जैसे-जैसे एक दूसरे के नजदीक आते जायँगे, वैसे-वैसे उनमें संस्कारों का लेन-देन तो होना ही रहेगा। इस तरह के लेन देन होने पर भी परिस्थिति, स्वभाव और अभिरुचि के अनुसार धर्म-धर्म के बीच भेद तो रहने वाले ही हैं। यह भेद महत्त्व के भी होंगे, लेकिन इन पर कोई खास जोर देने की आवश्यकता नहीं है।

संस्कारी आदमी तो वही है, जो दूसरो का दृष्टि बिन्दु भी समझ सकता है और पूर्ण स्वीकार न करने पर भी उसकी कद्र कर सकता है। दूसरे धर्मों में अगर कोई दूसरा दृष्टि-बिन्दु हो तो उसके पीछे की जीवन-दृष्टि की उपयोगिता और सुन्दरता समझने जितनी संस्कारिता हिन्दू-धर्म में है। इसीलिए हिन्दू-धर्म ने दूसरे

धर्मों से कभी वैर नहीं किया। हिन्दू-धर्म तो यहाँ तक कहता है कि रुचि के वैचित्र्य के कारण कोई सीधा रास्ता अपनाता है तो कोई टेढ़ा-मेढ़ा और चन्द लोगों को तो मोड ही पसन्द आते हैं। फिर भी ये सब रास्ते अन्त में एक ही मुकाम पर पहुँचते हैं। सभी धर्म एक ही ईश्वर की खोज करते हैं। पानी के तमाम प्रवाह जिस तरह अन्त में समुद्र में जाकर मिलते हैं, उसी तरह सभी धर्म अपने-अपने उपासकों को मानवता सिखाकर अन्त में परमतत्त्व की ओर जाने का रास्ता दिखाते हैं।

हिन्दू-धर्म की विशेषता क्या है, इस प्रश्न का एक जवाब तो अनायास ऊपर आ चुका है। इस्लाम और विश्वासी (ईसाई) धर्म के बारे में कहते हैं कि उन धर्मों में ऐसी मान्यता है कि अपना ही धर्म सच्चा है, दूसरे सब झूठे रास्तों पर चलनेवाले हैं। पर हिन्दू-धर्म में ऐसी कोई मान्यता नहीं है। हिन्दू धर्म मानता है कि उन उन धर्मों के अनुयायियों ने अपनी संकुचितता के कारण भले ही हर धर्म में खराबियाँ दाखिल की हों, लेकिन मूल में सभी धर्म सच्चे और अच्छे हैं।

अगर मैं भूलता नहीं हूँ तो इस्लाम में भी इस प्रकार की एक मान्यता है कि सभी पैगम्बर एक ही धर्म यानी सच्चा धर्म सिखाते हैं। बाद मे जब ये धर्म लोगों की गुमराही से विकृत होते हैं, तब नये पैगम्बरों को फिर से उनका शुद्धिकरण करना पडता है। मुहम्मद पैगम्बर ने यह भी कहा है कि अपने अनुयायियों के दोषो के कारण इस्लाम मे भी खराबियाँ घुसनेवाली है और इस धर्म मे भी क्षीणता आनेवाली है। यह बात 'हदीस'* में है।

यह तो साफ है कि हिन्दू धर्म ने आज तक किसी धर्म की निन्दा नही की है। सभी धर्म सच्चे हैं, यह मानकर ही हम चलते आये हैं। हरएक बच्चे के लिए जिस प्रकार उसकी माता पूज्य होता है और उसी का दूध उसके लिए उपयुक्त होता है उसी प्रकार हर धर्म उसका पालन करनेवाले के लिए अच्छा होता है, यह मान कर हम सबके साथ समभाव यानी सद्भाव से पेश आते हैं। सर्व धर्म-सद्भाव हिन्दू धर्म की एक विशेषता मानी जा सकती है। यह वृत्ति हिन्दुस्तान में आकर बसे दूसरे धर्मो ने भी यानी उन धर्मों का पालन करने वाले सात्त्विक लोगों ने भी कमोबेश विकसित की है।

हिन्दू-धर्म की दूसरी विशेषता है, उसकी जीवमात्र के प्रति सहानुभूति। अगर सहानुभूति शब्द ठीक न मालूम हो, तो जीवमात्र के प्रति पवित्रता ही कहें। जिस प्रकार हम गाय को पवित्र प्राणी कहते हैं, उसी प्रकार हमारे धर्म की दृष्टि में प्राणिमात्र पवित्र हैं। इसी को अंग्रेजी में reverence for life कहते है।

---

*मुहम्मद पैगम्बर के साथ उनके शिष्यों की जो बातचीत हुई, वह उन शिष्यों ने लिखकर रखी। नबी साहब के इन धर्म वचनों को 'हदीस' कहते हैं।

जिस तरह जीना मुझे पसन्द है, इतना ही नहीं, मौत टालने की जिस प्रकार मै कोशिश करता रहता हूँ, उसी प्रकार दूसरे प्राणी भी जीना चाहते हैं और मौत टालना चाहते हैं। इसलिए समभावपूर्वक मभी प्रणियों के जीवन के बारे में मन में आदरभाव होना चाहिए। यह हुई एक दृष्टि। इसे **'आत्मौपम्य'** कहते हैं।

दूसरी दृष्टि मे देखने पर सभी प्रणियों में एक ही चैतन्य का वास है। इसलिए प्रणियों की हत्या करना वाकई आत्महत्या करने जसा है, यह पहचानकर सब प्राणियो को भयमुक्त करना चाहिए। इस वृत्ति को कहते हैं, **'विश्वात्मैक्य'** भाव।

आत्मौपम्य और विश्वात्मैक्य, दोनों वृत्तियों के कारण हम तमाम जीवों के प्रति पवित्र भाव मन मे ला सके हैं। यह भी हिन्दू-धर्म की एक विशेषता है। इसे मैं जीव-दया न कहूँगा। दया में एक प्रकार का सूक्ष्म तिरस्कार होता है। अपने माँ-बाप, गुरुजन या बुजुर्गों के प्रति जो स्नेह मालूम होता है, उसे कोई दयाभाव नहीं कहते। जीवों के प्रति स्नेहभाव कहने में कोई हर्ज नहीं है। लेकिन 'जीवमात्र की पवित्रता' इन दो शब्दो में ही हिन्दू-धर्म की विशषता ठीक ढंग से व्यक्त होती है।

इस प्रकार हिन्दू-धर्म की विशेषता हम इन दो बातों मे बता सकत हैं :

(१) सर्व-धर्म-सद्भाव और

(२) जीवमात्र की पवित्रता।

अब सवाल पूछा जा सकता है : 'क्या जीवन मात्र की पवित्रता को जिन लोगों ने स्वीकार किया है, वे मांसाहार कर सकते है ?'

इसका जवाब 'नहीं' और 'हाँ' दोनों है। जीवमात्र की पवित्रता को स्वीकार करने के बाद सब्जी, फल, अनाज या कन्द भी नही खा सकते, यह भी स्वीकारना पड़ता है। लेकिन आदमी अनेक प्रकार से लाचार प्राणी है। जीना हो तो जीव को खाकर ही जिया जा सकता है, यह वस्तुस्थिति है। **'जीवो' जीवस्य जीवनम्'** यह धर्म-वचन नहीं, वस्तुस्थिति है। इस वस्तु स्थिति से धर्मनिष्ठ व्यक्ति क्रमश: ऊपर चढ़ता है। जीवमात्र की पवित्रता को स्वीकार करने पर भी हम अनाज, फल और सब्जी खाते हैं और अपने को पापी नहीं मानते। बछडों के हक का दूध पीते हैं और मधुमक्खियों के हक का शहद लूटते हैं। फिर भी हम अपने को सहजता से क्षमा करते हैं। इसी वृत्ति से मत्स्याहारी और मांसाहारी लोगों के प्रति भी हमें क्षमावृत्ति धारण करनी चाहिए।

यह तो निर्विवाद है कि मांसाहार से शाकाहार श्रेष्ठ है। लेकिन इससे यह सिद्ध नहीं होता कि मांसाहारी की अपेक्षा शाकाहारी श्रेष्ठ है। रामायण के अनुसार राम और सीता शाकाहारी नहीं थे। मृगया करके जिन जानवरों को राम सीता को सौंपते थे, उनका उत्तम भोजन तैयार करना सीता जानती थीं। महाभारत में भी

लिखा है कि प्राचीनकाल के ऋषि-मुनि शाकाहारी ही थे, ऐसी कोई बात नहीं। मधुपर्क-विधि तो बिना मांस से हो ही नहीं सकती थी। **न अमांसः मधुपर्को भवति।** घर में कोई मेहमान आये— खास तौर से दामाद या ऋषि मुनि, तब तो उसे मधुपर्क मे उत्तम मास देना ही पडता था। उपनिषदो मे भी मासाहार का जिक्र है।

इस पर से हम इस नतीजे पर हर्गिज न आये कि हम भी जरूर मासाहार करे। जिन्होंने मांस छोड दिया है उन्होने बहुत ही अच्छा काम किया है। उन्हे फिर मास की ओर मुडने की जरूरत नहीं है। लेकिन हम यह अनुमान भी न करे कि मासाहारी लोग दयाशून्य होते हैं, क्रूर और कठोर होते है या धर्मभ्रष्ट होते है।

दुनिया मे इतने लोग मत्स्याहार करते है कि उन्हे अगर मत्स्यमास छोड देने की बात कहें तो मनुष्य-मनुष्य को खा डालने की बारी आयेगी। निरामिष आहार के मसले का हल खादी के मसले की तरह रचनात्मक प्रवृत्ति के द्वारा ही हो सकता है।

लेकिन असल बात यह है कि मासाहार का विरोध करने के हमारे उपाय झूठे साबित हुए। मासाहारी लोगो का बहिष्कार करके हम मासाहार का विरोध न कर सकेगे। जिन्होने मास छोडा उन्होंने अपने को श्रेष्ठ माना और इस घमण्ड मे मांसाहारी लोगो का बहिष्कार किया। नतीजा यह हुआ कि वे खुद ही बहिष्कृत हुए। अगर वे मासाहारी लोगो के बीच मिल-जुलकर रहते, उनके घर मे उन्हीं की पंक्ति मे बैठकर उनके हाथ का खाते तो अन्नाहार का प्रचार तेजी से हो पाता । तब जाति-जाति के बीच आज जो अलगाव की वृत्ति दिखायी देती है, वह भी न रहती।

सितम्बर, १९५४

२. वेदान्त का नया प्रस्थान

जो लोग मानते है कि वेदान्तविद्या पूर्णता तक पहुँच गयी है, वे उस विद्या की सेवा नहीं करते, शायद असेवा ही करते होगे। जिस विद्या के उपासक जागरूक होते हैं, प्रयोग-परायण होते हैं, वे अपनी विद्या को अपने जमाने के लिए पूर्णता तक पहुँचाते होंगे, लेकिन नये जमाने के साथ परिस्थिति बदलती है। नयी-नयी समस्याएँ खड़ी होती हैं और हर नयी समस्या नये-नये प्रयोग का पुरुषार्थ माँग ही लेती है।

भारत की समाज-रचना वैदिककालीन समाज रचना का ही क्रम-विकास है। भिन्न-भिन्न वंश और तरह-तरह की जातियाँ एकत्र आती रहीं और इस तरह भारतीय समाज बनता गया।

मनुष्य की सबसे पहली और अधिक-से-अधिक मजबूत संस्था है कुल,

गोत्र, खानदान और परिवार। स्त्री और पुरुष ने आजन्म सहयोग करने का तय किया और बच्चों की परवरिश का भार उठाया, तब से कुलरूपी संस्था चालू हुई और कुलधर्म स्थापित हुआ।

समान रहन, समान जीवन-क्रम और समान जीवनोद्देश्य वाले कुलों के संगठन से जातियाँ तैयार हुई। (गोत्र शब्द से ही शायद ये प्राचीन जातियाँ पहचानी जाती थीं। सम्भव है, कुल और जाति दोनों के बीच का शब्द गोत्र हो।) गीता ने कहा है कि कुलधर्म और जातिधर्म दोनों सनातन हैं, शाश्वत हैं।

जाति का सम्बन्ध जन्म के साथ है। 'जन्मना जातिः ।' जहाँ पूर्ण रूप से लहू और शादी का सम्बन्ध मान्य है, वही जाति है। जन्मना जातिः का अर्थ जातिसस्था (Biological) है। अगर लोग एक ही परिवार में शादियाँ करते तो हर एक परिवार अलग-अलग समाज बनता और सारी प्रगति कुण्ठित हो जाती। इसलिए मानव जाति के पूर्वजों ने नियम बनाया कि शादियाँ एक कुटुम्ब के अन्दर या एक गोत्र के अन्दर न हों, जाति के अन्दर हो। इस नियम के कारण हरएक जाति एक-एक समाज बन गयी। अग्रेजी मे जिसे clan or tribe कहते हैं, ऐसी स्थिति इन जातियों की थी।

जातियो की (biological) प्रधानता तोडने के लिए श्रीकृष्ण जैसे, मनु-याज्ञवल्क्य जैसे समाजधुरीणो ने वर्ण व्यवस्था का आविष्कार किया। वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्मविभाग के अनुसार थी। यह व्यवस्था सर्वमान्य होने के बाद उसमें भी जातियों के समान जन्म का यानी वंशपरम्परा का सिद्धान्त दाखिल हो गया। लेकिन जाति (biological) थी, यौन-सम्बन्ध की थी, और आदर्श की समानता के अनुसार संस्कृति-मूलक वर्णव्यवस्था (cultural organisation of society) शुरू की गयी। इसमें उच्च-नीच भाव के लिए स्थान था, साथ-साथ चारो वर्ण परस्परावलम्बी होने से सहयोग का तत्त्व भी। गृह्यसूत्र और स्मृतियों के अनुसार यह व्यवस्था कायम हुई. इसमें वेदान्त के लिए अवकाश नही था। वेदान्त और भक्तिमार्ग के लिए वर्णभेद और जातिभेद अनुकूल नही था। किन्तु भारत की समाज-व्यवस्था में जाति और वर्ण इतने दृढ़मूल थे कि वेदान्त, वैष्णव-धर्म और भक्तिमार्ग, तीनों को वर्ण और जाति के साथ समझौता करना ही पड़ा और कहना पड़ा कि अद्वैत-दर्शन और भक्तिदर्शन केवल परमार्थ के लिए है, व्यक्ति की उन्नति के लिए है, व्यक्तिगत मोक्ष के लिए है। व्यवहार में मायावाद को स्थान नहीं, समता को स्थान नहीं। व्यवहार में वर्णभेद रहेगा, उच्च-नीच भेद रहेगा।

आज की हिन्दू समाज-रचना न वेदान्त के अनुकूल है और न वैष्णव भक्ति-मार्ग के अनुकूल।

वेदान्त ने अपने लिए साधना के तौर पर ज्ञानयोग चलाया। वैष्णव आदि

पन्थों ने भक्तियोग चलाया, किन्तु वर्णव्यवस्था तोड़ी नहीं। फलतः वेदान्त की जीवन-साधना व्यक्ति तक सीमित रही। हमारे पास वेदान्त की अपनी समाज-व्यवस्था है ही नहीं। देखते-देखते वेदान्त की चर्चा जीवन-चर्चा न रहकर वाग्वर्धिनी सभा (डिबेटिंग क्लब) जैसी हो गयी। सिद्धान्त का कहना एक है, तो व्यवहार का रास्ता दूसरा, ऐसा भेद मनीषियों ने मान लिया और वह समाज में रूढ़ हुआ।

आज वेदान्त के पास अपनी सामाजिक साधना नहीं है। वेदानुकूल स्मृतियाँ चाहे जितनी हो सकती हैं, हमें चाहिए वेदान्तानुकूल स्मृति, साम्ययोग की सामाजिक स्मृति।

जिस तरह वैष्णव कहते हैं कि हमारा वैष्णवधर्म जागतिक है, केवल हिन्दुओं के लिए नहीं, इसी तरह वेदान्त भी कहता है, वेदान्त केवल वेद-धर्मियों के लिए अथवा हिन्दुओं के लिए नहीं। वेदान्त समस्त मानव जाति के उद्धार के लिए है। श्रीकृष्ण, याज्ञवल्क्य, शंकराचार्य असल में जगद्गुरु ही हो सकते हैं। इनके अनुयायी वंशभेद, धर्मभेद और भाषाभेद से बँधे है। वेदान्त की विचारणा, वेदान्त की साधना, वेदान्त को नसीहत और उसकी समाज-व्यवस्था समस्त मानव जाति के लिए ही हो सकती है।

आज तक की वेदान्त की साधना व्यक्तियों के लिए थी। अब वेदान्त को अपनी समाज-व्यवस्था के साथ अपनी सामाजिक साधना भी ढूँढनी होगी।

इसीलिए हम कहते हैं, वेदान्त के लिए (अध्यात्म के लिए) नये प्रस्थान की जरूरत है। वेदान्त को अपने समाज-विज्ञान (Spiritual Sociology) का विकास करना पड़ेगा। इसके लिए विशाल अध्ययन, गहरे विश्वतोगामी चिन्तन और विश्वकल्याणकारी निर्भय प्रयोग की आवश्यकता है। व्यक्तिगत साधना के लिए वेदान्त ने सैकड़ों बरस व्यतीत किये। आध्यात्मिक जीवन सामाजिक पैमाने पर चलाने के लिए सैकड़ों बरस प्रयोग में लगे, तो कोई आश्चर्य नहीं। प्रारम्भ करने में देर न हो। सिद्धि प्राप्त करते सौ-डेढ़ सौ बरस गये, तो परवाह नहीं।

जिन लोगों का वेदान्त पर, अध्यात्म-विद्या पर दृढ़ विश्वास है, उनको चाहिए कि अब केवल दार्शनिक चर्चा छोडकर वेदान्त की सामाजिक साधना शुरू करें और उसके अनुसार अध्यात्मपरायण समाज-रचना के प्रयोग चलायें। हमारे पास वर्णाश्रममूलक समाज-विज्ञान था, जो अब कालग्रस्त हुआ है। अब हमें सर्वधर्म-समन्वयकारी, अध्यात्मपरायण, विश्व-समाज के लिए एक नया समाज-विज्ञान चाहिए। मानव-जाति के उद्धार के लिए दूसरा रास्ता नहीं है। सब जातियों के, सब धर्मों के और सब वंशों के सहयोग से संस्कृति-समन्वयमूलक सामाजिक साधना शुरू करने का समय परिपक्व हो चुका है।

दिसम्बर, १९६३

३. वेदान्त की समूह-साधना

वेदान्त-सिद्धान्त अपने में सम्पूर्ण है। हम लोग अद्वैत को ही वेदान्त कहते हैं। लेकिन प्रस्थानत्रयी को मानकर चलने वाले विशिष्ट-अद्वैतवादी, द्वैतवादी और ऐसे ही दूसरे लोग सब वेदान्ती ही हैं और हरएक वाद अपनी-अपनी दृष्टि से पूर्ण है।

वेदान्त की साधना प्रधानतया आज तक व्यक्तिगत ही रही। व्यक्तिगत मोक्ष ही उसका ध्येय रहा।

कहा जाता है : 'मोक्ष यानी अपने स्वरूप की पहचान।' पर मैं तो मोक्ष का सीधा अर्थ करता हूँ, बन्ध से मुक्ति, दोषों से मुक्ति, अज्ञानता से मुक्ति। मेरी कल्पना के अनुसार काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर, इस छह विकृतियों से, शत्रुओं से पूर्णतया बच जाना, यही मोक्ष है। इनका बन्धन जबर्दस्त है। उग्र साधना और अन्तर्मुख जागरूकता से ही मनुष्य इन विकारों से मुक्त हो सकता है।

ऐसी साधना सिद्ध होने के पहले शास्त्र ग्रन्थों के परिशीलन से मनुष्य अपने स्वरूप को पहचाने, तो भी उसका साक्षात्कार नहीं होगा। साक्षात्कार ही सच्ची पहचान है।

मेरी दृष्टि से अन्तिम साध्य है विश्वात्मैक्य का साक्षात्कार और उसका साधन है मोक्ष। संकुचितता और व्यक्तिगत अहंकार नष्ट होने की प्रक्रिया को हम मोक्ष कहेंगे। मोक्ष पाते ही उसकी साधना के अन्त से मनुष्य को विश्वात्मैक्य की सिद्धि होगी।

निष्काम, निःस्वार्थ, मैत्री प्रेरित सेवा द्वारा ही सबके साथ आत्मौपम्य प्राप्त होता है। उसके फलस्वरूप विश्वात्मैक्य का परम आनन्द प्रतिष्ठित होता है।

मैंने यह सब अद्वैत की परिभाषा से लिखा है। लेकिन मैं समन्वयवादी हूँ। द्वैत, अद्वैत आदि तरह-तरह के वाद मैं समझ सकता हूँ। उनके साथ भी मेरी सहानुभूति है। समन्वयवादी अपनी बात स्पष्ट करेगा, किन्तु तर्क का आश्रय करके कभी शास्त्रार्थ या चर्चा में नहीं फँसेगा। उसकी भूमिका ही समन्वयकारी होने से सबके साथ वह चल सकता है।

दुनिया के व्यवहार से अलिप्त होकर केवल ध्यान-चिन्तन करने के दिन भी मनुष्य के लिए जरूरी होते हैं, लेकिन कुछ समय के लिए ही। मनुष्य को अपनी सारी साधना जीवन द्वारा ही करनी पडती है। सच्चे साधक के लिए जीवन ही उसकी सतत, अखण्ड और सम्पूर्ण साधना है। ऐसी साधना की पूर्व तैयारी के रूप में मनुष्य जीवन-व्यवहार से जब अलिप्त होता है, तब मैं उसकी उस साधना को 'हिजरती साधना' कहता हूँ। इस्लाम में 'हिजरत' शब्द का जो अर्थ है, वह जाननेवाले

henotheism कहते हैं।

अनेक देवों में विश्वास रखने की प्रथा को polytheism कहते हैं। प्राचीन-काल में ऐसी प्रथा खूब चली, लेकिन बाद में मनुष्य ने देखा कि ईश्वर तो एक ही हो सकता है। ऐसे लोगों ने एकेश्वरवाद (monotheism) चलाया और अनेकानेक देवताओं का कसकर विरोध किया।

इस्लाम के पैगम्बर मुहम्मद साहब ने मक्का के मन्दिरों में जो तीन सौ साठ देव-देवियों की मूर्तियाँ थीं, सब तोड़ गिरायीं और जाहिर किया कि एक भगवान के सिवा कोई भगवान नहीं है। जो लोग एक भगवान को छोड़कर और किसी को भगवान मानते हैं, वे सच्चे भगवान का अपमान करते हैं, वे अधार्मिक हैं, पापी हैं।

केवल इस्लाम में ही नहीं, इसके पहले यहूदियों के धर्म में और पारसियों के जरतुश्ती धर्म में एकेश्वरवाद की ताईद थी।

हिन्दू-धर्म ने शुरू से एक ही ईश्वर पर विश्वास होते हुए भी उसके अनेक रूप माने, अनेक नाम माने और पूजा की विविधता मंजूर रखी और लोगों को सिखाया, जिस किसी भी नाम और रूप से भगवान को मानो, उसी की परमात्मा के तौर पर पूजा करो। यह व्यवस्था henotheism जैसी थी। किसी भी देवता का पुरस्कार करो, लेकिन समझो कि वही परमात्मा है। दूसरं किसी का इष्टदेव अलग रहा, तो वह भी परमात्मा ही है। जितने भी अलग अलग रूप के ईश्वर माने जाते हैं, वे सब एक ही परमात्मा के अलग-अलग नाम-रूप हैं। ऐसा कोई भगवान नहीं है, जो असली, शुद्ध और सच्चे भगवान से भिन्न हो सके।

एकेश्वरवादी भारत धर्म मे असंख्य देव-देवियो का विस्तार हुआ और अनावस्था पैदा हुई। तब श्री शकराचार्य ने शिव, विष्णु, देवी, गणपति और सूर्य, इन पाँचो को पसन्द करके उनका पंचायतन बनाया और जाहिर किया कि "जब कभी भगवान की पूजा करो, इन पाँचो को एकत्र रखकर पाँचों की एक साथ पूजा करो। इनमें से जिस किसी के प्रति विशेष भक्ति हो, उसी को बीच मे केन्द्र के तौर पर रखो और बाकी के चार इष्ट-देव के आस-पास चारों कोनों पर रखो। इष्टदेव बीच मे रहेगा, लेकिन पूजा होगी पाँचों की एक साथ।"

समन्वय-वृत्ति की इस पूजा को 'पंचायतन पूजा' कहते हैं। राम, कृष्ण, बुद्ध आदि अवतार भी इन पंचायतन में से किसी-न किसी के अवतार ही हैं।

जब हिन्दू-धर्म में समन्वय-वृत्ति जागी और बढ़ी, तब गाँव मे रहनेवाले भोले लोगों के देव-देवियों को भी हिन्दू-धर्म ने स्वीकार किया।

हिन्दू-धर्म के संस्थापकों को मूर्ति-पूजा मान्य नही थी। लेकिन लोगो की अभिरुचि देखकर उन्होंने सब तरह की मूर्ति-पूजा को उदारता से अपनाया। और आशा रखी कि इन सब लोगों की धीरे-धीरे विचार-शुद्धि हो जायगी। लेकिन उनकी धार्मिकता,

ईश्वरनिष्ठा और शरणगतता तो सँभालनी ही है। इसलिए किसी के भी धार्मिक विचारों का विरोध करना हिन्दू-धर्म-वृत्ति ने पसन्द नहीं किया।

जब भगवान सब तरह के लोगों को और उनके विचारों को बरदाश्त करते हैं, तो मनुष्य में भी वैसी उदारता क्यों न हो। पंचायतन-पूजा करने से न किसी को कुछ नुकसान हुआ है, न उनके एकेश्वरवाद में बाधा आयी है। हरएक संस्कृति की अपनी-अपनी खूबी होती है। रोमन लोगों ने पेंथियन नामक अपने मन्दिर में सब तरह के देवों को स्थान दिया था। मन्दिर की गोल दीवाल के आलों में इन सब देवों की मूर्तियाँ रखी हुई थीं। जिस तरह मक्का में तीन सौ साठ मूर्तियाँ हटायी गयीं और मुसलमान काबा के पत्थर के इर्द-गिर्द बैठकर एक ही अल्लाह की इबादत करने लगे, उसी तरह ईसाइयों ने पेंथियन की मूर्तियाँ हटायीं और एक ही ईश्वर की पूजा चलायी। रोमन केथोलिक ईसाइयों में त्रिमूर्ति जैसी उपासना है, लेकिन उससे उनका एकेश्वरवाद टूटता नहीं है।

इस्लाम, ख्रिस्ती-धर्म, यहूदी-धर्म, पारसी-धर्म और हिन्दू-धर्म ये सब एकेश्वरवादी ही हैं। समझने में कुछ भेद है। ऐसे भेद को दोष न समझते उस-उस धर्म की खूबी समझना, इसी में बुद्धिमानी है। सब धर्म समान हैं, ऐसा माननेवाले के लिए यानी समन्वयवादी के लिए दूसरा चारा ही नहीं।

(२)
हिन्दू-समन्वय का भावी विकास

हिन्दू-धर्म अनेक पन्थों, फिरकों और साधनों का एक विशाल परिवार है। परिवार के लोगों में जो आत्मीयता होती है, वही इस धर्म-परिवार में पायी जाती है। यह आत्मीयता ही हिन्दू धर्म की खूबी है। इसे हम व्यापक भी कर सकते हैं। आज हम इतर धर्मों में से किसी का भी द्वेष या विरोध नहीं करते। इसका नतीजा यह हुआ है कि इतर धर्म के लोग हमारे परिवार के लोगों के अन्दर अपने हाथ-पाँव फैलाने की कोशिश करते रहते हैं। प्रथम वे मानते हैं कि यह हमारी गफलत अथवा लाचारी है। भारत में स्वराज्य होने के बाद सब धर्मों के लोग हिन्दू-धर्म की और हिन्दू-समाज की यह व्यापक दृष्टि और उदारता समझने लगे हैं। अब वे पहले की तरह हमारी निन्दा नहीं करते। अपने धर्म की श्रेष्ठता के ढोल पीटे बिना उनका चलता नहीं, तो भी अब उनमें भी कुछ-न-कुछ व्यापकता, उदारता अथवा सहिष्णुता आने लगी है। अगर यही बात आगे चली तो और सब धर्मों को हम अपना भी सकेंगे। सब धर्म हमारी पारिवारिक भावना से लाभ उठा सकेंगे। ऐसा उन्होंने नहीं किया तो आज की दुनिया में ये धर्म टिकनेवाले नहीं हैं। या तो उदारता से व्यापक बनो, समन्वय-वृत्ति स्वीकार करो या दुनिया से मिट जाओ— यही है इस युग की

मेरी इस परिभाषा को समझेंगे और पसन्द करेंगे। हिजरत कायमी अथवा अन्तिम साधना नहीं हो सकती। वेदान्त-ग्रन्थों में जहाँ-जहाँ जीवन-व्यवहार से अलिप्त होने की साधना बतायी है, उसे मैंने कभी भी अन्तिम साधना नहीं माना। अब मैं सामूहिक साधना के बारे में कुछ कहूँगा।

महायानी बौद्ध कहते हैं कि "हमारी साधना व्यक्तिगत भले ही चले, किन्तु वह केवल अपने हित के लिए नहीं होती। हम चाहते और प्रार्थना करते है कि हमारे प्रयत्न से सब जीवों को लाभ हो, सब सत्वों को उनकी उन्नति में मदद हो।" शान्तिदेवाचार्य ने यहाँ तक कहा है कि "मेरी साधना से जब अनेक जीवों को, सत्त्वों को मदद मिलेगी, वे बन्धन से मुक्त होते जाएँगे, तब उनके उद्धार को देख प्रमोद-आनन्द के जो सागर उछलते रहेंगे, उन्हीं से मुझे परम सन्तोष होगा। मेरे लिए वही पर्याप्त है। अरसिक मोक्ष को लेकर मैं क्या करूँ ? मेरे लिए उसकी क्या कीमत ?"*

इसमें विश्वात्मैक्यभाव परिपुष्ट होता है सही, किन्तु साधना तो व्यक्तिगत ही है। असंख्य लोगों की सेवा करने से उनको लाभ होगा। लेकिन हम चाहते हैं कि मोक्षार्थी जैसे केवल अपने मोक्ष की इच्छा न करे, सबके मोक्ष की चिन्ता रखे, वैसे ही आइन्दा मोक्षार्थी का संकल्प हो कि मैं अकेला मोक्ष की साधना न करूँ, जिनके साथ मेरा जीवन कमोबेश ओतप्रोत है, उन सबको मोक्षार्थी बनने का आमन्त्रण क्यों न दूँ ?

सर्वमोक्ष के लिए सर्व मोक्षार्थियों की सह-साधना चले यह है इस युग का नया प्रस्थान। वेदान्त के लिए (विश्वात्मैक्यवादी अद्वैतसिद्धि के लिए) जब यह सर्व साधना चलेगी, तभी दुनिया के सबके सब जटिल प्रश्न धीरे-धीरे हल होते जाएँगे।

पुराने वेदान्त-साधकों ने व्यक्तिगत साधना चलाकर व्यक्ति के सवाल हल किये। सन्तों ने परोपकार, नम्रता, सदाचार, सन्तोष और ईशभक्ति का प्रचार करके समाज का वायुमण्डल स्वच्छ अवश्य किया, किन्तु समाज-व्यवस्था में परिवर्तन करने का काम हाथ में नहीं लिया और न सामाजिक न्याय और समता की वेदान्तिक आवश्यकता की ओर ही ध्यान दिया।

अब तो सारे समाज का हम एक साथ विचार करते हैं, आर्थिक क्षेत्र में क्षण शिक्षण के क्षेत्र मे भी। श्री विनोबा ने जो आर्थिक समता की साधना ब्रह्मविद्या से चाही, यह इस नये जमाने की ही माँग है। 'गरीबों को जो खाने को नहीं मिलता,

* मुच्यमानेषु सत्त्वेषु, ये ते प्रामोद्य सागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तम् मोक्षेण अरसिकेन किम् ?॥

वह हम न खायें,' ऐसा उन्होंने नहीं कहा। उससे गरीबों के प्रति सहानुभूति प्रकट होगी, किन्तु उनका दुःख दूर नहीं होगा। गरीबों का खाना उनको न देकर स्वयं उसे खाने वाले धनी और जबरदस्त लोगों की हिंसा करने से द्वेष बढ़ेगा और संस्कृति का नाश होगा। इन दो खतरों को ध्यान में रखकर गरीबों के दुःखों का इलाज ढूँढने का काम ब्रह्मविद्या को सौंपकर श्री विनोबा ने ब्रह्मविद्या के उद्देश्यों में बड़ी क्रान्ति की है। केवल चर्चा से यह इलाज हाथ में नहीं आयेगा। सामुदायिक चिन्तन और प्रयोग के द्वारा ही रास्ता मिलेगा। उसके लिए जरूरी आत्मशुद्धि अवश्य करनी पड़ेगी, किन्तु मुख्य मार्ग योगयुक्त चिन्तन और तरह-तरह के प्रयोगों की आजमाइश का ही होगा। यह एक प्रकार की सामुदायिक साधना ही होगी।*
फरवरी, १९६४

४. हिन्दू-धर्म और एकेश्वरवाद

भगवान, तो एक है, किन्तु उसकी उपासना करने वाले मनुष्य असंख्य हैं। उनका स्वरूप, उनकी मानसिक और हार्दिक स्थिति, उनकी परम्परा, उनके अनुभव और अभिरुचि अलग-अलग होती है। यह सब देखकर विद्वान् अनुभवी लोगों ने ईश्वर की उपासना के अनेक प्रकार बताये। भगवान के नाम भी हजारों रचे। नाम के साथ रूप की भी जरूरत होती है। इसलिए लोगों ने तरह-तरह के देव-देवियों की कल्पना की।

इसके बाद मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार पचार करने लगा कि "मेरा ही भगवान सही है, बाकी के सब बनावटी हैं।" चन्द लोग इसमें कुछ सौम्य प्रकृति के उदार थे। उन्होंने कहा : "भगवान भले अनेक हो, मेरा ही भगवान श्रेष्ठ है।"

कहते हैं कि जब दो या अधिक कुनबों में लडाइयाँ होती थीं, तब जिस कुनबे की जीत हुई, उसका भगवान बडा साबित हुआ। उनके मन्दिर में विजयी कुनबे के भगवान को सबसे ऊँची जगह पर रखते थे। हारे कुनबों के भगवान भी हार गये। ऐसा मानकर उनके भगवानों को मन्दिर में बैठने के लिए नीचे का स्थान दिया जाता। अगर फिर से लड़ाई हुई और कोई हारा कुनबा जीत गया तो पुरानी व्यवस्था बदलकर नयी जीत पाने वाले कुनबे का भगवान ऊपर जाकर बैठता। यह हो गयी असंस्कारी जंगली लोगों की व्यवस्था।

लेकिन जहां एक ही भगवान के अनेक रूप माने गये, वहाँ उनके अन्दर श्रेष्ठ कौन, इसकी चर्चा और झगड़ा चलता ही था। भक्त लोग अपनी शक्ति और अभिरुचि के अनुसार किसी-न-किसी देवता को सबसे श्रेष्ठ मानने लगे। अंग्रेजी में इसे

---

* एक पत्र से।

धर्म इस प्रकार के हैं। कोई अंग्रेज या चीनी मनुष्य भी आर्यसमाज में दाखिल हो सकता है। फिर हम ऐसे व्यक्ति को हिन्दू कहने के लिए बाध्य हो जाते हैं। बौद्धों का ऐसा ही है। किसी भी हिन्दू के बौद्ध होने पर उसका हिन्दुत्व नहीं मिटता। कोई जर्मन या अंग्रेज जब बौद्ध धर्म में आता है— ऐसे कई उदाहरण हैं— तब उसे हम जरूर हिन्दू ही कहेगे। किन्तु बौद्ध धर्म दुनिया मे इतना फैला हुआ है कि बर्मा, सीलोन, थाइलैंड, सियाम, कम्बोडिया, चीन और जापान के बौद्धों को शायद हम हिन्दू नहीं कहेगे, जबकि नेपाल और भूटान के बौद्ध लोग हमारे विचार में हिन्दू ही हैं और मैं तो तिब्बत के बोद्धो को भी हिन्दू ही कहूँगा।

जाति या वंश पर निर्भर रहने वाले इन धर्मो को अंग्रेजी में (ethnic religion कहते हैं।

इसके विपरीत जो धर्म सिद्धान्तसमूह धर्म-संस्थापक और धर्मग्रन्थ पर आधार रखते हैं, उनको कहा जाता है creedal religion। दुनिया के सब लोगों को वे आमन्त्रण देते है कि तुम्हारा उद्धार हमारे द्वारा ही होगा, हमे स्वीकार करो। भगवान बुद्ध ने अपने धर्म को 'एहि पश्येक' धर्म कहा है। 'आओ और देखो। जँच जाय तो स्वीकार करो।' बौद्ध, ईसाई और इस्लाम इस प्रकार के धर्म हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका जाकर हिन्दू-धर्म का नहीं, किन्तु वेदान्त-धर्म का प्रचार किया। वेदान्त के सिद्धान्त जिसे मान्य हैं, वह वेदान्ती हो सकता है। अमेरिका में इस वेदान्त का प्रचार हुआ। लेकिन उसका कोई अलग पन्थ नहीं चला।

जैन-धर्म हिन्दू-धर्म का ही एक रूप है। जैन-समाज हिन्दू-समाज के बाहर नहीं है। जैन-संस्कृति हिन्दू-संस्कृति का अविभाज्य अंग है। हिन्दू-समाज अगर जैन-संस्कृति को छोड देगा, तो यह लक़वा मारने जैसी हालत होगी।

जैन-मत का प्रचार प्राय: भारत मे ही हुआ। इसलिए वह सिद्धान्तनिष्ठ होते हुए भी वंशनिष्ठ ही रहा है। दुनिया के किसी भी देश का। किसी भी वंश (race)का मनुष्य तीर्थंकरों की नसीहत स्वीकार करके जैन बन सकता है। लेकिन वैसा प्रयत्न किसी ने किया नहीं है। सिखों की भी यही स्थिति है।

धर्मों का यह जो पुराना द्विविध वर्गीकरण है, उसका मैंने यहाँ तक वर्णन किया। पश्चिम के लोगों को ऐसे वर्गीकरण पसन्द आते हैं। लेकिन आज मैं एक नये ही ढंग से धर्मो का वर्गीकरण करना चाहता हूँ। मेरा वर्गीकरण त्रिविध है— (१) ईश्वर, (२) आत्मा, (३) जीवन-केन्द्रिक।

पहले वर्ग में ऐसे सब धर्म आते हैं। जो ईश्वर-केन्द्रिक हैं। यहूदी-धर्म, ईसाई-धर्म, इस्लाम, वैदिक-धर्म, वैष्णव-धर्म, ब्राह्म-धर्म ये सब ईश्वर केन्द्रिक हैं। दूसरा वर्ग है, आत्मकेन्द्रिक धर्म। इसका उत्तम नमूना है जैन-धर्म। इस सृष्टि

का सिरजनहार कौन है। इसका नियन्ता तो कोई होगा ही, ऐसी तर्क-प्रणाली मे वे फँसते नहीं। वे कहते हैं कि आत्मा है। उसकी शक्ति अमर्यादित है। तपस्या द्वारा यह शक्ति बढ़ाकर मनुष्य को अपना उद्धार करना है। यह है इस धर्म की मान्यता। आत्मशक्ति बढ़ाने का तरीका है अहिंसा , तप और ज्ञान। इसी से मनुष्य को 'केवलज्ञान' प्राप्त होता है और वह 'मुक्त' हो जाता है।

धर्मो का तीसरा प्रकार है जीवन-केन्द्रिक। इस वर्ग के धर्म आत्मा या परमात्मा को नहीं मानते। वे जीवन को मानते हैं। व्यष्टि और समष्टि के संस्कार को मानते हैं। उनका कहना है कि सम्यक् ज्ञान और चारित्र्य द्वारा मनुष्य अपने दोषों को क्षीण करता है और निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

बौद्ध धर्म का यह हुआ प्रधान स्वरूप ! महायान पन्थ ने इस स्वरूप का बहुत विस्तार किया है।

मेरा अभिप्राय है कि साम्यवादी समाज जब धर्म का रूप पकडेगा, तब उसे इसी वर्ग में दाखिला होना पडेगा। साम्यवादी लोग ईश्वर, आत्मा और इन दोनो पर आधार रखने वाले धर्मो को इनकार करते हैं।

अगर बारीकी से सोचें तो ईश्वर-केन्द्रिक और आत्मकेन्द्रिक धर्म भी जीवन परायण तो होते ही हैं। इसलिए इन तीनों का समजस्य बेठ सकता है और अब वही करने के दिन आये हैं। परमात्मा को प्राधान्य देने वाला वेदान्त-धर्म, तपस्या और अहिंसा द्वारा आत्म-शक्ति का साक्षात्कार करनेवाला जेन-धर्म और सम्यक्-दृष्टि द्वारा जीवन को शुद्ध और दु:खमुक्त करने वाला बौद्ध धर्म— तीनो का समन्वय करने के दिन अब आये हैं। बौद्धो का धर्म प्राधान्य, जैनो की अहिमा तपोमूलक आत्मनिष्ठा और विश्वात्मैक्य को परमपुरुषार्थ मानने वाले वेदान्त को ब्रह्मपरयणता या ब्रह्मनिष्ठा— तीनो का समन्वय करने मे विश्व शान्ति की, सत्ययुग की और सर्वोदय की स्थापना होगी।

आज अहिसा-धर्म के सामने सबसे बडा मवाल युद्ध का है। और मनुष्य-मनुष्य के बीच, वंश-वंश के बीच जो स्पर्धा चलती है और प्रयत्नपूर्वक द्वेष बढाया जाता है, उसका सवाल भी है।

पचशील अहिंसा-धर्म का बिलकुल प्राथमिक रूप है। उसे स्वीकार कराने मे भी कितनी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो रही हैं । पश्चिम के विद्वान् जिम तरह अनेक सामाजिक, राष्ट्रीय, राजनीतिक, आर्थिक और मानमिक सवालों का मांगोपांग अध्ययन करते हैं और अपनी मति के अनुमार व्यावहारिक उपाय बताते जाते हैं, हमें भी ऐसा ही करना होगा। यह काम तीन दिन के सेमिनार का नहीं है।

अहिंसा का दूसरा सवाल है— मानव के द्वारा होने वाले मानव के शोषण का। (Exploitation)

जागतिक घोषणा ! हिन्दू-धर्म को भी इस घोषणा के अनुसार अन्तर्मुख होकर आत्मनिरीक्षण करना है। पंचायतन का विकास करके उसमें भगवान को गुरु के रूप में मानने वाले लोगों को लेना जरूरी हो गया है। पंचायतन का षडायतन हो गया है। अब इसी आयतन को बढाते-बढ़ाते सर्वायतन तक जाना है। जो लोग तात्त्विक दृष्टि से सोचनेवाले हैं, वे आसानी से समझ सकेंगे कि सर्वायतन में और निरायतन में कोई फरक है नहीं, लेकिन उसकी बात चलाने की आवश्यकता नही है। हिन्दू-धर्म का इस युग का युग-धर्म हम समझें और उसके अनुसार साधना करके आगे बढ़ें।

१५-३'-६५

५. अनेकान्तवादी जैन-धर्म

१. स्याद्वाद की समन्वय-शक्ति

आज के युग की मुख्य माँग है, समन्वय। मतभेदों के प्रति हमारा आदर भाव है। लेकिन हम चाहते हैं कि भिन्न मतावलम्बी लोग आपस मे लड़े नहीं। केवल चर्चा से झगडों का अन्त नहीं होता। सत्य की प्रतीति चर्चा से नहीं, हृदय मे होनी चाहिए। बुद्धि द्वारा सत्य का एकांगी दर्शन हो सकता है। स्याद्वाद ने यही बात हमे सिखायी है।

हृदय और जीवन द्वारा सत्य का अनुभव करते हुए मतभेद का स्वरूप और मतभेदों का कारण धीरे धीरे समझ में आने लगता है और भेद के अंश गौण बनते हैं।

समन्वय का प्रयत्न कौन करे ? मैं मानता हूँ कि जो लोग स्याद्वाद का रहस्य समझते हैं, उन्हीं का प्रथम कर्तव्य है कि दार्शनिक चर्चाएँ छोड़कर हरएक वाद की भूमिका वे समझ लें और जीवन में संघर्षरूपी हिंसा को टालकर सहयोगरूपी अहिंसा का रास्ता खुला कर दें।

मैं तीन बार जापान गया हूँ। बौद्ध धर्म का पालन करने वाले लोगों से लंका में, ब्रह्मदेश में, चीन और जापान में मिला हूँ। मैं मानता हूँ कि बौद्ध-धर्म का यानी बौद्ध जीवन-साधना का रहस्य समन्वयकारी हृदय ही अधिक अच्छी तरह समझ सकता है।

एक बार जापान से लौटते समय मैं विनोबाजी से मिला था। मैंने कहा : "आपने

और मैंने वेदान्त-दर्शन का अध्ययन किया है। गौडपादाचार्य ने अपनी कारिका में कहा है कि अद्वैतवादी की भूमिका इतनी ऊँची है कि वहाँ किसी से झगड़ा हो ही नहीं सकता। मैंने तो अद्वैत में समन्वय ही देखा है। तार्किक अद्वैत की बात मैं नहीं करता। जीवन के क्षेत्र में अद्वैत की साधना समन्वय ही सिखाती है। इस समन्वय द्वारा वेदान्त और बौद्ध-दर्शन एक-दूसरे के नजदीक आ सकते हैं।"

विनोबाजी ने कहा : "मेरा मन भी उसी दिशा में काम कर रहा है। मैं बोधगया में एक समन्वय-आश्रम की स्थापना करना चाहता हूँ।" विनोबाजी के कहने से मैंने इसी विषय पर सर्वोदय-सम्मेलन में एक व्याख्यान भी दिया। विनोबाजी ने अपने व्याख्यान में उसकी पुष्टि की।

बोधगया एशिया के लोगों को एकत्र लाने वाला एक पवित्र स्थान है।

मुझे दिखाई दिया कि बौद्ध जीवन-साधना, जैन जीवन-साधना और वेदान्त की जीवन-साधना तीनों का उत्तम समन्वय हो सकता है। ऐसा समन्वय ही भक्ति के वायुमण्डल में दुनिया का उद्धार कर सकता है। स्याद्वाद अथवा समन्वय ही अहिंसा का सर्वकल्याणकारी साधन अथवा औजार है। (अहिंसा के समर्थ शस्त्र को शस्त्र नहीं, औजार ही कहना चाहिए।)

समन्वय के इस सर्व-समर्थ औजार या साधन की मददद से सारे विश्व को हम एक परिवार बना सकते हैं : यत्र भवति विश्वम् एकनीडम्।

जैन-मुनियों की परम्परा मामान्य नहीं है। उनमें जितनी रूढ़ि-निष्ठा है, उतनी ही तत्त्व-निष्ठा भी। जब तत्त्व-निष्ठा की विजय रूढ़ि पर होगी, तभी जीवन सफल होगा। रूढ़ि-निष्ठा मरण की दीक्षा है, तो तत्त्व-निष्ठा है जीवन की और प्रगति की दीक्षा।

अब युग-धर्म कहता है कि तत्त्व-निष्ठा को समन्वय की दृष्टि से जीवन की ओर देखना चाहिए।

मैं मानता हूँ कि युग-धर्म समन्वय को ही सुफल बनायेगा।

१५-१२-'६३

२. धर्म के प्रकार और नये धार्मिक प्रश्न

आज तक लोग धर्म के दो विभाग करते रहे हैं : १ वंशमूलक और २ सिद्धान्तमूलक। हिन्दू, पारसी और यहूदियों के धर्म वंशगत धर्म हैं। यहूदी जाति में जन्मा मनुष्य ही यहूदी हो सकता है। हम लोग उस धर्म में प्रवेश नहीं कर सकते। पारसियों का धर्म भी ऐसा ही है। आदमी जन्म से ही पारसी धर्मी हो सकता है। हिन्दू-धर्म प्रधानतया वैसा ही है। किन्तु हिन्दू-धर्म की चन्द शाखाएँ ऐसी हैं, जो धर्मान्तर द्वारा लोगों को अपने में ले सकती हैं। आर्यसमाज, ब्राह्मसमाज और बौद्ध

चावल हैं, गेहूँ हैं, तिल हैं— यानी साधन-सम्पत्ति है— और जितने भी दास-दासियाँ हैं, एक आदमी के उपभोग के लिए भी पर्याप्त नहीं हैं; इसलिए भोग-विलास को बढ़ाते मत जाओ; संयम करना सीखो।'' भगवान महावीर ने भी यही तपस्या का और संयम का मार्ग सिखाया। उन्होंने यह भी कहा कि मनुष्य का अनुभव एकांगी होता है, दृष्टि एकागी होती है, इस सब दृष्टियों के समन्वय से ही केवल सत्य का, सम्पूर्ण सत्य का ज्ञान होगा। भगवान महावीर ने यह भी बताया कि लोभ और वासना पर विजय पाने के लिए और सर्वकल्याणकारी समन्वय-दृष्टि प्राप्त करने के लिए आत्मशक्ति बढानी चाहिए। स्याद्वाद या अनेकान्तवाद को मैंने बौद्धिक अहिंसा का नाम दिया है। जिस तरह peaceful co-existence राजनीतिक या सामाजिक अहिंसा है; उसी तरह 'अनेकान्त' बौद्धिक अहिंसा है।

इस अनेकान्त को परिपूर्ण समन्वय का रूप दिया भगवान गौड़पादाचार्य ने। लोग उन्हें अद्वैताचार्य कहते है। मैं उन्हें समन्वयाचार्य कहता हूँ। वेदान्त की सर्व-संग्राहक दृष्टि का वर्णन करते हुए उन्होने कहा कि ''दर्शन आपस मे लड सकते हैं, हमारा किसी मे झगडा नहीं है। हम ऐसी भूमिका पर खडे हैं कि जहाँ से हम सब दर्शनों की खूबियाँ देख मकते हैं। इसलिए हम सबका स्वीकार करते हैं और उनकी व्यवस्था भी कर सकते हैं।'' यह वेदान्त दर्शन आज दुनिया के दार्शनिकों मे अधिकाधिक प्रतिष्ठा पाने लगा है। यह दर्शन कहता है कि 'धम्म' की स्थापना आत्मशक्ति मे होगी जरूर, लेकिन उसकी बुनियाद मे विश्वात्मैक्य-भाव होना चाहिए। सबकी आत्मा एक है। सब राष्ट्र, मब जातियाँ, मब महावश (रेसेज) एक ही हैं। इनमें हम द्वैत चलायेगे तो मानव-जाति का जीवन विफल होगा। गोरे और काले, लाल और पीले और हमारे जैस गेहुँए मब एक ही आदि-मानव की सन्तान हैं। रग-भेद, भाषा-भेद, धर्म और देश-भेद से हमारा अद्वैत, हमारा ऐक्य टूट नहीं सकता। यह है वेदान्त-धर्म की मीख। कोई शुद्ध पुण्यवान् नही, कोई शुद्ध पापी नहीं, सारी दुनिया सद् और असद् मे भरी है, और इमलिए उममें अद्वैत यानी ऐक्य है। यह है सच्ची दृष्टि।

कुछ दिन हुए मैं भोपाल, भेलमा और साँची की ओर गया था। भौगोलिक दृष्टि से यह प्रदेश भारत के केन्द्र मे है। बौद्ध धर्म के समर्थ प्रचारक सारिपुत्त और मोग्गलान के कारण यह एक तीर्थस्थान है ही। भगवान महावीर के परम कल्याणमय उपदेश का प्रचार इस प्रदेश में कम नहीं हुआ है।

और वेदान्त का प्रचार तो भारतवर्ष के जर्रे-जर्रे में पैठ गया है। भारतवर्ष के हृदय के समान उस स्थान को देखकर मेरे मन मे यह समन्वय की नयी 'प्रस्थान-त्रयी' विशेष रूप से स्पष्ट हुई। अनेकान्त का सन्देश समझने वाले लोगों को चाहिए कि वे इस स्थान पर ऐसी एक प्रचण्ड प्रवृत्ति का वपन कर दें, जिसका

प्रकाश सारे भारत में ही नहीं, दसों दिशाओं में फैल सके। आज का युग समन्वय का युग है। महावीर की जयन्ती के दिन हम संकल्प करें कि बौद्ध, जैन और वेदान्त— इस त्रिमूर्ति की हम अपनी संगम-संस्कृति में स्थापना करेंगे और भगवान महावीर की कृपा से सर्व-धर्म-समन्वय का अनुशीलन करेंगे।
२२-४'-५६

६. अष्टांगिक बौद्ध धर्म

१. भारत में बौद्ध धर्म

'बौद्ध धर्म का भारत में क्या हुआ ?'

इस प्रश्न का उत्तर आज तक अनेक ढंग से हम सुनते आये हैं। सनातन धर्म के अभिमानी, किन्तु अपढ़ लोग कहते आये हैं कि शंकराचार्य ने बौद्ध दर्शन का सफलतापूर्वक खण्डन किया और अपने शिष्य-राजाओं की मदद से बौद्ध धर्म को भारत से निकाल दिया। इतिहास में इसका कोई सबूत नहीं है। शंकराचार्य ने बौद्ध मत का खण्डन किया सही, किन्तु उनके मन में बौद्ध सिद्धान्तों के प्रति आदर भी बहुत था। यहाँ तक कि आचार्य के विरोधी उनको 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहते थे। शंकराचार्य छिपे बौद्ध ही हैं, ऐसा कहकर उन्होंने उनकी निन्दा तो जरूर की, किन्तु उसमें शंकराचार्य की स्तुति भी है। बौद्ध दर्शन में जो कुछ भी कहा है, उसके प्रति आदर रखकर उसमें से जो कुछ लेने लायक था, उन्होंने ले लिया।

शंकराचार्य के पूर्ववर्ती गौडपादाचार्य ने 'माण्डूक्य-उपनिषद' पर कारिकाएँ लिखकर अद्वैत वेदान्त की स्थापना की। उनके मन में भी बौद्ध दर्शन के प्रति आदर ही था।

भगिनी निवेदिता जैसे इतिहास-संशोधकों का कहना है कि बौद्ध धर्म क्षीण हुआ अपनी आन्तरिक सामाजिक सड़ाँध के कारण। मलिक कफूर के दिनों तक बौद्ध धर्म इस देश में प्रचलित था। बंगाल के 'नेड़ा-नेड़ी' सम्प्रदाय के लोग जो शिरोमुण्डन करते थे, असल में वे बौद्ध ही थे। मलिक कफूर और काला पहाड़ के दिनों में जो कत्ल हुए, उनमें बौद्ध सम्प्रदाय के बहुत कुछ लोग मारे गये, ऐसा भी कहा जाता है।

गांधीजी का खयाल था कि बौद्ध धर्म में जो कुछ भी हितकारी उपदेश और दार्शनिक ग्राह्यांश था, उस सबको हिन्दू-धर्म ने हजम कर लिया है। हिन्दू-धर्म ने

सवाल यह है कि क्या अहिसावादी धनवान हो सकता है ? अथवा दूसरे शब्दों में क्या धनवान मनुष्य का जीवन अहिंसक है ? अगर नहीं तो सम्पत्ति का इलाज क्या ? अहिंसक समाज-रचना में और socialistic pattern में क्या फर्क है ?

गांधीजी कहते थे कि अहिसक समाज की स्थापना अहिसक ढग से ही होनी चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि हम सामाजिक अन्याय को बरदाश्त करे और केवल अहिंसा-धर्म का उपदेश करते रहें। अगर कोई हमारे घर की सम्पत्ति लूट ले जाय अथवा घर के लडके-लडकी को उठाकर ले जाये, तो हम आराम से नहीं बैठते। अस्वस्थ होकर अन्याय का इलाज करते हैं। इसी तरह का कोई कारगर, अहिंसक तरीका हमें बताना चाहिए और उसे कार्यान्वित करके दिखाना चाहिए। अगर इसे कर सके तो हमारा धर्म फिर मे संजीवित और तेजस्वी होगा।*
१९-२'४७

३. त्रिवेणी-समन्वय

मैंने कई बार कहा है कि ढाई हजार बरस पहले अहिंसा , संयम और तपस्या का सन्देश मनुष्य-जाति के सामने रखकर भगवान महावीर ने सिद्ध किया कि वे सच्चे अर्थ मे आस्तिक शिरोमणि हैं। ईश्वर या शास्त्रो पर विश्वास रखना सच्ची आस्तिकता नहीं है। सच्ची आस्तिकता तो यह है कि मनुष्य के हृदय पर विश्वास किया जाय। आस्तिकता का लक्षण यह है कि मनुष्य विश्वास करे कि किसी-न-किसी दिन मनुष्य अपना स्वार्थी ईर्ष्यालु या क्रूर स्वभाव छोडकर समस्त मानव-जाति का एक विश्व-कुटुम्ब स्थापित करेगा और यह कुटुम्ब भाव बढाते-बढ़ाते भले-बुरे सब प्राणियों का उसमें अन्तर्भाव करेगा। आजकल के युग में आस्तिकता इस बात मे होगी कि हम विश्वास करें कि रूस और अमेरिका दोनों किसी-न-किसी दिन मानवता के सिद्धान्त को सर्वोपरि रूप में स्वीकार करेंगे। आस्तिकता का लक्षण है कि हम हृदय मे माने कि हिन्दू और मुसलमान भाई-भाई होकर ही रहेंगे और हम माने कि पाकिस्तान की नीति भी किसी-न किसी दिन सुधर जाएगी।

आज विनोबा जो भूदान का काम कर रहे हैं, वह आस्तिकता का काम है। उनका विश्वास है कि आज के स्वार्थी युग में भी मनुष्य अपना सर्वस्व दे सकता है।

आज के भारत की अन्तरराष्ट्रीय नीति आस्तिकता का सर्वोत्तम नमूना है। अविश्वास और ईर्ष्या के इस जमाने में भारत सब- के-सब राष्ट्रों पर विश्वास रखने

*दिल्ली में एक जैन-सेमिनार मे दिया गया उद्घाटन भाषण।

को तैयार है। इन सब राष्ट्रों का इतिहास और उनकी करतूतें हम नहीं जानते, सो बात नहीं। हम अपने दोष भी कहाँ नहीं जानते ? हम दुनिया से अलग थोड़े ही हैं। तो भी हम विश्वास करते हैं कि मनुष्य कल्याण की ओर प्रस्थान अवश्य करेगा।

आज लोग दुनिया के सामने मानवी प्रेम का, विश्व-कुटुम्ब का आदर्श रखते हुए संकोच का अनुभव करते हैं। सिर्फ अहिंसक सह-जीवन (peaceful Co-existence)या सहचार की बातें करके ही सन्तोष मानते हैं। जबकि भगवान महावीर ने प्राणिमात्र के प्रति अहिंसा का, सब प्राणियों के एक परिवार होने का सन्देश दुनिया के सामने रखा और विश्वास किया कि इसे मनुष्य-जाति अवश्य स्वीकार करेगी। इसीलिए मैं भगवान महावीर को आस्तिक-शिरोमणि कहता हूँ।

सनातनी लोग उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता का 'प्रस्थानत्रयी' कहते हैं। तीनों में जो पुरुष एकवाक्यता या समन्वय सिद्ध कर दिखाता है, उसे 'आचार्य' कहते हैं। यह पुरानी बात हो गयी। अनेक आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से 'प्रस्थान-त्रयी' की एकवाक्यता सिद्ध कर दिखायी। इस जमाने में कई विद्वानों ने इन सब आचार्यों के बीच भी सामंजस्य स्थापित कर दिखाया है। हम इस भूमिका पर पहुँचे हैं कि शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्क आदि आचार्य भी कहते हैं, वह एक-दूसरे का मारक नहीं है, समर्थक है। इस कारण भारतीय दर्शनशास्त्र एक नयी समृद्धि पा सका है।

अब हमें संस्कृति-समन्वय की दृष्टि बढ़ाकर अपने देश के लिए तीन धाराओं का समन्वय करना आवश्यक हो गया है। बौद्ध-दर्शन, जैन-दर्शन और वेदान्त-दर्शन आपस में चाहे जितना विवाद करें, संस्कृति की दृष्टि से इन तीनों में सुन्दर समन्वय देखना आज का युग-कार्य है। बुद्ध भगवान को हम इस युग के अवतार मानते हैं। उन्होंने अपने जमाने के दार्शनिक झगड़े को देखकर लोगों से कहा कि भले आदमी, इस आत्मा-परमात्मा की झंझट में मत फँसो। अगर वे हैं तो अपने स्थान पर सुरक्षित होंगे, हमें उनकी चर्चा में नहीं पड़ना है। हम केवल 'धम्म' को मानते और उसी के पालन में अपना कल्याण देखते हैं। 'धम्म' के मानी है सदाचार का सार्वभौम नियम। 'धम्म' ही सच्चा सत्पुरुष धर्म है। बुद्ध भगवान का कहना था कि मुझे भी 'धम्म' का ही प्रतीक समझो : **'यो मं पश्यति सो धम्मं पश्यति। यो धम्मं पश्यति सो मं पश्यति।' 'कल्याणो धम्मो।'** बुद्ध भगवान के आर्य अष्टांगिक मार्ग का प्रचार जगत के विशाल क्षेत्र में और अधिकांश मानव-जाति में स्थूल रूप से हो चुका है।

बुद्ध भगवान के समकालीन भगवान महावीर ने भी ऐसा ही एक युग-सन्देश दिया है। ययाति जैसे सम्राट् ने अपने सौ लड़कों का यौवन अनुभव करने के बाद और इस तरह के विलास में डूबने के बाद कहा था : "इस सारी दुनिया में जितने

इस बौद्ध धर्म की भारतीय खूबी यह है कि यह धर्म जहाँ जाता है, वहाँ के स्थानिक धर्म-विचारों को अपनाता है और स्वदेशी जामा पहन कर अपनी जड़ें मजबूत करता है।

इन देशों में तिब्बत तो हमारा बिलकुल पडोसी देश है। मनुष्य के पुरुषार्थ ने हमेशा सिद्ध किया है कि ऊँचे-ऊँचे पहाड़ और श्मशान-भूमि के जैसे चौड़े रेगिस्तान मनुष्य के प्रचार को रोक नहीं सकते। भारत से केवल बौद्ध धर्म ही नहीं, किन्तु योग-विद्या और शाक्त सम्प्रदाय भी भारत से तिब्बत पहुँच गये हैं। उधर अफ्रीका खण्ड में उत्तरी देशों में फैला हुआ इस्लाम रेगिस्तान को लाँघकर दक्षिण की ओर फैला है।

हमारे पुराणों में तिब्बत को त्रिविष्टप यानी देवभूमि कहा है। हिमालय के प्रदेश में विद्याधर, यक्ष, किन्नर, पिशाच, राक्षस आदि अनेक देवयोनियाँ रहती थीं। (विद्याधरोऽप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः। पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः।।) हमारी पवित्र -से-पवित्र नद-नदियाँ तिब्बत के मानस आदि सरोवरों के आसपास से शुरू होती हैं। हमारा कैलाश भी तिब्बत में ही है। रावण और मान्धाता जैसे महान् सम्राट भी तिब्बत के ही रहने वाले थे। जहाँ हमारी संस्कृति पहुँची, हमारे धर्मपन्थ और धर्म-विचार जहाँ पहुचे, जहाँ हमारी देव-देवियाँ रहती हैं, उस देश के साथ हमारी सांस्कृतिक आत्मीयता तो रहनेवाली ही है। हमारे कई धर्मग्रन्थ, जो भारत में नहीं मिलते थे, हमें तिब्बत में मिले। हमारी कारीगरी, हमारी कला भी तिब्बत के साथ सम्बन्ध रखती आयी है और चीन की संस्कृति भी हमारी संस्कृति के लिए परायी संस्कृति नहीं है। चीन के कई धार्मिक रस्म-रिवाज भारत के ही हैं। वहाँ की चित्रकला, स्थापत्यकला और भारत की कलाएँ दोनों में आदान-प्रदान हमेशा चलता आया है।

यह सब तो है ही। लेकिन इतिहास बताता है कि कठिन समय आने पर तिब्बत के लामाओं ने भारत का ही आश्रय लिया है। आज जो दलाई लामा भारत आये हैं, भारत की शरण लेने वाले पहले ही दलाई लामा नहीं हैं। वंशवृत्ति (racial or cultural urge)ही उन्हें भारत के पास ले आती है।

इधर विष्णु के प्रचलित अवतार के रूप में बुद्ध भगवान को स्वीकार करने वाले हम लोग बौद्ध धर्म का नये सिरे से अभ्यास कर रहे हैं। पश्चिम के जो लोग ईसाईपन से नाराज हैं, उनमें से कई लोगों ने बौद्ध धर्म का अभ्यास करके उसमें शान्ति पायी है। बुद्ध भगवान स्वयं कहते थे कि "मेरा धर्म 'एहि+पश्येक' धर्म है। आओ और देखो, जँच जाए तो ले लो, यही स्वरूप है मेरे धर्म का।" बुद्धिवादी लोगों को गौतम बुद्ध का उपदेश ही और धर्म ही इस जमाने में अधिक-से-अधिक ग्राह्य लगता है। इसलिए बौद्ध धर्म को आज हम युग-धर्म कह सकते

है।

और एक बात है। दृष्टिभेद और मतभेद के कारण बौद्ध धर्म के हीनयान और महायान ऐसे दो फिरके हो गये हैं और इनमें जितनी एकता जरूरी है, उतनी नहीं पायी जाती। समन्वयवादी भारतवर्ष का काम है कि वह हीनयान और महायान को एकत्र लाकर दोनों का एकयान बना दे। सनातनी और आर्यसमाजी में जैसा भेद है, वैसा ही महायानी और हीनयानी में है। कम्बोडिया, सीलोन और ब्रह्मदेश के बौद्ध हीनयान को मानते हैं। तिब्बत, चीन, कोरिया और जापान में महायान का प्रचलन है। दलाई लामा सनातनी जैसे महायान पन्थ के हैं। इनके भारत आने से बौद्ध धर्म में नयी जागृति आयेगी। ब्रह्मदेश और लंका के बौद्ध लोग सारनाथ, बोधिगया, कलकत्ता आदि स्थानों में अपना काम कर ही रहे हैं। अब जापान के महायानी लोगों ने भी कलकत्ता, राजगृह और बम्बई जैसे स्थानों में अपना प्रचार शुरू किया है। डॉक्टर अम्बेडकर के अनुयायियों ने इस सारी परिस्थिति से पूरा लाभ उठाया है। पता नहीं, बुद्ध भगवान की प्रेरणा इस देश में आइन्दा के लिए कैसा-कैसा वायुमण्डल पैदा करती है। जब मैं पिछले साल चीन गया था, तब मैंने वहाँ के कैबिनेट के मन्त्रियो से कहा था कि रशिया ने ईसाई-धर्म का और तमाम धर्मो का विरोध किया, इसलिए यह जरूरी नहीं कि चीन भी बौद्ध धर्म का, वह एक धर्म है इसलिए, विरोध करे। रशिया के साम्यवाद के पीछे प्रजा के दिल पर जार के दिनो के अनुभव का प्रभाव है। उसकी विरासत आपके लिए किस काम की ? आप बौद्ध धर्म में जरूरी सुधार कर बौद्ध प्रेरणा का शान्तिवादी बौद्ध धर्म क्यो नही चलाते ? हरएक धर्म मे कुछ-न कुछ सडा हुआ भाग रहेगा ही। उसे दूर कर केवल धर्मानुभाव की बुनियाद पर सदाचारमूलक बुद्धिवादी धर्म आपने चलाया तो चीन का, एशिया का और दुनिया का कल्याण ही होगा। बौद्ध धर्म आपके कार्य मे विघ्नरूप नहीं, सहायरूप ही होगा। आखिरकार सामाजिक न्याय हासिल करना और उच्च नीच का भेद भूलकर शोषण को नेस्तनाबूद करना ही तो आपका उद्देश्य है। पुनीत बौद्ध धर्म इस कार्य मे उपयोगी ही साबित होगा।

जो युग-कार्य चीन से होना चाहिए था और चीन नहीं कर रहा है, वह भारत के द्वारा ही होगा। भगवान की योजना कौन समझ सकता है ।

१४-४-'५९

बौद्ध धर्म को देश से निकाल नहीं दिया, उसे हजम करके अपने अन्दर समा लिया है। सब अच्छी चीजें यथासमय आत्मसात् करने की अद्भुत शक्ति हिन्दू-धर्म में है। जो पन्थ या फिरके हिन्दू-धर्म से लडकर अलग हो जाते हैं, उनकी भी अच्छी-अच्छी चीजें हिन्दू-धर्म अपना लेता है और फिर अलग होने वाले पन्थ आहिस्ता-आहिस्ता हिन्दू-धर्म में समा जाते हैं और दुनिया कहती है कि ये सब हिन्दू-धर्म की ही शाखाएँ हैं। बौद्ध, जेन, शाक्त, शैव, वैष्णव, सिख ब्राह्म, आर्य आदि अनेक प्रवृत्तियाँ इस प्रक्रिया की साक्षी हैं।

बुद्ध भगवान को जिस गया के क्षेत्र मे बोधि-ज्ञान प्राप्त हुआ, वहाँ के नेरंजरा या फल्गु जैसे स्रोत अपने पात्र में रेत के ऊपर से नहीं बहते, रेत के नीचे से बहते हैं। बौद्ध-धर्म आज इन्हीं नदियों के जैसा हमारे बीच अन्तः स्रोत के रूप में बहता है। प्रयागराज में जहाँ गगा-यमुना का संगम है, वहाँ बहती है **'मध्ये गुप्ता सरस्वती'** भी। इसीलिए उस तीर्थ को त्रिवेणी कहते है। जैन और वेदान्त के साथ हमारे यहाँ बौद्ध स्रोत भी गुप्त रूप मे बहता है। बुद्ध भगवान दश अवतारों में से एक हैं। इतना ही नहीं, वे ही वर्तमान अवतार हैं। बाकी आठ अवतार भूतकाल-ग्रस्त हो गये और दसवाँ अभी आया नहीं है।

२१-५-'५६

बौद्ध धर्म हमारे देश का चीज है। भारतीय वटवृक्ष की एक टहनी है, कोई परदेशी धर्म नहीं है। (कोई भी सद्धर्म कहीं भी परदेशी धर्म नहीं हो सकता।) हमारे ही देश की ईजाद बाहर जाकर फिर से घर आ रही है।

इसमे भी सीलोन (सिंहल द्वीप) ब्रह्मदेश और कम्बोडिया के धर्मोपदेशक आकर थेरवादी बौद्ध धर्म का प्रचार कब से कर रहे हैं।

अब जापान के महायानी बौद्ध भिक्षु यहाँ आकर हमारी ही मदद से बुद्ध-मन्दिर बनवा रहे हैं और बुद्ध धर्म का प्रचार कर रहे हैं। हम उनका स्वागत करें, उन्हें हर तरह की मदद करें और लोगों को अपनी तरफ से घर की भाषा मे बौद्ध धर्म समझायें।

एशिया का सारा-का-सारा पूर्व भाग बौद्ध धर्म के असर में आया था, आज भी है। लंका, ब्रह्मदेश, सियाम, कम्बोडिया आदि दक्षिण और दक्षिण-पूर्व एशिया के लोग थेरवादी बौद्ध हैं।

जैसे ईसाइयों में रोमन कॅथलिक और प्रोटेस्टंट, ये दो भेद हैं और दोनों छिपे तौर पर अन्दर-अन्दर तनाजा चलाते हैं, वैसे ही बौद्धों में थेरवादी और महायानी ऐसे दो भेद हैं, जो एक-दूसरे से मतभेद रखते हैं नेपाल, सिक्किम और भूतान में महायानी बौद्ध पाये जाते हैं। तिब्बत तो महायानी बौद्ध धर्म का घर ही है। चीन, मंगोलिया, कोरिया, जापान यह सारा इस महायानी बौद्ध धर्म का क्षेत्र है।

बुद्धगया, राजगृह, सारनाथ ये दोनों पन्थों के पुण्यस्थल हैं। कुशिनारा, लुम्बिनी, सांची आदि स्थान भी उतने ही पवित्र माने जाते हैं।

अब हम इतिहास पढ़कर समझ गये हैं कि बुद्ध भगवान ने अपने प्रदेश में पैदल विहार करके उस प्रान्त को ही 'विहार' नाम दे दिया। अपनी निर्हेतुक धर्म-चर्चा को रोक लिया। समाज में नीति-धर्म का प्रचार किया और दलितों का उद्धार किया। उनके उपदेश ने नवजागृति पैदा की और उनके शिष्यों ने बड़े उत्साह के साथ देश-देशान्तर में उसका प्रचार किया।

इस तरह धर्म-प्रचार का मिशनरी काम सारी दुनिया में सबसे पहले बौद्धों ने किया। ईसाई-धर्म और इस्लाम ने उसी प्रवृत्ति का अपने-अपने ढंग से अनुकरण मात्र किया।

ऐसा यह बौद्ध धर्म फिर से हमारे बीच अपना कार्य कर रहा है! यह जरूरी नहीं कि हमारे देश में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए परदेशी मिशनरी आयें। अपना यह काम हमें ही करना चाहिए। लेकिन देश-देशान्तर के मिशनरियों से हम मदद अवश्य ले सकते हैं। वे लोग यहाँ आकर हमारी जनता को कुछ सिखायेंगे तो बहुत कुछ सीखेंगे भी। इसके लिए सामाजिक रूढ़ियों को बदलना होगा। अनेक भ्रमात्मक कल्पनाओं को छोड़ना पडेगा और समन्वय का सार्व-भौमत्व स्थापित करना पड़ेगा।

२३-४-'५७

सनातनी हिन्दू-धर्म ने बौद्ध धर्म के सद्-अंश का पूरा-पूरा स्वीकार किया, इतना ही नहीं, प्रत्यक्ष बुद्ध भगवान भी नवम और चालू अवतार के रूप में स्वीकार किया, यहाँ तक कि हर एक सनातनी किसी भी धार्मिक विधि के पहले जब संकल्प बोलता है तब 'जम्बुद्वीपे भरतवर्षे भरतखण्डे बौद्धावतारे रेवाया: उत्तरे या दक्षिणे तीरे' इस तरह स्थलकाल का नाम लेकर ही प्रारम्भ करता है।

महाराष्ट्रियों ने तो एक कदम आगे जाकर तय किया कि कृष्णावतारी श्री विष्णु— विट्ठ-- विट्ठल ही बुद्ध भगवान बनकर पंढरपुर से अपना अवतार-कार्य चला रहे हैं। आज महाराष्ट्र में (गुजरात, कर्नाटक में भी) जितने भी विट्ठल-भक्त हैं, वे सब एक तरह से बुद्धावतार के उपासक ही हैं।

बौद्ध धर्म की खोज में चीन देश के कई प्रवास-वीर भारत आये और यहाँ बौद्ध धर्म सीखकर, असंख्य पोथियाँ और मूर्तियाँ लेकर स्वदेश चले गये। ऐसे लोगों की प्रार्थना पर कई भारतीय बौद्ध हिन्दुस्तान के बाहर धर्म-प्रचार करने गये। वहाँ उन्होंने भारतीय संस्कृति के उपनिवेश चलाये। हमारे लोग साइबेरिया याने शिबिर देश तक पहुँचे। इधर आंकोरवाट, आंकोरथाम की तरफ जाकर उन्होंने भारतीय संस्कृति के विजय-स्तम्भ के रूप में उपनिवेश चलाये।

७. उदार गुरुमत

१. गुरु नानक का स्मरण

(कुछ माल कम) पाँच सौ बरस पहले कार्तिक पूर्णिमा के दिन पजाब मे गुरु नानक का जन्म हुआ। इन पाँच मो वर्षो मे भारत के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन मे कितना बडा परिवर्तन हो गया है। जब गुरु नानक का जन्म हुआ, तब पठानो का राज क्षीण हो रहा था। मुगल राज का उदय नहीं हुआ था। आज मुगल राज गया। उसी के विनाश के साथ पैदा हुए मराठा राज और सिख-राज भी आज नहीं रहे। तीनो को हजम करने वाला वणिक्शाही ब्रिटिश राज भी गया और अब भारत मे विविधधर्मी, विविधभाषी, विविधवशी सस्कार-सम्पन्न प्रजा का राज शुरू हुआ है।

राजाओ के राज्यो मे जो ऐतिहासिक पाठ हमने सीखे, वे अब काम के नही रहे। जब तक इन पाठो को हम न भूलेगे प्रजा राज मजबूत नहीं होगा। आज तक तो राज्य-परिवर्तन ही होता रहा, पर अब जीवन परिवर्तन के दिन आये हैं और इस जीवन परिवर्तन की बुनियाद मे बडा ही क्रान्तिकारी मानस-परिवर्तन है।

यह मानस-परिवर्तन हिन्दुस्तान के कोने कोने तक, गाँवों-गाँवो तक अभी पहुँचा नहीं है। इसीलिए समाज परिवर्तन करने मे कठिनाइयाँ महसूस होती हैं, और प्रजा का राज स्थापित होने मे देर लग रही है।

हरएक धर्म की अपनी शास्त्र-ग्रन्थो की पूँजी होती है। इन धर्म-ग्रन्थों के बल पर ही धर्मो का राज आज तक चला। अब ऐसे दिन आये हैं कि धर्म-ग्रन्थों का राज भी टूट रहा है। शास्त्रों द्वारा किया हुआ जीवन-सगठन हजारों बरस चलकर अब खोखला हो रहा है।

पुरानी राजनीति, पुराना इतिहास और पुराने धर्मशास्त्र अब कालग्रस्त हो गये हैं। उनका स्थान अब प्रजा-जीवन मे नही, किन्तु अजायबघरों में है।

ऐसे विराट् परिवर्तन में अगर पुरानी कोई चीज आज काम आ सकती है, तो वह है अध्यात्म की भूमि पर सदाचार का प्रचार करने वाली सन्तवाणी। इसी सन्त-वाणी के बल पर नयी समाज-रचना करने की कोशिश गुरुनानक ने और उनकी गद्दी पर बैठे हुए गुरुओ ने की है।

नाम-माहात्म्य, सदाचार, समाज-सेवा और मानव की प्रतिष्ठा ही गुरु नानक के चलाये हुए धर्म का सार है।

गुरु नानक हिन्दू थे। हिन्दू-धर्म, हिन्दू-संस्कृति और हिन्दू-समाज-रचना तीनों को स्वीकार करके उनमें परिष्कार करने का काम इन गुरुओ ने किया।

इसीलिए मैं सिख-धर्म को हिन्दू-धर्म का जामन कहता हूँ। इन गुरुओं को यह खयाल कभी नहीं रहा कि यह जामन दूध से अलग रहे। जामन अगर दूध में घुल-मिल नहीं जायगा तो जामन का उपयोग ही क्या ?

जामन दूध को बिगड़ने से बचाता है। वह दूध का स्वादिष्ट, मधुर दही बनाता है, जिसमें से हम मक्खन निकाल सकते हैं। सन्त-वाणी ही हिन्दू-धर्म का सच्चा और सनातन जामन है। इसी के बल पर सर्व-कल्याणकारी समाज-रचना हो सकती है।

तालीम-प्राप्त संगठित सेना राष्ट्र का रक्षण करती है। इसीलिए राष्ट्र ऐसी सेना की इज्जत करता है। अगर सेना कहे कि हम ही एक अलग राष्ट्र हैं, तो वह कमजोर होगी और राष्ट्र भी अरक्षित होगा। इसी तरह सन्त-मत चलाने के लिए जो शिष्यमण्डल तैयार होता है, वह एक तरह से समाज-सुधार के लिए, समाज की जीव-शुद्धि के लिए स्थापित धर्म-सेना है। उसका अलग धर्म हो सकता। हिन्दू-समाज की सेवा के लिए और चारित्र्य-शुद्धि के लिए सिख-सम्प्रदाय की स्थापना हुई। अपना संगठन और अपनी तालीम मजबूत करने के लिए सिख लोग अगर अपनी जमात को अलग मानें, तो वह बात ध्यान में आ सकती है। लेकिन सिख अगर अपने को अलग राष्ट्र मानें, अपना धर्म अलग बना दे, तो उनकी सारी शक्ति क्षीण हो जाएगी।

शायद अंग्रेजों ने सिखों को सिखाया कि वे हिन्दुओ से अलग हो जायँ। जब अंग्रेजों का साम्राज्य तोडने के लिए जन-शक्ति संगठित होने लगी, तब अंग्रेजो ने हिन्दू और मुसलमानों की नयी जड़ पकड़ने वाली सांस्कृतिक एकता पर प्रहार करना शुरू किया। अपने हाथ के अधिकार प्रजा को सौंपने की नौबत आयी, तब अंग्रेजो ने अधिकार के बँटवारे की बात निकाली और हिन्दू-मुसलमानों के बीच खाई पैदा की और बढ़ायी।

बँटवारे का सिद्धान्त ही यह था कि मुसलमानों को उनके हक से ज्यादा दिया जाय और हिन्दुओं को कम। ऐसी हालत मे हिन्दुओं ने भी मान लिया कि सिख अगर अपने को अलग बनाकर अधिकार का कुछ हिस्सा पा लेंगे तो इतने अंश तक हम बच जाएँगे।

हम बचे तो नहीं। देश का बँटवारा हो गया। लेकिन सिखों की अलगाव की भावना मजबूत हो गयी।

अब जब देश में प्रजा का राज हो गया है, तब हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, हरिजन, सवर्ण ऐसे भेदों के लिए कोई अवकाश रहा ही नहीं।

एक और बात है। सिख-समाज जब अपना अलग संगठन करता है, तब

उसका धर्म-प्रचार का काम, सदाचार-विस्तार का काम, जामन का काम बन्द हो जाता है।

ईसाई-धर्म का यही हाल हुआ है। ईसाई मिशनरी धर्म-प्रचार के नाम से अपनी जमात की संख्या बढ़ाते हैं। लेकिन ईसाइयत को क्षीण ही करते हैं।

जामन का जामनपन जब नष्ट होता है। तब जामन सड़ने लगता है।

सिख गुरुओ ने सत्-नाम का प्रचार करते हुए मानवता के आधार पर जात-पाँत तोडने की कोशिश की। आज सिख-समाज मे जाति-भेद मजबूत हो रहा है। जब नमक ही अलूना बन जाता है, तब उसको तेज करने के लिए क्षार कहाँ मे लायें ?

बॅकवर्ड क्लासेज कमीशन का काम करते हुए सिख-समाज की हालत को मैं अच्छी तरह समझ सका हूँ। समाज के नेताओं और नुमाइन्दों ने ही हमें बताया कि सिख-समाज में जाति का जोर कितना है। हमने देखा कि सिख और दूसरे हिन्दुओं के बीच अगर जाति एक है तो शादियाँ हो सकती हैं। लेकिन एक ही सिख-समाज के अन्दर अगर जाति का अन्तर बहुत है, तो शादी होना मुश्किल है। इस बात से पता चलता है कि जाति-भेद का असर कितना गहरा है।

अगर सिखों ने जात पाँत का पाखण्ड नहीं छोडा, तो मैं उनकी जमात को अलूना नमक कहूँगा। जिन गुरुओ ने अमृतसर के अपने मन्दिर की स्थापना के समय एक मुसलमान फकीर को बुलाया और उनके आशीर्वाद से गुरुद्वारे की स्थापना की, उनकी उदारता सारे सिख-समाज मे आनी चाहिए।

गुरु नानक देश विदेश जहाँ भी घूमे, हिन्दू मुसलमान सच्चे सन्तो ने उनका आदर ही किया। उनके मन मे कोई भेदभाव था ही नहीं। ईश्वरभक्त सब एक-से एक हैं, एक ही हैं।

गुरुनानक ने भारत-भ्रमण तो किया ही था, लेकिन वे भारत के बाहर पश्चिम की ओर भी काफी यात्रा कर चुके थे। जहाँ गये, ईश्वर-भक्ति, हृदय-शुद्धि और सदाचार का प्रचार करते रहे। उन्हें कोई अलग धर्म या पन्थ का प्रचार नहीं करना था। धार्मिकता का, भक्ति और सदाचार का ही प्रचार उन्हें करना था। इसीलिए वे जहाँ गये, उनका आदर और स्वागत हुआ।

उन्होंने और उनके उत्तराधिकारी गुरुओं ने नामदेव जैसे अनेक सन्तों की वाणी संग्रहीत की और ग्रन्थसाहब में उसे स्थान दिया। उसमें खूबी यह है कि जो वाणी उन्हें शुद्ध लगी, पसन्द आयी, उसी का संग्रह किया है। सन्तों के नाम पर चले हुए भले-बुरे तरह-तरह के भजन पाये जाते हैं। इन गुरुओं ने सूक्ष्म विवेक के साथ इन भजनों को चुना और ग्रन्थसाहब में उन्हे स्थान दिया।

गुरु नानक के जीवन की एक खास बात हमारा ध्यान खींचती है। उनके

शिष्य उन्हें काफी धन भेट में देते थे। लेकिन उस धन को वे अपने जीवन-निर्वाह के काम में नहीं लाते थे। जितनी भी भेट चढ़ती लंगर में, समाज-सेवा मे लगा देते और अपना निर्वाह अपने परिश्रम से खेती करके ही चलाते। आजीविका के लिए परिश्रम करना, पसीना बहाना, यही सच्चा निष्पाप जीवन है। दक्षिणा पर जीना ?

क्या गुरुनानक की वाणी को शिरोधार्य समझने वाले उनके शिष्य, आज के सिख जातिभेद तोड़कर, धर्मभेद को भूलकर, शुद्ध जीवन द्वारा धर्म का प्रचार करने के लिए देश-देशान्तर जाना पसन्द करेंगे ? संस्था-स्थापन करने, किताबे बॉटने और संख्या बढाने से धर्म की कितनी सेवा होगी ? यहाँ तो 'चिराग से चिराग जलता है' का न्याय है।

अब तो धर्म के प्रचार और सदाचार के विस्तार का काम जितना पुरुषो से होता है, उससे अधिक स्त्रियो द्वारा होने के दिन आये हैं। क्या सिख महिलाओ मे यह धर्म-जागृति आयेगी ?

संस्थाएँ खोलकर हम व्यावहारिक शिक्षा का प्रचार तो बहुत करते हैं। गुरुद्वारे के जरिये ग्रन्थसाहब का पठन-पाठन बढा सकते हैं। लेकिन धार्मिकता का प्रचार तो धर्म-तेज, उदारता और सर्व-सेवा से ही हो सकेगा। गुरुनानक ने जिस ढंग से धर्म-प्रचार किया, उससे हम बोध ले सकते हैं। उनके जैसे सन्त अभी भी बासी नहीं हुए हैं, न कभी होंगे। सन्त-वाणी ही हमारी अजर-अमर सनातन संस्कृति है।

१८-११-'५६

२. गुरुमत की विजय हो

नानकदेव का अवतार विश्व-मानव के लिए था। जिन्होंने उनके उपदेश और मार्गदर्शन को माना, उन पर यह खास जिम्मेदारी आती है कि वे दुनिया के सब लोगों को बन्धुभाव से अपनाये और मानव-जाति के सिख और गैरसिख, ऐसे दो टुकडे न बनायें। ऐसे टुकडे बनाने से गैरसिखों की मानव-संख्या बहुत बडी होती है और सिख लोग एक छोटी-सी सकुचित कौम बन जाती है। सबको अपनाना ही इस धर्मोपदेश की सफलता का एकमात्र लक्षण है।

गुरुनानकदेव के उपदेश को जिन्होंने स्वीकार किया, वे सबके सब एक-से पवित्र नहीं हुए हैं। कोई आगे बढे हैं, कोई कम बढे हैं, कोई नाममात्र के सिख हैं। तो, जो लोग हृदय से सिख हैं, लेकिन नाम के नहीं हैं, उनको अस्वीकार क्यो किया जाय ? बीज में केवल अंकुर ही नहीं, सारा पेड़ छिपा रहता है। अनुकूल सयोग पाने पर सारा-का-सारा पेड़ बीज में से धीरे-धीरे प्रकट होता है। इसी तरह हरएक मनुष्य के हृदय में गुरुमत या सन्तमत छिपा है। ईश-कृपा होते ही वह प्रगट

होगा। इस तरह जो भी मनुष्य किसी-न-किसी दिन हृदय से सिख होने वाला है उसे आज हम पराया क्यो कहे ? हम उसे पराया कह सकते है जिसके लिए हमे विश्वास है कि वह सद्गुरु के प्रभाव मे कभी आने वाला नही है। जिसके सामने गुरु की शक्ति हार खाने वाली है। गुरुमत की शक्ति के बारे मे हम इतने अश्रद्धालु क्यो बने ?

जब नानकदेव ने दुनिया की मुसाफिरी शुरू की तब वे जानते थे कि दुनिया मे मजहब अनेक है। एक-एक मजहब के अभिमानी लोग भी दुनिया मे होते है जो अपने धर्मगुरु को छोडने को तैयार नही होते। लेकिन ऐसे लोगो के पास भी नानकदेव पहुँचे। उनके मन मे यह कभी नही था कि कोई भी अपने अपने गुरुओ का इनकार करे और केवल उन्ही की बात माने।

सिख लोगो मे भी दस गुरुओ की बानी नानक की ही बानी कही जाती और मानी जाती है। इसी तरह समस्त मानव जाति मे हर युग और हर जाति मे जितने भी सद्गुरु हुए हैं, सब नानक ही हैं।

जब पवित्र ग्रन्थसाहब का मै विचार करता हूँ तब गुरुमत की उदारता देखकर चकित रह जाता हूँ। गुरुओ ने अपने ग्रन्थसाहब मे उन अनेक सन्तो के वचन सग्रहीत किये है, जो उनके जमाने मे सद्गुरु के रूप मे पहचाने जाते थे। मुझे यह देखकर बडी खुशी होती है कि महाराष्ट्र के भक्तश्रेष्ठ दर्जी साधु नामदेव की वाणी को भी ग्रन्थसाहब मे अभेदभाव से स्थान मिला है। नामदेव महाराष्ट्र के सन्त थे। भगवान विट्ठल के अनन्य भक्त थे। भक्ति और सदाचार का प्रचार करने मे उन्होने अपना सारा जीवन बिताया। ऊँच-नीच भाव के वे खिलाफ थे। सर्वत्र भगवान को ही देखने की साख उन्हे उनके सद्गुरु से मिली थी। एकेश्वरी भक्ति का और सदाचार का प्रचार करते हुए वे पजाब पहुँचे। वहाँ की जनता से बाते करते हुए हिन्दी का जो स्पर्श उन्हे हुआ उसी के बल पर उन्होने पजाब की सेवा के लिए अभगो की रचना की। नानक के जमाने मे नर्मदा नदी के दक्षिण के प्रदेश को 'दक्खन' कहते थे। जो हिस्सा नर्मदा नदी के उत्तर मे था, उतने ही प्रदेश को उन दिनों 'हिन्दुस्तान' कहते थे। नामदेव की वाणी ज्यादातर मराठी में है। उत्तर भारत की जनता के लिए उत्तर की भाषा मे नामदेव ने जो भक्ति-रचना की, उसे नामदेव की गाथा मे 'हिन्दुस्तानी पदे' कहा है। उस रचना मे मराठी के शब्द भी पाये जाते हैं। नामदेव मे भाषा का अभिमान नहीं था, आग्रह नही था। आग्रह था केवल सदाचार का और भगवद्भक्ति का। उस जमाने के विचार से वही भाषा हिन्दुस्तानी थी, जो नर्मदा के उत्तर के लोग समझते हैं। (उस भाषा में नामदेव की जन्मभाषा मराठी के शब्दों को भी स्थान था) भक्तो की भाषा सर्वसंग्राहक होती है। वह भाषा प्रेम-भक्ति का प्रचार करती है। न

कि बहिष्कार बुद्धि का।

जिस गुरुमत ने हमारे एक अथवा अधिक सच्चे सन्तों को स्वीकार किया, वह गुरुमत हमारे लिए शिरोधार्य है। नानकदेव आदि गुरुओं के हृदय में जो उदारता थी, उससे कम उदार हृदय लेकर हम न घूमें या दुनिया की सेवा करें।
२-१२-५८

८. विश्वासी ईसाई-धर्म

१. धर्म-परिवर्तन का सवाल

जब एक बार किसी ने यह कहकर मुझे उकसाया कि "हिन्दू-धर्म एक 'धर्म' नहीं है", तो मैंने उत्तर दिया : "एक ही पैगम्बर धर्मग्रन्थ या एक धार्मिक विश्वास पर अधिष्ठित कोई धार्मिक मत है, तो उसे मै एक पन्थ ही कहूँगा। धर्म तो पैगम्बर, धर्मग्रन्थ या मत से ऊँचा होना चाहिए। धर्म जीवनव्यापी होना चाहिए। इसमें सब पैगम्बर, सब धर्मग्रन्थ और सब मत समा जाने चाहिएँ। इसमे कुछ ऐसे सिद्धान्त और नियम हों, जिनकी सहायता से हम इन सबको समझ सकें।" इसलिए मैंने कहा : "हिन्दू धर्म एक धर्म है क्योंकि वह किसी एक पैगम्बर से बँधा नही है। इसमे कई पैगम्बर है। हिन्दू धर्म ने संसार के किसी भी महान् पैगम्बर से इनकार नही किया है। संसार पैगम्बरों से कभी खाली नही रहेगा। जब तक संसार चलता रहेगा पैगम्बर एक के बाद एक आते ही रहेंगे। यहाँ मुझे कुरान की एक आयत याद आती है जिसमें कहा गया है : 'ऐसा कोई जन समुदाय नहीं जिसमें कोई पैगम्बर न हुआ हो।' सब देशो में सब जातियों मे और सब कालो में ईश्वर की ओर से पैगम्बर भेजे जाते हैं। यह हमारी मान्यता है।"

लेकिन हरएक धर्मग्रन्थ का यह दुर्भाग्य रहा है कि लोगों ने उसका जरूरत से ज्यादा शाब्दिक अर्थ लगाया। कहते हैं कि इस्लाम का विश्वास है कि मुहम्मद आखिरी पैगम्बर था। लेकिन अहमदिया लोग इसका यह अर्थ लगाते हैं कि मुहम्मद उस समय का आखिरी पैगम्बर था। किसी युग का सबसे नया पैगम्बर उस युग का आखिरी पैगम्बर ही होगा। मै जानता हूँ कि कोई भी पुस्तक जब धर्म-ग्रन्थ बन जाती है, तब उसका मनमाना अर्थ निकाला जाता है। यही हाल गीता का तथा सभी धर्म-ग्रन्थों का शाब्दिक अर्थ लगाने वाले भाष्यकारों के हाथो हुआ है। लेकिन कुरान की जिस आयत का मैंने जिक्र किया, उससे मुझे बहुत ढाढस बँधा है। हर-हमेशा

पैगम्बर रहेंगे। इसलिए हम सब पैगम्बरों की शिक्षाओ को स्वीकार कर लेते हैं; किन्तु उन्हें हम अपने हृदयों से समझते हैं। हम विश्वास करते हैं कि हरएक हृदय अच्छा है, क्योंकि वह भगवान का मन्दिर है। इसलिए हर एक हृदय में यह गुण, यह प्रेरणा है कि वह पैगम्बरो के आध्यात्मिक सन्देशो को समझे। लेकिन यह समझ-बूझ, जैसे-जैसे मनुष्य बढता है, खुलती जाती है। जब मैं युवक था, तब मैं अपने धर्म ग्रन्थों को अलग ही रूप मे समझता था। अब, जब मै वृद्ध हो गया हूँ, उन्हे मैं अधिक व्यापक रूप मे अधिक आध्यात्मिक अर्थों मे समझता हूँ। तथापि सही यह है कि प्रारम्भिक समझ ने हो मुझे वर्तमान समझ की ओर पहुँचने में सहायता की है। इसलिए उस पहली समझ के लिए मेरे मन मे श्रद्धा के भाव हैं। इस प्रकार हमारी समझ लगातार बढती ही जाती है।

मत-परिवर्तन के बारे मे मै यह कहूँगा कि मेरी जानकारी में ऐसा एक भी क्षण नहीं है, जब मेरा 'मत परिवर्तन' न होता हो। मेरा सम्पूर्ण जीवन मत-परिवर्तन का एक क्रमिक विकास है। पहले-पहल मै किसी बात को मोटे रूप में समझता हूँ। फिर जब मै उसे अधिक अच्छी तरह और व्यापक रूप मे समझने लगता हूँ, तो पहले का वह संकुचित मत बदल जाता है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि मत-परिवर्तन को एक लगातार चलने वाली आध्यात्मिक प्रक्रिया के रूप मे मानना चाहिए। उन सभी छोटी बडी पुस्तकों और व्यक्तियों का मै कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मेरी सहायता की है और मुझे प्रभावित किया है। महान् सन्त दत्तात्रेय ने कहा है कि अपने जीवन मे उन पर २४ गुरुओं का प्रभाव पडा है। वे सभी मनुष्य नही थे। कुछ पक्षी और पशु भी थे। इस प्रकार 'मत परिवर्तन' लगातार चलने वाली चीज है। नैतिक पुनःशस्त्रीकरण (मारल रि आमामेन्ट) समाज के लोग हमेशा 'परिवर्तन' की बाते करते हैं। लेकिन उन्होंने परिवर्तन की कल्पना को एक खास नियम मे बाँधकर ठोस बना दिया है। वे कहते है कि 'परिवर्तन' जिन्दगी मे सिर्फ एक ही बार होता है। लेकिन मै समझता हूँ कि यह लगातार चलने वाली एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है।

लेकिन मत-परिवर्तन के अनेक पहलू है। इसके सामाजिक और राजनीतिक पहलू है। कुछ लोग सख्या मे विश्वास करते है और बताना चाहते हैं कि उन्होंने इतने लोगो का मत परिवर्तन कर डाला है। किन्तु ऐसे मत परिवर्तन का अर्थ सिर्फ 'लेबल' बदलना होता है, जैसे कि राजनीति मे कुछ लोग सिर्फ इसलिए काग्रेस मे शामिल हो जाते है और काग्रेस के अनुशासन को स्वीकार करने को तैयार हो जाते है क्योकि चुनाव मे खडे होने के लिए उन्हे काग्रेस टिकट चाहिए। इस प्रकार 'लेबल' बदलना राजनीति मे शायद आवश्यक हो, लेकिन मैं नही मानता कि इसमे कोई आध्यात्मिकता है। अपनी सख्या को बढाने के कई तरीके हैं, और कुछ हालातो

में संख्या बढ़ाना लाभप्रद भी होता है। आप संख्या की मदद से कई बातें कर सकते हैं— इतने लोग आपके पक्ष में हैं, इतने लोग विपक्ष में। आज संसार में संख्या का ही राज्य है। इसलिए लोगों में यह होड़-सी है कि अपनी संख्या को बढ़ाया जाय। लेकिन उसे मैं एक आध्यात्मिक प्रक्रिया नहीं मानता। इस मत-परिवर्तन या धर्म-परिवर्तन को लेकर आज कई लोग सामाजिक और राजनीतिक दृष्टिकोणों से बहुत चिन्तित हैं। लेकिन आध्यात्मिक दृष्टिकोण से मैं इसे कोई महत्त्व नहीं देता।

मैं आज जो कुछ हूँ, वह मैंने भारतवर्ष से, भारतीय सन्तों और मुनियों से प्राप्त किया है। उनका मुझ पर बहुत प्रभाव पडा है। भारतीय धर्मग्रन्थों ने भी मेरी बहुत सहायता की है। लेकिन सन् १९२४ में भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन में जब मैं पहली बार जेल गया, तो वहाँ मुझे बाइबिल, कुरान और अन्य धर्म ग्रन्थों का विशेष अध्ययन करने का मौका मिला। ईसा के व्यक्तितत्व का मुझ पर बहुत बड़ा असर हुआ। मुझे उनके व्यक्तितत्व के प्रति और ईश्वर में उनके विश्वास के प्रति अत्यन्त श्रद्धा है। मुझ पर उनकी शिक्षाओं और उनके शहीदपन का बहुत ज्यादा प्रभाव पड़ा है। इसलिए सन् १९२४ से मैं अपने को ईसाई कहता आया हूँ और 'ईसाई' शब्द का मेरा अपना अर्थ है। मैंने कभी ईसाइयों से यह नहीं चाहा कि वे मुझे ईसाई कहें ऐसा मैं चाहूँ भी क्यों ? उनके विचार भिन्न हो सकते हैं। अपने-अपको ईसाई कहलाने से मेरा कुछ लाभ या नुकसान नहीं होगा। लेकिन अपने हृदय में अपने-आपको ईसाई ही मानता हूँ। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं अब हिन्दू नहीं रहा। ईसा के उपदेशों और शहीदपन से मैं प्रभावित हुआ हूँ और उन्होंने उन आध्यात्मिक पाठों में मेरे विश्वास को पक्का किया है, जिन्हें मैं बचपन से सीखता आया हूँ, लेकिन यदि कोई मुझसे पूछे : "क्या आप अपने को ईसाई कहते हैं" तो मैं कहूँगा : "मैं जन्म से हिन्दू हूँ और हिन्दू धर्म मे ही मेरी शिक्षा-दीक्षा हुई है, लेकिन 'ईसाई' शब्द के अपने अर्थ में 'ईसाई' भी हूँ। पर यदि कोई कहे कि ईसाई होने के लिए मुझे हिन्दू-धर्म छोड़ना पडेगा, तो मैं इसे स्वीकार नहीं करूँगा।"

ईसा का जन्म यहूदी कुटुम्ब में हुआ था, यह एक ऐतिहासिक सत्य है। उन पर यहूदियों के संस्कार पड़े और यहूदियों के धर्म-ग्रन्थों को उन्होंने स्वीकार किया। लेकिन उनमें उन्हें कुछ कमियाँ दिखाई दीं, इसलिए उन्होंने अपनी तरफ से उनमें कुछ जोड़ा। वे अपने उपदेशों के साथ आगे आये। उनके अधिकांश शिष्य यहूदी थे और प्रभु ईसा के उपदेशों के अनुसार चलना चाहते थे। इसलिए यहूदी-धर्म (जुडाइज्म) उनके लिए पुराना वसीयतनामा (ओल्ड टेस्टामेंट) या धर्मग्रन्थ बन गया और ईसा के उपदेशों का ग्रन्थ उनका नया धर्मग्रन्थ (न्यू टेस्टामेन्ट)। ईसा यह नहीं चाहते थे कि यहूदी-धर्म से जो वसीयत (संस्कार) उन्हें मिली थी,

उसे नष्ट कर दें। उसके प्रति उनके मन में श्रद्धा थी। परन्तु उसे उन्होंने पूरा-का-पूरा स्वीकार नहीं किया। उसमे से कुछ चीजें उन्होंने लीं और बाकी छोड़ दीं। आप किसी परम्परा को पूरी-की-पूरी अस्वीकार नहीं कर सकते-ठीक उसी तरह, जिस तरह आप अपने शरीर, अपने परिवार या अपने कुटुम्बियों को त्याग नहीं सकते। आप जिस संस्कृति में पैदा हुए है, उसे त्याग नहीं सकते, न अपनी धार्मिक परम्परा को ही। लेकिन आप उसमे सुधार, परिवर्तन या विकास जरूर कर सकते हैं। उसमें कुछ जोड़ सकते हैं या उसमें से कुछ घटा सकते हैं। इसी प्रकार ईसा ने अपनी यहूदी परम्परा में अपने अनुभवों और प्रेरणाओं को मिलाकर उसे एक सम्पूर्णता प्रदान की। यानी शुरू-शुरू में ईसाइयों के पास प्राचीन वसीयत के रूप में यहूदी धर्मग्रन्थ थे ओर उन्हें सम्पूर्ण बनाने के लिए उनमें उन्होंने 'न्यू टेस्टामेन्ट' को जोड़ दिया। इसी प्रकार यदि ईसा चीन में जनमे होते, तो ईसाइयत का एक चीनी सस्करण बना होता।

यदि एक हिन्दू ईसाई बन जाता है— यदि मै ईसा के उपदेशों से इतना प्रभावित हुआ हूँ, कि अपने को ईसाई कहता हूँ— तो हिन्दू धर्म मेरे लिए ओल्ड टेस्टामेण्ट है। यह कोई बिलकुल नयी चीज आप लोगों के सामने पेश नहीं कर रहा हूँ। डॉ स्टेनले जोन्स ने यह बात पहले ही संसार के सामने रख दी है। कोई हिन्दू अगर इस प्रकार ईसाई बन जाता है, तो उसके लिए हिन्दू धर्म-ग्रन्थ — पुरानी वसीयत हो जाय और ईसाई उपदेश, यदि उनमे उसे अधिक रोशनी मिलती है तो, उसके लिए 'न्यू टेस्टामेन्ट' बन जाना चाहिए। एक स्वदेशी हिन्दू ईसाइयत में भी हिन्दू परम्परा में जनमें हिन्दू को सन्तोष होगा। लेकिन प्राय: होता यह है कि मिशनरी लोग कहते हैं : "आप अपनी पुरानी परम्पराओं को छोड़ दीजिए और यहूदी परम्परा को स्वीकार करके ईसाई बन जाइये।" इस यहूदी परम्परा का हमारे जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। हमें ईसाई-धर्म को यहूदी धर्म के द्वारा सिर्फ इसलिए पढ़ना पड़ता है, क्योंकि ईसा यहूदी थे।

जब मैं पूर्वी और पश्चिमी अफ्रीका गया, तब वहाँ कुछ मिशनरियों के साथ मेरी बातचीत हुई। मैंने उनसे कहा : "क्या आपने अफ्रीकियों की परम्पराओं का अध्ययन किया है ? मैंने अफ्रीका में यहाँ वहाँ कुछ ही महीने बिताये हैं। यह नहीं कह सकता कि मैं सब कुछ जानता हूँ। लेकिन मैं देखता हूँ कि ईश्वर के बारे में, जीवन की शुद्धता के बारे में, बलिदान के, प्रेम के, भलाई के बारे में उनके अपने कुछ विचार हैं। मैं संस्काररहित कहकर उनके इन सब विचारों का तिरस्कार नहीं कर सकता। यदि आप प्रेम के हेतु अपनी जान न्योछावर करते हैं, तो उसे मैं सबसे ऊँचा धर्म मानता हूँ। यदि यह बात उनमें है, तो मैं उन्हें असंस्कृत या अज्ञानी मानने को तैयार नहीं।" इसलिए मैंने उन मिशनरियों से कहा : "उनकी

अपनी परम्परा भोंडी और दीन हो सकती है; लेकिन अपूर्ण कहकर उसका तिरस्कार मत कीजिए। उसमें से कुछ बात लीजिए और उनमें कुछ जोड़कर उसे परिपूर्ण बनाइये। आप उन्हें अपने नाम बदलकर 'यहूदी' या 'ग्रीक' नाम ग्रहण करने को कहते हैं। मैं पूछता हूँ कि क्या यह जरूरी है ? क्या इतना काफी नहीं है कि आप ईसा के गुणों को और उपदेशों को उनके सामने रखें ? यदि ईसा का उन पर प्रभाव पड़ता है, तो बहुत अच्छा है। लेकिन आप उनके नाम और वेश-भूषा बदलने पर जोर क्यों देते हैं ?"

अफ्रीका के एक राज्य में मैं वहाँ के 'रेसीडेन्ट' का अतिथि था। उन्होंने मेरा कार्यक्रम तैयार किया। एक रविवार के दिन सुबह वे मुझसे कहने लगे : "माफ कीजिएगा, मुझे लगभग एक घण्टे के लिए उपासना के लिए गिरजाघर जाना है। वहाँ से लौटकर मैं आपको अन्य स्थानों पर ले जाऊँगा।" मैंने कहा : "आप मेरा बहिष्कार क्यों करते हैं ? आप गिरजाघर जा रहे हैं, तो मैं भी वहाँ चलने को तैयार हूँ।" रेसीडेण्ट महोदय को खेद हुआ; उन्होंने कहा : "मुझे मालूम नहीं था कि आप ईसाई हैं।" मैंने कहा : "मैं यह नहीं जानता। मैं 'हिन्दू' हूँ। लेकिन क्या आपको इसमें आपत्ति है कि मै आपके साथ गिरजाघर आकर ईसा के नाम पर अपनी प्रार्थना करूँ ? ईश्वर की उपामना मब मनुष्यों की भलाई के लिए उपासना है। क्या यह गलत है ?" वे मुझे गिरजाघर ले गये। मैं गिरजाघर में बैठा, सब लोगों की तरह मैंने भी घुटने टेके और मबके माथ मैंने भी प्रार्थना की। मैं उनके साथ गा नहीं सका, क्योंकि उस प्रार्थना के शब्द मुझे मालूम नही थे, लेकिन उनका अर्थ में खूब अच्छी तरह समझता गया। उन सबको आश्चर्य हुआ। वहाँ जो अफ्रीकी भाई बहन थे, वे मेरी ओर देखने लगे। फिर उन्होंने मुझसे प्रश्न-पर प्रश्न पूछना आरम्भ किया। मैंने उन्हे बताया कि मै 'हिन्दू' हूँ, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि मै 'ईसाई' नहीं हूँ। ईसाइयत मे जो अच्छाइयाँ है उन्हे मै स्वीकार करता हूँ, जो बुराइयाँ हैं, उन्हे मैं अस्वीकार करता हूँ। शायद मै 'सैक्रामेन्ट' (एक धर्म-विधि) का हिस्सा लेने से इनकार करूं, क्योंकि मै शराब नहीं पीता। दरअसल जब उन्होंने मुझे बूँद शराब दी, तो मैंने कहा : "माफ कीजिए, मैं आँख मूँदकर ईसाइयों की सूची मे शामिल होना नहीं चाहता। आप कह सकते हैं कि चूँकि मै सैक्रामेन्ट का हिस्सा लेने से इनकार करता हूँ, इसलिए मैं ईसाई नही हूँ। लेकिन मैं समझता हूँ कि मैं भी आपके जितना ही ईसाई हूँ।"

इसलिए पूरे विषय पर फिर से विचार करना होगा। हम ईसा को स्वीकार करने को तैयार हैं। हम ईसाई-धर्म को भी स्वीकार करते हैं। कई हिन्दुस्तानी लोग ईसाई— अच्छे ईसाई— बन गये है। यदि वे अपनी हिन्दू-परम्परा को कायम रखते हैं, उस परम्परा को जिसमें वे जनमे हैं— तो वे हिन्दू-ईसाई हैं। जैसे कि सिख हैं।

वे हिन्दू-परम्परा मे जनमे हैं। लेकिन हिन्दू-धर्म की सभी बातों को वे नही मानते।

मुख्य बात यह है कि प्रत्येक को स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह वही बात स्वीकार करे, जिसे उसका हृदय स्वीकार करे। जिस बात को उसका हृदय अस्वीकार करे, उससे वह भी इनकार कर सके। किसी प्रकार की रूढ़ियाँ न हों। दिल्ली की आबोहवा व बम्बई की आबोहवा मे बहुत अन्तर है। बम्बई की आबोहवा गीली और दिल्ली का सूखी है। इसका मतलब यह नही कि बम्बई की हवाएँ दिल्ली, या दिल्ली की बम्बई नही आ-जा सकती। दोनो जगह वही हवा है। फिर भी 'यह बम्बई की आबोहवा है' और वह दिल्ली की है, ऐसा हम कहते हैं। डॉक्टर प्राय: लोगो को हवा बदलने की सलाह देते हैं। यद्यपि हवाएँ मुक्त रूप से आती-जाती रहती हैं, फिर भी हरएक स्थान की अपनी एक आबोहवा होती है। यही बात धर्मो के बारे में है। हम सभी धर्मो को मानने को तैयार हो। उनमे जो जो बुराइयाँ हो, उनमे मनुष्य ने अपनी संकीर्णता के कारण जो कुछ जोड दिया हो, उन्हे हम स्वीकार न करे। जिस रूप मे ईश्वर धर्म की रचना करता है वह पवित्र होता है, जब मनुष्य उसमे कुछ जोड देता है तब वह अपवित्र हो जाता है। जिस प्रकार बादलो से छूटते समय वर्षा की बूँदे स्वच्छ रहती है, लेकिन नीचे आते ही हवा मे रहे कचरे से वे गन्दी हो जाती है। यही बात धर्मो के बारे मे है। हम इस तथ्य को समझे कि ईश्वर ने अपने ज्ञान मे मनुष्य के हृदय को सुन्दर और उदार बनाया है यद्यपि मानव-हृदय की सुन्दरता को समझने और महसूस करने मे प्राय कई वर्ष लग जाते हैं। सब धर्मो मे जो कुछ भी लेने लायक है, उसे तो हम ले ही मगर किसी धर्म की बातो को, जिन्हे हम अस्वीकार करते है उनके प्रति भी हम सम्मान के भाव रखे।

किसी धर्म को मानने वालो की सिर्फ संख्या बढाने का जो प्रयत्न किया जा रहा है, माफ कीजियेगा, उसे मै नीचता कहूँगा। उसमे कतई आध्यात्मिकता नही है। धर्म परिवर्तन या आध्यात्मिक परिवर्तन तो निरन्तर चलता ही रहता है। इसे हम कुछ ही लोगो तक सीमित न करे, यह तो हरएक के लिए जरूरी है। मैं तो मानव धर्म को मानता हूँ और यदि मै उसे स्वीकार करता हूँ तो मुझे यह भी मानना होगा कि सभी मनुष्य उसी परिवार के सदस्य है मेरा कर्तव्य है कि मेरे सम्पर्क मे जो भी आये उसे मै अपने मत का बनाऊँ, किन्तु उसे छेड़ूँ नही। किसी को छेडना या अपने पथ मे विचलित करना मेरा काम नही है। हम एक-दूसरे के सम्पर्क मे आये। उस रूप मे हमारा मत परिवर्तन हो सकता है। हमे उस तरह का मन-परिवर्तन मान्य है। लेकिन मत परिवर्तन का जो सिलसिला अभी चल रहा है वह हमारी आध्यात्मिक भावना और बुद्धि के विरुद्ध है।

सवाल यह नही है कि हिन्दू लोग ईसाइयो के साथ युद्ध करे या हिन्दू और ईसाई मिलकर मुसलमानो के साथ जंग करे। यह सब गलत है। यह सब बाहर

से लाया गया है। हमने इस बुरी प्रवृत्ति का विरोध किया है और उससे हमें हानि भी उठानी पड़ी। हिन्दू-धर्म की वृत्ति इस तरह के भेद-भाव के विरुद्ध है। हम सब एक परिवार हैं और एक परिवार के ही रूप में रहना हमारा ध्येय है। जब दूसरे लोग आकर हमारे बन्धुभाव में खलल डालना चाहते हैं, तो हम उनका विरोध करते हैं। हम सब धर्मों को समान आदर-भाव से स्वीकार करते हैं। हम सब धर्मों के अस्तित्व को मानते हैं। मानव-समाज में प्रचलित सब धर्मो के बीच पारिवारिक एकता स्थापित करना अपना पवित्र कर्तव्य, शायद अपना नम्र मिशन मानते हैं। सभी धर्मों का लक्ष्य ईश्वर है। सब धर्मो के बीच एकता की आवश्यकता है— विशेषत: इन दिनों, जब कि अधर्म सारे संसार को रौंद रहा है और हम सब एक ज्वालामुखी की चोटी पर खडे हैं। अलग-अलग धर्म यदि अपनी-अपनी संख्या बढ़ाने के लिए रस्साकशी करें, तो इसमें कोई तथ्य नहीं है। अगर ऐसा हो कि सब धर्म एक-दूसरे को समझें और हमारे चारों ओर जो अधर्म दिखाई देता है, उसके विरुद्ध एक होकर खड़े हो जायँ, तो मैं समझता हूँ कि हमारा मिशन, हमारे युग का मिशन पूरा हो जाय।

मत-परिवर्तन (या धर्म-परिवर्तन)करना तो उसका काम है, जो सबसे प्रेम करता हो। यदि आप सबसे प्रेम नहीं करते, यदि आपके हृदय में संकीर्णता है, यदि आप सिर्फ अपने आदमियों को प्यार करते हैं और— गांधीजी के शब्दों में— 'दूसरों की आत्मा पर अपना कुचक्र चलाना चाहते हैं, तो आप सत्य की तरफ लोगों का सच्चा मत-परिवर्तन नहीं कर सकते। हर एक का यह कर्तव्य है, अधिकार है कि वह हर दूसरे व्यक्ति का मत-परिवर्तन करे। संख्या जाति, वर्ण या अन्य दलों को ही धर्म मानकर उनकी उपासना करने वालो ने मत-परिवर्तन करने का अधिकार खो दिया है। वे मत-परिवर्तन के सौन्दर्य को नहीं समझते। यह मैंने अपने विचार पेश किये हैं। यदि इसमे मैंने कुछ कडे शब्द कहे हो तो क्षमा चाहता हूँ, लेकिन मत-परिवर्तन (या धर्म-परिवर्तन) के बारे में मेरी जो भावनाएँ हैं, उन्हें मैंने ज्यों-का त्यो आपके सामने रख दिया है।*

जनवरी १९५५

२. धर्मों की कायापलट

ईसामसीह अनन्य ईश्वर-भक्ति और निरपेक्ष मानव-प्रेम की साक्षात् मूर्ति थे। ईसामसीह की हृदय-समृद्धि कितनी महान् थी, त्याग और बलिदान की शक्ति कितनी अमोघ थी, इसका अगर हिसाब लगाना हो तो पिछले लगभग दो हजार साल तक उनके नाम पर भले-बुरे असंख्य लोगों ने इस दुनिया में जो काम किये, उन सबका हिसाब लगाना होगा। ईसा के उपदेश को जीवित रखने के लिए उनके चन्द शिष्यो

ने चर्च की स्थापना की। मुर्गी का बच्चा जिन्दा बाहर आ सके, इसलिए जीवन-रस के अतराफ में कुदरत ने अण्डे का आवरण बनाया है और उसे अपने पंखों तले सेने की वृत्ति या प्रेरणा मुर्गी को दी है। रक्षणकारी कवच और सेने वाली माँ की गर्मी, ये दोनों बातें बहुत जरूरी होती है। इमी प्रकार ईसा ने अपने जीवन, उपदेश और बलिदान द्वारा जो धर्म-कार्य किया उसकी रक्षा के लिए उनके शिष्यो ने धर्म-संस्था की यानी चर्च की स्थापना की। बगर इस कवच के, ईमा का काय मुसंगठित होना असम्भव था।

ईसा का यह कार्य लोगो में शुद्ध रूप मे जाग्रत रहे, इसलिए बाइबिल-रूपी संग्रह भी तैयार हुआ। बाइबिल और चर्च ईसा के उपदेश के प्रचार के मुख्य साधन हैं।

इम प्रचार-कार्य को जोरदार बनाने के लिए, जल्दी फैलाने के लिए और ऐहिक दृष्टि से सफल दिखाई दे, इस हेतु धर्मसस्था और धर्मोपदेशको ने सत्ता की मदद ली, मत्ताधारी राज्यकर्ताओं की मदद ली। इतना ही नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष चर्च को भी सत्ताधारी बनाया। मत्य को सडाने वाला तत्त्व अगर कोई है, तो वह सत्ता ही है, यह बात उनके ध्यान मे नहीं आयी। बाह्य सत्ता के आने से प्रगति जोरों से होने लगी है ऐसा भास होता जरूर है, लेकिन सत्ता के कारण धर्म कार्य को घुन लग जाती है और उसे दूर करना करीब-करीब असम्भव-सा हो जाता है।

अण्डा पर्याप्त मात्रा मं सेने पर और अन्दर का बच्चा तैयार हो जाने पर जो कवच एक समय रक्षा के लिए आवश्यक था, वही अन्दर के बच्चे का दम घोंट कर उसकी मौत का सामान बन मकता है। इसलिए माँ मुर्गी या अन्दर का बच्चा चोच मार कर अण्डा तोड डालते हैं। बच्चा बाहर निकल कर आजादी मे दुनिया में सचार करने लगता है। कुछ ममय के लिए उसे माँ की मदद की जरूरत रहती है। लेकिन आगे चलकर उस मदद को भी एक तरफ रखकर बच्चा अपनी स्वतन्त्र जिन्दगी बसर करने लगता है।

दुनिया के सभी धर्मो का इतिहास इसी प्रकार का है। धर्म-ग्रन्थ, शास्त्र-वचन या वेद-वाणी जितने आवश्यक होते हैं, उतनी ही गुरु-परम्परा और धर्म-संस्थाएँ आवश्यक होती हैं। लेकिन अब यह आवश्यकता दिन पर दिन तेजी से कम होती चली जा रही है। किताबों का बन्धन और संस्था का अनुसाशन कब जरूरी नहीं रहे। अब तो ईश्वर की प्रेरणा से संसार में अवतीर्ण सभी धर्म हमारे आदर का विषय बन चुके हैं। सभी धर्मो के ग्रन्थ हम आदर भाव से पढ़ते हैं: सभी साधु-

*एक भाषण।

सन्तों के धर्म-कार्य का हम परिचय प्राप्त करते हैं। धर्म-वचन में और सन्तों के धर्म-कार्य में उस काल का संकुचित-भाव घुसा हो, तो उसे भी हम पहचानने लगे हैं। उस संकुचित भाव को अपरिहार्य समझ कर उसकी आज हम निन्दा करने नहीं बैठते या उसे छिपाने की भी कोशिश नहीं करते। कवच में से बच्चा बाहर निकलने पर हम कवच फेंक देते हैं। लेकिन यह कवच, यह आवरण बन्धन था, मारक था ऐसी आलोचना करके उसकी निन्दा भी नहीं करते। एक समय वह आवश्यक था, आज वह बाधक होगा, यह पहचान कर हम उस कवच का आदर के साथ विसर्जन करते हैं। उसी प्रकार अब धर्म-ग्रन्थों का, धार्मिक रिवाजों का और धर्म-संस्थाओं का विसर्जन करने के दिन आये हैं।

आइन्दा धर्म-ग्रन्थ रहेंगे, उनका आदर के साथ अध्ययन भी होगा। लेकिन कानून की धारा के समान धर्म-वचनों का आधार लेकर लोगों पर बौद्धिक जुल्म करने की कोशिश नहीं की जाएगी। धर्म-वचन प्रेरणा देने के लिए होते हैं, गले में फन्दा लगाने वाली डोरी के समान उनका उपयोग नहीं होना चाहिए। धर्म-वचनों को शाब्दिक अर्थ करने के शाप से मनुष्य-जाति अनेक शताब्दियों तक पीड़ित रही है। धार्मिक रिवाजों में काव्य होता है, चारित्र्य-संगठन के लिए आवश्यक स्थैर्य धर्मरूढ़ि में से हमें प्राप्त होता है। लेकिन अब उसके बिना हम अच्छी तरह निभा सकते हैं। धर्म-संस्थाएँ तो सत्ता की उपासना करते-करते इतनी रजोगुणी बन गयी हैं कि जिस सत्पुरुष की या अवतारी पुरुष की धर्म-शक्ति कायम रखने के लिए उनकी स्थापना हुई, उस सत्पुरुष को ही ये सम्स्थाएँ गौण समझती हैं। 'ईसा का अनुसरण करें या चर्च का ?' ऐसा सवाल अगर खडा हो जाय तो धर्माधिकारी कहेंगे कि चर्च के बगैर ईसा जिन्दा ही नही रह सकत। चर्च है इसलिए ईसा हैं। लिहाजा ईसा-भक्ति के उत्कर्ष के लिए ही हम चर्च को सर्वोपरि मानते हैं।

अंग्रेजी में एक कहावत है-- Save me form my friends and my followers मेरे मित्र और मेरे अनुयायी अपनी संकुचितता के कारण और मेरे प्रति निष्ठा और भक्ति के कारण मुझे सकुचित करते है और मेरा शुद्ध उपदेश वहन करने में असमर्थ होने के कारण उसमे मिलावट करके उसे पतला और स्वादहीन बनाते हैं और फिर उसे चटपटा बनाने के लिए अपना निजी नमक-मिर्च-मसाला उसमें डालते हैं। सभी धर्म-संस्थापकों का यह अनुभव है, और जिस तरह स्नेही, साथी और अनुयायी बाधक होते हैं, उसी तरह संस्थापकों के नाम से स्थापित संस्थाएँ भी मूल पुरुष के लिए बाधक साबित होती हैं। भिन्न-भिन्न धर्मों के जाल में फँसी धार्मिकता को किस तरह बचाया जाय, यही आज सबसे बड़ी चिन्ता का विषय है।

ईसामसीह को नसीहत आज सारी दुनिया के लिए अत्यन्त जरूरी है। ईसा का

जीवन, उसकी वाणी और उसका बलिदान संसार को तारने के लिए पर्याप्त है। लेकिन ईसा का ठीका लेकर बैठी भिन्न-भिन्न संस्थाएँ, चर्च और denominations (डिनॉमिनेशन्स=विविध मान्यताएँ) ईसा को सार्वभौम बनने नहीं देतीं। ईसा के पास आपको चर्च द्वारा ही जाना पडेगा, ऐसा तो ये लोग कहते ही हैं। लेकिन स्पष्ट शब्दों में नहीं तो भी ये धर्म-संस्थाएँ ईसा से भी कहती हैं कि अगर तुम्हें मानव-जाति के हृदय मे प्रवेश करना हो तो चर्च द्वारा ही सम्भव है। अगर कोई स्वतन्त्र रूप से तुम्हें स्वीकार करेंगे तो वह हमे मान्य नहीं होगा। ईसा के नाम से उद्धार होता है, यह बात सही है, लेकिन हमारी मध्यस्थता बिना लिए ईसा का नाम उपयोगी नहीं होता।

हाल ही में अमेरिका में अपने कुछ ईसाई दोस्तों से मैंने पूछा कि ईसा के नाम पर दुनिया में सैकडो पन्थ आज चल रहे हैं। उनकी आपस में नहीं बनती। माना कि आज का मनुष्य पहले के समान शास्त्रार्थ करके बीच बाजार में झगड़े नहीं करता। लेकिन मन में यह आग्रह रहता ही है कि हमारा ही पन्थ सच्चा है। बाकी के पन्थ भ्रमपूर्ण हैं। ऐसी हालत में अगर हम ईसा से पूछें कि 'भगवन्, आपके नाम से चलने वाले इन पन्थों में से आप स्वयं किस पन्थ को स्वीकार करते हैं और किस पन्थ का इनकार या तिरस्कार करते हैं ?' तो परमभागवत ईसा क्या जवाब देंगे ? मेरे खयाल में वे कहेंगे कि मेरे नाम से प्रेरित और मेरे पिता की भक्ति करने वाले सभी पन्थ मुझे समान रूप से प्रिय हैं, मान्य हैं। मेरी आत्मीयता सबके साथ है।

अगर ईसा के नाम से चलने वाले सभी पन्थो का ईसा भगवान पक्षपात-रहित स्वीकार करेंगे, तो किसी भी नाम में या रूप में क्यों न हो, ईश्वर की उपासना करने वाले सबके सब धर्मो को ईश्वर स्वीकार क्यों न करेगा ?

सब धर्मो का आदरपूर्वक अध्ययन करने वाला आज का ईश्वर भक्त कहेगा कि सबके सब धर्मो को आदरयुक्त स्वीकार किये बिना हमारी धर्मनिष्ठा विकसित ही नहीं होगी। किसी भी एक धर्म को अस्वीकार करने से, इनकार या विरोध करने से हमारी ईश्वर-भक्ति खण्डित हुए बिना नहीं रहेगी। जिस प्रकार श्री शंकराचार्य के काल के हिन्दू-धर्म ने कहा कि आपका इष्ट देवता कोई भी हो, शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य और देवी, इन पाँच के पंचायतन की पूजा आपने न की तो आपकी ईशभक्ति या इष्टभक्ति फलित नहीं होगी, उसी प्रकार आज कहना होगा कि सभी सत्पुरुष धर्मो को अस्वीकार किये बिना हमारी धार्मिकता को शुद्ध नहीं कहा जा सकता।

धर्मसत्य तर्क की कसौटी पर कसने की वस्तु नहीं है। उसे जीवनानुभूति की कसौटी पर कसा जाना चाहिए और आज के युग में ऐसा करना आवश्यक भी हो

गया है।

इसलिए अपने-अपने धर्म का आग्रहयुक्त पालन करते हुए भी सब धर्मो के प्रति आदर रखना सीखना चाहिए और उनका आदर के साथ अध्ययन भी करने की आदत डालनी चाहिए। सर्वधर्म-समभाव आज का युग-धर्म है। चन्द लोगों को इसी साधना में से सर्वधर्म-समभाव भी साध्य होगा।

२५-१२-'५८

३. विश्व-समन्वय

जिन्हें हमेशा प्रागतिक विचार करने की आदत है, उनके मन मे दर्द रहता है कि सबके सब धर्म इतने दकियानूस क्यो हैं ? परिस्थिति बदले, दुनिया आगे-आगे बढती जाय तो उसका तनिक भी खयाल किये बिना ये धर्म अपनी बात छोडते ही नहीं। मानव-जाति के लिए जो धर्म आशीर्वाद के रूप मे अवतरित हुए, उन पर ऐसा कौन-सा शाप है कि वे जन्म के बाद ही आगे बढने से इनकार करते हैं।

दूसरे लोग कहते हैं, धर्मो के बारे में हमारी कठिनाई यह नही कि वे बदलते नहीं, आगे बढते नहीं। अगर बदलते नहीं तो कब के कालग्रस्त हो जाते। इस नश्वर दुनिया मे जो बदलते नही हैं, वे नष्ट ही हो जाते हैं। धर्म बदलते हैं जरूर, लेकिन काम की गति मे नही। काल जो रफ्तार चाहता है, वह उनके पास होती नहीं। धर्म प्रगति तो करते है, लेकिन इतनी धीमी कि उनका बासीपन बना ही रहता है। फलतः ये धर्म जीते भी हैं और फिर भी काम मे नही आते। जब देखो तब वे बासी ही बने रहते हैं।

शिकायत का जवाब यही है। कि धर्मो का स्वरूप-निर्णय समाज ही करता है। विराट् समाज पुराने रथ के समान धीरे-धीरे चलता है और सो भी बडे कष्ट से। लेकिन इससे एक लाभ यह है कि प्रगति से डरने वाला समाज धर्म की धीमी प्रगति मे अपनी सुरक्षितता देखते और धर्म के पीछे-पीछे ही चलता है।

इसलिए प्रगतिपरायण सुधारको को चाहिए कि वे धर्म के बारे मे निराश न होकर अपनी नीति बदलें। अगर वे चाहते हैं कि धर्म की प्रगति की रफ्तार दस मील की हो, तो उनको चाहिए कि वे बीस मील की रफ्तार की कोशिश मे रहे। हमेशा बीस मील का ही आग्रह रखे। अगर उनका प्रयत्न सफल हुआ, तो समाज बीस की जगह सात-आठ मील की प्रगति करने को राजी हो जायगा।

धर्म द्वारा प्रगति करने के पक्ष में एक लाभ स्पष्ट है कि विशाल समाज परस्पर-विरोधी दिशा में न दौड कर एक ही दिशा में अपने सारे भार के साथ

प्रगति करता है।

दूसरा लाभ यह है कि जो लोग अति उत्साह के कारण जोरों से दौड़े और अपने साथियों की हिम्मत टूटी देख कुछ घबड़ाये, उनको जरा ठहर कर पीछे की ओर मुड़ने का अवसर मिलता है।

दुनिया के जागरूक धर्मों में इसाई धर्म काफी मशहूर है। इस धर्म के पन्थ और फिरके तो बहुत हैं, लेकिन सबके सब खूब संगठित हैं। विद्वान, बुद्धिमान् लोग इसकी चर्चा करते हैं। अपने भले-बुरे सब सिद्धान्तों की पुन: स्थापना करने के लिए अपना सारा बुद्धि सर्वस्व चलाते और इस तरह धर्म-चर्चा को हमेशा जाग्रत रखते हैं।

कहते हैं कि ईसाई-धर्म में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का स्थान होना चाहिए या नहीं, इस पर बहुत चर्चा चली। दोनों तरफ बड़े-बड़े दिग्गज लोग थे। लेकिन पुनर्जन्म मानने वाले लोग अपना बहुमत न कर सके। थोड़े ही वोटों की कमी के कारण उनका पक्ष हार गया। अगर उनको आवश्यक वोट मिल जाते तो ईसाई-धर्म बाकी के आर्य-धर्मों के समान पुनर्जन्म में विश्वास रखने वाला विश्वासी धर्म बनता। अब भी ईसाई-धर्म के चन्द नेता पुनर्जन्म के सिद्धान्त का चिन्तन तो करते ही हैं।

ईसाई-धर्म की प्रमुख शाखाएँ दो हैं--- रोमन कैथॉलिक और प्रोटेस्टेंट। रोमन कैथॉलिक पन्थ हमारे सनातन धर्म जैसा है। मूल धर्म-संस्थापक को ईश्वर का पुत्र कह कर उसी की पूजा करते हैं। उसकी माता की भी पूजा करते हैं। धर्म-परम्परा को मानते हैं। सबसे बड़ी बात यह कि वे मानते हैं कि ईसा की शिष्य-परम्परा धर्माधिकारी पोप द्वारा चालू है, इसलिए पोप का वचन ही धर्म का अन्तिम और अद्यतन वचन है। धर्म-संस्थापक, उसके धर्मवचन, उसकी स्थापित धर्म-परम्परा और उसकी शिष्य-परम्परा, इन सब बातों को एकत्र करके ही उस धर्मराशि को धर्म का प्राण मानते हैं। संस्थापक और अवतारी पुरुष और उसको अधिकृत शिष्य-परम्परा में ही वे ईश्वर की प्रेरणा देखते हैं। ऐसे लोगों को हम 'संस्थापरस्त' कह सकते हैं।

इस कैथॉलिक सम्प्रदाय के साथ बगावत करके प्रोटेस्टंट पथ जर्मनी में पैदा हुआ। उसने सबसे पहले धर्मगुरु पोप के अधिकार से इनकार किया और अन्तिम आधार के रूप में बाइबिल को ही माना। ये लोग पोप को भले न मानें, बाइबिल को अक्षरश: मानते हैं, इसलिए इन लोगों को हम बुद्धिवादी या बुद्धिपरायण नहीं कह सकते। वे कहते हैं कि बाइबिल का अर्थ अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार करने का अधिकार हर एक ईसाई को है, लेकिन धर्म के वचन को बुद्धि की कसौटी पर कसने का अधिकार वे नहीं मानते। हमारे यहाँ आर्य-समाजियों की

भूमिका यही है। वे कहते हैं कि वेदवचन से हम बँधे हुए हैं ही, किन्तु उसका मनमाना अर्थ करने का अधिकार हर एक वेदावलम्बी को है।

केवल बुद्धिवादी लोग न ईसामसीह को ईश्वर का अनन्य अवतार मानेंगे, न बाइबिल के भ्रान्तिरहित अन्तिम आधार-स्वरूप को स्वीकार करेंगे। ईश्वर की त्रिमूर्ति को भी वे स्वीकार नहीं करते। प्रोटेस्टंट लोगों की दूसरी बगावत संन्यास आश्रम के खिलाफ थी। उनके आद्य प्रणेता मार्टिन लूथर ने संन्यास आश्रम छोड़ दिया और हमराय एक संन्यासिनी से शादी कर ली। पोप ने उसका बहिष्कार किया। उसने बहिष्कार-पत्र जाहिर तौर से जला दिया और प्रोटेस्टंट पन्थ की स्थापना की। इंग्लैण्ड के राजघराने ने और फिर सारे राष्ट्र ने प्रोटेस्टन्ट पन्थ स्वीकार किया। दुनिया में इस पन्थ का विस्तार बहुत हुआ है। भारत में रोमन कैथॉलिक और प्रोटेस्टंट, दोनों पन्थों का काफी प्रचार हुआ है।

कैथॉलिक लोग कहते हैं कि सच्चे ईसाई तो हम ही हैं। हमारे संघ के चर्च के बाहर जो गये, उनके लिए मोक्ष यानी उद्धार है नहीं। इन दो पन्थों की आपस में बनती नहीं। इनके मतभेद दार्शनिक हैं, मौलिक हैं।

तो भी, क्योंकि इन लोगों को ईसाई-धर्म का प्रचार पृथ्वी के सब खण्डों में करना है और ईसाई-धर्म की छत्रछाया के नीचे सबको लाना है, इसलिए आपस की अनबन को टालने की वे पूरी कोशिश करते हैं। इन सब पन्थों की संस्थाएँ अपना-अपना प्रचार सब देशों में जाकर करती हैं। लेकिन आपस में झगडा न करने जितनी उदारता, दीर्घदर्शिता संस्कारिता अथवा व्यवहार कुशलता की चातुरी इनमें है। अब इन लोगों ने दुनिया में काम करने वाले सब पन्थों की सब ईसाई चर्चों की एक कौन्सिल बनायी है। अन्दर के मतभेद कायम रख कर एक-दूसरे के साथ सहयोग करने के उद्देश्य से यह नयी प्रवृत्ति उन्होंने चलायी है।

इसमें आश्चर्य की बात यह है परम्परावादी पोप का प्रामाण्य मानने वाले रोमन कैथॉलिक पन्थ के आज के अधिकारारूढ स्वयं पोप भी सबको एकत्र लाने की इन्तजारी बता रहे हैं। प्रोटेस्टन्ट पन्थ के थोडे लोग भी ऐसे तैयार हुए हैं, जो सुधरे हुए उदार रोमन कैथॉलिकों के साथ जुड़ जाने को तैयार हैं। दोनों पन्थों में एकत्र आने वालों का बहुमत तो नहीं हुआ है, लेकिन एकतावादियों में प्रभावशाली लोग होने से उनका विचार जोर पकड़ने लगा है। दार्शनिक मतभेद और साम्प्रदायिक आग्रह का जोर इतना होता है कि एक पन्थ के दो पन्थ बनना आसान है, किन्तु दो पन्थों का राजी-खुशी से एक पन्थ होना करीब-करीब नामुमकिन है। कलियुग मे अगर दो पन्थ राजी-खुशी से एक हो गये, तो उसे एक ईश्वरीय चमत्कार ही मानना चाहिए। और अगर इसमें सफलता मिली, तो उसे सत्ययुग का प्रारम्भ ही

कहना पड़ेगा।

अश्रद्धालु लोग कहते ही हैं— दो चोरों और ठगों के बीच समझौता हो सकेगा। स्वार्थ के लिए ही चलने वाली दो पीढ़ियों के एकत्र हो जाने के उदाहरण मिल सकते हैं। लेकिन धर्म के नाम, पन्थ के नाम चलने वाले गुट कभी एक हुए हैं, ऐसा उदाहरण दुनिया में कहीं हो तो बताइये।

ऐसों को हम निरुत्तर तो नहीं कर सकते, लेकिन अपनी श्रद्धा के बल पर जरूर कह सकते हैं कि जो आज तक नहीं हुआ, उसी के सिद्ध होने का आज युग आ गया है। कहते हैं कि चमत्कार तो प्राचीन काल में हुए सो हुए, अब चमत्कार का, Miracles का जमाना नहीं रहा। हम कहना चाहते हैं कि आज तक कभी नहीं हुए, ऐसे चमत्कारों का, युग आ रहा है। जिस तरह भौतिक विज्ञान में नये-नये आविष्कार दुनिया को चकाचौंध कर रहे हैं, उसी तरह अध्यात्म के क्षेत्र में और राजनीति के क्षेत्र में भी समन्वय-चमत्कार होने वाले है।

परस्पर द्वेष और अविश्वास का चिन्तन, दिन रात का अखण्ड चिन्तन, इतने जोरों से चल रहा है कि ऐसा विरोधी ध्यान द्वारा ही समन्वय की ज्योति प्रकट होगी। रूस और अमेरिका एक दूसरे का ध्यान इतने जोरों से कर रहे हैं और एक-दूसरे की शक्ति का इतना चिन्तन कर रहे हैं कि एक दूसरे का नाश करने के प्रयत्न में काफी हद तक एक दूसरे का अनुकरण ही करेंगे। समन्वय-युग के भगवान ने चाहा तो इन्हें परस्पर सहयोग भी करना पड़ेगा। हम जानते हैं कि ऐसे विश्वास को व्यवहार कुशल दुनिया पागलपन ही कहेगी। हम भी मानते हैं कि यह पागलपन ही है। किन्तु थोड़े ही दिनों में यह तय होगा कि दुनिया में सर्वसमर्थ सार्वभौम तत्त्व द्वेष है और संहार है या सौहार्द, सहयोग और समन्वय है।

ईसाई धर्म में यह जो समन्वय का छोटा सा उदय हुआ है उसका हम अभिनन्दन करते भी हैं और नहीं भी करते। क्योंकि सब ईसाई फिरकों का अगर समन्वय अथवा एकीकरण हुआ, तो उनमें ईसाई धर्म का साम्राज्य स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा मजबूत हो सकती है। फिर तो वे अपनी सम्मिलित संगठित शक्ति के जोर पर इस्लाम और बौद्ध धर्मों के साथ होड़ शुरू कर सकेंगे। अन्दरूनी समन्वय और अन्दरूनी समझौता बाह्य संघर्ष को कभी-कभी ज्यादा मजबूत करता है। लेकिन अगर अन्दरूनी समझौता और समन्वय सात्त्विक वृत्ति से प्रेरित हैं, तो वही सात्त्विक वृत्ति सर्वधर्म-समभाव को मदद कर सकती है। ईसामसीह के नाम पर जीने वाले सब पन्थ अगर परस्परानुकूल और एक हो सके तो भगवान का नाम लेकर जीने वाले अनेक धर्म भी सहिष्णु, उदार और समन्वयवादी क्यों न बनें ?

हम तो कहते हैं कि ईश्वर को मानने वाले और ईश्वर को न मानने वाले

अगर वस्तुतः सत्यार्थी हैं, विश्व-कल्याण के उपासक हैं, तो उनमें भी साहचर्य और सहयोग की भावना काम कर सकती है। हमारे देश में दुनिया के सब धर्मो का सहअस्तित्व है। हमारे ही देश का, हमारी ही संस्कृति का यह सार्वभौम मिशन है कि हम विश्व-समन्वय के लिए कोशिश करें।
१-५'६३

९. नास्तिकों की समस्या

१. नास्तिकों को भी समझें

जिन लोगों को ईश्वर में विश्वास रखना मुश्किल होता है, उनके लिय यह कठिन है कि वे ईश्वर में पूरी श्रद्धा रखने वालो की मनोवृत्ति पूरी तरह समझ सकें और उसकी कदर कर सकें। वे ईश्वरवादियो की श्रद्धा और अवलम्बन की आलोचना भी कर सकते है। लेकिन जो लोग ईश्वर के भक्त होने का दावा करते हैं, उनको चाहिए कि वे नास्तिक ओर अज्ञेयवादियो की मनोभूमिका समझें और उसकी कद्र भी करें।

साम्प्रदायिक ईश्वरवादी से मैने कई मरतबा अज्ञेयवादी को ईश्वर के ज्यादा समीप पाया है। जब मैं कहता हूँ कि मै हिन्दू हूँ, मुसलमान हूँ, ईसाई, पारसी हूँ और नास्तिक भी, तब नास्तिक का यह आखिरी वर्ग औरों के साथ मैं यों ही नहीं बिठा रहा हूँ। जिस तरह मै अपने ढग का मुसलमान या ईसाई हूँ, उसी तरह अपने विकास के परिणामस्वरूप मैं नास्तिक भी हूँ।

भगवद्गीता में भगवान श्री कृष्ण ता यहाँ तक कह चुके है कि **'सत् असत् च अहम् अर्जुन'**—मैं सत् भी हूँ और असत् भी।

हमे नास्तिक का आदर करना चाहिए। उसकी ओर रहम की नजर से देखना नफरत का ही दूसरा रूप है, जो ईश्वर के भक्त को किसी भी चेतन प्राणी के प्रति नहीं महसूस होना चाहिए। फिर अज्ञेयवादी जैसे सच्चे और तत्पर तत्त्वशोधक का कहना ही क्या !

ईश्वर एक तत्त्व या एक शक्ति है। इसलिए स्वभावतः ही वह व्यक्ति-रूप से परे है । फिर भी व्यक्ति-रूप से सम्बन्ध आने पर, सर्वशक्तिमान् होने के कारण वह सर्वोत्तम व्यक्ति बन सकता है। इसीलिए आदमी उसे पुरुषोत्तम नाम से पुकारने लगा।

सर्वसाधारण आदमी ईश्वर को व्यक्ति के रूप में ही समझ सकता है, अपना सकता है और उसका साक्षात्कार कर सकता है। लेकिन कुछ लोगों की मनोरचना इस उसूल के अनुकूल नहीं होती। वे प्रेम जरूर कर सकते हैं। वे प्रेम देते हैं, लेकिन प्रेम की वैसी खास जरूरत महसूस नहीं करते। उन पर प्रेम करने पर वे उसकी कदर जरूर करेंगे, लेकिन प्रेम की आवश्यकता तभी महसूस करते हैं, जब नैराश्य में तनहाई में मुब्तिला होते हैं। यह आवश्यकता भी जो महसूस नहीं करते, ऐसे भी कुछ लोग होते हैं, लेकिन ऐसों की संख्या नहों के बराबर ही होती है।

जो लोग ईश्वर में विश्वास नहीं रखते, उनके लिए चारित्र्य ही परमेश्वर होता है। ऐसा नहीं कि वे प्रार्थना नहीं करते। वे प्रार्थना जरूर करते हैं, लेकिन उनकी प्रार्थना एक उत्कट इच्छा का रूप धारण करती है। अपने दोस्त को इस तरह कहने के बजाय कि 'मैं ज्ञानी और दयामय ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वह तुम्हें मुझे समझने की शक्ति दे', वह इतनी ही उत्कटता से बोल उठेगा कि 'क्या ही अच्छा होता, अगर तुम मुझे समझ पाते। मेरे हृदय की गहराई और मेरी मनोभूमिका तुम्हें समझाने के लिए मैं कुछ भी कुर्बान करने के लिए तैयार हूँ।' क्या आपकी राय में इस तरह की प्रार्थना ईश्वर समझ नहीं सकता या पूरी नहीं करता ? उत्कटता ही प्रार्थना है। कोई भावुक खुले दिल से अपनी उत्कटता प्रकट करे, तो कोई अपने भावों को छिपायेगा और अपने आपको कठोर दिखाने की कोशिश करेगा। कई लोग ऐसे होते हैं, जो भावुकता के प्रदर्शन में पकड़े जाने पर शरमाते हैं और फिर उसे परोपकारिता का रूप देकर छिपाते हैं।

ऐसे लोगों की मनोभूमिका का पृथक्करण करना हमेशा आसान नहीं होता और न उसकी जरूरत ही है। इतना समझना काफी होगा कि किसी भी आदमी को ईश्वर के पास पहुँचने के लिए मना नहीं है, न ऐसा कोई है, जो कभी प्रार्थना शून्य रह सके। ईश्वर के भक्तों को चाहिए कि वह भले किसी भी अनपेक्षित रूप में प्रकट हो, हम उसे पहचान सकें।

नास्तिक और अज्ञेयवादी भी अनजान में ईश्वर के भक्त ही होते हैं। हम उनका निरीक्षण करें, उनको समझने की कोशिश करें। तर्क से नहीं, बल्कि तर्क के परे जो कुछ होता है, उससे। हमारी प्रार्थनाशीलता हमें यह माद्दा इनायत करती है और तभी हम मददगार साबित होते हैं। लेकिन असल जरूरत दूसरों की मदद करने की नहीं है, बल्कि अपने-आपकी, जिससे हम सबका प्रेम से समझ सकें।

अप्रैल, १९५४

२. धर्म-क्रान्ति की शर्तें

मनुष्य के प्राकृतिक जीवन को सुसंस्कृत करने के लिए और व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास के साथ समाज का भी सर्वाङ्गीण कल्याण सिद्ध हो, इसलिए धर्म की स्थापना हुई।

भिन्न-भिन्न प्रदेश के और भिन्न-भिन्न जमाने के मानव की उन्नति के लिए धर्मसंस्थापाक पैदा हुए और उनके पुरुषार्थ के फलस्वरूप अनेक धर्मों की स्थापना हुई। समाज के विकास की मात्रा जहाँ कम रही, वहाँ धर्म के स्वरूप में ही तरह-तरह के दोष घुम आये। अज्ञान, अबुद्धि, जड़ता, भ्रम आदि मानवीय दोष और विकृति के कारण धर्मों में भी तरह-तरह की विकृतियाँ आ गयीं। लेकिन इतना जरूर कहा जा सकता है कि आज दुनिया में प्रचलित सब प्रौढ़ धर्मों में भेद और दोष होते हुए भी एक तरह की सर्वसमान धार्मिकता है, जो मनुष्य-जाति को उन्नत करती है और नजदीक लाती है। धर्मों का महत्त्व इस धार्मिकता के कारण ही है। किन्तु लोग धर्माभिमान के कारण और अपनी-अपनी जिद के कारण भेद के तत्त्वों पर अधिक ध्यान देते हैं। फलतः धर्म-धर्म के बीच संघर्ष छिड़ कर धर्म के नाम पर अधार्मिक झगड़ा शुरू होता है।

धार्मिक प्रेरणा भले ही किसी इन्द्रियातीत गूढ तत्त्व की हो, धर्मों का संगठन मनुष्यकृत है। उसमें कमियाँ, दोष और विकृतियाँ पैदा होनी ही हैं। इसलिए हर धर्म का समय-समय पर संस्करण, शुद्धीकरण और नवीनीकरण करना ही पड़ता है। यह सब करने की हिम्मत जब धर्मानुयायी और धर्माभिमानी नहीं कर सकते, तब हर एक जमाने में छोटे बड़े धर्म सम्प्रदाय पैदा होते हैं, जिन्हें पुराने लोगों के साथ संघर्ष में आना पड़ता है और अपना बलिदान देना पड़ता है।

इस तरह धर्मों की संख्या, धर्मों के संघर्ष और धर्म के नाम पर होने वाला अत्याचार देख कर दुनिया ऊब उठती है और कहती है कि इन धर्मों को या तो सुधार दो या मिटा दो: Mend them or end them

दुनिया में दो देश ऐसे हैं, जिन्होंने धर्म के इस सवाल को हल करने का बीड़ा उठाया है। वे हैं रूस भारत। दोनों की राज्य-घटना धर्म-निरपेक्ष-secular है। रूस के साम्यवाद के मन में सब धर्मों के प्रति एक-सा निरादर और तिरस्कार है। इससे उलटे भारत में सब धर्मों के प्रति एक-सा तटस्थ-वृत्ति का आदर है, जिसके कारण भारत सब धर्मों का समान भाव से आदर करता है और प्रोत्साहन किसी का भी नहीं।

हमारे देश में तरुणों ने इस सवाल को अपने हाथ में लिया है। वे कहते हैं, इन धर्मों को सुधारने की कोशिश हम लोगों ने सारी जिन्दगी की। अब हमे विश्वास

हो गया है कि धर्म का तो खात्मा ही करना चाहिए। युवकों मे उत्साह होता है, हिम्मत होती है। त्याग में उनका उत्साह दुगुना होता है; लेकिन उनके पास धीरज (patience) नहीं होता। जहाँ बड़े-बड़े समाजसेवक और राष्ट्रनेता सम्प्रदायिक धर्मों से ऊब उठे हैं, वहाँ धर्म-सुधार की बात युवक क्यो सुनें ? उन्हें तो धर्म का खात्मा ही करना है। साम्प्रदायिक धर्मो के कारण जो असली धार्मिकता दब जाती है, उसका दर्शन या साक्षात्कार बहुत कम लोगों को होता है। धर्मों के आस-पास इतना पुराना कूडा-कचरा और जहरीली चीजें जम गयी हैं कि धर्मों को साफ करने का काम भी एक-दो जमाने का नहीं, कई जमानों का है।

पुराने धर्मो को सुधारने के लिए नये धर्म की स्थापना होती है। लेकिन पुराना भी चलता है और नया भी। इस तरह एक जगह दो धर्म होते हैं। इन दोनों में दीर्घकाल तक संघर्ष चलता है। फिर नया धर्म भी पुराना होकर उसमें रूढ़ियाँ दाखिल होती हैं, मनुष्य-स्वभाव-सहज दोष आते हैं। ऐसे नये धर्म भी रस्म के नीचे दब जाते हैं।

इसलिए नवयुको के जिहाद के प्रति मेरी पूरी सहानुभूति है। मैं उनसे कहता हूँ कि अगर आप में हिम्मत है, शक्ति है, तो आप तमाम धर्मो के खिलाफ जिहाद चलाइये। सब धर्मो को नेस्तनाबूद कीजिये। उसका समय आ गया है। अब अगर इन धर्मो की बुनियाद मे सच्ची धार्मिकता है, तो सब धर्मो को जलाने के बाद उनकी राख मे से अग्निसम्भव (phoenix) पक्षी के जैसी नयी धार्मिकता नया रूप लेकर प्रकट होगी। मेरा धार्मिकता पर विश्वास है। मुझे यह भी विश्वास है कि धार्मिकता अमर है। धर्मो को कुचल डालने पर भी धार्मिकता नहीं मरती। पुराने धर्मो को खाद मिलने से नये धर्म मे अधिक कस आयेगा।

अब मैं दो-तीन सूचनाएँ देना चाहता हूँ।

रूस एक ऐसा देश है, जहाँ साम्यवाद के कारण धर्मो के प्रति एक-सा तिरस्कार सिखाया जाता है। वहाँ की सरकार धर्मनिरपेक्ष है धर्म विरोधी भी होगी। भारत की सरकार भी धर्मनिरपेक्ष है। लेकिन यहाँ सब धर्मो के प्रति एक सा आदर है। गाधीजी ने और गाधीजी जैसे कई लोगो ने देश को सब धर्मों की समानता समझायी। सब धर्मो का एक विराट् कुटुम्ब स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा चन्द लोगों की है। अगर सब धर्मों में कौटुम्बिक भाव, पारिवारिक वृत्ति जाग्रत हुई, तो धर्मो के बहुत से दोष आपसे ही आप दूर हो जाएँगे। परिवार उसे कहते हैं जिसमें सब व्यक्ति एक दूसरे का उत्कर्ष चाहते हैं। एक दूसरे के विकास मे मदद करते हैं। इसमें न लेन-देन की बात है, न समझौते की। प्रेम के प्रवाह मे सौदा नहीं होता। वह इकतरफा बहता है। देश मे यह जो सर्वधर्म-समभाव और सर्वधर्म-ममभाव की बातें चल रही हैं, उसे आप भले ही स्वीकार न करें, लेकिन

उसे समझने की कोशिश कीजिए। शायद आपको अनुभव से वह रास्ता ज्यादा कारगर मालूम होगा।

आप सब धर्मों का नाश करने निकले हैं। लेकिन आपका सारा प्रचार एक-दूसरे तक सीमित है। एक सम्प्रदाय का ही लेकर आप सुधारने की कोशिश कर रहे हैं। आपके साथियों और श्रोताओं में भी न कोई ईसाई दीख पडते हैं और न कोई मुसलमान। यहाँ बंगाली भी बहुत कम हैं। क्या आप अपना सन्देश ईसाइयों और मुसलमानों तक पहुँचने की हिम्मत रखते हैं ?

दलबन्दी के इन दिनों में जब तक इस्लाम और ईसाई-धर्म मानने वाले लोग अपने-अपने धर्मो को छोड़ने को तैयार नहीं और धार्मिक दलबन्दी में लाभ देखते हैं, आप बाकी के सम्प्रदायों को धर्म निरपेक्ष बनाने में कहाँ तक सफल होंगे, मुझे शंका है। धर्म, साम्प्रदायिक और जातिवादी धर्म चाहे इतने बिगड़ गये होंगे, संकुचित स्वार्थ में फँसी आज की दुनिया धार्मिक दलबन्दी में अपना हित देखती है। हिन्दुओं में साम्प्रदायकिता है। इससे अधिक दूसरे धर्म-समाजों में है और वह बढती जाती है। ऐसे समय धर्म को सुधारना हो या मिटाना हो, तो व्यापक पैमाने पर काम करना होगा। केवल व्याख्यानों से और चर्चा से काम नहीं होगा। प्रारम्भ तो व्याख्यान और चर्चा से ही हो सकता है। लेकिन 'तरुण संघ' को बडा जबरदस्त रचनात्मक कार्य करना होगा। केवल निन्दा से निन्दा करने वाले का पुण्यप्रकोप सन्तुष्ट होगा; किन्तु जिनकी निन्दा हम करते हैं, उन तक हमारा प्रहार पहुँचना नहीं।

धर्म मात्र में कौन-कौन सी बातें अच्छी हैं और कौन-सी बुरी, इसका निर्णय करना होगा। जो रूढियाँ हानिकारक हैं, उन्हे तोडने की भरसक कोशिश करनी होगी। उनकी जगह अच्छे रस्म रिवाज प्रचलित करने होंगे। अनेक जाति और अनेक सम्प्रदाय के कारण समाज, जो छिन्न-भिन्न हो गया है, उसमें मेल जोल बढाना होगा। खानपान के, आहारशुद्धि के नियम सँभालते हुए भिन्न आहार के लोग एक साथ बैठकर खा सकें, एक-दूसरे के हाथ का खा सकें, ऐसे नये रिवाज चलाने चाहिए। अन्तरजातीय और अन्तरधर्मीय विवाहों को प्रोत्साहन देना चाहिए। उच्च-नीच भाव हटाने की कोशिश करनी चाहिए। संकुचित संगठन तोड़कर व्यापक संगठन बनाने चाहिए। सदाचार, संयम, स्वार्थत्याग और सेवा की बुनियाद पर शुद्ध चारित्र्य का वायुमण्डल दृढ करना चाहिए। ऐसा करने से ही हमारी बातें समाज सुनेगा और विश्वास करेगा। यह राजनीतिक नहीं, चारित्रिक, संस्कृतिक काम है। इसे करते-करते कहीं अगर आध्यात्मिकता मिल गयी, तो उसका भी परिचय प्राप्त करना होगा। मैं तो इतना ही कहूँगा कि हिम्मत से प्रारम्भ कीजिये और जब तक सफलता नहीं मिली है, क्षीणप्राण होकर ठहर न जाइये। कुछ नुकसान

नहीं होने वाला है। होगा तो लाभ ही होगा, बशर्ते कि उद्देश्य पवित्र हो और साधन शुद्ध हों।*
१-१२'५९

१०. गांधीजी और समन्वय

१. हमारी प्रार्थना

किसी ने महात्मा जी से पूछा कि "देश सेवा की इच्छा से मैं आपके आश्रम में रहना चाहता हूँ, लेकिन प्रार्थना मे मेरा विश्वास नहीं। ऐसी हालत में प्रार्थना में बैठने का नियम मुझे पर क्यो लागू किया जाय ?" प्रश्न कर्ता ने आश्रम की नियमावली पढ़ी थी। देश की सेवा करना सीखना और देश-सेवा करना, यही इस आश्रम का उद्देश्य है, यह वाक्य उसने पढ़ा था। इसीलिए उसने यह सवाल किया।

महात्माजी ने आश्रम की नयी व्याख्या उसके सामने रखी। आश्रम ऐसे ही लोगों का एक संघ है, जिनका प्रार्थना में विश्वास है और नियमित रूप से प्रार्थना करते हैं। देश की सेवा करने के लिए कोई किसी को मना नहीं करता। लेकिन हमारे आश्रम में वही प्रविष्ट हो सकता है, जिसका प्रार्थना में विश्वास हो। जिसका विश्वास नहीं है, वह आश्रम में न रहे। अपने ढंग से सेवा करता रहे।

गांधीजी की दृष्टि मे प्रार्थना आश्रम-जीवन का एक अविभाज्य अंग है।

हमारा यह आग्रह कभी नहीं रहा कि विद्यापीठ जैसी अन्य संस्थाओं में भी प्रार्थना आवश्यक मानी जाय। आश्रम की बात अलग थी। वहाँ सर्वधर्म-समभाव का व्रत लिये हुए लोग रहते थे और श्रद्धापूर्वक अपने-अपने धर्म का पालन करते थे। वहाँ प्रार्थना का वातावरण नित-नया बढता ही जाता था।

दक्षिण अफ्रीका में जब फिनिक्स आश्रम की स्थापना हुई, तब वहाँ शाम की ही प्रार्थना होती थी। उसमें गीता के दूसरे अध्याय के अन्तिम १८ या १९ श्लोक (स्थितप्रज्ञ के लक्षण) बोले जाते थे और सन्त-वचन गाये जाते थे। ऐसे भजनों का एक संग्रह 'नीतिनाँ काव्यो' नाम से प्रकाशित हुआ था। फिनिक्स-आश्रम के लोग जब हिन्दुस्तान में आये और कुछ दिनों के लिए कविवर रवीन्द्रनाथ के शान्तिनिकेतन

*कलकत्ता के 'तरुण संघ' में दिया गया भाषण।

में रहने गये, तब मैं भी वहाँ था। मैं उनके साथ प्रार्थना करने लगा। मेरी आदत सुबह भी प्रार्थना करने की थी। आश्रमवासियों को वह पसन्द आयी। वे भी मेरे साथ सुबह की प्रार्थना करने लगे। मेरी प्रार्थना महाराष्ट्र की सन्त-परम्परा की थी। उसमें संस्कृत के मन्त्र और स्तोत्र रहते थे। पंचायतन-पूजा थी। सन्तों के भजन थे और भगवान के नाम की धुन भी रहती थी। मैं नित्य गीता-पाठ भी करता था। आश्रमवालों में भी गीता के प्रति असीम श्रद्धा थी। वे गीता के श्लोक कंठस्थ करने लगे।

जब गांधीजी दक्षिण अफ्रीका से लौटे और उन्होंने अहमदाबाद में अपना आश्रम खोला, तब उन्होंने सुबह की मेरी वाली प्रार्थना में काट-छाँटकर उसे अन्तिम रूप दिया। शाम की प्रार्थना का रूप तो दक्षिण अफ्रीका में ही तय हो गया था। इस प्रार्थना में गांधीजी का आग्रह था कि आश्रम में जितने भी लोग रहने आयें, उन सबको अपनी-अपनी रुचि का आध्यात्मिक आहार मिलना चाहिए। आश्रम में जब तमिलभाषी लड़के थे, तब एक तमिल स्तोत्र नित्य गाया जाता था। जब हम कुछ महाराष्ट्रीय लोग आश्रम में शरीक हुए, तब गांधीजी ने समर्थ रामदास स्वामी के 'मनाचे श्लोक' प्रार्थना के समय पढना शुरू किया। श्री पूँजाभाई जैसे आश्रम के मित्रो के पोषण के लिए जैन-स्तोत्र गाये जाते थे। दक्षिण अफ्रीका के आश्रम में ईसाई लोग रहते थे तो Lead kindly light अथवा When I survey the wondrous cross on which the prince of glory died जैसे अंग्रेजी स्तोत्र भी गाये जाते थे।

जब बापू सेवाग्राम-आश्रम में रहते थे, तब श्री अब्बास साहब तैयबजी की लड़की रैहाना वहाँ रहने आयी। उसने संस्कृत के सारे श्लोक अत्यन्त शुद्ध रूप से कण्ठस्थ किये। और अपनी उच्चारण शुद्धि और संगीत के माधुर्य से सब लोगो को चकित कर दिया। शाम की प्रार्थना चलाने का काम उसी के जिम्मे आ गया। उससे महात्माजी ने पूछा कि "यहाँ के कुछ लोग कुरान की आयतें सीखना चाहते है, सिखाओगी ? कुरान की आयत प्रार्थना मे ले लेंगे।" इस तरह कुरान का प्रथम अध्याय 'अलफातेहा' और दूसरे भी कुछ वचन हमारी प्रार्थना का अंग बन गये।

आश्रम में एक जापानी साधु रहता था। वह प्रार्थना के पहले एक जापानी बौद्ध-मन्त्र बोलता था। जब पिछले युद्ध के प्रारम्भ में सरकार ने उसे गिरफ्तार कर लिया तब उसके स्मृतिस्वरूप वह मन्त्र प्रार्थना मे लिया गया।

जब महात्माजी आगाखान महल में बन्दी थे, तब डॉ. गिल्डर को भी वहाँ रखा गया था। उनके कारण हमारी प्रार्थना में एक फारसी गाथा आ गयी। इस तरह हमारी प्रार्थना हमारे आश्रम-जीवन का प्रतिबिम्ब है। जब गांधीजी सारे देश मे

दौरा करते थे, तब हर जगह सुबह-शाम की प्रार्थना होती थी। सुबह की प्रार्थना में घर के गृहपति, मेजबान और चन्द खास लोग ही शरीक होते थे। शाम की प्रार्थना में हजारों लोग शरीक होते थे। इस तरह हमारी आश्रम-प्रार्थना देश भर में फैल गयी। देश में जब हिन्दू मुस्लिम-तनाव बढ़ा, तब हम लोगों ने खास धुन चलायी—'**रघुपति राघव राजाराम, पतित पावन सीताराम। ईश्वर अल्ला तेरे नाम, सबको सन्मति दे भगवान।**' नोआखाली की तरफ कई मुसलमानों ने एतराज किया कि 'रघुपति राघव राजाराम' की धुन अगर प्रार्थना में रहेगी तो हम प्रार्थना में नहीं बैठेंगे, उठ जाएँगे। उन्होंने ऐसा किया भी। किन्तु गांधीजी अपनी ही पद्धति पर डटे रहे। अगर जाकर दिल्ली में चन्द हिन्दुओं ने कुरान की आयतें पढ़ी जाने पर शिकायत की, तब भी गांधीजी ने अपनी बात छोड़ी नहीं। आखिर तक वे भगवान् से प्रार्थना करते ही रहे-'सबको सन्मति दे भगवान।'

अभी-अभी एक ईसाई महिला ने अपनी एक कठिनाई व्यक्त की। वे केरल में एक कस्तूरबा-केन्द्र चलाती हैं। वहाँ अधिकांश विद्यार्थिनियाँ हिन्दू हैं। आश्रम की प्रार्थना की आदी भी है, लेकिन उनके साथ कुछ मुस्लिम और ईसाई बहनें भी हैं। इन सबकी सहूलियत प्रार्थना में नहीं है। श्रीमती जार्ज का सुझाव था कि सब धर्म के लोगों के लिए मान्य हो, ऐसी एक नयी प्रार्थना क्यों न बनायी जाय ?

इस प्रश्न के जवाब मे मैंने जो बाते कहीं, वही थोडे में मैं यहाँ देना चाहता हूँ। मैंने कहा : "हर एक धर्म से अच्छे अच्छे वचन चुन कर अगर कोई नयी प्रार्थना करना चाहे, तो मैं उसमें अपनी ओर से मदद जरूर दूँगा। वह अच्छी चीज होगी। और चलेगी भी खूब। लेकिन हमारी आश्रम प्रार्थना का स्वरूप वह नहीं है। हमार आश्रम का स्वरूप इतिहास-क्रम से जैसा बनता गया, वैसी ही हमारी प्रार्थना भी बनती आयी है। ऊपर का इतिहास मैंने उन्हें सुनाया और कहा कि आश्रम में जैसे जैसे लोग आते गये, प्रार्थना बनती गयी।

इसका अर्थ यह होता है कि आइन्दा भी जहाँ जहाँ नये केन्द्र खुलेंगे, वहाँ वहाँ के वायुमण्डल के अनुसार प्रार्थना में फेरफार करना चाहिए। अगर ईसाई लोग आ गये तो प्रार्थना मे ईसाई भजन बढाने चाहिए और समय बचाने के लिए हिन्दू श्लोक और भजन घटाने भी चाहिए । प्रार्थना अगर बढ़ती ही गयी, तो सारा समय वही खा जाएगी।

इसी सिलसिले में मैंने एक किस्सा भी सुनाया। एक दिन महात्माजी ने स्वयं एक प्रश्न छेडकर मुझसे पूछा कि "आश्रम मे अगर मुसलमानों की संख्या बढ़ जाय तो प्रार्थना का स्वरूप क्या होगा ?" मैंने कहा : "जैसे हम करते आये हैं, कुरान के अच्छे-अच्छे अध्याय हम पढते जाएँगे।"

महात्माजी ने कहा कि "इतना काफी नहीं है। आश्रम हिन्दू-धर्म का आश्रम नहीं है। आश्रम आश्रम है। अगर उसमें अधिकांश संख्या मुसलमानों की हुई, तो मैं गीता की जगह कुरान का पाठ रखूँगा। प्रार्थना का सारा स्वरूप ही इस्लामी ढंग का कर दूँगा और उसके साथ कुछ हिन्दू श्लोक, मन्त्र या स्तोत्र रख दूँगा। आश्रम का अपना कोई धर्म नहीं है। सभी धर्म उसके हैं। आश्रमवासी की आध्यात्मिक भूख का इलाज प्रार्थना है। अगर आश्रम मे सब लोग ईसाई रहे, तो प्रार्थना का रूप भी वैसा ही होगा।"

मेरे लिए यह बडी बात थी। एक नयी दृष्टि थी। यह दृष्टि स्वीकार करने मे मुझे एक क्षण की भी देर न लगी। लेकिन इस दृष्टि में मैंने सोचा नहीं था।

मैंने केरल की महिला से कहा कि "आज आपके कस्तूरबा-केन्द्र में आश्रम की रूढ प्रार्थना चलती है और केन्द्र की अधिकांश बहनें हिन्दू है, इसलिए आश्रम की प्रार्थना ही वहाँ चल रही है। लेकिन उसमें परिवर्तन करना जरूरी है। ईसाई और मुस्लिम बहनो को भी उनकी आध्यात्मिक खुराक मिलनी चाहिए। और निश्चित समय मे प्रार्थना पूरी करनी है, इसलिए आज की प्रार्थना मे काट छाँट भी करनी चाहिए। मैं आपके आश्रम मे आता तो यह परिवर्तन तुरन्त कर देता। आप स्वय ईसाई हैं, इसलिए परिवर्तन करने में आपको संकोच होगा। शायद कुछ बहने शक की निगाह से देखेगी। ऐसे काम तो मुझ जैसे को ही आ कर देने चाहिए। असली सिद्धान्त यही है कि प्रार्थना मे आश्रमवासियों को उनकी अभिरुचि की खुराक मिलनी चाहिए और सबको एक दूसरे की अभिरुचि सँभालनी चाहिए।

अगर हम सर्वसमान प्रार्थना बनाने बैठेंगे तो वह बिलकुल दरिद्र होगी। सबके सब धर्मों का दृढभाजक (ग्रेटेस्ट कामन मल्टीपल) निकालने जाएँगे तो हर धर्म की महकती खासियतें छोड देनी पडेगी। फिर यह सिद्धान्त भी बेहूदा है कि एक कोई चीज पसन्द नहीं आती, इसलिए दूसरा उसे छोड दे। यह सहिष्णुता होगी, जबरदस्ती होगी, जो समुदाय के जीवन को नि.सत्त्व बना देगी। एक मिसाल ले। ईसाई प्रार्थना मे भगवान् को 'परम पिता' कहा जाता है और इस्लाम कहता है कि 'भगवान् न किसी का पिता है, न किसी का पुत्र।' तो क्या सर्वसमान प्रार्थना चलाने के लिए ईसाइयों से कहे कि वे भगवान को परम पिता न कहें ? महात्माजी ने एक जगह बड़ी खूबी से लिखा है कि "भगवान् किसी का पिता नहीं, लेकिन उसकी यह उदारता है कि वह हमे अपने को पिता कहकर पुकारने देता है। भगवान् हमारे भावो को जानता है। हम कैसी भी प्रार्थना करे, वह समझ जाता है और उसे स्वीकार करता है।"

यह तर्क का काम नहीं है। जो लोग मनुष्य-हृदय को पहचानते हैं। वे तर्क

के जाल में अपने को नहीं फँसाते। एक को भी पसन्द न हो तो वह चीज पकायी ही न जाय, ऐसा हम निश्चय करें. तो समुदाय के भोजन का क्या होगा ? मैं तर्क को एक ओर रखकर भगवान् को परमपिता भी कहता हूँ और कुरान की वह आयत भी बोलता हूँ— 'लम् यलिद् वलम्' आदि। मुझे इन दोनो वचनो में कोई विरोध नहीं महसूस होता। अगर कुछ विरोध हो भी तो उससे मैं घबराऊँगा नही। हृदय की वृत्तियाँ अनन्त होती है। मतलब भाव से है।

सब धर्मो का लघुतम साधारण भाज्य (लोएस्ट कॉमन मल्टीपल) निकालने से भी काम नहीं चलेगा, क्योकि जो लोग हमारे बीच नही हैं, उनके धर्म की बातें भी हम अपनी प्रार्थना मे चलायेंगे तो वह कुछ कृत्रिम सी बात होगी। उसका वायुमण्डल जिन्दा नहीं रह जायगा। हमारा जीवन जितना विविध और समृद्ध होगा, उतनी ही विविधता और समृद्धि हमारी प्रार्थना मे आनी चाहिए। प्रार्थना म वही पहलू रहे, जिन्हें अपनाने वाले कोई प्रतिनिधि हमारे बीच हो।

इसका अर्थ यह नही कि आश्रम म अगर कोई मुसलमान सदस्य न रहा तो हम 'अल्-फातिहा' छोड देगे।

मुख्य बात इतनी ही है कि प्रार्थना एक जिन्दा चीज है। वह चैतन्यमय है। उसमे कृत्रिम नियम नहीं हो सकते। वह कोई साम्प्रदायिक समझौता या बँटवारा नहीं। प्रार्थना में अगर समझौता और बँटवारा आ गया तो शायद सबको सन्तोष होगा, लेकिन पार्थना की रूह चली जाएगी। लडने वालो को सन्तोष होगा, लेकिन भगवान् और भक्त दोनो रो पडेंगे।

प्रार्थना का यह असली स्वरूप जो समझ सके, वे जहाँ गये, उसे कुछ न कुछ शुभ रूप दे ही देगे। असली चीज प्रार्थना म भक्त हृदय है उसने जो मन्जूर किया, वह शुभ ही होगा। यहाँ कानून और दुनियादारी के इन्साफ का काम नहीं है। उपनिषद् के ऋषि ने एक ही वाक्य म फैसला दिया है : 'हृदयेन हि सत्यम् जानाति' — असली चीज रूहानी बात, परम सत्य हृदय में ही पहचाना जाता है।

बम्बई, ५-९-'५०

२. समन्वय-संस्कृति का उद्गम-स्थान

सम्पूर्ण मानव-जाति के कल्याण का किसी भी तरह अहित न हो, इस प्रकार देश की सेवा करना और इसके लिए अपनी योग्यता बढाना ही गांधीजी के सत्याग्रहाश्रम का उद्देश्य था।

मनुष्य के द्वारा सेवा तभी हो सकती है, जब उसका निजी जीवन शुद्ध हो, मानवीय कल्याण की उसकी कल्पना निर्दोष हो और सेवा के लिए जरूरी कौशल उसने हासिल किया हो।

ऐसी त्रिविध योग्यता हासिल करने के लिए गाँधी ने आश्रम के सामने 'एकादश व्रत' रखे।

इनमें से पहले पाँच व्रत तो एक या दूसरे रूप में सब धर्मों की बुनियाद में हैं; हिन्दू, बौद्ध और जैन साधना-क्रम में तथा योगशास्त्र में भी इन्हें 'यम' कहा गया है। पाँच यम और पाँच नियम मिलाकर मनुष्य की व्यक्तिगत और सामाजिक साधना की बुनियाद मजबूत होती है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और संयम अथवा ब्रह्मचर्य, ये पाँच यम हैं यानी संयम के प्रधान क्षेत्र । फिर शौच (स्वच्छता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान, ये नियम मिलकर मनुष्य की आत्मिक, सामाजिक और आध्यात्मिक साधना की बुनियाद मजबूत होती है।

पाँच यमों का यह सार्वभौम उपयोग देखकर और उसकी संस्कृति-समन्वय की शक्ति पहचान कर गांधीजी ने उन्हीं से आश्रम-जीवन का प्रारम्भ किया और आपने जीवन, चिन्तन, अनुभव और तुलना के बल पर उन्होंने इनके साथ दूसरे छह व्रत जोड़ दिये। ये छह व्रत भी आज की मानव-जाति के व्यक्तिगत सामाजिक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के दोषों को पहचान कर ही यहाँ रखे गये हैं। इनमें से एक है, निर्भयता। दूसरा है, शरीर-श्रम की निरपवाद सार्वभौम आवश्यकता। सयम, अपरिग्रह और निर्भयता, तीनों की साधना के लिए 'अस्वाद व्रत' जरूरी है, इस बात को आज की दुनिया के सामने रखने की हिम्मत गांधीजी ही कर सके।

दुनिया मे मानवीय उन्नति के लिए स्थापित अनेक धर्म हैं। ये सब धर्म आगे उन्नति के मूल मे है। लेकिन संकुचितता और अभिमान के कारण मनुष्य ने धर्म को लेकर ही झगडे शुरू किये। पृथ्वी पर अनेक धर्म चलने हैं और उनके बीच तनाव भी हमेशा चलता रहता है। स्वार्थ, लोभ, ईर्ष्या और अहंकार के कारण मानव मानव के बीच, वंश-वंश के बीच जो तनाव चलता है, उसकी बराइ तो मनुष्य तुरन्त पहचान सकता है। धर्म-धर्म के बीच और संस्कृति संस्कृति के बीच जो तनाव पाया जाता है, उसे दूर करना सबसे कठिन काम है।

इस तनाव को दूर करने के लिए गांधी जी ने एक व्रत सुझाया है, सर्वधर्म-समभाव।

दुनिया में जो इतनी होड चलती है, हरएक खण्ड के लोग, खास करके यूरोप-अमेरिका के पश्चिमी लोग जो संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता चलाते हैं, उनका इलाज गांधीजी ने स्वदेशी में ढूंढा और उसे आध्यात्मिक रूप दिया।

गांधीजी ने यह भी देखा कि पश्चिम के गोरों ने गोरों के और रंगीन लोगों के बीच जो झगडा चलाया, अपनी चमड़ी के रंग के कारण जो उच्च-नीच भाव

उन्होंने अभी-अभी बढ़ाया, उसी का अन्तिम रूप हमारे स्पर्शास्पर्श के दोष में संगठित हुआ है। अपने-पराये का भेद जब बढ़ता है, तब मनुष्य अन्धा होकर अस्पृश्यता जैसे महापाप समाज में चलाता है। अगर अस्पृश्यता मिटा दी, उच्च-नीच भाव दूर किया, अपना और पराये का भेद नष्ट किया, तो विश्वकुटुम्ब-भाव स्थापित होगा और हम तहेदिल से गा सकेंगे 'कोई नहीं है गैर, बाबा कोई नहीं है गैर।'

भारत, यूरोप (अमेरिका) और अफ्रीका, इन तीनों खण्डों के राजनीतिक, सामाजिक, वांशिक झगड़ों का निरीक्षण करके गांधीजी ने इसका इलाज बताया और आश्रम के एकादश व्रत तैयार किये। इन व्रतों के द्वारा नव-मानवता का निमार्ण करना ही उनका विराट आदर्श था।

भारतीय सभ्यता का स्वभाव ही हर कल्पना को सादा, सार्वभौम और साथ-साथ नम्र रूप देना रहा है। इसीलिए आश्रम के उद्देश्य,व्रत और नियमों में कहीं भी कल्पना-गौरव पाया नहीं जायगा।

बचपन में अपने पिता की सेवा करते हुए उन्होंने उनके मुँह से जो धर्म-चर्चा सुनी थी उसका चिन्तन करके गांधीजी संघर्ष और समन्वय के स्वरूप को पहचान गये। विलायत में उन्होंने ईसाई धर्म और हिन्दू धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का अध्ययन, मनन चिन्तन किया। पूर्व और पश्चिम के सामाजिक जीवन के गुण-दोष देख ही लिये थे। दक्षिण अफ्रीका में धर्मों के तनाव, वर्णविद्वेष और वंशनिग्रह (Racial conflict) का पूरा दर्शन किया। धर्माभिमान, वर्णाभिमान, सामर्थ्य और वैभव का अभिमान देखते हुए उनके कारण किस तरह मानवता, बन्धुता और विश्व कुटुम्बवाद छिन्न भिन्न होते हैं यह सब भी उन्होंने देख लिया। वे समझ गये कि जब तक मानस परिवर्तन जीवन-परिवर्तन और समाज परिवर्तन नहीं कर पायेंगे, तब तक मानव जाति कृतार्थ नहीं हो सकेगी। इसलिए दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने अपने घर में और अपने साथ काम करने वाले सब साथियों के जीवन में परिवर्तन करना शुरू कर दिया। यही उनके आश्रम जीवन का प्रारम्भ था।

उन्होंने भारतीय संस्कृति के गुण दोष देखे ही थे। जाति का अभिमान, वर्णाभिमान, कमजोर (अभागी) जातियों के प्रति तिरस्कार, हिन्दू-मुस्लिम आदि जातियों का परस्पर अज्ञान और सहानुभूति का अभाव, गोरों की उद्धता आदि उन्होंने देख ही ली थी। इन दोषों के कारण एक बड़ा राष्ट्र कितना दुर्बल, रोगी, अपमानित और दयनीय बन गया है, इसका अनुभव उन्हें था। भारत में हमने अछूतों की जो स्थिति कर रखी, वही स्थिति नियति ने दक्षिण अफ्रीका में हमारे लोगों की करके हमें एक बड़ा सबक सिखाया और गांधीजी ने तो इसका अनुभव सिर से पाँव तक

एक-एक हड्डी में किया। इसी अनुभव के कारण चिन्तन उग्र हुआ और उनकी आस्तिकता ने उन्हें रास्ता सुझाया। वह रास्ता टॉल्स्टॉय फार्म और फेनिक्स से सेटलमेन्ट द्वारा उन्होंने आजमाया।

गांधी ने यह भी देखा कि यूरोप के जागरूक, बलशाली मतर्क और संगठित लोगों ने विज्ञान के बल पर सारी दुनिया को अपने हाथ में करके आश्रित बना लिया है। इस बडी आसुरी शक्ति का मुकाबला आत्मिक शक्ति से ही हो सकता है।

गांधीजी का यह आविष्कार या साक्षात्कार मानव-जाति के विकास में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना है। केवल भारत के लिए ही नहीं, सारे विश्व के लिए यह एक लोकोत्तर घटना है।

आजकल के लोग कालगणना ईसा के पूर्व और ईसा के पश्चात् B C और A.D ऐसे भेद से करते हैं। जब मनुष्य-जाति का बाल्यकाल दूर होगा, अन्धकार-युग हट जायगा, तब लोग कालगणना में और मानवीय इतिहास के विभाग में सत्याग्रह के जन्म के पहले का इतिहास और सत्याग्रह के अवतार के बाद का इतिहास, ऐसे विश्व-इतिहास के दो विभाग करेगे।

भारत-भाग्यविधाता ने दुनिया के सब वंश के लोगों को भारत मे ला छोडा। दुनिया के सब धर्मो के धर्म जीवन के प्रयोग भी भारत में ही बो दिये। इस तरह भारत बहुधर्मी देश बना हुआ है। यहाँ पर शान्ति, न्याय और कौटुम्बिक भाव स्थापित करना आसान नहीं है। लेकिन अगर कहीं भी सर्वप्रथम स्थापित हो सकता है, तो इसी देश में हो सकता है। सर्वसमन्वय का यह नया सन्देश इसी देश से बाहर फैल सकता है।

इतिहासविधाता ने भिन्न-भिन्न संस्कृतियों को समन्वय करने का मिशन भारत को ही सौंपा है और उसकी सिद्धि आश्रम-जीवन के द्वारा ही हो सकती है।

यह सब देखकर गांधीजी ने आश्रम मे सब धर्मो के और सब वंशों के लोगों को इकट्ठा किया, सबकी प्रार्थना को एक साथ चलाया, सबके लिए समान आहार ढूँढ निकाला और रसोई बनाने से लेकर टट्टी साफ करने तक के सब कामो के द्वारा सादगी, श्रम-जीवन और सर्वसमता का पाठ पढ़ाया और दिखाया कि जो बात आश्रम में सम्भव है, सिद्ध हो चुकी है, वह सारे भारत और धीमे-धीमे सारी दुनिया में सिद्ध हो ही जायेगी।

गांधी ने तैंतीस (एक शती के तिहाई भाग) बरस तक जितनी भी प्रवृत्तियाँ चलायीं, उनका उद्‌गम आश्रम के जीवन से ही है। इसलिए आश्रम-सिद्धान्त, आश्रम के व्रत, आश्रम का जीवन और आश्रम की प्रवृत्ति, इनका सूक्ष्म अध्ययन जरूरी है।

१८-८-'५९

३. समन्वयवादी गांधी

दुनिया जानती है कि सत्याग्रह के प्रणेता महात्मा गांधी अच्छे योद्धा थे। सौम्यता और सज्जनता की पराकाष्ठा कर विरोधी को थकाना, हराना तथा उस पर सच्ची और मीठी विजय पाना यही उनके सत्याग्रह शस्त्र की खूबी थी। गांधीजी शुरू शुरू में जब सत्याग्रह में उतरते थे, तब उनकी शक्ति दुगुनी बढ़ जाती थी। लार्ड विलिंग्डन कहते थे : 'मि. गांधी इज स्ट्रांगेस्ट इन हिज डिफीटिस्म।' काफी अनुभव के बाद, लोग [illegible] गांधीजी से भिड़ना भी टालते थे। ऐसे योद्धा और निश्चयी वीर के जीवन में भला समन्वय के लिए कोई स्थान हो सकता है?

बात चाहे जितने आश्चर्य की हो, पर यह सही है कि उनके स्वभाव, जीवन और सारी प्रवृत्तियों में समन्वय ही भरा था। समन्वय और सत्याग्रह एक दूसरे के पूरक थे। दोनों में कौन तत्त्व प्रधान था और कौन गौण, यह कहना भी मुश्किल है। इसीलिए उनका सत्याग्रह समझने के लिए उनकी समन्वय वृत्ति को अच्छी तरह पहचानना चाहिए। समन्वय वृत्ति का पूरा परिचय होने के बाद ही गांधीजी के सत्याग्रह युद्ध के दावपेच (technique) को हम समझ सकेंगे। गांधीजी के सत्याग्रह का तौर तरीका और उसकी सफलता समझने वाला मनीषी जरूर कहेगा कि गांधीजी सचमुच समन्वयवादी ही थे। उनका सत्याग्रह भी समन्वय का ही एक साधन था। एक ही उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। जब कोई सत्याग्रह के बाद गांधीजी की विजय होती तब वे नम्र बनते और कहते कि 'सत्याग्रह के अन्त में विजय तो दोनों पक्षों की होती है।'

मुझे इस वक्त एक प्रसंग याद आता है। मैं गांधी जी के साथ यरवदा जेल में था। किसी काम से मैं जेलर मि. क्वीन के ऑफिस में गया। धूर्त क्वीन और भाल काका की दोस्ती आसानी से हो गयी थी। हमारी बातें चल रही थीं कि एक तार जेलर के हाथ में आया। बेचारा पढ़ न सका। उसने मेरी मदद माँगी। मैंने पढ़ दिया। उसी से मुझे पता चला कि हमारे आश्रम के श्री प्यारेलाल जी उसी जेल में हैं, कुछ बीमार हैं और कोई आदमी उनसे मिलने की इजाजत माँग रहा है।

जेल के दफ्तर से अपने स्थान पर आते ही मैंने बापू को समाचार दिया। कि प्यारे लाल जी इसी जेल में हैं और कुछ बीमार हैं। प्यारेलाल जी महात्माजी के अत्यन्त निकट के निजी मन्त्री थे। उनको देखे बिना कैसे चल सकता है?

दूसरे दिन उनके रिवाज के अनुसार मेजर मार्टीन जेल-सुपरिण्टेण्डेण्ट गांधीजी से सुबह मिलने आये। गांधीजी ने कहा : "मैं प्यारे लाल से मिलना चाहता हूँ।"

"आपको किसने कहा कि प्यारेलाल इस जेल में हैं ?"

"यह सवाल अप्रस्तुत है। मैं जनता हूँ कि प्यारेलाल बीमार हैं। मैं उनसे मिलना चाहता हूँ।"— गांधी जी ने जवाब दिया।

मेजर मार्टीन आगबबूला हो गये। "जेल का एक कैदी दूसरे कैदी से इस तरह मिल नहीं सकता। यह जेल है। अपने अधिकार को मैं ढीला नहीं होने दूँगा।"

गांधी जी ने अपनी स्थिति समझाने की कोशिश की और कहा : "प्यारेलाल से मिले बिना मैं जी कैसे सकता हूँ ?"

अपना अन्तिम निर्णय सुनाते हुए मेजर मार्टीन ने कहा : "अपनी जेल में ऐसी बातें चलने दूँ, इसके पहले मैं इस्तीफा देकर चला जाना पसन्द करूँगा।"

बात इन्स्पेक्टर जनरल ऑफ प्रिजन्स कर्नल डाइल तक पहुँची। वे गांधीजी का स्वभाव जानते थे। बात भी छोटी थी। वे दौड़े आये। गांधीजी जानते थे कि डाइल के मन में उनके प्रति सद्भाव है। डाइल ने ही मुझे यरवदा-जेल में गांधीजी के पास ला रखा था, क्योंकि मैं छह बरस पहले साबरमती-जेल में बन्दी था। और डाइल साहब नये-नये जेल सुपरिण्टेण्डेण्ट बनकर वहाँ आये थे।

डाइल को देखते ही गांधीजी ने बहुत मीठे शब्दों में कहा : "कितने दीर्घकाल के बाद आपका दर्शन हो रहा है। मैंने माना था कि आपने हम लोगों का त्याग ही कर दिया है।" (आई थॉट यू हॅव डिजर्टेड अस ।)

हम तीनों हँस पड़े। डाइल बाग-बाग हो गये और उन्होंने ही बात शुरू की : "मि. गांधी, आप प्यारेलालजी से मिलना चाहते हैं ? इसका प्रबन्ध हो सकेगा। मेजर मार्टीन की बात सही है। जेल में एक कैदी दूसरे कैदी से मिलने की माँग नहीं कर सकता। लेकिन आप इस वक्त कैदी थोडे ही हैं, आपको किसी कोर्ट ने सजा तो नहीं दी है। आप स्टेट डेटिन्यू (राज्यबन्दी) हैं। आप जरूर प्यारेलाल से मिल सकते हैं।"

बस, एक घन्टे के अन्दर दो पुलिस वालों के साथ प्यारे लाल जी हमारे वार्ड में आ पहुँचे। खूब बातें हुई।

दूसरे दिन मेजर मार्टीन आये, भीगी बिल्ली की तरह। मार्टीन ने कहा : "जब जी चाहे, आप प्यारेलाल को बुला सकते हैं।" अब गांधीजी की समन्वय-वृत्ति जाग्रत हुई। उन्होंने कहा : "नहीं-नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। मैं सिर्फ प्यारेलाल के स्वास्थ्य के लिए चिन्तित हूँ। आठ दिन में एक दफा आधा घण्टे के लिए मुझसे मिल जाएँ तो बस। आप जानते हैं, मैं भी तन्त्रपरायण (डिसिप्लिनेरियन) हूँ। आपकी जेल का शासन ढीला हो, यह मेरे लिए भी असह्य होगा।"

मेजर मार्टीन खुश हो गये। ऐसे अनुकूल हुए कि प्यारेलाल के बाद दूसरे भी

अनेक राजनीतिक कैदियो को गाधीजी ने कहने पर भेजने लगे। गांधी जी ने मुझसे कहा : "इतना मानी आदमी, जो नौकरी से इस्तीफा देने को तैयार हो गया था, उसे यह हजम करना कितना कठिन हुआ होगा। अब मैं इस आदमी का अनुनय ही करता रहूँगा" इत्यादि।

गांधीजी कहते थे कि सफलतापूर्वक असहयोग वही कर सकता है, जिसके रोम-रोम मे सहयोग भरा हो। जिसके खिलाफ हम असहयोग करते हैं, वह तो परेशान होता ही है। हमें भी उसकी वेदना महसूस होनी चाहिए। सहयोग का स्वभाव होना चाहिए। मनुष्य को लगना चाहिए कि क्या मेरा दुर्दैव कि मुझे असहयोग रूपी कटु कर्तव्य करना पड रहा है। असहयोग के अन्त में विजय पाने पर हम यह कोशिश न करें कि इस विजय से अधिक-से-अधिक लाभ कैसे उठाया जाय। हमें सोचना चाहिए कि विरोधी जब समझ गया है कि बात माने बिना चारा नहीं, तब सयमपूर्वक कम-से-कम लेकर उसे अपना दोस्त बनाने की हमारी कोशिश होनी चाहिए। विरोधी के हक में जो-जो बातें दीख पड़ें, उनकी हम कदर करे, ताकि उसको विश्वास हो जाय कि जिसे मैंने दुश्मन माना, वह केवल दाना दुश्मन नही, किन्तु मचमुच दोस्त ही है। मै भी अन्यायकारी था, इसलिए उसे विरोध करना पडा।

अब हम गाधीजी की समन्वयात्मक वृत्ति और तदनुसारे ममन्वयात्मक प्रवृत्ति को समझन की कोशिश करे।

जीवन जटिल चीज है। उमका व्यापार असख्य मिद्धान्तों को लेकर चलता है। कभी एक सिद्धान्त कारगर होता है, कभी दूमरा। कभी दोना को छोड कर तीसरा ही निकालना पड़ता है। कभी कभी ऐसे भी प्रसग आते हैं, जब मनुष्य को कहना पडता है कि मै जानता हूँ कि जिम रास्ते मै चला उस परिस्थिति मे वही योग्य था। लेकिन मै अपने आचरण का बचाव किसी भी सिद्धान्त के महारे नहीं कर मकूँगा।

जो केवल सिद्धान्तवादी होते हैं अथवा एक ही सिद्धान्त को लेकर चलते हैं, उनको कदम-कदम पर पछताना पडता है कि एक सिद्धान्त के आग्रह से अम अन्धे बने और दूमरे अधिक महत्त्व के सिद्धान्तो का हमम द्रोह हुआ।

जो लोग केवल व्यवहारवादी होते हैं और जिन्हें सिद्धान्तों की बाधा कभी हुई, उन्हें भी कम नहीं पछताना पडता। व्यवहारवाद का भी अपना व्याकरण होता है। नजदीक का लाभ देखकर मनुष्य दूर का और स्थायी लाभ खो बैठता है और फिर सारी जिन्दगी पछताना रहता है। व्यवहारवादी लोग कभी-कभी कल्पनाशून्य होते हैं। ऐसे लोग पुराने अनुभवों पर अधिक विश्वास करते हैं। उन्हें भविष्य का अन्दाज नहीं होता।

भविष्य का अन्दाज तो अज्ञान में कूदने जैसा होता है। अगर हम भाग्यशाली रहे, तो भविष्य का अन्दाज ठीक निकलता है, नहीं तो दिमाग खूब चलाने पर भी गलतियाँ बराबर होती हैं। इसलिए व्यवहारवादी लोग भी भाग्य या तकदीर पर विश्वास रखते हैं।

जो लोग सच्चे जीवन-उपासक होते हैं वे सिद्धान्त और व्यवहार का समन्वय तो करते ही हैं, किन्तु किसी भी हालत में सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक सिद्धान्त को आँच नहीं आने देता।

जो सिद्धान्त परस्पर विरोधी-से लगते हैं, उनको अपनी प्रतिभा के बल पर जीवन की कसौटी पर कसकर देखना ही गांधी जी जैसे सिद्धान्त-व्यवहार का समन्वय करने वाले कुशल पुरुषों की खूबी होती है। कह सकते हैं कि अपने कौशल के बल पर समन्वय-योगी बन गये। (योगः कर्मसु कौशलम्) यह कौशल मनुष्य को तब प्राप्त होता है, जब उसके मन में कोई स्वार्थ, अहंकार अथवा पक्षपात नहीं होता। इसी को गीता ने 'समत्व' कहा है। (समोऽहम् सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः) सबके प्रति एक सा व्यवहार रखना गांधीजी के लिए इतना स्वाभाविक था कि उनके ऐसे समत्व को योग की सिद्धि ही कहना चाहिए। (समत्वं योग उच्यते)।

केवल व्यवहार की सफलता के खयाल से जो लोग भले-बुरे का विधि-निषेध न रखते हुए किसी भी तरह समझौता करते हैं। वे समन्वयवादी या समन्वययोगी नहीं होते। समन्वय जीवन को जीने की सर्वोच्च कला है। इसमें असत्य, अनार्यता या हीनता को कहीं भी प्रश्रय देने की बात नहीं। इसलिए गांधीजी के जीवनक्रम में जो समन्वय के प्रसंग दीख पड़ते हैं उनकी कीमत सबसे अधिक है।

गांधीजी ने कहा है कि उनके पिता जैसे दीवान थे, वैसे लोकनेता भी। जैन, मुसलमान पारसी, वैष्णव आदि सब धर्मों के, सब तरह के लोग उनसे मिलने आते। जो लोग जीवन-कला में प्रवीण होते हैं, उनके लिए समझौता, सामंजस्य और समन्वय बिलकुल आसान हो जाते हैं। गांधी जी को यही खूबी थी कि वे सब धर्मों का रहस्य अच्छी तरह समझ सकते थे। हरएक समाज के रस्म-रिवाजों में क्या रहस्य रहा है, सो भी वे तुरन्त पहचान लेते। इसके लिए सर्वकल्याण-कारी कल्पना-शक्ति की जरूरत होती है। उसके बिना समन्वय केवल तात्कालिक समझौता बनता और आगे जाकर नये-नये जटिल सवाल पैदा करता है। सच्चा समझौता कभी नयी कठिनाइयाँ पैदा नहीं करता। समन्वय का स्वभाव ही सर्वोदयकारी होता है। इसीलिए तो सर्वोदय द्वारा हम विश्व-शान्ति की अपेक्षा रखते हैं।

धर्म-समन्वय का वातावरण साधारण तौर पर भारत में सर्वत्र है। चन्द सम्प्रदायों

में अति असहिष्णुता होती है। उनकी बात अलग है। साधारण तौर पर लोग सब सम्प्रदायों का थोड़ा-बहुत आतिथ्य करते ही हैं।

गांधी जी ने सर्वधर्म-समभाव अथवा समन्वय के लिए अपने जमाने में अधिक-से-अधिक कोशिश की। उनके आश्रम की बुनियाद में जो ग्यारह व्रत हैं, उनमें सर्वधर्म समभाव अथवा समन्वय प्रधान है।

राजनीतिक क्षेत्र में गांधीजी ने, जितना उनसे हो सका,सब दलों के बीच परस्पर सहिष्णुता स्थापित की और उसे वे परस्पर आदर तक ले गये। महाराष्ट्र में 'लिबरल' अथवा 'मॉडरेट' पक्ष और 'नेशनलिस्ट' अथवा 'एक्स्ट्रीमिस्ट' पक्ष के बीच जो वैर चलता था, वह गांधी जी के कारण बहुत कुछ कम हो गया। बंगाल में भी ऐसी ही हालत थी। वहाँ तो गांधी जी ने रवीन्द्रनाथ के साथ प्रेम सम्बन्ध स्थापित किया, रामानन्द चटर्जी की मदद में दौड़े। बरसों एक जेल में पड़े क्रान्तिकारी नवयुवकों को छुड़ाने में गांधीजी ने अपनी शक्ति लगायी। चित्तरंजन दास के देहान्त के बाद बंगाल का राजनीतिक जीवन तितर बितर हो रहा था तो उसे सँभाला। धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक आर्थिक और शैक्षिक सब-के सब क्षेत्रों में विरोधी दलों में भाईचारा पैदा करने का मीठा और मूक प्रयत्न गांधीजी ने ऐसा किया कि भारत-जननी एक हृदय हुई यह देखने का सौभाग्य एक पीढ़ी को पूरा मिला। देश के उद्योगपतियों के साथ दोस्ती बढ़ा कर उनकी सहानुभूति खादी के लिए ले ली और समाज सत्तावाद की कटुता बहुत हद तक कम कर दी।

समन्वय की करामात केवल राजनीतिक नहीं, किन्तु पारिवारिक वायुमण्डल में भी गांधी जी ने मुक्त हस्त से चलायी और असंख्य परिवारों के झगड़े दूर करके पिता-पुत्र, पति-पत्नी और भाई भाई के बीच एकराग पैदा किया।

सत्याग्रहपरायण और असहयोगपरायण आन्दोलन के अन्त में जब स्वराज्य मिला और अंग्रेज इस देश में चले गये,तब ब्रिटेन और भारत के बीच मैत्री का ही सम्बन्ध स्थापित हुआ। ब्रिटेन ने स्वयं भारत को राष्ट्रमण्डल (कॉमनवेल्थ) में शरीक होने का आमन्त्रण दिया। गांधी जी की समन्वय-वृत्ति के कारण ही यह चमत्कार हो सका। जब मैं मिस्र (काहिरा) गया था, तब वहाँ देखा कि जब कोई अंग्रेज रास्ते पर से जाता तो मिस्री लोग उसे देखकर रास्ते पर थूकते । तब मेरे ध्यान में आया कि गांधीजी ने स्वराज के साथ ब्रिटेन और भारत की दोस्ती स्थापित की ! यह उनका एक असाधारण जागतिक युग-कार्य था। (इस सिद्धि के लिए भारत और ब्रिटेन, दोनों देशों की प्रजा को और दोनों देशों की संस्कृतियों को भी श्रेय देना चाहिए)

मैंने किसी जगह लिखा है कि यन्त्र के पुर्जे बिना संघर्ष के और बिना चीत्कार

के चलें, ऐसी हमारी इच्छा हो तो पुर्जों में तेल देना चाहिए। संस्कृत में इसे 'स्नेह-प्रयोग' कहते हैं। ऐसा समन्वयकारी, कल्याणकारी और संघर्ष-निवारक तेल कहाँ मिलेगा ? ऐसा तेल अथवा स्नेह समन्वयकारी को अपनी जान और अपना जीवन पेर कर ही निकालना चाहिए। गांधी जी ने यह साधना सबसे अधिक की, इसीलिए वे स्नेहपूर्ण समन्वययोगी, समन्वयमूर्ति बन सके।

आज जब भारत में परस्पर ईर्ष्या, मत्सर और टीका-टिप्पणी चल रही है, विरोधी और संघर्ष सार्वत्रिक फैल रहे हैं और देश की भावनात्मक एकता के करीब-करीब टूटने का खतरा पैदा हो गया है, तब समन्वयमूर्ति गांधीजी का स्मरण अधिक होता है।

१५-६-'६५

११. समन्वय-आश्रम

१. समन्वय की साधना

जापान, कोरिया, चीन, तिब्बत, ब्रह्मदेश, स्याम (थाइलैण्ड), कम्बोडिया, इण्डोचाइना आदि सब देश बौद्ध हैं। इनकी भक्ति भारत के प्रति और विशेष रूप से बिहार की भूमि के प्रति है। प्राचीन काल से बौद्ध लोग मानते आये हैं कि भारत के चार स्थान अति पवित्र हैं : १ लुम्बिनीदेवी, जहाँ बुद्ध भगवान् का जन्म हुआ। २. बोधिगया, जहाँ भगवान् को बोध (ज्ञान)की प्राप्ति हुई। ३ सारनाथ, जहाँ भगवान् ने अपने प्रथम उपदेश द्वारा धर्म चक्र-प्रवर्तन किया और ४ कुशिनाग, जहाँ उन्होंने देह तजकर निर्वाण प्राप्त किया। एशिया खण्ड की विशाल भूमि के करोड़ों लोग बुद्ध भगवान् को मानते हैं। हम भी बुद्ध भगवान को विष्णु का अवतार मानते हैं। राम और कृष्ण पूर्वावतार थे। चालू अवतार बुद्ध का है। जब हम कोई धार्मिक कार्य करते हैं: तब संकल्प करते हैं : 'जम्बुद्वीपे बुद्धावतारे' आदि।

बुद्ध भगवान ने 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' अपना अष्टांगिक मार्ग चलाया और मनुष्य-मनुष्य के बीच वैरभाव न रहे, इसकी कोशिश की। उनके धर्म का और हिन्दू-धर्म का समन्वय स्थापित करना है। हिन्दू-धर्म की बुनियाद है, वेदान्त। इस वेदान्त का विस्तार श्री शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य आदि अनेक आचार्यों ने किया है।

जो व्यक्ति उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता— इन तीनों का एकवाक्यता या समन्वय कर सके, उसे आचार्य कहते हैं। अब हम उसी को आचार्य कहेंगे जो द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि सब दृष्टियों का समन्वय कर सके। अब तो हमें सब दर्शनों का समन्वय साधना है। इतना ही नहीं, हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिख, लिंगायत आदि सब सम्प्रदायो का भी समन्वय करना है।

भगवान् ने इस भूमि पर इस्लाम और ईसाई धर्म (विश्वासी धर्म) को भी स्थान दिया। इन सब धर्मों में भी समन्वय लाना है। अगर दुनिया में विश्वबन्धुत्व की स्थापना करनी है, तो सब जातियों में, वंश और महावंशों मे भी संघर्ष टालकर समन्वय स्थापित करना होगा। अफ्रीका के युवको और युवतियों को हम भारत बुलाने लगे हैं। यहाँ आकर वे भारत की सम्मिश्र संस्कृति का, संगम-संस्कृति का दर्शन करते हैं। अन्य देशों के लोग भी यहाँ आयेंगे। उनको भी हमें बताना होगा कि भेदभाव हजम करके हम सबको अपना सकते हैं। ऐसे लोगों में मांसाहारी होंगे, शराबी भी होंगे। उनके रस्मो-रिवाज हम से अलग होंगे। यह सब होते हुए भी हमें उनको अपनाना है।

जापान के लोग मांसाहारी है, मछलियाँ खाते हैं। मैं उनके वहाँ रहकर भी खान-पान के अपने सिद्धान्तो का पालन कर सका। लेकिन सँभालने की शक्ति होनी चाहिए। अगर उन्होंने अण्डे की कोई चीज भूल से मेरी थाली में डाल दी, तो मै उस चीज को हटाकर भात, शाक आदि अपने काम की चीजें खा लेता था।

मैं टोकियो से कोबे गया। वहाँ अनेक भारतीय स्वजन रहते हैं। मैं उनसे मिला। एक छोटे से कमरे में लगभग चालीस भारतीय इकट्ठा हुए थे। कुछ महिलाएँ भी थीं। उनमें सिन्धी थे, पंजाबी थे, गुजराती और मद्रासी भी थे। एक महाराष्ट्री भी था। मानो सारे भारत का वहाँ मै दर्शन कर रहा था। जब अपने लोग इकट्ठा होते है, तब अन्तर की बाते छिड जाती हैं। किसी ने पूछा : "पंडित जवाहरलाल जी हमारे सुयोग्य नेता है। भगवान् की कृपा से वे हजार बरस जियें। लेकिन इनके बाद देश के नेता कौन ?" मैंने कहा : "ऐसे सवाल बचपन से सुनता आया हूँ। श्री दादा भाई नौरोजी के बाद देश का नेतृत्व कौन करेगा ? गोखले के बाद कौन ? लोकमान्य तिलक के ऊपर लोग इतने खुश थे कि वे मानते थे कि उनके जैसा नेता कोई होगा नहीं। लेकिन उनके बाद गांधी जी आये। उनका काम पंडित नेहरू चला रहे हैं और सारी दुनिया को रास्ता दिखा रहे हैं। जब किसी राष्ट्र के भाग्योदय के दिन आते हैं, तब नेताओं की परम्परा चलती ही है। मौसम आने पर फूल और फल मिलते ही जाते हैं। हम अश्रद्धालु होकर क्यो मानें कि अब देश को कोई नेता नहीं मिलेगा ?" इसके बाद अनेक नेताओं के बारे में चर्चा हुई। मैंने

भूदान-यज्ञ की, अहिंसक क्रान्ति की भी बातें कीं। तब किसी ने पूछा : "क्या विनोबा भावे भारत के राजनीतिक नेता बन सकते हैं ?" मैंने कहा : "नहीं। आगे राजनीति के दिन रहने वाले नहीं हैं।"

इसी विचार को समझाते हुए मैंने कहा : "एक जमाना था, जब धर्मों का बोलबाला था। बड़े-बड़े सम्राट भी धर्माचार्यों के सामने सिर झुकाते थे। धर्मों ने समस्त मानव-जीवन पर कब्जा कर लिया था। आगे जाकर ये सब धर्म गिर गये। आपस में लड़ने लगे और धर्म के नाम पर अधर्म फैलाने लगे। इससे दुनिया ऊब गयी। लोग कहने लगे कि हमें धार्मिकता चाहिए, मानवता चाहिए, लेकिन इन प्रचलित धर्मों को तो हटा ही देना चाहिए। धर्मों की तरफदारी और आपसी झगड़े देखकर ही हमने तय किया कि भारत का राज्य सेक्युलर डेमोक्रेसी धर्म-निरपेक्ष प्रजातन्त्र होगा। हमारे जैसे धर्म परायण लोगों ने सर्वानुमति से सेक्युलर डेमोक्रेसी का आदर्श मान्य किया, यह कोई मामूली बात नहीं है।

जिस तरह हम इन धर्मों से परेशान हो गये हैं उसी तरह राजनीतिक सम्प्रदायों से भी तंग आ गये हैं। कम्यूनिज्म और कम्युनलिज्म, कॅपिटलिज्म और टोटेलिटेरियनिज्म— सबका दिवाला निकल चुका है। ये सारे 'इज्म' आपस में लड़कर दुनिया का नाश करने बैठे हैं। इसलिए हमारा किसी पर विश्वास नहीं रहा। अब हम राजनीति विमुख समाज-रचना करना चाहते हैं। हम व्यवस्था चाहिए, लेकिन राज्यतन्त्र नहीं।

महात्माजी ने आत्मशक्ति का परिचय कराकर सत्याग्रह के द्वारा स्वराज्य पाने का रास्ता दिखाया था। अब विनोबा भावे हजारों और लाखों लोगों के हृदय-परिवर्तन के द्वारा सामाजिक क्रान्ति कर रहे हैं। विनोबा की आध्यात्मिक विभूति महात्माजी की विभूति से कम नहीं है। महात्माजी की प्रज्ञा और कौशल पूरी मात्रा में शायद उनमें न हो, लेकिन आध्यात्मिक विभूति गांधीजी से कम नहीं है। हम दोनों महात्मा गांधी के शिष्य हैं। हम गुरुभाई हैं। भगवान् ने कुछ दृष्टि दी है। जो देखता हूँ सो कहता हूँ। अब भारत में नयी ही समाज-रचना होगी।"

जापान में मैंने देखा कि वहाँ के लोग ऊपर से भले ही पश्चिम का अनुकरण करें, वे हृदय से बौद्ध हैं। अब ऐसे दिन आ गये, जब हम सब एक-दूसरे के नजदीक आ जायँ। पश्चिम के गोरे लोग, अफ्रीका के काले लोग, चीन के पीले लोग— सब लोगों से हमें समन्वय करना है।

किसी ने पूछा की समन्वय में शादियाँ करने की भी बात आती है ? मैंने कहा : "यह कोई नयी चीज नहीं है। हमारे देश में ऐसी शादियाँ हो चुकी हैं। महाश्वेता और कादम्बरी कौन थीं ? नाम पर से ही पता चलता है कि परदेश के ये स्त्री-रत्न थे। उर्वशी भी शायद इराक से आयी थी। कैकेयी और गान्धारी

परदेश की राजकन्याएँ थीं। चीन, मिस्र, ब्रह्मदेश आदि अनेक देशों से हमने शादी-ब्याह किये थे। और हम लोगों ने प्रयोग भी कितने किये ! एक आदमी की अनेक स्त्रियाँ और एक स्त्री के अनेक पति ! द्रौपदी वाला प्रयोग आज भी हिमाचल प्रदेश मे चलता है। ऐसे भी प्रयोग हमने किये, जिसमें लड़की किसी से भी शादी करे, लेकिन अपना देश न छोड़े। अर्जुन और चित्रांगदा का सम्बन्ध ऐसा ही था। चित्रांगदा ने अर्जुन के साथ शादी तो की, लेकिन कहा कि "मैं अपने देश को और अपने लोगों को छोड़कर तुम्हारे साथ नहीं जाऊँगी। हमारी सन्तान भी यहीं रहेगी।" हम तो 'पतित' जाति की कन्या भी लेते थे : 'स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि।' मैं आज ऐसे विवाहों की बात नहीं कर रहा हूँ, लेकिन हो जायँ तो उनका विरोध नहीं करना चाहिए।"

अद्वैत केवल दार्शनिक तत्त्व नहीं, जीवन तत्त्व है। इसलिए समन्वय में सांस्कृतिक समन्वय भी आ जाता है।

कल जब मैं विनोबा से मिला और जापान की यात्रा को लेकर अपने विचार उनके सामने प्रकट किये, तब उन्होंने कहा कि "मैं भी यही सोच रहा हूँ। मैं बुद्धगया आया, वह बुद्ध भगवान् के प्रति श्रद्धा लेकर ही आया। अब यहाँ एक समन्वय-आश्रम खोलना चाहता हूँ। ऐसी जगह, जहाँ से बुद्ध भगवान् के मन्दिर का दर्शन हो सके। यहाँ के शंकराचार्य के मठगांत म ऐसी जगह आसानी से मिल गयी है।"

विनोबा की यह बात सुनकर मुझे बहुत आनन्द हुआ। जी भर आया कि महात्मा गांधी की प्रेरणा हम लोगों में कैसे एक ही ढंग से काम कर रही है। वहाँ टोकियो में बैठकर जिस चीज को मैं सोच रहा था, उसी चीज को उज्ज्वल और व्यावहारिक रूप देने की तैयारी विनोबा यहाँ कर रहे हैं। इसलिए अब मैं इतना ही कहूँगा कि अब समन्वय के दिन आ रहे हैं, अब भेदभाव भूल जाना है। भेद पापमूलक है। अभेद सत्यमूलक है। इसलिए हमें भेद मिटाकर अभेद की तरफ जाना है। इस पवित्र भूमि में बुद्ध भगवान ने अवैर का सिद्धान्त सिखाया। भगवान् महावीर ने अहिंसा और स्याद्वाद का सन्देश दिया। स्याद्वाद से ही समन्वय पुष्ट होता है। इसी चीज को महात्मा जी ने सर्वधर्म-समभाव का रूप दिया। शंकराचार्य को हम जगद्गुरु कहते हैं। 'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्' कहकर हम यही बताते हैं कि श्री कृष्ण और भगवद्गीता केवल हिन्दुओं के नहीं, सारे विश्व के हैं। हम गीता को आज सनातन धर्म के जितना संकुचित न करें। गीता जितनी व्यापक है, उतना ही व्यापक हिन्दू-धर्म को भी करना चाहिए। जितने भी रूढ़िधर्म हैं, उनको तोड़कर हमारे धर्म को एक असाम्प्रदायिक रूप देना है और आत्मशक्ति को प्रकट करना है। जापान में बुद्ध-जयन्ती के दिन कुमामोतो शहर में मैंने हिन्दी में भाषण किया और हमारे एक

जापानी भाई ने उसका अपनी भाषा में अनुवाद किया। मैंने कहा कि एटम, हाइड्रोजन और कोबॉल्ट इस दुनिया में हमेशा हैं ही। उनके अन्दर जो सूक्ष्म शक्ति है, उसे कोई जानते नहीं थे। विज्ञानवीर साइंटिस्ट लोगों ने प्रयोग करके उस सुप्त शक्ति को प्रकट किया और उसके बम बनाये। अब जब तक हम इन हाइड्रोजन और एटम बम से बढ़कर दूसरी शक्ति प्रकट नहीं करते, तब तक दुनिया सलामत नहीं है। गांधीजी ने बताया है कि आत्मशक्ति भौतिक शक्ति से बढकर है। हमें अब वैज्ञानिक बनकर मनुष्य में जो आत्मशक्ति सुप्त है, उसे बाहर निकालना होगा। उसके लिए हमें अपने हृदय की ही प्रयोगशाला बनानी होगी। जिस तरह अन्न का नाम लेने से पेट नहीं भरता, खेती करके अन्न पैदा करने से ही पेट भरता है, इसी तरह प्रेमशक्ति-आत्मशक्ति का सिर्फ नाम लेने से कुछ नहीं होगा। बुद्ध भगवान्, ईसामसीह और गांधीजी, ये सब वैज्ञानिक थे। उनके नाम का जयजयकार करने से उनकी शक्ति हममें नहीं आयेगी। उन जैसी साधना करेंगे और आत्मशक्ति को 'लिबरेट' करेंगे— प्रगट करेंगे— तभी दुनिया में परिवर्तन होगा। जब हम सर्व-धर्म-समन्वय की बात करते हैं, तब उनके मानी होते हैं कि हम सब धर्मों को स्वीकार करते हैं। अर्थात् हर एक धर्म मे जो प्रधान और चिरन्तन बाते होती हैं, उन्हीं को स्वीकार करते हैं। हरएक धर्म मे छोटी-मोटी अनेक बाते होती हैं, उनमें से कुछ तो उस काल के लिए ठीक होती हैं, कुछ हमेशा के लिए ठीक होती हैं, कुछ बाद मे लोग जोड़ देते हैं। उनमे कूडा-कचरा भी होता है। जब हम सर्व-धर्म-समन्वय करने जाते हैं, तब विवेक करना हीं पडता है। छोडने की बाते छोड़ देनी चाहिए। जिन चीजों का महत्त्व कम है, उन्हें गौण मानना चाहिए। धर्म जीवन के लिए है। उस पर हमेशा तार्किक दृष्टि नहीं चलायी जा सकती। जीवन हमेशा तर्क मे नही चलता। जीवन की भूमिका लेकर जो चलता है, वही परस्पर-विरोधी वस्तु मे समन्वय पा सकता है।

पुराने लोगों ने जीवन का रहस्य ढूँढते हुए समन्वय प्राप्त किया। उनके लिए समन्वय एक चिन्ता का और उन्नति का विषय था। हमारे लिए वही चीज अब जीवन-मरण की बन गयी है। अगर हम सबको स्वीकार करते हैं और सबके लिए जीवन-व्यवस्था में स्थान रखते हैं, तो हम जी सकते हैं। इससे उल्टा, अगर हम किसी को मारने चलें, किसी का नाश करने चलें, तो वह भी मर जायगा और हम भी मर जाएँगे। कोई भी नहीं बचेगा। ऐसे सर्वनाश के बाद स्वयं भगवान् को नया अवतार लेकर, नयी सृष्टि बनानी पडेगी यानी नया स्रष्टा बनना पड़ेगा। आज का युग सर्व-धर्म-समन्वय, सर्व-तत्त्व-समन्वय का ही है। इसके लिए हृदय की विशालता आवश्यक है। मर्यादापुरुषोत्तम श्री राम ने शबरी के बेर खाकर एक नयी मर्यादा ही बनायी थी।

भारतवर्ष को भगवान् ने जो आजादी दी है, वह भारत को पुरानी मर्यादा में रखने के लिए नहीं, एश-आराम में रहने के लिए नहीं। हम आजाद हुए हैं औरों को आजाद कराने के लिए, सबकी सेवा करने के लिए। सेवा का नाम लेकर साम्राज्य चलाने के लिए नहीं। हम नम्रता के साथ एशिया के अनेक राष्ट्रों की सेवा करते जायँ और अमरीका एंव रशिया, जो आपस में लड रहे हैं, उनके साथ भी हम मित्रभाव रखें। आज भारतवर्ष अजातशत्रु बना है। भारत की किसी के साथ दुश्मनी नहीं है।

यह जो नयी शक्ति भारत में पैदा हुई है, उसको बढ़ाने का व्रत सर्वोदय का व्रत— यहाँ बैठे हुए जितने भी स्त्री-पुरुष हैं, आप सब लोगों ने ले लिया है। यहाँ पर, बिहार की पवित्र भूमि में, जहाँ बुद्ध और महावीर ने विहार किया था, विनोबा जी एक समन्वय-केन्द्र स्थापित करने जा रहे हैं। उसका प्रधान तत्त्व रहेगा, विचार के साथ सेवा। प्रेम-धर्म उसका आधार रहेगा। यहाँ सब धर्मों के, सब जातियों के और सब देशों के लोग आयेंगे। यह केन्द्र आन्तरभारतीय होगा। बुद्ध भगवान् का धर्म अन्तरराष्ट्रीय (इंटरनेशल) है। वेदान्त भी सार्वभौम है। शंकराचार्य जगद्गुरु थे। वे किसी एक देश के, एक काल के या एक धर्म के नहीं थे। इन लोगों की परम्परा आगे चलाने के लिए विनोबा यहाँ समन्वय आश्रम खोल रहे हैं, इसका महत्त्व समझकर यहाँ होने वाले केन्द्र को हर तरह से सहायता दें और उसे मजबूत करें।*

जून, १९५४

२. जागतिक समन्वय-आश्रम

प्रिय भाई,

आपके पत्र में मुख्य बात दृष्टि के अनुसार सृष्टि के निर्माण की है। श्री जवाहरलाल जी जैसे तो सोचते हैं कि सरकार और कानून द्वारा अर्थव्यवस्था बदल देने से समाज आप-ही-आप अपना रास्ता बना लेगा।

श्री जयप्रकाश जी जैसे मानते हैं कि लोगो के सामने चर्चा और विदेश के प्रयोगों का दर्शन कराने से नयी सृष्टि बनाना सूझ जायगा।

आपने सही कहा है कि श्री विनोबा की वेश-भूषा, उनकी भाषा और परिभाषा, उनका शास्त्र-अध्ययन और उनकी 'अपील' हिन्दु-पद्धति की है।

पू. बापू की प्रवृत्ति की प्रेरणा तो हिन्दू थी, किन्तु उनका कार्यक्रम सर्वधर्मी और अखिल भारतीय था।

* बोधगया के सर्वोदय-सम्मेलन मे दिया हुआ भाषण।

कांग्रेस का पिछले ७५ बरस का कार्यक्रम धर्म-निरपेक्ष और राजनीतिक-सामाजिक होते हुए भी उसमें अधिकांश हिन्दू ही आ सके। खूबी यह कि जो मुसलमान आये, वे टिक न सके। ईसाई आये-गये, इसका हिसाब ही नहीं। जब गांधीजी जैसे नव-हिन्दू प्रेरणा के नेता के हाथ में कांग्रेस गयी, तब मालवीय जी, केलकर, श्यामाप्रसाद मुखर्जी, सावरकर और हिन्दू नेता कांग्रेस से अलग हो गये।

गांधी जी सर्वधर्म-समभाव की प्रेरणा हिन्दुओं को अच्छी लगती है। कुछ ईसाई और मुसलमान उसकी कदर करते हैं। जिन लोगों ने ईसाई-धर्म छोड़ा है, वे तो सर्वधर्म-समभाव आसानी से समझ सकते हैं।

बहुत ही थोड़े मुसलमान, सूफी या आध्यात्मिक वृत्तिवाले, सर्वधर्म समभाव को पूरी तरह समझ सकते हैं । लेकिन वे उनका प्रचार करने की हिम्मत नहीं करते। अपवाद केवल चि० रैहाना का है। इसलिए मेरे मन में उनके बारे में असाधारण इज्जत है।

जो हिन्दू लोग सर्वधर्म-समन्वय के उद्देश्य से ईसाई या मुसलमान हुए, उनका धर्मान्तर ईसाइयों ने या मुसलमानों ने मंजूर नहीं किया। चन्द मुसलमान ईसाई हुए, लेकिन विशेष कुछ कर न सके। यह है आज की हालत।

मैं मानता हूँ कि सर्वधर्म समभाव का प्रचार भारत में उदार-मत के हिन्दुओं के अन्दर ही विशेष रूप से होगा। फलतः हिन्दू-धर्म नया और उज्जवल रूप लेगा। इससे दुनिया का लाभ ही है। किन्तु हमारे सवाल पूरे-पूरे हल नहीं हो सकेंगे।

हिन्दू लोग आज तक ईसाई, मुसलमान, फारसी आदि अन्य धर्मियों को पूरी तरह अपना नहीं सके, इसलिए गांधीजी जैसों ने हिन्दू-समाज का दोष बताया है। हिंदुओं ने भी अन्तर्मुख होकर अपने इस दोष को स्वीकार किया और उदार बनने की कोशिश की।

लेकिन जैसे हिन्दू अन्तर्मुख हुए, वैसे ही ईसाई, मुसलमान आदि अन्य लोगों को अन्तर्मुख होना चाहिए था। पर मुसलमान, ईसाई, हरिजन आदि छोटे-छोटे समाज अधिकाधिक अधिकार माँगने लगे हैं। अपना-अपना संगठन करते हैं। गांधीजी जैसों का नाम आगे करके वे हिन्दू-समाज का दोष भी बताते हैं। लेकिन भावनात्मक एकता के लिए स्वयं कुछ करना चाहिए, इसकी जिम्मेवारी कबूल करने वाले बहुत कम हैं।

मैं आजकल इन लोगों से पूछता हूँ कि क्या भारत-भक्ति और भारत-निष्ठा सशर्त (Conditional)है या बिनशर्त ? हिन्दू-जाति जैसी है, वैसी है। जैसे हम लोग आपको बिना किसी शर्त अपनाने को तैयार हैं, वैसे आप हिन्दू-जाति को

बिना किसी शर्त अपनाने को तैयार हैं ? आपकी भारतीयता स्वयंसिद्ध, सहज और स्थायी होनी चाहिए। देश के दोष जैसे हमारे हैं, वैसे आपके भी हैं। दोष दूर करने का उत्तरदायित्व सबका है। इसके साथ-साथ सबको अपनाने का कर्तव्य भी है।

सबको अपनाने का कर्तव्य अथवा धर्म अधिकाश पारसी लोग समझे हैं। हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, तीनो के साथ वे अच्छी तरह पेश आते है, झगड़ा नहीं करते और सन्तोष से रहते हैं।

अब मैं आश्रम-जीवन के सवाल पर फिर से आता हूँ।

आज तक जितने भी आश्रम हुए, हिन्दुओ के ही हुए हैं। विदेशियो को याने ईसाइयों को आकर्षित कर सके केवल थिओसोफिस्ट और अरविन्दवाले। अंग्रेजी भाषा ने उनकी मदद की। रामकृष्ण मिशन ने भी कमोबेश सफलता पायी है। लेकिन उनमे हिन्दुत्व का प्रमाण अधिक होने से उनके आश्रम मे गोरे लोग ज्यादा टिक न सके। सिस्टर निवेदिता जरूर कुछ कर सकती थी लेकिन उसकी सारी शक्ति हिन्दू बनने में ही खर्च हो गयी।

अब हम जो आश्रम खोलेंगे, उसमें ऐसा वायुमण्डल होना चाहिए कि ईसाई, बौद्ध आदि विदेश के लोग हमारे साथ आसानी से रह सके और हम भी उनके देशो में जाकर आश्रम चलाने मे मदद दे सके।

मुझे मालूम नहीं कि 'आश्रम' शब्द कहाँ तक बाधक सिद्ध होगा। ईसाई लोग, खास करके पश्चिम के, कम्युनिटी सेंटर के नाम से सामाजिक जीवन के प्रयोग करते हैं। और आजकल अमेरिकन लोगों ने 'इण्टरनेशनल लिविंग' का सुन्दर प्रयोग शुरू किया है। अमेरिकन लोगों के लिए यह मुफीद है। हमें फिर से सोचना पडेगा। हम यात्रा का खर्च ही नहीं कर सकते।

मेरा आग्रह है कि हम सब धर्मो के प्रति समभाव और समभाव आदर और सहानुभूति रखते हुए केवल धार्मिकता और अध्यात्मिकता का ही आग्रह रखें और किसी भी विशेष धर्म की गौण बातो की हमारे लिए बाध्यता न हो।

ऐसे आश्रम में विदेशी लोगों को लाकर रखने का विशेष आग्रह होना चाहिए। अगर इसमें हम सफल हुए तो विदेश में जाकर हम ऐसे ही आश्रम खोल सकेंगे।

आश्रम के मानी हैं एक सार्वभौम युगानुकूल 'दृष्टि' बोकर उसमें से 'सृष्टि' उगाने का बगीचा अथवा प्रयोगक्षेत्र। एक-एक आश्रम में एक-एक कल्पना बोना ठीक होगा। उस कल्पना का स्वीकार करके तन्मय तदाकार बने व्यक्ति को एक-एक आश्रम में बोना चाहिए।

प्रयोग करते-करते चन्द बीज प्राणपूर्ण साबित होंगे। कुछ ठीक से नहीं उगेंगे। लेकिन बोते समय पूरी जाँच करके प्राणपूर्ण बीज ही बोने चाहिए। फिर फल रहेगा,

ईश्वराधीन।

मैं मानता हूँ कि सर्वधर्म-समभाव द्वारा सिद्ध किया हुआ समन्वय भारत के बाहर लोगों में जल्दी दृढ़मूल होगा। हमारे यहाँ देर लगेगी।

अगर मैं जापान जा सका तो वहाँ मैं अत्यन्त उत्कटता से चिन्तन करूँगा। जापानी समाज के हृदय को और प्राण को पहचानने की कोशिश करूँगा और अगर ईश्वर ने चाहा तो कुछ 'सृष्टि' वहाँ खड़ी हो ही जाएगी।

आपके समन्वय-आश्रम के बारे में भी मैंने यही सोचा है कि वह एक एशियाई केन्द्र होगा। मेरा पहला विचार था कि मैं ही बोधिगया में इसके लिए उत्कट साधना चलाऊँ। ऐसा खयाल लेकर जापान से लौटा। वहाँ देखा कि श्री विनोबा उस संकल्प को अपनाये हुए हैं। आपने मुझे बुलाया है लेकिन मैं कोयल थोड़े ही हूँ कि अपने अण्डे दूसरे के घोंसले में रख सकूँ।

मेरा एक दूसरा संकल्प था कि पूर्व अफ्रीका में टांगानिका और केनिया के बीच एक आश्रम खोला जाय। उसके लिए आज भी मुझे बुलाया जा रहा है। लेकिन अब मैं देख सका हूँ कि सृष्टि-निर्माण का काम मेरा नहीं है। मेरी साधना में जो शिथिलता आयी, उसके कारण यह मिशन मेरे हाथ से फिसल गया, अब इसके लिए नये जन्म की तैयारी करनी होगी।

१५-५-'६२

१२. संस्कृति-समन्वय

१. भारतीय संस्कृति क्या है ?

भारतीय संस्कृति केवल आर्य संस्कृति या केवल हिन्दू-संस्कृति ही नहीं। वह केवल प्राचीन काल का खयाल नहीं करती। भारतीय-संस्कृति का केन्द्र है हिन्दुस्तान, किन्तु उसकी परिधि हिन्दुस्तान से सीमित नहीं है।

भारतीय संस्कृति हिन्दुस्तान के इतिहास से भी बड़ी है, क्योंकि इतिहास केवल भूतकाल का ही खयाल रखता है। संस्कृति का सम्बन्ध भूत, वर्तमान और भविष्य से है। इतिहास अपना भविष्य नहीं जानता। संस्कृति अपने भविष्य के ध्रुवतारे पर दृष्टि रखकर चलती है।

हिन्दुस्तान में अनेक धर्म हैं, अनेक भाषाएँ हैं, अनेक देशों से आकर बसे लोग हैं। सम्पत्ति, बुद्धि-शक्ति, कौशल, उदारता और शालीनता, हरएक दृष्टि से

भिन्न-भिन्न कोटि के लोग यहाँ पर बसते हैं। तो भी हम कहते हैं, हिन्दुस्तान की संस्कृति एक है, अखण्ड है और अविभाज्य है। बहुत-से लोग यह चीज नहीं समझ सकते कि भिन्न धर्मावलम्बी लोग भी एक संस्कृति में कैसे आ सकते हैं।

हिन्दुस्तान में शक, हूण आदि बाहर के लोग आये। उन्होंने केवल यहाँ का धर्म ही अपनाया, किन्तु वे संस्कृति से भी इसी देश के हो गये। हिन्दुस्तान के बाहर उनके लिए कोई स्वदेश नहीं रहा। अगर वे वहाँ से कुछ संस्कृति ले आये, तो उसको सदन्तर से यहाँ के लोगों ने अपनायीं और यहाँ की भली-बुरी सब चीजें उन लोगों ने अपनायीं और वे पूरे-पूरे यहाँ के हो गये।

मुसलमान इस देश में आये, तो यहाँ के लोगों से वे तुरन्त घुल-मिल नहीं गये। उनका गोमांसाहार यहाँ के लोग सहन न कर सके और यहाँ की मूर्ति-पूजा को वे भी सहन न कर सके। जब और प्राणियों का मांस खाया जा सकता है, तब गाय का मांस न खाने में क्या हर्ज हो सकता है, यह उनके ध्यान में नहीं आ सका। भारत की कृषि-प्रधान संस्कृति में गाय का क्या महत्त्व है, यह किसी ने भी उन्हें नहीं बताया और न कलाप्रिय भारतवासी मुसलमानों का मूर्ति-विरोध समझ सके। अन्य देश के जड़ लोगों ने मूर्ति के नाम पर क्या-क्या अनाचार चलाये थे, उसका खयाल तक उन्हें न था।

किन्तु भारतीय संस्कृति में एक बहुत बडी चीज थी, जो अन्य देशों में बहुत कम पायी जाती है। भारत के लोग पहले से यह मानते आये हैं कि ईश्वर के पास पहुँचने के अनेक मार्ग हैं। मनुष्य अज्ञानी है, यह उसका गुनाह नहीं है। ईश्वर सर्वज्ञ है। वह हर मनुष्य के हृदय की बात जानता है। अगर मनुष्य में दुष्टता न हो तो उसके अज्ञान की क्षमा तो ईश्वर पहले से ही कर चुका है। ईश्वर के सामने छोटे-बड़े, पण्डित और मुल्ला, विद्वान् और जंगली— सबके सब अज्ञानी ही हैं। एक का अज्ञान काजल के जैसा होगा तो दूसरे का अज्ञान कोयले के समान होगा। इसमें किसे सजा दें और किसे बख्शिश दें !

जो मुसलमान हिन्दुस्तान में आये, उन्होंने इसी देश को अपना स्वदेश बनाया, अपनी स्वभाषा छोड़कर यहाँ की भाषा को ही स्वभाषा बनाया। बुलबुलों के साथ कोयल की कूक सुनकर भी उनका हृदय उछलने लगा। तरबूज के प्रति जो भक्ति थी, वह उन्होंने यहाँ के आम को अर्पित की। वे हिन्दुस्तानी बन गये। यह बात हुई बाहर से आये मुसलमानों की। किन्तु आज हिन्दुस्तान में जो मुसलमान हैं, उनमें बाहर से आये कितने हैं ? सौ के पीछे बीस भी नहीं। बाकी सब अनादि काल से इसी देश के रहने वाले हैं। उनके लिए हिन्दुस्तानी बनने का सवाल ही नहीं था। वे कभी गैर-हिन्दुस्तानी थे ही नही। वे तो व्यास, वाल्मीकि, बुद्ध और शंकराचार्य के ही वंशज हैं। जिन भारतवासियों ने किसी भी कारण इस्लाम स्वीकार

किया, उन्होंने कालिदास और भवभूति, आर्यभट्ट और भास्कराचार्य, वाग्भट्ट और तानसेन की अपनी विरासत नहीं छोड़ी। मुसलमान होने से उन्होंने फारसी और अरबी को अपनाया जरूर, किन्तु बंगाली और मराठी, तमिल और तेलुगू आदि अपनी मातृभाषा को उन्होंने छोड़ नहीं दिया। मातृभाषा का द्रोह करके किसी ने अपनी सामर्थ्य बढ़ायी नहीं है, अपना उद्धार नहीं किया है। संस्कृत भाषा जितनी ब्राह्मणों की है, उतनी ही दूसरे सब वर्णों की है। इतना ही नहीं, संस्कृत भाषा जितनी हिन्दुओं की है, उतनी ही हिन्दुस्तान के मुसलमानों और ईसाइयों की है। संस्कृत में लिखे भव्य साहित्य का सत्कार हिन्दू, मुसलमान और ईसाई, तीनों समान भाव से कर सकते हैं। अगर कोई इस विरासत से मुँह मोड़ेंगे, तो वे अपने को संस्कार की दृष्टि से दरिद्र ही बनायेंगे।

जिन लागों ने इस्लाम या ईसाई धर्म स्वीकार किया है वे हिन्दू धर्म-ग्रन्थों को हिन्दुओं की तरह प्रमाण नहीं मान सकते। f .र भी उनके प्रति उनके मन में आदर भाव तो अवश्य रहेगा। नया धर्म ग्रहण करने से वे अपनी विरासत को छोड नहीं देंगे। किन्तु उसी को अपनी नयी दृष्टि से शुद्ध करके उसे अपने नये धर्म के द्वारा समृद्ध ही करेंगे।

और जो लोग हिन्दू हैं, वे भी ईसाई और इस्लामी धर्मग्रन्थो का प्रामाण्य न स्वीकारते हुए भी उनकी इज्जत तो अवश्य करेंगे और उनसे उतना ही लाभ उठायेंगे, जितना वे अपने धर्मग्रन्थों से उठाते हैं।

हिन्दुस्तान में इतने धर्म हैं, किन्तु सब धर्मों का एक विशाल धर्म-कुटुम्ब बनाने की शक्ति भारतीय संस्कृति में है। भारतीय संस्कृति ने बहुत पहले ही कह दिया है कि मानव-कुल में प्रचलित सब प्रधान धर्म सही हैं। सभी धर्मो को प्रेरणा ईश्वर से मिली है और सबके सब मनुष्यों के बीच प्रचलित होने के कारण मनुष्यों की अपूर्णता भी उनमें आ गयी है। गंगा गंगोत्री से आयी है, लेकिन वहीं नहीं ठहर गयी। जब तक वह विशाल सागर में विलीन न हो जाय, तब तक उसे आगे बढ़ना ही है। उसमें यमुना आकर मिलेगी, चर्मण्वती और शोण आकर मिलेगी, सरयू और गन्डकी भी आकर मिलेगी और सागर में पहुँचते-पहुँचते हिमालय के उस पार से आने वाली ब्रह्मपुत्र के साथ भी उसका संगम हो जायगा। भारतीय संस्कृति की भी यही बात है। वैदिक संस्कृति से उसका उद्गम होगा। उसके पहले की बात हम नहीं जानते, किन्तु उसमें दुनियाभर की संस्कृतियों ने अपना-अपना करभार डाल दिया है। भारतीय संस्कृति में इस्लामी और ईसाई-संस्कृति मिल गयी है। इसलिए हिन्दुस्तान के इस्लाम की खूबी अरबस्तान, ईरान या मिस्र के इस्लाम से कुछ अलग होगी, कुछ अधिक होगी। भारत का ईसाई-धर्म इटली, फ्रान्स, जर्मनी, इंग्लैण्ड और रूस के ईसाई-धर्म से कुछ अधिक सुगन्ध बतायेगा। ईसाई-धर्म की

खूबी जब हिन्दुस्तान के ईसाई लोग बताने लगेंगे, तो ईसाई-धर्म में एक नयी ही समृद्धि आ जाएगी।

इस्लाम और ईसाई धर्म के हिन्दुस्तान में आने से हिन्दू-धर्म की खूबी भी अधिक अच्छी तरह स्पष्ट होने लगी है। सूफी मत और कबीर मत, ब्राह्मो समाज और आगाखानी सम्प्रदाय, सबमें हम भारतीय संस्कृति की समन्वयकारी शकित देख सकते हैं।

जो लोग ईश्वर को नहीं मानते, किसी भी धर्म के प्रति आदर रखना पसन्द नहीं करते, किसी शास्त्र को नहीं मानते, बुद्धि से श्रेष्ठ किसी भी चीज को स्वीकार नहीं करते, वे भी भारतीय संस्कृति से बहिष्कृत नहीं हैं। उनकी भी परम्परा इस देश में प्राचीन काल से चली आयी है।

नदी में रोज नया पानी आता रहता है। एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में वह बहती है तो भी उसका रंग, रूप, व्यक्तितत्व और सौन्दर्य अक्षुण्ण ही रहता है। इसी तरह संस्कृति की बात है। भारतीय संस्कृति में दुनियाभर की सब संस्कृतियों का असर दीख पड़ता है, लेकिन वह भारतीय ही रही है। भारतीय शब्द में आर्य प्रारम्भ का सूचन अवश्य है, किन्तु वैदिक या महाभारत-काल से वह सीमित नहीं हो सकती। कई लोग भारतीय शब्द पर आपत्ति उठाते हैं। वे भारतीय संस्कृति का स्वभाव ही नहीं जानते। उनके लिए नाम बदल देने की कोई जरूरत नहीं है। वे उसे कोई नया नाम दें तो उसे लेने में भी कोई आपत्ति नहीं है। नया नाम लेने में कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु पुराना नाम छोड़ने में अवश्य संकुचितता का दोष आ जाता है। भारतीय संस्कृति एक जीवित, चैतन्यमय और वर्धमान वस्तु है। मानवता का अन्तिम कल्याण ही उसका आदर्श है। भारतवर्ष उसका केन्द्र है, मध्यबिन्दु है और उसका कार्यक्षेत्र अखिल विश्व है।

'सर्वोदय', मई, १९३९.

२. भारतीय संस्कृति की प्रतिभा

कोई भी भारतीय, जो अपने देश से प्रेम करता है, समाजशास्त्र के प्रति उदासीन नहीं रह सकता। परमेश्वर ने भारत को अपनी सबसे बड़ी समाजशास्त्रीय प्रयोगशाला बनाया है। भारत के लोगों की मनोवृत्ति भी परमेश्वर की इस इच्छा के अनुकूल ही बनी है। यह अतीत की ऐसी पकड़ में है कि उसमें ही जीते रहे हैं। हमारा सच्चा और महत्त्वपूर्ण इतिहास भूतकाल के लेखों अथवा प्राचीन अवशेषों में खोजने की जरूरत नहीं। वह हमारे जीवन में ही मौजूद है।

ऐसे कोई समाजशास्त्रीय प्रयोग नहीं, जो हमें मालूम न हों। हम उन सब स्थितियों से गुजर चुके हैं, जिनसे दूसरे राष्ट्र गुजरे हैं या अब गुजर रहे हैं।

सबसे पहले हमें मूलवंश (रेस) की समस्या से निबटना पड़ा। भारतवर्ष की अतिथि-सत्कारी भूमि ने प्रागैतिहासिक काल से ही विभिन्न मूलवंशों को आमन्त्रित किया। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की सभ्यता को भारत के प्राचीनतम प्रागैतिहासिक इतिहास का परिचायक नहीं मानना चाहिए। उनसे अधिक प्राचीन चिह्न कहीं-न-कहीं अवश्य पाये जा सकेंगे; द्राविड़ और आर्य तो केवल उन विभिन्न मूलवंशों और आदिम जातियों के सामान्य नाम होने चाहिए, जो भारत में बसने के लिए बाहर से आयी थीं। प्राचीनतम आव्रजकों और प्रव्रजकों का ज्ञान तो केवल भूगर्भशास्त्रीय चिह्नों से हो सकता है। हमें भूलना नहीं चाहिए कि प्राचीनतम काल में हमारे देश और उसके आसपास के देशों तथा पर्वतों का आकार आज से बिलकुल भिन्न था। प्रशान्त महासागर के द्वीपों और अफ्रीका महाखण्ड के साथ हमारा जो सम्बन्ध था, उससे हमारे प्राचीनतम इतिहास की नींव पडी थी। इसलिए हमारे समाजशास्त्र का आरम्भ उसी प्राचीन प्रागैतिहासिक काल से होना जरूरी है। मैसूर और हैदराबाद की भूमि की बारीकी से जाँच की जाय तो हमें कुछ ऐसे चिह्न अवश्य मिलेंगे, जिन्हें संसार के प्राचीनतम चिह्न माना जा सके।

इसमें कोई सन्देश नहीं कि परमेश्वर हमसे मानव-जाति की सबसे बड़ी समस्याओं का हल कराना चाहता था और वे समस्याएँ थीं : मानव-जातियो के बीच सम्पर्क, संघर्ष और समन्वय (Thesis, antithesis and synthesis) की। हमारे प्राचीनतम पूर्वजों ने यह खोज की थी कि मानव-जातियो का अवलम्ब हिंसा नहीं, अहिंसा है और यदि हमारा राष्ट्र इस खोज पर अभिमान करे तो यह अनुचित न होगा। इस आदर्श के आधार पर हमने विरोधी जातियों का उन्मूलन करने का तरीका छोड दिया और दूसरों के दृष्टिकोण के साथ अपने दृष्टिकोण का कुछ न-कुछ मेल बैठाना सीखा। जहाँ कहीं हम एक दूसरे के विचार समझने मे असमर्थ रहे, वहाँ हमने 'जीओ और जीने दो' की नीति का अवलम्बन करना स्वीकार कर लिया, जिसे आज सह-अस्तित्व कहते हैं।

इसने हमारे सामने उच्च और निम्न सस्कृतियों के बीच तालमेल बैठाने की समस्या लाकर खड़ी कर दी। संसार की कोई जाति इस अभिमान से मुक्त नहीं है। वह ईश्वर की विशेष कृपापात्र उन्नत जाति है। प्रत्येक जाति ने सदैव यह सोचा है कि अपनी संस्कृति की रक्षा करना हमारा पवित्र कर्तव्य है। प्रत्येक ने या तो अपनी संस्कृति को दूसरी संस्कृतियों के मेल द्वारा भ्रष्ट होने से रोका है या उसे दूसरों पर लादने का प्रयत्न किया है।

कुछ लोग चाहते हैं कि उनकी संस्कृति शुद्ध रहे। वे सब प्रकार के मिश्रण से बचते रहते हैं। दूसरे प्रकार के लोग चाहते हैं कि दूसरे लोग हमारी संस्कृति को स्वीकार करें। यदि दूसरे प्रतिरोध करते हैं तो प्रबल जाति को अधिकार होता है

कि वह तलवार और भाले के बल पर उसे उनके ऊपर लाद दे।

इसके विपरीत हम 'जीओ और जीने दो' के हामी रहे हैं। हमने विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों को एक साथ किसी-न-किसी प्रकार के मेलजोल और पारस्परिक समन्वय के साथ जीवित रहने का अवसर दिया है। परिणाम यह हुआ कि भारत विभिन्न प्रकार की प्राचीन और नवीन संस्कृतियों का अजायबघर-सा बन गया है। इन विभिन्न मूलवंशों (रेसेज) को हम 'वंश' कहते ह। हमने सब वंशों को, चाहे वे देशी हों या विदेशी, सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया। इमके लिए हमे अनेक प्रयोग करने पडे। पहले-पहल हमने लोगों को विभिन्न स्थानों में अलग रखने का प्रयत्न किया। यह बहुत दिनों तक नहीं चला। मनुष्य स्वभाव से जिज्ञासु होता है। वह प्रयोग करने का शौकीन भी होता है। इसलिए उन वंशों में पारस्परिक मिश्रण हुआ और उनका अन्तर कम पड़ गया। हमारे पूर्वज उन पर आधिपत्य का नियमन करने के लिए बाध्य हो गये। अनुलोम और प्रतिलोम विवाहो के नियमादि बनाये गये। प्रतिलोम विवाह वह है, जिसमे लडका नीची जाति का और लडकी ऊँची जाति की होती है। अनुलोम विवाह मे लडकी नीचे के वर्ण की होती है। यह व्यवस्था बहुत दिनो तक चलती रही। अभिमानी आर्य अनुलोम विवाह तो मान्य कर लेते थे, किन्तु प्रतिलोम विवाहों का विरोध तथा तिरस्कार करते थे। यह कब तक चल सकता था ? आत्माभिमानी अनार्य इस भेदभाव को सहन नहीं कर सके। फलत: उन्होने निश्चय किया कि ऐसे विवाह बिलकुल न हो। इसलिए समाज अनेकानेक जातियों और कबीलों में बँटकर रह गया उनमे विवाह या खान पान का सम्बन्ध नही रहा।

वैदिक काल से ही आर्यो ने जो बडा प्रयोग किया, वह था आहार मे अहिंसा के पालन का। यह प्रयोग अब भी थोड़े बहुत उत्साह के साथ चल रहा है। हमारे लोग सदा से बडी गम्भीर प्रकृति के रहे है। उन्होंने जीवन के किसी महान् सिद्धान्त के वैज्ञानिक प्रयोग के लिए किसी जाति को अत्युच्च नही माना। निरामिष आहार की ओर जो पहला कदम उठाया गया, वह था गोमांस को वर्जित करने का। इस प्रकार गाय को सबसे पहले मुक्ति अथवा अभय मिला। आर्य गाय का ऋण मानते थे, क्योंकि वह उन्हे दूध देती थी; बैल का ऋण मानते थे, क्योकि वह उन्हें खेती में मदद करता था। इसलिए उन्होंने नियम बना दिया कि भले ही गाय और बैल का पालन आर्थिक दृष्टि से भारस्प क्यो न हो उन्हें आहार के लिए मारा न जाय। अन्य वंश ने यह सिद्धान्त सरलतापूर्वक स्वीकार नहीं किया। युगों तक संघर्ष चलता रहा और उसने हमे इतिहास के अनेक आश्चर्यजनक अध्यायों की सामग्री प्रदान की है।

जैसे-जैसे हमारा समाजशास्त्र विकसित होता गया, हम वंश से वर्ण का महत्त्व

बढ़ाते गये। फलतः विभिन्न वंशों में इस शर्त पर विवाह हो सकते थे कि समाज के कार्य-विभाग का ढाँचा अर्थात् वर्ण-व्यवस्था भंग न होने पाये।

हमारे इतिहास का एक बड़ा भाग वर्ण-व्यवस्था के प्रयोगों का है। इस क्षेत्र में भी हमने बड़े-बड़े प्रयोग किये हैं। हमने चार वर्णों को कानूनी तौर से स्वीकार कर लिया, परन्तु विविध वर्णो में विवाह के अनेक अपवाद रखे गये। मनुष्य की मानसिक वृत्तियों को सत्त्व, रजस् और तमस् के तीन विभागों मे बाँटकर विभिन्न जातियों और कबीलों को, जो वर्णों की इस व्यवस्था में समा सके, इन्हीं तीन गुणो के अनुसार चार वर्गो में बाँट दिया गया। यह त्रिगुण-विभाजन इतना व्यापक बनाया गया कि उसमें न केवल समाज का शारीरिक और मानसिक जीवन शामिल हुआ, बल्कि नगर का आयोजन जेसी बातें भी आ गयी। वर्ण-व्यवस्था में विभिन्न प्रकार के प्रयोग हमारे इतिहास के हजारो वर्षो तक होते रहे।

वंश, वर्ण और वाद के पश्चात् एक और विकास हुआ, जो था इष्टदेव का। कुछ लोग शिव की पूजा करते थे। कुछ विष्णु की तो कुछ रक्षक और संहारक दोनो रूपो मे देवी अथवा मातृस्वरूपा आदिशक्ति की। इस प्रकार शैव, वेष्णव और शाक्त सम्प्रदायो मे विभिन्न प्रकार की संस्कृतियो का उदय हुआ, जिनका प्रभाव न केवल पुराणो ओर भक्ति-काव्य मे, बल्कि बाद मे उपनिषद्-ग्रन्थो में भी पाया जाता है।

निकट पश्चिम से मुसलमानो और दूर तक पश्चिम मे ईसाइयो के आगमन से भारतीय इतिहास और समाजशास्त्र में एक नया परिवर्तन हुआ। वंशीय संघर्ष के इतिहास का अब धार्मिक समुदायो के आधिपत्य के संघर्ष के रूप मे पुनरावर्तन हुआ। वास्तविक संघर्ष आध्यात्मिक अथवा धार्मिक आधिपत्य के लिए नहीं था वह राजनीतिक आधिपत्य के लिए था परन्तु धार्मिक समुदायों के बीच हुआ। अन्त मे इससे एक समन्वय को गति मिली, तथापि उसे सफल होने के लिए पर्याप्त समय नही मिल सका। फिर भी धार्मिक समन्वय का यह महान् प्रयोग सन्तो और औलियाओ ने जारी रखा। हमारे समाजशास्त्र के इस अंग मे भारत का योगदान एक महत्त्वपूर्ण शिक्षा से परिपूर्ण है, जिसे ग्रहण करके दूसरे महाखण्ड और मूलवंश बहुत लाभ उठा सकते है। अफ्रीका मे इस्लाम और ईसाई धर्म के बीच जो भारी, किन्तु मूक संघर्ष चल रहा है, जिसे एक प्रकार का 'शीत-युद्ध' ही कहा जा सकता है, केवल भारत का समन्वय-सिद्धान्त स्वीकार करने से ही मिट सकता है। हमारा विश्वास है कि सब धर्म मनुष्य के चरम भाग्योदय के लिए उपयोगी और न्यायसंगत उपकरण हैं।

इसके पश्चात् वंश, वर्ण और वाद की मूल सूची मे समाज के आर्थिक विभाजन का एक और सिद्धान्त जोडा गया, जिसे वर्ग कहा जाता है। हम आर्थिक

स्तर पर वर्ग-संघर्ष के इतिहास पर विचार करते हैं और अपने समस्त इतिहास को आर्थिक संघर्ष के परिणाम के रूप में पेश करना चाहते हैं। मेरे विचार से इतिहास का यह अर्थ बहुत संकुचित और कुछ विकृत भी है और भारतीय इतिहास की विशदता से यह बिलकुल ही न्यायसगत नहीं ठहरता। पश्चिम ने शायद हमारे इतिहास की सांस्कृतिक विरासत की उपेक्षा कर दी है।

परन्तु मनुष्य का मन इतना लचीला होता है कि किसी भी राष्ट्र पर भले ही उसका इतिहास और मानसिक वृत्ति कितनी भी प्रतिकूल क्यों न हो, सतत प्रचार द्वारा सघर्ष लादा जा सकता है परन्तु यह बात बहुत दिनो तक नही चलती। मूलवंश की मौलिक प्रतिभा फिर से उग्र होती है। हमारे मूलवंश की मौलिक प्रतिभा अहिंसा और पारस्परिक समन्वय के महान सिद्धान्त को स्वीकार करने वाली है। यदि हम प्रेम के केन्द्रीय सिद्धान्त को जो कि 'जिओ और जीने दो' की भावना की ओर ले जाने वाला है, मजबूती के साथ पकडे रहे तो हम सार्वलौकिक मेल जोल की स्थापना करने मे सफल हो सकते है और यह समाज शास्त्र का एक सुन्दरतम, सम्पूर्ण और भव्य स्वर संयोग या राग होगा।*

दिसम्बर, १९५५

३. एशिया की सांस्कृतिक विरासत

एशिया की सांस्कृतिक विरासत के बारे में कहना आसान नहीं है। एशिया के देशों ने परस्पर के साहित्य संस्कृति और इतिहास का अध्ययन करने की ओर उचित ध्यान नहीं दिया है। प्राचीन मध्ययुग में एशिया के देशों के बीच का सम्पर्क करीब-करीब बन्द सा हो गया था और यूरोप तथा पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव एशियाई देशों पर इतना पडा कि उसे स्वीकार करने के लिए इन देशों को अपने आपको तैयार करना पडा। पश्चिम का यह प्रभुत्व अब तेजी से साथ हट रहा है अब हम एक नये वातावरण में अपने आप को पाते हैं। लेकिन यह नया वातावरण अभी तक स्थिर नहीं हुआ है और न निकट भविष्य में स्थिर होने की कोई सम्भावना है। इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि एशिया की सांस्कृतिक विरासत आगे चलकर क्या रूप लेगी।

लेकिन अब वक्त आ गया है कि हम एशिया के लोगों ने सदियों से जिन जीवन-मूल्यों का विकास किया है उन्हें ध्यान में रखकर यह देखें कि उनमें से कितनों को हम बचा सके हैं और कितना हम खाद के रूप में इस्तेमाल कर सके हैं।

* उस्मानिया विश्वविद्यालय (हैदराबाद) में दिये अंग्रेजी भाषण से।

पुरानी विरासत को ज्यों-की त्यों नहीं रखा जा सकता और न रखना चाहिए। अगर हम ऐसा करें, तो उसका मतलब होगा कि हम वस्तुओं के जीवन-मूल्यों को नहीं, बल्कि प्रदर्शन या कौतुक-मूल्यों को अधिक महत्त्व देते हैं। गुजरी हुई वस्तुएँ, जो एक प्रकार से मर चुकी हैं, उनकी भी खाद के रूप में कुछ कीमत होती है। खेती के जानकार अच्छी तरह समझते हैं कि खेती के लिए खाद ही प्रमुख चीज है, जो उपज बढ़ाती है। गुजरे जमाने को हम ज्यो-का-त्यों कायम नहीं रख सकते। हम उसे खाद के रूप में स्वीकार कर उसकी सहायता से नया खाद्य उत्पन्न कर सकते हैं, जो निकट भविष्य में हमारा पोषण कर सके।

जब कभी हम एशिया की विरासत के बारे में सोचते हैं, हमारा दिमाग एकदम, उन महान् धर्मों की ओर जाता है, जो एशिया की संस्कृति ने दुनिया को दिये हैं। लेकिन हमें याद रखना चाहिए कि इन धर्मों के उदित होने के पहले भी एशिया के पास एक शक्तिशाली और प्राचीन संस्कृति थी।

जिन्हें हम आदिम जातियाँ कहते हैं, शायद वे ही एशिया की मूल विरासत का प्रतिनिधित्व करती हैं। यह संस्कृति सारे एशिया में फैली होगी; लेकिन अराजनीतिक संस्कृति होने के कारण यह राजनीतिक समाज के आक्रमण को सह न सकी। आदिम संस्कृति शुरू-शुरू में समुद्र के समान विस्तृत थी। परन्तु बाद में यह छोटे-छोटे डबरों और पोखरों में बँट गयी और आज मनुष्य के जीवन पर इसका कोई प्रभाव नहीं रह गया है।

एशिया की वह आदिम या मूल संस्कृति प्रकृति की ताकतों के साथ मनुष्य के जीवन-संघर्ष का परिणाम थी। प्रकृति और प्रकृति के नियमों के बारे मे मनुष्य के विचार वास्तविक या वैज्ञानिक न होकर काल्पनिक अधिक थे। विज्ञान और धर्म का स्थान जादू ने ले रखा था। लेकिन मनुष्य ने इसी मे अपने-आपको सन्तुष्ट मान लिया। यद्यपि प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष में मनुष्य की प्रायः हार हुआ करती, फिर भी उसमें इतना सन्तोष था कि वह नाच-गाकर और संगीत द्वारा अपना आनन्द प्रकट कर सकता था। इस प्राचीन काल की चित्रकला में वास्तविकता के चित्रण और वैचित्र्यपूर्ण कल्पनाओं की अभिव्यक्ति की एक मिश्रित प्रेरणा दिखलाई पड़ती है। प्राचीन काल की यह आदिम संस्कृति बताती है कि प्रकृति के नियमों के सीमित ज्ञान के बावजूद मनुष्य ने अपनी जीवन-समस्याओं को हल करने में बहुत कुछ सफलता पायी थी। समस्याएँ आदिम हो सकती हैं, उनके हल भी आदिम हो सकते हैं, परन्तु उस आदिम संस्कृति ने ही एक सामुदायिक जीवन का निर्माण करने में काफी सफलता पायी थी और इसलिए उसमें आत्मविश्वास, सन्तोष और आनन्द था।

यह सब खण्ड-खण्ड होकर टूट गया, जब मनुष्य-समाज बहुत अधिक व्यवस्थित

बना, धर्म को उसने व्यवस्थित बनाया और कई जातियों, उपजातियों और मानव-समूहों ने मिलकर एक संस्कृति और राजनीतिक समानता स्थापित की।

सिन्धु के कछार और एशिया के अलग-अलग हिस्सों में जो सभ्यताएँ फैली, उनकी क्या धार्मिक मान्यताएँ थीं, मालूम नहीं। लेकिन वर्तमान समय में जो धर्म पाये जाते हैं, उनका जन्म संसार की सबसे शक्तिशाली उथल-पुथलों में से हुआ है। भारत का वैदिकधर्म, जिसके केन्द्र यज्ञ और भक्ति हैं, फारस का पारसी धर्म, जिसने नैतिकता पर जोर दिया, यहूदियों का धर्म एक किनारे पर मिस्र की संस्कृति और यूरोप की यूनान तथा रोम सभ्यताओं की पुकार— सबने मिलकर एशिया के लिए एक नयी विरासत बनायी।

बुद्ध धर्म ने भी मूल वैदिक धर्म से अलग होकर एक नये पन्थ का रूप धारण किया। इस्लाम ने अब्राहिम के मूलधर्म की बुनियाद पर अपनी इमारत खड़ी की। ओल्ड टेस्टामेन्ट या यहूदियों के धर्म-ग्रन्थों से न्यू टेस्टामेन्ट के रूप में ईसाई-धर्म का उदय हुआ।

संसार पर आज बौद्ध, इस्लाम और ईसाई इनमें से किसी-न-किसी धर्म का आधिपत्य है। तीनों एशियाई धर्म हैं। हिन्दू-धर्म एक ऐसा जामन है, जिसका उपयोग धर्म-परिवर्तन कराने वाले धर्मों ने किया है। आज हम जिसे ईसाई-धर्म कहते हैं, वह ईसा और उनके अनुयायियों के मूल ईसाई-धर्म का यूरोपीय संस्करण है। अब वक्त आ गया है एशिया के ईसाई एक ऐसे ईसाई-धर्म की प्रतिष्ठापना करें, जो एशियाई हो और जो ईसाई तत्त्वों के अधिक नजदीक हो। इस्लाम आज तीन महाद्वीपों की धुरी के स्थान पर है। इस्लाम का जन्म अरब में हुआ और पोषण हुआ ईरान की संस्कृति में। भारत में इस्लाम और हिन्दू-धर्म ने एक-दूसरे पर काफी असर डाला है। परन्तु इस्लाम आज उत्तरी अफ्रीका में और मध्य एशिया के प्रदेश में फैल गया है और मिस्र इसका घर और केन्द्र-स्थान मालूम होता है। एक बार इस्लाम यूरोप में स्पेन देश तक और हिन्द-एशिया तथा पूर्व एशिया के देशों तक फैला। ईसाई-धर्म की पैदाइश एशियाई जमीन पर हुई थी, मगर इटली में इसका पालन-पोषण हुआ और यूरोप के दूसरे देशों में अनेक प्रकार से इसमें फेरबदल हुए। यह नहीं भूलना चाहिए कि कुछ सदियों तक उत्तरी अफ्रीका को ईसाई-धर्म का लालन-पालन करने का सम्मान मिला था।

जिसे आज बौद्ध धर्म कहा जाता है, वह वास्तव में एशिया की अनेक जातियों के धार्मिक विचारों और अनुभवों का बुद्ध के उपदेशों के साथ हुआ एक आश्चर्यजनक मिश्रण है। और यह सब मिलकर एशिया की विरासत रही है। बौद्ध, इस्लाम और ईसाई— इन तीनों धर्म-परम्पराओं को भारत में एक अनुकूल स्थान मिला है और भारतीय विचार एवं तत्त्व आज भी दुनिया की इन तीन सांस्कृतिक धाराओं को प्रभावित

कर रहे हैं।

अफ्रीका में ईसाई और इस्लाम-धर्म कई सदियों तक फैले हैं और आज इनके बीच एक मूक, लेकिन अनवरत संघर्ष चल रहा है। इसे शीत-युद्ध नहीं कहा जा सकता, किन्तु इनमें जो विरोध है, वह छिपाया नहीं जा सकता।

यह कुछ आश्चर्यजनक बात है कि बौद्ध धर्म ने, जो कि दक्षिण-पूर्व और उत्तर-पश्चिम भारत में फैला, अफ्रीका महाद्वीप में प्रवेश करने का प्रयत्न नहीं किया। अफ्रीका के कुछ हिस्सों में जो हिन्दू बसे हुए हैं, उन्हें वहाँ हिन्दू-धर्म का प्रचार करने में कोई दिलचस्पी नहीं है; शायद अफ्रीका पर कब्जा करने वाले पश्चिमी देश उन्हें ऐसा करने का मौका नहीं देते हैं।

यूरोप के लोग अमेरिका और एशिया में फैले हुए हैं। उन्होंने देखा कि अमेरिका में जमीन बहुत है और जनसंख्या कम। इसलिए वे लोग वहाँ बस गये। एशिया में उन्होंने लोगों को अपेक्षाकृत अधिक काम में ली हुई भूमि पर बड़ी संख्या में रहते हुए देखा। इसलिए वहाँ अधिक संख्या में बसने की बात वे सोच नहीं सके और वहाँ के लोगों पर अपना आधिपत्य जमाने में ही उन्होंने सन्तोष माना। अफ्रीका में बसने की और राज्य करने की दोनों प्रकार की नीतियाँ अपनायी गयीं। यूरोप के लोगों ने वहाँ बसने की कोशिश की है; और जहाँ वे ऐसा नहीं कर सके, वहाँ उन्होंने रहने वाले लोगों पर आधिपत्य जमा कर उनसे शासक के तौर पर सेवा पाने की उम्मीद की।

इन तीनों धर्म-परम्पराओं में से हर एक ने बहुत बडी तादाद में धार्मिक और असाम्प्रदायिक साहित्य को जन्म दिया है। साथ ही आध्यात्मिक अनुभूति के भावनात्मक पहलू को प्रकट करने के लिए कला के विभिन्न रूपों को भी जन्म दिया है।

इन धर्मों के सिद्धान्त या मत प्राय: अपने ही तर्कों और रीति-प्रणाली में खो जाते हैं और इसलिए वे प्राय: संकीर्णता, हठधर्मी और विरोध की ओर ले जाते हैं। परन्तु धर्म-अनुभूति की कलात्मक अभिव्यक्ति अधिक सूक्ष्म, स्थिर, यथार्थ और इसलिए उदार तथा सहिष्णु होती है।

इसलिए आज कला को संस्कृति का धर्म से अच्छा प्रतिनिधि माना जाता है। फिर भी यह भुलाना नहीं चाहिए कि धर्म सब प्रकार की कलात्मक अभिव्यक्ति और संस्कृति का सबसे अधिक शक्तिशाली उद्‌गम-स्थान है।

दूसरे धर्मों की तरह हिन्दू-धर्म में भी हम युग-युगान्तर में दो समानान्तर प्रवृत्तियाँ या दृष्टिकोण पाते हैं। पहला है संयम, सदाचार और त्याग। इसका उद्देश्य है आत्मशुद्धि करना, जो उच्चतम आत्मदर्शन का एकमात्र उपाय है। आत्मसंयम और त्याग और सदाचार निश्चित रूप में भीतरी शक्तियों— बौद्धिक और आध्यत्मिक— दोनों का विकास करते हैं। आत्मसंयम के लाभों को लोग बड़ी

जल्दी पहचान लेते हैं और इस प्रकार की संस्कृति बहुत लोकप्रिय बन जाती है। लेकिन प्राय: लोग इसकी सिर्फ हृदय से उपासना और बड़ाई करना चाहते हैं। वे दूसरे प्रकार की संस्कृति के अनुयायी होना ज्यादा पसन्द करते हैं, जिसका उद्देश्य अधिक पूर्ण जीवन पाना और आत्माभिव्यक्ति है। संस्कृत में उनके उद्देश्य को बड़े सुन्दर ढंग से कहा गया है :

धर्मार्थकामा: समम् एव सेव्या:।
य एकसेवी स नरो जघन्य:।।

भावार्थ यह है कि सामाजिक जीवन अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों के साथ संस्कृति का एक पहलू है। जीवन के लिए आवश्यक चीजें उत्पन्न करना और मनुष्य की शारीरिक आवशकताओं की पूर्ति के लिए मानव प्रयत्नो को सुव्यवस्थित करना इसका दूसरा पहलू है। इन्द्रियों की वासना की पूर्ति और सब प्रकार का सुख-भोग तथा तपस्या की भावना से इन्द्रियों की माँगों पर विजय प्राप्त करना, अपने को सारे जीवों तथा सम्पूर्ण दृष्टि के साथ एकरूप समझना चौथा पहलू है। मनुष्य को इन चारों पहलुओं को उचित अनुपात में एक साथ मानना होगा और जीवन की इस प्रकार व्यवस्था करनी होगी कि इन चारों पहलुओं से जीवन के कर्तव्यों को पूरा किया जा सके। जो सिर्फ एक ही पहलू को लेकर बैठता है और दूसरे पहलुओं को अस्वीकार करता है, वह दयनीय प्राणी है। उसके जीवन पर हमें दया आती है।

इस छोटे-से श्लोक में एशिया की पूरी विरासत आ जाती है।

यद्यपि एशिया इस बात का गर्व कर सकता है कि इसने दूर दूर तक फैले और सुव्यवस्थित शक्तिशाली साम्राज्यों को जन्म दिया है, लेकिन यह मानना पड़ेगा कि यहाँ के सामाजिक विकास और संस्कृति का श्रेय शासनशक्ति को उतना नहीं है, जितना धर्मो को है। पारिवारिक जीवन की सुरक्षा और आनन्द, विभिन्न धन्धो और उद्योगों में लगे दलो के बीच सुव्यवस्थापूर्ण व्यवहार, सभ्य सरकार द्वारा फौज का नियन्त्रण और विभिन्न भूमिपतियों और धनी व्यक्तियों के बीच भलमनसाहत यह सब धर्म पर जोर देने का परिणाम था। धर्म या धम्म एशिया की सांस्कृतिक विरासत का मर्म है।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष

'धर्म' के वही अर्थ नहीं हैं, जो पश्चिमी में 'रिलीजन' के माने जाते हैं। धर्म का अर्थ है न्यायपूर्ण ढंग से काम करना। न्याय का यह नियम सारे सामाजिक जीवन का संचालन और निर्देश करता है। सुकरात ने राज्य के कानूनों की पवित्रता के बारे में जो कहा है, वह एशिया के धर्म पर भी लागू होता है। एशिया के लोग

धर्म को श्रेष्ठ मानते हैं और उसके द्वारा अपने जीवन को संचालित होने देते हैं। इस प्रकार एशिया के लोगों के लिए धम्म-चिरन्तन 'सनातनो धम्मो' है। आप ईश्वर में विश्वास करें या न करें, आप पुनर्जन्म में भी विश्वास न करें, आप देश के शासक के प्रति ईमानदार हों या न हों, लेकिन आपके जीवन का मुख्य लक्ष्य धम्म के आदेशों का ईमानदारी से पालन करना है। यही वह धर्म है, जिसने एशिया की विरासत को बनाया है और एशिया ने कुछ प्राप्त किया है या निर्माण किया है, उसके अन्तरस्थ यही धम्म है। संक्षेप में, धर्म एशिया की सबसे बड़ी विरासत है।

इसके बाद आता है 'अर्थ' यानि भौतिक सुख-समृद्धि। यह हमेशा धर्म के प्रभुत्व के यानि सामाजिक भलाई के अन्तर्गत रहा। वर्तमान विज्ञान के जन्म से पहले हमारा देश भौतिक विकास में भी आगे था। ज्ञान या विज्ञान की प्राप्ति और तरक्की में कोई रुकावट न थी। परन्तु किसी प्रकार हम पर जड़ता और शून्यता (थकावट) हावी हो गयी और आगे चलकर हम भाग्यवादी और परलोकवादी बनते गये। इसे हम आत्मा की सुषुप्तावस्था का काल कह सकते हैं। उत्साह और विजय का तेज या सत्त्व मानो अपने-आप में ही खिंच गया और जीवन स्थिर और गतिहीन होता गया। एशियाई संस्कृति का तीसरा पहलू है 'काम,' मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताओं की तृप्ति— न केवल विषय-वासना की, बल्कि सारे भौतिक आनन्द की प्राप्ति। हमने संगीत, नाटक, नृत्य, चित्रकला और उत्सवों की वृद्धि की। हमने फूलों से उनकी सुगन्ध प्राप्त की। हमने फलों का संरक्षण स्वादिष्ट और भोजन-तत्त्वों से भरपूर रूप में किया। हमने कृषि और बागवानी के तरीकों में सुधार किये। हमने बुनाई-कला, काष्ठकला और लौह-कला का विकास किया। हमने औषधि-शास्त्र और आत्मरक्षा की कला का परिष्कार किया। पाक-विद्या तो शायद चरम सीमा पर ही पहुँचायी थी। जीवन और यौन-विद्या का भौतिक तृप्ति और आध्यात्मिक एकता दोनों दृष्टियों से विकास हुआ था।

अन्त में हम जीवन के चौथे आदर्श यानि 'मोक्ष' पर आते हैं। इसका अर्थ है सब कुछ त्याग देना, समाज और उसकी जिम्मेवारियों से अलग हो जाना, यहाँ तक कि समाज-सेवा की आध्यात्मिक प्रेरणा से भी मुक्ति पाकर अनासक्त, आत्म-शुद्धि, मनन और सारी सृष्टि के साथ एकरूपता प्राप्त करना।

एशिया में संगीत के फौजी रूप को विकसित नहीं किया गया। हमारे नगाड़े, थे, शंख थे, तुरही थी और सबका उद्देश्य युद्ध की भावना का पोषण था; फिर भी हमारा संगीत मृदु, गम्भीर और अन्तर्मुखी है। यह ऊँची-से-ऊँची भावनात्मक सूक्ष्मता को प्राप्त होता है और यहाँ तक कि भौतिक और भावात्मक अनुभूतियों के परे पहुँच जाता है।

भारतीय नृत्य में सिर्फ आनन्दानुभव की ही भावना नहीं, उससे भी अधिक

'कुछ' है। जो लोग भारतीय पौराणिक कथाओं, भारतीय दर्शन और रहस्यवाद को जानते हैं, वे भारतीय नृत्यकला को सरलता से समझ सकते हैं— वह फिर किसी भी धारा की क्यों न हो। हमारे नाटक भी यद्यपि परम्परागत रूढ़ियों से बँधे हैं, फिर भी भावात्मक अनुभूतियों के साथ-साथ आध्यात्मिक आकांक्षाओं को भी प्रकट करते हैं।

जिन आदर्शों से किसी जाति के सस्कार और विरासत बनी है, उन्हें भुला देने पर या उन्हें अस्वीकार करने पर वह जाति उस विरासत को अधिक दिनों नहीं रख सकेगी। हम आत्म-दमन या आत्म-संयम में अब विश्वास न करते हों, प्राचीन धार्मिक उत्कटताओं का हम पर कोई असर न होता हो, लेकिन हम अपनी भावात्मक और आध्यात्मिक विरासत को दुर्लक्ष्य नहीं कर सकते।

हम एशिया के लोगों का पुनरुत्थान ऐसे समय हो रहा है, जबकि यूरोप और पश्चिम की विरासत ने राजनीतिक आकांक्षाओं और भावनात्मक (आदर्शात्मक) संघर्षों में अपने-आपको खत्म कर दिया है। यूरोप और पश्चिम के देशों ने इन्द्रियों के भोग को पूरी-पूरी स्वतन्त्रता दे दी और इसकी पूर्ति के लिए व्यवस्था की, विज्ञान का विकास किया। इसका परिणाम हुआ — अमर्यादित लोभ, भय और घृणा। वहाँ विश्वबन्धुत्त्व, सहकार और समन्वय की आध्यात्मिक प्रेरणा का कोई स्थान नहीं है। उनके सामने अधिक-से अधिक सिर्फ परस्पर सहनशीलता और शान्तिपूर्वक सहजीवन के निस्तेज और फीके आदर्श ही रखे जा सकते हैं। बस, उन्हें ही वे समझ सकते हैं और स्वीकार कर सकते हैं।

इसलिए एशिया को पश्चिम की सांस्कृतिक घटनाओं से अपने आपको अलग ही रखना चाहिए। पूँजीवाद हो या साम्यवाद, लोकतन्त्र हो या तानाशाही, इनमें आपसी सन्देह और घृणा की जो भावना है, वह ऐसी बुरी बात है, जो मानवता की बुनियाद को खा जाती है। ऐसी सभ्यता को, जो भय और घृणा, द्वेष और प्रतिद्वन्द्विता की भावना को पूरी आजादी दे देती है, उस पर मानव प्रेम और क्षमा का अंकुश नहीं रखती है, किसी प्रकार की वैधानिक कुशलता या अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की मदद से बचाया नहीं जा सकता। एशिया की विरासत ने बड़ी आबादी को हल्के जीवनमान या स्तर पर पालने का अनुमोदन किया। यह आत्म संयम, सन्तोष और पारलौकिकता के आदर्शों का सीधा परिणाम है। इन आदर्शों ने समाज की कुछ खामियों को छिपा दिया, जैसे कि शारीरिक और मानसिक आलस्य, एक दूसरे के प्रति जिम्मेवारी की भावना का अन्त। एशिया ने अभी तक कम-से-कम भौतिक सामानों व आवश्यकताओं के जिस जीवन-मान को स्वीकार किया है और इसके विरुद्ध पश्चिम ने शारीरिक आवश्यकताओं की अधिक-से-अधिक पूर्ति और आराम की असंख्य वस्तुओं के साथ जिस जीवन-मान की चाहना की

है— इन दोनों मान्यताओं का अब अन्त करना चाहिए। अब एशिया को वैज्ञानिक रूप से एक शिष्ट जीवन-मान का आदर्श विकसित करना चाहिए। इस जीवन-मान का आधार भौतिक और समाज-विज्ञान के आधुनिकतम आविष्कार हों और इसका नियंत्रण विश्वबन्धुत्व और मानव-परिवार के आध्यात्मिक आदर्श करें।

यूरोपीय समाज को इस बात का गर्व है कि वहाँ सब वर्गों में समानता है; परन्तु उन्होंने मब जातियों की समानता को व्यवहार में नहीं अपनाया है। हम सिर्फ इस नैतिक आधार पर ही विश्वबन्धुत्व और मानव-परिवार के आदर्श की स्थापना कर सकते हैं कि 'नीच-से-नीच मनुष्य के भी व्यक्तित्त्व का हमें आदर करना चाहिए।' इन आदर्शों का पालन एशिया की सांस्कृतिक विरासत ही सफलतापूर्वक कर सकती है। एशिया ने वर्ण-भेद की समस्या को सांस्कृतिक और धार्मिक आदर्शों की अनुगामी बनाकर हल किया है। आबादी की समस्या को एशिया ने जीवन का ऐसा दर्जा स्वीकार कर हल कर डाला, जिसे आज लोग अमानवी कहेंगे। हमें यह ममझ लेना चाहिए कि किसी भी संस्कृति का आधार जीवन का वह दर्जा है, जिसकी अपेक्षा मनुष्य अपने लिए रखता है। यह दर्जा या मान वैज्ञानिक प्रगति, मनुष्य की व्यवस्था-शक्ति और सारे मानव-समाज की सुख-समृद्धि के लिए मामूहिक जिम्मेवारी के मान के अनुसार समय-समय पर बदलता रहना चाहिए।

जब तक नैतिक मानों (मूल्यों) को समझकर उन्हें जीवित नहीं किया जाता, किसी भी प्रकार की वैज्ञानिक प्रगति हमें वह उचित जीवन-मान नहीं दिला सकती, जो कि मानवता का ध्येय होना चाहिए।

बौद्ध, इस्लाम और ईमाई, इन तीन महान धार्मिक परम्पराओं के पुनर्विचार, पुनर्गठन और नवजीवन की आवश्यकता है। इन धर्मों के पुरोहितों और मिशनरियों मे इन धर्मों की पुनर्व्यवस्था और पुनर्व्याख्या नहीं हो सकेगी। उनके हित और उनकी बुद्धि इसमें बँधी हुई है। वे दलों और मंत्रों के बाहर नहीं निकल सकते और पूर्व-निर्धारित विचारों से उनके तर्क दूषित रहते हैं। वही तर्क उपयोगी होते हैं, जो जीवन के समान ही लचीले होते हैं; और हमारी जीवन-सम्बन्धी धारणाएँ मानवता के आधुनिकतम आदर्शों और सिद्धियों के अनुरूप होनी चाहिए।

एशिया ने एक समय वैज्ञानिक विकास में सारे विश्व का नेतृत्व किया था; अब यह फिर से वैज्ञानिक खोज और शिल्प-कला के क्षेत्र में प्रवेश कर रहा है। एशिया की संस्कृति इस बात का विश्वास दिलाती है कि अगर एक बार हम लोग इस ओर उत्साह, लगन और श्रद्धा के साथ लग जाएँ, तो बड़ी तेजी के साथ अपूर्व वैज्ञानिक उन्नति कर सकेंगे।

एशिया के लोग व्यवस्था की कला अच्छी तरह जानते हैं। मध्ययुग में उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विकास किया था। वे लोग फिर से भूमि और समुद्र के— और

अब आकाश के भी— मालिक बन सकते हैं।

हमे यह नहीं भूलना चाहिए कि यद्यपि हम आज भी पश्चिम से बहुत-सी चीजें सीख सकते हैं, लेकिन उन्होने गत २०० वर्षो मे जिस जीवन-दर्शन का विकास किया है, उसे हम स्वीकार नहीं कर सकते। हमें उनके चरणों के पास बैठकर वह सब सीखने को तैयार होना चाहिए, जो वे हमे सिखा सकत हैं। लेकिन हम इसके लिए कतई तैयार नही हो सकते कि उन्होने सस्कृति का जो दिवालियापन पाया है, उसे भी प्राप्त करे। जीव-मात्र से एकता के अपने आध्यात्मिक आदर्श को हम पुनर्जीवित करे। अपने सामाजिक अस्तित्व को हम एक नया रूप दें। अगर हम सभी वर्णो और जातियो के मनुष्यो को एक ही परिवार के माने तो अभी भी हम मानवता को विश्वास दिला सकते हैं।

फ्रास और फ्रासीसी क्रान्ति की प्रेरणा से यूरोप ने सारे संसार मे स्वतन्त्रता की स्थापना के लिए सघर्ष किया। इस क्रान्ति मे उसे खून की नदियाँ बहानी पडीं। अमेरिका ने भी गुलामो का अन्त करने और अमेरिका की एकता स्थापित करने के लिए युद्ध किया था। इसके बाद समानता की बारी आयी। यह तो लोकतन्त्र का आधार ही है। लेकिन खेद है कि इस समानता को प्रतियोगिता के सिद्धान्त से मिला दिया गया और प्रतियोगिता कितनी भी अच्छी क्यो न हो, आखिर तो वह एक असामाजिक दृष्टिकोण है। रूस ने भी समानता के सब अर्थो को स्वीकार करके इसकी प्रतिष्ठापना के लिए खून बहाया।

अब यह काम एशिया की सास्कृतिक विरासत का है कि वह सब जातियो, वर्णो के एक परिवार के लिए प्रयत्न करे। आज की यह माँग और प्रेरणा है कि सारे ससार मे सामाजिक न्याय की स्थापना की जाय। मानव-परिवार की स्थापना के लिए आज किसी का खून नहीं बहाया जा सकता। हो सकता है कि लोभ द्वेष, सन्देह, भय और घृणा से भरी हुई इस दुनिया मे भाईचारा लाने के लिए हमें अपना ही खून बहाना पडे। लेकिन सबकी सेवा मे अपना पसीना बहाने के लिए तैयार व्यक्ति को अपना खून भी बहाना होगा— यह जरूरी नहीं है। पसीना भी खून का ही एक प्रकार कहा जा सकता है, अगर वह एक उच्च उद्देश्य के लिए बहाया जाता है। बौद्ध, इस्लाम और ईसाई-धर्मो को अपना सुधार करके एक साथ मिलकर मानवता का एक परिवार बनाना चाहिए।*

*एशियन रिलेशन्स कान्फ्रेन्स मे दिया गया भाषण। (अग्रेजी से अनूदित)

१३. सेक्युलॅरिज्म

१. 'सेक्युलर' के हमारे अर्थ

हम बार-बार कह चुके हैं कि भारत की धर्मनिरपेक्षता रूस जैसी नहीं है— जहाँ सब धर्मों के प्रति एक-सा निरादर है, तिरस्कार है। वहाँ धर्म मात्र के प्रति पूरी अश्रद्धा है।

और देशों में राज्यों की ओर से किसी एक धर्म को राज्यमान्यता मिली हुई देखने में आती है। ऐसी जगह दूसरे धर्म अधिकार-रहित होते हैं और उपेक्षा सहन करते हैं और अगर राष्ट्र में सहिष्णुता है तो उपेक्षा की हालत में निभ सकते हैं।

भारत में हिन्दुओं की संख्या अधिक है। इसी धर्म को राज्यमान्य बनाना हिन्दुओं के लिए अशक्य नहीं था। ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी, जापान, पाकिस्तान आदि देशों में किसी-न-किसी एक धर्म की प्रधानता है ही। इसी तरह हम भी हिन्दू-धर्म की प्रधानता स्थापित कर सकते थे। कोई हमें रोक नहीं सकता था। लेकिन भारतवर्ष के नेताओं ने सौ बरस पहले सर्वधर्म-समभाव अपनाया है। उन्होंने लोकसंख्या के हिसाब से धर्म का महत्त्व और प्रभाव निश्चित करने की नीति छोड़ दी है। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में जिसे हम सर्वधर्म समभाव कहते हैं और उत्कृष्ट साधना सर्वधर्म-समभाव तक पहुँच जाती है, तब देश की राजनीति और अर्थनीति धर्म निरपेक्षता की ही बात कर सकती है। इसमें सब धर्मों के प्रति एक-सा आदर और किसी भी एक धर्म के बारे में आग्रह का अभाव यही नियम हो सकता है। इसे निधर्मी कहना सरासर अन्याय है। धर्मनिरपेक्ष कहने से भी पूरा भाव प्रकट नहीं होता। पश्चिम के देशों में 'सेक्युलर' का अर्थ जैसा किया जाता है, वैसा हम नहीं करते। पश्चिम में 'सेक्यूलर' शब्द में जैसे धर्म-विरोध नहीं है वैसे ही धर्म के प्रति आदर या सद्भाव भी नहीं है। वह एक बिलकुल तटस्थ शब्द ही है। उस तटस्थता को व्यक्त करने के लिए भी निधर्मी शब्द ठीक नहीं है। रूस की नीति को हम निधर्मी कह सकते हैं। 'सेक्युलर ' का अर्थ है 'धर्म-निरपेक्ष'। लेकिन यह भी ठीक नहीं। किसी एक धर्म के प्रति पक्षपात नहीं, लेकिन सब धर्मों में अनुस्यूत (पिरोयी हुई) धार्मिकता होती है। उसके प्रति आदर रखकर हमारे देश की नीति चलती है। इसे 'धर्मपक्षपात-रहित' कह सकते हैं।

'धर्मातीत' कहने से काम नहीं चलेगा। धर्म के सभी क्षेत्रों को पीछे या नीचे रखकर किसी अन्य श्रेष्ठ तत्त्व पर जब हम आरूढ़ होंगे, तब उसे हम धर्मातीत

कह सकते हैं। सत्त्व, रज और तम तीनों को लाँघकर जब हम ऊँचे उठते हैं, वह अवस्था गुणातीत कहलाती है।

भारत की सेक्युलर नीति सब धर्मों के प्रति एक तरह का सामान्य आदर रखती है। लेकिन किसी भी धर्म के समाजबाधक तत्त्वों को प्रश्रय नहीं देती। कोई उच्च तत्त्व भी अगर सर्वमान्य नहीं है, तो यह नीति उसका आग्रह नहीं रखेगी। जिस बात को थोडे लोग पाप कहते हैं, गुनाह कहते हैं, अत्याचार कहते हैं, उसके बारे में भी जब तक सर्वमान्य राय अनुकूल न हो, सेक्युलर नीति आग्रह छोड़ देगी।

(जिस देश ने सती की प्रथा कानूनन बन्द कर दी, अस्पृश्यता-निवारण का भी कानून किया, वही देश गाय आदि प्राणियों की हत्या के बारे में कोई कानून नहीं करता; एकपत्नीव्रत का कानून हम आदिवासियों पर लादने को तैयार होते हैं, लेकिन मुसलमानों पर नहीं लादना चाहते, यह सब तत्त्वविसंगति हमारी सेक्युलर नीति से ही पैदा होती है।)

भारत ही एक देश है, जिसने धर्मनिरपेक्ष विधान के साथ अपने राष्ट्रीय झण्डे पर धर्मचक्र को स्थान दिया। जब सेक्युलर शब्द का अर्थ करते हैं, तब हमारे तिरंगे झण्डे के धर्मचक्र का ख्याल करके ही अर्थ करना चाहिए।

आज भारत सारी दुनिया में एकाकी और अलग रहने की हिम्मत करके भी जो युद्ध-विरोधी वायुमण्डल पैदा कर रहा है, वह भी सर्वोच्च धार्मिकता का ही लक्षण है।

हम कह सकते थे कि सब धर्मों में पायी जाने वाली सर्वसाधारण धार्मिकता ही हमारा आदर्श है। ऐसा कहना आसान है, लेकिन करना मुश्किल है। इसलिए हम लोगो ने नम्रता के साथ 'सेक्युलर' शब्द चलाया है। हमारी संस्कृति और राष्ट्रीय नीति में धार्मिकता की खुशबू जरूर है लेकिन हम उसे खुशबू के रूप में ही रहने देते हैं। धार्मिकता है, कहकर झगड़ा मोल लेने से बेहतर तो यही होगा कि हम धार्मिकता के अनुसार चलें और कहें कि धर्म तो हमसे बहुत दूर है। हम तो केवल दुनियादारी, व्यावहारिकता की ही बातें सोचते हैं। अगर किसी भी राज्य में धार्मिकता का ध्यान खींचने लायक अंश है, तो वह भारत की नीति में है। अगर हमने छोड़ दिया है तो धर्म के बाह्य रूप, संकुचित आग्रह और चर्चा को खड़े करनेवाले सूत्र को। दुनिया के सब धार्मिकों को चाहिए कि भारत की धर्मनिरपेक्ष नीति की ओर आदर से देखें और समभावपूर्वक उसे समझें।

१९५७

२. सर्वधर्म-समभाव और विश्व-शान्ति

सब धर्मों के प्रति हृदय से एक-सा तिरस्कार और बाहर से एक-सी उपेक्षा साम्यवाद की मानी हुई नीति है। साम्यवादी कहते हैं कि ऐसे भी मूर्ख लोग कहते हैं, जो शुरू में साम्यवाद को मानते हुए किसी-न-किसी धर्म के प्रति आदर और श्रद्धा रखते हैं। साम्यवाद ऐसे लोगों को सहन करने के लिए तैयार है, इस शर्त पर कि वे साम्यवाद के प्रति अपनी निष्ठा में कहीं भी कमजोर न बनें। साम्यवाद के प्रति निष्ठा बढने पर धर्मनिष्ठा आप-ही-आप ढीली हो जायगी और अन्त में धर्म का त्याग किया जायगा। यह प्रक्रिया आप-ही-आप हो जाती है, इसलिए इतना धीरज रखने के लिए साम्यवाद तैयार है।

साम्यवाद के विरोधी दुनिया को जोर-जोर से समझाते हैं कि साम्यवाद ईश्वर का द्वेष करता है, ईश्वर से इनकार करता है, धर्म का शत्रु है, इसलिए ईश्वर भक्तो को और धर्मनिष्ठ लोगों को चाहिए कि वे साम्यवाद का जी-जान से प्रतिवाद करें। साम्यवाद में कोई अन्य चीज हो या न हो, ईश्वर का इनकार और धर्म का विरोध ये दोष स्पष्ट बताते हैं कि साम्यवाद शैतानी प्रवृत्ति है।

जो लोग अभी भी 'धर्म निष्ठ' हैं, भोले है, उनके लिए यह दलील और यह नसीहत काफी है। लेकिन दुनिया में ऐसे असख्य लोग हैं, जो साम्यवादी नहीं हे नास्तिक भी नहीं हैं, सदाचार पसन्द करते हैं, ईश्वर के प्रति भक्तिभाव भी रखते हैं, किन्तु 'धर्मों' से ऊब गये है।

आज की दुनिया मे सच्चे धर्मनिष्ठ लोग, सच्चे सदाचारी भक्त शायद कम हैं। धर्म के अभिमानी अथवा किसी-न-किसी एक सिद्धान्त का अभिमान से पुरस्कार करने वाले लोग बहुत हैं। ऐसे लोगो की 'धर्मनिष्ठा' से दुनिया ऊब गयी है -- ऐसे लोग ही धार्मिक झगडे पैदा करते हैं। 'धर्म' के नाम से सब तरह के अन्याय-अत्याचार और घृणित कार्य करते हैं। उनके कारण ही 'धर्म' शब्द मे बदबू पैदा होने लगी है। विधर्मी लोगों के घर जलाना, उनकी स्त्रियो को उठा ले जाना, उन पर अत्याचार करना, बच्चों को भी कत्ल करना और इसमे अपने धर्म की विजय देखना, यह मर्ज कभी-कभी इतना व्यापक हो जाता है कि लोग धर्म का नाम तक सुनने को तैयार नहीं।

लेकिन ऐसे अत्याचार रोज नहीं होते। जब लोगों को धर्म के नाम पर उत्तेजित किया जाता है, तब लोग पागल बनकर हर तरह के कुकर्म करने के लिए तैयार हो जाते हैं। मामला शान्त होने पर शायद ऐसे लोग पछताते भी होंगे। लेकिन जब फिर से मौका खडा होता है, तो वही शैतानी वृत्ति धर्म के नाम पर जाग्रत हो जाती है।

धर्म-द्वेष की ऐसी क्षणिक शैतानियत के अलावा धर्मभेद के कारण जो संकुचितता पैदा होती है, वह तो स्थायी ही रहती है।

'फलाँ आदमी हमारे धर्म का नहीं है, इसलिए उसमें पूरी भलाई आ नहीं सकती। वह हमारा नहीं है। उसकी बुराइयाँ हम कुछ हद तक बरदाश्त कर सकते हैं, लेकिन उसके लिए पूरी आत्मीयता कभी महसूस नहीं कर सकते।' यही है धर्म-धर्म के बीच का स्थायी सम्बन्ध।

इन सब धर्मों की नीति यही होती है कि जब राज्यसत्ता अपने हाथों में नहीं होती, तब दबकर रहना, परिस्थिति प्रतिकूल होने पर 'गरीब गाय' बन जाना मौका पाते ही अपने 'धार्मिक' अधिकारों के लिए लड़ते रहना और बल पाते-पाते राजसत्ता को तोड़ भी देना। आखिरकार जब राज्यसत्ता अपने हाथ में आ जाती है, तब उपना उग्र स्वरूप प्रकट करके कहना कि 'हमारा धर्म ही सच्चा है। उसको मानने वाले लोगों के हाथ में ही राजनीतिक अधिकार रहेंगे। बाकी लोगों को हम जबरदस्ती अपने धर्म में नहीं लायेंगे, किन्तु उन्हें राजनीतिक अधिकारों से जहाँ तक हो सके, वंचित रखेंगे। उनको पता चलना चाहिए कि वे हमारे धर्म को स्वीकार नहीं करते, इसलिए लोग शंकित हैं, उनके प्रति हम विश्वास नहीं कर सकते। जब हम विदेशी सरकार के नीचे थे, तब कभी भी दिल में राज्यनिष्ठ नहीं थे। अब हम कैसे मानें कि हमारे विधर्मी हमारे राज्य के प्रति दिल से निष्ठावान् रह सकते हैं। डर के मारे वे सब-कुछ करेंगे, उनकी ऐसी निष्ठा सुनकर हम राजी भी होंगे- -- ऐसे लोगों को कुछ अधिकार देंगे, सहूलियतें दे देंगे। लेकिन उन पर विश्वास नहीं करेंगे।' यह है सारी दुनिया का सामान्य वातावरण।

इसमें से एक नया पक्ष तैयार हुआ। जब रोमन कैथोलिक स्पेन ने अपनी बड़ी नौ-सेना लेकर इंग्लैण्ड पर आक्रमण किया, तब इंग्लैण्ड का मजहब प्रोटेस्टेण्ट होते हुए भी उसने अपनी सेना का सब अधिकार एक रोमन कैथोलिक एडमिरल को दे रखा था। वह एडमिरल कहता था कि मेरी पूरी निष्ठा इंग्लैण्ड के प्रति है। राष्ट्रीयता मेरा प्रधान धर्म है। रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के प्रति मेरी निष्ठा निजी और व्यक्तिगत है। राष्ट्र-सेवा में वह बाधक नहीं होगी। और उसने अपनी यह राष्ट्रनिष्ठा पूरी तरह से सिद्ध की।

हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय मुसलमानों की यही भूमिका है। वे कहते हैं कि भारत के प्रति हम पूरे-पूरे निष्ठावान् हैं। हमारी ओर से भारत को कोई खतरा नहीं है।

इनमें से कुछ कहते हैं कि हम भारतनिष्ठ हैं— इसके माने यह नहीं कि हम कांग्रेसी सरकार के प्रति निष्ठावान् रहने के लिए बँधे हैं। हमारी निष्ठा हमारे स्वदेश भारत के प्रति है। हम कांग्रेसी सरकार तोड़ने को भी तैयार हो सकते हैं। लेकिन हमारी भारतनिष्ठा तनिक भी कम नहीं होगी। पाकिस्तान के लोग हमारे

सहधर्मी हैं— हम-मजहबी हैं— उनके प्रति हमारा आकर्षण जरूर रहेगा। कल तक हम साथ थे। हमारा समाज, हमारा खानदान आज भी एक है। उनका भला करने का मौका आये तो हम नहीं छोड़ेंगे। लेकिन अगर पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया, तो हम पाकिस्तान के साथ नहीं रहेंगे। भारत की ओर से लड़ेंगे। अगर हमने देखा कि भारत का पक्ष हमारे खयाल से न्याय का नहीं रहा, तो शायद हम भारत की मदद नहीं करेंगे, तटस्थ रहेंगे। लेकिन हर हालत में हम भारत का द्रोह नहीं करेंगे।

भारत के ईसाई लोग भी ऐसा ही कह सकते हैं। कुछ ईसाई साफ-साफ कहते हैं कि हम जाति-भेद को नहीं मानते, लेकिन हम स्वयं एक जाति हैं। और हिन्दुओं में जैसी जाति-निष्ठा पायी जाती है, वैसी हमारे दिल में भी ईसाई-जाति के प्रति निष्ठा है। और वह क्यों न हो ? धर्म कोई मामूली बन्धन नहीं है।

हिन्दुस्तान के पारसी कहते हैं कि 'जब से हमने अपनी धर्मरक्षा के लिए इस देश में पनाह ली है, तब से यहाँ के लोगों ने हमें अच्छी तरह से रखा है। हमने भी कभी किसी से झगड़ा नहीं किया। हिन्दू, मुसलमान और ईसाई तीनों के साथ हम अच्छी तरह घुल-मिल सकते हैं। सबकी धार्मिक मान्यता की हम इज्जत करतें हैं। सबके साथ खाते हैं। पारसी कौम के बाहर हम शादी नहीं करते। (अपवादरूप कहीं ऐसी शादी हुई तो उसे नापसन्द करते हुए भी उसका हो-हल्ला नहीं करते।)किस शर्त पर इस देश में रहना है, यह अच्छी तरह जानने से हम पूरे-पूरे भारतीय बन गये हैं। हमारा स्वभाव ही ऐसा है कि हम सबके साथ सहानुभूति रख सकते हैं। सबके साथ हमारा दोस्ताना व्यवहार रहता है। और अपने हित की रक्षा करने में तनिक भी कठिनाइ नही आती। ये तीनों समाज आपस में एक-दूसरे के दोष जितने बडे रूप मे देखते हैं, उतने असल मे वे नहीं हैं। अगर सच्ची समझ हो तो रास्ता निकल आता है। इसीलिए तो हम सबके साथ घुल-मिल सके हैं। शादियों के बारे में कट्टर रहकर हम लोगो ने अपना व्यक्तित्व कायम रखा है और उससे हमें सन्तोष है।'

ऐसे बहुधर्मी, बहुजाति, बहुवंशी, बहुभाषिक देश में स्वराज्य चलाना हो तो वह कैसे चल सकता है, इसका चिन्तन कांग्रेस ने शुरू से किया है। उस चिन्तन में पारसी, हिन्दू, ईसाई और मुसलमान सबके सब सम्मिलित थे। इतना ही नहीं, चन्द उदार हृदय अंग्रेज भी थे।

इस चिन्तन में सबकी बुद्धिमानी और सबकी उदारता स्पष्ट रूप से दीख पडी। लेकिन सबसे श्रेष्ठ उदारता हिन्दुओं की थी। जिन्होंने अपनी संख्या सर्वाधिक होते हुए भी अपना आधिपत्य आगे नहीं किया और सबको साथ लेने का निश्चय किया। इस चिन्तन में मुस्लिम कौम कम-से-कम उदारता बरत सकी। क्योंकि

अंग्रेजों ने इस देश में फूट डालने के लिए उन्हीं को अपने हाथ में लिया। इसके परिणाम से सब परिचित हैं। इस देश को छोड़ने पर भी अंग्रेजों की नीति ज्यों-की-त्यों रही है। कम-से-कम वहाँ का कंजर्वेटिव दल इसी नीति पर दृढ़ता से चल रहा है।

यहाँ सब धर्मों के साथ हिन्दू-धर्म को भी पूरा प्रचार करने का अधिकार है। लेकिन हिन्दू-धर्म में वह 'प्रचार-परायणता' नहीं है, जो इस्लाम और ईसाई-धर्म में है।

हिन्दू-संस्कृति का रहस्य समझने वाले हिन्दू कहते हैं कि प्रचार-परायणता का अभाव ही तो हमारी श्रेष्ठता है। प्रचार-परायणता से संख्या-वृद्धि हो सकती है लेकिन संकुचितता बढ़ती है, राष्ट्रीयता खतरे में आ जाती है और मानवता के विकास में तनिक भी मदद नहीं मिलती। इसलिए ऐसा खतरा उठाकर हम प्रचार-परायणता को नहीं अपनायेंगे। विश्व-शान्ति की स्थापना में यही होगा हमारा सबसे बड़ा और श्रेष्ठ हिस्सा।

हिन्दू-संस्कृति की इस विशेषता के बल पर ही भारत राष्ट्र अपने विधान को 'सेक्युलर' यानी 'धर्म-निरपेक्ष' बना सका है। इससे लाभ उठाने वाले ईसाई लोग—खासकर ईसाई मिशन अगर अपने अपने देश में इस उदारता का प्रचार कर सकें, तो वह भी विश्व शान्ति के लिए बड़ी मदद होगी।
११-६-'५७

३. तीन सबूत

सर्वधर्म-समभाव का नया ही व्रत गांधीजी ने चलाया। लेकिन इसका भाव तो भारतीय संस्कृति की बुनियाद में ही है। जिस वैदिक ऋषि ने गाया कि सत एक ही है, सोचने वाले अपनी अपनी मति के अनुसार, श्रद्धा और अनुभव के अनुसार उसका अलग-अलग वर्णन करते हैं—**'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति'**। उसने इसी व्रत की दीक्षा भारत को दी। और यही दीक्षा भारत सारी मनुष्य जाति को देगा।

दूसरे एक कवि ने कहा कि मनुष्य अपनी अपनी अभिरुचि के अनुसार सीधा या टेढ़ा रास्ता अपनाता है। कोई भगवान को मालिक कहता है, कोई पिता कहता है, कोई माता कहता है, तो कोई सखा कहता है। गोपियों ने उसे 'वल्लभ' कहा, तो यशोदा माता ने उसे अपना 'पूत' बनाया। जो द्रौपदी का 'भाई' था, वही अर्जुन का 'सारथी'। अगर भगवान् को पहचानना है तो सबसे पहले इस बात को मानना चाहिए कि भगवान् के पास पहुँचने के रास्ते अनेक हैं। भगवान् की विभूति का अन्त नहीं है।

भगवान् ने हमें जीवन दिया, ताकि हम जीवन द्वारा उसे पहचानें। हमारा व्यक्तिगत जीवन भी भगवान् की एक विभूति ही है।

जो लोग अपने पन्थ की तारीफ या ताईद करते हैं, हक में हैं। जो लोग दूसरे के पन्थ की निन्दा करते हैं, अधर्म का रास्ता अपनाते हैं।

अपने पन्थ का पुरस्कार ज्ञानमूलक, अनुभवमूलक या श्रद्धामूलक होता है। इससे उलटे जो लोग दूसरे के पन्थ की निन्दा करते हैं, अपने अज्ञान को ही प्रकट करते हैं। सर्वधर्म-समभाव का ही आधुनिक रूप है पंचशील। हरएक को अपने रास्ते से जाने का अधिकार होना चाहिए। उसके रास्ते में रुकावट डालने का किसी को भी अधिकार नहीं।

सर्वधर्म-समभाव को हम जितना आसान मानते हैं, उतना वह नहीं है। उसमें समझ की विशालता और हृदय की उदारता तो आवश्यक है ही लेकिन उसमें बहादुरी भी आवश्यक होती है।

जब भारत के मुसलमानों ने खिलाफत का सवाल उठाया, तब हम कह सकते थे कि वह मुसलमानों का सवाल है। उसके लिए वे जो भी करना चाहें, कर सकते हैं। हमें उससे क्या ?

मुसलमानों ने भी कभी अपेक्षा नहीं की थी कि हम उन्हें किसी भी तरह की मदद करें। किन्तु हमारा सर्वधर्म-समभाव उस वक्त जाग्रत हुआ। मुसलमानों को अपने धर्म की रक्षा के लिए जो आन्दोलन चलाना जरूरी लगा, उसी में हम अपनी नैतिक सहानुभूति बतायें। यह हमने अपना धर्म समझा। भारतीय संस्कृति के ऐसे स्वभाव के कारण ही सारे राष्ट्र ने गांधीजी की सूचना का अभिनन्दन किया और हमने खिलाफत के आन्दोलन की ताईद की।

यह तो हुआ हमारे भारतवासी स्वराज्य के सहयोगी मुसलमानों के बारे में। एक छोटी सी बात में भी भारत ने कैथॉलिक ईसाई-धर्म की सेवा की है। रोमन कैथोलिक लोगों के पोप के जो धर्मिक अधिकार भारत के ईसाइयों पर थे, वे उन्होंने किसी राजनीतिक कारण से पोर्तुगाल के राजा को सौंप दिये। उन्हे वापस लेने की पोप की हिम्मत होती नहीं थी। पोप के धार्मिक अधिकार इस तरह कोई राजा छीन ले जाय, यह हमें अच्छा नहीं लगा। इसलिए स्वतन्त्र भारत की सरकार ने पोप के अधिकार पोप को वापस मिल जाएँ, इसकी पूरी कोशिश की। इसके लिए पोप कृतज्ञ है और उसको विश्वास हो गया है कि भारत सरकार के मन में सब धर्मों के प्रति एक-सा आदर है।

भारत की प्रजा ने अपने लिए जो राष्ट्रीय विधान बनाया, उसमें हरएक व्यक्ति को अपने धर्म के अनुसार चलने की पूरी-पूरी इजाजत तो है ही। इसके अलावा हरएक धर्म को अपना प्रचार करके नये-नये लोगों को अपने धर्म में खींचने की

कोशिश करने का अधिकार भी हमने स्वेच्छा से दे रखा है, क्योंकि भारत की आत्मा मानती है कि अन्ततः सब धर्म अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार एक ही सत्य के और मांगल्य के उपासक हैं।

खिलाफत के दिनों में इस्लाम के प्रति जो सेवाभाव भारत ने दिखाया, पोप के अधिकार उसे वापस दिलाने में जो सेवाभाव ईसाई-धर्म के प्रति भारत ने दिखाया, वही सेवाभाव और सद्भाव आज हम तिब्बत के बौद्ध धर्म के प्रति दिखा रहे हैं। तिब्बत के लोग अपने धर्म का कुछ भी करें, उन्हीं को उसका अधिकार होना चाहिए। टर्की ने खलीफा की गद्दी ही उलट दी। हमने कुछ नहीं कहा। मुसलमानों का सवाल मुसलमान हल करें। इसी तरह तिब्बत के लोगों का विचार अगर कल बौद्ध-परम्परा छोड़ने का हुआ, तो हम कुछ नहीं कहेंगे। लेकिन जब तिब्बत के लोग दलाई लामा को मानते हैं, उससे धार्मिक और राजनीतिक सेवा चाहते हैं तब सर्वधर्म-समभाव को मानने वाले भारत की पूरी पूरी हार्दिक सहानुभूति तिब्बत के प्रति होगी। और दलाई लामा को भारत में आश्रय देते हुए भारत चाहे सो खतरा उठाने के लिए तैयार है। अपने जिस सिद्धान्त के लिए व्यक्ति और समाज सब तरह का खतरा उठाने के लिए तैयार रहता है, वह मानवता की कसौटी में खरा सिद्ध होता है। सर्वधर्म-समभाव भारत के लिए हृदय सिद्धि का सवाल है, यह बात पुनः सिद्ध हो चुकी है।

९. ८ '५९

१४. अध्यात्म और विज्ञान

१. भारत का अध्यात्म

भारत अध्यात्म का पीहर (मायका) है। यहाँ वेदकाल से या उससे भी पूर्व बड़े-बड़े अध्यात्म-वीर पैदा हुए हैं। भारत का मुकुट-स्वरूप हिमालय तो इन अध्यात्म वीरों की तपोभूमि रहा है। हिमालय का कण कण और जल का प्रत्येक स्रोत अध्यात्म से भरा हुआ है। अध्यात्म के प्रयोग भी भारत में कितने हुए! आस्तिक, नास्तिक दर्शन दोनों समर्थ हैं। एक वेदान्त दर्शन की भी शाखाएँ कम नहीं हैं।

योगियों के प्रयोग तो हर जमाने में चलते ही आये हैं और भक्तों की श्रद्धामयी और करुणामई वाणी भारत के गगन में हमेशा गूँजती रही है।

स्वामी विवेकानन्द जैसे सन्तों ने भारत के अध्यात्म की पताका परदेश में लहरायी।

लोग प्रभावित हुए। थियोसोफी ने भी भारत की ब्रह्मविद्या दिगन्त तक पहुँचायी। श्रद्धालु और आलोचक दोनों ने भारत के अध्यात्म का अध्ययन शुरू किया। साधारण लोग पूछने लगे कि "इतनी अध्यात्म-शक्ति होते हुए भी भारत-देश इतना गिरा हुआ क्यों है ?"

भाग्य के फेर से अगर देश की बाहरी स्थिति बिगड जाए तो बात समझ में आ सकती है। लेकिन भारत का पतन केवल बाहरी नहीं था। नैतिक पतन भी स्पष्ट दीखता था। मनुष्य-मनुष्य के बीच जहाँ प्रेम का सम्बन्ध क्षीण हो जाता है, लोग अकर्मण्य दैववादी बनते हैं। दबे हुए, हारे हुए और लुटे हुए लोगों के प्रति जहाँ दयाभाव जाग्रत नहीं होता और पुरुषार्थ को जहाँ प्रोत्साहन नहीं मिलता, देश के नेता अज्ञान के खिलाफ जेहाद नहीं चलाते और अपने-अपने क्षुद्र स्वार्थ में डूबे रहते हैं, वहाँ अध्यात्म की भावना कहाँ ? पुराने पुरुषार्थ का गुणगान करते रहने मे वर्तमान हालत सुधर नहीं सकती। उल्टे वह भयानक रूप मे श्रीहीन दीख पड़ती है। चन्द लोग कहने लगे कि "जिस तरह कीचड में कमल खिलते हैं, उसी तरह भारत में सामाजिक दुर्दशा मे से ही अध्यात्म-वीर पैदा होते आये हैं, इसलिए कीचड़ की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। कमल का ही खयाल करना चाहिए। कीचड को तो बर्दाश्त ही करना होगा।" गनीमत है कि उन्होंने यह नहीं कहा कि कमल चाहिए तो कीचड को भी पसन्द करना चाहिए अथवा पैदा करना चाहिए।

ऐसे वायुमण्डल में महात्मा गाधी जैसे अध्यात्म वीर पैदा हुए। रवीन्द्रनाथ जसे संस्कृति धुरीण दुनिया को मिले। श्री अरविन्द जैसे महायोगियो ने दुनिया के दार्शनिकों को चकित किया। सबसे महत्त्व की बात यह है कि भारत स्वतन्त्र हो गया।

यही कारण है कि दुनिया के लोग अब भारत के अध्यात्म की इज्जत करने लगे हैं। लेकिन एक बात भूलनी नहीं चाहिए। जहाँ घर-घर में अध्यात्म भरा है, वहाँ कमजोर माल भी बहुत तैयार होता है। अनजान लोग तकलादी (कमजोर) चीजो से बहुत जल्दी मोहित होते हैं।

बौद्धकाल के उत्तरार्ध में इस देश में इतनी कुछ आध्यात्मिक गन्दगी पैदा हुई थी कि उससे बचने के लिए सन्तों को कड़ी मेहनत करनी पडी। पश्चिम में कैथोलिक पन्थ में भी तरह-तरह के दोष आ गये थे। हमारे यहाँ भक्ति-सम्प्रदाय में भी इतनी बुरी बातें घुस गयीं कि उनका भण्डाफोड़ करते करते समाज-सुधारक थक गये।

हर देश में हर अच्छी चीज का बुरा अनुकरण होता ही है। इस अनुकरण के डर से असली चीज को खोना बेवकूफी होगी। हमारे यहाँ कहावत है कि साड़ी में जूँ पड़ गयी, इसलिए साड़ी को फेंक देना बुद्धिमानी का काम नहीं।

भारत में शुद्ध अध्यात्म से तकलादी अध्यात्म को अलग करने का काम समाज-सुधारक करते ही आये हैं। बाहर के लोग यह भेद तुरन्त नहीं समझ सकेंगे और तकलादी हिस्से को ही प्रोत्साहन देंगे। चूँकि भारत स्वतन्त्र हो गया है, भारत की जागतिक इज्जत बढी है, इसलिए तकलादी अध्यात्म की प्रतिष्ठा के बढ़ जाने का डर है।

ऐसे समय भारत के अध्यात्म वीरों को और सामाजिक नेताओ को विदेशियों की जिज्ञासा, उनका कुतूहल और उनकी ओर से मिलने वाली प्रतिष्ठा की ओर ज्यादा ध्यान नही देना चाहिए। उससे प्रभावित नही होना चाहिए। और देश के सारे इतिहास को— आध्यात्मिक नैतिक, सामाजिक और शैक्षणिक इतिहास को न भूलते हुए पुरानी गलतियो से बचना चाहिए।

हमारे यहाँ अन्धभक्ति बहुत है। जरा सा चमत्कार कहीं दीख पड़े तो लोग तुरन्त व्यक्ति की पूजा करने लगते है। उसे ईश्वरी अवतार की प्रतिष्ठा देने लगते और अन्धश्रद्धा से हर चीज को निगल जाते है।

जो लोग नकली माल बनाकर उसकी जोर से तिजारत चलाते हैं, वे ही अपने इश्तहार मे बड़े बड़े अक्षरो मे लिखते है कि "नकली माल से अपने को सँभालिए, नकली माल के धोखे मे न आइये। हमारा माल असली माल है।"

इसलिए हम किसी के प्रमुख के पीछे न जाकर आध्यात्म का ही सीधा अध्ययन या अनुभव करें और सच्चे मूल्यों को ग्रहण करें।

यह आध्यात्मिक उन्नति का युग है। नये नये प्रयोग करने की हिम्मत हमें करनी चाहिए। निर्मल दृष्टि से हर प्रयोग के फल को जाँचना चाहिए। प्रयोग को ही छोड़ देना कायरता है। अन्धप्रयोग को प्रतिष्ठा देना मूर्खता है। हम दोनों से बचें और युग कार्य का मिशन श्रद्धा के साथ अपनायें।

१७-२-'५९

२. अध्यात्म की पूर्णता

'वेदान्त यानी अध्यात्म विद्या के साथ विज्ञान का संयोग होना चाहिए।' यह हमारा युगधर्म है। 'भारत छोड़ो' वाले जेल के दिनों मे हम लोगों ने जो चिन्तन किया, उसका यह निचोड है। युगधर्म यानी इस युग के सब सवालों का हल निकालने वाला धर्म। युगधर्म वह है, जिससे उच्चारण मात्र से जिन्दा हृदयों को उसकी तुरन्त 'प्रतीति' हो और समाज-हृदय मे भी उसकी प्रतिध्वनि तुरन्त उठे। अध्यात्म के साथ विज्ञान, विज्ञान के साथ अध्यात्म। यह घोषणा सुनते ही जवाहर लाल जी ने उसका अभिनन्दन किया। उन्होने जब इस युगधर्म का अभिनन्दन किया, तब मानो सारे वैज्ञानिक जगत् ने अध्यात्म की आवश्यकता मंजूर की।

जवाहरलाल जी के अभिनन्दन में दूसरा भी एक भाव निहित है।

विज्ञानवादी लोग बुद्धि के और ठोस अनुभव के उपासक हैं। वे धर्मो का प्रभाव जानते हैं और इसीलिए धर्मो से डरते भी हैं। संभव हो तो धर्मो को वे अवश्य दूर रखेंगे। लेकिन वे देखते हैं, समाज पर धर्मो का प्रभाव है, उसका कुछ हिस्सा अच्छा भी है, जिसे हम 'शुद्ध धार्मिकता' कह सकते हैं। विज्ञानवादी पूछते हैं कि धर्मो को हटा कर धार्मिकता को रखने का कोई उपाय है ? हम कहते हैं, ऐसा उपाय कभी का ढूंढ़ा रखा है। उसका अच्छा फल भी हमने चखा है। सब धर्मो के निचोड रूप जो धार्मिकता है, उसको कहते हैं 'अध्यात्म'। वही वेदान्त है।

भगवान् श्री कृष्ण ने अपनी श्रेष्ठ-श्रेष्ठ विभूतियों का वर्णन करते हुए कहा था, सब विद्याओं में परम श्रेष्ठ ऐसी जो अध्यात्मा विद्या है, वह मैं ही हूँ।

इन ऐतिहासिक धर्मो मे— यहूदी, ईसाई, इस्लाम, जरथुस्त्री, वैदिक, सनातन आदि धर्मो से— दुनिया ऊब गयी है और डरती भी है। उन धर्मो की मूल व्याख्या लोगों के सामने रखने मे अब काम नहीं चलेगा। एक युग पूरा जमाना हमने लोगों को समझाया :

'धारणात् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजा:।
य: स्यात् धारणसंयुक्त: स धर्म इति निश्चय:।।'

सब प्रजाओं का धारण भरण पोषण, उत्कर्ष और कल्याण करने की शक्ति है, इसलिए धर्म को धर्म कहते हैं। धर्म द्वारा ही प्रजा का जीवन संगठित, सुखी और समर्थ होता है। जिस किसी भी चीज मे यह धारणशक्ति है, सँभालने की और बढ़ावा देने की शक्ति है, वही धर्म है।

धर्म की स्तुति करने के लिए, ताईद करने के लिए ये वचन अच्छे हैं। इन वचनों को सुनकर धार्मिक लोग खुश होते हैं। लेकिन इतिहास का अध्ययन करने वाले, विज्ञान की उपासना करने वाले जब प्रश्न पूछते हैं कि "आपकी इस बढ़िया व्याख्या की ही कसौटी पर अगर हम आपके प्यारे धर्मो को कसे, तो इनमे से कितने धर्म खरे उतरेंगे ? आपके धर्म बच्चे तो नहीं हैं। हर एक धर्म का हजार-हजार वर्षों का इतिहास है। ये धर्म अगर अपने धर्म-संस्थापक पैगम्बरों और ऋषि मुनियों की दुहाई देंगे तो हम उनके जीवन-चरित्र देखेंगे। उनकी जीवन-सिद्धि की भी कसौटी करेंगे। अगर आप धर्म-ग्रन्थों की दुहाई देंगे, तो उन ग्रन्थों को हम आदरभाव से जरूर देखेंगे, किन्तु हम धर्म-वचनों के दास नहीं बनेंगे। तर्क, बुद्धि अनुभव और मानव-कल्याण इन चार तत्त्वों की कसौटी पर इन धर्मग्रन्थों को कसेंगे। इनमे जो अच्छा होगा, उसे स्वीकार करेंगे। जो अच्छा नहीं होगा अथवा जो कालग्रस्त होगा, उसे हम आदर के साथ दफनायेंगे। हम ग्रन्थ-परतन्त्र क्यों बनें ? जिसकी

बुद्धि ग्रन्थ परतन्त्र बनी, जो पुराने वचनों का दास बना, वह सम्पूर्ण मानव नहीं है। हम अपनी बौद्धिक और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता खोने को तैयार नहीं हैं। जिसने अपनी स्वतन्त्रता खोयी, वह किस मुँह से मोक्ष की और साल्वेशन की बातें कर सकता है।

हम धर्म का ऐतिहासिक महत्त्व समझने को तैयार हैं, लेकिन धर्म— शास्त्रधर्म, रूढ़िधर्म, परम्परागत धर्म— बूढे बनते हैं। वे सर्वज्ञ नहीं हैं। ईश्वर की कृपा है कि वे अजरामर नहीं हैं। उनको भी पेन्शन देकर निवृत्त करना जरूरी होता है। वे हमारे आदर के अधिकारी हैं। हम पर अधिकार चलाने का उनको अधिकार नहीं है।

इन धर्मों का पुराना इतिहास और आज की उनकी करतूतें देखें और बाद में, आज की धर्म की उम्दा व्याख्या पर उनको कसें और उनकी बातें करें।

उन धर्मों के अन्दर क्या-क्या लिखा है, इस बात को क्षणभर के लिए एक ओर रखें और ये सारे धर्म आपस में कैसे पेश आते हैं, यहां देखें। एक एक धर्म के अनुयायियों के साथ जिस तरह पेश आते हैं, उसे देखकर बहुत दफा मानवता लज्जित होती है। एक एक धर्म के अभिमानी लोगों ने दूसरे धर्म के अवतार, ऋषि-मुनि और पैगम्बरों की जो निन्दा की है, धर्म ग्रन्थों की हँसी उडायी है और रस्म-रिवाजों की फजीहत की है, ऐसा सारा साहित्य इकट्ठा करके अगर इसका अध्ययन किया जाय और सही माना जाय, तो सब धर्मों के प्रति केवल तिरस्कार ही बाकी रहेगा।

आज सब धर्मों के बीच जो शीत युद्ध चलता है, उसे देखते हुए लोगों का धर्मों से डरना यथायोग्य मालूम होता है। कभी कभी ये धर्माभिमानी लोग ऐसी तुच्छ और कालग्रस्त बातों का महत्त्व गाते हैं कि उनसे बातचीत करना भी शोभा नहीं देता।''

यह सब देखकर इतिहास जानने वाले, बुद्धि और अनुभव से चलने वाले लोग कहते हैं कि 'हमें धर्मों के जाल में फँसाइये नहीं। इन धर्मों में जो सच्ची धार्मिकता है, वही दे दीजिये।' इनकी इस माँग को समझकर और इसकी योग्यता मंजूर कर ही हमने युगधर्म का सूत्र बनाया। हम लोगों ने यह नहीं कहा कि धर्मों का विज्ञान के साथ संयोग हो। हम लोगों ने कहा कि वेदान्त अथवा अध्यात्म का ही विज्ञान के साथ संयोग होना चाहिए। वेदान्त में भी हमने द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि किसी पन्थ या फिरके की ताईद नहीं की है। हमने गीता, उपनिषद और ब्रह्मसूत्र में न अपने को बाँध लिया है, न औरों को हम बाँधना चाहते हैं। सूफी साधना को भी हम वेदान्त में ही लेते हैं। वेदान्त शब्द हम सिर्फ इसलिए चलाते हैं कि स्वामी विवेकान्द जैसों ने विदेश में यह शब्द चलाया है। इस शब्द का भी हमें आग्रह नहीं

है। हम तो अध्यात्म-विद्या की ही बात करते हैं।

(२)

जब पण्डित जवाहरलालजी ने युगधर्म के सूत्र का अभिनन्दन किया, तब उन्होंने अध्यात्ममार्गी आश्रमवासियों से सवाल पूछा कि 'जिस तरह हम लोग अध्यात्म वृत्ति स्वीकार करते हैं, वैसे आप लोग विज्ञान की कठोर साधना को मानने को तैयार हैं न ? आपके जीवन में, आपके प्रचार में और खासकर आपके रहन-सहन में विज्ञान-निष्ठा दीख पड़े, तभी तो आप युगधर्म के प्रतिनिधि बन सकेंगे।'

जवाहरलालजी की इस चुनौती को स्वीकार किये बिना चारा नहीं। इसलिए हमें अपने सारे अध्यात्म पर नये सिरे से सोचना होगा, ऋजु करना होगा और उसके अनुसार नये जीवन-क्रम के बारे में सोचना होगा और चलाना होगा। जिस तरह पुराने लोग सारी समाज-व्यवस्था के लिए एक-एक स्मृति बनाते थे, वैसी ही अध्यात्म-विज्ञान के समन्वय की नयी मानव-स्मृति बनाने की बुद्धि-शक्ति हमारे पास होनी चाहिए। लेकिन अब दुनिया के हाथ-पाँव बाँधनेवाली स्मृति नहीं चाहिए। दिशा-दर्शन अवश्य हो। जीवन के विस्तार में ब्यौरेवार सूचनाएँ भी की जायँ। इसके बिना किसी भी दर्शन को जीवन सिद्धि प्राप्त नहीं होती। लेकिन स्मृतियों के बावजूद मनुष्य की आत्मा और मनुष्य का जीवन स्वतन्त्र ही रहना चाहिए। प्रयोगपरायणता, तरह-तरह के प्रयोग करने की हिम्मत यही जीवन का सच्चा व्याकरण है। इसीलिए हम नयी या पुरानी, निर्दोष या सदोष, किसी भी स्मृति का बन्धन मंजूर नहीं करेंगे। सलाह और मदद अवश्य लेंगे।

आज सर्वोदय-समाज की स्थापना के अनेक प्रयोग चल रहे है। ग्राम निर्माण की बातें भी सोची जा रही हैं। ग्रामदानी गाँवों का नवसंगठन सोचा जा रहा है। लेकिन इनके लिए जरूरी बुनियादी चिन्तन कितना हो रहा है ?

(३)

युगधर्म के इस सूत्र मे जिस विज्ञान की ताईद हम लोगों ने की है, उस विज्ञान का स्वरूप क्या है ?

विज्ञान कहते ही लोगों के सामने पदार्थ-विज्ञान, रसायन और यन्त्रविद्या, इन्हीं का चित्र खड़ा होता है। यह चित्र सही है, किन्तु एकांगी है। इन तीनों विद्याओं ने इतना अभूतपूर्व और अद्भुत विकास किया है कि इनका सार्वभौमत्व स्वतःसिद्ध और सर्वमान्य बन गया है। इन तीनों विद्याओं ने जिस तरह की साधना (discipline) दुनिया को सिखायी है, उसकी कदर किये बिना चारा नहीं। इस साधना की दीक्षा लेने के बाद ही मानव-जाति ने आज की अन्यान्य विद्याओं का विकास किया है।

लेकिन जब हम अपने युगधर्म के सूत्र में विज्ञान शब्द का प्रयोग करते हैं, तब वह विज्ञान ऊपर की तीन विद्याओं से व्यापक है।

विज्ञान में गणित और तर्कशास्त्र आदि तटस्थ विद्याएँ भी आती हैं। खगोल, भूगोल, पदार्थ-विज्ञान, रसायन, वानस्पत्य आदि भौतिक विद्याएँ भी आती हैं। और सम्पत्तिशास्त्र, इतिहास, मानव-विज्ञान (anthropology), मानसशास्त्र और समाज विज्ञान (Sociology)आदि मनुष्य-सम्बन्धी विद्याएँ भी आती हैं। Physical Sciences and Humanities,ऐसा भेद किया जाता है। हमारे विज्ञान में ये दोनों आते है। क्योंकि हम विज्ञान के द्वारा इस दुनिया मे रहने वाली समस्त मानव-जाति के जीवन का अध्ययन करना चाहते हैं और इसके विकास के लिए कटिबद्ध हैं।

जिस तरह गीता ने बताया कि सब विद्याओ मे परम श्रेष्ठ विद्या है अध्यात्म-विद्या, इसी तरह विज्ञान की साधना द्वारा जिन विद्याओ का विकास हुआ है, उन सब विद्याओ मे शिरोमणि विद्या है सोशियालाजी (समाज विज्ञान)। इसमे भौतिक और मानवीय सब विद्याओ का समावेश होता है। सबकी सत्ता लेकर समाज-विज्ञान मूलगामी और सार्वभौम विचार कर सकता है।

यह समाज विज्ञान किसी ग्रन्थ के प्रामाण्य पर नही चलता। किसी व्यक्ति का वह अनुयायी नही हैं। बुद्धि अनुभव, व्यापक आकलन और सार्वभौम श्रद्धा इन्ही की बुनियाद पर इसकी इमारत खड़ी होती है। अनुभव में हम अतीन्द्रिय अनुभव को अस्वीकार नही करेंगे। गूढातिगूढ अनुभव भी अन्त में अनुभव है इसीलिए उसकी कीमत है। ऐसा अनुभव जिस किसी को हुआ है, उसके प्रामाणिक वचन हम आदर से सुनेंगे और उसकी सूचना के अनुसार हम जीवन के प्रयोग श्रद्धा से करेंगे। लेकिन हमें सन्तोष तो तब होगा, जब हमें भी सब चीजों का अनुभव होगा। इसलिए हमारे युगधर्म का सूत्र होगा :

मनुष्य-जाति के विकास के लिए अत्यन्त जरूरी है कि अध्यात्म-विद्या और समाज-विज्ञान का घनिष्ठ सहयोग हो। Spirituality and Sociology must go hand in hand influencing each other for the attainment of the highest goal of the human solidarity and peaceful Progress There Should be harmony amongst all cultures, races and ideologies There Should be harmony in all human efforts for full development भौतिक विज्ञान में से जो बौद्धिक साधना फलित हुई है, उसकी मदद से प्रयोगों के द्वारा विज्ञान का भी विकास हुआ हैं, उसका और अध्यात्म-विद्या का सहयोग समाज-विज्ञान में हो जिसमें सब मानववंश, सब राष्ट्र और सब संस्कृतियो के अन्दर सामंजस्य और सहयोग की स्थापना हो और अध्यात्मप्रेरित समाज-विज्ञान द्वारा समस्त मानव-जाति आत्म-विकास के शान्तियुक्त और सहयोगयुक्त

पुरुषार्थ करके सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त करे।
१५-११-'६३

३. भावी जीवन-साधना

साठ-सत्तर वर्ष पहले के जमाने में एक किताब प्रकाशित हुई, जिसका नाम था, The conflict between Religion and Science उन दिनों धर्म और विज्ञान के बीच विरोध था ही। हमारे कॉलेज के प्रिन्सिपल बुद्धिवादी थे, धर्म को नहीं मानते थे। वे विज्ञान के अभिमानी भी थे।

उनके प्रभाव मे मैं भी बुद्धिवादी बना और धर्म तथा धार्मिक रस्म-रिवाज सबकी खिल्ली उडाने लगा।

इस बुद्धिवादी भूमिका की पूरी तृप्ति होने के बाद ही धर्म का पक्ष मैं कुछ-कुछ समझने लगा। धर्म गहरी चीज है, गूढ है और ठोस है, इतना तो मेरी समझ में आ गया। साथ-साथ यह भी निश्चय हुआ कि विज्ञान का और धर्म का विरोध हो नहीं सकता। अगर दोनों सत्य के उपासक हैं, तो सत्य तो एक ही हो सकता है। उसमें विरोध के लिए अवकाश ही नहीं।

लेकिन आगे चलकर मैंने विज्ञान का क्षेत्र और अध्ययन छोड दिया। इसलिए नहीं कि उनका महत्त्व कम है, किन्तु इसलिए कि उसका क्षेत्र बहुत बडा है। उस पर कब्जा पाना मुश्किल है। मुझे तो अपना जीवन स्वराज्य-प्राप्ति मे व्यतीत करना था। मैं कहता था, भारत स्वतन्त्र होने पर विज्ञान की ही उपासना करूँगा।

लेकिन स्वराज्य-प्राप्ति के लिए मुझे धर्म का अध्ययन ज्यादा जरूरी महसूस हुआ। दर्शन शास्त्र का जरूरी परिचय मैंने कर लिया, लेकिन मुझे ज्यादा दिलचस्पी रही धर्मों मे और धर्मशास्त्र मे। नीति, सदाचार, समाज-व्यवस्था और सामाजिक, धार्मिक उन्नति, ये बाते ही मुझे सबसे अधिक रुचिकर लगीं, इसलिए मैंने धर्म और शिक्षा दोनो क्षेत्र अपनाये। बीच-बीच मे विज्ञान की प्रगति के बारे में थोड़ा कुछ पढकर ताजा और अद्यतन (अप-टु-डेट) रहने का प्रयत्न करता रहा।

अब देखता हूँ कि विज्ञान अपना बाल्य-सहज अहंकार छोड़कर गहरा होता जाता है। उसने अपनी खोजबीन की साधना— टेकनिक— सूक्ष्म बनायी है और जोरों से अद्‌भुत प्रगति करके दिखायी है। सत्यनिष्ठा, प्रयोगनिष्ठा और सार्वभौम सामंजस्य पर विश्वास, इन तीनों की मदद से विज्ञान ने इतनी प्रगति की है कि आगे बढते-बढ़ते वह गूढ (Mystic) बनता जाता है और उसका अपना दर्शन भी बन सकेगा। दर्शन बनाने की उसे उतावली नहीं है। दर्शन तो अपने-आप बनता ही

जाता है।

पश्चिमी भाषा में दर्शन को कहते हैं Metaphysics— यानी जो Physics के बाद आता है, Physics से ऊँचा है। इस नाम की सार्थकता अब ध्यान में आती है। Physics यानी पदार्थ-विज्ञान जब काफी बढ़ता है और गहराई में उतरता है, तब उसी में से फलित होना चाहिए Metaphysics यानी तत्त्वज्ञान।

वहाँ के लोगों ने एरिस्टाटल (अरस्तू) जैसे तत्त्वज्ञों के प्रयत्नों की बुनियाद लेकर मनोविज्ञान की खोज भी शुरू की है। बाद में वह बुनियाद छोड़कर केवल निरीक्षण, परीक्षण और प्रयोग के बल पर मनोविज्ञान को आगे बढ़ाया और उसमें भी काफी प्रगति की। अब वह चेतन-विज्ञान भी धीरे-धीरे प्रौढ़ बनने की तैयारी में है।

इधर हम लोगों ने यानी हमारे आद्य ऋषि-मुनियों ने मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक शोध शुरू की। इसमें ध्यान, चिन्तन और कल्पना से काम लिया और बहुत कुछ प्रगति की। इस क्षेत्र में उनकी निष्ठा बलवती होने से उन्होंने शोध करने की अपने टेकनिक बढ़ायी, जिसमें से योगविद्या पैदा हुई।

हमारे ये पुरखे अपने ज्ञान को सूत्ररूप में ग्रथित करते थे। उन्होंने अपनी औपनिषदिक शैली छोड दी और वे सूत्र लिखने लगे।

इसमें से एक संकट पैदा हुआ। लोगों ने खोजबीन करने का और योग-विद्या का उपयोग गूढ़ातिगूढ़ खोजबीन में करना छोड दिया। व्याकरण, तर्क, मीमांसा आदि के बल पर ऋषि-वचनों का और उनके सूत्रों का अर्थ करने का ही काम हाथ में लिया और भाष्य के बाद भाष्य लिखना शुरू किया। इन भाष्यों के काल में शास्त्रार्थ-पद्धति का प्रारम्भ हुआ। स्वतन्त्र चिन्तन और स्वतन्त्र खोजबीन करीब करीब बन्द हो गयी। जो कुछ नया कहना हो, वह भी सूत्रकारों का ही विचार है, ऐसी भूमिका बाँधकर नये-नये आविष्कार भाष्यों में ही फँसाये गये। शोध-खोज का स्थान सूत्रग्रन्थों के अर्थों ने और उनके शास्त्रार्थ ने ले लिया।

इससे बड़ा नुकसान हुआ।

सत्य अनन्त है, गूढ है उसे ढूँढने के लिए हमारे बौद्धिक साधन तेज होने चाहिए और उनके द्वारा आगे बढना चाहिए। यह शुद्ध विचार छोडकर पूर्वमीमांसा की पद्धति से ग्रन्थों के और उन भाष्यों के नये नये अर्थ किये जाने लगे। दर्शन-मीमांसा डिबेटिंग क्लब (वाग्वर्धिनी सभा) का रूप ले बैठी।

अमल में देखा जाय तो शोध-खोज के साधन दो-- प्रयोग और योग— दोनों एक-दूसरे के पोषक बन सकते हैं, लेकिन तभी, जब दोनों का मौलिक उपयोग हो।

अध्यात्म-दर्शन, मनोविज्ञान और योग की कला तीनों की प्रगति कुंठित

क्यों हो गयी, यह हमने बताया जरूर; किन्तु हमारे यहाँ इन तीनों की प्रगति काफी हो चुकी है। इससे हम बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं, लेकिन जिस तरह साँप केंचुली उतारने पर ताजा बनता है, इसी तरह हमारी इन तीनों विद्याओं को शास्त्रार्थ की केंचुली का त्याग कर प्रयोग और योग के द्वारा फिर से प्रगति करनी होगी।

विज्ञान ने बाह्य जगत् को देखा, अध्यात्म ने अन्तर जगत् को देखा। इन दोनों का वर्णन उपनिषद् में आया है।

स्वयंभू ब्रह्मदेव ने मनुष्य को खोपड़ी में बाहर देखने वाली इन्द्रियाँ कुरेदीं, इसलिए मनुष्य बाहर देखता है, अन्दर नहीं। यानि बुद्धि जिसके पास है, ऐसा कोई बिरला ही नजर घुमाकर और अमृतत्व का आदर मन में रखकर अन्दर देखने लगता है।

हमारे पुरखों ने माना कि बाहर देखते-देखते अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-नायक विश्वात्मा पाया जाता है और अन्दर देखते-देखते गुहा में प्रवेश कर जो छिपकर बैठा है, वह अन्तरतर अन्तगत्मा पाया जाता है। और दोनों दृष्टियों का फल एकत्र लाने से अनुभव होता है कि विश्वात्मा और अन्तरात्मा एक ही है। 'आत्मन्' और 'ब्रह्मन्' अलग नहीं हैं, एक ही हैं।

इतना रहस्य पाकर आध्यात्म-विद्या कृतार्थ हो गयी।

लेकिन हमारा कार्य बहुत कुछ बाकी है। जिस तरह पश्चिम का विज्ञान अपनी साधना और अपनी तकनीक के द्वारा आगे बढता जाता है, उसी तरह हमारे अध्यात्म को व्यक्तिनिष्ठा, वचननिष्ठा और ग्रन्थनिष्ठा से मुक्त होकर केवल सत्यनिष्ठ, रहस्यनिष्ठ होकर प्रयोग और योग के द्वारा आगे बढना है, और वह भी शास्त्रार्थ की पद्धति छोडकर समन्वय-दृष्टि अपनाकर नित्य नये-नये विक्रम करके।

× × ×

आज तक के हमारे अध्यात्म ने बाह्य जगत् को तो एक ओर रख ही दिया, किन्तु उसके साथ पंच कर्मेन्द्रियों और पंच ज्ञानेन्द्रियों को गौण बनाकर मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के परे रहने वाले आत्म-तत्त्व का ही चिन्तन चलाया। आत्मा की खोज, आत्मा की प्राप्ति और आत्मा का आनन्द, यही हमारे अध्यात्म की प्रवृत्ति रही। इस प्रवृत्ति ने हमें बहुत गहराई तक पहुँचाया और समाधि का आनन्द दिया। इस विजय और विक्रम से लाभ उठाकर अब हमें अपने अध्यात्म-दर्शन का एक निजी जीवन-दर्शन बनाना है।

जीवन में क्या-क्या नहीं आता ? अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के नाम से जिसका विस्तार है, वह बाह्य जगत् हमारे जीवन का अखाड़ा है। केवल शरीर ही नहीं,

शरीर के साथ यह सारा विश्व ही हमारा क्षेत्र है। इसके असंशय और समग्र ज्ञान के बिना हमारा जीवन-दर्शन सन्तोषकारक प्रवृत्ति कर ही नहीं सकता।

और जीवन का अर्थ केवल हमारा हरएक का व्यक्तिगत जीवन नहीं है। वह तो समस्त जीवन का एक अल्पतम हिस्सा ही है। भूतकाल के, वर्तमानकाल के और भविष्यकाल के समस्त नर-नारियों के समूह को संस्कृत भाषा में नार कहते हैं। अंग्रेजी में उसे Humanity कहते हैं। उसी के लिए हमारा आज का शब्द है, मानवता। इस मानवता का जो विराट् जीवन है, उसका सम्पूर्ण आकलन और उसका विकास करने की साधना ही सच्चा जीवन-दर्शन है। इस जीवन-दर्शन को समझने की और ऐसे विराट् जीवन का विकास साधकर उसे कृतार्थ करने की साधना ही सच्चा जीवन-दर्शन है। आज तक का हमारा अध्यात्म दर्शन हमारी कुंजी है, हमारे पुरुषार्थ की बुनियाद है। उसकी मदद से जो जीवन-दर्शन हम पायेंगे, वही इस युग की सिद्धि होगी।

यह सब किस तरह किया जाय, यही आज के हमारे चिन्तन का मुख्य विषय है। इस जीवन में मनुष्य-जाति के भले-बुरे समस्त जीवन का अन्तर्भाव होता है। हजारों बरस के इतिहास में मानव ने जो कुछ पाया और खोया है, उसकी खोज करके उसे व्यवस्थित रूप देने से ही हमारी बुनियाद मजबूत होगी। सामुद्रिक उपमा की भाषा में कहना हो तो नार-जीवन एक विशाल सागर है। इसमें हर व्यक्ति अपने-अपने जीवन का जहाज चलाता है। सब साधकों के सब जहाजों का बड़ा काफिला ही इस युग की साधना का साधन है। हमारा अध्यात्म-दर्शन सब जहाजों को दिशा दिखाने वाला ध्रुव तारा है। यह ध्रुव तारा मानवता रूपी नार के बाहर नहीं है। नार के अन्दर ही रहता है। इसीलिए उसे नारायण कहते हैं।

नारायण परायण होकर जो साधना हम करेंगे, वह द्वेषरहित, जुगुप्सा-रहित अहिंसामूलक सहयोग की सह साधना ही होगी। उसे समझना ही सबसे पहला कार्य है।

१५-७-'६४

१५. समन्वय-युग की तैयारी

१. जगद्व्यापी सर्व-परिवर्तन

जब दुनिया में धर्मयुग था, तब भारत के बौद्ध साधु पूर्व, पश्चिम और उत्तर में

दूर-दूर तक गये और उन्होंने 'धम्म' का यानि सदाचार का अष्टांगिक मार्ग लोगों को सुनाया। कृतज्ञ दुनिया ने बुद्ध भगवान् की पूजा शुरू की।

जब धर्म-शुद्धि का युग शुरू हुआ, तब अरबस्तान और ईरान की नवसंस्कृति ने इस्लाम को तीन खण्डों में फैलाया। जब इस्लाम और ईसाई धर्म के बीच संघर्ष चला, तब नौका-युग का प्रारम्भ हुआ और यूरोप के दरियाई लोग सारी दुनिया में फैल गये। ईसामसीह और इंजील का नाम लेकर आधी से अधिक दुनिया उन्होंने जीत ली और अपनी तिजारत फैलाकर अपनी जीत मजबूत की।

बुद्ध भगवान् का सिद्धान्त अवैर का था, अहिंसा का था। इस्लाम के मानी हैं शान्ति, और ईसामसीह तो स्वयं prince of peace— शान्तिवादी और भगवान् के पुत्र थे। उनका शान्ति का उपदेश करते हुए और सुनते हुए दुनिया ने युद्ध-कला चरमकोटि तक पहुँचा दी।

अब लोगों का विश्वास धर्म पर से उठ गया है। लोग अब परलोक-परायण धर्मों को छोड़कर जीवन-परायण संस्कृति को मानने लगे हैं। अब न्याय, ममता, समझौता, साहचर्य और सहयोग का युग— पंचशील शुरू होने वाला है।

पंचशील द्वारा अब यह पंचायतन-युग शुरू होने वाला है। इसका अन्तिम फल है सर्वोदय। इसके लिए अब हमें तैयारी करनी है। मानस-शास्त्र, इतिहास और समाज-शास्त्र के गहरे अध्ययन द्वारा सर्वोदय का सर्वव्यापी चिन्तन करने से ही भविष्य की तैयारी होगी।

चिन्तन के साथ-साथ परिवर्तन के प्रयोग भी करने चाहिए। बौद्ध-काल ने धर्मवीर और यात्रावीर पैदा किये। इस्लाम की प्रवृत्ति ने युद्धवीर और फकीर पैदा किये। ईसाई-युग में सेवावीर, वाणिज्यवीर और विज्ञानवीर तैयार हुए।

अब इन सब युगों का सम्बल यानि वीर्य एकत्र करके समन्वयवीर, प्रेमवीर और सत्याग्रहवीर तैयार करने होंगे।

मानस-परिवर्तन और हृदय-परिवर्तन, जीवन-परिवर्तन और सामाजिक परिवर्तन और तीसरा युग-परिवर्तन और मानव परिवर्तन-यही है इस समय का विराट आदर्श।

इसके लिए विज्ञान से मदद लेनी होगी संकल्पबल से, संगठन-सामर्थ्य से। लेकिन असली बुनियाद होगी नव-चिन्तन और नयी तालीम।

सितम्बर, १९५६

२. धर्मों का रूपान्तर शिक्षा में

"What shall be the religion of future ?"

"All the established religions of the world are in the melting pot to-day. The religion of the future will emerge out of the amalgam of all these

and it is going to be a religion of education."*

किसी पश्चिमी विद्वान् के साथ चर्चा करते हुए जो जवाब दिया था, वह ऊपर के शब्दों में था। धर्ममात्र श्रद्धा के विषय होते हैं इसीलिए जब वे संगठित होते हैं और समाज-मानस पर काबू हासिल करते हैं, दीर्घजीवी होते हैं।

यह भी पाया गया है कि बाह्य आक्रमणों से धर्मों का नाश कभी भी नहीं हुआ है। धर्मों का नाश होता है आन्तरिक दोषों की वृद्धि से और कालगति के कारण उनकी उपयोगिता नष्ट होने से।

धर्म भी अन्ततः मानवी संस्था है। वह मानवी मस्तिष्क, मानवी हृदय और मानवी जीवन का आविष्कार है। धर्म जैसी प्राणवान् संस्था में जिस तरह दोष आते हैं, वैसे निकल भी जा सकते हैं।

कभी-कभी पुराने धर्मो में एक नयी जबरदस्त प्रेरणा प्रवेश करती है। इससे उस धर्म का कायाकल्प होता है। फिर तो नाम पुराना, श्रद्धा की बुनियाद पुरानी, निष्ठावान् अनुयायियों की संख्या भी वही, लेकिन धर्म बिलकुल नया ही रूप लेकर समाज में नवचैतन्य पैदा करता है।

लेकिन ऐसे नवसंस्करणों की भी एक प्राकृतिक मर्यादा होती है। मानव की बुद्धिमत्ता, तरह-तरह के विराट् संगठन चलाने की क्षमता, जीवनानुभूति में फैला हुआ विज्ञान का जामन और मानव-जाति का निश्चित किया हुआ जीवन का नया प्रस्थान, इन सब कारणों से सबके सब धर्म अब कालग्रस्त हो गये हैं। केवल नवसंस्करणों से उनका काम अब नहीं चलेगा। अब मनुष्य-हृदय पर और उसके सामाजिक जीवन पर जिस प्रेरणा का अधिराज्य स्थापित हुआ है, वह प्रेरणा धर्म-संस्था के द्वारा काम नहीं कर सकेगी। धर्म-संस्थाओं का स्वभाव ही है कि देखते-देखते वे क्रिस्टलाइज हो जाती हैं, निश्चित और स्थायी आकार धारण करती हैं। भावी मानवी प्रेरणा क्रिस्टल के अन्दर, स्फटिक या बिल्लौर के रूप में काम नहीं कर सकेगी। जीवन ने स्वातन्त्र्य का आनन्द चखा है, अब वह हद से ज्यादा बन्धन कबूल नहीं करेगा।

इसलिए आगे धर्मों को आज तक का बिल्लौरी रूप छोड़ देना पड़ेगा। उसे संस्कृति के नाम से वातावरण या वायुमण्डल का स्वरूप लेना पड़ेगा। जब धर्मों को इस नयी आवश्यकता का साक्षात्कार होगा, तभी वे नयी-नयी शिक्षा-पद्धतियों का अंगीकार करेंगे। धर्म-संस्था का रूपान्तर होकर शिक्षा-संस्था का एक नया

*"भविष्य का धर्म कौन-सा होगा?"

"विश्व के सारे प्रचलित धर्म आज रूपान्तर की स्थिति में हैं। उनके पारस्परिक समन्वय से ही भविष्य के धर्म का उद्भव होगा। भविष्य का धर्म शिक्षा-पद्धति का स्वरूप ग्रहण करेगा।"

ही आविष्कार होगा।

आज तक मानवी जीवन का संगठन धर्मों के द्वारा हुआ, राजनीति के द्वारा हुआ। आजकल अर्थनीति सार्वभौम पद पर है। लेकिन आगे इनका नहीं चलेगा। जीवन-संगठन और जीवन-विकास का भार अध्यात्मप्रेरित शिक्षा-संस्था के हाथ में ही जायगा।

मैं मानता हूँ, सबकी सब धर्म-संस्थाएँ अपना कायाकल्प करके शिक्षापद्धति का रूप धारण करेंगी। इतना ही नहीं, अपना नामरूप भी छोड़ देंगी और इसमें प्रारम्भ होगा हिन्दू-धर्म की ओर से। हिन्दू-धर्म का नाम है सनातन धर्म और सनातन की व्याख्या है नित्य-नूतन। इस व्याख्या के अनुसार हिन्दू-धर्म का ही सबसे पहले और सबसे आमूलाग्र परिवर्तन होगा और वह सब धर्मो का समन्वय करके शिक्षा-धर्म बनकर दुनिया की सेवा करेगा। यही हालत सब धर्मो की होने वाली है।

इसलिए हम न केवल सब धर्मो का गहरा अध्ययन करे, किन्तु यह भी जरूरी है कि भिन्न-भिन्न शिक्षा-पद्धति की बुनियाद में कौन-कौन-सी जीवन-निष्ठाएँ हैं, यह देखकर, टटोलकर आखिरकार आज की हमारी मार्वभौम जीवन-निष्ठा के अनुसार नयी शिक्षा-पद्धति चलायें।

मानव-कल्याण का चिन्तन करके गाधीजी ने घोषित किया कि सत्य और अहिंसा ही इस जमाने की और शाश्वत सार्वभौम जीवन-निष्ठा है। इस अहिसा मे युद्ध-निषेध से भी बढ़कर है शोषण-त्याग और कौशलयुक्त शरीर-श्रम। इसलिए निष्कपट प्रतारणाशून्य सदाचार, गोपनीयता का अभाव, शान्ति की उपासना, वर्ग-वर्ग के बीच सहयोग और सामंजस्य, स्पर्धा का त्याग, कौशलयुक्त परिश्रम, स्वावलम्बन और परस्परावलम्बन, ज्ञानोपासना और कल्याणोपासना आदि शुभनिष्ठाओ की स्थापना और विकास के अनुकूल नयी शिक्षा-पद्धति, नयी तालीम का आदर्श विकसित करना है, उसे सर्वमान्य बनाना है औग उमके हाथ मे सामाजिक जीवन के सूत्र सौंप देने हैं।

यही है आज का युगकार्य।

२-६-'५७

३. हमारी सार्वभौम समन्वय-वृत्ति

पुराने जमाने में किसी भू-भाग में ऐसा रिवाज था कि दो देशो के युद्ध मे जो राष्ट्र हार जाता, उसके मन्दिर की मूर्तियाँ भी विजेता राष्ट्र के लोग ले जाते और अपने मन्दिर में उन्हें उच्च आमन पर नहीं, बल्कि निचले आसन पर रखते। पूजा तो सब मूर्तियों की होती, किन्तु विजयी राष्ट्र के देव उच्चासन पर विराजते। जैसे हारे हुए राजाओं को विजयी राजा के दरबार में माण्डलिक होकर गौण स्थान पर

बैठना पड़ता था, वैसे ही उनके देवों को भी गौण महत्त्व मिलता था। भक्तों की हार-जीत उनके देवों की भी हार-जीत बन जाती।

इसमें एक तरह का न्याय भी था। जिन देवों ने अपने भक्तों और उपासकों को विजयी बना देने का सामर्थ्य नहीं बताया, उनकी प्रतिष्ठा भी कम होनी चाहिए। देवों में सबसे श्रेष्ठ देव कौन, इसका निर्णय ये सब देव आपस में कुश्ती लड़कर नहीं करते थे। जिनके भक्त हार गये, वे देव भी हार गये।

आजकल यह नियम चुनाव के लिए भी उपयोगी है। जिस पक्ष को पूरे मत यानि वोट नहीं मिले, उस पक्ष के कार्यक्रम जैसे अपमानित होते हैं, उसी तरह उसके देव भी अप्रतिष्ठित होने चाहिए। राज्यकर्ता पक्ष के देवता ही राज्यासन पर बैठेंगे।

प्राचीन काल में शायद देव भी भक्तों पर निर्भर न रहकर अन्दर-अन्दर स्वयं कुश्ती लड़ लेते होंगे। **'शिवस्य हृदये विष्णुः विष्णोश्च हृदये शिवः'** इस प्रख्यात वचन का अर्थ भी बचपन में ऐसा ही सुना था कि शिव और विष्णु की कुश्ती में कभी-कभी शिवजी की छाती पर विष्णु सवार होते थे, दोनों की कुश्ती काफी चली, लेकिन निर्णय न हो सका दोनों में से जोरावर कौन है ।

लड़ाई के जमाने के बाद समन्वय का जमाना आ ही जाता है। समन्वयवादियों ने ऊपर बताये वचन का सच्चा अर्थ बताया।

शिवजी हमेशा विष्णु का ध्यान करते है। इसलिए शिवजी के हृदय में विष्णु विराजमान हैं। इधर विष्णु भी शिवजी का अखण्ड ध्यान करते हैं, फलतः विष्णु के हृदय में शिवजी का वास है। आप शिवजी के भक्त हों या विष्णु के, दोनों की पूजा करते रहना आपका धर्म है। जब शिवजी और विष्णु एक-दूसरे के भक्त और उपासक हैं, तब दोनों के अनुयायी आपस में किसलिए लड़ें ? श्री आद्य शंकराचार्य ने शायद देखा कि युद्ध टालने का उपाय समन्वय ही है। लोगों में जो भिन्न-भिन्न देवो की उपासना चलती थी, उन्होंने उसका समन्वय करने की सोची। प्रथम प्रमुख या प्रधान पाँच देवों को पसन्द किया— शिव, विष्णु, गणपति, रवि और देवी। चार पुरुष और एक स्त्री। शायद ब्रह्मा की जगह गणेशजी लिये गये। सूर्य भगवान् तो प्रत्यक्ष परब्रह्म हैं ही।

दुनिया में जितने भी देव-देवियाँ हैं, इन सब पाँचों में से किसी-न-किसी एक का अवतार हैं।

अब नियम बनाया गया कि जिसे इन पाँचों में से जो देव प्रिय हो, इष्ट हो, उसी की पूजा वह प्रधानतया करे, लेकिन साथ-साथ बाकी के चार तो पूजा के लिए रखने ही होंगे।

शिवजी के उपासक शिवजी की मूर्ति बीच में रखेंगे, बाकी की चार मूर्तियाँ

चार कोनों में। गणेशजी के उपासक गणेशजी को बीच में रखेंगे और बाकी के चार देव अपने-अपने स्थान पर बैठ जाएँगे। इस तरह पाँच तरह की पंचायतन पूजा चलाकर देवों का संघर्ष टाला गया। भक्तों का अन्दर-अन्दर मनमुटाव भी कम हुआ। और सनातनियों की पूजानिष्ठा दृढ़ हो गयी।

समन्वय का दूसरा प्रकार राम और कृष्ण दोनों को एक करने का था। दोनों विष्णु के ही अवतार सही, लेकिन दोनों के अवतार-कार्य में बहुत बड़ा फर्क रहा। भक्तों में तो इससे भी अधिक बड़ा फर्क 'पार्थक्य' पैदा हुआ। अन्तत: सच्चे धर्म को पहचानने वाले भक्तों ने ऐसे स्तोत्र बनाये, जिनमें राम और कृष्ण के नाम और गुण दोनों की फूल-गुँथाई हो गयी।

उसके बाद बारी आयी शिव और विष्णु की। हरिहर नाम से दोनों को एक कर दिया। केवल नाम में ही नहीं, किन्तु मूर्ति में भी। ऐसे समन्वय को मजबूत करने के लिए यह भी घोषित किया कि जो कोई हरि और हर में भेद करेगा, वह सात जन्म तक नरक में जायगा। जैसा वहम, वैसा इलाज।

अब दिन आये हैं सब धर्म-संस्थापकों का समन्वय करने के। व्यास और वाल्मीकि दोनों भगवान् की ही विभूति थे। जिस तरह तुलसीदास जी हनुमान के अवतार माने जाते हैं, उसी तरह सब पुराणकार व्यासजी के ही अवतार माने जाते धर्म-परायण, प्रकृति-पूजक, आदर्श-सेवी सब कवियों को वाल्मीकि का अवतार माना जाय, तो लोगों की श्रद्धा-भक्ति को एक अच्छा-सा नया रूप मिलेगा। मनु याज्ञवल्क्य और आपस्तम्ब जैसे सबके सब स्मृतिकार एक ही आदि पुरुष के, धर्म-संथापक के अवतार हैं। फिर उनका किसी भी धर्म के साथ सम्बन्ध क्यों न हो ! जैसे शंकराचार्य और मध्वाचार्य, वैसे ही ईसामसीह, बुद्ध भगवान् और उनके जैसे बाकी के सब पैगम्बर थे। सबका जीवन-चरित्र एक साथ पढ़ना चाहिए और उनके जीवन-प्रसंगों का समन्वय-दृष्टि से ही अन्वयार्थ करना चाहिए।

पूजा में राम, कृष्ण आदि विभूतियों के साथ ईमामसीह और बुद्ध भगवान् को भी रखने का रिवाज प्रचलित करना चाहिए। अगर रोम के पेंथियन से प्रेरणा लेनी हो तो हरएक प्रार्थना-मन्दिर में पाँच-पचास आले हों, जिनमें सब धर्मों के मूल संस्थापकों की मूर्तियाँ दर्शन-चिन्तन के लिए (पूजा के लिए नहीं) रखी जाएँ।

दशहरा, दीपावली के त्योहार के पहले जो सरस्वती-पूजन का दिन रहता है, उस दिन सब धर्मों के ग्रन्थ और उनके लोकसुलभ अनुवाद पूजा में रखने चाहिए। आजकल के उत्साही प्रकाशक यह काम आसानी से कर सकते हैं। धर्म के जानकार विद्वानों से पूछकर एक ऐसी सूची बनायी जाय, जो सर्वधर्म-समन्वय के लिए बहुजनमान्य बन सके। फिर ऐसे धर्मों के एक-से-संस्करण तैयार किये जायँ, जो सर्वधर्म-समन्वय मण्डल के अध्यक्ष के आशीर्वाद के साथ प्रकाशित हों। हमें

विश्वास है कि ऐसी सर्वधर्म-समन्वय-माला आज के युग में लोकप्रिय होगी। लोग धर्मग्रन्थ के ऐसे संस्करण जरूर खरीदेंगे।

बचपन मे हम देखते थे कि हमारे ग्राम-देवता के मन्दिर में बड़े-बड़े उत्सव के दिन आस-पास के पंचक्रोशी (दस मील के घेरे के प्रदेश) के सब देवों को आमन्त्रण दिया जाता था। यह काम गाँव के परम्परागत हरिजन खेपिये को ही करना पडता था। वह जाकर आमत्रण-चिट्ठी दे आता था। उत्सव के दिन गाँव के हर घर का एक-एक प्रतिनिधि हिन्दू हो, मुस्लिम हो या ईसाई हो, मन्दिर में उपस्थित रहना ही चाहिए। फिर सबकी ओर से पुजारी जोर से चिल्लाकर पंचक्रोशी के देवों का आह्वान करता था, जैसे "तुरुकवाडी के खलनाथजी पधारिये, रामपुर की लक्ष्मीजी पधारिये" आदि। ऐसे हरएक आवाहन् को खेपिया हरिजन जोर से जवाब देता था कि "जी, वे पधारे है ।" ऐसे जवाब देने के लिए उस दिन हरिजन खेपिये को मन्दिर के अन्दर खडे रहने की इजाजत थी। उसकी उपस्थिति के बिना मन्दिर का काम शुरू ही नही हो सकता था। पश्चिम भारत मे और गोवा मे भी ग्राम-देवता के मन्दिर मे हरएक धर्म के प्रतिनिधि को उपस्थित रखना ही पड़ता है। हमारे गाँव के मन्दिर मे ईसाइयो को मुसलमानो को, जैनियो को और ब्राह्मणो को इस तरह पूजा मे एक होते मैंने देखा है। ग्राम देवता के मन्दिर मे धर्म भेद को स्थान ही नही था। धर्मान्तर किया तो क्या हुआ ? गाँव मे रहने वाला आदमी ग्राम देवता की उपासना थोडे ही छोड़ सकता है ?

यह था हमारा समन्वय का तरीका जो सभी धर्म-सिद्धान्तो मे भी श्रेष्ठ और सर्वोपरि था। उसे अब पुनर्जीवित करना चाहिए और उसमे सब धर्मों का समावेश तो जरूर हो ही, किन्तु श्रद्धालु नास्तिको का भी उसमे बहिष्कार न हो। वे भी ग्राम-देवता के उत्सव मे शरीक होने के लिए बंधे हुए हैं। **'समन्वयो विजयतेतराम्।'**

१-११-'६०

आज तक हमने भिन्न पथो का समन्वय किया। अब भिन्न धर्मों का, उनके स्थायी और सुगन्धित तत्वो का समन्वय करना है। तार्किक झगड़े लेकर, संकुचित अभिमान लेकर या पुराने राग-द्वेष की विरासत आगे रखकर जो लोग सारा काम बिगाड़ते हैं और भूतकाल को जीवित रखने के लिए भविष्यकाल का गला घोटते हैं और वर्तमानकाल को दुर्गन्धित बनाते हैं, उनके हाथों समन्वय होने वाला नहीं। उनको तो दूर ही रखना चाहिए।

समन्वय के वायुमण्डल मे हर धर्म के प्रधान त्योहार मानने की बात आती है। उनमे सब धर्म के लोगो को शरीक होने के लिए बुलाना जरूरी होता है। ऐसे समय एक-दूसरे की बात समझने की और बरदाश्त करने की तैयारी होनी चाहिए। जहाँ गये, वहाँ झगडा किया, ऐसा स्वभाव इसमे नहीं चलेगा। जब हम किसी के घर

मेहमान के तौर पर जाते हैं या किसी को अपने घर पर अतिथि के तौर पर बुलाते हैं, तब जो मनोवृत्ति हम प्रसन्नता से धारण करते हैं, वही है समन्वय-वृत्ति की बुनियाद। इस वृत्ति से हम प्रसन्नता का वायुमण्डल पैदा कर ही लेते हैं। लेकिन इससे भी बढ़कर दूसरा लाभ यह है कि हमारी वृत्ति की जड़ता और संकुचितता दूर होकर हमारी रचनात्मक और सर्जनात्मक बुद्धि तेज होती है और हम नयी-नयी अद्भुत चीजों को जन्म देकर चालू करते हैं। नवनिर्माण का जमाना शुरू होता है और हर तरह के पुरुषार्थ के लिए अवकाश मिलता है।

किसी भी धर्म का, किसी भी पन्थ का कैसा भी त्योहार क्यों न हो, हम उसका उपयोग समन्वय-दृष्टि बढ़ाने के लिए ही करें। जिस तरह किसी समय हमारे पुरखों ने पंचायतन-पूजा का सिलसिला जारी किया और शिव, विष्णु, गणपति, सूर्य और देवी, इन पाँचों को समस्त देव-देवियों के प्रधान मानकर उनकी एक साथ पूजा करने लगे, उसी तरह अब हम सब धर्मों की उपासना का किसी-न-किसी ढंग से मिलान कर दें, तो अच्छा होगा।

१-४-'५८

४. अष्टयोग की विश्व-साधना

भारतीय संस्कृति में योग का बहुत ऊँचा स्थान है। दर्शन और योग मिलकर जीवन सम्पूर्ण होता है। दर्शन है हमारी जीवन-दृष्टि। दर्शनों में हमारे जीवन-मूल्य हैं और योग में उनकी साधना। वस्तुतः देखा जाय तो हरएक दर्शन की अपनी अलग-अलग योग-पद्धति होनी चाहिए। वेदान्त को हम एक दर्शन कहते हैं। लेकिन सचमुच उसमें द्वैत दर्शन, विशिष्ट अद्वैत दर्शन और अद्वैत दर्शन ऐसे मुख्य अलग-अलग दर्शन पाये जाते हैं। अगर इन दर्शनों को केवल चर्चामण्डल (डिबेटिंग कलब) का विनोद नहीं बनाना है, तो हरएक दर्शन का अपना अलग स्वतन्त्र योग होना चाहिए। अद्वैत दर्शन में '*ब्रह्म सत्यं जगन् माया*' यही जीवन-दृष्टि है। इस दृष्टि में ब्रह्म ही सब-कुछ है और जगत् या तो शून्य है या निःसार है। इस दृष्टि में भक्तियोग का अर्थ ध्यानयोग ही होता है अथवा ध्यानयोग में भक्तियोग विलीन हो जाता है। द्वैत दर्शन की बात इससे उलटी है। उसमें भक्ति ही ध्यान है।

जो हो, हरएक दर्शन का जब तक हम अलग योग नहीं बनाते, जीवन कृतार्थ नहीं हो सकता।

हमने यह भी कहा है कि हरएक दर्शन की अपनी अलग स्मृति होनी चाहिए। अगर हरएक दर्शन का जीवनोद्देश्य अलग है, तो उसके अनुसार उस जीवन का सामाजिक पहलू भी अलग होना चाहिए। अहिंसा-परायण, ईश्वर-निरपेक्ष और परिमित-संख्या के जीवों को माननेवाला जैन-दर्शन केवल चर्चा का विषय नहीं रहा। उस

दर्शन ने अपने लिए एक अलग समाज की स्थापना भी की। जैन-समाज चातुर्वर्ण्य के बारे में शायद उदासीन है। (तत्वत: जैन-दर्शन को चातुर्वर्ण्य मान्य नहीं होना चाहिए, लेकिन चूँकि जैन-समाज हिन्दू है, चार वर्ण और चार आश्रम को वह भूल नहीं सकता।) जब जैन-दर्शन एक सर्वांग-परिपूर्ण दर्शन है और उसको माननेवाला एक समाज भी बन गया है, उसकी अपनी स्मृति होनी चाहिए। लेकिन किसी ने वह बनायी नहीं है। कोशिश करने पर एक छोटी-सी अर्हन्नीति हाथ में आयी, लेकिन उसमें कोई खासियत नहीं दीख पडी।

योग का अर्थ है, 'जीवन-योग'। दर्शनों का विचार करते हुए योग को हम 'उत्थान-योग' कह सकते हैं। केवल मोक्ष का या ईश्वर-प्राप्ति का विचार सामने रखकर हमारी संस्कृति ने ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग ऐसे तीन योग चलाये हैं। ध्यानयोग और उपासना-योग को भी हमारी संस्कृति में स्थान है। लेकिन प्रधानता तो इन तीनों की ही है। कहा जाता है कि ईश्वर-प्राप्ति के ये तीन अलग-अलग मार्ग हैं। मनुष्य अपने स्वभाव या अभिरुचि के अनुसार एक मार्ग को पसन्द करता है।

जीवन-योग की दृष्टि से सोचा जाय तो कर्मयोग ही सच्चा और सम्पूर्ण जीवन-योग है। ज्ञानयोग कर्मयोग की बुनियाद है और भक्तियोग उस कर्मयोग की सुगन्धि है। ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों मिलकर एक योग बनता है। इन तीनों में प्रधानता जिस किसी की भी हो, तीनो के समन्वय के बिना योग पूर्ण हो नहीं सकता। ज्ञान है दर्शन तथा ध्यान और उपासना उसका योग है। उपासना-योग और भक्ति-योग में फर्क होने का कोई कारण नहीं है।

अद्वैत दर्शन के अनुसार हम जगत् को भले ही मिथ्या कहें, हमारा व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन जगत् को सच्चा मानकर ही चलता है। जगत् को हम कारागृह कहे या स्फूर्ति, वह हमारे जीवन का क्षेत्र है। केवल शरीर को हम क्षेत्र नहीं मानते। हमारा शरीर, हमारा परिवार, हमारा समाज, जीव-सृष्टि और पंचमहाभूतात्मक सारा विश्व ही हमारा जीवन-क्षेत्र है।

इस जीवन-क्षेत्र में हमें जीना है, पुरुषार्थ करना है, आत्म-परिचय पाना है, जगत् को साधन बनाकर जीवन-साफल्य की ओर प्रयाण करना है और सर्वत्र ऐक्य का, अद्वैत का, अभेद का अनुभव करना है। हमारे लिए जीवन की कृतार्थता ही अन्तिम लक्ष्य है। मोक्ष— षड्रिपु के बन्धन से मुक्ति, विकृति और एकांगिता से मुक्ति उसका एक साधनमात्र है।

इस व्यापक साधना की सिद्धि के लिए हमें किन-किन योगो की योजना करनी है, इसका भी थोड़ा चिन्तन करने का समय अब आ गया है।

जीवन का सार, रहस्य या प्रयोजन अनुभूति है। हम अनुभूति के लिए जीते हैं।

सारा जीवन अनुभूति की साधना ही है। इसलिए जीवन हमेशा गतिशील और गतिरूप ही होता है। जीवन-साधना अखण्ड चलती है। साधक-दशा हो या सिद्ध-दशा, जीवन तो प्रवृत्ति रूप ही हो सकता है। जिसे हम निवृत्ति कहते हैं, वह भी साधन-दशा में भिन्न गति की प्रवत्ति ही है।

इसलिए जीवन को हम उद्योग कह सकते हैं। प्रवृत्ति या उद्योग ही जीवन-साधना का पहला योग है। इस योग के द्वारा हम अपने जीवन को अनुभूति-समृद्ध करते जाते हैं। और अनुभूति जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, हमारा प्रवृत्ति-योग विज्ञान-योग का रूप धारण करता है। विज्ञान-योग की साधना प्रारम्भ में बाह्य दुनिया की ओर बढ़ती है। हमारी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय के अनुभव के लिए बाहर की ओर दौड़ती हैं। (पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयंभूः तस्मात् पराङः पश्यति।) इस व्यापार से अनुभूति समृद्ध होने पर मनुष्य को आश्चर्य होता है। समृद्धि का वह आनन्द पाता है और फिर इन अनुभूतियों को हासिल करने वाली इन्द्रियो का स्वरूप क्या है, इसकी ओर उसका ध्यान जाता है। इन्द्रियों की शक्ति बढ़ाने का और सूक्ष्म बनाने का उसका प्रयत्न चलता है। वैसा करते-करते इन इन्द्रियो को चालना देनी वाली, इन्द्रियों का उपयोग करने वाली और अनुभूति का मनन करने वाली जो आन्तरिक इन्द्रिय-अन्तःकरण-है, उसके स्वरूप को समझने की वह कोशिश करता है। यह सारी प्रवृत्ति जब गहराई तक पहुँचती है, तो उसमे से अध्यात्मयोग फूट पड़ता है।

लोग मानते हैं और कहते है कि साधना के लिए एकान्त चाहिए। कुछ हद तक ही यह बात सही है। जब मनुष्य देखता है कि जीवन साधना करने वाले उसके जैसे दूसरे व्यक्ति भी हैं, उनकी मदद हम ले सकते हैं— इतना ही नहीं, किन्तु समानशील, समानधर्मा व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त करना जीवन साधना के लिए आवश्यक है, अपरिहार्य है, तब मनुष्य सहयोग की ओर मुड़ता है— समान-शील-व्यसनेषु सख्यम्। यह सख्य कभी-कभी मैत्री का रूप लेता है। कभी-कभी उत्तराधिकारी बनाता है। लेकिन हमेशा सहसाधक तो होता ही है।

सहयोग से जीवन-साधना का क्षेत्र बढ़ता है, साधना-शक्ति बढ़ती है। सहयोग द्वारा अनुभूति की कसौटी होती है और सब तरह के प्रयोगों का सातत्य भी चल सकता है।

मानव-जाति का भाग्य इसी में है कि उसके लिए दिक् और काल दोनो मर्यादाओं पर विजय पाने की शक्ति उसे सहयोग द्वारा मिलती है। चाहे जितने व्यापक, दीर्घकालीन और जटिल प्रयोग चलाने हों, मनुष्य सहयोग द्वारा सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

सहयोग में विश्वास करनेवाले और सहयोग से लाभ उठाने वाले जीवनयोगी

की श्रद्धा कहती है :

उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा।

सहयोग की राह पर आगे बढ़ते-बढ़ते अनुभूति की समृद्धि तो बढ़ती ही है, लेकिन उसमें अनन्त प्रकार की विविधता भी आती है। यह बात तो स्पष्ट है कि जहाँ विविधता आयी, भिन्नता आयी, वहाँ संघर्ष आ ही जाता है। जितना सहयोग ज्यादा, उतना संघर्ष का क्षेत्र भी व्यापक और विशाल। मनुष्य-जाति का सारा इतिहास सहयोग और संघर्ष का ही इतिहास है। इन दोनों ने मिलकर ही मानव-कोटि की अनुभूति को समृद्ध किया है। उसकी शक्ति और पुरुषार्थ को सर्वसमर्थ और सर्वगामी बनाया है।

संघर्ष के परिहार के लिए और वैयक्तिक जीवन के पूर्ण विकास के लिए 'साम्ययोग' की मदद लेनी ही पड़ती है। साम्ययोग के बिना सहयोग बढ़ नहीं सकता, कृतार्थ हो नहीं सकता। योग-मार्ग हो या प्रयोग-मार्ग, सहयोग के लिए साम्ययोग की आवश्यकता है ही और संघर्ष के अन्त में हरएक साधक व्यक्ति को और समाज को समन्वय का रास्ता मिलता ही है। संघर्ष युग के बाद जब समन्वय-युग आता है, तब मनुष्य की साधना एक नया ही रूप लेती है।

आज सारे विश्व में संघर्ष इतना व्यापक और स्थायी बन गया है कि अब समन्वय का उदय हुए बिना नहीं रहेगा। समन्वय के आसार सर्वत्र दीख रहे हैं। एक ओर संघर्ष इतना भयानक होता जाता है कि मनुष्य को प्रलयकाल का ही डर दीख रहा है। (अष्टग्रह के सहयोग से प्रलयकाल तो नहीं आया, लेकिन रूस, चीन, अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस, अफ्रीका, जापान और भारत इन अष्टग्रहों के शिखर सहयोग के होते हुए भी प्रलय हो जायगा, ऐसा डर तो पैदा हो ही गया है।)

ऊपर कहा ही है कि संघर्ष का इलाज समन्वय है। वह तब हो सकता है, जब जीवनयोग की साधना करनेवाले साधक व्यक्ति और राष्ट्र अनासक्तियोग का अनुशीलन करेंगे। अनासक्ति के बिना न साम्ययोग सिद्ध हो सकता है, न समन्वय-योग तक मनुष्य पहुँच सकता है। मनुष्य की प्रवृत्ति जितनी बढ़ती और जितनी जटिल होती जाती है, उतनी ही अनासक्ति की आवश्यकता बढ़ती जाती है। अनासक्ति केवल मोक्ष के लिए (निःश्रेयस् के लिए) आवश्यक नहीं है। ऐहिक उन्नति-अभ्युदय के लिए भी उसकी इतनी ही आवश्यकता है। अनासक्ति मानव-समाज-शास्त्र की बुनियाद है। गीता ने आदर्श मानव समाज के आवश्यक लक्षणों को दैवी सम्पत् कहा है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ (यूनो) की स्थापना के साथ सब देशों ने मिलकर जो मानव-कल्याण का घोषणा-पत्र तैयार किया, उसमें साम्ययोग की और समन्वय-

योग की कुछ झलक है। अगर उसकी जगह गीता की दैवी-सम्पत् को समाज-शास्त्र की परिभाषा में ग्रन्थित करके उसे स्वीकार किया गया होता तो वह ज्यादा मददगार होता। संयम और अनासक्ति के बिना समन्वय नहीं हो सकता, साम्ययोग टिक नहीं सकता और विश्वात्मैक्य की, अद्वैत योग की मंजिल तक पहुँचा नहीं जा सकता।

यहाँ जिस अद्वैत-योग का जिक्र किया गया है, उसका स्वरूप समझने की योग्यता भी आज मानव-समाज में नहीं है। साम्ययोग, समन्वय-योग और अनासक्तियोग की सतत और दीर्घकालीन साधना के बाद ही अद्वैत-सिद्धि की थोड़ी-बहुत झलक प्राप्त हो सकेगी।

यहाँ जो अष्टयोगमूलक विश्व-साधना बतायी गयी है, उसका प्रयत्न व्यक्तिगत रूप से भी होना चाहिए और सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी होना चाहिए। समय परिपक्व हो चुका है। मानव-जाति को उसका दर्शन हुए बिना रहेगा नहीं। इसलिए अभी से इस योगाष्टक के क्रम को समझना चाहिए। इसका साधक प्रकट होनेवाला ही है। इसमें शंका की गुंजाइश नहीं है।

१५-३-'६२

५. चन्द सवाल

समन्वयवादी सब धर्मों, सब दर्शनों और सब पन्थों के ग्रन्थों, विचारों, रिवाजों आदि का सहानुभूतिपूर्वक अध्ययन करता है और सबमें से अपने काम की चीजें ले लेता है।

झगड़े और मतभेद को टालने के लिए लोग परस्पर विरोधी वचनों में से एक ही अर्थ निकालने की कोशिश करते थे। ऐसी कोशिश को 'एकवाक्यता' कहते हैं। एकवाक्यता स्थापित करने के लिए भाषा की खींचतान करनी पड़ती है और बुद्धि की कसरत। समन्वयवादी मतभेद से इनकार नहीं करेगा। मतभेद स्वीकार करके समन्वयवादी यह बतायेगा कि जीवन की दृष्टि से दोनों विचार भिन्न होते हुए भी परस्पर मारक नहीं हैं, दोनों साथ चल सकते हैं और दोनों कभी-कभी एक-दूसरे के पोषक भी बन सकते हैं। एक ही आदमी किसी का पिता होगा, किसी का पुत्र, किसी का भाई और किसी का न्यायाधीश। भिन्न-भिन्न परिस्थिति के साथ सम्बन्ध बदलने से आदमी का रुख बदल जायगा। पिता के प्रति आदर होने के कारण वह अपने आग्रहों को गौण बनायेगा। अपने स्वातन्त्र्य को भी छोड़ देगा। लेकिन वह अपने पुत्र से कहेगा कि मेरे प्रति आदर दिखाने के लिए अपने विचारों को गौण बनाने की जरूरत नहीं है। मैं तुम्हारे स्वातन्त्र्य की रक्षा ही करूँगा।

स्पष्ट है कि परिस्थितियों में उस आदमी के आदर्श भी बदल गये। यही तो जीवन-दृष्टि की खूबी है।

एक उदाहरण दूँ।

सनातनी लोग जिस तरह का श्राद्ध करते हैं, उसमें मेरा विश्वास नहीं है। तो भी मैंने आपने माता-पिता का श्राद्ध उनके विश्वास के अनुसार किया। वैसा नहीं करता तो मुझे सन्तोष नहीं होता।

लेकिन मैंने अपने पुत्रों से कह रखा है कि "सनातनी श्राद्ध पर मेरा विश्वास नहीं है। मेरे मरने के बाद मेरा श्राद्ध न किया जाय।" दो पुश्तों के बीच ऐसा ही समन्वय हो सकता है। तर्क-दृष्टि अलग होती है और जीवन-दृष्टि अलग।

जीवन-शुद्धि की आवश्यकता हमेशा ही है। और उस प्रवृत्ति का अन्त कभी नहीं आ सकता। जिस तरह भक्ति का आदर्श हमेशा बढ़ता रहता है, वैसे ही जीवन-शुद्धि का आदर्श उत्कट और उत्कटतर होता जाता है। जब तक मोक्ष मिला नहीं, आदमी कह नहीं सकता कि मेरी जीवन-शुद्धि पूरी हो गयी है। (और मोक्ष भी क्रमशः होता है।)

मनुष्य कह नहीं सकता कि "क्योंकि मेरी जीवन-शुद्धि हुई नहीं है, इसलिए सेवा-कर्म करूँगा ही नहीं; अगर जीवन शुद्ध न रहा, तो मेरी सेवा के द्वारा कुछ असेवा होने की सम्भावना भी है।" क्योंकि सेवा भी जीवन-शुद्धि की साधना है।

हाँ, अगर जीवन में विकृति आ गयी, तो उस हालत मे की हुई सारी सेवा असेवा ही साबित होगी।

लेकिन मामूली तौर पर चित्त-शुद्धि के लिए भी सेवा-कर्म आवश्यक है। श्री शंकराचार्य तो कहते हैं . 'चितस्य शुद्धये कर्म।'— कर्म का उद्देश्य ही चित्त-शुद्धि है।

कर्म करते-करते जब जीवन-शुद्धि का और जीवन-समृद्धि का चिन्तन करते हैं, तभी प्रगति होती है। सेवा-कर्म के बिना किया हुआ केवल चिन्तन बहुत दफा ख्वाबी होता है।

कहा जाता है कि समाज-व्यवस्था में हाथ डालने के पहले साधक को यथोचित आत्मशुद्धि कर लेनी होगी। यह सिद्धान्त सही है। हमारे यहाँ अनेकानेक स्मृतिकार हो गये। उनकी स्मृतियाँ हम पढ़ते हैं। इन स्मृतियों के प्रारम्भ में स्मृतिकारों का वर्णन मिलता है कि वे ऐसे पवित्र थे, ज्ञानी थे, सब जीवों का उत्कर्ष चाहते थे। ऐसी शुद्ध और ज्ञानी अवस्था के बाद ही उनकी बतायी हुई समाज-व्यवस्था समाज मान्य रख सकता था। मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर, आपस्तंब, शंख-लिखित आदि-आदि सब स्मृतिकार अपने जमाने के पवित्र लोग थे, लेकिन त्रिकालज्ञ नहीं

थे। उनकी स्मृतियाँ प्रेरक हैं जरूर, लेकिन आज पूरी मार्गदर्शक नहीं । उनका जमाना अलग था। उस जमाने को हम आज की दृष्टि से आदर्श जमाना भी नहीं कह सकते। उन्होंने चातुर्वर्ण्य में और जाति-व्यवस्था में उच्च-नीच भाव मंजूर किया। उनके जमाने में दूसरा चारा ही नहीं था। आज हम समत्व चाहते हैं।

इन स्मृतिकारों के प्रति हम आदरभाव रखेंगे अवश्य, लेकिन यह नहीं कह सकते कि उनका जीवन या उनके वचन शुद्ध आदर्श के अनुसार निर्दोष ही थे।

समाज-व्यवस्था में हाथ डालने के पहले मनुष्य आत्मशुद्धि करे, इस सिद्धान्त को आगे करके रूढ़िवादी सनातनी लोग कहते हैं कि आत्मशुद्धि करके समाज-मान्य हुआ धर्मनेता जब तक सामने आया नहीं, तब तक पुरानी व्यवस्था ही चलनी चाहिए। पुरानी स्मृतियाँ ही कबूल करनी होंगी।

इस बात को हम कैसे मानें ? पुरानी स्थिति आज नहीं है। पुरानी व्यवस्था कब की टूट गयी है। वह सदोष भी थी। इसलिए आज की हालत में समाज के सदाचारी नेता समाज-व्यवस्था में जरूर परिवर्तन करा सकते हैं, करते भी आये हैं। चित्त में स्वार्थ न हो, विकृति न हो, सकुचितता न हो, गर्व और अभिमान अधिक न हो और उम्र प्रौढ हो, तो ऐसे लोग समाज-सुधार की बाते समाज के सामने रख सकते हैं।

और आजकल सब लोग किसी एक आदमी की बात मानेगे, ऐसी अपेक्षा ही व्यर्थ है।

एक आदमी का सब माने तो समाज-संगठन अच्छी तरह हो मकता है और समाज समर्थ भी बनता है। कानून के द्वारा बाह्य नियन्त्रण से ऐसी स्थिति ला सकते हैं लेकिन उससे मच्ची आत्मोन्नति नही हो सकती।

लेकिन दुनिया मे दिशा बतानेवाले बहुत हैं। कोई किसी एक का मानता है कोई दूसरे किसी का। इस तरह सम्प्रदाय पैदा होते हैं। सम्प्रदायो का बनना अच्छा नहीं, किन्तु अपरिहार्य है। हरएक सम्प्रदाय अपने को अच्छा मानता है और दूसरे को गलत। समन्वयवादी कहेगा कि हरएक पक्ष अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार ठीक है, लेकिन सब में सुधार के लिए अवकाश हो सकता है। इसलिए हमें साम्प्रदायिक अभिमान छोडकर गुण-ग्रहण करने की शक्ति व्यक्त करनी चाहिए।

सम्प्रदायों के प्रवर्तकों में शायद ऐसी उदारता आ सकेगी, किन्तु अनुयायियों में बड़ी कठिन है। अनुयायियों की शक्ति उनके कट्टरपन में होती है और कट्टरपन मे विवेक गायब होता है; अभिमान और अन्धापा आते हैं। फिर ऐसे लोग अपने नेता की ही असेवा करते हैं। कार्य-हानि तो होती ही है।

विज्ञान से हमें तीन बातें सीखनी होंगी, तभी समन्वय-दृष्टि विकसित होगी। विज्ञान में व्यक्तिनिष्ठा, ग्रन्थनिष्ठा और वचननिष्ठा का अभाव होता है। विज्ञान में सत्यनिष्ठा, आत्मनिष्ठा और जीवननिष्ठा होती है।

इन तीन निष्ठाओं के बल पर ही हम सामूहिक साधना कर सकेंगे और समन्वय द्वारा जीवन-शुद्धि, जीवन-समृद्धि और जीवन-सिद्धि तक पहुँचेंगे।*
१-८-६४

१६. मन्थन-काल का दर्शन

१. जागतिक रोग का सांस्कृतिक इलाज

जगद्व्यापी अथवा जागतिक राजनीति पर असली प्रभाव अर्थनीति का है। दुनिया के छोटे-बड़े सब देश अपना आर्थिक सामर्थ्य बढ़ाने की कोशिश में रहते हैं। हर देश का परम पुरुषार्थ अधिक से-अधिक अर्थसमर्थ बनने का ही है।

इस प्रधान उद्देश्य के बाद दूसरा उद्देश्य आता है अर्थ-वितरण का यानी राष्ट्र की सम्पत्ति न्याय के अनुसार अधिक से अधिक लोगो में कैसी बाँटी जाय और अपने-अपने देश में से दारिद्र्य, भूख और धनी गरीब का भेद कैसे कम किया जाय, इसी चिन्ता का रहता है।

दुनिया का तीसरा विचार गोरे, पीले, काले और गेहुँए रंग की जातियों की खींचतान का है। यूरोप और अमेरिका की गोरी जातियाँ अथवा गोरे वंश के लोग सारी दुनिया मे सर्वोपरि हैं। इनके खिलाफ एशियाई और अफ्रीकी जाग्रत होकर चाहे जितना जोर लगाते होंगे, तो भी वैज्ञानिक, आर्थिक, राजनीतिक और सामरिक सामर्थ्य आज भी इन गोरो का ही सर्वोपरि है। और इससे भी बढ़कर यह कबूल करना पड़ेगा कि राजनैतिक दूरदृष्टि मे और परिपक्व चातुरी में गोरे ही सबसे आगे हैं।

इन लोगों का प्रधान धर्म है, ईसाई-धर्म। ईसाई धर्म में प्रोटेस्टेंट, कैथोलिक, ग्रीक चर्च आदि भेद भले ही हों और बुद्धिवादी गोरों की धर्मनिष्ठा चाहे जितनी शिथिल हो गयी हो, सबके सब ईसाई-धर्म के प्रभाव में ही हैं।

---

* एक पत्र से।

आर्थिक और राजनैतिक समता के खयाल से जो लोग साम्यवादी बने हैं, उनका तो धर्म मात्र के प्रति विरोध है। धर्म के बारे में जिनके मन में पूरी-पूरी उपेक्षा जम गयी है, ऐसे लोगों की संख्या जगह-जगह बढ़ रही है।

यह सब जानते हुए भी हम कह सकते हैं कि यूरोप-अमेरिका के गोरे लोगों का धर्म ईसाई-धर्म ही है।

हमने ऊपर कहा कि दुनिया में आज प्रधामृता है राजनीति की, क्योंकि सारा सामर्थ्य राजनीति के वश ही रहता है। इस राजनीति पर सच्चा प्रभाव है सामर्थ्यपरायण अर्थनीति का। कुछ प्रभाव है साम्यवाद, पूँजीवाद आदि वादों का। और छिपा प्रभाव है गोरे, पीले, काले और गेहुँए— अलग-अलग रंग के वंशभेद का।

आज अगर कोई सार्वभौम कल्पना अप्रतिष्ठित हुई है, तो वह है धर्मों की, धर्म-जीवन की। सुधरी हुई दुनिया धर्म को आगे नहीं करती। वंश (Race)को भी आगे नहीं करती। लेकिन सामान्य मनुष्य धर्म का विचार किये बिना नहीं रहता।

आज की हालत देखते हुए लोगों में अपने-अपने धर्म के नियम के अनुसार जीने का आग्रह कम है, धार्मिकता पर जोर नहीं है, लेकिन अपने-अपने धर्म की जमात के प्रति निष्ठा अभी भी कायम है। वह पहले से कम नहीं हुई है। ईश्वर-निष्ठा सिर्फ मानने की बात रह गयी है। धर्म-जीवन व्यक्तिगत आग्रह की निजी बात रह गयी है। जमाअत, सम्प्रदाय, मिल्लत तथा फिरकापरस्ती ही ज्यादा है। इसी का एक रूप है कम्युनलिज्म अथवा जातिनिष्ठा।

इस अर्थ में गोरे लोगों की अपनी ईसाई जमात के प्रति निष्ठा सबसे ज्यादा है।

आज दुनिया में अपनी जमात की संख्या बढ़ाने की कोशिश ईसाइयों में है। ऐसी ही कोशिश मुसलमानों में पायी जाती है और उनकी देखा-देखी बौद्धों में भी वह कुछ-कुछ आने लगी है, हालाँकि उन दोनों की अपेक्षा कम है।

औरों की संख्या-वृद्धि से हिन्दू और यहूदी डरने लगे हैं। और जिनको धार्मिक जमातों की होड़ में उतरने की तनिक भी इच्छा नहीं है, वह सिर्फ जरतुश्ती या पारसी कौम है। पारसी कौम में आत्मरक्षा की वृत्ति है। वह चाहती है कि पारसियों में से कोई धर्मान्तर न करे। लेकिन वह यह भी चाहती है कि गैर पारसियों में से (जुद्दीन में से) शादी के द्वारा या अन्य किसी तरह से कोई अपनी कौम में न आये।

सनातनी हिन्दुओं की वृत्ति भी यही है (अथवा थी)। फरक इतना ही है कि सनातनी हिन्दू कभी-कभी नाराज होकर भ्रष्ट लोगों को अपनी कौम से निकाल

देते हैं। पारसी लोग धर्मभ्रष्ट लोगों को दण्डित करेंगे, लेकिन बहिष्कृत नहीं करेंगे। यहूदियों की भी शायद यही वृत्ति होगी।

(२)

दुनिया के देशों में प्रधानता राजनीति की है। उसमें सामर्थ्य सम्पत्ति और संख्या तीनों का ख्याल जबरदस्त है। क्योंकि जीवन-कलह में, संघर्ष में, होड़ में और युद्ध में चारित्र्य का अथवा धार्मिकता का नहीं, किन्तु सामर्थ्य, सम्पत्ति, संख्या और संगठन का महत्त्व होता है।

राजनीति में एकम (ईकाई) होता है राष्ट्र का (अर्थात् शासन) अथवा सरकाररूपी तन्त्र द्वारा संगठित जमात का)। जब यही दृष्टि धार्मिक जमातों में और वांशिक (Racial) जमातों में आती है, तब उस दृष्टि को हम कहते हैं धर्मनीति अथवा वंशनीति।

पश्चिम के गोरे लोगों में राजनीति अथवा राष्ट्रनीति के साथ-साथ छिपे ढंग से धर्मनीति और वंशनीति होती ही है। लेकिन अब उसकी चर्चा खुले तौर पर नहीं होती। गोरे लोग जानते हैं कि गोरे लोगों की अपेक्षा रंगीन (पीले, गेहुँए (Brown) और काले) लोगों की संख्या अधिक है। इसलिए लोगों में वंशाभिमान जाग्रत करना खतरनाक है। तो भी अमेरिका में नीग्रों के कारण और अफ्रीका में काले बाशिन्दों के कारण वंशनीति आगे आ रही है और दुनिया का ध्यान खींच रही है।

अफ्रीका काले लोगों का खण्ड है। गोरे लोग उसे कृष्णखण्ड अथवा अँधेरा खण्ड कहते थे। उन लोगों की रात्रि अथवा कृष्णपक्ष की अमावस सन् १९२५ तक चली। उस साल यूरोपियन लोगों ने अफ्रीका के टुकडे करके आपस में बाँट लेने का एक विराट समझौता किया था मानो बड़े शिकारियों की एक टोली जंगली सूअरों के एक झुण्ड का कत्ल करके आपस में बाँट रही हो। उसके बाद गोरे राष्ट्रों में आपस की ईर्ष्या बढ गयी और अफ्रीकी लोगों में जाग्रति, असन्तोष, शिक्षा और जिजीविषा (जीने की इच्छा) ये चार तत्त्व बढ़ने लगे। सन् १९२५ तक की अमावस के बाद प्रथम बहुत धीरे-धीरे, लेकिन अब जोरो से अफ्रीका का शुक्लपक्ष शुरू हो रहा है। अब उसे अँधेरा खण्ड न कहकर प्रभात का खण्ड कहना होगा। अगर अफ्रीका के इन काले लोगों में मानवता का विकास हुआ, तो उनकी और दुनिया की खैरियत है। लेकिन अगर उनमें केवल राष्ट्रीयता जाग्रत हुई और गोरों के जैसी विराट् वांशिक अस्मिता प्रकट हुई, तो सारी दुनिया को 'न भूतो न भविष्यति' वंश-विग्रह देखना पड़ेगा और मानवीय संस्कृति का करीब करीब खातमा हो जायगा। पूँजीवाद और साम्यवाद का संघर्ष इतना भयानक नहीं होगा, जितना जगद्व्यापी वांशिक विग्रह का होगा।

इसलिए हमें धर्मनीति और वंशनीति इन दोनों का जागतिक राष्ट्रनीति के साथ-साथ अध्ययन करना होगा।

सब धर्मों में जो शुद्ध धार्मिकता, मानवता, सदाचार, भक्ति और अध्यात्म पाये जाते हैं, उनसे तो मनुष्य-जाति का कल्याण ही होगा। लेकिन धर्मनीति में इनकी बात कम सोची जाती है। मुस्लिम लीग ने, हिन्दू सभा ने, अरब लीग ने अथवा यहूदियों की झायोनिस्ट मूवमेण्ट ने सदाचार, ईश्वर-निष्ठा, धर्मपरायणता और अध्यात्म का विचार आगे नहीं रखा है। वहाँ तो अपनी-अपनी जमात का सामर्थ्य और प्रभाव बढ़ाने की ही बात है।

इसलिए धर्मनीति के अध्ययन में ईश्वर-भक्ति, सन्तोष, परोपकार और निःस्वार्थ सेवा का चिन्तन करने से नहीं चलेगा। उसमें तो मिल्लत, जमात, क्रिस्सेनडॉम आदि गुटों के अभिमान का, संगठन का, पसन्दगी-नापसन्दगी का और गैरों के द्वेष का प्रभाव कितना है, वही देखना है।

हम सब श्रेष्ठ हैं, दूसरे हमसे नीचे हैं, कमीने हैं, तुच्छ हैं, ऐसी जो होड़ चलती है, उसे संस्कृत में अहंश्रेयसी कहते हैं। आज सारी दुनिया में यह अहंश्रेयसी ही चलती है। जब तक यह बुखार उतरा नहीं है, तब तक मानवता, विश्वबन्धुत्व और सर्वोदय का वातावरण बन नहीं सकेगा। राष्ट्रनीति, धर्मनीति और वंशनीति में और अर्थनीति में भी चलती हुई अहंश्रेयसी ही दुनिया का सबसे बड़ा सवाल और सबसे बड़ा रोग है। और सर्वोदय की भावना ही भवरोगघ्न दवा है।

१-८-'६४

२. मन्थन-काल का दर्शन

इतिहास-विधाता भगवान् भविष्यकाल का स्वामी एक ओर खींचकर कह रहा है : "सब वंश के, मब धर्म के, देश के और राष्ट्रके असंख्य भाषा बोलने वाले लोग आखिरकार एक ही परिवार है। इसलिए हे मानव, तुम अपनी हार्दिक और आत्मिक एकता को पहचानो और प्रेम और परस्पर सेवा का सहजीवन शुरू करो।"

इसके खिलाफ भूतकाल का मानव अपनी लाल आँखों से, रक्ताक्त नखों से और विसंवादी स्वर से चिल्ला रहा है : "हम एक नहीं हैं। हम भिन्न हैं। हम नहीं तैयार एक-दूसरे को पहचानने के लिए। हमारा, हरएक का, स्वार्थ अलग है। हरएक का संयोग अलग है। औरों से हम बड़े हैं, अच्छे हैं। घुल-मिल जाना हमारे लिए खतरनाक है। ख्वाबी दुनिया में मत रहो। वस्तुस्थिति को पहचान लो। संघर्ष हम नहीं छोड़ सकते। अपना-अपना अलग-अलग व्यक्तित्व कायम रखने के लिए जो भी अन्याय करना पड़े, हम करेंगे, संघर्ष चलायेंगे। जो भी कीमत देनी पड़े, देने

को हम तैयार हैं। लेकिन भेद को छोड़ने के लिए हम तैयार नहीं हैं। भेद ही सत्य है।''

भेद, अभेद और भेदाभेद सब दार्शनिक पक्ष नहीं हैं। किन्तु सामाजिक, आर्थिक, राजकीय और वांशिक प्रश्न हैं। शास्त्रार्थ से इसका निर्णय होनेवाला नहीं है। इसका निर्णय तो खून बहाकर ही हो सकता है। यह है विश्वास और भूमिका भूतकाल के प्रतिनिधियों की।

प्रकृतिमाता कहती है कि भूतकाल की बाते भूतकाल में ही दफना देनी चाहिए। लेकिन भूतकाल की बातें आसानी से नहीं मरतीं। वर्तमान काल के ज्यादातर प्रतिनिधि रंगमंच पर भूतकाल के तत्व ही भर देते है और इस तरह भविष्यकाल को परास्त करना चाहते हैं।

काल भगवान् स्वय स्मितपूर्वक यह तनाजा देखते रहे है। वे जानते हैं, जोर है भूतकाल का, कठिन समस्या है वर्तमान काल की, लेकिन अन्तिम विजय तो भविश्य काल की ही है।

आखिरकार भविष्य की विजय से जिनको सब तरह का लाभ होनेवाला है, वे लोग भी आज भूतकाल के अनुयायी बनकर उसी पक्ष की ओर से लड़ रहे हैं, यह है इस नाटक की सबसे बडी विचित्रता।

ऐसा विचित्र नाटक चलते हुए भी, तनाजे का जोर होते हुए भी हमने स्पष्ट देखा कि मनुष्य का अन्तरतम अथवा स्थायी स्वभाव समानता में विश्वास करता है, सहयोग की माँग कर रहा है। एक-दूसरे के कल्याण में एक-दूसरे का कल्याण देखने की शक्ति ढूँढ रहा है और समस्त वंशों की अभिन्नता, उनका अद्वैत यही परम सत्य है, इस उद्घोष को [illegible]न भी रहा है। जिनका इस उद्घोष पर विश्वास है वे ही इस जमाने के आस्तिक पुरुष हैं।

हमने हर जगह कहा कि भगवान ने तरह तरह का ससाला इकट्ठा करके जगह-जगह अपनी प्रयोगशालाएँ खोली हैं। भिन्न वर्ण, भिन्न संस्कृति के, भिन्न-भिन्न भाषा बोलने वाले लोग आज तक अलग अलग रह सकते थे। अब ऐसे भिन्न तत्त्वों को एकत्र लाकर इनमें से भविष्य के लिए एक रसायन बनाने का प्रयोग इन प्रयोगशालाओं में हमने चलाया है। ऐसी प्रयोगशालाएँ वेस्ट इंडीज की ओर भी हैं और ईस्ट इंडीज में भी खोली गयी हैं। छोटे-मोटे टापुओं में भी चलायी गयी हैं और बडे बडे खण्डों में भी चलायी गयी हैं। अब देखें कौन-सी प्रयोगशाला में सबसे अच्छा माल तैयार हो सकता है। इन प्रयोगशालाओं में से जिसका रसायन कारगर मालूम होगा, उसी के हाथ में दुनिया का नेतृत्व दिया जायगा।

अनुभव हो रहा है कि संघर्ष, तनाजा और युद्ध ये प्राचीनकाल के साधन हैं।

इनसे काम बनता नहीं, बिगडता है। सहयोग और धैर्य, धैर्य और सहयोग ही इस नये प्रयोग का नया व्याकरण, नया तरीका है। जिनके पास श्रद्धा है, वे ही इस प्रयोग को सफल करके दिखा सकेंगे। हमारा जीवन धन्य है कि हम ऐसे मन्थन को देख सके और उसमें शरीक हो सके। मन्थन-काल हरएक के भाग्य में नहीं होता। मन्थन-युग में जिनका जन्म हुआ और इस युग में जो जीवन-यापन कर रहे हैं, पुरुषार्थ में शरीक हो रहे हैं, उनकी धन्यता कुछ और ही है।

१५-१-६०

परिशिष्ट

१. समन्वय विद्यापीठ और सर्व-धर्म-समन्वय

दुनिया मे जहाँ देखे मतभेद दृष्टिभेद और स्वार्थभेद भरे ही हैं। ऐसे भेदो के कारण ही जगह-जगह तनाजा, खीचातानी और सघर्ष चलता है। कई मतभेद चर्चा करने से, विचार विनिमय के साथ थाड़ा वाद-विवाद करने से दूर होते हैं। जहाँ स्वार्थभेद है, न्याय की बात ढूंढने से और समझौता करने से बीच का रास्ता निकल आता है और सहअस्तित्व के लिए वायु-मण्डल तैयार हाता है।

ऐसा नही हुआ तो परस्पर मनमुटाव, सघर्ष, द्वेष, हिसा और युद्ध शुरू होते हैं और मानवीय जीवन दु:खमय और विषाक्त बन जाता है। मानवीय इतिहास का यही सार अथवा निचाड है। जीवन का विकास और सन्तोष इसी मे है कि हम मतभेद आदि को गौण बनाकर परस्पर विरोधी तत्त्वो मे समझोता और सामंजस्य लाने की कोशिश करे। मतभेद आदि सब भेद तो दूर नही होंगे, जीवन मे तरह तरह के भेदो के लिए अवकाश रहेगा। लेकिन न्याय समझौता, प्रेम और उदारता का आश्रय लेकर हम सहयोग द्वारा मानवीय जीवन का उत्कर्ष कर सकते है। ऐसी वृत्ति और प्रवृत्ति को समन्वय कहते है। समन्वय का प्रारम्भ शान्ति, युक्ति, सयोग (Co-existance) से होगा। एक दूसरे की बात मान जाना। किसी तरह समझौता करना। लेकिन आगे जाकर परस्पर प्रेम व एकता लाने की कोशिश करते हुए सामजस्य को खडा करना और अन्त मे यथाशीघ्र परस्पर घुल-मिल जाना और ओत-प्रोत होना, यह जीवनक्रम है। अग्रेजी मे इसे (Compromise mutual adjustment give and take, reconciliation और harmony कहते है। ऐसी समन्वय वृत्ति मे दुनिया के सवाल हल करने का युग अभी शुरू हुआ है। क्योकि मनुष्य जाति ने देख लिया है कि सघर्ष बढाने मे जीवन के सर्वोच्च तत्त्व का नाश होता है। युद्ध के साधनो मे इतना विकास हुआ है और द्वेष शक्ति इतनी अन्धी होती है कि युद्ध के अन्त मे किसी एक पक्ष का विजयी होना अब असम्भव हुआ है। परस्पर नाश और सार्वभौम सर्वनाश युद्ध का फल बनने लगा है।

ऐसी हालत मे अब समन्वय के रास्ते ढूँढे बिना और सामाजिक जीवन मे

समन्वय को स्थापित किये बिना, मनुष्य जाति का अस्तित्व ही खतरे में आयेगा और उसके पहले सब संस्कृतियों का विनाश ही हो जायगा। इसलिए जगह-जगह पर समन्वय-प्रधान प्रवृत्तियाँ चलाकर सामाजिक जीवन में सामंजस्य लाने के प्रयत्न होने चाहिए। बोधगया के समन्वय आश्रम द्वारा ऐसा एक नम्र प्रयत्न करने का संकल्प करके समन्वय विद्यापीठ की स्थापना करने का सोचा है। उसका संकल्प, विचार और योजना फिलहाल निम्न प्रकार की रहेगी।

जब मानवीय जीवन में धर्मो की प्रधानता थी तब कई धर्मों ने सारी दुनिया पर अपना साम्राज्य स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा रखी। इनमें इस्लाम और ईसाई धर्म के बीच बहुत कड़ुआ तनाजा चला। War between the cross and crescent के नाम से इसका इतिहास सब जानते हैं। इन दो में से किसी को सफलता नहीं मिली और दोनों को अपना-अपना क्षेत्र सँभाल कर सन्तोष मानना पड़ा। तो भी इन दोनों में बाकी की दुनिया अपने प्रभाव के नीचे लाने की महत्त्वाकांक्षा बाकी है। ईसाइयों के प्रयत्न समस्त दुनिया में चालू हैं। तो भी इस वक्त इस्लाम और ईसाई धर्म का तनाजा अफ्रीका में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। बौद्धों ने सार्वभौम बनने के लिए युद्ध तो नहीं चलाये, लेकिन अपना प्रचार केवल भारत तक सीमित न रखके तिब्बत, चीन, मंगोलिया, कोरिया और जापान तक महायान के रूप में और सिलोन, ब्रह्मदेश स्याम, कम्बोडिया आदि देशों में हीनयान के रूप में काफी किया।

अपना-अपना विश्व-साम्राज्य स्थापित करने का उत्साह इन धर्मों में रहा नहीं किन्तु इन धर्मों के प्रचारक उपदेशक और पुजारी Priest के हृदय में अभी भी साम्राज्य की कल्पना जीवित है। वे राजनैतिक दृष्टि का अवलम्ब करके समझौते के लिए तैयार होते हैं। किन्तु समन्वय को स्वीकार करके धार्मिक साम्राज्यवाद छोड़ने को तैयार नहीं है। उनका पेशा ही समाज को अपने प्रभाव के नीचे रखकर धर्म-संस्कार का अधिकार बढ़ाने के लिए है। उसी में उनका स्वार्थ है।

लेकिन आज की दुनिया पहले के जैसी धर्मों की प्रधानता नहीं मानती और धर्म-प्रचारक, धर्म-उपदेशक और पुजारी का गुरुपद-नेतृत्व-कबूल नहीं करती। बुद्धिवाद, विज्ञान, यन्त्रवाद, अर्थपरायणता और राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा आदि आधुनिक तत्त्व इतने बलिष्ठ हुए हैं कि पुराने धर्मों के धार्मिक संगठन अब जनता को अपनी पकड़ में नहीं रख सकते।

धर्मों का तनाजा प्रकट या गुप्त रूप में चालू है। संख्या विस्तार का प्रयत्न कम नहीं हुआ है लेकिन आज की दुनिया धर्मों का सार्वभौमिकत्व स्वीकार करने को तैयार नहीं है। आज का समाज अर्थ-प्रधान हुआ है और राजनैतिक शक्ति को अपनी निष्ठा दिखा चुका है।

इसलिए पूँजीवाद और साम्यवाद का तनाजा जगतव्यापी बना है और समाज-सत्ता-वाद बीच में समझौते के रूप मे अपनी कोशिश कर रहा है। लोकसत्ता और राजसत्ता के बीच कोई तनाजा अभी तक शुरू नही हुआ है लेकिन राजसत्ता ने दुनिया को सर्वनाश के किनारे पहुँचा दिया है। इसलिए राजसत्ता को भी पुरानी धर्मसत्ता के पीछे-पीछे अपना साम्राज्य पद छोडना पड़ेगा। धर्मो की प्रधानता और उनका प्रभाव धीरे-धीरे फीके हो गये हैं और पूँजीवाद, साम्यवाद आदि राजसत्ता के प्रयोग भी अब अप्रतिष्ठित होंगे और फिर लोकजीवन को प्रधानता देकर मनुष्य का मन विज्ञान और अध्यात्म की मदद से समन्वय प्रधान मानवता की स्थापना करेगा।

अब संघर्ष और युद्ध के द्वारा नहीं, किन्तु विचार-परिवर्तन, जीवन-परिवर्तन और समाज-परिवर्तन के द्वारा रचनात्मक ढग से सारी दुनिया मे क्रान्ति होगी। इस क्रान्ति के फलस्वरूप सब संस्कृतियो मे समझौता सामंजस्य और समन्वय स्थापित होगे। इस तरह मनुष्य जातियो (वंशो) मे सब Races मे सहयोग शुरू होकर जागतिक संस्कृति का उदय होगा। इस नई शान्ति प्रधान अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया का ही नाम समन्वय है।

समन्वय की निष्ठा दृढ करते हुए हमे सब धर्मो का और सब आर्थिक राजनीतिक वादो का अध्ययन करना होगा। इनमे परस्पर पोषक ऐसे जो तत्त्व मिलेंगे उन्हीं का पुरस्कार करना होगा। काम बुनियादी है और सार्वभौम भी है। यह काम किसी एक व्यक्ति का नही है। इस कार्य के लिए मिलकर अनेक मनुष्यों को सहविचार करना पडेगा और तरह तरह के आश्रमो के द्वारा समन्वयकारी सहजीवन के प्रयोग आजमाने पड़ेंगे और दुनिया के सामने समन्वय के नमूने पेश करके मानव-जाति को बताना होगा कि युगधर्म से पुरुषार्थ करने पर मानव-जाति का एक साथ उद्धार हो सकता है जिसे गांधी जी ने सर्वोदय का नाम दिया।

सोचा गया है कि भिन्न-भिन्न धर्मो के रस्म रिवाजों और आग्रहो को बाजू पर रखकर उनके पीछे जो तात्त्विक विचार है उसका एक दफा तटस्थभाव से अध्ययन हो और उनमे एक वाक्यता लाने का कृत्रिम प्रयत्न न करते हुए उन सबका जो जीवन मे स्वाभाविक स्थान है वह बताया जाय। बोधगया मे बुद्ध भगवान को जीवन-रहस्य का साक्षात्कार हुआ। उसी प्रदेश में महावीर ने अहिंसा का सन्देश फैलाया। उसी प्रदेश मे राजा जनक ने भारत के विद्वानों की परिषद् बुलाकर वेदान्त दर्शन का विकास किया। बोधगया बौद्ध जगत् का एक केन्द्र है। जहाँ हीनयान और महायान दोनों पक्ष के लोग भक्तिभाव से एकत्र होते हैं। गुरु गोविन्द सिंह की जन्मभूमि होने के कारण सिक्खो के लिए भी इस प्रदेश का आकर्षण है ही। इन सब तत्त्वों मे लाभ उठाकर यहाँ पर समन्वय का चिन्तन और समन्वय-जीवन के प्रयोग करने हैं। प्रत्यक्ष रूप से जो सवाल सामने आ ही जाते हैं उनको हाथ में लेना प्रधान

कर्तव्य बनता है। चीन के आक्रमण के कारण तिब्बत के अनेकानेक बौद्ध स्त्री-पुरुष शरणार्थी होकर भारत में आये हैं। उनको अपनाना और वे हमारे साथ घुलमिल जायें, इतनी सहूलियत उनके लिए पैदा करना यह हमारा पहला कर्तव्य होगा। हमारे समाज में सवालों को हल करने के बजाय हर एक मतभेद के साथ सामाजिक गुट बनाने का और भेद-तत्त्व को कायम रखने का स्वभाव बन गया है। मुसलमानों की जाति, ईसाइयों की जाति, पारसियों और यहूदियों की अलग-अलग जातियाँ, ऐसे सहअस्तित्व के प्रयोग हम करते आयें, लेकिन राजनैतिक पारतंत्र्य के कारण हम राष्ट्र में भावनात्मक एकता मजबूत नहीं कर सके। कई ऐसी जातियाँ हैं जिनको भावनात्मक एकता की जरूरत ही महसूस नहीं होती। और ऐसे भी लोग हैं जिनको लगता है कि आजादी के लिए प्रयत्न करना हमारा नहीं औरों को काम है। ऐसी कमजोरी का असली कारण सांस्कृतिक पिछडापन ही है। यह सब दूर करने का उत्तरदायित्व समन्वय के सिर पर है।

हमारे आश्रम जीवन में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी, तिब्बती आदि सब लोगों के लिए स्थान होना चाहिए और आश्रम में रहकर सहयोग से अनेक प्रवृत्तियाँ चलाने के लिए अपने-अपने जीवन में क्या-क्या परिवर्तन करना जरूरी है— यह प्रयत्न करना होगा तभी समन्वय बनेगा।

समन्वय की परम्परा अबाधित रहे इसलिए समन्वय विद्यापीठ की सारी प्रवृत्तियों में नवयुवकों को लेना ही पड़ेगा और उनको समन्वय की दीक्षा देनी पडेगी, ताकि वे विद्या उपार्जन करते हुए भी अपनी स्वतंत्र प्रतिभा से नये-नये प्रयोग कर सकें और समन्वय-वृत्ति को परिपुष्ट बनाने के तरीके ढूँढ़ सकें।

जहाँ-जहाँ बौद्ध धर्म प्रचलित है, वहाँ के देशों के इतिहास का अध्ययन करना, वहाँ की प्रजा के पुरुषार्थ से परिचित होना, उनकी महत्त्वाकाक्षा समझ लेना और उनके साथ सहयोग करने के मौके ढूँढ लेना— हमारा एक प्रधान कार्य होगा और उनके पाम जाकर सेवा द्वारा सहयोग करके समन्वय का परिचय कराना यह भी हमारा प्रधान उद्देश्य होगा।

समन्वय स्थापित करने की बुनियाद में सब धर्मों के प्रति सहानुभूति और आदर और कुछ आत्मीयता रहनी चाहिए। उसके बिना किसी भी धर्म के संस्कार नहीं हो सकते। धर्म-प्रचार का विचार छोड़कर समन्वय का वायुमण्डल पैदा करना यही दुनिया के लिए हितकर है। यह सहयोग के द्वारा ही हो सकता है। इसलिए समन्वय आश्रम में अनेक देशों के लोगों को बुलाकर व्यापक मानवता का अन्तर्राष्ट्रीय वायुमण्डल बनाना होगा।

२. समन्वय का स्वरूप

अपने जीवन में, पारिवारिक और सामाजिक जीवन में तथा समस्त मानवीय जीवन में जहाँ तक हो सके विरोध और संघर्ष टालकर सह अस्तित्व और सहयोग सुलभ करना समन्वय का काम है।

जीवन को प्रेरणा देनेवाली समस्त दृष्टि को दर्शन कहते हैं। असल में आत्मा के दर्शन के लिए जो विचार-प्रणाली मंजूर की जाती है, उसे दर्शन कहते थे। जो बात आत्म-दर्शन के लिए है वह जीवन के दर्शन के लिए ही है। इसलिए जीवन-रहस्य को भी हम रहस्य कह सकते हैं। (दर्शन शब्द का मूल है उस उपनिषद् वचन में, जहाँ कहा है : 'आत्मा वा अरे दृष्टव्य: श्रोतव्य: मन्तव्य: निविध्यासितव्य:'। इसमें प्रथम शब्द आया है दृष्टव्य:। आत्मा को देखने के लिए जो मदद करता है वह है दर्शन)।

क्या सुन्दर है ! बोध इतना ही लेने का है कि दुनिया की मब मे श्रेष्ठ सेवा है समन्वय स्थापित करने की। और उसका अहंकार किसी मे न आये। जय जयकार करके समन्वयकारी लोगों का कोई पन्थ न बनाये। समन्वयकारिता ईश्वर का अनुग्रह है, उसे शुद्ध रूप से काम करने देना चाहिए।

३. समन्वय के कार्यक्रम की कल्पना

समन्वय में कभी एकांगिता, पक्षपात या एकता आ नहीं सकती और न कभी आनी चाहिए। लेकिन समन्वय में क्रमिकता तो होती है। क्योंकि समन्वय जीवन-निष्ठ है। इसलिए हमने कहा कि जैसे शिक्षा और मोक्ष में क्रमिकता है, वैसे समन्वय में भी है।

अब समन्वय आश्रम की बात सोचें। यहाँ से हमें विश्व-समन्वय का काम करना है, जागतिक सवाल हल करने हैं अखिल मानवता की सेवा करनी है। तो भी भारत की परिस्थिति और दुनिया में उसका स्थान दोनों के कारण हमें प्रारम्भ में यहाँ पर एशिया का सांस्कृतिक संगठन करना है। और इसी के लिए पहले बौद्ध-दर्शन को सोचना है। उसके बाद इस्लाम, ईसाई धर्म की जो दार्शनिक मान्यताएँ हैं, उनका भी समन्वय ढूँढना है।

संस्कृति की बुनियाद में एक अथवा अनेक दार्शनिक विचार होते हैं। इसलिए

हम अपनी बुनियाद मजबूत करने के लिए अपने हृदय में दाशनिक समन्वय करके ही सेवा के लिए प्रस्तुत होना चाहते हैं।

ऐसे समन्वय के लिए बिहार की भूमि विशेष अनुकूल है। याज्ञवल्क्य और जनक जैसे मनीषी और राजर्षि ने वेदान्त-दर्शन की नींव मजबूत की। गौड़पादाचार्य कहाँ के थे, मुझे मालूम नहीं। लेकिन नाम से पता चलता है कि पूर्व के होंगे। याज्ञवल्क्य शायद गुजरात के होंगे। बाद में बिहार में आकर बसे। स्कन्दपुराण में उसके बारे में देखना होगा। क्योंकि स्कन्दपुराण पश्चिम भारत को अधिक जानता है।

फिर इसी भूमि में बुद्ध, महावीर हुए, जिन्होंने हिन्दू दर्शन का काफी संशोधन किया। इतना ही नहीं जीवन-साधना गहरी बनायी।

और धर्म-प्रचार का कार्य जो आज दुनिया में इतने बुरे ढंग से हो रहा है, शुरू में शुद्ध रूप में बुद्ध, महावीर की सूझ और प्रवृत्ति थी। मिशनरी Organisation याने धर्म-प्रचार का संगठन सबसे पहले बुद्ध, महावीर स्वामी ने किया। इसी का अनुकरण ईसाई और इस्लाम धर्म ने अपने ढंग से किया।

जिस तरह ईसामसीह की धर्म-साधना का संगठन और प्रचार सन्त पाल ने किया और करवाया। उसी तरह बौद्ध धर्म का काम और संगठन सम्राट अशोक ने किया। उनके धर्म-प्रचारक दक्षिण-पूर्व में भी और पश्चिम में भी दूर-दूर गये थे, इसका साक्षी इतिहास है।

इस तरह हम भूल नहीं सकते कि धर्म-समन्वय की दृष्टि से धर्म-सुधार और धर्म-संस्करण करने वाले नानक साहब के सिक्ख धर्म का प्रचार और संगठन जिस गुरु ने किया, उस गुरु गोविन्द सिंह का जन्म भी इस बिहार की भूमि में हुआ था। और इस समन्वयकारी भूमि ने ही महात्मा गांधी को सबसे पहले अपनाया। उनके हर काम में साथ देकर उसे आगे बढ़ाया। गुरुनानक ने धर्म-समन्वय की दृष्टि से भारत के बाहर धर्मयात्रा की थी, यह भी हम नहीं भूल सकते।

इसलिए अब हमें नव-विश्व समन्वय का नव-चिन्तन और उसके प्रचार की नव-साधना और नव-संगठन यहीं से करना है। चरित्रहीनता, राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा, दलबन्दी, रूढ़िप्रियता और तमोगुणी संकुचितता आदि अनेक दोष सब धर्मों के प्रचार-कार्य में और संगठन में इतने पाये जाते हैं कि लोगों की चिन्तनशील, मानवहितचिन्तक लोगों की प्रचार-संगठन पर की श्रद्धा ही हट गयी है: मैंने तो उद्वेग के साथ कहा है कि किसी भी संगठन में अध्यात्म हो नहीं सकता। Spirituality can never be caught or contained or developed in an organisation. All organisations, by their very nature are unspiritual.किन्तु ऐसा कहकर हम सामाजिकता को कभी छोड़ नहीं सकते। जो धर्म, जो अध्यात्म सामाजिकता से मुँह मोड़ता है, उसकी

सफलता बहुत मर्यादित होती है। उसके लिए कोई भी विषय रहता ही नहीं। समन्वय और सामाजिकता आज के युगधर्म की बुनियाद ही हैं। इसलिए जीवन-शुद्धि के साथ, समन्वय के साथ सामाजिकता और मुक्त सगठन को स्वीकार करना ही पडेगा।

सन् १९५४ मे जब मैंने जापान से आकर श्री विनोबाजी से अपना अनुभव और योजना कही और समन्वय की मेरी भूमिका स्पष्ट की तब मैंने कहा था कि वेदान्त और बौद्ध दर्शन इन दोनों का समन्वय करना आज का युगधर्म है। उस समय मैंने जैन दर्शन का नाम शायद नहीं लिया। लेकिन मैं देखता हूँ उसको भी साथ लेने मे लाभ ही हे। (दार्शनिक दृष्टि से क्रम लगता है बौद्ध, जैन और वेदान्त। हीनयानी बौद्ध लोग आत्मा को नही मानते। परमात्मा को तो मानते ही नहीं। जैन दर्शन आत्मा को मानता है, परमात्मा को नही। और वेदान्त दर्शन परमात्मा को मानता है आत्मा को उसकी चिनगारी मानता है। और जीव आत्मभाव माया निर्मित कहता है। यह भद स्थूल शब्दों मे लिखा है किन्तु दार्शनिक समन्वय के लिए यह पर्याप्त हे।)

भक्ति मार्ग का अपना कोई खास दर्शन नही है। भक्ति अक्सर द्वैतमार्गी होती है लेकिन अद्वैतभक्ति मे मानने वाले सन्त भी बहुत हुए है जैसे महाराष्ट्र मे।

इसलिए बौद्ध, जैन, वेदान्त तीनो का समन्वय हुआ तो भक्ति-मार्ग को सुलभता मिलेगी। भक्तो को परम सन्तोष होगा।

ईसाई धर्म और इस्लाम दोनो एक से ईश्वरनिष्ठ हैं और स्थूल रूप मे द्वैतवादी हैं। लेकिन दोनो के श्रेष्ठ सन्तो का झुकाव अद्वैत की ओर है। उनके वचन भी ऐसे ही है। मसलन् I and my father are one आदम को खुदा मत कहो, आदम खुदा नहीं लेकिन खुदा के नूर से आदम जदा नही इत्यादि।

इसलिए हम ऊपर बताए हुए तीन दर्शनो को समन्वय कर सके तो सर्वधर्म समन्वय का काम आसान होगा।

अब नजदीक की बात सोचेगे तो बौद्ध धर्म लका मे है, ब्रह्म देश में है, और बगाल आसाम मे भी थोडे बहुत बौद्ध है ही। और नव बौद्धो को हमें भूलना नहीं चाहिए। उनमे हीनयान, महायान का भेद घुस न पाये यह देखना है। भेद रहने मे हर्जा नही। वैमनस्य नहीं आना चाहिए। यह तो समन्वय से ही होगा। इन दिनो पश्चिम भारत के नव बौद्धों में महायान का प्रचार हो रहा है और वह भी शुद्ध रूप में नहीं। किन्तु इसमे विशेष नुकसान नहीं होगा। जो हालत आज है उससे ज्यादा कुछ नही बिगडेगा।

महायान का प्रचार तिब्बत, चीन, मंगोलिया, कोरिया और जापान में विशेष है। हीनयान की भाषा पाली, सिहाली और बर्मी है। महायान की संस्कृत, तिब्बती,

चीनी, जापानी इत्यादि है। भोट भाषा में भी महायान के ग्रन्थ हैं।

इन सब भाषाओं को सीखकर हीनयान महायान के साहित्य पढ़ने का काम हमारे विश्वविद्यालय करेंगे। हमें जो सेवा चाहिए वह इन विश्वविद्यालयों से माँग लेंगे। किन्तु एशिया के भिन्न-भिन्न देशों के बौद्ध लोग भारत में आते हैं। चन्द लोग यहाँ बसना चाहते हैं तो उनसे हमारा सम्पर्क बढ़ना चाहिए। दस-बीस साल हुए तिब्बत, चीन, ब्रह्म, कम्बोडिया आदि के बौद्ध भिक्षु लोग बोधगया आदि पवित्र स्थानों की यात्रा के लिए आते हैं। उनका हमारा सम्पर्क बढ़े, यह सब दृष्टि से इष्ट है। हम राजनैतिक दृष्टि से नहीं सोचते। राजनैतिक दोस्तियों और समझौतों से हमारा सम्बन्ध नहीं और पैक्ट से भी हमारा सम्बन्ध नहीं। हमारा काम सांस्कृतिक है। इसका शुभ परिणाम राजनैतिक परिस्थिति पर होता है। इससे हमें सन्तोष ही है। लेकिन हम उसके पीछे पड़े नहीं हैं। हम आध्यात्मिक संस्कृति द्वारा मानव-हृदय की एकता और विश्व-जीवन में सामंजस्य चाहते हैं।

हम देखते हैं कि बोधगया में तिब्बती लोग काफी मात्रा में आते हैं। कुछ रहते भी हैं और चीन ने जब से तिब्बत को खा लिया, तब से तिब्बती लोग भारत में काफी संख्या में आ गये हैं। हमें सांस्कृतिक दृष्टि से तिब्बती लोगों का सम्पर्क बढ़ाना चाहिए। इसका प्रारम्भ उनकी भाषा और सामाजिक रस्म-रिवाज और उनके इतिहास के परिचय से होना चाहिए।

गांधी जी का स्वदेशी का भी सिद्धान्त यही कहता है कि जो लोग नजदीक के हैं, पड़ोसी हैं, जिनके साथ हमारा जीवन ओत-प्रोत हुआ है अथवा होने की सम्भावना है। उनकी सेवा से प्रारम्भ करके ही विश्व आत्मैक्य तक जाना है।

एशिया के सब देशों का इतिहास हम उतना भी नहीं जानते, जितना यूरोप अमेरिका का जानते हैं। एशिया और अफ्रीका हमारे लिए अज्ञात भूमिभाग हैं। समन्वय-आश्रम में हम हीनयानी और महायानी देशों के परिचय से प्रारम्भ करेंगे। इसके लिए हमारे ग्रन्थालय में एशियायी देशों के सम्बन्ध में जितने भी महत्त्व के ग्रन्थ हैं, सभी होने चाहिए। बहुत से ग्रन्थ परदेशी लोगों के लिखे हुए हैं। आगे जाकर अपने लोगों को भेजकर अपनी दृष्टि से हर देश की परिस्थिति और संस्कृति की जानकारी लानी होगी। जीवन-परिचय के बिना समन्वय हो नहीं सकता। और सांस्कृतिक संगठन तो परिचय की बुनियाद पर ही हो सकता है। समन्वय-आश्रम में एक ओर ज्ञानयोग द्वारा हम आत्मशुद्धि करेंगे। भाषा और लोक-परिचय द्वारा सांस्कृतिक समन्वय की बात करेंगे और सांस्कृतिक समन्वय के द्वारा विश्व-शान्ति का वायुमण्डल बुलन्द करेंगे।

कॉलेज के जैसा वायुमण्डल हमें पैदा नहीं करना है। हमें तो जीवन समन्वयी नम्र लोग बनकर सेवा करनी है। इसका फल बड़ा होगा तो भगवान की कृपा है।

लेकिन हमारी सफलता हमारी सर्व समन्वय निष्ठा पर ही निर्भर रहेगी।

भिन्न-भिन्न दर्शनों को और नये-नये isms का अध्ययन करके उनमें विरोध परिहार का रास्ता ढूँढना यह समन्वय का एक काम कहा जाता है। जब दो तुल्य बल यानी समान शक्ति के पक्षों के बीच संघर्ष शुरू होता है, तब उसे दूर करने का एक ही उपाय रहता है कि अगर हो सके तो दोनों को, नहीं तो कम-से कम एक पक्ष को ऊँची भूमिका पर ले जाना। एक पक्ष अगर ऊँचा, उदार भूमिका पर पहुँच गया तो कुछ-न-कुछ समझौता हो ही जाता है। सच्चा समन्वय तब होता है जब दोनों पक्ष अपनी भूमिका की हीनता अथवा तुच्छता पहचानकर खुशी से उच्च भूमिका पर पहुँच जाते हैं। जहाँ प्रेम और आत्मीयता है अथवा पैदा की जाती है, वहीं पर संघर्ष मिटकर एकता और सहयोग स्थापित होते हैं।

ऐसी ऊँची भूमिका न मिली तो दूसरा उपाय है दोनों पक्षों को, जिसके लिए आकर्षण है ऐसे पुरुषार्थ का महान कार्य दोनों को सौंप देना। जिससे दोनों आप ही आप सहयोग करने लगते हैं और कम से कम कार्य-सिद्धि तक अपना मतभेद भूल जाते हैं। और कार्य सिद्ध होने के दोनों की महत्ता और प्रतिष्ठा इतनी बढ़ जाती है और दोनों के पुरुषार्थ के इतने नये विशाल क्षेत्र पैदा होते हैं कि फिर संघर्ष के लिए कोई जगह नहीं रहता है। गांधीजी ऐसा ही कहते थे। चीन के आक्रमणों के प्रारम्भिक दिनों में राष्ट्र में ऐसा ही अन्दरूनी समन्वय का वायुमण्डल कुछ काल के लिए पैदा हुआ था।

समन्वय आश्रम की ओर से ऐसे छोटे मोटे प्रयोग हो सकते हैं। इतिहास में ऐसे प्रसंग ढूँढकर दुनिया के सामने रखे जा सकते हैं। बुद्ध भगवान ने लड़नेवाली दो जातियों से एक ही सवाल पूछा था कि नदी के पानी के लिए खून बहाने को तैयार हुए हो तो अपने मन में सोचा कि पानी की कीमत ज्यादा है या खून की ? यह भी समन्वयकारी दृष्टि थी।

४. समन्वय और महिलाएँ

कुदरत ने स्त्री और पुरुष को शरीर भेद तो दिया ही है। दोनों की मनोरचना और अभिरुचि भी अलग-अलग रखी है। और घर चलाना, बच्चों को सँभालना दोनों कामों में स्त्री पुरुष के कार्य भी अलग हैं। इसलिए दोनों को क्षण क्षण समन्वय करना ही पड़ता है। इसके बिना दाम्पत्य जीवन और अपत्य-संगोपन हो ही नहीं सकेगा। समन्वयकला में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की प्रवीणता अधिक

होती है इसलिए स्त्री नम्रता धारण करती है। पुरुष की इच्छा के अधीन रहती है और अन्त में उसे अपने अधीन कर देती है। समन्वयवृत्ति की ही यह विजय है। समन्वय-कला की प्रारम्भिक दीक्षा स्त्री से ही मिल सकती है।

मनुष्य ने गहरे अनुभव से तय किया कि गृहस्थ जीवन सफल बनाना है और सामाजिक जीवन का प्रारम्भ करना है तो दो परस्पर विरोधी विचारों का समन्वय करना ही होगा। (१) जिनका रहन-सहन परस्पर अनुकूल है, जिनका जीवन का आदर्श करीब-करीब एक-सा है और ऐसे स्त्री-पुरुषों के बीच ही विवाह हो सकता है। इसलिए भिन्न धर्मी विवाह मनुष्य ने पसन्द नहीं किये। एक ही पेशे के लोगों के अन्दर-अन्दर विवाह हो तो अच्छा है, ऐसी पसन्दगी भी तय की। (२) और साथ-साथ यह भी तय किया कि अति निकट के लोगों के अन्दर विवाह नहीं होना चाहिए। विवाह-बद्ध होने वाले दोनों परिवार एक गोत्र के न हों। उनका लहू एक न हो। दोनों एक गाँव के न रहें तो और अच्छा। ऐसे कडे नियम करीब-करीब सब तरह के समाजो मे किये हुए पाये जाते हैं। इससे संघर्ष की सम्भावना तो हो, लेकिन समन्वय के द्वारा संघर्ष टालने की गुंजाइश भी हो, ऐसी व्यवस्था की गयी। हमारे देश में हरएक जाति के अन्दर पेटा जाति या उपजाति पायी जाती है। शैव, वैष्णव आदि उपासना भेद, द्वैत अद्वैत आदि दार्शनिक भेद भी पाये जाते हैं। इतना होते हुए भी ऐसे भिन्न सम्प्रदाय मे विवाह का होना मान्य करके हम लोगों ने समन्वय शक्ति को अद्‌भुत ढग से बढा दिया। ईसाई, मुसलमान आदि प्रचारक धर्मों ने भिन्न धर्मी विवाह प्रथम प्रथम मना किये। लेकिन एक धर्म और एक उपासना के जोरो पर वशभेद, स्थानभेद और देशभेद पर भी विजय पा ली और भिन्न वंशी और भिन्न-देशीय विवाहों की प्रथा चलायी। इन धर्मो को जगत्‌व्यापी बनाना था। इसलिए वश-भेद और देश-भेद के कुदरती बन्धन उनको तोडने पडे।

ऐसा करते उनको समन्वय दृष्टि का विकास करना पडा। सब-के-सब धर्मो मे जीवन व्यवस्था के लिए स्मृतियाँ पायी जाती है। स्मृति याने Code of conduct. Social legislation इन स्मृतियो मे समन्वय का काम विस्तार से किया पाया जाता है। सूक्ष्म नियम बनाये जाते है। ऐसा वे न करते तो कदम-कदम पर सघर्ष होता।

समन्वय शक्ति मे जितनी कमी या त्रुटि रही उसकी कठिनाई अकसर स्त्री-जाति को ही सहन करनी पडती है। आज स्त्री-स्वभाव में जो सामाजिकता का उत्कर्ष पाया जाता है वह समन्वय-वृत्ति के कारण ही है। प्रतिकूल परिस्थिति में स्त्री को यह करना पडा इसलिए उसमें संकुचितता भी आ गयी और रूढिप्रियता भी आ गयी। लेकिन किसी कारण सामाजिक जीवन में सरलता और स्थैर्य आ गया। स्त्री-स्वभाव के कारण और स्मृतियों के कारण समाज में रूढ़िप्रियता, रूढि के प्रति आदर और Conservatism (यथास्थितिकरता) आ गई। इस Conservatism की

निन्दा हम न करे और अतिपूजा भी न करे। सामाजिक-सद्गुणो का विकास और सस्कृति की मजबूती इसी वृत्ति से बढी है।

इतिहास-क्रम का सिलसिला ही ऐसा है कि समाज का जब विकास होता है तब पुरानी रूढियाँ तोडनी पडती है। Conservatism से रूढिप्रियता मे समाज का कल्याण नही होगा। प्रगति करने के लिए नये नये प्रयोग करने की गुंजाइश होनी चाहिए ऐसे विचार जोरो मे समाज के सामने रखे जाते है। इस तरह काफी प्रगति होने के बाद जो लाभ होता है, उसे अगर खोना नही है तो नयी रूढियाँ स्थिर करनी ही पडेगी।

पुरानी रूढियाँ तोडना काफी प्रगति करना उसके बाद ऐसी प्रगति को मजबूत और स्थिर करने के लिए नई रूढियाँ बनाना और रूढि प्रियता का पोषण देना यह सिलसिला जगत् के सब समाजो मे चलता ही रहता है। स्थैर्य के बाद प्रगति प्रगति के बाद स्थैर्य ऐसा क्रम सारी दुनिया के सब देशो मे सब धर्मो मे और सब सस्कृतियो मे पाया जाता है।

एक सस्कृत कवि ने इस क्रम को सुन्दर ढग से समझाया है।

प्रगति के लिए कुदरत ने मनुष्य को दो पाव दिये है। लेकिन मनुष्य इन दो पाँवो से चिडिया के जैसे कूद कूदकर प्रगति नही करते। एक पाँव होता है स्थिर रहने के लिए। दूसरा पाँव होता है आगे चलने के लिए। अगर दाहिना पाँव आगे बढा तो अमुक अन्तर जाकर वह वहाँ स्थिर होता है और फिर बाँया पाँव जो स्थिर था उठकर आगे बढता है। कुछ समय के लिए स्थिर रहना बाद मे आगे बढना। वहाँ स्थिर होकर दूसरे पाँव को आगे बढाना— यही है मानवीय प्रगति का स्वरूप। इसमे बडा लाभ यह है कि आगे कहाँ जाना है कितनी प्रगति करनी है कदम उठाने मे लाभ है या नही यह सोचने के लिए अवकाश मिलता है। अगर गलत कदम पडा तो उसे वापस लेने के लिए भी स्थिर पाँव या कदम मदद करता है। यही है बुद्धिमानो का लक्षण। कवि कहता है-

चलत्येकेन पादेन, तिष्ठत्येकेन पडितः।
ना समीक्ष्या परंस्थान पूर्वमायतन त्येजत्।

स्थैर्य और प्रगति, दोनो का उपयोग स्त्रियाँ अच्छी तरह से जानती हैं। इसीलिए उनके हृदय मे समवृत्ति आसानी से आती है।

दूसरी बात— जब लडकी शादी करती है तब मायके का घर, वहाँ की सस्कृति और वहाँ के रिश्तेदार सब छोडकर (वहाँ का सम्बन्ध करीब-करीब तोड़कर) वह ससुराल जाती है और नये परिवार मे अपने को खो देने के लिए तैयार होती हैं। छोटी उमर मे कितनी बड़ी क्रान्ति अपने जीवन मे उसे करनी पड़ती है। वह जानती है यहाँ झगडे का काम नही है। ससुराल का स्थान कायम के लिए मंजूर करना है।

वह अपने स्थान पर मजबूत और समर्थ है। यह देखकर लड़की नम्रता की मूर्ति बन ससुराल का सब कुछ मंजूर करती है। वहाँ की संस्कृति अपना लेती है। नम्रता, सेवा और प्रेम के द्वारा पति के साथ और उसके परिवार के साथ घुल-मिलकर जब वह देखती है कि अब वह नये घर में मजबूत हुई है, तब मायके के सब अच्छे-अच्छे संस्कार ससुराल में दाखिल करती जाती है। ऐसी बहू को जब बच्चे होते हैं, तब ससुराल में उसकी जड़ें मजबूत हो गयीं। अपने बच्चों को वह मायके के और ससुराल के दोनों तरह के संस्कार देकर सुन्दर समन्वय साधती है। यह सब इतनी सुन्दरता से संघर्ष के बिना और सबके आशीर्वाद से बनता है कि दोनों परिवार के लोग बहू को गृह-लक्ष्मी कहकर उसका आदर करते हैं और वह देखते-देखते ससुराल की गृह-स्वामिनी बन जाती है।

इतिहास देखने से पता चलता है कि भिन्न-भिन्न देश की, भिन्न-भिन्न वंश की और अलग-अलग संस्कृति वाली जनता को भगवान तरह-तरह के ढंग से एकत्र लाता है। और फिर कहता है कि अब तुम्हें सम किये बिना चारा ही नहीं। झगड़ा करो, संघर्ष करो, एक-दूसरे का हो सके— उतना नाश करो, दुखी हो जाओ; लेकिन अन्त में तुम्हें Synthesis किये बिना चारा ही नहीं। सम का तकाजा अगर शुरू से समझ गये और दोनों पक्ष तुल्य बल रहे तो सम शान्ति से, समझौते से और स्नेह से होता है। सारी दुनिया के, सब देशों के और खंडों के इतिहास का निचोड़ यही है कि पहले अपरिचय के कारण परस्पर अविश्वास धारण करो। कुछ समय के लिए एक दूसरे का बहिष्कार करो। फिर आपस में लड़ो और भले लाचारी से परस्पर का अस्तित्व मंजूर करो। सह अस्तित्व आया तो समझौता आ ही जाता है। परस्पर परिचय बढ़ने पर एक दूसरे की चीजें लेना-देना शुरू होता है। आदान प्रदान से दोनों पक्ष घुल मिल जाते हैं और सम सिद्ध होता है।

भारत के इतिहास की खूबी कहिए या कमी कहिए, यह है कि संघर्ष के बाद हम सह अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। और जहाँ तक हो सके घुल-मिल जाना टालते हैं। इसी में से हमारे यहाँ जातियाँ मजबूत हुईं। हम साथ भी रहते हैं और अलग अलग रहने की पूरी चेष्टा भी करते हैं। इससे परस्पर आत्मीयता मजबूत नहीं होती। समाज कमजोर होता है और आक्रमणकारियों के सामने आसानी से परास्त होता है। शौर्य, धैर्य बुद्धि, साधन, सम्पत्ति सब कुछ पूरी मात्रा में मौजूद होने पर भी समाज की मजबूती ढीली होने के कारण हमारे स्वभाव में आक्रमण वृत्ति उठती ही नहीं और अपना बचाव करने भी हम ढीले-ढाले और बेखबर सूझ-बूझ बिना के साबित होते हैं।

पिछले दो हजार बरस का इतिहास यही बताता है कि सह-अस्तित्व को मानकर *भी हम घुल-मिलकर ओत-प्रोत* होने से डरते हैं। ओत-प्रोत होना पसन्द ही नहीं

करते और इसी आन्तरिक शिथिलता के कारण आक्रमणकारियों के सामने बार-बार परास्त होते हैं और हारकर भी कुछ सीखते नहीं, मजबूत होते नहीं।

सह-अस्तित्व तक पहुँचना और सम नहीं करना— यह है भारतीय इतिहास में पायी जाने वाली भारतीय संस्कृति की कमजोरी। भारत का इतिहास पुकार-पुकार कर कहता है कि मेरे बच्चों, जब तक सम का ज्ञान और सम की कला प्राप्त नहीं करोगे, पूर्ण रूप से नहीं अपनाओगे, तब तक परास्त होना ही तुम्हारे भाग्य में है। गिरने के बाद मेरी टाँग तो ऊँची ही है, ऐसा अभिमान रखने का तुम्हारा अधिकार कायम है ही।

पुराना इतिहास तो क्या चालू इतिहास भी यही कहता है कि सम का अभाव, यही है भारतीय संस्कृति की कमजोरी।

सम न करते हुए केवल शास्त्रार्थ करते रहे और भेद भाव बढ़ाते गये यह है हमारी दार्शनिक कमजोरी। खान पान के सामाजिक सम्पर्क के और रोटी बेटी व्यवहार के कड़े नियम बनाकर हम जातियों की संख्या बढ़ाते गये, यह है हमारी सामाजिक धार्मिक कमजोरी। और दूसरे समाज का, दूसरे वंश का, दूसरे धर्म का और दूसरे देश का स्वरूप क्या है स्वभाव क्या है, सामर्थ्य क्या है और जीवन सिद्धि क्या है यह न देखते हुए आँख मूँद कर और परदेश गमन का बहिष्कार करके अन्धे और संकुचित रहना यह है हमारी संस्कृति का दूसरा दोष।

तार्किक शास्त्रार्थ, मतभेद बढ़ाने की दिलचस्पी, जातियों की संख्या बढ़ाकर सामाजिकता का क्रम करते नाना पड़ोसियों का परिस्थितियों का परिचय नहीं पाना, उनके सामर्थ्य की अवहेलना करना, उनके दोषों का भी सूक्ष्म निरीक्षण नहीं करना— ये सब हमारी संस्कृति के प्रधान दोष हैं, जिन्हें दूर करने की शक्ति केवल सम में ही है।

यूरोप के एक मनीषी ने अभी अभी कहा है - यूरोप अमेरिका के हम गोरों ने सारी दुनिया ढूँढ निकाली, लेकिन दुनिया ने हमको नहीं ढूँढा। हमें समझने की कोशिश नहीं की। मानव जाति के लिए दुनिया एक है, यह आविष्कार हम गोरों ने ही किया है। इसका बोध सारी दुनिया अभी भी नहीं ले रही है। यूरोप अमेरिका की हम गोरों की संस्कृति का प्रचार ही दुनिया में हो रहा है। हम अपनी संस्कृति देते हैं। बाकी के देश उसे लेते हैं। हम गोरों को अभी तक औरों से लेने की नौबत आयी ही नहीं।

उस मनीषी ने यह भी कहा है कि पश्चिम के हम गोरों ने सैकड़ों बरसों तक बाकी की दुनिया पर राज भी किया। एशिया, अफ्रीका आदि खण्डों पर हमारा राजनीतिक प्रभुत्व अब टूट रहा है सही, लेकिन अगर यूरोप के सभी राष्ट्र अपने अन्दर-अन्दर आर्थिक और तिजारती समानता कर सकेंगे और अमेरिका को साथ

ले सकेंगे तो दुनिया पर का स्वामित्व, एक या दूसरे ढंग से हमारे ही हाथ में रहनेवाला है।

यह मनीषी गोरों का उनकी सम शक्ति की कमी की ओर ध्यान खींच रहा है।

और हम लोग शास्त्रार्थ करते-करते परस्पर द्वेष करते-करते और अज्ञानी रह कर, खोज की आवश्यकता ही भूल कर ऐसे जड़ बन गये हैं कि सम का नाम तक भूल गये!

इतिहास ने पुकार कर कहा या तो सम सीखो या औरों के गुलाम होकर रहो। यह हो गयी पुरानी बात। अब इतिहास फिर से कह रहा है : 'अब भी सम सीखो अन्यथा इस धरती के तल से नष्ट हो जाओ।'

यह है सम की माँग, यह है सम का सन्देश और यही है हमारा मिशन। क्या भारत की महिलाएँ अपनी ईश्वर दत्त समवृत्ति के बल पर देश का नेतृत्व तथा समाज का नेतृत्व अपने हाथों में नहीं ले लेंगी ?

